व्यास प्रशस्ति

(१)

जयति पराशर सूनुः
सत्यवती-हृदय-नन्दनो व्यासः ।
यस्यास्यकमलकोशे
वाङ्मयममृतं जगत् पिबति ॥

—वायु १।२

(२)

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥

—आदिपर्वणि

(३)

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्-तरङ्गा
वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः ।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकारा
पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः ॥

—सर्वज्ञात्ममुनेः संक्षेपशारीरके

(४)

दुस्तर्क जाल वितकण्टक वृक्षषण्ड-
पाषण्डवाद-बहु गुल्मलतोपरोधम् ।
निर्धूत-मुक्तिपथमुद्धृत-कण्टकं य-
श्चक्रे पराशर-सुताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

—ज्ञानघनाचार्यस्य तत्त्वशुद्धौ

(५)

प्रमाणजातैरवबुध्य यस्य
सारं पदं त्यक्तभवा भजन्ते ।
जना निजानन्द-पदेच्छवोऽलं
तं वासवी-सूनुमहं प्रपद्ये ॥

—प्रमादापद्धति भाव विवरणे

पुराण प्रशस्ति

(१)

आत्मनो वेदविद्या च ईश्वरेण विनिर्मिता
शौनकीया च पौराणी धर्मशास्त्रात्मिका तु या ॥
तिस्रो विद्या इमा मुख्याः सर्वशास्त्रविनिर्णये
पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम् ॥
वेदा प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।
आत्मा पुराणं वेदाना पृथगङ्गानि तानि षट् ।
यत्र दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल ॥
उभाभ्या यत्र दृष्टं हि तत् पुराणेषु गीयते
पुराणं सर्वशास्त्राणा प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ॥

—स्कन्द, रेवाखण्ड १ । १७-१८, २२-२३

(२)

यथा पापानि पूयन्ते गङ्गावारिविगाहनात् ।
यथा पुराण-श्रवणाद् दुरितानां विनाशनम् ॥

—वामन ९५।८६

(३)

सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूपते ॥
तर्कस्तु वाद हेतु· स्यान्नीतिस्त्वैहिकसाधनम्
पुराणानि महाबुद्धे इहामुत्र सुखाय हि ॥
अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः ।
कथयेद्वा विधानेन नेह भूय· स जायते ॥

—नारदीय पु० १।१।६१-६२

(४)

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदा. प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥

—नारदीय पु० २।२४।१७

आचार्य बलदेव उपाध्याय

वक्तव्य

आज मुझे 'पुराण विमर्श' नामक यह नवीन पुस्तक वैदिक धर्म तथा साहित्य के तत्त्व जिज्ञासुओं के सामने प्रस्तुत करते समय अपार हर्ष हो रहा है। इसमें पुराण के विषय में उत्पन्न होनेवाली नाना जिज्ञासा तथा समस्या का समाधान पौराणिक अनुशीलन के आधार पर उपस्थित करने का लघु प्रयत्न किया गया है।

पुराण के विषय में इधर प्रकाशित ग्रन्थों से इसका वैलक्षण्य साधारण पाठक को भी प्रतीत हो सकता है। आजकल पुराण के ऐतिहासिक पद्धति से विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उसमे पुराण' एक जीवित शास्त्र न होकर अजायब घर में रखने की एक चीज बन जाता है। उसके अंग-प्रत्यंग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जाता है कि उसके मूल में कोई तत्त्व ही अवशिष्ट नहीं रह जाता। वर्तमान अध्ययन की दिशा इस ओर एकान्ततः नहीं है। लेखक के एक हाथ में श्रद्धा है, तो दूसरे हाथ में तर्क। वह श्रद्धा-विहीन तर्क का न तो आग्रही है और न तर्कविरहित श्रद्धा का पक्षपाती। इन दोनों के मञ्जुल समन्वय के प्रयोग से ही पुराण का यथार्थ अनुशीलन किया जा सकता है।

ध्यान देने की बात है कि पुराण के तथ्यों में आपाततः यथार्थता आभासित न होने पर भी उनके मूल में, अन्तरंग में यथार्थता विराजती है, परन्तु इसके लिए चाहिये उनके प्रति सहानुभूति, बहिरंग को हटाकर अन्तरंग

को पहिचानने का प्रयास। (पुराणों की दृष्टि में इस कलियुग में शूद्र का ही माहात्म्य है। परन्तु आज भी जब चातुर्वर्ण्य का प्रासाद खड़ा ही है, तब इस मौलिक तथ्य का तात्पर्य क्या है ? इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सर्वथा लोप हो जावेगा और शूद्र ही एकमात्र वर्ण अवशिष्ट रह जावेगा। इसका तात्पर्य गम्भीर है। शूद्र का धर्म है सेवा। फलतः कलि में सब लोग सेवक ही हो जावेंगे, कोई भी स्वामी या प्रभु न रह जावेगा; इस कथन का यही अर्थ है जो आज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में यथार्थ उतरता है। आज की दुनिया में कोई भी स्वामी नहीं, सब ही तो सेवक या दास हैं। 'राजा' का सर्वथा लोप ही हो गया संसार से और जहाँ वह बचा-खुचा भी है, वहाँ वह अपने को प्रजा का सेवक यथार्थतः मानता ही नहीं, प्रत्युत वह सेवक है भी। किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान का करोड़पति मालिक भी आर्थिक कठिनाइयों को दूर हटाने के लिए उसका मालिक नहीं होता, प्रत्युत वह नियमतः तनख्वाह लेकर उसका सेवक होता है। किसी स्वतन्त्र देश का प्रधान मन्त्री (जिसका पद निश्चयरूपेण सर्वापेक्षया समुन्नत है) जनता का 'प्रथम सेवक' मानने में गौरव बोध करता है और वस्तुतः उस जनता का सेवक है ही, जो इस लोकतान्त्रिक युग में दो दिनों में विरुद्ध मत देकर उसे आधिपत्य के पद से हटाने की शक्ति रखती है। संसार के इस वातावरण में शूद्र की सार्वभौम स्थिति नहीं है, तो किसकी है ? फलतः कलियुग में शूद्र की धन्यता तथा महत्ता का पौराणिक कथन सर्वथा सत्य है तथा गम्भीरता-पूर्वक सत्य है।)

वर्तमान समय लौहयुग है; क्या इसे प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता है। कल कारखानों के लिए ही लोहे का प्रयोग नहीं है, प्रत्युत वह 'स्टेनलेस स्टील' के रूप में राजा से लेकर रंक तक के घरों में भोजन-पात्र के रूप में [illegible] है। धर्मशास्त्र के द्वारा निषिद्ध होने पर भी लोहे का पात्र आज [illegible] समादृत तथा प्रयुक्त होता है।

पुराण के महात्म्य के प्रसंग में रामकृष्ण परमहंस का एक विशिष्ट कथन [illegible] है :—

स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण से एक बार पूछा—क्या पुराणों के कथानक सत्य हैं ?

परमहंस जी ने उत्तर में कहा—क्या पुराणों के 'तथ्यों में सत्यता है या नहीं ?

विवेकानन्द—हाँ, उन तथ्यों में सत्यता तो निश्चयरूपेण है।

रामकृष्ण—तब पुराणों के कथानकों में सत्यता वर्तमान है। परमहंस जी के उत्तर का निष्कर्ष यह है कि पुराणों के बहिरंग पर हमें कभी ध्यान न देना चाहिए। उनका अन्तरंग अर्थात् अन्तः वर्णित तथ्य वेदानुकूल होने से प्रमाण कोटि में निश्चित रूप से आता है, तब हमें उनके बहिरंग की सत्यता के विषय में संशयालु न होना चाहिए।

पुराणों की विशिष्ट शैली से परिचित न होने के कारण अन्तरंग की सत्यता में भी विद्वानों को सन्देह बना हुआ है। संस्कृत भाषा के त्रिविध साहित्य की शैली में नितान्त पार्थक्य है—

वेद की शैली है *रूपकमयी।*
पुराण की शैली है *अतिशयोक्तिमयी।*
ज्योतिष की शैली है *स्वभावोक्तिमयी।*

ज्योतिष वैज्ञानिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। विज्ञान स्वभावोक्ति का उपयोग करता है अपने वर्णनों में। वेद की शैली में रूपक का प्राधान्य है, परन्तु इन दोनों से विलक्षण है पुराण की शैली, जिसमें अतिशयोक्ति का साम्राज्य विराजता है। एक दृष्टान्त से इसे समझना चाहिये। वर्षा का वर्णन इन तीनों साहित्यों में विशिष्ट दृष्टि से किया गया है। ज्योतिष वर्षा का वर्णन स्वभावोक्ति में करता है—किस नक्षत्र में कैसी वायु बहती है और किस प्रकार के मेघ उत्पन्न होते हैं, किस प्रकार के मेघों से कितनी वृष्टि होती है, और वृष्टि के अवरोधक कौन हैं और उनका नाश कैसे होता है आदि आदि वेद इसी तत्त्व को इन्द्रवृत्र के युद्ध का रूपक प्रदान करता है। वृष्टि को निरोध करने वाला तत्त्व ही वृत्र है (जिसका व्युत्पत्त्यर्थ ही है सबको घेरनेवाला पदार्थ)।

वृत्र अवर्षण का राक्षस है। इन्द्र वृष्टि का देवता है। दोनों तत्वों में उत्पन्न संघर्ष इस इन्द्र-वृत्रयुद्ध के द्वारा संकेतित किया जाता है। पुराण में यही तत्त्व अतिशयोक्ति के लपेट में वर्णित है। इन्द्र है देवों का राजा तथा वृत्र है असुरों का अधिपति। दोनों अपना प्रामुख्य चाहते हैं। वृत्र इन्द्र को परास्त करने के उद्योग में निमग्न रहता है, तो इन्द्र वृत्रको ध्वस्त करने के लिये उद्यमशील है। इन्द्र ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़ कर संग्राम में उतरता है, तो वृत्र भी तदनुसार हाथी की सवारी पर आता है। दोनों के सहायक सैन्यों की संख्या गगनातीत है। पुराण इस देवासुर संग्राम का बड़ा ही रोचक तथा पुष्ट वर्णन करता है। ध्यान देने की बात यही है कि यहाँ तीनों ग्रन्थ एक ही अभिन्न तत्त्व का ही वर्णन करते हैं। ज्योतिष के द्वारा स्वभावोक्ति में वर्णित तथा वेद में रूपक-द्वारा उद्भासित तथ्य ही पुराण की अतिशयोक्तियों के द्वारा अपनी अभिव्यञ्जना करता है (शैलीभेदात् वर्णनभेदः न तु तथ्यभेदः—)यही यथार्थ है। फलत: जो व्यक्ति वेद में आस्था रखता है, परन्तु पुराण में *श्रद्धा नहीं रखता,* वह वस्तुत: स्वतोविरुद्ध बातें करता है। दोनों में अभिव्यक्त तत्त्व तो एक ही ठहरा। फलतः वेद में *श्रद्धा की तथा पुराण में अश्रद्धा की समभावेन स्वीकृति* नितान्त विरुद्ध होने से अपना मूल्य नहीं रखती।

पुराणों के कथनों में सचाई है और गहरी सचाई है—यह किसी भी विवेकशील अध्येता के ध्यान में आ सकती है, परन्तु इस अध्ययन के लिए चाहिए अनुसन्धाता में सहानुभूति तथा इमानदारी। बिना इनके पुराण का अनुशीलन भारतवर्ष के लोगों के लिए किसी प्रकार भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। लेखक ने पुराण के इस सार्वभौम पक्ष की यथासाध्य उपेक्षा नहीं की है। वह चाहता है कि वैदिक धर्म के तत्त्वों का जिज्ञासु पाठक पुराणों का गम्भीर अध्ययन कर उसके परिणाम को अपने जीवन में उतारे; तभी पुराणों *का यथार्थ उपयोग हो सकेगा। सुन्दर आलोचन करने से मस्तिष्क को कुछ* क्षणों के लिए आराम भले ही मिले, परन्तु हृदय को चिर शान्ति नहीं मिल

पुराण के अध्ययन के प्रति लेखक का यह दृष्टिकोण है जिसे उसने इस अपनाने का भरसक प्रयत्न किया है। आशा है ग्रन्थ के समीक्षक को ध्यान में रखकर इसके कथनों का परीक्षण करेंगे।

काशीनरेश महाराजा डाक्टर विभूतिनारायण सिंह का पुराण का प्रत्येक शोधक चिरऋणी रहेगा जिन्होंने 'अखिल भारतीय काशीराजनिधि' की स्थापना कर पुराणों के विशुद्ध संस्करण प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है और जिनकी पुराण पत्रिका (६ वर्ष) का नियमतः प्रकाशन शोध-दृष्टि से नितान्त उपादेय है। लेखक काशीनरेश का विशेष आभार मानता है। उनके प्रकाशनों का व्यवस्थित उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया है।

मैं उन विद्वानों का आभार मानता हूँ जिनके द्वारा उद्भावित तथ्यों का मैंने इस ग्रन्थ में उपयोग किया है। इसका निर्देश पाद-टिप्पणियों में स्थान-स्थान पर सर्वत्र कर दिया गया है। वे सज्जन भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ इतनी शीघ्रता से प्रणीत हो सका है। इस ग्रन्थ के प्रणयन के स्रोत हैं संस्कृत विद्या तथा विद्वानों के यथार्थ हितैषी, हमारे संस्कृत विश्वविद्यालय के कर्मठ उपकुलपति, श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी जी, जिनकी प्रेरणा से यह लिखा गया है और जिनके द्वारा उत्पादित विद्वत्तापूर्ण शान्त वातावरण इसकी रचना के निमित्त वरदान सिद्ध हुआ है।

अपने छात्रों—डा० बलराम श्रीवास्तव तथा डा० गंगासागर राय—को मैं आशीर्वाद देता हूँ जिन्होंने नाना प्रकार से मेरी सहायता की है।

इस ग्रंथ में दिये गये पौराणिक भूगोल के प्रदर्शनकारी मानचित्र के लिए लेखक रायकृष्णदास जी का उपकार मानता है। पुराण तथा इतिहास के चित्रों के लिए वह साङ्गवेद विद्यालय, (रामघाट, काशी) के अधिकारियों का आभार स्वीकार करता है। ये चित्र *श्रीतत्त्वनिधि* (पृ० १००–१०१) में उद्धृत 'नृसिंह-प्रसाद' के वचनों के आधार पर बनाये गये हैं। 'श्रीतत्त्व निधि' इस विषय का अपूर्व ग्रंथ है जिसका संकलन मैसूर के महाराज की आज्ञा से हुआ था और जिसका प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ने किया है।

अन्त में, भगवान् विश्वनाथ से मेरी प्रार्थना है कि व्यासवाणी का यह विमर्श भारतवर्ष के निवासियों के घर-घर में पहुँच कर वैदिक धर्म के महनीय

तत्त्वों की अमर ज्योति जगाता रहे जिससे उनकी मानस तमिस्राका अवसान होकर मगलमय प्रभात का जन्म हो। तथास्तु

सज्जनाम्भोरुहपुषे वेदव्यासाभिधा-जुषे।
तम स्तोममुषे तस्मै परस्मै ज्योतिषे नम ॥
—(सुमतीन्द्रयति गीता-भाष्य-व्याख्या)

वाराणसी
वसन्तपचमी, स० २०२१
६–२–६५

बलदेव उपाध्याय

विषयसूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

परिशिष्ट

षष्ठ परिच्छेद

परिशिष्ट

(नाचिकेतोपाख्यान का क्रम विकास)

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

परिशिष्ट

परिशिष्ट १ : पुराणों का विषयविवेचन

पुराण-विमर्श

अनुसार यह निरुक्ति इसस किञ्चित् भिन्न है—'पुरा परम्परा वष्टि कामयत अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण्डपुराण की इसस भिन्न एव तृतीय व्युत्पत्ति है — पुरा एतत् अभूत् अथात् प्राचीन काल म एसा हुआ।१)

इन समग्र व्युत्पत्तिया की मीमासा करन स स्पष्ट है कि पुराण का वर्ण्य विषय प्राचीन काल स सम्बद्ध था। प्राचीन ग्रथा म पुराण का सम्बन्ध इतिहास स इतना घनिष्ठ है कि दोना सम्मिलित रूप स इतिहास पुराण नाम स अनक स्थानो पर उल्लिखित किय गये है।२) इतिहास क अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थो म उल्लिखित होन पर भा लोगा म यह भ्रा त धारणा फैली हुई है कि भारतीय लोग एतिहासिक कल्पना स भी सवथा अपरिचित थ। परन्तु यह धारणा निर्मूल तथा अप्रामाणिक है। यास्क क कथनानुसार ऋग्वद म ही त्रिविध ब्रह्म के अन्तगत इतिहास-मिश्र मन्त्र पाय जाते है। छा दोग्य उपनिषद् म सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखन क अवसर पर नारदमुनि न अपनी अधीन विद्याओ के अ तगत इतिहास पुराण को पञ्चम वेद बतलाया ह। इस सयुक्त नाम म स्पष्ट है कि उपनिषद् युग मे दोनो मे घनिष्ठ सम्ब ध की भावना क्रिया शील थी। यास्क न अपन निरुक्त म ऋचाओ क विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्था की कथाओ को इतिहासमाचक्षते कहकर उद्धृत किया है। इतना ही नही निरुक्त म वेदाथ व्याख्या के अवसर पर उद्धृत अनक विभिन्न सम्प्रदायो म ऐतिहासिका का भी एक पृथक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था जिसका स्पष्ट परिचय इति एतिहासिका निरुक्त के इस निर्देश स मिलता है। इस सम्प्रदाय क मन्तव्यानुसार यनक मन्त्रो की व्याख्या यास्क न स्थान स्थान पर की ह। इतिहास की व्युत्पत्ति है—इति (इस प्रकार स) ह (निश्चयन) आस (था वतमान था) अथात् प्राचीनकाल म निश्चय रूप स होन वाली घटना इतिहास के द्वारा

१ यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराण तन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वद सवपापै प्रमुच्यते ॥

—ब्रह्माण्ड १।१।१७३

२ तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्र गाथामिश्र भवति ॥ [partly illegible]

—निरुक्त ४।६

३ ऋग्वेद भगवोऽध्यमि यजुर्वेद सामवेदमाथवणमितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेदम् ॥ [partly illegible]

— छा दोग्य ७।१

निर्दिष्ट की जाती थी।[1] 'इतिहास' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राचीन काल में वास्तव रूप में घटित होने वाली घटना का द्योतक है। अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द 'पुराण' से भिन्न स्वतन्त्र रूप में इसी अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। यास्क ने निश्चित रूप में देवापि और शन्तनु की कथा को इतिहास कहा है तथा विश्वामित्र को सुदास् पैजवन के पुरोहित होने की घटना को भी इतिहास कहा है।[2] पुराणों में आगत चरन्तन 'इतिहास' शब्द का प्रयोग निःसंशय इस 'इतिवृत्त' अर्थ में हम पाते हैं। इतना स्पष्ट है कि काल्पनिक कथा या आख्यान को 'पुराण' नाम से और वास्तविक घटना को 'इतिहास' नाम से पुकारते थे,[3] और यही दोनों के प्राचीन अर्थों में विभेद-सीमा है।

सामान्यतया आलोचक गण महाभारत को ही इतिहास कहते हैं, क्योंकि स्वयं महाभारत[4] भी अपने को इसी अभिधान से पुकारता है, परन्तु रामायण को भी इतिहास के अन्तर्गत मानना प्राचीन शास्त्रीय मर्यादा की सीमा से बाहर नहीं है। राजशेखर के अनुसार 'इतिहास' दो प्रकार का होता है[5]—(१) **परिक्रिया** अर्थात् एकनायक वाली कथा जैसे रामायण तथा (२) **पुराकल्प** अर्थात् बहुनायक वाली कथा जैसे महाभारत। परन्तु राजशेखर 'इतिहास' का क्षेत्र संकुचित तथा सीमित नहीं मानते। दोनों महाकाव्यों को इस शब्द के अभिधान के भीतर स्वीकार करके वे अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

इतिहास तथा पुराण का पार्थक्य

इन दोनों का पार्थक्य स्पष्टरीति से प्राचीन ग्रन्थों में नहीं दिया गया है। महाभारत, जो स्वयं अपने को 'इतिहास' ही नहीं प्रत्युत 'इतिहासोत्तम'

---

१ तुलना कीजिए—निदानभूत इति ह एवमासीत्' इति य उच्यते स इतिहास (निरुक्त २।३।१ पर दुर्गाचार्य की वृत्ति)

२. तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः (निरुक्त २।३।१) तथा तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव (निरुक्त २।७।२)

३ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। म स्व० ...।६।

४ जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। उद्योग० १३६। १८
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः। आदि० २।३८५

५ परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका॥

—काव्यमीमांसा

हलाता है अपने लिए पुराण नाम का भी व्यवहार करता [1] (आदि० ।१७) । उधर वायुपुराण पुराण होने पर भी अपने को पुरातन इतिहास [2] कहलाता है । इस विरुद्ध संकेत से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इतिहास तथा पुराण की विभाजन रेखा बड़ी धूमिल थी और धीरे धीरे आगे चल कर दोनों अभिधानों का वैशिष्ट्य निश्चित कर दिया गया । पुराण तथा इतिहास का क्षेत्र विभिन्न तथा स्वतन्त्र है । छान्दोग्य उप० (७।१) के भाष्य में आचार्य शंकर ने इन दोनों अभिधानों का पार्थक्य स्पष्टतः दिखलाया है । उनका कथन है कि इतिहास तथा पुराण दोनों ही वेद में उपलब्ध है । उर्वशी तथा पुरूरवा के संवाद को सूचित करने वाला उर्वशी हाप्सरा पुरूरवसमैड चकमे आदि शतपथ ब्राह्मण (११।५।१।१) तो इतिहास है परन्तु असद्वा इदमग्र आसीत् (आरम्भ में असद् ही वर्तमान था जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई) इत्यादि सृष्टि प्रक्रिया घटित विवरण पुराण है । शङ्कराचार्य की सम्मति में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है । प्राचीन आख्यान तथा आख्यायिका का सूचक भाग इतिहास है तथा सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन पुराण है [3] । यह भेद प्राकट्य सप्तम शती में आचार्य शङ्कर ने किया जब पौराणिक साहित्य वृद्धिंगत हो चुका था जैसा आगे दिखलाया जायगा । प्राचीनतर ग्रन्थों में दोनों की पार्थक्य रेखा नितान्त पतली

---

१ द्वैपायनेन यत् प्राक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ —आदि० १।१७

२ इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम् ।
शृणुयाद् श्रावयद्वापि तथाऽध्यापयतेऽपि च ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम्
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना ॥
—वायु० १०३।४८ ५१

ये दो श्लोक ब्रह्माण्ड ४।४।४७,५० में भी उपलब्ध होते हैं ।

३ इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः उर्वशी हाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणम् असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि । —शाङ्करभाष्य

४ सायण ठीक इससे विपरीत बात कहते हैं । वे आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शत० ११।१।६।१) को इतिहास तथा उर्वशी-पुरूरवा के आख्यान को पुराण मानते हैं । द्रष्टव्य सायणभाष्य – शत० ११।५।६।८। आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शतपथ ११।१।६।१) इत्यादिकं सृष्टि प्रतिपादकं ब्राह्मणमितिहासः । उर्वशी हाप्सरा पुरूरवसमैडं चकमे शत० ११।५।१।१ इत्यादीनि पुरातनपुरुषवृत्तान्तप्रतिपादकानि पुराणम् ।
—सायणभाष्य शत० ११।५।६।८ भाष्य

है। फलत जब पञ्चम शती में अमरकोश ने 'पुराण' की पञ्चलक्षणात्मक व्याख्या की, तब उसने उपलब्ध पुराणों के वर्ण्य विषयों के आधार पर ही ऐसा किया। ये पञ्चलक्षण सर्वसम्मति से सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित ही थे। परन्तु आपस्तम्बधर्मशास्त्र के उल्लेख से पुराण तथा भविष्य पुराण की पूर्वकालिकी सत्ता का अनुमान लगाना युक्तिसंगत है। इस धर्मशास्त्र के द्वारा प्रदत्त निर्देशों की विस्तृत चर्चा इसी परिच्छेद में आगे की जायगी जिससे स्पष्ट होगा कि प्राचीनतम पुराण में सृष्टि तथा प्रलय के अतिरिक्त धर्मशास्त्र से सम्बद्ध विषयों की भी सत्ता अवश्यमेव थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुराण में सर्ग (सृष्टि) प्रतिसर्ग (प्रलय) वंश (नाना ऋषियों तथा राजाओं की वंशावली), मन्वन्तर (विशिष्ट काल-गणना) तथा वंशानुचरित (प्रसिद्ध राजाओं और ऋषियों का चरित्र) प्राय: उपलब्ध होते हैं, इतने ही नहीं, इनसे इतर भी विषय—जैसे दान, तीर्थ, व्रत तथा अवतार भी वर्णित हैं। इतिहास का क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है।' इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नहीं है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का सङ्कलनमात्र नहीं है, प्रत्युत नाना विषयों की शिक्षा देकर तथा लोक-व्यवहार के तत्त्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय में मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है—

> **इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।**
> **लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम् ॥**

पुराण और इतिहास के प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रयोगों की तुलना कर कुछ परिणाम निकाले जा सकते हैं—

(१) अथर्ववेद तथा कतिपय पुराणों में 'पुराण' शब्द इतिहास को भी गतार्थ करता है। सर्वप्रथम केवल 'पुराण' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद (११।७।२४) में 'उच्छिष्ट' से शास्त्रों की सृष्टि के प्रसङ्ग में व्यवहृत है। व्रात्य के अनुगमन के अवसर पर इतिहास का पृथक् स्वतन्त्र रूप में प्रयोग उपलब्ध होता है (अथर्व० १५।६।१०-१०)

(२) इतिहास और पुराण का पृथक् प्रयोग अनेक अवान्तर कालीन वैदिक ग्रन्थों तथा पुराणों में उपलब्ध होता है।

(३) कभी इतिहास पुराण का गतार्थ करता था। (कौटिल्य ने इतिहास के क्षेत्र में पुराण को ग्रहण किया है पुराणमितिवृत्त-माख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेति इतिहासः। अर्थशास्त्र १।५)

(४) अन्तिम काल में 'पुराण' इतिहास को ही नहीं, प्रत्युत समस्त

वाङमय को अपने मे गतार्थ करता है जो मानव के कल्याण तथा हित के साधन होते है—

> शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणानां समुच्चयम् ।
> यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञानं वाङ्मयं सचराचरम् ॥
>
> —नारदीय पुराण १।९२।२१

इस प्रकार 'पुराण'-'इतिहास' शब्दो की तारतम्य परीक्षा दोनो के स्वरूप तथा विकास के निर्धारण मे सहायक हो सकती है।[1]

✓ पुराणों के प्राचीन उल्लेख

पुराण के विषय मे दो दृष्टियाँ प्राचीनकाल मे देखी जाती हैं। एक अर्थ मे तो यह प्राचीनकाल के वृत्तो के विषय मे विद्या के रूप म प्रयुक्त होता था। दूसरे अर्थ मे यह एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है। इसकी प्राचीनता खोजने के लिए वैदिक साहित्य का आलोडन आवश्यक है—संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदो का।

ऋग्वेद मे 'पुराण' शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रो मे उपलब्ध होता है (ऋ० वे० ३।५४।९, ३।५८।६, १०।१३०।६), परन्तु इन स्थलो पर 'पुराण' शब्द केवल प्राचीनता का ही बोधक है। अन्यत्र (९।९९।४) 'पुराणी' शब्द 'गाथा' शब्द के विशेषण रूप म प्रयुक्त मिलता है। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के युग मे कुछ गाथाये ऐसी विद्यमान थी जिनका उदय किसी प्राचीन काल मे हुआ था। ऋग्वेद के काल म हम इससे अधिक कुछ नही कह सकते। अथर्ववेद म हमे 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशसी शब्दो के साथ प्रयुक्त मिलता है जहा एक विशिष्ट विद्या के रूप मे ही उपलब्ध होता है। पुराण का उदय 'उच्छिष्ट' सज्ञक ब्रह्म मे बतलाया गया है। अथर्व (११।७।२४) मन्त्र का अर्थ है—ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से—यज्ञ के अवशेष मे अथवा जगत् पर शासन करने वाले यज्ञमय परमात्मा से—उत्पन्न हुए तथा द्युलोक म निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से पैदा हुए।

उद्धरण—

> (१) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
> उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥
>
> —अथर्व ११।७।२४

[1] विशेषत द्रष्टव्य पुराण पत्रिका (भाग षष्ठ, खण्ड २, जुलाई १९६४, पृ ४५१–४५७)

मन्त्र का अर्थ है कि उच्छिष्ट से ऋचायें, साम, छन्द (अथर्व) तथा पुराण यजुष् के साथ उत्पन्न हुए। इतना ही नहीं, दिवलोक में निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए। 'उच्छिष्ट' शब्द के तात्पर्य के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसका अर्थ 'यज्ञ का अवशेष' मानते हैं। सायण की दृष्टि में 'उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषां भूतभौतिकानामवसाने शिष्ट उर्वरित परमात्मा' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से सब पदार्थों का अवसान होने पर शेष रहने वाले परमात्मा की द्योतना इस शब्द के द्वारा होती है। उपनिषदों में प्रयुक्त 'नेति-नेति' शब्द का अभिप्राय इससे भिन्न नहीं है[1]।

(२) स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १०॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च
नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥
इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद ॥ १२ ॥

—अथर्व, १५ काण्ड, १ अनुवाक, ६ सूक्त

व्रात्यस्तोम के अन्तर्गत पूर्वोक्त मन्त्रों की उपलब्धि होती है। व्रात्यपद से रुद्रावतार परमात्मा की यहाँ विवक्षा है। पैप्पलाद संहिता की 'व्रात्यो वा इदमग्र आसीद्' यह उक्ति तथा विश्वसृष्टि की आद्यावस्था में 'व्रात्य' के सबसे अग्रिम होने का यह निर्देश उसका परमात्म-तत्त्व के साथ ऐक्य स्थापित कर रहे हैं। रुद्राध्याय में 'नमो व्रात्याय' कहकर व्रात्य का रुद्र के साथ ऐक्य प्रतिपादन स्वयम् उक्त है। इसी रुद्र के प्रतिनिधि व्रात्य के अनुगमन का विधान इस सूक्त में देवादिकों तथा वेदादिकों के द्वारा बतलाया गया है। फलतः अथर्व की दृष्टि में इतिहास और पुराण ऋग्, साम तथा यजुष् के समान ही अभ्यर्हित हैं तथा पञ्चमवेद का प्रतिनिधित्व करते हैं।

"व्रात्यस्तोम के प्रसंग में इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी भी उसके पीछे पीछे चली। जो व्यक्ति इसे जानता है वह इतिहास का, पुराण का,

---

[1] पुराणों में भी परमात्मा इसी प्रकार 'निषेधशेष' विशेषण के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। भागवत की गजेन्द्रस्तुति के अवसर पर यह शब्द प्रयुक्त है—

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥ —भाग० ८।३।२४

गाथाओं का तथा नाराशंसियों का प्रिय धाम—प्यारा घर होता है। यहाँ इतिहास गाथा तथा नाराशंसी के साथ पुराण शब्द का सहप्रयोग इन सब के साहित्यिक रूप में समान आकार की ओर इंगित करता है। मेरी दृष्टि में ये चारों शब्द वैदिक साहित्य से पृथग्भूत किसी लौकिक साहित्य की सत्ता की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं। वैदिक युग में ही साहित्य की प्रवहमान दो धारायें प्रतीत होती हैं—एक धारा तो विशुद्ध धार्मिक है जिसमें किसी देवता की स्तुति तथा प्रार्थना ही मुख्य लक्ष्य है। दूसरी धारा विशुद्ध लौकिक है जिसमें लोक में प्रख्याति पाने वाले महनीय व्यक्तियों का तथा लोकप्रसिद्ध वृत्त का वर्णन करना ही अभीष्ट तात्पर्य होता है। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक दानस्तुति तथा नाराशंसी उपलब्ध होती हैं जिनमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रभूत दान देने वाले अपने किसी आश्रयदाता शासक का ऐतिहासिक वृत्त से समन्वित स्तुति करता है। पुराण का सम्बन्ध इसी द्वितीय धारा से मानना नितान्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

(३) यत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥

—अथर्व ११।८।७

तात्पर्य—इस (दीखती हुई भूमि) से पहिले (अर्थात् पहिले कल्पवाली) जो भूमि थी, उस भूमि का सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जो निश्चय करो उस प्रथम कल्पवाली भूमि का नाम—यथार्थ रूप से—जान लेवे वह पुराणवित् (अर्थात् पुराण के वृत्तान्त का जानने वाला) माना जाना चाहिए।

इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अथर्व वेद के काल में पुराण का तथा पुराणविद् व्यक्तियों का अस्तित्व अवश्यमेव विद्यमान था।

ब्राह्मण-साहित्य में पुराण

ब्राह्मण साहित्य में भी पुराण का अस्तित्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में पुराण का बहुश: उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प रहस्य ब्राह्मण उपनिषद् इतिहास अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए। यहाँ इतिहास पुराण का सम्बन्ध वेद से जोड़ा गया है। दूसरे मन्त्र में गोपथ ब्राह्मण पाँच वेदों के निर्माण की बात कहता है और ये पाँच वेद हैं—सर्पवेद पिशाचवेद असुरवेद इतिहासवेद तथा पुराणवेद।

(४) एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः।

—गोपथ पूर्वभाग २।१०

(५) पञ्चवेदान् निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम्। स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत, दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्। —तत्रैव १।१०

स तान् पञ्चवेदानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः पञ्चमहाव्याहृतीर्निरमिमत वृधत् करत् गुहत् महत् तदिति। वृधदिति सर्पवेदात्, करदिति पिशाचवेदात् गुहदित्यसुरवेदात् महदितीतिहासवेदात् तदिति पुराणवेदात्।

—तत्रैव १।१०

इन वेदों के निर्माण के विषय में कहा गया है कि प्राची दिशा से सर्पवेद का निर्माण हुआ, दक्षिण दिशा से पिशाचवेद का, पश्चिम दिशा से असुरवेद का, उत्तरदिशा से इतिहास वेद का तथा ध्रुवा (पैरों से ठीक नीचे होने वाली दिशा) और ऊर्ध्वा (सिर के ठीक ऊपर की दिशा) से पुराण का निर्माण हुआ। ये उस युग में स्वतन्त्र वेद या वेद के समान ही मान्य शास्त्र थे। ये पांचों ही स्वतन्त्र थे, इसकी सूचना मिलती है व्याहृतियों की उत्पत्ति से। इसी सन्दर्भ में पाँच महाव्याहृतियों—वृधत्, करत्, गुहत्, महत्, तथा तत्—की उत्पत्ति ऊपर निर्दिष्ट पाँचों वेदों से क्रमशः वर्णित है। भिन्न दिशाओं से उत्पन्न होने के कारण तथा भिन्न व्याहृतियों के उद्गमस्थल होने के हेतु गोपथ ब्राह्मण इतिहास और पुराण को विभिन्न विद्याओं के रूप में ग्रहण करता है। उस युग में दोनों का पार्थक्य निश्चित हो चुका था।

शतपथ ब्राह्मण अपने विशाल क्षेत्र में इतिहास पुराण के उदय की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण गाथा सुरक्षित रखे हुए है जिसका अनुशीलन अनेक नवीन उपलब्धियों को प्राप्त कराने में सर्वथा समर्थ है। इस ब्राह्मण के उद्धरण बड़े ही महत्त्व के हैं जिनके ऊपर विशेष विचार अगले परिच्छेद में किया जावेगा। यहाँ केवल सामान्य सूचना दी जाती है।

(६) मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहास पुराणं गाथा नाराशंस्यः। य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते॥ मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति।

—शतपथ ११।५।६।८

(७) क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवाँस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास-पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।

—तत्रैव ११।५।७।९

(८) ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायते ।

तत्रैव १४।६।१०।६

(९) अथाष्टमेऽहन् मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति । तानुपदिशतीतिहासो वेद सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीत । अथ नवमेऽहन् तानुपदिशति पुराणं वेद सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत ।

—तत्रैव १३।४।३।१२-१३

इन उद्धरणों का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए—

(६) ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग से यह सम्बन्ध रखता है। विभिन्न वेदों का स्वाध्याय विभिन्न फल प्रदान करता है। अनुशासन विद्या वाकोवाक्य इतिहास-पुराण गाथा तथा नाराशंसी के स्वाध्याय करने से देवों को मधु से पूर्ण आहुतियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यान देने की बात है कि शतपथ के प्रथम तीनों उद्धरणों में इतिहासपुराण समस्तपद के रूप में उल्लेख पा रहा है, परन्तु पारिप्लवाख्यान में सम्बद्ध अन्तिम उद्धरण में इतिहास तथा पुराण का पार्थक्य स्पष्टतः निर्दिष्ट किया गया है। इतिहास का प्रवचन होता है अष्टम रात्रि में और पुराण का नवम रात्रि में। इस प्रकार उस युग में दोनों प्रकार की भावनायें क्रियाशील थीं सम्मिलित भावना तथा पार्थक्य भावना। इस विषय का विवेचन विशदरूप में आगे परिच्छेद में किया गया है।

(७) यही जान कर विद्वान् अनुशासन, विद्या वाकोवाक्य इतिहास-पुराण, गाथा, नाराशंसी के साथ प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद) का अध्ययन करता है। इस स्वाध्याय के फल का भी यथोचित उल्लेख मिलता है। जो विद्वान् पूर्वोक्त अनुशासन आदि का नित्य स्वाध्याय का अध्ययन करता है, वह देवों को तृप्त करता है।

(८) ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद् श्लोक सूत्र अनुव्याख्यान तथा व्याख्यान सब वाङ्मय हैं। वाणी से ही सम्राट् होता है।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन से एक विशिष्ट तथ्य का उद्भव होता है। शतपथ ब्राह्मण में 'इतिहासपुराण' सम्मिलित रूप से एक ही समस्त पद द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। प्रतीत होता है कि दोनों में विषय का सादृश्य था। आगे चल कर दोनों पृथक् ग्रन्थ के रूप में विभक्त हो गये। इसीलिए गोपथ पुराणवेद या इतिहासवेद का पृथक् निर्दिष्ट करता है। ऐसे विकास की सम्पत्ति ब्राह्मणयुग में ही पुराण के गाढ़ अनुशीलन तथा आलोडन का तथ्य वर्णित करती प्रतीत होती है।

आरण्यक तथा उपनिषद् में पुराण

ब्राह्मणों के ही आरण्यक और उपनिषद् अन्तिम भाग हैं। श्रुति के इस अन्त में भी पुराण तथा इतिहास की स्थिति पर्याप्तरूपेण सिद्ध होती है—विकसित रूप में अर्थात् ब्राह्मणों में अपनी पूर्व स्थिति से विकसित रूप में इतिहास पुराण का रूप हमें इस साहित्य में उपलब्ध होता है।

(१०) ब्रह्मयज्ञप्रकरणे—यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानाममवन् । ताभिः क्षुधं पाप्मानमपाघ्नन्। अपहत-पाप्मानो देवाः स्वर्गं लोकमायन्। ब्रह्मणः सायुज्यमृषयोऽगच्छन्॥

—तैत्तिरीय आरण्यक
२ प्रपाठक, ९ अनुवाक।

(११) स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्।

—बृहदा० उप० २।४।११

(१२) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदं, पित्र्यं राशिं ... ... एतद् भगवोऽध्येमि।

—छान्दोग्य ७।१।२

(१३) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराण पञ्चमो वेदानां वेद ।

—तत्रैव ७।१।४

(१४) वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्।

—तत्रैव ७।२।१

ऊपर उद्धरण (१०) में तैत्तिरीय आरण्यक ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में 'पुराणानि' पद का व्यवहार करता है। इसमें बहुत ग्रन्थों का संकेत मानना उचित नहीं होगा। यहाँ पुराणगत आख्यानों का ही बहुत्व अभीष्ट है। बृहदारण्यक उपनिषद् तो पुराण में उदय को वेद के उदय के समान ही बतलाता है— इतिहास पुराण उस महाभूत (परमेश्वर सब स्रष्टा) के निःश्वसित हैं— श्वासरूप हैं।

यहाँ निःश्वसित पद की व्याख्या शंकराचार्य ने यह बतलाकर की है कि जैसे श्वास बिना यत्न के ही पुरुष से प्रकट होता है वैसे ही वेद आदि उस परमात्मा से बिना यत्न के ही प्रकट हुए। शतपथ का यह वचन पुराण को वेद के समकक्ष रखता है तथा वेद के समान पुराण को भी नित्य मानता है। इस आरण्यक के दूसरे मन्त्र (२।४।११) (उद्धरण ११) में इसी तथ्य का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर दृष्टान्त के साथ किया गया है—गीली लकड़ी से जलाई गई आग से धूम के बादल अलग अलग निकलते हैं उसी प्रकार उस महान् सत्ता का निःश्वसित ही है यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस तथा इतिहास पुराण है। छान्दोग्य उपनिषद् से भी पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि होती है। छान्दोग्य नारदजी के द्वारा अधीत तथा अभ्यस्त शास्त्रों में इतिहासपुराण का उल्लेख करता है तथा उसे पञ्चमवेद के नाम से अभिहित किया है (७।१।२ उद्धरण १२)। यही उपनिषद् अपने दूसरे मन्त्रों (७।१।४ तथा ७।२।१) में इतिहासपुराण को पञ्चमवेद के रूप में उल्लेख कर ब्रह्मरूप से उपासना करने की शिक्षा देती है (उद्धरण १३ और १४)।

निष्कर्ष—वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ये तथ्य अभिव्यक्त होते हैं— (क) महाभूत परब्रह्म (या उच्छिष्ट) से वेद-चतुष्टय के समान ही इतिहास पुराण की भी उत्पत्ति हुई (ख) वेद के समान ही पुराण भी नित्य है (ग) इतिहासपुराण इसीलिए पञ्चमवेद के नाम से अभिहित है (घ) यह केवल मौखिक तत्त्व का द्योतक न होकर सम्भवतः ग्रन्थ के रूप में सन्निविष्ट था क्योंकि वह अध्ययन का विषय था (ङ) आरण्यक युग में पुराणों के बहुत्व की कल्पना आरम्भ हो चुकी थी—पुराण एक न होकर अनेक के रूप में वर्तमान था ग्रन्थरूप में न सही आख्यानरूप में तो निश्चय ही।

सूत्रग्रन्थ तथा पुराण

(१५) अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति ॥ १ ॥

(१६) यदृचोऽधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवतास्तर्पयति यद्यजूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि मध्वाहुतिभिर्यदथर्वाङ्गिरसः सोमाहुति

भिर्यद्ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृताहुतिभिः ॥ २ ॥

(१७) यदृचोऽधीते पयस: कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा उपक्षरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः ॥ ३ ॥

—आश्वलायन गृह्यसूत्र अ० ३, खण्ड ४

(१८) तं दीपयमाना आसत आ शान्त रात्रादायुष्मतां कथाः कीर्तयन्तो माङ्गल्यानीतिहासपुराणानीत्याख्यापयमाना' ॥ ६ ॥

—तत्रैव, अ० ४, ख० ६

वरपसूत्रों से पुराण के अस्तित्व का, उनके अध्ययन का तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य का पूरा संकेत हमें उपलब्ध होता है —

(क) **आश्वलायन गृह्यसूत्र** मे पुराण पठन का उल्लेख अनेक बार मिलता है। एक मन्त्र (३।३।१) में इतिहास तथा पुराणों का (इतिहास पुराणानि) अनुशीलन स्वाध्याय के अध्ययन के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। (उद्धरण १५)। दूसरे मन्त्र (४।६) में इतिहास और पुराणों के स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति के देवों और पितरों को अमृत की कुल्या (नहर) के प्राप्त होने का तथ्य उद्घाटित किया गया है। (उद्धरण १६ और १७)। अन्यस्थल (४।६) पर चिरजीवी मनुष्यों की कथायें और मांगलिक इतिहास पुराणों का पाठ करते हुए मथित अग्नि को दीप्त करने के समय को बताने का स्पष्ट निर्देश मिलता है (उद्धरण १८)।

यह तो हुआ पुराण का सामान्य निर्देश, परन्तु इसी युग के एक मान्य ग्रन्थ आपस्तम्ब धर्मसूत्र में किसी पुराण से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं और भविष्यत्पुराण का स्पष्ट ही नाम निर्दिष्ट किया गया है। ये उल्लेख बड़े महत्त्व के हैं।

(ख) **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** (२।२३।३५) में किसी पुराण के दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिनका अर्थ यह है—जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना करते थे, वे तो अर्यमा के दक्षिण मार्ग से चलकर श्मशान में पहुँचे, परन्तु जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना नहीं करते थे, उन्होंने अर्यमा के उत्तर मार्ग से चलकर अमृतत्व को प्राप्त किया। इन श्लोकों का तात्पर्य यही है कि प्रवृत्ति मार्ग में रहने पर संसार के जन्म-मरण के चक्कर में सदा घूमना पड़ता है और निवृत्ति मार्ग का आश्रय करने पर मानव मुक्ति को प्राप्त होता है।

य महत्त्वपूर्ण श्लोक य है—

(१९) अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षय ।
दक्षिणेनार्यम्ण पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे ॥
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजा नेषिरर्षय ।
उत्तरेणार्यम्ण पन्थानं तेऽमृतत्व हि भेजिरे ॥

इयूर्ध्वरेतसा प्रशसा । आप० धम० सू० २।९।२३।३–६

श्री शकराचाय न बृहदारण्यक उप० के अपन भाष्य म (६।२।१५) एक स्मृतिवचन उद्धृत किया है जो पूर्वोक्त अतिम श्लोक के साथ समता रखता है। वह श्लोक इस प्रकार है —

अष्टाशीति सहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
उत्तरेणार्यम्ण पन्थास्तेऽमृतत्व हि भेजिरे ॥

विचारणीय ह कि ये दोनो श्लोक कहा स उद्धृत किय गय हैं। मूल स्थान बतलाना तो निता त कठिन हे पर तु इन्हा श्लोका के समान भावाथक पद्य पुराणा म अनक स्थलो पर आज भी उपलब्ध होते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के दो स्थलो पर पितृयान तथा देवयान की चर्चा है। इस पुराण के ६५ अध्याय क १० –१०४ पद्य तो आपस्तम्बद्वारा उद्धृत श्लोका स नितान्त साम्य रखते हैं परन्तु आपस्तम्ब को यही पुराण अभीष्ट था यह कहना कठिन है। इसी पुराण क अनुषङ्ग पाद अ० ५४ श्लोक १५९–१६६ म इ ही श्लोको का विशद भाष्य प्रस्तुत किया गया है। विष्णुपुराण (३।८) तथा म स्यपुराण

१ अष्टाशीतिसहस्राणि प्रोक्तानि गृहमेधिनाम् ।
अयम्णो दक्षिणा ये तु पितृयान समाश्रिता ॥
गृहमेधिना तु सख्यया श्मशानान्याश्रयन्ति य ।
अष्टाशीतिसहस्राणि निहिता ह्युत्तरायणे ॥
य श्रूयन्त दिव प्राप्ता ऋषय ऊर्ध्वरेतस ॥

—ब्रह्माण्डपुराण १० ६५।१०३–१०४।

२ अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीना गृहमेधिनाम् ।
सवितुर्दक्षिण माग श्रिता ह्याचन्द्रतारकम् ॥
क्रियावता प्रसख्यैषा य श्मशानानि भजिरे ।
लोकस्यव्यवहारण भूतारम्भकृतेन च ॥
इच्छाद्वेषरताच्चैव मैथुनोपगमा च वै ।
तथा कामकृताह सवनाद्विषयस्य च ॥
इत्यैते कारणै सिद्धा श्मशानानीह भजिरे ।
प्रजैषिणस्त मुनयो द्वापरेष्विह जज्ञिर ॥

(अ० १२४, श्लोक १०२-११०) में इसी प्रकार के श्लोक मिलते हैं। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में भी ऐसा ही श्लोक प्राप्त है[1]। प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब के समय में कोई पुराण प्रचलित अवश्य था जिससे ये दोनो पद्य यहाँ उद्धृत है तथा वहीं से ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य ने एतद्-विषयक तत्समान श्लोकों को उद्धृत किया है, ऐसा तर्क करना अनुचित नहीं माना जा सकता।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पितृगणों के विषय में लिखा है—

(२०) आभूत—संप्लवास्ते स्वर्गजितः, पुनः सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे।

—आप० ध० सू० २।९।२४।६

अर्थात् पितृगण ने प्रलयपर्यन्त स्वर्ग का जय किया है अर्थात् प्रलयपर्यन्त वे लोग स्वर्ग में निवास करते हैं। पुन: सर्ग अर्थात् फिर सृष्टि होने के समय वे स्वर्गादि लोकों के बीजभूत होते हैं, अर्थात् प्रलय के बाद नवीन सृष्टि के वे प्रजापति बनते हैं। यह वचन भविष्यत् पुराण का है।

नागवीथ्युत्तरे यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानस्तु स स्मृतः ॥
यत्र ते विशिनः सिद्धा विमला ब्रह्मचारिणः।
सन्तति ये जुगुप्सन्ते तस्मान्मृत्युर्जितस्तु तैः ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि तेषामप्यूर्ध्वरेतसाम्।
उदक्पन्थानमर्यम्णः श्रिता ह्याभूतसम्प्लवात् ॥
इत्येतैः कारणैः शुद्धैस्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे।
आभूतसम्प्लवस्थानममृतत्वं विभाव्यते ॥

(ब्रह्माण्डपुराण अनुषङ्गपाद अ० ५४ श्लो० १५९-१६६)

ये ही पद्य विष्णु० २।८।८९-९२ में भी उपलब्ध होते हैं।

[1] अष्टाशीतिसहस्राणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
स्मृतं यथा तु तद् स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥

—पद्मपुराण सृष्टिखण्ड

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उदक् पन्थानमर्यम्णः स्थितान्याभूतसम्प्लवम् ॥

—विष्णु० २।८।९२

यह वचन श्रीशंकराचार्य द्वारा उद्धृत स्मृतिवचन से नितान्त साम्य रखता है।

आपस्तम्ब के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से भलीभाँति पता चलता है कि उस काल मे 'भविष्यत् पुराण नामक' कोई विशिष्ट पुराण अवश्य वतमान था, जिसके श्लोक या श्लोको का आशय इस गद्यात्मक वाक्य मे निर्दिष्ट है। 'भविष्यत् पुराण'–यह अभिधान भी महत्त्व रखता है। पुराण तो नाम्ना ही प्राचीन वृत्ता के सकलन का सकेत करता है, तब भविष्यत् स उसका समन्वय कैसा ? प्रतीत होता है कि इस पुराण मे भविष्य म होने वाली घटनाओ का, राजाओ का तथा उनके ऐतिहासिक वृत्तो का वर्णन होना चाहिए। 'भविष्यत् पुराण' कलि मे होने वाले राजवशो का परिचायक होना चाहिए। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र ईस्वी से पाँच सौ या छ सौ वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। फलत उस युग मे, आज से अढाई हजार साल पहिले 'भविष्यत्' नामधारी किसी पुराण की रचना अवश्य हो गई थी जिसके मत का उल्लेख ऊपर उल्लिखित है। आजकल 'भविष्यपुराण' नामक पुराण का अस्तित्व और प्रचलन है। परन्तु आपस्तम्ब के द्वारा उद्धृत भविष्यत् पुराण यही है अथवा इससे भिन्न ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नही दिया जा सकता। सम्भवत वह वर्तमान 'भविष्य पुराण' का सूत्र रूप था जिसमे नूतन आख्यानो के जोडने से लोक-प्रचलित यह वतमान आकार आज उपलब्ध है। पितृगण के विषय मे निर्दिष्ट तथ्य आज अन्य पुराणो मे भी उपलब्ध होता है। **ब्रह्माण्ड पुराण में** इसका विस्तृत प्रसङ्ग आज भी देखा जा सकता है।

यही भाव याज्ञवल्क्य स्मृति के इस पद्य मे भी उपलब्ध होता है (३।१८४-१८६) —

> **सप्ताशीति-साहस्रा मुनयो गृहमेधिनः।**
> **पुनरावर्तिनो बीजभूता धर्म-प्रवर्तका ॥**

आपस्तम्ब ध० सू० (१।१०।२९।७) म ब्राह्मण के मारने के प्रसग मे विभिन्नमता का उल्लेख करते हुए कहा गया है —

(२१) यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति, न तस्मिन् दोष इति पुराणे।

यह प्रसंग मनुस्मृति (८।३५०, ३५१) से समता रखता है जिसका दूसरा श्लोक आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत वचन के समान ही है—

> **नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।**
> **प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति।**

मनु के श्लोक का अन्तिम पाद पूर्व उद्धरण के अन्तिम अंश से अक्षरश मिलता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचना काल ईस्वी पूर्व पञ्चम-षष्ठ शतक माना जाता है। उस समय पुराण का रूप आजकल उपलब्ध, पुराण के समान ही धर्मशास्त्रीय विषय से सम्पन्न था। 'पुराण' के सामान्य निर्देश के संग मे 'भविष्य पुराण' का विशिष्ट निर्देश इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि उस युग मे कम मे कम एक पुराण का प्रणयन हो चुका था। इस प्रकार ग्रन्थ रूप मे पुराण का यह निर्देश नि सन्देह प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। इस कथन मे कुछ आलोचकों को सन्देह है। इतने प्राचीन काल मे अन्यत्र किसी विशिष्ट पुराण के उल्लेख के अभाव मे यह सम्भावना जान पडती है कि यहाँ भी किसी विशेष पुराण का नाम निर्देश नही है। भविष्यपुराण के नाम से उद्धृत सिद्धान्त भविष्य जन्म से सम्बन्ध रखता है। इस शब्द का सकेत भविष्यकाल की घटना का वर्णन करने वाले सामान्य पुराण से ही है, तन्नामधारी किसी विशिष्ट पुराण से नही।

पुराण और महाभारत

महाभारत के तीन सस्करण माने जाते हैं—जय, भारत तथा महाभारत। आजकल का महाभारत भी नवीन ग्रन्थ नही है। गुप्तकालीन शिलालेखो मे इसके लक्षश्लोकात्मक आकार का परिचय मिलता है। फलत यह तृतीय शती से अर्वाचीन नही हो सकता। इसका मूल तो और भी प्राचीन होना चाहिए। महाभारत मे पुराण का सामान्य रूप ही उल्लिखित नही है, प्रत्युत उनकी कथाओ के रूप तथा वैशिष्ट्य से तथा अठारह पुराणो से वह परिचय रखता है। इस सामग्री का अनुशीलन आवश्यक है —

(क) पुराण मानव धर्म (अर्थात् मनुस्मृति), साङ्गवेद, चिकित्साशास्त्र—ये चारो ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं अर्थात् इनका वणन यथार्थ और प्रामाणिक है। तर्क का आश्रय लेकर इनका खण्डन करना कथमपि उचित नही है—

(२२) पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥
—अनुशासनपर्व

यह श्लोक पुराणो के प्रति महाभारतीय दृष्टिकोण का पर्याप्त परिचायक है। पुराण के तथ्यो का तर्कशास्त्र के सहारे खण्डन—हनन—कथमपि उचित नही है, यही है महाभारत का दृष्टिकोण।

(२३) पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥
—आदिपर्व ५।२

(ख) यह श्लोक पुराण के वर्ण्य विषय का प्रतिपादक है। पुराणो मे अनेक दिव्य कथायें होती हैं तथा विशिष्ट बुद्धिमानो के आदिवंशो का वर्णन भी रहता

है। यह श्लोक स्पष्टत: वंशानुचरित को तथा देवसम्बन्धी आख्यान को पुराण का अविभाज्य अंग मानता है।

(२४) माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम्
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥

—आदिपर्व १।२४०

पुराणो मे आस्तिक्य (=ईश्वर मे विश्वास, श्रद्धा), सत्य, शौच, दया तथा आर्जव श्रेष्ठ कवियो के द्वारा वर्णित है तथा उन्ही का आश्रय लेकर विद्वज्जन लोक मे इनका वर्णन करते हैं।

(ग) सत्यवती पुत्र व्यास जी ने प्रथमत: १८ पुराणो का प्रणयन किया और तदुपरान्त पुराणो के उपबृंहण रूप से महाभारत की रचना की।

(२५) अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः
पश्चाद् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्

—आदिपर्व

महाभारत की स्पष्ट सम्मति है कि इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का उपबृहण करना चाहिए। इसीलिये वेद अल्पश्रुत—कम शास्त्र पढने वाले—से सदा डरा करता है कि कही वह मुझे धोखा देकर ठग न डाले (अथवा मार न डाले):—

(२६) इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

महाभारत के मत मे पुराणरूपी पूर्ण चन्द्रमा के द्वारा श्रुतिरूपी चन्द्रिका छिटकी हुई है अर्थात् पुराण श्रुति के अर्थ को ही विस्तार से प्रकाशित करता है—

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता।

—आदिपर्व १।८६

(घ) यह तो हुआ पुराण का सामान्य परिचय। महाभारत मे वायुपुराण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है एक विशिष्ट पुराण के रूप मे, जिसमे प्राचीन राजाओ का वर्णन विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है। कहना व्यर्थ है कि आजकल प्रचलित 'वायुपुराण' मे राजाओ की वंशावली दी गई है जिससे दोनो पुराणों की एकता स्वत: सिद्ध हो जाती है—

(२७) एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम्।

—वनपर्व, अ० १९१, श्लो० १६

(८) वाल्मीकीय रामायण में भी पुराण तथा पुराणवित् का स्पष्ट निर्देश आजभी उपलब्ध होता है। यहां सुमन्त्र पुराण के वेत्ता (पुराणवित्) बतलाये गये हैं। वे सूत थे। फलतः पुराणों से परिचय रखने की बात उनके विषय में स्वभावसिद्ध है। वे राजा दशरथ की सन्तानहीनता तथा उसके निवारण की बात पुराणों से सुन चुके हैं और इसलिए अवसर पाकर उसे सुनाने से पराङ्मुख नहीं होते :—

(२८) (१) इत्युक्त्वान्तः पुरद्वारमाजगाम पुराणवित्

—अयोध्या १५।१८

(२) स तदन्तः पुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम्
प्रविभक्तां ततः कक्षामाससाद पुराणवित् ॥

—अयोध्या १६।१

(३) इत्युक्त्वा तु रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्
श्रूयतां यत् पुरावृत्तं पुराणेषु यथाश्रुतम् ।

—बाल ९।१

फलतः रामायण पुराण से परिचय रखता है तथा महाभारत भी। सामान्य परिचय से अतिरिक्त वह उसके विषय को भलीभांति जानता है। वायुपुराण का आश्रयण लेकर महाभारत में कथा का विस्तार किया गया है। महाभारत का यह स्पष्ट निर्देश है।

पुराण तथा कौटिल्य

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के अनेक स्थलों पर पुराण तथा इतिहास का बहुमूल्य निर्देश किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वशाली नहीं हैं :—

(क) वेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि साम, ऋक् तथा यजु त्रयी कहलाते हैं। यह त्रयी, अथर्ववेद तथा इतिहासवेद—वेद के अन्तर्गत माने जाते हैं :—

(२९) सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः ।

—अर्थशास्त्र १।३

इससे पता चलता है कि कौटिल्य के युग में वेद के समान 'इतिहास' एक विशिष्ट ग्रन्थ का द्योतक था तथा वह उसी प्रकार पवित्र माना जाता था।

(ख) अन्यत्र उन्मार्ग पर चलने वाले राजा की शिक्षा के अवसर पर कौटिल्य का कथन है कि राजा का हित चाहने वाला अर्थशास्त्र का वेत्ता मन्त्री इतिवृत्त (प्राचीन काल के राजाओं के चरित्र) तथा पुराण के द्वारा राजा को उन्मार्ग में चलने से रोके—

(२०) मुख्यैरवगृहीतं वा राजानं तत्-प्रियाश्रितः।
इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्थशास्त्रवित् ॥

—अर्थशास्त्र ५।६

इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य के समय मे पुराणो मे सदाचार सम्बन्धी विषय अवश्यमेव विद्यमान थे जिनका उपदेश देकर कुमार्ग से राजा को सुमार्ग मे लाया जा सकता है।

(ग) राजा की दिनचर्या के प्रसंग मे कौटिल्य का कहना है कि राजा दिन के पूर्वार्ध को हस्ती, अश्व, रथ, प्रहरण विद्याओं के ग्रहण मे बितावे और उत्तरार्ध को इतिहास के श्रवण मे। इस प्रसंग मे इतिहास से महाभारत के समान ही कोई ग्रन्थ उन्हे अभीष्ट है जो अपने को अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र बतलाता है।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे पुराण की गणना 'इतिहास' के अन्तर्गत की है। कौटिल्य की दृष्टि मे इतिहास का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनका कथन है कि दिन के पिछले भाग को राजा इतिहास के सुनने मे बितावे। इतिहास क्या ? पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—इन सब की गणना 'इतिहास' के भीतर माननी चाहिए। फलतः पुराण से कौटिल्य परिचय रखते हैं। अपने ग्रन्थ के भीतर पुराणो के वर्ण्य विषय से भी उनका परिचय कम नहीं है—

(२१) पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः॥

—अध्याय ५, १३-१४

था और विशिष्ट वेतन पर उसकी नियुक्ति उसके वैशिष्ट्य का द्योतक है। कौटिल्य का यह उल्लेख पुराण के प्रचार-प्रसार के महत्त्व का विशद द्योतक है।

पुराण तथा धर्मस्मृति

धार्मिक स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों में 'पुराण' का उल्लेख बहुश: मिलता है। इनमें पुराण का विशिष्ट महत्त्व प्रतिपादित होता है—साधारण जन के ही लिए नहीं, प्रत्युत शासकवर्ग के लिए भी। 'वेदवित्' के लिए पुराण की जानकारी नितान्त आवश्यक इसलिए है कि पुराण वेद का उपबृंहक साहित्य है। जो वस्तु या तत्त्व वेद में संक्षिप्तरूपेण निर्दिष्ट है, उसी का विस्तार हम 'पुराण' में पाते हैं। कतिपय निर्देश नीचे दिये जाते हैं —

(३३) (क) स एष बहुश्रुतो भवति लोक वेद-वेदाङ्गवित् वाको-वाक्येतिहासपुराणकुशल:।

—(गौतमधर्मसूत्र ८।४-६)

यहाँ 'बहुश्रुत' की परिभाषा दी गई है। 'बहुश्रुत' (बहुत सुनने वाला तथा शास्त्र का ज्ञाता) वह व्यक्ति होता है जो लोक (व्यवहार), वेद, वेदाङ्ग का जानता है तथा वाकोवाक्य, इतिहास तथा पुराण में कुशल होता है। तात्पर्य यह है कि 'बहुश्रुतता' की सिद्धि के लिए पुराण की दक्षता एक आवश्यक साधन है।

(३४) (ख) तस्य (प्रजापालक नृपते:) च व्यवहारो वेदो धर्म-शास्त्राणि अङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।

—(गौतमधर्मसूत्र ११।२१)

प्रजापालक नृपति का व्यवहार—वेद, धर्मशास्त्र, अङ्ग, उपवेद तथा पुराण पर आश्रित रहता है। इतने शास्त्रों का ज्ञान रखने वाला राजा व्यवहार न्याय-करने की योग्यता से सम्पन्न होता है। फलत पुराण का उपयोग राजा को व्यवहार की शिक्षा देने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(३५) (ग) मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः।
इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः॥

—(व्यासस्मृति ४। ४५)

इस श्लोक में 'वेदपारग' (वेद के पारगत व्यक्ति) का लक्षण दिया गया है। वेदपारग होने के निमित्त विस्तारपूर्वक छ अंगों के साथ वेदों की मीमांसा ही आवश्यक नहीं है, प्रत्युत इतिहास-पुराणों की भी मीमांसा—(मनन = अनु-शीलन) अपेक्षित है।

(३६) (घ) ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोगस्तु नेतराः॥
—(व्यासस्मृति १।५)

इस श्लोक मे अधिकारी की चर्चा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य-ये तीनो वर्ण द्विजाति के नाम से विख्यात हैं। श्रुति, स्मृति तथा पुराण मे प्रतिपादित धर्म का अधिकार इन्ही तीनो वर्णो को है, इनसे भिन्न वर्णों को नही। यहाँ पुराणोक्त धर्म का स्तर श्रुति तथा स्मृति मे प्रतिपादित धर्म के साथ निर्दिष्ट किया गया है। फलत पुराण-प्रोक्त धर्म उसी प्रकार व्यवहार्य है जिस प्रकार श्रुति-धर्म तथा तदनुयायी स्मृतिधर्म।

(३७) (ङ) वेदं धर्मं पुराणं च तथा तत्त्वानि नित्यशः।
संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत्॥
—(उशनसस्मृति ३।३४)

इस श्लोक मे शिष्य को ज्ञान देने की चर्चा है। वेद, धर्म, पुराण तथा तत्त्वों का उपदेश किसी अपरीक्षित तथा अज्ञात कुलशील वाले शिष्य को नही देना चाहिए, प्रत्युत गुरु के पास एक साल तक निवास करने वाले (अर्थात् परीक्षण दिये जाने वाले) शिष्य को ही देने का विधान है। निष्कर्ष यह है कि पुराण का उपदेश अपनी गम्भीरता तथा मर्यादा रखता है और वह परीक्षित सुपात्र शिष्य को ही गुरु के द्वारा दिया जाना चाहिए।

(३८) (च) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥
—(मनुस्मृति ३।२३२)

यहाँ पुराण पाठ के समय तथा स्थान का निर्देश है। मनुमहाराज का कथन है कि पितृकर्म-श्राद्ध के अवसर पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को यजमान वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिल (श्रीसूक्त, शिवसंकल्प आदि) सुनावे। फलतः वेदपाठ के सदृश ही पुराण का पाठ तथा श्रवण भी पुण्यकार्य समझा जाता था और यह भी मनु जैसे प्रधान स्मृतिकार की दृष्टि में। मनु के वचन वैदिक श्रुति की दृष्टि में, औषध की भी औषध माने जाते हैं (यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः)

(३९) (छ) पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥
—(याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात, श्लोक ३)

याज्ञवल्क्य स्मृति के इस उपोद्घात में १४ विद्याओं के स्थान का उल्लेख है। ये विद्यायें इस प्रकार हैं—(१) पुराण, (२) न्याय, (३) मीमांसा, (४) धर्मशास्त्र, (५-१०) षडङ्ग, (११-१४) वेद। ये ही विद्यायें धर्म के भी स्थान हैं—आधार हैं तथा स्थिति हैं। तात्पर्य यह है कि धर्म को स्वाधार पर रखनेवाली विद्याओं में 'पुराण' अन्यतम है और वह वेदों के सदृश ही उपादेय तथा पवित्र है।

(४०) (ज) वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः।
इतिहासांस्तथा विद्यां योऽधीते शक्तितोऽन्वहम्॥
मांसक्षीरौदनमधु तर्पणं स दिवौकसाम्
करोति तृप्तिं च तथा पितॄणां मधुसर्पिषा॥

—याज्ञ० स्मृ० १।४५-४६

यहाँ याज्ञवल्क्य ने पुराण के पाठ से देवों तथा पितरों की विशेष तृप्ति होने का स्पष्ट निर्देश किया है। श्लोकों का स्पष्ट अभिप्राय है कि वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी गाथा, इतिहास तथा विद्या को जो व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार नित्य पढ़ता है, वह मांस, खीर तथा मधु से देवताओं की तृप्ति करता है और पितरों की मधु घी से तृप्ति करता है। फलतः देव तथा पितर दोनों की तृप्ति का एकमात्र साधन है—पुराण का दैनंदिन अध्ययन।

(४१) (झ) वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥

—या० स्मृ० १।१०१

जप—यज्ञ की उत्कृष्ट सिद्धि के लिए साधक को चाहिए कि वह वेद, अथर्व, पुराण इतिहास तथा आध्यात्मिकी विद्या (=वेदान्तशास्त्र) का अपनी शक्ति के अनुसार जप करे अर्थात् अध्ययन और मनन करे।

(४२) (ञ) यतो वेदाः पुराणं च विद्योपनिषदस्तथा
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत् किञ्चिद् वाङ्मयं जगत्

—(या० स्मृ० ३।१८९)

आशय यह है कि जिन मुनियों से वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र तथा भाष्य – अर्थात् समस्त वाङ्मय जगत्—प्रचारित तथा प्रसारित हुआ, वे ही मुनि धर्मप्रवर्तक हैं।

अर्थशास्त्र पर आश्रित शुक्रनीति में भी पुराण का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसमें 'पौराणिक' का जो लक्षण दिया गया है, वह पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। 'पौराणिक' को केवल पञ्चलक्षण का ही ज्ञाता न होकर

साहित्यशास्त्रो मे निपुण, संगीत का वेत्ता तथा कोमल स्वर वाला भी होना चाहिए—

> (४३) (ट) साहित्यशास्त्रनिपुण· संगीतज्ञश्च सुस्वर ।
> सर्गादिपञ्चज्ञाता च स वै पौराणिक· स्मृतः ॥
>
> —शुक्रनीति २।१७८

मीमासा, तर्क, सास्य, वेदान्त, योग, स्मृति के सग मे इतिहास पुराण की गणना बत्तीस विद्याओ के अन्तर्गत की गयी है जिसका अध्ययन करना राजा के लिए, शुक्रनीति की दृष्टि मे, नितान्त हितकारक होता है—

> (४४) (ठ) मीमांसा तर्कसांख्यानि वेदान्तो योग एव च
> इतिहासपुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम् ।
>
> —शुक्रनीति ४।२६९

निष्कर्ष—स्मृतियो से ऊपर उद्धृत कतिपय वाक्य 'पुराण' के समधिक गौरव के विशद द्योतक हैं। वे वेद तथा धर्मशास्त्र के समकक्ष नि सशय स्वीकृत किय गये हैं। वेद की पारगामिता की योग्यता तब तक किसी व्यक्ति मे सिद्ध नही मानी जाती, तब तक वह पुराण मे भी निष्णात नही हो जाता। राजा को अपने व्यवहार के सचालन के निमित्त पुराण का अध्ययन तथा मनन नितान्त अनिवार्य है। प्राचीन राजाओ के चरित का वर्णन प्रस्तुत कर पुराण भारतीय राजनीति के जिज्ञासुओ के लिए एक महनीय विषय प्रस्तुत करता है। इस प्रकार 'पुराण' की महत्ता इस स्मृतियुग म अक्षुण्ण बनी हुई रहती है।

दार्शनिक गण और पुराण

शास्त्रीय ग्रन्थो के टीकाकारो के ग्रन्थो के अनुशीलन से पता चलता है कि ईस्वी सन् के आरम्भिक वर्षों से लेकर अष्टम शती तक के व्याख्याकारो न पुराण का निर्देश किया है और वे निर्देश आजकल प्रचलित पुराणो म उपलब्ध होते हैं जिससे पुराणो का वर्तमान रूप उस प्राचीनरूप से भिन्न नहीं प्रतीत होता। ऐसे व्याख्याकार हैं—शबरस्वामी (२०० ई०–४०० ई० के मध्य) कुमारिल (सप्तम शती), शकराचार्य (७०० ई० आसपास) तथा विश्वरूप (८००–८५० ई०)। शबरस्वामी जै० १०।४।२३ के भाष्य म यज्ञ से सम्बद्ध देवता के स्वरूप का निर्णय करते समय लिखते हैं कि इस विषय म इतिहास पुराण म उपलब्ध एक मत यह था कि देवता स तात्पर्य अग्नि आदिको से है जो स्वर्ग म निवास किया करते हैं। यह मत आज प्रचलित पुराणो म भी उपलब्ध होता ही है।

(४५) का पुनरियं देवता नाम । एकं तावन्मतं या एता इतिहास-पुराणेष्वग्न्याद्याः संकीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति ।...

शबर जै० सू० १०।४।२३

कुमारिल और पुराण

कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक मे पुराणो के स्वरूप तथा विषय के सम्बन्ध मे बहुत ही मूल्यवान बातें बतलाई हैं जिनमे से 'पुराण—प्रामाण्य' की चर्चा पृथक् रूप से अन्यत्र की गई है । यहा अन्य सकेत दिये जाते हैं । जैमिनि सूत्र १ । ३ । ७ की व्याख्या मे कुमारिल का कथन है कि पुराणो मे कलियुग के विषय मे कहा गया है कि शाक्य (गोतम बुद्ध) तथा अन्य लोग पैदा होंगे जो धर्म के विषय मे विप्लव उत्पन्न कर देंगे, इन लोगों के वचनो को कौन सुनता है ? ' इस वर्णन से दो तथ्य स्पष्ट हैं कि कुमारिलयुगीन पुराणा मे कलियुग का वर्णन अवश्यमेव पाया जाता था तथा बुद्ध बडी ही निन्दा की दृष्टि से उन पुराणो म देखे जाते थे । यहाँ स्मरणीय है कि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द मे बुद्ध को अवतार मान कर दशावतारो के अन्तर्गत स्तुति की है तथा क्षेमेन्द्र ने अपन 'दशावतारचरित' महाकाव्य मे बुद्ध के चरित को सम्मिलित किया है (र० का० १०६० ई०) । फलत बुद्ध की अवतार—कल्पना कुमारिल के अनन्तर तथा क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती काल की घटना है लगभग नवम-दशम शती की । कुमारिल से पूर्ववर्ती किसी न किसी पुराण मे बुद्ध की निन्दा अवश्यमव उपलब्ध थी जिसका सकेत कुमारिल ने अपने इस वाक्य मे किया है ।

(४६) स्मर्यन्तं च पुराणेषु धर्मविप्लुति-हेतव. ।
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥

—तन्त्रवार्तिक जै० १।३।७ पर

(४७) तथा स्वर्ग शब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिक-प्रवाद-पौराणिक याज्ञिक-दर्शनेनोच्यते यदि वेतिहासपुराणोपन्नं मेरुपृष्ठम् अथवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्तं केवलमेव सुखम् ॥

—तन्त्रवार्तिक जै सू १।३।३०

'स्वर्ग' शब्द की व्याख्या के अवसर पर कुमारिल पूछते हैं कि स्वर्ग ' शब्द का अर्थ क्या है ? क्या स्वर्ग ताराओ का कोई देश है अथवा इतिहास पुराण की मान्यता के अनुसार यह मेरु का पृष्ठ है अथवा केवल सुख का सकेतवाची शब्द है ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल के परिचित पुराण आज कल प्रचलित पुराण से भिन्न नही थे, क्योकि प्रचलित पुराणो मे स्वर्ग की स्थिति मेरुपर्वत के पृष्ठ पर बतलाई जाती है (मत्स्य ११।३७ ३८, पद्म, पातालखण्ड, ८।७२-७३)

(४८) विमानेनागमत् स्वर्गं पत्या सह मुदान्विता ।
सावर्णोऽपि मनुर्मेरावद्याप्यास्ते तपोधनः ॥

—मत्स्य ११।३७

शंकराचार्य तथा पुराण

शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य के अनेक स्थलों पर पुराण तथा उसके विषय का निर्देश किया है। पुराण को 'स्मृति' शब्द के द्वारा ही सर्वत्र निर्दिष्ट किया है तथा उनके द्वारा उद्धृत श्लोक प्रचलित पुराणों में उपलब्ध होते हैं जिससे स्पष्ट है कि शंकर प्रचलित पुराणों से परिचय रखते थे। कतिपय निर्देश नीचे दिये जाते हैं। यहाँ स्मरणीय है कि वे किसी विशिष्ट पुराण का नाम नहीं लेते, यद्यपि उनके उद्धरण विशिष्ट पुराणों में उपलब्ध होते हैं —

(क) कल्पों की असंख्येयता। कल्पों के विषय में आचार्य का कथन है कि 'पुराणों में स्थापित किया गया है कि बीते हुए और आगे होने वाले कल्पों का कोई परिमाण नहीं है'—

(४९) पुराणे चातीतानागतानां कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम्—वे० सू० २।१।३६ पर शाङ्करभाष्य की अन्तिम पंक्ति। इसे मिलाइए ब्रह्माण्ड १।४।३०-३२ से जहाँ कल्प अनन्त बतलाये गये हैं।

(ख) शब्दपूर्विका सृष्टि के विषय में आचार्य ने स्मृति का वचन उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि स्वयम्भू ब्रह्मा ने अनादि तथा अनन्त, नित्य, दिव्यरूपा वेदमयी वाणी को सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न किया। उसी से जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ निकलीं—

(५०) स्मृतिरपि—
अनादि—निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

शां० भा० १।३।२८

यह वचन कूर्मपुराण में उपलब्ध होता है (१।२।२८) अंतर इतना ही है कि कूर्म० का पाठ है 'आदौ वेदमयी भूतामत' जो स्पष्टतः अशुद्ध प्रतीत होता है।

(ग) इसी प्रसङ्ग में आचार्य ने एक अन्य श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि महेश्वर ने वेद के शब्दों से ही भूतों के नाम तथा रूप को कर्म की प्रवृत्ति को सृष्टि के आरम्भ में बनाया:—

(५१) नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥

यह श्लोक एक दो शब्दों के परिवर्तन के साथ अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है—कूर्म १।७।६६; ब्रह्माण्ड १।८।६५; मार्कण्डेय ४८।४२, वायु ९।६३, विष्णु १।५।६३। विष्णु म इस श्लोक का रूप इस प्रकार है, परन्तु तात्पर्य में विशेष अन्तर नहीं है :—

नाम रूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः॥

— *पूर्वोक्त श्लोक मनुस्मृति में भी मिलता है (मनु० १।२१)*

(घ) आचार्य शङ्कर ने १।३।३० के भाष्य में प्रतिपादित किया है कि धर्म और अधर्म की कल्पना उत्तरा सृष्टि उत्पन्न होने के समय पूर्वसृष्टि के समान ही निष्पन्न होती है और इस प्रसङ्ग में स्मृतिवचन के रूप में दो श्लोकों को उद्धृत किया है :—

स्मृतिश्च भवति—

(५२) तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते॥

ये श्लोक पुराणों में मिलते हैं—कूर्म १।७।६३–६४, मार्कं० ४८।३९–४०; वायु ८।३२–३३ तथा ९।५७ ५८, विष्णु १।५।५९–६०। ये दोनों श्लोक वायुपुराण में दो बार दिये गये हैं। केवल **'हिंस्राहिंस्रे'**वाला श्लोकार्ध मनुस्मृति में भी उपलब्ध होता है। (मनु १।२९)। शान्तिपर्व (अ० २३२, श्लोक १६–१७) में ये दोनों ही श्लोक उपलब्ध होते हैं।

(ङ) इसी सूत्र (१।३।३०) के भाष्य के अन्त में आचार्य ने तीन निम्नलिखित पद्यों को उद्धृत किया है—

स्मृतिरपि—

(५३) ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
यथर्तु-ष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव, तथा भावा युगादिषु॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥

इस श्लोकत्रयी के आदिम दोनों श्लोक वायु० (९।६४-६५) में उपलब्ध होते हैं।

(च) देवो के विषय मे आचार्य का कथन है कि देवो मे सामर्थ्य की भी सम्भावना है, क्योकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास-पुराण से पता चलता है कि देवो को विग्रह (शरीर) होता है—

(५४) तथा सामर्थ्यमपि तेषां (देवादीनां) संभवति, मन्त्रार्थवादेतिहास पुराणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगात्।

—शा० भा० १।३।२६

पुराणेतिहास मे देवो के शरीरी होने के प्रचुर निर्देश मिलते हैं।

(छ) ब्र सू २।१।१ के भाष्य मे आचार्य ने किसी पुराण से जो वचन उद्धृत किया है वह बडे महत्त्व का है। पहिली बात महत्त्व की यह है कि यह स्पष्टतः 'पुराण' का वचन है किसी स्मृति का नही और दूसरी बात यह है कि यह वचन किसी एक विशिष्ट पुराण से सम्बन्ध रखता है। वह पुराण 'वायु-पुराण' ही है जिसमे यही श्लोक *'नारायण' के स्थान पर 'महेश्वरः'* पाठ के साथ वहाँ उपलब्ध होता है—

(५५) अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥

इति पुराणे।

यही श्लोक वायुपुराण मे (१।२०५) उपलब्ध होता है। अन्तर इतना ही है कि वायु मे 'नारायण' के स्थान पर 'महेश्वर' परिवर्तन है।

(ज) आचार्य विष्णुपुराण से पूरा परिचय रखते थे, इसमे तनिक भी सन्देह नही किया जा सकता। सनत्सुजातीय भाष्य (अध्याय २ श्लोक ७) मे मूलश्लोक 'निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा, तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति' की व्याख्या के अवसर पर शंकराचार्य ने अपने अर्थ के लिए प्रमाण दिया है।—

(५६) न केवलं वेदा अपि तु मुनयोऽपि तत् ब्रह्म
विश्ववैरूप्यं विश्वरूप-विपरीत-स्वरूपमुदाहरन्ति।
तथा चाह भगवान् पराशर :—
प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसाम्, आत्म संवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसम्मितम्॥
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्य-लक्षणं परमात्मनः॥

ध्यातव्य है कि पराशर विष्णुपुराण के प्रवक्ता हैं और ये दोनो श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अंश के सप्तम अध्याय के ५३ तथा ५४ श्लोक हैं। आचार्य इस पुराण को प्रमाण कोटि मे मानते थे। महाभारत के श्लोक मे ब्रह्म

'विश्ववैरूप्य' कहा गया है। आचार्य का भाष्य है—कि ब्रह्म विश्व से विपरीत लक्षण वाला है और इसी तात्पर्य को पराशर मुनि ने द्वितीय पद्य में निर्दिष्ट किया है जिस प्रामाण्य के लिए ये पद्य उद्धृत हैं। इस शङ्कर के युग में—सप्तमी शती के अन्त तथा अष्टम शती के आरम्भ में—विष्णुपुराण नितान्त प्रख्यात तथा प्रमाण माना जाता था जिसमें उसके नामोल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

(ञ) नरकों के विषय में आचार्य का कथन है कि पौराणिकों का कथन है कि रौरव आदि सात नरक होते हैं जहाँ पाप करने वाले लोग अपने फल को भोगने के लिए जाते हैं—

(५७) अपि च सप्त नरका रौरव प्रमुखा दुष्कृत फलोपभोग-भूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः। ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति।

—३।१।१५ ब्र० सू० भाष्य

यह उद्धरण महत्वपूर्ण इसलिए है कि यह स्पष्टतः विष्णुपुराण के द्वारा निर्दिष्ट नरकों का संकेत करता है। विष्णु ने नरकों की रौरव, तामस आदि नव संख्यायें मानी हैं जहाँ अन्य पुराणों में नरकों की संख्या इसके तिगुनी अर्थात् इक्कीस (२१) मानी गई है। मनु (४।८७-९०), याज्ञवल्क्य (३।२२२—२२४) तथा विष्णुधर्मसूत्र (४३।२-२२) नहीं नरकों की संख्या २१ नहीं मानी है, प्रत्युत पुराणों की महती संख्या इसी संख्या को प्रामाणिक मानती है। देखिए विशेषतः श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध का २६ वाँ अध्याय जहाँ इन २१ प्रकार के नरकों का वर्णन विस्तार से दिया गया है।

निष्कर्ष—आचार्य शङ्कर प्रचलित पुराण के विषय तथा स्वरूप से भली भाँति परिचित थे। वे दो पुराणों से निश्चितरूप से परिचय रखते हैं—**वायुपुराण** तथा **विष्णुपुराण** से, इसके पोषक प्रमाण ऊपर उद्धृत किये गये हैं। वे पुराण को वेदार्थ-उपबृंहण करने के कारण प्रमाणभूत मानते हैं। इस विषय की चर्चा स्वतन्त्ररूप से पृथक् की गई है। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य में तथा सनत्सुजातीय भाष्य में जहाँ पूर्वोक्त श्लोक प्रमाणरूप से उपन्यस्त किये गये हैं, किसी भी पुराण का नाम्ना निर्देश नहीं करते, परन्तु उनके निर्दिष्ट श्लोक वायु अथवा विष्णुपुराण में निश्चितरूप से उपलब्ध होते हैं। उद्धरण ५६ में आचार्य ने भगवान् पराशर के श्लोकों का निर्देश किया है। पराशर विष्णुपुराण के वक्ता हैं। अतः आचार्य यहाँ विष्णुपुराण के पद्य का ही निर्देश कर रहे हैं, परन्तु पुराण का नाम नहीं लेते। यह आश्चर्य की वस्तु है।

आचार्य विश्वरूप–(८००-८५० ई०) ने याज्ञवल्क्यस्मृति की स्वप्रणीत 'बालक्रीडा' टीका में पुराणों के विषय में दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति (३।१७०) में विश्व के परिणाम के विषय में साख्य सिद्धान्त वर्णन किया गया है। इसकी टीका में विश्वरूप का कथन है कि जगत् की सृष्टि तथा प्रलय–विषयक यह सिद्धान्त पुराणों में सर्वत्र पाया जाता है—

(५८) यथा प्रक्रिया सृष्टि प्रलयवर्णनादौ सर्वत्र पुराणादिष्वपि ॥
विश्वरूप का यह कथन पुराणों की समीक्षा से बिल्कुल यथार्थ सिद्ध होता है। पुराणों के ऊपर साख्यदर्शन का बडा गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव है। यह किसी भी पुराण के अनुशीलन से सिद्ध किया जा सकता है (द्रष्टव्य कूर्म १ ४. ६ १६ तथा विष्णु १।२। २९-३७) विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत ने साख्य-प्रक्रिया का बहुश: आश्रयण तत्तत् अध्यायों में सृष्टि तथा प्रलय के वर्णन के अवसर पर किया है। अग्निपुराण में भी यही प्रक्रिया वर्णित है (द्रष्टव्य अग्नि० १७।१-७ तथा २०।१-८)

दूसरा प्रसंग पितृयान की स्थिति के विषय में है। याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि पितृयान अजवीथि तथा अगस्त्य के बीच में स्थित है। अग्निहोत्र करने वाले, स्वर्ग की कामना करने वाले स्वर्ग के प्रति इसी मार्ग से जाते हैं। स्मृति का यह वचन विष्णुपुराण (२।८।८५-८६) के साथ विलक्षण समता रखता है। दोनों वचनों की समता पर ध्यान दीजिए—

याज्ञवल्क्य (३।१७५)—

> **पितृयानोऽजवीथ्याश्च, यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।**
> **तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥**

विष्णुपुराण (२।८।८५–८६)

> **उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम् ।**
> **पितृयानः स. वै. पन्था वैश्वानरपथाद् बहिः ॥**
>
> **तत्रासते महात्मानो ऋषयो येऽग्निहोत्रिणः ।**

विश्वरूप का कथन–

> **(५९) पुराणे हि भगवतः सवितु–र्बहवो वीथ्यो-**
> **दिवि पद्धतयः श्रूयन्ते यथाऽगस्त्यस्यान्तरा अजवीथी**

—बालक्रीडा ३।१७५

यह वचन विष्णुपुराण के वचन पर अथवा मत्स्यपुराण १२४।५३–६० तथा वायु० ५०।१३० के वचनों पर आधारित है। मेरी दृष्टि में विश्वरूप ने

ही नहीं, प्रत्युत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता ने विष्णुपुराण के वचन के आधार पर ही अजवीथी की स्थिति तथा उसका उपयोग करने वाले व्यक्तियों का पूर्वोक्त वर्णन प्रस्तुत किया है। फलत: विष्णुपुराण का रचनाकाल तृतीयशती से नियत रूप से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

शबर स्वामी से लेकर विश्वरूप तक अर्थात् द्वितीय शती से लेकर नवम शती तक के व्याख्याकारों ने पुराणों के स्वरूप तथा वर्ण्य विषय का जो कुछ भी सकेत किया है तथा श्लोकों के उद्धरण दिये हैं उससे स्पष्ट है कि उस युग के पुराणो का रूप आजकल प्रचलित पुराणों के कथमपि भिन्न न था। यह तथ्य बडे महत्त्व का है। यह दिखलाता है कि पुराण के विषयो मे एक सातत्य है, इधर-उधर से जोडे जाने पर भी पुराण का बहुत भाग प्राचीन है तथा इसी रूप में लगभग आठ शताब्दियों के सुदीर्घ काल मे वर्तमान था। यह निष्कर्ष पुराण के प्राय अधिकाश अशों के विषय मे सत्य है। स्फुट परिवर्धन की कल्पना को निश्चित विराम नही दिया जा सकता। इतना भी तथ्य कम ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता।

बाणभट्ट और पुराण

विक्रम की आरम्भिक आठ शताब्दियों मे जन्म लेने वाले कविजनो के काव्यो का यदि अनुशीलन किया जाय, तो पुराण के विषय म पूर्व प्रतिपादित तथ्यो मे परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत न होगी। माघ स्वय वैष्णव कवि थे। उन्होंने शैव भारवि की महिमा का परास्त करने की दृष्टि से अपने 'शिशुपालवध' नामक प्रख्यात वैष्णव काव्य का प्रणयन किया। अपने काव्य की प्रशिष्टा मे उन्होंने स्वय लिखा है—**लक्ष्मीपतेः चरित कीर्तनमात्रचारु ॥** अर्थात् लक्ष्मीपति के कीर्तन होने के ही कारण उनका काव्य सुन्दर तथा मनोज्ञ है। 'शिशुपालवध' श्रीमद्भागवत के ऊपर ही आधारित महाकाव्य है। इसे महाभारत के ऊपर आधारित मानना विषयो के वैषम्य के कारण निरी विडम्बना है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्ध (अध्याय ७०-७७) में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मनोरम प्रसङ्ग है। इसके आरम्भ मे नारद जी स्वय पधारते है तथा श्रीकृष्ण के पूछने पर युधिष्ठिर के भावी राजसूय की सूचना वे स्वय देते हैं (१०।७०।४१) तथा इस विषय मे भगवान् की अनुमति चाहते है। कृष्ण उद्धव की सम्मति जानना चाहते हैं और उनकी अनुकूल सम्मति पाकर व युधिष्ठिर के राजसूय मे पधारते है। मेरी दृष्टि में माघ कवि ने भागवत से यह प्रसङ्ग तथा क्रम अपनाकर इस विशाल वैष्णव महाकाव्य का प्रणयन किया। फलत भागवत की रचना माघ-काव्य की रचना से प्राचीनतर

माननी चाहिए। माघ का आविर्भावकाल ७००-७५० ई० माना जाता है। फलतः माघ के द्वारा आधार ग्रन्थ के रूप मे समादृत होने से श्रीमद्भागवत का रचना-काल अष्टमी शती से पूर्ववर्ती होना चाहिए।

संस्कृत के महान् गद्यकवि बाणभट्ट (सप्तम शती) पुराणों से, विशेषतः वायुपुराण, से विशेषभावेन सुपरिचित थे। उनके दोनो गद्य काव्यो—कादम्बरी तथा हर्षचरित—मे पुराण का उल्लेख विशेषरूप से प्राप्त होता है :

(क) कादम्बरी के पूर्वभाग मे जाबालि मुनि के आश्रम के वर्णन-प्रसग मे बाणभट्ट ने एक बडी ही सुन्दर परिसख्या प्रयुक्त की है —

(६०) 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।

जिस का तात्पर्य है कि पुराणो मे वायु के द्वारा कथन उपलब्ध है। वायु रोग के द्वारा उस आश्रम मे प्रलाप नही होता था। तारापीड के महल के वर्णन के समय वे कहते हैं कि समग्र भुवन का कोश इकट्ठा करके उचित स्थानो पर रखा हुआ है जिस प्रकार पुराण मे भुवनकोश (ससार का भूगोल) विभिन्न विभागो मे स्थापित किया गया है।

(६१) पुराणमिव यथाविभागावस्थापित सकलभुवनकोशम्।

(राजकुलम्)

इसी प्रकार उत्तर कादम्बरी मे 'आगमभूत पुराण रामायण भारत मे अनेक प्रकार की शापवार्ता सुनी जाती है' ऐसा कथन उपलब्ध होता है।

(६२) आगमेषु सर्वेष्वेव पुराणरामायणभारतादिषु सम्यगनेकप्रकाराः शापवार्ताः श्रूयन्ते।

ये तीनो विषय पुराणो मे उपलब्ध हैं। वायु के द्वारा किसी पुराण के कथन का सकेत ब्रह्माण्डपुराण (१।१।३६-३७) ने स्पष्टत इस श्लोक मे किया है—

पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना।
पृष्टेन मुनिभिः पूर्वं नैमिषीयैर्महात्मभिः॥

भुवनकोश का वर्णन प्राय पुराणो मे आज भी उपलब्ध होता है (वायु० अध्याय ३४ ४१९, भागवत० पचम स्कन्ध, अग्नि० १०७ अ०, श्लोक १-१२०, विष्णुपुराण, द्वितीय अश अ० २-४)। शाप-विषयक ग्रन्थो मे पुराण का प्रथम उल्लेख इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। बाणभट्ट की दृष्टि मे रामायण तथा महाभारत की अपेक्षा पुराण विशेष लोकप्रिय था।

(ख) हर्षचरित मे पुराण के दो उल्लेख बडे महत्त्वपूर्ण हैं। एक स्थान पुराण के पाठ का प्रसंग है कि पुस्तक वाचक सुदृष्टि ने गीत के साथ 'पावमान' (पवन, वायु के द्वारा प्रोक्त) पुराण का पाठ किया—

(६३) पुस्तकवाचकः सुदृष्टि···गीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ।

—हर्षचरित, तृतीय परि०, चतुर्थ अनु०

इस कथन से स्पष्ट है कि सप्तम शतक में सर्वसाधारण जनता के सामने पुराणों का पाठ किया जाता था तथा पुस्तकों का वाँचना एक अलग ही व्यवसाय माना जाता था। वायुपुराण की लोकप्रियता सबसे अधिक थी। इसी पुराण के विषय में आगे चलकर बाणभट्ट कहते हैं कि पावन (पवन प्रोक्त) पुराण हर्षचरित से अभिन्न प्रतीत होता है। पुराण मुनि (व्यास) द्वारा गीत है, अत्यन्त विस्तृत है तथा समस्त जगत् में व्यापक है और अत्यन्त पवित्र है। (पुराण का पाठ सदा पवित्र माना जाता है)। 'पावन' शब्द श्लिष्ट है—पवित्र तथा पवन-प्रोक्त। यहा जो विशेषण पुराण के लिए प्रयुक्त हैं वे ही हर्ष के चरित के विषय में भी लगाये जा सकते हैं—

(६४) तदपि मुनिर्गीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापिपावनं तदपि।
हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि मे पुराणमिदम्॥

—हर्षचरित परि० ३,५ अनु०

ये दोनों निर्देश इस तथ्य के स्पष्ट द्योतक हैं कि सप्तम शती में वायु-पुराण का प्रचलन, जनता के सामने पाठ, विशेषरूप से वर्तमान था। प्रचलित वायु० में जितना वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर है, वह सब यहा संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है। इस ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखने से श्रीशङ्कराचार्य द्वारा बिना नाम निर्देश के ही वायुपुराण के श्लोकों का उद्धरण उसकी नितान्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि का परिचायक है।

इस परिच्छेद में ऊपर वर्णित कथनों का समीक्षण हमें पुराण के विषय में प्रामाणिक तथ्य से परिचित कराने के लिए पर्याप्त है। 'पुराण' का उदय अथर्ववेद के समय में ही हुआ, परन्तु यह उदय केवल सामान्य मौखिक परम्परा के रूप में माना जा सकता है। ग्रंथ के रूप में पुराण का निर्देश तैत्तिरीय आरण्यक में भी बतलाना कठिन ही है यद्यपि वहा 'पुराणानि' के बहुवचन प्रयोग से कम से कम तीन पुराणों की सत्ता का अनुमान अनेक पण्डितजन लगाते हैं। परन्तु पुराण के वर्ण्यविषय का निश्चित निर्देश इस काल तक नहीं लगाया जा सकता। आपस्तम्ब धर्मसूत्र का प्रामाण्य वर्ण्यविषय की ओर किञ्चित् संकेत करता है। धर्मशास्त्रीय विषयों की सत्ता मूलभूत प्राचीन 'पुराण' में मानना सर्वथा न्याय्य तथा उपयुक्त प्रतीत होता है। आपस्तम्ब (ई० पू० पष्ठ शती) 'भविष्यत् पुराण' से परिचित हैं, परन्तु आज प्रचलित 'भविष्य-पुराण में उस पुराण का कौन सा भाग सन्निविष्ट है—इसे यथार्थतः बतलाना आज असम्भव है। कौटिल्य (ई० पू० चतुर्थ शती) पुराण से सामान्य परिचय

नही रखते, प्रत्युत वे राजा द्वारा वेतनभोगी 'पौराणिक' नामक अधिकारी की नियुक्ति की चर्चा करते हैं। उस काल मे 'पुराण राजा के अध्ययन योग विषया मे अन्यतम माना जाता था। रामायण तथा महाभारत भी पुराण से तथा इसके प्रचारक सूत मागधो की परम्परा से परिचित ह।

स्मृतियाँ पुराण को विद्यास्थानो मे अन्यतम स्थान प्रदान करती हैं। श्राद्ध के समय मनुस्मृति पुराण के पाठ को पुण्यवर्धक कार्य मानती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद तथा इतिहास के सग मे पुराण के स्वाध्याय को महत्त्व प्रदान करती है। अन्य स्मृतिया भी इस विषय म मौन नही हैं। दार्शनिक ग्रथकार भी पुराण के प्रामाण्य पर आग्रह दिखलाते हैं। वात्स्यायन, शबर स्वामी, कुमारिल, शङ्कराचार्य तथा विश्वरूप—पुराण की वेदानुगामिता को प्रमाण कोटि मे मानते हैं तथा पुराणो क उद्धरणो को देकर उनसे अपना स्पष्ट परिचय घोषित करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि (द्वितीय शती ई० पू०) पुराण के आख्यानो से परिचय रखते हैं तथा बाणभट्ट (सप्तम शती) ने वायु-पुराण के पाठ की चर्चा कर उसके स्वरूप का जो परिचय दिया है वह आज प्रचलित वायुपुराण से सर्वथा भिन्न नही है। अलवरूनी नामक अरबी ग्रन्थकार ने अपने भरतविषयक ग्रथ मे पुराण से बहुत सी सामग्री ग्रहण की है जो तत्तत् पुराणो मे आज भी उपलब्ध है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के इतिहास में 'पुराण' का उदय वैदिक युग मे हुआ और उसका अभ्युदय महाभागवत गुप्तो के साम्राज्य काल मे सम्पन्न हुआ, सामान्य रीति से इस कथन को तथ्यपूर्ण माना जा सकता है।

द्वितीय परिच्छेद

पुराण का अवतरण

पुराण के अवतरण के विषय में पुराणों तथा इतर ग्रन्थों में अनेक सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। इनका एकत्र समीक्षण करने पर अनेक तथ्यों का प्रकटीकरण होता है। पहली वस्तु ध्यान देने की है कि पुराण के विकास में दो धारायें स्पष्टतः लक्षित होती हैं—(क) व्यासपूर्व धारा तथा (ख) व्यासोत्तर धारा। व्यास का मुख्य कार्य 'पुराण संहिता' का निर्माण था। फलतः पुराणों की सुव्यवस्थित रूप में घटना वेदव्यास का अलोकसामान्य कार्य था, परन्तु पुराण की यह धारा उनसे भी प्राचीनतर युग के साहित्यिक जगत् की एक विशिष्ट महनीय वस्तु है। उस युग में 'पुराण' का अर्थ है लोक-प्रचलित परन्तु अव्यवस्थित, इतस्ततो विकीर्ण लोकवृत्तात्मक विद्याविशेष। इस सिद्धान्त के लिये प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं :—

(क) प्राचीन ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, 'पुराण संहिता' का नहीं। फलतः यह मूलतः किसी ग्रन्थविशेष का द्योतक न होकर, किसी विद्याविशेष का ही वाचक है।

(ख) पुराण के आविर्भाव का निर्देश वायु १।५४ तथा मत्स्य ३।३-४ में वेद से आविर्भाव से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। ब्रह्मा ने सब शास्त्रों में पुराण का ही प्रथम स्मरण किया और अनन्तर उनके मुखों से वेद निःसृत हुए—

> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
> नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्
> अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥
>
> —मत्स्य ३।३-४

'शतकोटिप्रविस्तरम्' शब्द किसी निश्चित रूप का संकेत न कर पुराण के अनिश्चित यथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ का संकेत न होने से यह निर्देश पुराणविद्या की ही द्योतना करता है, ऐसा मानना उचित है।

(ग) 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस विषय में सहायक मानी जा सकती है :—

> पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्
>
> —पद्मपुराण ५।२।५३

अस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।

—वायु १।१०३ १०३।५५

फलत अपने प्राचीनतम रूप म पुराण' किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्याविशेष का ही बोधक है।

पुराण क अवतरण की एक अन्य कल्पना भी है। स्कन्द' (रेवामाहात्म्य) पद्म' (सृष्टिखण्ड) तथा मत्स्य' समान भाव से इस परम्परा का उल्लेख करत

---

१ पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप ॥
त्रिवर्गसाधन पुण्य शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
स्मृत्वा जगाद च मुनीन्प्रति देवश्चतुर्मुख ॥
प्रवृत्ति सर्वशास्त्राणा पुराणस्याभवत्तत ॥
कालेनाग्रहण दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥
व्यासरूप विभु कृत्वा सहरेत्स युगेयुग ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाषते ।
अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् ॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्ष सक्षेपेण निवेशित ॥
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रत तदिहोच्यते ॥
(रेवामाहात्म्य १।२३।३०)—स्कन्दपुराण

२ प्रवृत्ति सर्वशास्त्राणा पुराणस्याभवत्तदा ॥
कलिना ग्रहण दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभु ॥
व्यासरूपी तदा ब्रह्मा सग्रहार्थ युगे युगे ॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे विभु ॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यत ॥
—पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० १

३ पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ ॥
त्रिवर्गसाधन पुण्य शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥
निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण वै मया ॥
अगानि चतुरो वेदा पुराण न्यायविस्तरम् ॥ ५ ॥
मीमासा धर्मशास्त्र च परिगृह्य मया कृतम् ॥
मत्स्यरूपेण च पुन कल्पादावुदकार्णवे ॥ ६ ॥
अशेषमेतत् कथितमुदकान्तर्गतेन च ॥
श्रुत्वा जगाद च मुनीन् प्रति देवान् चतुर्मुख ॥७॥
—मत्स्यपुराण, अध्याय ५३

हैं। इस परम्परा का कथन है—कल्पान्तर मे पुराण एक ही था। वह त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम—का साधन था अर्थात् जिस प्रकार वह अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र के विषयो का प्रतिपादक था, उसी प्रकार वह धर्म का भी प्रकाशक था। उसका क्षेत्र बडा ही विस्तृत था, क्योंकि वह श्लोको की संख्या मे शतकोटि विस्तार रखता था। अनेक पुराणों की मान्यता है कि यह विशाल पुराण-साहित्य देवलोक मे प्रतिष्ठित था। समय के परिवर्तन से इतने विशाल पुराण का ग्रहण क्षीणबुद्धि मानवो की परिमित शक्ति के बाहर की बात थी। फलतः विष्णु भगवान् ने मानवो के कल्याण के लिए इस विशालकाय साहित्य को चार लाख श्लोकों के भीतर संक्षिप्त कर दिया व्यास का रूप धारण करके। इसीलिए मर्त्यलोक मे पुराण की संख्या चतुर्लक्षात्मक है और इसी का विभाजन १८ महापुराणो मे वेदव्यास ने कर दिया जो आजकल प्रचलित तथा लोकप्रिय है।

एक मत के अनुसार चतुःसहस्रात्मक पुराण संहिता का विपुलीकरण चतुर्लक्षात्मक अष्टादश पुराणों के रूप मे है और द्वितीय मत के अनुसार देवलोक मे विद्यमान शतकोटि श्लोकात्मक पुराण का संक्षेपरूप चतुर्लक्षात्मक १८ पुराणो के रूप मे किया गया है। उभय तथ्य इस बात पर एकमत हैं कि पुराण के प्रणयन मे वेदव्यास की ही मुख्यरूपेण क्रियाशीलता है। इस साहित्य के निर्माण का श्रेय इस वर्तमान युग मे कृष्णद्वैपायन मुनि को है।

पुराण लौकिक शास्त्र है। यह वेद से भिन्न, परन्तु तदनुकूल शास्त्र माना जाता है। वेद के समान इसका स्वरूप सदा-सर्वदा के लिए निश्चित नहीं किया गया है प्रत्युत यह समय परिवर्तन के संग मे तथा उसके प्रभाव मे आकर स्वयं परिवर्तनशील है। इसीलिए तन्त्रवार्तिक (१।३।१३) वेद को अकृत्रिम, परन्तु पुराण को कृत्रिम बतलाता है। निरुक्त मे पुराण शब्द की दी गई निरुक्ति भी इसके समय-समय पर परिवर्तन की ओर स्पष्टतः संकेत करती है। वह व्युत्पत्ति है—**पुरापि नवं भवति**। आशय है यह शास्त्र प्राचीनकालिक होने पर भी नया-नया होता है अर्थात् मूलत प्राचीन होने पर भी कालान्तर मे उत्पन्न परिवर्तनों को यह अपने मे आत्मसात् कर लेता है। पुराण इस सामयिक परिवर्तन के तथ्य को प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होता। कुमारिकाखण्ड (४०।१९८) का स्पष्ट कथन है—इतिहास और पुराण लोक-गौरव मे भिन्न-भिन्न होते हैं :

इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्

यह कथन सामयिक परिवर्तन के तथ्य का ही द्योतक है। न्यायभाष्य (४।१।६१) मे महर्षि वात्स्यायन लोकवृत्त को ही इतिहास पुराण का विषय अंगीकार करते हैं—

लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः ।

इस कथन की महत्ता वेद तथा धर्मशास्त्र की तुलना से भली भाँति समझी जा सकती है। वात्स्यायन ने साहित्य को तीन अगो मे विषय की दृष्टि से विभक्त किया है—यज्ञ मन्त्रब्राह्मण का अर्थात् वेद का विषय है, लोक का चरित इतिहास पुराण का विषय है तथा लोकव्यवहार का व्यवस्थापन–लोक मे पुण्य-पाप आदि का निर्धारण धर्मशास्त्र का विषय है (४।१।६२ पर वात्स्यायन भाष्य)। इस महत्त्वपूर्ण *मन्तव्य का तात्पर्य यह है कि द्रष्टा* तथा प्रवक्ता की दृष्टि से तो इनमे भेद नही है क्योकि जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता मन्त्र–ब्राह्मण के है, वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी है। फलतः प्रवक्ता की दृष्टि से इनमे पार्थक्य नही है। तब पार्थक्य कहा है ? विषय के विवेचन के क्षेत्र को लेकर ही इन तीनो मे भेद तथा पार्थक्य माना जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्राचीन परम्परा लोकवृत्त के वर्णन को ही पुराण का मुख्य विषय स्वीकार करती है, धर्मशास्त्र के साथ उसका सम्बन्ध नही मानती। इससे यह परिणाम निकलता है कि पुराण का प्राचीनतम रूप लोकवृत्तात्मक ही था और उस प्राचीन काल मे उसका धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। धर्मशास्त्रीय विषयो का पुराण मे निवेश तो पञ्चम-षष्ठ शती की घटना *मानी जाती* है।

वेदकालीन द्विविध धारा

वैदिक युग मे विचार की दो धारायें दृष्टिगोचर होती हैं—एक वेदधारा और दूसरी पुराणधारा। वेदधारा तो आरम्भ से ही धार्मिक है तथा यज्ञो मे विशिष्ट देवता को उद्दिष्ट कर हविर्याग की विधि को वह महत्त्व देती है। पुराण-धारा का लक्ष्य लोकवृत्त का अनुशीलन तथा समीक्षण कर विपुल विवरण देना है। *इन दोनो धाराओ मे किञ्चित् पार्थक्य की कल्पना करना अनुचित* प्रतीत नही होता। पुराणधारा आरम्भ मे वैदिक मार्ग से उतनी सस्पृष्ट तथा *सश्लिष्ट सम्भवत· नही थी और वेदानुसारिता पुराण की, बहुत सम्भव है,* उतने प्राचीन काल से अनुमित नही की जा सकती।

द्विविध धारा की सत्ता पुराण के प्रामाण्य पर भी हम सिद्ध कर सकते है। मार्कण्डेय (४५।२३) के कथन से द्विविध धारा का अनुमान लगाना अप्रमाणिक नही माना जा सकता। मार्कण्डेय का यह कथन इस प्रकार है :—

> **उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।**
> **पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनुविनिःसृताः ॥ २० ॥**

वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जगृहुस्तस्य मानसाः।
पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः ॥ २३ ॥

—मार्कं०, अ०४५

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन युग मे ऋषिधारा तथा मुनिधारा पृथक्-पृथक् थी। ऋषियो ने तो वेद का ग्रहण किया और मुनियो ने पुराण का, जब ये दोनो ब्रह्माजी के मुख से निकले। मार्कण्डेय पुराण की सृष्टि को प्राक्कालीन मानता है और वेद की सृष्टि को उत्तरकालीन। इस प्रकार ऋषियो ने तो वेदो को ग्रहण किया तथा उसके विपुलीकरण और प्रचार-प्रसार मे प्रवृत्त हुए। विपरीत इसके, मुनियो ने पुराण को ग्रहण किया और उसके प्रचार-प्रसार के महनीय कार्य मे उन्होंने अपने को व्यापृत किया।

ऋषि तथा मुनि के इस पार्थक्य की पुष्टि शकराचार्य के सनत्सुजातीय-भाष्य की एक महनीय उक्ति मे भी होती है। सनत्सुजातीय के द्वितीय अध्याय (श्लोक १२) मे ब्रह्म विश्व से विलक्षण तथा विपरीत बतलाया गया है—

निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदाः
तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति।

इस श्लोक के भाष्य मे आचार्य ने उपनिषदो का प्रचुर उदाहरण देकर ब्रह्म तथा विश्व के वैलक्षण्य का प्रतिपादन किया है। अनन्तर वे पुराणस्य प्रमाण की ओर निर्देश करते कह रहे हैं—

न केवलं वेदा, अपि तु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीतस्वरूपमुदाहरन्ति। तथा चाह भगवान् पराशरः 'प्रत्यस्तमितभेदं यत्' '''तत्त्व विष्णो परं स्वम्'। ये दोनो श्लोक विष्णुपुराण के षष्ठ अश, सप्तम अध्याय के ५३ तथा ५४ श्लोक हैं। आचार्य के पूर्वोक्त कथन का समीक्षण यही बतलाता है कि वे वेद तथा पुराणकार मुनियो के वचन को द्विप्रकारक मानते हैं। इस कथन से भी पूर्वोक्त ऋषिधारा तथा मुनिधारा के पार्थक्य के लिए आधारभूमि स्थिर मानी जा सकती है।

ऋषि तथा मुनि

'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति ऋषी गतौ धातु (सख्या १२८७ सिद्धान्तकौमुदी) से मानी जाती है। गति को सामान्य गमन के अर्थ मे न लेकर विशिष्ट गति या ज्ञान के अर्थ मे लेना ही उचित प्रतीत होता है।

ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसारपारं वा।
ऋष्+इगुपधात् किन् (४।११९) इति उणादिसूत्रेण इन् किच्च।

इस व्युत्पत्ति का सकेत वायु ७।७५, मत्स्य १४५।८३ तथा ब्रह्माण्ड १।३२।८७ मे समभावेन किया गया है । ब्रह्माण्ड की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः ।
यस्मादेव स्वयंभूतस्तस्माच्चाप्यृषिता स्मृता ॥

वायु (५९।७९) मे 'ऋषि' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये गये हैं—

ऋषीत्येव गतौ धातु श्रुतौ सत्ये तपस्यथ ।
एतत् संनियतस्तस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषि स्मृत' ॥

इस श्लोक के अनुसार ऋषी धातु के चार अर्थ हाते हैं—गति, श्रुति, सत्य तथा तपस् । ब्रह्माजी के द्वारा जिस व्यक्ति म ये चारो वस्तुएँ नियत कर दी जाँय, वही होता है 'ऋषि'[1] । वायु का यही श्लोक मत्स्य (अ० १४५ श्लो० ८१) म किंचित् पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है । दुर्गाचाय की निरुक्ति है—ऋषिर्दर्शनात् (नि० २।११) इस निरुक्ति से 'ऋषि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—दर्शन करने वाला, तत्त्वो की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति रखने वाला विशिष्ट पुरुष । 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु यास्क का यह कथन इस निरुक्ति का प्रतिफलिताथ है । दुगाचाय का कथन है कि किसी मन्त्रविशेष की सहायता से किये जान पर किसी कर्म से किस प्रकार का फल परिणत होता है ऋषि को इस तथ्य का पूर्ण ज्ञान होता है । तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार इस शब्द की व्याख्या यह है—

सृष्टि के आरम्भ म तपस्या करने वाले अयोनिसम्भव व्यक्तियो के पास स्वयभू ब्रह्म—वद ब्रह्म—स्वय प्राप्त हो गया (आनप) । वेद का इस स्वत

---

१ प्रत्यक मन्वन्तर मे सप्तर्षियो के नाम भिन भिन्न होने है । द्रष्टव्य विष्णु (अश ३, अ० १ तथा २) रत्नकोष म ऋषियो के ७ भेद किय गये है—

सप्त ब्रह्मर्षि-देवर्षि महर्षि-परमर्षय ।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावरा ।

ब्रह्मर्षि, दर्वाष, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि तथा राजर्षि—य क्रम स अवर होते हैं । अथात् ब्रह्मर्षि होता है सवश्रेष्ठ तथा राजर्षि होता है सव स अवर । मत्स्य म पाँच ऋषिजातियो का वणन मिलता है ऋषिया के विशिष्ट नामा की निरुक्ति भी पुराणा म की गई है (हरिवश अ० ७, विष्णु अश ३, मार्कण्डेय ६७।४)

प्राप्ति के कारण—स्वयमेव आविर्भाव होने के हेतु—ही 'ऋषि'का 'ऋषित्व' है'। इस व्याख्या में 'ऋषि' शब्द की निरुक्ति तुदादिगणीय ऋष् गतौ धातु से मानी गई है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों से ऊपर दी गई निरुक्ति इसी परम्परा से अनुमोदित है। अपौरुषेय वेद ऋषियों के ही माध्यम से विश्व में आविर्भूत हुआ और ऋषियों ने वेद के वर्णमय विग्रह को अपने दिव्य श्रोत्र से श्रवण किया और इसीलिए वेद की 'श्रुति' संज्ञा सार्थक है। आद्य ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ता फिरता है। वे अर्थ के पीछे कभी नहीं दौड़ते (ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति उत्तररामचरित, प्रथम अंक)। निष्कर्ष यह है कि तपस्या से पूत अन्तर्ज्योति सम्पन्न मन्त्रद्रष्टा व्यक्तियों की ही संज्ञा 'ऋषि' है।

मुनि—

मनुते जानाति यः स मुनिः। मन् धातोः 'मनेरुच्च' इति (४।१२२) उणादिसूत्रेण इन् प्रत्ययः। अकारस्य उच्चेति मुनिः।

मुनि का साक्षात् सम्बन्ध तीव्र तपश्चरण के साथ है। जो व्यक्ति शून्यागार में निवास करता है और जो चलते-चलते सायंकाल हो जाने वाले स्थान पर ही टिक जाय (सायंगृह) वही 'मुनि' नाम से अभिहित किया जाता है। मनुस्मृति (७।६) का यह वचन 'मुनि' के स्वरूप का पर्याप्त परिचायक है—

शून्यागारनिकेतः स्याद् यत्र सायंगृहो मुनिः।

वनपर्व के १२ वें अध्याय में मुनि के स्वरूप का विस्तृतरूपेण निर्देश किया गया है। अर्जुन ने कौरवों के दुष्कृत्यों से क्षुब्ध होने वाले श्रीकृष्ण को शान्त करते समय उनकी पूर्वजन्म की घोर तपस्या का वर्णन विस्तार से किया। गन्धमादन पर्वत पर दस हजार वर्षों तक श्रीकृष्ण ने किसी प्राचीन काल में विचरण किया था (१२।११) एकादश सहस्र वर्षों तक पुष्करक्षेत्र में केवल जल का भक्षण करते हुए श्रीकृष्ण ने तपस्या की थी (१२।१२)। ऊपर बाहु उठाकर (ऊर्ध्वबाहु) और एक पैर पर खड़े होकर बदरीक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने केवल वायु का भक्षण कर सौ वर्षों तक तपस्या की (१२।१३)। इसी प्रकार के घोर तप करने का यहाँ वर्णन है (११–१६ श्लो०)। यहाँ 'सायंगृहो मुनिः' शब्द का प्रयोग मुनि के वैशिष्ट्य का द्योतक है। इस शब्द की नीलकण्ठी व्याख्या[2] बतलाती है कि जहाँ सायंकाल हो जाय, वहीं घर जिसका हो जाय,

१. अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन्, तद् ऋषीणामृषित्वम्। —तैत्तिरीय आरण्यक, २ प्रपाठक, ९ अनुवाक

२. तत्र तपस्विना क्षमबोधिनन्ति दर्शयितुं भगवतः श्रीकृष्णस्य तदीय जन्मान्तरीय तप एव तावदुदाहरति। .. यत्र सायंकाल स्तत्रैव गृहं यस्य स यत्र 'सायंगृह' इत्येव पदम्। नीलकण्ठी, वनपर्व १२।११ श्लोक पर।

वही 'सायगृहो मुनि' होता है। फलत 'मुनि' के साथ तीव्र तपस्या तथा क्षमा का भाव अविनाभावेन सम्बद्ध माने गये हैं। इसीलिए नैषध मे मुनि की वृत्ति जल मे उगने वाली लताओ के फल तथा मूल से निष्पन्न बताई गई है —

> फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
> मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः॥
>
> —नैषध १।१३३

गीता बतलाती है कि दुःखो मे उद्विग्न न होने वाला, सुखो मे स्पृहा से विरहित, राग, भय तथा क्रोध से उन्मुक्त होने वाला तथा स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

इस प्रकार ऋषि की अपेक्षा मुनि[1] स्वतो विशिष्ट तथा भिन्न होता है, साधारणत वे अभिन्न भले ही माने जाँय। दोनो के पन्थो मे वैभिन्य होना स्वाभाविक है।

अथर्ववेद की परम्परा

अथर्ववेद की परम्परा मूलत वेदत्रयी से पृथक् और भिन्न मानी गई है। इस वेद मे ऐहिक कामनाओ की पूर्ति के लिए विशिष्ट मन्त्रो का सकलन मिलता है। अथर्व मे शान्तिक तथा पौष्टिक, आयुष्य तथा कल्याणसाधक मन्त्र विशेषरूप मे उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनके सग साथ मे अभिचार, मोहन तथा मारण के भी मन्त्र प्राप्त होते हैं। अथर्व का पूरा नाम 'अथर्वाङ्गिरस' है। अथर्व मन्त्र तो पौष्टिक तथा आयुष्यवर्धक होने से मानवो के कल्याण पक्ष का ही आश्रय करते हैं, परन्तु अङ्गिरस मन्त्र का यथार्थ सम्बन्ध अभिचार जैसी घोर कृत्या—विधि के साथ है और इन दोनो धाराओं के सम्मिश्रण का परिणाम है वर्तमान अथर्ववद जिसका पूरा अभिधान 'अथर्वाङ्गिरस' है। पुराण अथर्व के इस द्विविध स्वरूप से पूरा परिचय रखता है। वायुपुराण का यह श्लोक (६५।२७) इस विषय का यथार्थ सकेत करता है:—

> ब्रह्मवेदस्तथा घोरैः कृत्याविधिभिरन्वित.
> अथर्वाङ्गिरसयोगैश्च द्विशरीरशिरोऽभवत्॥

---

१ मुनियो की उत्पत्ति के लिए द्रष्टव्य ब्रह्मवैवर्त (ब्रह्मखण्ड, ८ अ०) तथा वायु का गया माहात्म्य, मामा की स्तुति " " २२ अ०) मुनिधर्म—पद्म २२७ अ० मे दर्शित।

अथर्ववेद में दो प्रकार के मन्त्रों का सम्मिश्रण है—

अंगिरा मन्त्र = आंगिरस = अभिचार (घोर कृत्या विधि)। प्रत्यङ्गिरा[1] मन्त्र = आथर्वण = शान्ति-पौष्टिक-आयुष्य मन्त्र। अथर्व तथा अङ्गिरस का एकत्र उल्लेख पुराणों में मिलता है। द्रष्टव्य भागवत ६।६।१९ तथा लिङ्ग १।२६।२६। मत्स्य ५१।१० के अनुसार भृगु के पुत्र थे अथर्वा और अथर्वा के पुत्र थे अङ्गिरा (भृगो प्रजायनाथर्वा, ह्यङ्गिराऽथर्वण स्मृत)। इस प्रकार भृगु के भी इसी परम्परा में अनुस्यूत होने से यह वर्ग 'भृग्वङ्गिरस' के अभिधान से भी पुकारा जाता है। भृगु तथा उनके अनुयायी भार्गवों का सम्बन्ध आख्यान साहित्य की अभिवृद्धि के साथ नितान्त अविच्छिन्न है। डा० सुखठणकर ने अपने अनेक निबन्धों में भार्गवों को महाभारत के विस्तार का प्रयोजक हेतु माना है। इतना ही नहीं, रामायण के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि भी भृगुवंशी ही थे, अश्वघोष के 'बुद्धचरित' के अनुसार वाल्मीकि च्यवन के पुत्र थे और यह च्यवन भृगु के पुत्र थे। इसीलिए वाल्मीकि का 'भार्गव' नाम से उल्लेख महाभारत में उपलब्ध होता है।[2] विष्णुपुराण भी 'भार्गव = वाल्मीकि' का उल्लेख व्यासों की सूची में स्पष्टतः करता है।[3] इस प्रकार आख्यान साहित्य के प्रचार-प्रसार में, रामायण के प्रणयन में तथा महाभारत के परिबृंहण में भार्गववंशी मुनियों का विशेष सहयोग था—यह तथ्य भुलाया नहीं जा सकता। भृगु की नितान्त गौरवमयी गाथा की जानकारी के लिए कतिपय संक्षिप्त निर्देश यहाँ किये जा रहे हैं।

भृगु का परिचय

वैदिक संस्कृति के प्रचार में भृगुवंशीय ऋषियों का विशेष योग रहा है। भारत के पश्चिमी तथा मध्यप्रदेश में इन्हीं लोगों ने आर्यावर्त से लाकर वैदिक धर्म का प्रचुर प्रचार किया। जिस प्रकार गौतमों ने विदेह राजाओं को पूर्वी भारत में आर्य-सभ्यता के फैलाने में विपुल सहायता दी, उसी प्रकार भार्गवों ने मानव (मनुवंशी) राजाओं को पश्चिमी भारत में इस स्तुत्य कार्य के निर्वाह में

---

१. 'प्रत्यङ्गिरस योगेश्च' की व्याख्या में इन्हें आथर्वण मन्त्र ही माना है। द्रष्टव्य नीलकण्ठ हरिवंश १।३।६५ पर।

२ श्लोकश्चाय पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपति प्रति भारत॥

—शान्ति ५७।४०

३ ऋक्षोऽभूद् भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।

—विष्णु ३।३।१८

विशाल साहाय्य प्रदान किया। इस विस्तृत विषय की चर्चा करने का यहाँ अवसर नहीं है परन्तु भार्गवों के मूलपुरुष महर्षि भृगु के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं से हम पाठकों को परिचित करा देना चाहते हैं।

भृगु के जन्म के विषय में भिन्न भिन्न मत पाये जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३४) के अनुसार आदित्य तथा अङ्गिरा के साथ भृगु की उत्पत्ति प्रजापति के वीर्य से हुई। गोपथ ब्राह्मण (१ २ ८) ने इस विषय में रमणीय आख्यान दिया है। एकबार तपस्या में निरत ब्रह्मदेव के शरीर से कुछ पसीने की बूँदें निकलीं जिनमें अपने ही सुन्दर शरीर के प्रतिबिम्ब को देखकर ब्रह्मदेव का वीर्यस्खलन हुआ जो दो भागों में विभक्त हो गया। एक भाग था स्निग्ध और चिक्कण दूसरा था रूखा तथा खुरखुरा। पहले से हुआ जन्म भृगुजी का और दूसरे से अङ्गिरा का। इस प्रकार भृगु तथा अङ्गिरा का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। अन्य ग्रन्थों के आधार पर ये वरुण के पुत्र प्रतीत होते हैं (शतपथ ब्रा० ११।६।१।१, तैत्ति० आर०९।१ तैत्ति० ब्रा० १ ३ १ १)। जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० में तथा तैत्तिरीय उप० में वरुण के द्वारा भृगु के ज्ञानोपदेश का वर्णन मिलता है। वरुण पुत्र होने के कारण वारुणि शब्द इनके नाम के साथ सदा जुटा रहता है। ये एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि हैं जिन्हें अनेक सूक्तों के द्रष्टा होने का गौरव प्राप्त है। (ऋ० ९।३५ ऋ०१०।१९)।

दक्ष प्रजापति के उस यज्ञ में ये उपस्थित थे जिसमें सती ने पति के अनादर से दुःखित होकर योगाग्नि में अपना शरीर जला दिया था। दक्ष ने ही शिव की निन्दा की थी वहाँ उपस्थित ऋषियों का भी दोष कम न था। इन्होंने अपनी दाढ़ी हिलाकर दक्ष के कथनों की पुष्टि की थी। फलतः वीरभद्र ने इनकी दाढ़ी उखाड़ कर इन्हें विद्रूप कर दिया। परन्तु पीछे शिवजी ने प्रसन्न होकर इनके मुँह पर बकरे की दाढ़ी लगाकर इनकी कुरूपता को दूर कर कर दिया (भागवत ४।५।१७ १९)। एकबार ऋषि लोग एक महान् यज्ञ के सम्पादन में लगे थे। प्रश्न उठा कि ब्रह्मा विष्णु तथा शिव इन तीनों देवताओं में सबसे श्रेष्ठ कौन है और इस प्रश्न के निपटाने का भार भृगुजी ही पर रखा गया। ऋषियों के प्रतिनिधिरूप में जाकर भृगु ने शिव को तथा ब्रह्मा को ब्राह्मणों के प्रति अनादर रखने का दोषी पाया परन्तु विष्णु के पास जाने पर उन्हें वे ऋषियों के सत्कार के रूप में दृष्टिगत हुए। सोते हुए विष्णु की छाती में इन्होंने लात मारी तब विष्णु झट उठकर इनके पैर पकड़कर दाबने लगे और उनकी कड़ी छाती की चोट से सुकुमार ऋषिचरण के दुखने की कल्पनामात्र से उनका हृदय दुखने लगा। भृगु के कथन से सब देवताओं में विष्णु की ही प्रधानता ऋषियों को मान्य बनी (पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २५५)। यही पादचिह्न श्रीवत्सचिह्न के नाम से पुकारा जाता है (भागवत १०।८९ अ०)।

'अथर्ववेद' के सकलन मे भृगु का बड़ा हाथ है। अङ्गिरा तथा भृगु इन्ही दोनो ऋषियों की प्रधानता इस वेद मे दीख पडती है। इसीलिए अथर्व का प्राचीन नाम है 'भृग्वङ्गिरस्।' सौम्य, पौष्टिक, समृद्धिजनक प्रयोगो के कर्ता भृगुजी हैं और क्रूर, उग्र, अभिचारो क उद्योक्ता अङ्गिरसजी। अथर्वण-प्रयोगा म निष्णात होने के कारण भृगु 'सञ्जीवनी विद्या' के ज्ञाता थ। एकबार देवासुर-सग्राम के अवसर पर इनके पुत्र शुक्राचार्य से असुरा की सहायता करने के कारण विष्णु रुष्ट हो गये और पिता-पुत्र की अनुपस्थिति मे उन्होंने भृगुपत्नी को अपने चक्र मे मार डाला। तब भृगुजी ने अपनी इसी विद्या के बल पर पत्नी को जिलाया और विष्णु को जन्म लेने का शाप भी दिया (देवीभागवत ४।११।१०)। ऋषि जमदग्नि के मार डाले जाने पर भृगु ने उन्हें 'सजीवनी विद्या' से जिलाया था, इसका उल्लेख 'ब्रह्माण्डपुराण' (१।३०) मे मिलता है।

भृगु की दो पत्नियाँ थी—दिव्या और पौलोमी। दिव्या के पुत्र थे शुक्राचार्य, जिनकी अलौकिक शक्तियों का परिचय हमे अनेक अवसरो पर मिलता है। उनसे विस्तृत वश उत्पन्न हुआ। पौलोमी के पुत्र थे महर्षि च्यवन, जिन्हे अश्विनीकुमारो की सहायता से नवयौवन की प्राप्ति हुई थी। सम्राट् शर्याति मानव का महाभिषेक च्यवन ने ही कराया था (ऐत० ब्रा० ८ प०) और इन्ही शर्याति ने अपनी पुत्री 'सुकन्या' का पाणिग्रहण च्यवन के साथ किया था। आगे चलकर जमदग्नि तथा परशुराम इसी वश के भूषण हुए। च्यवन के पुत्र का नाम था प्रमति, जिन्होंने 'घृताची' अप्सरा से विवाह कर 'रुरु' नामक पुत्र उत्पन्न किया। रुरु की स्त्री थी 'प्रमद्वरा' तथा पुत्र 'शुनक'। इन्ही शुनक के पुत्र हुए 'शौनक', जिन्होंने लोमहर्षण के पुत्र सौति से महाभारत-कथा कहने का आग्रह किया था। शौनक की कृपा से ही हमे 'महाभारत' जैसा ग्रन्थरत्न प्राप्त हुआ है। इस प्रकार 'महाभारत' के सरक्षण तथा प्रचारण मे भार्गवो का कार्य विशेष श्लाघनीय रहा है।

भृगु के नाम से अनेक सस्कृत ग्रन्थ सम्बद्ध हैं, जिनम 'भृगुगीता, भृगुस्मृति', 'भृगुसहिता' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'भृगुसहिता' के फला की अपूर्वता तथा यथार्थता बतलाने की आवश्यकता नहीं। अन्तर्दृष्टि के उन्मेष के बिना इन विचित्र फलो का कथन क्या कभी सम्भव है ? एक बात ध्यान देने योग्य है। भृगुजी का आश्रम पश्चिम समुद्र-तट पर था, जहाँ नर्मदा नदी समुद्र से मिलती है। इसका प्राचीन नाम है 'भृगुकच्छ' और आधुनिक नाम 'भडौंच'। 'भृगुकच्छ' का बन्दरगाह भारत के नौ-व्यापार का प्रमुख मार्ग था। पश्चिमी जगत् से व्यापार का आवागमन इसीके रास्ते होता था। आज से दो हजार साल पहले भी रोमन सम्राट् अगस्तस सीजर के जमाने म 'भृगुकच्छ' से जहाज

द्वारा गयी चीजें रोमन रमणियों तथा रमणों के लिए भोग-विलास की प्रधान सामग्री थीं। केवल अंग्रेजों के जमाने के शुरू होते सूरत की प्रभुता होने पर ही 'भृगुकच्छ' का प्राचीन गौरव क्षीण होने लगा था। भडौंच में रहनेवाले सहस्रों गुजराती भार्गववंशी ब्राह्मण-परिवार इस प्रदेश में आर्यसंस्कृति के प्रसारक अपने पूर्वज महर्षि भृगु वारुणि के रमणीय कीर्तिकलाप को गाकर अपने को धन्य मानते हैं।

अथर्व परम्परा में इतिहास-पुराण

इतिहास पुराण का प्राचीन स्वरूप लोकवृत्तात्मक था; इसे सप्रमाण ऊपर दिखलाया है। अथर्ववेद का भी सम्बन्ध ऐहिक विषयों के प्रतिपादन से है। बहुत से लोकाचार की बातें तथा अनुष्ठान अथर्व के मन्त्रों में प्रतिपादित हैं। इसी अथर्ववेद की परम्परा में इतिहास-पुराण का अवतरण हुआ—इसे मानने के लिए निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं—

(क) अथर्ववेद (११।७।२४) में 'उच्छिष्ट' नाम से संकेतित परमतत्त्व से ऋक्, यजुः तथा साम और अथर्व के संग में पुराण के उदय की बात कही गई है।[1] अथर्ववेद ने व्रात्य के अनुगमनकारी शास्त्रों में मध्य में पुराण का स्पष्टतः उल्लेख किया है (अथर्व १५।६।१०-११)[2]

(ख) गोपथ ब्राह्मण ने पाँच वेदों की उत्पत्ति की बात बतलाई है जिनमें से इतिहास-वेद का सम्बन्ध उदीची (उत्तर) दिशा के साथ है और पुराण वेद का सम्बन्ध ध्रुवा (पैरों के ठीक नीचे होने वाली दिशा) तथा ऊर्ध्वा, (मस्तक के ठीक ऊपर होने वाली दिशा) के साथ है (गोपथ १।१०)[3]। इतना ही नहीं, पाँच व्याहृतियाँ—वृधत्, करत्, गुहत्, महत् और तत्—क्रम से सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद से उत्पन्न बतलाई गई हैं। इस प्रकार 'इतिहास से 'महत्' की और पुराण से 'तत्' की उत्पत्ति स्पष्टतः सिद्ध करती है कि गोपथ की दृष्टि में इतिहास तथा पुराण दोनों परस्पर पृथक् तथा भिन्न वेद माने जाते थे। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण है। फलतः अथर्व की परम्परा का यह वर्णन प्रामाणिक माना जा सकता है।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् का यह वचन बड़े ही महत्त्वशाली रहस्य का उद्घाटन है और वह रहस्य है इतिहास पुराण का अथर्ववेद से सम्बन्ध। इस

---

१. देखिये उद्धरण १ पिछले परिच्छेद में।
२. देखिये उद्धरण २ पिछले परिच्छेद में।
३. देखिये उद्धरण ३ पिछले परिच्छेद में।

कथन का तात्पर्य है—'अथर्वाङ्गिरस मधुकर हैं, इतिहासपुराण पुष्प हैं, इन अथर्वाङ्गिरसों ने इतिहास-पुराणों को अभितप्त किया। अभितप्त हुए इतिहास पुराण से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्य, तथा रस उत्पन्न हुआ'[1]

('घ) वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (४।१।६१) में किसी प्राचीन ग्रन्थ का यह वचन उद्धृत किया है-ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहास पुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन्—जो दोनों के सम्बन्ध को निश्चित करने में प्रमाणभूत माना जा सकता है।

('ङ) सायणाचार्य ने इतिहास पुराण को अथर्ववेद का उपवेद बतलाया है। स्पष्टतः दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की द्योतिका यह कोई प्राचीन परम्परा है जो यहाँ सायण के द्वारा निर्दिष्ट की गई है।[2]

('च) अथर्ववेद सामान्य जनता का भी उपकारी वेद है। इसके वर्ण्य विषय दो प्रकार के हैं—आमुष्मिक तथा ऐहिक। आमुष्मिक कर्म दर्श पूर्णमासादि त्रयी प्रतिपाद्य भी हैं, परन्तु ऐहिक फलवाले शान्तिक पौष्टिक कर्म, राजकर्म, अपरिमित फलवाले तुलापुरुष महादान आदि अथर्ववेद में ही प्रतिपाद्य हैं। पौरोहित्य अथर्ववेद का ज्ञाता ही करा सकता है, क्योंकि तत्सम्बद्ध राजाभिषेक आदि का विवरण अथर्ववेद में ही उपलब्ध होता है। अभिचार भी अथर्ववेद में अङ्गिरा ऋषि के द्वारा दृष्ट मन्त्रों में साध्य होता है। पति को वश में करने के मन्त्र, पत्नी का परित्याग कर बाहर भाग निकलने वाले पति को लौटाने का मन्त्र, सपत्नी की ओर से पति के आसक्त चित्त को आकृष्ट करने के मन्त्र, नाना प्रकार की आधि-व्याधि के दूर करने के मन्त्र, देश में अन्नादि की समृद्धि को उत्पन्न करने के विधिविधानों के मन्त्र—आदि मन्त्र तथा तत् सम्बद्ध यज्ञानुष्ठान आदि सामान्य जनता के इतने अधिक उपकारी तथा मंगल-साधक हैं कि अथर्व को जनता का वेद कहना कथमपि अनुपपन्न नहीं कहा जा सकता। यही है अथर्ववेद की प्रकृति और इसकी इतिहास-पुराण के साथ पूरी सगति बैठती है। इतिहासरूप महाभारत की रचना का अभिप्राय श्रीमद्-भागवत ने स्वयं विशद शब्दों में लिखा[3] है कि स्त्री, शूद्र और पतित द्विजाति—

---

१. अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः। इतिहास पुराणं पुष्प······ते वा एते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य रसोऽजायत।

—छान्दोग्य ३।४।१।२

२. द्रष्टव्य सायण अथर्ववेदभूमिका पृ १२२-१२३
(चौखम्भा संस्करण, काशी, १९५८)

३. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा।

ये तीनो ही वेद श्रवण करने के अधिकारी नही हैं। इसीलिए वे कल्पाणकारी शास्त्रोक्त कर्मों के आचरण मे भूल कर बैठते हैं। इनके कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वेदव्यास न इतिहास का प्रणयन किया तथा साथ ही साथ या उसके अनन्तर पुराणा का भी निर्माण किया। इनमे वेद का अथ खोल कर रखा गया है जिससे स्त्री शूद्र आदि भी अपने धम-कर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अत इतिहास पुराण की प्रकृति लौकिकधर्मानुबधिनी है और इसका पूण सामञ्जस्य अथव की प्रकृति से बैठता है।

पारिप्लवाख्यान और पुराण

शतपथ ब्राह्मण (१३ काण्ड, ४ अध्याय ३ ब्राह्मण) मे अश्वमेध के प्रकरण मे पारिप्लवाख्यान का विशद विवरण उपलब्ध होता है। इतिहास-पुराण के प्रवचन का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध ब्राह्मण ने प्रदर्शित किया है। शतपथ का वर्णन बडा विशद तथा इतिहास-पुराण के वैदिक स्वरूप को प्रकट करने मे सवथा समर्थ है। इस लक्ष्य से इसका विवरण सक्षेप मे यहा प्रस्तुत किया जाता है। महर्षि कात्यायन न अपने श्रौतसूत्र के अश्वमेध प्रकरण मे इस अनुष्ठान का पूण रूप दिखलाया है जो इस प्रसग म मननीय तथा गवेषणीय है।

सबसे पहिले अश्वमेध के आरम्भ म तीन सावित्री इष्टिया की जाती हैं। अनन्तर अश्वमध का प्रधान पशु विशिष्ट लक्षणसम्पन्न अश्व विचरण करने के लिए छोडा जाता है। तदनन्तर देवसदन नामक यज्ञमण्डप म अनेक अनुष्ठान किए जाते हैं। अश्वमधीय अश्व के छोडने के बाद वेदि के दक्षिण ओर सोन का कशिपु[1] (=सुनहरा आसन) बिछाया जाता है जिस पर होता (देवो का

कथश्रेयसि भूताना श्रेय एव भवदिह।
इति भारतमाख्यान कृपया मुनिना कृतम्॥

—भाग० १।४।२५

× × ×

आह्वान करने वाला या ऋग्वेदज्ञ ऋत्विज्) बैठता है। होता के दक्षिण दिशा में सुवर्ण निर्मित कूर्च (पादसम्पन्न आसन = पीठा) पर यजमान बैठता है और उसके दक्षिण ब्रह्मा और उद्गाता बैठते हैं। हिरण्मयी कशिपु के पूरब तरफ अध्वर्यु बैठता है हिरण्मय कूर्च पर अथवा हिरण्मय फलक पर (पादरहित आसन को फलक कहते हैं)। इस प्रकार सब ऋत्विजों को अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठ जाने पर अध्वर्यु (यजुर्वेद का ज्ञाता ऋत्विज्) होता को प्रेरित करता है (जिसे वैदिक भाषा में प्रैष कहते हैं)। इस प्रैष का यह रूप होता है—हे होता, इस यजमान (अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति) से भूतों को तथा वेदादिकों को वह सुनाओ। अध्वर्यु के द्वारा इस प्रकार प्रैष पाने पर होता यजमान से वेदादिकों का व्याख्यान सुनाता है इसी का नाम है—पारिप्लवाख्यान। यह दस दिनों तक चलता रहता है और प्रतिदिन के व्याख्यान में वक्ता, श्रोता तथा वर्ण्य विषय भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रतिदिन तीन सावित्री इष्टियां की जाती हैं। छ दिनों तक व्याख्यान के अनन्तर प्रक्रम होम भी सम्पन्न होता है, परन्तु अन्तिम चार दिनों में प्रक्रम होम नहीं होता। दस दिनों में पारिप्लवाख्यान की एक आवृत्ति पूर्ण होती है। फिर उसी क्रम से इसकी पुन: पुन. आवृत्ति होती रहती है ३६ बार तक, जब कि एक संवत्सर पूरा हो जाता है। प्रतिदिन ऋत्विज् और यजमान के अतिरिक्त विभिन्न श्रोता यज्ञमण्डप में बुलाये जाते हैं। जिस आख्यान का जो राजा निर्दिष्ट है, उसकी प्रजाभूत व्यक्तियाँ तथा उसके उपयुक्त श्रोतागण उस दिन में उपस्थित रहते है तत्तद् व्याख्यान को सुनने के लिए। साल भर इस पद्धति से ३६ बार आवृत्ति होने से यह अनुष्ठान अपनी समग्रता को प्राप्त करता है।[1]

अब आख्यान की प्रक्रिया पर ध्यान दीजिए (शतपथ, १३।४।३।३-१४):—

प्रथम दिन वैवस्वत मनु राजा होते हैं। उनकी प्रजायें समस्त मनुष्य हैं, परन्तु सबका एकत्र होना असम्भव ठहरा। फलत. उन मनुष्यों के प्रतिनिधिभूत होते हैं अश्रोत्रिय (समस्त वेदों को न पढ़ने वाले) गृहस्थ, जो उस व्याख्यान के श्रोता होते हैं। व्याख्यान का विषय होता है ऋग्वेद। उसके सूक्त की व्याख्या की जाती है।

द्वितीय दिन के राजा होते हैं वैवस्वत यम। उनकी प्रजा पितृगण होते हैं। सबकी उपस्थिति असम्भव होने से उनके विशिष्ट प्रतिनिधि ही उस

---

१. एतदेव समानमाख्यानम् पुनः पुन संवत्सर परिप्लवते। तद् यत् पुन पुन, परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवम् षट्त्रिंशत दशाहान् आचष्टे।

—शतपथ १३।४।३।१५

अवसर पर उपस्थित होते हैं और ये होते हैं वृद्ध लोग। व्याख्यान का विषय होता है यजुर्वेद का अनुवाक।

तृतीय दिन के राजा होते ह आदित्य वरुण। उनकी प्रजा होती है ग धर्व गण। उनके प्रतिनिधि श्रोता होते हैं शोभन सुन्दर शरीर वाले युवक। उनको उपदेश देता है कि अथववेद यही है। अथव के एक पव की व्याख्या की जाती है।

चतुथ दिन के राजा होते है सोमवैष्णव। उनकी प्रजायें होती ह अप्सरायें। उनकी प्रतिनिधिभूता शोभन युवतियाँ एकत्र होती हैं। हाता उनको उपदेश देता कि अगिरस वेद यही है। अगिरस वेद के एक पव की तब व्याख्या की जाती है।

पञ्चम दिन के राजा होते हैं अर्बुद काद्रवय (सप)। सप ही उनकी प्रजा हैं। उनके प्रतिनिधिरूप से सप और सपविद् (सपविद्या के जानन वाले सपरा) वहाँ एकत्र होते है। उनको होता उपदेश दता है—सपविद्या यही वद है। तब सपविद्या के एक पव की व्याख्या की जाती है।

षष्ठ दिन कुबेर वैश्रवण र जा होते है। राक्षस उनकी प्रजायें है। पाप कारी सेलग प्रतिनिधि होने से एकत्र उपस्थित होते ह। सेलग शब्द की व्याख्या शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी ने इस प्रकार की है—'सेल गायन्तीति सेलगा। सेलो ग्रामराग—रागमद्गो वंशमुखेन आश्वासोच्छ्वासै क्रियते गोपालादिभि जिसका अथ है बाँसुरी बजाने वाले ग्वाले आदि निम्न जातीय व्यक्ति। उन्हें उपदेश दिया जाता है कि 'देवजन' विद्या (भूतविद्या) यही वेद है। देवजनविद्या के एक पव की तब व्याख्या की जाती है।

सप्तम दिन असित धाव राजा होता है। असुर उसकी प्रजा होते हैं। प्रतिनिधिरूप से कुसीदी लोग (रुपैया उधार देकर सूद लेने वाले व्यक्ति) एकत्र होते हैं। उन्ह उपदेश देता है होता—मायावेद यही है। कुछ माया करनी चाहिए अर्थात् जादू-टोना का प्रकार दिखलाना चाहिए। (यहाँ किसी ग्रन्थ की व्याख्या नहीं है प्रत्युत माया के व्यावहारिक प्रदर्शन की बात कही गई है)।

अष्टम दिन मत्स्य साम्मद राजा होता है। जलचर जीव उसकी प्रजा होते हैं। मत्स्य और मछली के मारने वाले (मत्स्यहा मछुआ जो मछली मारकर अपनी आजीविका चलाता है) प्रतिनिधिरूप स एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश दता ह—इतिहास यही वेद है। किसी इतिहास को कहना चाहिए[1]।

---

१ अथाष्टमेऽहन्नवमव। एतास्विष्टिषु संस्थितासु। एवैवावृध्वर्युर्विनि। हवै होतरित्यध्वर्यु। मत्स्य साम्मदो राजेत्याह। तस्योदकेचरा विश। त इम आसत इति। मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति। इति-

नवम दिन तार्क्ष्य वैपश्यत राजा होता है। पक्षियाँ उसकी प्रजा होती हैं। पक्षिगण तथा पक्षिविद्या में निष्णात व्यक्ति (वायोविद्यिका, वयोविद्या = पक्षिविद्या के ज्ञाता) प्रतिनिधित्व से एकत्र होते हैं। उनसे कहता है कि पुराण वेद यही है। किसी पुराण की व्याख्या करनी चाहिए[1]।

दशम दिन धर्म इन्द्र राजा होते हैं। उनकी प्रजा होती है देवगण। प्रतिग्रह (दान) न लेने वाले (अप्रतिग्राहकाः) श्रोत्रिय उनके प्रतिनिधिरूप में एकत्र होते हैं। उन्हें उपदेश देता है—सामवेद यही है। साम के 'दशत' (एक विशिष्ट अंश) का प्रवचन करना चाहिए।

प्रवचन की आवृत्ति प्रति दश दिनों के अनन्तर होती है। फलत, जैसा पहिले कहा गया है कि इतिहास और पुराण के प्रवचन की आवृत्ति ३६० दिन वाले वर्ष में ३६ बार होती है। यह प्रवचन रात्रि को ही होता है। प्रात, मध्यदिन तथा सायकाल मे तीन सावित्री इष्टियाँ सम्पादित होती हैं। तृतीय इष्टि की परिसमाप्ति के अनन्तर ही यह व्याख्यान चलता है। फलतः दिन की अपेक्षा 'रात्रि' शब्द का ही पारिप्लव के विषय में प्रयोग समुचित है।[3]

हासो वेद सोऽयमिति। कंचिदितिहासमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्यु सम्प्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति॥ १२॥

१ अथ नवमेऽहन्नेवमेव। एतास्विष्टिषु संस्थितासु। एषैवावृदध्वर्यवित्ति। हवैहोतरित्येवाध्वर्यु। तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजेत्याह। तस्य वयांसि विश। तानीमान्यासत इति। वयांसि च वायोविद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति। पुराण वेद सोऽयमिति। किंचित् पुराणमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्यु सम्प्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति॥ १३॥

२ दशत या दशति—सामवेद संहिता के दो भाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक मे ६ प्रपाठक या अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठक मे दो अर्ध या खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एक 'दशति' और प्रत्येक दशति में ऋचायें हैं। 'दशति' शब्द से ऋचाओं की संख्या दश तक सीमित प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। दशति में ऋचायें कहीं दश से कम हैं और कहीं अधिक भी हैं। दशतियों में ऋचाओं का संकलन छन्द और देवता की एकता पर निर्भर होता है।—द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ. १९५, काशी १९५८

३. श्रीशंकराचार्य का छान्दोग्यभाष्य—'इतिहास पुराण पुनम्। तयोश्चेतिहासपुराणयोरश्वमेधेषु पारिप्लवासु रात्रिषु कर्माङ्गत्वेन विनियोग सिद्ध।' इस अंश को ठीक न समझ कर डा० हाजरा अश्वमेध से ही इतिहास-पुराण की उत्पत्ति मानते हैं। इसके खण्डन के लिए द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग ५, खण्ड २, पृष्ठ ८१५–८१७।

पारिप्लवाख्यान का संक्षिप्त वर्णन शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ऊपर किया गया है। इसकी समीक्षा करने से अनेक वैदिक तथा पौराणिक नूतन उपलब्धियाँ आलोचक को प्राप्त होती हैं जिनका स्वरूप नीचे दिया जाता है –

(क) प्रचलित शौनकशाखीय अथर्व संहिता मे अथर्वण तथा आगिरस मन्त्रो का पृथक्करण नही मिलता, परन्तु शतपथ ब्राह्मण के युग मे ऐसी स्थिति नही थी। दोनो अपने मूल स्वरूप को निर्वाह करते हुए पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले प्रतीत होते हैं। श्रोताओ के वैशिष्ट्य से दोनो के रूप—वैशिष्ट्य का पूर्ण सकेत मिलता है। शोभन युवको के सामने व्याख्यात अथर्वण उदात्त विचारो का—शान्तिक, पौष्टिक, आयुष्य आदि आदि का—प्रतिपादक वेद था। शोभन युवतियो के सामने व्याख्यात अगिरस वेद अभिचार से सम्बन्ध रखता था क्योकि परिणीता या अपरिणीता युवतियो को ही अपने पति के प्रेम निर्बाध बनाये रखने के निमित्त 'मोहन' विद्या की आवश्यकता होती है और यह 'मोहन' अभिचार का एक प्रधान अग होता है। इस अनुमान से अगिरस मन्त्रो का उपयोग 'अभिचार' कर्म मे सहज ही उन्नेय है।

(ख) पारिप्लवाख्यान मे अथर्ववेद का प्रामुख्य होता है, यह नवीन तथ्य भी प्रमाणविहीन नही है। पारिप्लव की दश रात्रियो मे प्रथम, द्वितीय तथा दशम क्रमशः ऋक्, यजु तथा साम के निमित्त निर्धारित हैं। शेष सात रात्रियो का सम्बन्ध अथर्ववेद से हैं। अथर्वाङ्गिरस को दो रात्रियो मे विभक्त किया गया है। शेष पाच रात्रियो मे सर्पवेद, पिशाच (देवजन या भूतविद्या) वेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराण-वेद का इसी क्रम से प्रवचन होता है। ध्यातव्य है कि अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण ने ही केवल इन पाचो वेदो का इसी क्रम से उल्लेख किया है जिस क्रम से शतपथ को इनका प्रवचन मान्य है। फलतः ये पाँचो प्रवचन के शास्त्र अथर्ववेद से सम्बन्ध रखते हैं। इतिहास-पुराण का उदय अथर्ववेदीय परम्परा में हुआ था, इस पूर्व निर्णय की पर्याप्त सपुष्टि इस तर्क से होती है।

(ग) गोपथ ने इन्हे 'वेद' की उदात्त सज्ञा से सयुक्त अवश्य किया है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि ये वेदत्रयी की अर्घ्यार्हतता को पाने के कभी भी अधिकारी नही हो सकते। 'वेद' का अर्थ यहाँ ज्ञान सामान्य है, विद्या-विशेष। ऋग्वेदादि के सदृश मन्त्रो से इन्हे सवलित मानना शोभन नही प्रतीत होता।

(घ) ये पाचो 'जनता के वेद' हैं—इसे मानने मे तनिक भी संशय नही होना चाहिए। इन वेदो के प्रवचन के श्रोताओ का वैशिष्ट्य इस तर्क मे निःसन्देह प्रमाणभूत माना जा सकता है। पञ्चम रात्रि मे सर्पविद्या के प्रवचन के श्रोता विषयानुरूप सर्पविद (सर्पविद्या के ज्ञाता, आजकल के सपेरा) हैं।

षष्ठ रात्रि मे देवजन (भूत) विद्या के श्रोता ग्रामीण गोपाल आदि बासुरी या वीन बजाने वाले व्यक्ति हैं। सप्तम रात्रि मे असुरविद्या के श्रोता रुपैया कर्ज देकर सूद या ब्याज उठाने वाले महाजन हैं। महाजनों से माया या धोखाधड़ी का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतएव उस विद्या के प्रवचन के वे ही सुयोग्य श्रोता हैं। अष्टम रात्रि मे इतिहास के श्रोता हैं मछली मारने वाले (आजकल के मछुआ, मत्स्यजीवी) व्यक्ति। नवम रात्रि मे पुराण का व्याख्यान होता है जिसके श्रोता हैं पक्षिविद्या के जानने वाले व्यक्ति। फलत. इतिहास-पुराण का यह विवरण इस तथ्य का विशद प्रतिपादक है कि इतिहास तथा पुराण का सम्बन्ध भारतीय समाज के निम्न वर्ग के लोगो के साथ उस आरम्भिक युग में था। सामान्य जन ही इसके आख्यानो को सुनते थे और सम्भवत. मनोरंजन का साधन उसमे विशेषरूप से था।

(ड) इतिहास-पुराण अपने आरम्भिक जीवन मे केवल विद्याविशेष थे। इनके कोई विशिष्ट ग्रन्थ न थे। ये मौखिकरूप से ही जनता मे प्रचलित थे। आज भी जनसामान्य मे बहुत सी कहानियाँ या आख्यान ऐसे हैं जिनके रचयिता का न तो पता है, और न जो किसी ग्रन्थ मे ही बद्ध हैं। वे परम्परा के रूप मे एक वक्ता के मुख से दूसरे वक्ता के पास पहुँचते हैं और उनका मनोरजन तथा उपदेश किया करते हैं। मेरी दृष्टि मे उस आरम्भिक युग मे इतिहास पुराण की भी यही स्थिति थी। जिन शास्त्रों का ग्रन्थरूप म प्रणयन हो गया था, उनके खण्डो की सूचना ऊपर स्पष्टत दी गई है। ऋक् के सूक्त, यजुष् के अनुवाक, साम के दशत, अथर्वाङ्गिरस के पर्व इसीलिए निर्दिष्ट हैं कि इन वेदो का निबन्धन ग्रन्थरूप म हो गया था। किन्तु पुराण और इतिहास के सम्बन्ध मे इस प्रकार ग्रन्थीय विभाजन का सकेत नहीं है। इसीसे ऊपर वाला तथ्य सिद्ध होता है।

(च) इससे सुस्पष्ट है कि आरम्भ में पुराण कोई अभ्यर्हित शास्त्र न था। आजकल उसमें कुछ पूज्यता तो अवश्य आ गई है। मन्दिरो में पुराण के प्रवचन का सकेत तो सप्तम शती में बाणभट्ट के समय में ही प्राप्त होता है, परन्तु वेदपाठ के समान उसमें वैशिष्ट्य नहीं है। मध्याह्न से पूर्व, भोजन करने से पहिले, वेद के प्रवचन का विधान स्पष्टत उसके अभ्यर्हितत्व का पूर्ण परिचायक है। पुराण के श्रवण का समय मध्याह्नोत्तर है—भोजन तथा शयन से निवृत्त होने के बाद राजा या राजपुत्र नियमितरूप से पौराणिक के मुख से इसका प्रवचन सुना करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की यह व्यवस्था इसकी उपयोगिता अवश्य प्रदर्शित करती है, परन्तु इसकी अभ्यर्हितता नहीं।

सूत की समस्या

पुराण के प्रवचन करने का काम 'सूत' का ही था। महाभारत तथा पुराण म सूत प्रवक्ता के रूप में चित्रित किये गये हैं जिनके पास जाकर ऋषियो ने

पौराणिक विषयो की जिज्ञासा की और जिन्होने उनके प्रश्नो या समाधान सन्तोषजनक रूप से दिया। इस विषय मे ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ दो प्रकार के सूतो का कार्य तथा क्षेत्र का मिश्रण हो गया है। 'सूत' वास्तव मे प्राचीन भारत मे एक प्रतिलोमज जाति भी थी। मनुस्मृति (१०।१७) के आधार पर 'सूत' क्षत्रिय पिता से ब्राह्मणी मे प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति था (क्षत्रियात् सूत एव तु)। यह प्रतिलोम जाति का निर्देश गोतम धर्मसूत्र मे मिलता है जो पर्याप्त प्राचीन धर्मसूत्र माना जाता है। इससे भिन्न 'सूत' शब्द का प्रयोग रथ हांकने वाले के लिए भी होता है। इसी सूत के इतर कार्यों मे पुराण का प्रवचन भी मुख्य व्यापार था। 'सूत' का इतिहास-पुराण के प्रवचन से सम्बन्ध की युक्तिमत्ता स्वतः सिद्ध है। इतिहास-पुराण के श्रोतागण भारतीय समाज के निम्न स्तर के प्राणी होते थे और उसके वक्ता का भी उसी सामाजिक स्तर से सम्बद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नही है। सूत को वायुपुराण ने राजाओ के वशो का ज्ञाता बतलाया है (१।३२) फलत. सूत के द्वारा प्रवर्तित पुराण मे वंश तथा वंशानुचरित का होना स्वत अनुमेय है। इन्ही विषयो का वर्णन सूत अपने श्रोताओ के आगे किया करता था जो शतपथ ब्राह्मण के प्रामाण्य पर निम्न श्रेणी के ही जीव थे। उस आरम्भिक युग मे वेदज्ञ ब्राह्मणो का सम्बन्ध पुराण के वाचन तथा श्रवण से कथमपि सिद्ध नही होता।

व्यासदेव के शिष्य लोमहर्षण या रोमहर्षण निःसन्देह ब्राह्मण थे। उनके इस नामकरण का कारण यह था कि अपने पौराणिक प्रवचनो के द्वारा वे श्रोताओ को आनन्दित किया करते थे जिससे उनके रोंगटे खडे हो जाते थे। इस नाम का एक दूसरी भी व्याख्या है—व्यासजी के पौराणिक प्रवचनो को श्रवण कर इनके लोम हर्षित हो गये थे। व्युत्पत्ति मे मतभेद भले ही हो, परन्तु लोमहर्षण का ब्राह्मण होना मतभेद से पृथक् सत्य है। नैमिषारण्य में एकत्र हुए अट्ठासी हजार ऋषियो की जिज्ञासा की पूर्ति करने वाले पुराणवाचक उच्चकुल के ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण थे। पुराण के प्रवचन करने के हेतु ही वे लक्षणया 'सूत' कहलाते थे। परन्तु 'सूत' नाम से अभिहित होने से उनके आभिजात्य पर आघात पहुँचता था। इसलिए उनकी उत्पत्ति की विचित्र कथा पुराणों मे गढ़ी गई प्रतीत होती है। 'सूत' का पद ब्राह्मण तथा क्षत्रिय से ऊपर ही माना जाता था। वे एक दिव्य लोक के जीव माने जाते थे। यह घटना कौटिल्य से पहिले ही सिद्ध तथा प्रमाणभूत मानी जा चुकी थी। अर्थशास्त्र मे संकर जातियो के विषय मे कौटिल्य ने जो लिखा है उससे यह तथ्य निकाला जा सकता है। उनका कथन इस प्रकार है—

मजोऽपि धन्योऽस्मि यन्मा पृच्छथ सत्तमा' (२।५)। इन वाक्यो का एक रहस्य है। पृथु के यज्ञ मे बृहस्पति द्वारा विहित आहुति इन्द्र की आहुति से अभिभूत हो गई थी। तब लोमहर्षण का जन्म हुआ। बृहस्पति यज्ञीय परिभाषा मे ब्राह्मण ठहरे तथा इन्द्र क्षत्रिय ठहरे। इसी कारण उन्हे 'प्रतिलोमज' कहा गया है। वे 'योनिज' तो थे ही नही, पर उपचार से इस नाम से अभिहित किये गये हैं।

तथ्य यह है कि लोमहर्षण को व्यास जी ने इतिहास-पुराण का अध्ययन कराया था और इनके प्रचार का कार्य उन्ही को सुपुर्द किया था। वे ज्ञानी महाविद्वान् ब्राह्मण थे। पौराणिक ब्राह्मण ही होता है। इस विषय मे प्राचीन सिद्धान्त स्पष्ट हैं। अग्निपुराण का कथन है—

पृषदाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः।
वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालानलधर्मवित्॥

जब 'सूत' जी उच्चकोटि के विद्वान् ब्राह्मण ठहरते है, तब अब्राह्मणोंके द्वारा पुराणो का प्रचार क्षत्रियपरम्परा की ब्राह्मण-परम्परा से भिन्नता, पुराणो का वेद से विरोध—आदि बातें बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाती हैं।

पुराण संहिता का निर्माण—

पुराण की उत्पत्ति के विषय मे पुराणो मे प्राय एक समान ही मत पाये जाते हैं। ब्रह्मा के मुख से उसके उदय के विषय मे तो किसी प्रकार की विप्रपत्ति नही है। विभिन्नता का कारण है यह निर्धारण कि यह उत्पत्ति वेद की उत्पत्ति से प्राक्कालीन है या पश्चात्कालीन। मत्स्यपुराण (अ० ५३, श्लो० ३) के अनुसार सब शास्त्रो मे 'पुराण' की ही रचना ब्रह्मदेव ने सबसे पहिले की और इसके बाद उनके मुख से सब वेद विनिर्गत हुए—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा कृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

वेद से प्राक्कालीन निर्माण का यह सिद्धान्त मत्स्य की अपनी विशिष्ट कल्पना है। श्रीमद्भागवत पुराण की उत्पत्ति वेद से पश्चात्कालीन मानता है, परन्तु एक अन्तर के साथ। ऋग्वेदादि का उदय तो ब्रह्मा के पूर्व मुख से आरम्भ कर क्रमशः हुआ, परन्तु पुराण की उत्पत्ति चारो मुखो से एककाल मे ही सपन्न हुई। भागवत का कथन पुराण का वेद से आधिक्य सिद्ध करता है, परन्तु उत्पत्ति को पश्चात्कालीन ही मानता है'—

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः॥
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्॥ ३७॥

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥ ३९॥
—भाग० ३।१२

पुराण का यह उदय 'विद्या' के रूप में समझना चाहिए। यह अव्यवस्थित रूप से था और इसका प्रवचन किसी ग्रन्थ से नहीं किया जाता था, अपि तु मौखिकरूप से ही। इस तथ्य को हम ऊपर सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं।

पुराण के विकास में एक नवीन युग आरम्भ होता है जब व्यास जी ने 'पुराण-संहिता' का प्रणयन कर पुराण को सुव्यवस्थितरूप में प्रतिष्ठित किया। 'पुराण-संहिता' के रूप के विषय में आगे कहा गया है। यहाँ इतनी बात जाननी चाहिए कि पुराणविषयक अव्यवस्था का अवसान 'पुराणसंहिता' के निर्माण से निश्चितरूप में हो गया। मौलिकरूप में विचरणशील शास्त्र अब लोगों की जिह्वा से नीचे उतर कर वर्णमय विग्रह में अपने को पाकर एकसाथ उल्लसित तथा प्रफुल्ल हो उठा। इसी सुव्यवस्थित काल का परिचय दिया जाता है।

पुराण-संहिता का प्रणयन व्यास के प्रयास का फल है। पुराणों का इस विषय में सामान्य मत है कि व्यास जी ने ही पुराण संहिता का स्वयं प्रणयन-कर लोमहर्षण सूत को उसे पढ़ाया और उसके प्रचार का साधन उन्हीं को बनाया। यह कार्य उसी समय हुआ जब उन्होंने एक वेद का यज्ञ कर्म के निष्पादन के निमित्त चार संहिताओं में विभाजन किया और चार विशिष्ट शिष्यों को इनका अध्यापन कराकर इनके प्रचार का कार्य निर्दिष्ट किया। लोम-हर्षण ने भी एक अपनी पुराण-संहिता बनाई जो व्यास की पुराण-संहिता पर आधारित थी और इस संहिता को छ शिष्यों को पढ़ाया। इन शिष्यों के नाम के वायुपुराण वाले (अ० ६१।५५।५६) निर्देश को सबसे प्राचीन मानना चाहिए। इसका कारण इन नामों की वैदिक अभिधानों के साथ नितान्त साम्य है। ऋषियों के व्यक्तिगत नाम के साथ गोत्रज नाम का उल्लेख वैदिक परम्परा की विशिष्टता है। वह परम्परा वायुपुराण के उल्लेख में पूर्णरूपेण निर्वाह पा रही है। वायुपुराण में इन शिष्यों के नाम दो प्रकार से हैं—एक तो है वैयक्तिक नाम और दूसरा है गोत्रज नाम। लोमहर्षण के इन छ शिष्यों के नाम ये हैं—

(१) सुमति आत्रेय;
(२) अकृतव्रण काश्यप,
(३) अग्निवर्चा भारद्वाज;
(४) मित्रायु वाशिष्ठ;
(५) सोमदत्ति सावर्णि;
(६) सुशर्मा शांशपायन।

ये नाम प्राचीन पद्धति से वायु में (६१।५५-५६) व्यवस्थितरूप से दिये गये हैं। विष्णु (३।६।१८-१९) में भी नाम तो ये ही हैं, परन्तु उतने सुव्यवस्थित नहीं हैं जितने वायु० में। श्रीमद्भागवत (१२।७।५) में इन नामों से कुछ भिन्नता ही नहीं है, अपितु गड़बड़ी भी है[1]—

वायुपुराण के श्लोक नितान्त महत्त्वशाली होने से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

> षट्शः कृत्वा मयाप्युक्तं पुराणमृषिसत्तमाः।
> आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः।
> भारद्वाजोऽग्निवर्चाश्च वासिष्ठो मित्रयुश्च यः॥ ५५॥
> सावर्णिः सौमदत्तिश्च सुशर्मा शांशपायनः।
> एते शिष्या मम ब्रह्मन् पुराणेषु दृढव्रताः॥ ५६॥
>
> —वायु, अ० ६१

इन षट्शिष्यों में से तीन ने अपनी नयी पुराण-संहिता बनाई जिनके नाम हैं—काश्यप, सावर्णि तथा शांशपायन। इन तीन शिष्यों की संहिता अपने गुरु

---

१. भागवत का श्लोक यह है—

> अग्न्यारुणि कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रण
> वैशंपायन-हारीतौ षड् वै पौराणिका इमे॥
>
> (१२।७।५)

यहाँ 'कश्यप' के स्थान पर काश्यप तथा वैशम्पायन के स्थान पर 'शिंशपायन' पाठ होना चाहिए। अग्न्यारुणि तथा हारीत—ये दो नये नाम हैं, परन्तु सबसे बड़ी गड़बड़ी यह है कि 'काश्यप' अकृतव्रण' एक ही व्यक्ति का नाम है—दो व्यक्तियों का यहाँ संकेत नहीं। ऐसी दशा में 'षड् पौराणिका इमे' की संगति क्योंकर बैठ सकेगी? पांच ही व्यक्ति हुए, छ नहीं। मेरी दृष्टि में मूल प्राचीन परम्परा से भागवत अवगत नहीं है और यह तथ्य भी इसे वायु तथा विष्णु दोनों से पश्चात्कालीन सिद्ध करने में सहायक हेतु माना जा सकता है। इसी अध्याय के ७ वें श्लोक में भी यही गड़बड़ी फिर दुहराई गई है। इसमें पाठों की अशुद्धि है।

> 'सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायु शांशपायन
> अकृतव्रण-सावर्णी षट्शिष्यास्तस्य चाभवन्।
>
> —विष्णु ३।६।१७

इन नामों के व्यवस्था का अभाव है। चार नाम तो वैयक्तिक हैं, परन्तु दो नाम (शांशपायन तथा सावर्णि) गोत्रज हैं।

लोमहर्षण निर्मित संहिता से मिलकर चार संहितायें निष्पन्न हुई। इन चारों मे चार-चार पाद—प्रक्रिया पाद, उपोद्घात पाद, अनुषग पाद तथा उपसंहार पाद थे। सब एक ही अर्थ को कहने वाली थी, केवल पाठान्तर मे ही पार्थक्य था और इस प्रकार इनकी समता वैदिक शाखाओ के साथ की गई है। अर्थात् जिस प्रकार एक ही वेद-संहिता भिन्न भिन्न शाखाओं मे वही रहती है, केवल जहाँ-तहाँ मन्त्रों के पाठ मे वैभिन्य रहता है उसी प्रकार ये पुराण-संहितायें भी मूलत एकार्थवाचक होने पर भी पाठान्तरो से भिन्न थी, अन्यथा उनमे मौलिक कोई पार्थक्य नहीं था। शांशपायनिका को छोडकर अन्य तीन पुराण-संहितायें चार सहस्र श्लोको के परिमाण मे थी। पुराण संहिता के विकाश क्रम के बोधक वायुपुराण के ये श्लोक नीचे उद्‌धृत किये जाते हैं :—

त्रिभिस्तत्र' कृतास्तिस्रः संहिताः पुनरेव हि।
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिः शांशपायनः
सामिका (मामिका) च चतुर्थी स्यात् साचैषा पूर्वसंहिता।
सर्वास्ता हि चतुष्पादा सर्वाश्चैकार्थवाचिका
पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा।
चतुःसाहस्रिका. सर्वाः शांशपायनिकामृते।
लोमहर्षणिका मूलास्ततः काश्यपिका परा
सावर्णिका तृतीया सा यजुर्वाक्यार्थ प(म)ण्डिता.
शांशपायनिका चान्या नोदनार्थ-विभूषिताः।

—वायु०, अ० ६१, ५७-६१

इस प्रसग का तात्पर्य है कि लोमहर्षण की पुराण संहिता मूल-भूता है जिसके आधार पर काश्यप, सावर्णि तथा शांशपायन द्वारा निर्मित पुराण-संहिताओं का निर्माण उन्ही के तीनो शिष्यो ने किया। अन्तिम पद्य मे संहिताओ के विषय विभाजन का जो वर्णन है वह स्पष्ट नहीं है। ऐसी दशा म तीनो संहिताओ के विषय पार्थक्य का निर्देश जो 'पुराणोत्पत्तिप्रसग'। (पृ० १७ तथा पृ०३१) म किया गया है वह अभी मननीय तथा गवेषणीय है। अन्तिम श्लोक का ब्रह्माण्डपुराण का पाठान्तर 'यजुर्वाक्यार्थपण्डिता' के स्थान पर 'ऋजुवाक्यार्थ-मण्डिता' है, जिससे दोनों प्रकार की संहिताओ का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। 'ऋजुवाक्य' का अर्थ है सीधा वाक्य अर्थात् इन तीन संहिताओ मे कथानक का

---

१. द्रष्टव्य 'पुराणोत्पत्ति प्रसग'—रचयिता श्री मधुसूदन ओझा, जयपुर से प्रकाशित, वि० स० २००८।

वर्णन सीधे वाक्यों मे लगातार किया गया था, शांशपायन की संहिता मे प्रश्नोत्तररूप मे कथानक का वर्णन था। नोदनार्थ का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—वेदव्यास के इस शास्त्र के आदि प्रवर्तक शिष्य थे सूत **रोमहर्षण** जिन्हे महामति व्यास ने स्वनिर्मित पुराण-संहिता का अध्ययन कराया। रोमहर्षण के ६ शिष्य हुए—(१) सुमति, (२) अग्निवर्चा, (३) मित्रायु, (४) शांशपायन, (५) अकृतव्रण तथा (६) सावर्णि। इनमे से अंतिम तीन शिष्यो ने अपनी-अपनी संहितायें बनाई जो रोमहर्षण की संहिता से मिल कर इस प्रकार चार पुराण संहितायें निष्पन्न हुई। इस घटना का उल्लेख विष्णु० ३।६।१७-१९ *तथा अग्निपुराण अ० २७१।११-१२ मे किया गया है।* विष्णुपुराण मे (३। ६।१८) निर्दिष्ट संहिताकर्ता 'काश्यप' शब्द से अकृतव्रण का ही संकेत समझना चाहिए। श्रीधरस्वामी ने इस शब्द की व्याख्या मे दोनो की एकता का स्पष्ट निर्देश किया है (अकृतव्रण एव काश्यप। काश्यपोऽकृतव्रण इति वायुनोक्ते—श्रीधरी) विष्णुपुराण के इसी वचन के आधार पर अग्निपुराण (अ० २७१।११ १२) ने इन्ही तीनो शिष्यो को (शांशपायन, अकृतव्रण[1] तथा सावर्णि को) पुराण-संहिताओं का प्रणेता स्पष्ट ही लिखा है (*शांशपायनादयश्चक्रु पुराणाना तु संहिता*। अग्नि २७१।१२) ऐसे स्पष्ट उल्लेख के रहते भी पुराण संहिताकारो के नाम का अनुल्लेख अग्निपुराण मे बतलाना अयुक्त है। काश्यपीय पुराण संहिता का निर्देश चान्द्रव्याकरण मे तथा सरस्वतीकण्ठाभरण की हृदयहारिणी वृत्ति मे भी मिलता है। फलत भोजराज (१२ शती) के समय तक यह पुराण संहिता उपलब्ध थी। विष्णु० इन्ही चारो पुराण-संहिताओ का सार संकलन बतलाया गया है।

पुराण संहिता के रचयिता महर्षि व्यास की पारिवारिक परम्परा इस प्रख्यात पद्य म निर्दिष्ट है—

> **व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।**
> **पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥**

व्यास जी वसिष्ठ के प्रपौत्र, शक्ति के पौत्र, पराशर के पुत्र तथा शुकदेव के

---

[1] अग्निपुराण मे यह नाम 'कृत-व्रत' पठित है जो विष्णु० तथा वायु० के स्वारस्य से अशुद्ध ही है। शुद्ध नाम-अकृतव्रण ही है जो कश्यपगोत्री होने से 'काश्यप' नाम से भी उल्लिखित किये जाते थे।

पिता थे। वशिष्ठजी ब्रह्मा के मानसपुत्र थे। फलत. व्यासजी की पारवारिक परम्परा इस प्रकार है :—

ब्रह्मा
|
वसिष्ठ
|
शक्ति
|
पराशर
|
व्यास (कृष्णद्वैपायन)
|
शुकदेव

यह तो वर्तमानयुगीय व्यास का निर्देश है, परन्तु इनसे पूर्व २७ व्यास हो चुके हैं जिनका निर्देश विष्णुपुराण (३।३।७–१८) तथा देवीभागवत (१।३।२४–३५) मे स्पष्टतया किया गया है। यहाँ विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि **व्यास किसी एक व्यक्ति का अभिधान न होकर एक पदाधिकारी का नाम है**। यह पदाधिकारी प्रत्येक द्वापर युग में उत्पन्न होता है[1] और लोक-मंगल के निमित्त एक वेद का चार वेदों मे तथा एक पुराण का १८ पुराणों में व्यास करता है—विभाजन करता है। वेदों के व्यसन के हेतु ही वह 'वेदव्यास' के नाम से अभिहित होता है और इसी का संक्षिप्त रूप है—व्यास। वेदभेद के कारण के विषय मे विष्णुपुराण का कथन है :—

वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः।

—विष्णु० ३।३।६

द्वापर के आरम्भ मे मनुष्यों का तेज, वीर्य तथा बल कम हो जाता है इस बात का विचार कर सब प्राणियों के हितार्थ व्यासदेव (जो विष्णु के ही

---

१ द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥ —विष्णु० ३।३।५
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया॥ १९॥
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलावथ।
पुराणसंहिता पुण्या कुरुतेऽसौ युगे युगे॥२०॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥ २१॥ —देवीभाग० १।३

अवतार माने जाते हैं) वेदो का व्यास करते हैं। व्यासो की परम्परा इस प्रकार है[1] —

(१) ब्रह्मा, (२) प्रजापति, (३) शुक्राचार्य, (४) बृहस्पति, (५) सूर्य, (६) यम, (७) इन्द्र, (८) वसिष्ठ, (९) सारस्वत, (१०) त्रिधामा, (११) त्रिशिख, (१२) भरद्वाज, (१३) अन्तरिक्ष, (१४) वर्णी, (१५) त्रय्यारुण, (१६) धनञ्जय, (१७) ऋतुञ्जय, (१८) जय, (१९) भरद्वाज, (२०) गोतम, (२१) हर्यात्मा, (२२) वाजश्रवा, (२३) सोमशुष्मायण तृणबिन्दु, (२४) भार्गव ऋक्ष (वाल्मीकि) (२५) शक्ति, (२६) पराशर, (२७) जातुकर्ण तथा (२८) कृष्णद्वैपायन। श्रीकृष्णद्वैपायन तो पराशरात्मज ही माने जाते हैं—पराशर के पुत्र, तब दोनो के बीच मे 'जातुकर्ण' का अस्तित्व एक अलग समस्या खडा करता है जो अपना समाधान चाहती है।

वेदव्यास का चरित लोकविश्रुत है उसे अधिक लिखने की यहाँ आवश्यकता नही। वे निषादराज की पुत्री सत्यवती के गर्भसे पराशर मुनि के वीर्य से उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म हुआ था यमुना के एक द्वीप मे ओर इसीलिए वे 'द्वैपायन' के नाम से प्रख्यात थे। उनका शरीर कृष्णवर्ण का था ओर इसी से वे कृष्ण या कृष्ण मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनो को मिलाने से उनका पूरा नाम कृष्ण-द्वैपायनथा। वेदों के विभाजन करने के कारण वे 'वेदव्यास' पूरे नाम से और अधिकतर 'व्यास' जैसे छोटे नाम से पुकारे जाते थे। उनके अगाध पाण्डित्य तथा अलौकिक प्रतिभा का वर्णन करना सरल कार्य नही है। कौरव पाण्डवो के इतिहास से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध इसलिए है कि वे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर के जन्मदाता ही न थे, प्रत्युत पाण्डवो को विपत्ति के समय सर्वदा धैर्य बँधाते रहे। कौरवो को युद्ध से विरत करने के लिए उन्होने कुछ उठा नही रखा, परन्तु दुर्बुद्ध कौरवो ने उनके उपदेशो को कान नही किया। उन्होने तीन वर्षों तक सन्तत परिश्रम कर महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥
—(आदि० ५६।३२)

---

१ ये नाम विष्णुपुराण के आधार पर दिये गये हैं। देवीभागवत मे भी प्राय ये ही नाम मिलते हैं, परन्तु कहीं-कहीं नामो मे स्वल्प अन्तर भी है। यथा १४ वर्णी के स्थान पर धर्म का, १७ ऋतुञ्जय के स्थान पर मेधातिथि का तथा १८ जय के स्थान पर व्रती का नाम उल्लिखित मिलता है। अन्य पुराणो मे भी पूर्व व्यासों के नाम मिलते हैं। यत्रतत्र पार्थक्य होने पर भी परम्परा की अभिन्नता में सन्देह नही है।

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन साल के ही भीतर रचना करने का कार्य व्यास की अलौकिक कविप्रतिभा और अदम्य उत्साह का सूचक है।

वेदव्यास के साथ उनके तत्त्वज्ञानी पुत्र शुकदेवजी का भी नाम पुराण के प्रचार-प्रसार के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने लायक है। इनके जन्म की कथा भिन्न रूपों में पाई जाती है। महाभारत के शान्तिपर्व (३३१ अ०-३५५ अ०) में इनका आख्यान विस्तार से वर्णित है। अरणिकाष्ठ से व्यासजी के वीर्य द्वारा इनकी उत्पत्ति की चर्चा महाभारत में मिलती है[१] (शान्ति ३२४। ९-१०) और इसी कारण ये आरणेय, अरणीसुत के नाम से प्रसिद्ध हैं। मिथिला के राजा जनक के पास व्यासजी ने इन्हें भेजा, जहाँ इन्होंने राजा जनक से ज्ञान-विज्ञान विषयक प्रश्न पूछे। उचित समाधान पाकर ये पिता के पास लौट आये। श्रीमद्भागवत को राजा परिक्षित को सुना कर उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने से आपकी आध्यात्मिक योग्यता प्रमाणित होती है। भागवत में ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में चित्रित किये गये हैं, परन्तु देवीभागवत (१।१४) के अनुसार व्यास जी ने इन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए महान् उपदेश दिया। तब पिता की आज्ञा का पालन कर इन्होंने गृहस्थाश्रम धारण किया। (कूर्मपुराण)। श्रीमद्भागवत के प्रवर्तक शुक मुनि ही बतलाये गये हैं —

> स्वसुखनिभृतचेतास्तद् व्युदस्तान्यभावोऽ
> प्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
> व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
> तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥
>
> —भाग० १२।१२।६८

यह श्लोक शुकदेव जी के जीवन पर एक सुन्दर आलोचना है। श्री शुकदेव जी महाराज अपने आत्मानन्द में ही निमग्न रहते थे, इस अखण्ड अद्वैत स्थिति से उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर-श्यामसुन्दर की मधुमयी, मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। और उन्होंने जगत् के प्राणियों पर दया करके भगवत्-तत्त्व को प्रकाशित करने वाले इस महापुराण—भागवत का विस्तार किया। उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेव जी के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ।

तथ्य यह है कि पराशर, व्यास और शुकदेव तीन पीढ़ियों में होनेवाले इन मुनियों ने पुराण के प्रणयन तथा प्रचार में अपनी शक्तियाँ लगा दीं।

---

१ द्रष्टव्य देवीभागवत १।१४।६-८

विष्णुपुराण के प्रवचन का श्रेय पराशर जी को है[1]। १८ पुराणों के प्रणयन का गौरव व्यासदेव को है और पुराणमूर्धन्य श्रीमद्भागवत के प्रथम प्रवचन का तथा तद्‌द्वारा इसके सार्वत्रिक प्रचार की उदात्त महिमा श्रीशुकमुनि को प्राप्त है। अत पुराण के ये त्रिमुनि प्रत्येक पुराण पाठक के लिए वन्दनीय और उपास्य है।

पुराण-संहिता

'पुराण-संहिता' के कौन-कौन उपकरण थे जिनका आश्रय ग्रहण कर वेदव्यास ने इस आदिम संहिता का प्रणयन किया था ? इस प्रश्न के उत्तर मे पुराणो मे यह महत्त्वपूर्ण विवरण पाया जाता है —

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥

—विष्णु० ३।६।१५

यह श्लोक ब्रह्माण्ड मे 'कल्पशुद्धिभि' के स्थान पर 'कल्पजोक्तिभि' पाठ के साथ उपलब्ध होता है (२।३४।२१) तथा वायु (६०।२१) में 'कुलकर्मभि' पाठ के साथ उपलब्ध होता है।

विष्णुपुराण के कथन का तात्पर्य है कि पुराण के अर्थ के ज्ञाता वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि (अथवा कल्पजोक्ति) से (अर्थात् इन उपकरणों का आधार ग्रहण कर) 'पुराण-संहिता' की रचना की। इन चारो उपकरणो के रूप समझने की यहाँ आवश्यकता है :—

(१–२) **आख्यान तथा उपाख्यान**—इन शब्दो के अर्थ के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि ये दोनो 'कथानक' के अर्थ को लक्षित करते हैं। परन्तु कैसे कथानक को ? इसी के उत्तर मे वैमत्य है। पूर्वोक्त श्लोक की टीका मे श्रीधरस्वामी ने एक (प्राचीन ?) श्लोक उद्धृत किया है[2] जो

---

१ इति पूर्वं वसिष्ठेन पुलस्त्येन च धीमता ।
यदुक्तं तत् स्मृतिं याति त्वत्प्रश्नादखिलं मम ।
सोऽहं वदाम्यशेषं ते मैत्रेय परिपृच्छते ।
पुराणसंहितां सम्यक् तां निबोध यथातथम् ॥
—पराशर का वचन मैत्रेय के प्रति, विष्णु० १।१।२९ ३०

२ श्रीधरी मे उद्धृत श्लोक इस प्रकार है :—
स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधा ।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते ॥

दोनो के पार्थक्य का निर्देश करता है। आख्यान है स्वय दृष्ट अर्थ का कथन (अर्थात् ऐसे अर्थ का प्रकाशन जिसका साक्षात्कार वक्ता ने स्वय किया है) इसके विपरीत उपाख्यान होता है श्रुत (सुने गये) अर्थ का कथन (अर्थात् वक्ता के द्वारा परम्परया सुने गये, अनुभूत नही, अर्थ का प्रकाशन 'उपाख्यान' शब्द के द्वारा किया जाता है)[1]।

इस विवेचन के अनुसार राम, नचिकेता, ययाति आदि के कथानक, जिनकी परम्परा श्रुत है, रामोपाख्यान, नाचिकेतोपाख्यान, ययात्युपाख्यान के नाम से क्रमश अभिहित किये जाते हैं। परन्तु दोनों के पार्थक्य का अन्य कारण भी कल्पित किया गया है। अन्य विद्वानो की सम्मति मे यह भेद दृष्ट-श्रुत का न होकर महत्-स्वल्प आकार का ही है। आकार मे जो महान् या वृहत् हो, वह तो है आख्यान और अपेक्षाकृत स्वल्प आकार का जो कथानक होता है, वह उपाख्यान के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत मे रामायण है, राम का आख्यान है तथा उसके एकदेश में वर्तमान रहने वाला सुग्रीव का कथानक 'उपाख्यान' के नाम से प्रसिद्ध है। तथ्य यह है कि प्राचीन ग्रन्थो में 'आख्यान' का ही बहुल प्रयोग 'इतिहास' (महाभारत) तथा 'पुराण' के लिए किया गया है। इसकी पुष्टि मे कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं। महाभारत तो साधारणतया 'इतिहास' कहा जाता है। वह स्वयं अपने को 'इतिहास' 'इतिहासोत्तम' कहता है, परन्तु वहीं वह अपने के लिए 'आख्यान' नाम का भी प्रयोग करता है' —

'इतिहास' का प्रयोग—

१—जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा (उद्योग० १३६ १८) जयनामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता (स्वर्गा० ५।५१) इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः (आदि० २।३८५)।

'आख्यान' का प्रयोग—

२—अनाश्रित्येदमाख्यान कथाभुवि न विद्यते (आदि० २।३७) इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते (आदि० २।३८९) ।

---

१. आख्यान शब्द का प्रयोग कात्यायन ने अपने वार्तिक 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' म किया है जिसका उदाहरण भाष्यकार ने 'यावक्रीतिक' तथा 'यायातिक' दिया है। यवक्रीत का आख्यान वनपर्व (अ० १३६–१४० अ०) मे दिया गया है तथा ययाति का आख्यान अपेक्षाकृत अधिक प्रख्यात है और अनेक पुराणो तथा महाभारत मे वर्णित है।

(३) गाथा—प्राचीन साहित्य मे—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा पुराण मे—अनेक प्राचीनपद्य उपलब्ध होते है जिनके कर्ता के नाम का पता नहीं रहता। वह प्राय किसी मान्य महीपति की स्तुति मे लिखी गई रहती हैं और उसके किसी असामान्य शौर्य अथवा दान का माहात्म्य प्रतिपादित करती हैं। ऋग्वेद संहिता मे ऐसी गाथायें 'नाराशसी' के नाम से प्रख्यात हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका (३९ अध्याय) मे ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग मे प्राचीन चक्रवर्ती नरेशों के राज्याभिषेक का तथा उनके द्वारा सम्पादित यागो का विशिष्ट विवरण दिया गया है। वहाँ अनेक प्राचीन गाथायें इस विषय की उद्धृत की गई हैं और इनमे से अनेक गाथायें पुराणो के राजवर्णन म, विशेषत श्रीमद्भागवत के नवम-स्कन्ध मे, उसी रूप म उद्धृत हैं। गृह्यसूत्रों मे भी विवाह के अवसर पर गाथाओ के गायन का निर्देश है। तथ्य यह है कि ये गाथायें लोक म तत्तद् राजाओ के विषय में प्रख्यात थी, लोगो की जिह्वा पर वे वर्तमान थीं। उनके रचयिता का पता किसी को नही है। इन्ही अज्ञातकर्तृक लोकप्रख्यात श्लोको की सज्ञा है—गाथा और इन्ही का आश्रयण वेदव्यास ने पुराण-संहिता के निर्माण के निमित्त किया। ये गाथायें 'श्लोक' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं—तदप्येते श्लोका अभिगीता (ऐत० ब्रा० अ० ३९)

गाथाओ के उदाहरण

दुष्यन्त[1] के पुत्र (दौष्यन्ति) भरत के विषय मे—

हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान्।
मष्णारे भरतोऽददात् शतं बद्वानि सप्त च॥
भरतस्यैष दौष्यन्तेरग्नि साचीगुणे चित।
यस्मिन् सहस्रं ब्राह्मणा बद्वशो गा विभेजिरे॥

पारस्करगृह्यसूत्र मे विवाह के प्रकरण मे वर यह गाथा गाता है—

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति।
मां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रत॥
यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथा गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश॥

पितृ-गाथा—

एष्टव्या बहव पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।

---

१ एतरेय ब्राह्मण के ३९ वें अध्याय मे ५ गाथाओ मे से दो गाथायें ऊपर दी गई हैं। ये पाँचो ही गाथायें कुछ शब्द भेद से भागवत मे भी उद्धृत हैं।
—श्रीमद्भागवत ९।२०।२६-२९।

यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

—वनपर्व ८४।९७

यवक्रीतोपाख्यान की गाथा—

ऋग्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे।
न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथञ्चन।
महिषैर्भेदयामास धनुपाक्षो महीधरान् ॥

—वनपर्व १३५।५५

ययाति ने अपने जीवन का अनुभव इस प्रख्यात गाथा के रूप मे अभिव्यक्त किया था :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते ॥

—वनपर्व

पुराणों में भी ऐसी अनेक गाथायें उपलब्ध हैं जिनमे किसी महान् व्यक्ति का सार्वभौम जीवनदर्शन संक्षेप में ही एक दो श्लोकों मे अभिव्यक्त किया गया है, परन्तु अधिकांश में ये गाथायें भारतीय साहित्य के सुदूर अतीत काल से सम्बद्ध हैं तथा ऐतिहासिक व्यक्ति के दान, महत्त्व, अभिषेक आदि घटनाओं का वर्णन करती हैं। कभी-कभी तो एक ही लघुकाय गाथा के भीतर एक बृहत् इतिहास या आख्यान छिपा रहता है। सचमुच ये प्रवहमान परम्परा की महत्त्वपूर्ण गाथायें इतिहास तथा पुराण दोनों के निर्माण में उपकरण का काम करती हैं।

(४) कल्पशुद्धि—

इस शब्द के तात्पर्य निर्णय मे पर्याप्त मतभेद है। इसके स्थान पर 'कल्पजोक्ति' का अर्थ है भिन्न-भिन्न कल्पों (समयविशेष) में उत्पन्न होने वाले विषयों या पदार्थों का कथन या विवरण। श्रीधर स्वामी ने 'कल्पशुद्धि' का अर्थ श्राद्धकल्प किया है। इधर पण्डितप्रवर मधुसूदन ओझा तथा उनके अनुयायी म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी[1] इस शब्द के भीतर धर्मशास्त्र का समग्र विषय अभीष्ट है—ऐसा मानते हैं। 'कल्प' का तात्पर्य वे एतन्नामक वेदाङ्ग से मानते हैं जिसके भीतर श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्र, सदाचार तथा संस्कार

---

१ द्रष्टव्य पुराणोत्पत्ति प्रसंग पृ० ३१ तथा पुराण पत्रिका (अंग्रेजी) द्वितीय वर्ष पृ० १०९-१११ (जुलाई १९६० ; प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज-न्यास, रामनगर, वाराणसी)

सबका अन्तर्भाव मानते हैं। 'शुद्धि' पद से वे छ प्रकार की शुद्धि (शोधन) मानते हैं—मलशुद्धि स्पर्शशुद्धि अघशुद्धि, एन शुद्धि तथा मन शुद्धि। सम्भव है यह किसी धमशास्त्रीय विषय का सकेत करता हो, परन्तु पुराण इस शब्द के अर्थ के विषय मे मौन ही दीख पडते हैं। अत पुराणकार के तात्पर्य का इदमित्थरूप से प्रतिपादन करना प्रमाण के अभाव मे अशक्य है।

मूल पुराण सहिता का स्वरूप कैसा था? इस समस्या का समाधान अनेक विद्वानो न अपनी दृष्टि से किया है। एक दो प्रकार का निदशन यहा कराया जावेगा। दक्षिण भारत के एक विद्वान् पौराणिक पण्डित नरसिंह स्वामी ने मूल पुराण सहिता के पुन प्रणयन की चेष्टा की है। इसके लिए वे ३० वय व्यापी अपन पौराणिक अध्ययन का सहारा लेते हैं। उनकी पद्धति इस प्रकार है। वे कतिपय पुराणो के तुलनात्मक अध्ययन करने से इस परिणाम पर पहुँचे कि उनमे अनेक श्लोक, कही-कही तो पूरा अध्याय का अध्याय ही पुनरुक्त है। वायु तथा ब्रह्माण्ड मत्स्य तथा हरिवश—इन पुराणो मे ऐसी श्लोको की पुनरुक्ति आपस मे बहुत ही अधिक है। ऐसे सम श्लोको अथवा अध्याया की गम्भीर छानबीन करन के अनन्तर उन्होने इस कल्पना के अनुसार चार पादो मे विभक्त पुराण-सहिता के अध्याय श्लोक तथा विषय की पूरी सूची दी है[1]। इसके तैयार करने मे लेखक का अश्रान्त परिश्रम तथा गम्भीर अध्ययन पूणतया लक्षित होता है। यह पुराणो के अध्ययन तथा गवेषणा का विषय होना चाहिए। मेरी दृष्टि मे इस कल्पना का सबसे बडा दोष यही है कि ये ऐतिहासिक विषया—पच लक्षणो—को ही पुराण सहिता का अविभाज्य विषय मानते हैं। यह कल्पना तो आदरणीय नही हो सकती। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे उद्धृत भविष्य पुराण तथा अन्य पुराणो के वचनो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग मे धर्मशास्त्रीय विषयो का भी समावेश पुराण के भीतर अवश्य था। ऐसे स्पष्ट प्रमाण के रहते मूल पुराणों से इन विषयो को बहिष्कृत करना कथमपि न्याय्य नहीं प्रतीत होता। मल्लिनाथ ने रघुवश के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव सपृक्तौ' की सजीवनी म कहा है—इति वायुपुराणसहितावचनेन पार्वती परमेश्वराम सत्वदद्यानात्। यहाँ वायुपुराण सहिता के नाम से उल्लिखित है। अत वतमान वायुपुराण का मूलभूता पुराण सहिता के साथ सम्बन्ध की कल्पना जैसी लेखक ने की है असम्भव नही प्रतीत होती। इसीलिए अन्य गवषकों ने भी 'वायुपुराण की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता स्वीकार की है। इस बात के मानने म कोई विप्रतिपत्ति नही है परन्तु पुराण सहिता से धर्म-

---

१ द्रष्टव्य जर्नल आफ श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल इस्टीट्यूट भाग ६, सन् १९४८ (तिरुपति से प्रकाशित पृष्ठ ६१ ७० तक।)

शास्त्र से सम्बद्ध विषयो को एकदम निकाल बाहर करना कथमपि उचित नही प्रतीत होता।

आख्यान तथा पुराण

पुराणसहिता के निर्माण के लिए किस प्रकार व्यासदेव ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा तथा कल्पशुद्धि इन चारो का आश्रयण किया था। इसकी विशिष्ट चर्चा ऊपर की गई है। स्कन्दपुराण का एक वचन इस विषय म प्राप्त है जिसके अनुसार पुराण म पञ्चाङ्गो (पञ्चलक्षणो) से अतिरिक्त यावत् विवेच्य विषय हैं वे 'आख्यान के नाम से प्रसिद्ध हैं—

पञ्चाङ्गानि पुराणस्य चाख्यानमितरत् स्मृतम्।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुराण का क्षेत्र व्यापक था जिसके भीतर आख्यान समाविष्ट किया जाता था। फलत अत्यन्त प्राचीन काल म अथवा पुराण की उत्पत्ति के समय हम यथार्थत कह सकते हैं कि आख्यान एक छोटी वस्तु थी जिसका समावश पुराण के भीतर किया जाता था।

मनुस्मृति के समय (द्वितीय शती ईसा पूर्व) म हम पुराण तथा आख्यान दोनो के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप म सकेत पाते हैं। इस युग मे आख्यान पुराण के साथ अलग भी पढा जाता था तथा व्याख्यात होता था। मनुस्मृति (३।२३२) मे श्राद्ध के अवसर पठनीय ग्रन्थो की गणना म वेद, धर्मशास्त्र आख्यान, इतिहास पुराण तथा खिलके नाम मिलते हैं जिन्ह उस अवसर पर सुनाना चाहिए—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च॥

इस श्लोक के भाष्य म मेधातिथि न 'आख्यान के उदाहरण म सौपर्ण तथा मैत्रावरुण का नाम निर्दिष्ट किया है जो निश्चितरूप से वेदो मे लब्ध ख्याति आख्यान थे।

इतिहास पुराण तथा आख्यान की मनुस्मृति मे पृथक् स्थिति का हम अनुमान कर सकते हैं परन्तु यह पार्थक्य मान्य नही था और ये तीनो साहित्य के विभिन्न ग्रन्थ एक ही अभिन्न ग्रन्थ के द्योतक भी प्रचुरतया उपलब्ध होते हैं।

उद्धरण (क ख तथा ग) मे एक ही कथानक आख्यान और इतिहास शब्दो से समानरूपेण अभिहित किया गया है। ये तीनो उद्धरण एक ही पुराण से—पद्मपुराण से—उद्धृत किये गये है।

उद्धरण (घ) मे वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण होने के साथ ही साथ ही इतिहास भी कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि महाभारत ही सामान्यरूप से प्रचलितरूप मे इतिहास नाम भले ही प्रख्यात हो परन्तु पुराण भी इतिहास की आख्या से बहिर्भूत नही थे।

यह है पुराण तथा इतिहास के ऐक्य का दृष्टान्त।

उद्धरण (ङ) मे ब्रह्मपुराण आख्यान की संज्ञा से मण्डित है। इससे स्पष्ट है कि पुराण संहिता के आदिम आरम्भिक युग की मान्यता अब पीछे बिल्कुल बदल गई और ब्रह्मपुराण पुराण नाम से प्रख्यात होने के अतिरिक्त 'आख्यान' भी कहलाता था।

उद्धरण (च) मे महाभारत एक ही स्थल पर समानरूपेण पुराण, इतिहास तथा आख्यान तीनो आख्याओ से मण्डित है।

उद्धरण (छ) मे महाभारत के 'भारताख्यान' के नाम से प्रसिद्ध होने की बात कही गई है।

उद्धरण (ज) मे इसी प्रकार पुराण 'पुराणाख्यान' के नाम से मण्डित है।

उद्धरण (झ) मे पुराण के पाचो अंग (पञ्चलक्षण) आख्यान के नाम से प्रख्यात बतलाये गये हैं।

परिशिष्ट

(क)

पुलस्त्य उवाच

एतदाख्यानकं पूर्वमगस्त्येन महर्षिणा।
रामाय कथितं राजंस्तेन वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥

भीष्म उवाच—

कस्मिन्वंशे समुत्पन्नो राजाऽसौ नृपसत्तमः।
यस्यागस्त्येन गदितश्चेतिहास. पुरातनः॥

—पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ३२।९-१०

(ख)

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुराणं परमं पुण्यं सर्वपापहरं शुभम्॥
कुमारेण च लोकानां नमस्कृत्य पितामहम्।
प्रोक्तं चेदं समाख्यानं देवर्षे ब्रह्मसूनुना॥

—तत्रैव उत्तरखण्ड, २९।१-२

(ग)

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः।
पठन् चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुत.॥
आख्यानमेतत्परमं पवित्रं श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम्॥

—तत्रैव १९३।९०-९१

(घ)

इदं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्।
शृणुयाच्छ्रावयेद्वापि तथाऽध्यापयतेऽपि च॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मतम् ।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना ॥

—वायु १०३ अ ४६, ५१, ब्रह्माण्ड ४।४।४७, ५०

(ट)

इदं य. श्रद्धया नित्यं पुराणं वेदसम्मितम् ।
य. पठेच्छृणुयान्मर्त्यः स याति भुवनं हरेः ॥ २७ ॥
त्रि सन्ध्यं य. पठेद् विद्वाञ्छ्रद्धया सुसमाहितः ।
इदं चरितमाख्यान स सर्वमीप्सितं लभेत् ॥ ३० ॥

—ब्रह्मपु० (आनन्दाश्रम) अ० २४८

(ख)

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराण परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १७ ॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वण ॥ १८ पू० ॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ॥ १९ पू० ॥
संहितां श्रोतुमिच्छामि पुण्यां पापभयापहाम् २१ उ० ॥

—महाभारत, आदिपर्व १।१७ २१

यो[1] विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विज. ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥

—तत्रैव २।३८२

(छ)

यत्तु शौनकसत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत्सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशोवीर्यं महीक्षिताम् ।

—तत्रैव १।३३

(ज)

तमजं विश्वकर्माणं चित्पतिं लोकसाक्षिणम् ।
पुराणाख्यानजिज्ञासुर्व्रजामि शरणं प्रभुम् ॥

—वायु १।६

---

१ तुलना कीजिए—

यो विद्याच्चतुरो वदान् साङ्गोपनिषदो द्विज ।
न चेत् पुराण संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षण ॥

—वायु, १।१।१८०

पुराणाख्यानकं विप्र नानाकल्पसमुद्भवम् ।
नानाकथासमायुक्तमद्भुतं बहुविस्तरम् ॥

—नारदीय, पूर्वार्ध ९२।५

(ङ)

पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ।
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

—मत्स्य ५३।६४

इस परीक्षण से परिणाम निकाला जा सकता है कि किसी प्राचीन युग में पुराण का इतिहास से तथा आख्यान से पार्थक्य और वैशिष्ट्य अवश्य माना जाता था, परन्तु ज्यों ज्यों पुराणों के स्वरूप में अभिवृद्धि होती गई यह पार्थक्य अतीत की वस्तु बन गया। दोनों में किसी प्रकार परिदृश्यमान अन्तर उपलब्ध नहीं रहा। दोनों की विभेदक रेखा क्षीण से क्षीणतर होती चली गई। फल यह हुआ कि इतिहास और पुराण का लक्षण प्रायः एकाकार हो गया। यदि अमरसिंह की दृष्टि में 'इतिहासः पुरावृत्तम्' है (अमरकोष १।५।४) तो नीलकण्ठ की दृष्टि में पुराण भी वही पुरावृत्त है (पुराणं पुरावृत्तम्, महाभारत १।८।१ की नीलकण्ठी)। आज दोनों एक ही वस्तु को लक्ष्य करते हैं—प्राचीन काल की घटित घटना।

— ❧ —

तृतीय परिच्छेद

अष्टादश पुराण

पुराणों के नाम तथा श्लोक-संख्या

पुराणो की सख्या प्राचीन काल से १८ मानी गई है। इन अष्टादश पुराणो का नाम प्राय॰ प्रत्येक पुराण मे उपलब्ध होता है। देवीभागवत (१ स्कन्ध, ३ अ॰, २१ श्लो॰) ने आद्य अक्षर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नाम निर्देश इस लघुकाय अनुष्टुप् मे निबद्ध कर दिया है—

> **मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्**
> **अनापद् लिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥**

(१) मकारादि दो पुराण—मत्स्य तथा मार्कण्डेय,[१] (२) भकारादि दो पुराण—भागवत[२] तथा भविष्य,[३] (३) ब्रत्रयम्—ब्रह्म,[४] ब्रह्म[५]—वैवर्त तथा ब्रह्माण्ड,[७] (४) वचतुष्टयम्—वामन,[८] विष्णु,[९] वायु,[१०] वाराह,[११] (५) अनापन् लिंग कूस्क = अग्नि[१२] नारद,[१३] पद्म,[१४] लिंग,[१५] गरुड,[१६] कूर्म[१७] तथा स्कन्द[१८]।

विष्णुपुराण (३।६।२०–२४) तथा भावगत (१२।१३।३–८) आदि[१] मे इन पुराणो[२] का निर्देश एक विशिष्ट क्रम के अनुसार है और यही क्रम तथा नाम अन्य पुराणो मे भी उपलब्ध होते हैं :—

ब्रह्म,[१] पद्म,[२] विष्णु,[३] शिव,[४] भागवत,[५] नारदीय[६] मार्कण्डेय,[७] अग्नि,[८] भविष्य,[९] ब्रह्मवैवर्त,[१०] लिंग,[११] वराह,[१२] स्कन्द,[१३] वामन,[१४] कूर्म,[१५] मत्स्य,[१६] गरुड[१७] तथा[१८] ब्रह्माण्ड ॥

अष्टादश पुराणो की श्लोक सख्या का निर्देश विभिन्न पुराणो मे उपलब्ध होता है। श्लोक सख्या की तारतम्य परीक्षा के लिए यह निर्देश एकत्र उपस्थित किया जा रहा है —

---

१ *मत्स्यपुराण के ५३ अ॰ मे इन पुराणों के नाम तथा वर्ण्यविषय का* वर्णन सक्षेप मे दिया गया है। सक्षिप्त होने पर भी यह वर्णन बडा प्रामाणिक माना जाता है। नाम तथा सख्या देखिए देवीभागवत (१।३।४–१६)।

२. विष्णुपुराण (३।६।२४) ने इन्ही अष्टादश पुराणो को महापुराण के नाम से भी व्यवहृत किया है। 'उपपुराण' का उल्लेख तथा विशिष्ट नामो का अनुल्लेख यही सिद्ध करता है कि इन पुराणों से पृथक् तथा भिन्न 'उपपुराण' का सामान्य उदय तो हो गया था, परन्तु सम्भवत विशिष्ट उपपुराणो की रचना नही हुई थी।

	भागवत (१२।१३)	देवीभागवत (१।३)	अग्निपुराण (अ० २७२)	मत्स्य (अ० ५३)
ब्रह्म०	१० हजार	१० हजार	२५ हजार	१३ हजार
पद्म	५५ हजार	५५ हजार		५५ „
विष्णु	२३ हजार	२३ हजार	२३ हजार	२३ „
शिव	२४ हजार	२४ हजार ६ सौ (वायु)	१४ हजार (वायु)	२४ हजार (वायु)
भागवत	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार	१८ „
नारद	२५ हजार	२५ हजार	२५ हजार	२५ „
मार्कण्डेय	९ हजार	९ हजार	९ हजार	९ „
अग्नि	१५ हजार ४ सौ	१६ हजार	१२ हजार	१६ „
भविष्य	१४ हजार ५ सौ	१४ हजार ५ सौ	१४ हजार	१४ „ ५ सौ
ब्रह्मवैवर्त	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार	१८ हजार
लिंग	११ हजार	११ हजार	११ हजार	११ „
वराह	२४ हजार	२४ हजार	१४ हजार	२४ „
स्कन्द०	८१ हजार १ सौ	८१ हजार	८४ हजार	८१ „
वामन	१० हजार	१० हजार	१० हजार	१० „
कूर्म	१७ हजार	१७ हजार	८ हजार	१८ हजार
मत्स्य	१४ हजार	१४ हजार	१३ हजार	१४ „
गरुड	१९ हजार	१९ हजार	८ हजार	१९ „
ब्रह्माण्ड	१२ हजार	१२ हजार १ सौ	१२ हजार	१२ ह० २ सौ०
	४ लाख			

श्लोक-सख्या की चार सूचियों का यह परीक्षण अनेक वैभिन्य उपस्थित करता है। ब्रह्मपुराण मे नारदीय (९२।३१) तथा भागवत के अनुसार १० हजार श्लोक हैं, परन्तु अग्नि० के अनुसार २५ हजार। विष्णुपुराण की श्लोक-सख्या ६ हजार से लेकर २४ हजार तक मानी गई है। वायुपुराण की श्लोक-सख्या तो साधारणत २४ हजार मानी जाती है, परन्तु देवीभागवत ने इससे ६ सौ श्लोक अधिक माना है, अग्निपुराण में केवल १४ हजार, परन्तु स्वय ग्रन्थ के भीतर केवल १२ हजार। उपलब्ध वायुपुराण में १० हजार से कुछ ही अधिक श्लोको की उपलब्धि मूल द्वादश सहस्रो के पास चली जाती है। मार्कण्डेय की श्लोक सख्या ९ हजार सर्वत्र है, परन्तु स्वय मार्कण्डय के ही आधार पर वह सख्या ६ हजार ९ सौ ही केवल है। (मार्क० १३४।३९)। अग्निपुराण में इसी प्रकार विभिन्नता मिलती है श्लोकों की सख्या के विषय में। मत्स्य के अनुसार १६ हजार, भागवत के मत में इससे छ सौ कम, परन्तु स्वय अग्नि के अनुसार केवल १२ हजार और आजकल उपलब्ध सख्या केवल इतनी ही है। स्कन्द की श्लोक-सख्या ८१ हजार है, परन्तु अग्नि ने इसमें तीन हजार और जोड कर इसे ८४ हजार बना दिया है। इसके ऊपर आगे विवेचन किया जायेगा। कूर्म की श्लोक-सख्या की विषमता पर आगे विचार किया गया है। गरुडपुराण की भी दशा ऐसी ही है—भागवत तथा देवीभागवत के अनुसार १९ हजार, मत्स्य के अनुसार १८ हजार, परन्तु अग्नि के अनुसार केवल ८ हजार। इस प्रकार इन पुराणस्थ श्लोक-सख्या में पर्याप्त भिन्नता है।

इस सूची की तुलना करने पर अग्निपुराण का सूचना अनेक पुराणों के विषय म सबसे विचित्र है। उसे छोड देने पर भागवत, मत्स्य आदि के वर्णन के समानता है। समग्र पुराणो की श्लोकसख्या गिनाने पर ४ लाख से कई हजार ऊपर ठहरती है, परन्तु सामान्य रूप से चार लाख श्लोको की सख्या पुराणस्थ श्लोको की मानी जाती है।[1] इस सूची म प्रदत्त श्लोक सख्या को प्रचलित पुराणो के श्लोको से मिलाने पर वह परिमाण मे बहुत न्यून ठहरती है। इस तथ्य की

---

१ व्यासरूपमह कृत्वा सहरामि युग युग।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाशते।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम्॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं सक्षेपेण निवेदितम्॥

पद्मपुराण (भाग ५, १।४५–५२) म मत्स्य के ये पद्य इसी रूप मे मिलते हैं।
एव पुराण-सन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृत।
—भाग० १२।१३।

और पुराणो के कतिपय मान्य व्याख्याकारों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ था जिन्होने अपनी टीकाओ मे इस वैषम्य का निर्देश भली भांति किया है। उदाहरण के तौर पर कतिपय पुराणो की श्लोक-सख्या के वैषम्य की चर्चा यहाँ की जायेगी। ब्रह्मपुराण मे नारदीय के अनुसार १० सहस्र तथा अग्नि-पुराण के अनुसार २५ सहस्र श्लोक है, परन्तु आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि मे मुद्रित ब्रह्मपुराण मे लगभग १४ सहस्र (निश्चित सख्या १३,७,८३ श्लोक) श्लोक मिलते हैं। विष्णुपुराण की श्लोकसंख्या मे तो बडा ही तीव्र वैषम्य लक्षित होता है। इस पुराण के विष्णुचित्ति तथा वैष्णवाकूतचन्द्रिका (रत्न गर्भभट्ट) नामक व्याख्याओ के अनुसार विष्णुपुराण की श्लोक सख्या ६, ८, ९, १०, २२ तथा २३ से लेकर २४ हजार तक वदलती रही, परन्तु इन दोनो टीकाओ ने तथा श्रीधरस्वामी ने भी ६ हजार श्लोक वाले पाठ पर ही अपनी व्याख्यायें लिखी हैं। बल्लालसेन का **'दान सागर'** तेईस सहस्र वाले विष्णु के पाठ का उल्लेख करता है। अब प्रश्न यह है कि इतना वैषम्य क्यो? कुछ आलोचको का कथन है कि 'विष्णुधर्मोत्तर' विष्णु पुराण का ही परिशिष्ट माना जाता था और उसकी श्लोक सख्या सम्मिलित करने पर विष्णु की चतुर्विंशति साहस्री सख्या की पूर्ति हो जाती है। नारदीय पुराण ने विष्णुधर्मोत्तरको विष्णु पुराण का परिशिष्ट ही मानकर एक साथ विषय-निर्देश किया है। परन्तु आधुनिक विद्वानो की आलोचना 'विष्णु धर्मोत्तर' को उपपुराण मानने के ही पक्ष मे है। ऐसी दशा मे दोनो का सम्मिलन क्यो कर माना जा सकता है? श्लोक-सख्या के आधिक्य के भी दृष्टान्त उपस्थित है। स्कन्दपुराण अपने दोनो विभाजनो मे ८१ सहस्र श्लोको वाला माना गया है, परन्तु वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से मुद्रित सस्करण मे इससे कई हजार अधिक श्लोक मिलते हैं। इसके विषय मे भविष्यपुराण एक विचित्र तथ्य को प्रकट करता है। उसका कथन है कि समस्त पुराण मूलत १२ हजार श्लोको मे थे, परन्तु कालान्तर मे नवीन विषयो का सन्निवेश तथा सम्मिश्रण करने से यह सख्या अधिक बढ गई है जिससे स्कन्द पुराण तो एक लाख श्लोको से युक्त है तथा भविष्य पुराण पचास हजार श्लोको से। परन्तु यह कथन भी प्रामाणिक नही माना जा सकता, क्योंकि श्रीमद्भागवत की रचना में एक-रूपता का सर्वत्र समर्थन होता है। उसमे क्षेपक की कल्पना नितान्त अनुचित है। फलतः उसका मूलरूप ही १८ हजार श्लोको का था। ऐसी दशा मे भविष्य के पूर्वोक्त कथन में हम कथमपि श्रद्धा नही धारण कर सकते।

कहीं कहीं मूल पुराण के समग्र अंशों की अनुपलब्धि श्लोक-सख्या के ह्रास का कारण मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ कूर्म में मूलत चार सहितायें

वर्तमान थीं[1] ब्राह्मी, भागवती, सौरी तथा वैष्णवी। इनमें से केवल प्रथम संहिता (ब्राह्मी) ही उपलब्ध है जिसमें कूर्म के अनुसार ही (१।२३) छ हजार श्लोक हैं।[1] कूर्म में श्लोकों की संख्या १७ हजार भागवत तथा देवीभागवत के अनुसार तथा ८ हजार अग्नि पुराण के अनुसार मानी जाती है। १७ या १८ हजार श्लोक चारों संहिताओं के श्लोकों की सम्मिलित संख्या प्रतीत होती है। अग्नि की ८ हजार श्लोकसंख्या किसी एक या दो संहिताओं के योग का फल है। परन्तु आज उपलब्ध कूर्म-पुराण में केवल ६ हजार श्लोक मिलते हैं जो केवल ब्राह्मी संहिता की उपलब्धि से अनुचित नहीं हैं।

प्राचीन निबन्धकारों ने अपनी दृष्टि के अनुसार इस वैषम्य को सुलझाने का प्रयास किया है। मित्र मिश्र ने अपने 'परिभाषा प्रकाश' में इस विषय में जो लिखा है वह हमारे निबन्धकारों के दृष्टिकोण को समझाने के लिए आदर्श माना जा सकता है।[2]

ऊपर की सूची में पुराणों का जो क्रम दिया गया है वह सर्वत्र मान्य नहीं है। अनेक पुराण ब्राह्म को ही आदि पुराण मानते हैं और पूर्वोक्त सूची का अक्षरशः अनुवर्तन करते हैं। ब्राह्म पुराण तो अपने को आदि पुराण मानता है, विष्णु पुराण भी उसी का समर्थन करता है।[3] श्रीमद्भागवत आदि अनेक पुराण

---

१. ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः ॥
इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैस्तु संमिता।
भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया ॥

—कूर्म, १ अ०, श्लोक- २२–२३।

२. मत्स्य-पुराणे तु भागवतीयगणनातः पट्शत्यार्ग्निपुराणं, द्विशत्या च ब्रह्माण्डपुराणमधिकमुक्त्वा अन्ते चतुर्लक्षमित्युपसंहृतम्, तदद्दूरविप्रकर्षेण। भवन्ति ईदृशा अपि वादा यत् किञ्चिन्न्यूनाधिकं शतं लब्ध्वा शतं मया लब्धमिति। एवं भागवतीयमपि चतुर्लक्षवचनं व्याख्येयम्। यापि विष्णुपुराणे ब्रह्माण्डमादाय वायवीयत्यागेन, या च ब्रह्मवैवर्ते वायवीयमुपादाय ब्रह्माण्डपुराणपरित्यागेन अष्टादशसंख्योक्ता, सा कल्पभेदेन व्यवस्थापनीया।

—परिभाषा प्रकाश पृ. १२-१३ (चौखम्भा सं, काशी)

३. तेऽपि श्रुत्वा मुनिश्रेष्ठाः पुराणं वेदसंमितम्।
आद्यं ब्राह्माभिधानं च सर्ववाञ्छाफलप्रदम् ॥ —ब्राह्म २४५।४
आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते

—विष्णु ३।६।२०

इसी मत के समर्थक है। केवल वायु० (१०४।३) तथा देवी भागवत (१।३।३) प्रथम पुराण होने का श्रेय मत्स्य पुराण को प्रदान करते हैं। वामन पुराण भी मत्स्य को ही पुराणो मे मुख्य बतलाता है[1]। विपरीत इसके स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड २।८-९) मे ब्रह्माण्ड आदि-पुराण माना गया है। परन्तु ये सब उत्सर्ग हैं, विधि नही। अष्टादश पुराणो का वही क्रम प्राय अधिकाश पुराणो मे माना जाता है जो हमने ऊपर की सूची मे दिया है। इस विशिष्ट क्रम का सम्भाव्यमान तात्पर्य आगे प्रदर्शित किया जायगा। इन पुराणो के विषयो की की सूची अनेक पुराणो मे सक्षेप तथा विस्तार से दी गई है। सक्षेप मे यह सूची मत्स्य (अध्याय ५३) अग्नि (अध्याय २७२) तथा स्कन्द (प्रभास खण्ड २।२८-७६) मे उपलब्ध है। परन्तु नारदपुराण मे यह विषय सूची बड़े विस्तार से १८ अध्यायो मे दी गई है (पूर्वार्ध ९२ अध्याय—पूर्वार्ध १०९ अ० तक)

इस सूची के कालक्रम का निर्देश यथार्थत करना कठिन है परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि मत्स्यपुराण के श्लोको (अ० ५३, श्लो० ३-४ और श्लो० ११-५७) को अपरार्कने याज्ञवल्क्यस्मृति की अपनी विस्तृत व्याख्या मे (समय ११००-११२० ई० लगभग) तथा बल्लालसेन ने अपने दान सागर मे (जिसका रचना काल ११३९ ईसवी है) उद्धृत किया है। फलत मत्स्य के इन श्लोको की रचना एकादश शती से प्राक्वर्ती होनी चाहिए। अपनी यथार्थता तथा प्रामाणिकता के लिए नारद की यह पुराण विषय-सूची विशेष परीक्षण की अपेक्षा रखती है। एक बात ध्यान देने की है। इस सूची मे स्वय नारद पुराण के विषयो की भी सूची दी गई है। इससे कुछ लोग इसे सदेह की दृष्टि से देखते हैं और मूल नारद मे इसे अवान्तर प्रक्षेप मानते हैं। जो कुछ भी हो, अलबरूनी ने अपने समय मे उपलब्ध तथा प्रचलित पुराणो का जो विवरण दिया है अपने भारत विषयक ग्रथ म (रचनाकाल १०६९) वह इन सूचियो मे दी गई सूची से बहुत भिन्न नहीं हैं। प्रक्षेप मिलान पर कोई दण्ड नही। वह आज भी मिलाया जा सकता है। परन्तु मेरी ऐसी धारणा है कि दशम शती तक सब पुराण अपने वर्तमान रूप मे आ गये थे। नारद पुराण वाली यह विषयसूची इसी अन्तिम विकसित आकार से सम्बन्ध रखती है ऐसा मानना कथमपि अनुपयुक्त नही माना जा सकता।

---

१ मुख्य पुराणेषु यथैव मात्स्य
स्वायम्भवोक्तिस्त्वथ सहितासु।
मनु स्मृतीना प्रवरो यथैव
तिथीनु दर्शो विबुधेषु वासव ॥ —वामन १२।४८

(क) पुराण के अष्टादश होने का तात्पर्य

संस्कृत साहित्य में १८ संख्या बड़ी पवित्र, व्यापक और गौरवशाली मानी जाती है। महाभारत के पर्वों की संख्या १८ है, श्रीमद्भगवद्गीता के अध्यायों की संख्या १८ है तथा श्रीमद् भागवत के श्लोकों की संख्या १८ हजार है। इसी प्रकार पुराणों की संख्या भी सर्वसम्मति से १८ ही है। विद्वानों की मान्यता है कि यह पुराणसंख्या निर्हेतुक न होकर सहेतुक है— साभिप्राय है और इस अभिप्राय के दिखलाने के लिए पण्डितप्रवर मधुसूदन ओझा ने अपने पुराण विषयक ग्रन्थों में अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। उन्हीं का यहाँ संक्षेप में उपन्यास किया गया है।

विद्वानों का आग्रह है कि पंच—लक्षण पुराण में सर्ग-सृष्टि का विषय ही प्रमुख है और इसी विषय के विकास और व्यापकता दिखलाने के लिए उसमें इतर चार लक्षण—मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित तथा प्रतिसर्ग भी समाविष्ट किये गये हैं। पुराणों की अष्टादश संख्या भी इस सृष्टितत्त्व से सम्बन्ध रखती है और यही कारण है कि सर्वत्र यह संख्या प्रमाण मानी गई है। इसके तात्पर्य का निर्देश इस प्रकार समझना चाहिए —

(क) शतपथब्राह्मण के अष्टमकाण्ड में सृष्टि नामक इष्टियों के उपाधान (रखने) का विधान है, वहाँ १७ इष्टिकाओं के रखने का कारण बतलाया गया है। कारण यही है कि तत्सम्बद्ध सृष्टि भी सत्रह प्रकार की है तथा उसका उदय प्रजापति से होना है, जिससे दोनों को एकसाथ मिलाने पर सृष्टि के सम्बन्ध में अष्टादश संख्या की निष्पत्ति होती है। शतपथ का कथन है कि मासों की संख्या है बारह, ऋतुओं की पाँच। ये सत्रह पदार्थ एक संवत्सर से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रजापति से इन सत्रह सृष्टियों का विधान उपपन्न है—

तस्य द्वादश मासाः, पञ्चर्तव, संवत्सर एव प्रतूर्तिः (शतपथ ८।४।१।१३) तथा 'प्रतूर्तिरष्टादश.' (यजु० १४।२३)

इस प्रकार सृष्टि से अष्टादश संख्या को सबद्ध होने के हेतु पुराणों को अष्टादशविध मानना उचित ही है।

(ख) वेद में सृष्टि का उदय वैदिक छन्दों में स्वीकार किया गया है। वेद के सात छन्दों में गायत्री तथा विराट् की प्रमुखता है जिनका सृष्टितत्त्व के साथ गहरा सम्बन्ध है। गायत्री है पृथ्वी-स्थानीया प्रकृतिरूपा (गायत्री वा इयं पृथिवी शतपथ ४।३।४।९) तथा विराट है द्युस्थानीय पुरुषरूप (वैराजो वै

पुरुष –ताण्ड्य ब्राह्मण २।७।८)। द्यावापृथिवी इस सृष्टि के पिता-माता माने गये हैं—द्यौष्पिता पृथिवी माता। फलत गायत्री तथा विराज् छन्द का सृष्टि-प्रक्रिया मे प्रमुख होना बोधगम्य है। अब यह तो प्रख्यात ही है कि गायत्री के प्रतिपाद मे आठ अक्षर होते है और विराज् के १० अक्षर और इन्ही दोनो को मिलाने पर अठारह की सख्या आती है ('अष्टाक्षरा गायत्री' ऐतरेय ब्रा० ६।२० तथा 'दशाक्षरो विराट्' तै० १।१।५।३)। फलत छन्द-सृष्टिवाद की दृष्टि से अष्टादश की सख्या का सृष्टि-प्रतिपादक पुराणो के साथ सम्बद्ध होना नितान्त युक्तिपूर्ण है।

(ग) साख्यदर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया पुराणो मे स्वीकृत की गई है—यह तो इतिहास-पुराण का साधारण भी अध्येता भलीभाँति जानता है। साख्य मे २५ तत्त्व स्वीकृत किये गये हैं। इन तत्त्वो की समीक्षा से इनके स्वरूप का परिचय मिलता है। पुरुष तथा प्रकृति तो नित्य मूलस्थानीय तत्त्व है, जिनकी सृष्टि नहीं होती। इनसे इतर तत्त्व हैं–महत्तत्त्व, अहकार, पञ्चतन्मात्रायें=७ प्रकृति-विकृति, केवल विकृति=१६ (मन को मिलाकर ११ इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश)। इस योजना मे तन्मात्रो से ही महाभूतो का साक्षात् सम्बन्ध है। अन्तर केवल स्वरूप का है। तन्मात्र होते है सूक्ष्म ('भूत सूक्ष्म' इसीलिए उनकी सज्ञा है) और महाभूत होते है 'स्थूल'। इनके स्वरूप का वैशिष्ट्य न मानकर दोनो की एकत्र गणना की जाती है। फलत. २५ पचीस तत्त्वो मे से इन सात तत्त्वो को निकाल देने पर सृज्यमान तत्त्वो की सख्या १८ ही होती है। और सृष्टि-प्रतिपादक पुराणो की सख्या का १८ होना इस तर्क से भी प्रमाणित माना जा सकता है।

(घ) इस ब्रह्माण्डों के सब पदार्थ अपने निवेश—स्थान की दृष्टि से तीन लोको से सम्बद्ध रहते हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश। अब प्रत्येक पदार्थ की छ अवस्थायें हैं, जिनका निर्देश यास्क ने अपने निरुक्त मे किया है—अस्ति (सत्ता), जायते (उत्पत्ति), वर्धते (वृद्धि), परिणमते (पकना), अपक्षीयते (ह्रास) तथा विनश्यति (विनाश)। ये छहो दशायें त्रिलोकी के समस्त पदार्थों के साथ नित्य सम्बद्ध हैं। पुराण इन सब पदार्थों के सर्ग-प्रतिसर्ग का वर्णन करता है। फलतः उसका सख्या मे १८ होना उचित ही है[1]।

---

1 इसी प्रकार की अन्य युक्तियो के लिए द्रष्टव्य श्रीमाधवाचार्य रचित पुराणदिग्दर्शन, पृ० ६४ ६७, तृतीय सं०, दिल्ली।
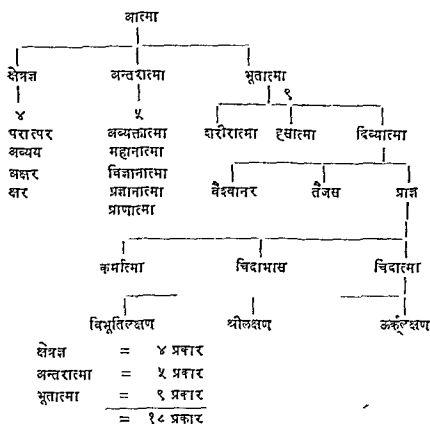
(ङ) पुराणा के अष्टादश होने का एक अन्य हेतु यहा उपस्थित किया जा रहा है। पुराण मुख्यरूप स पुराणपुरुष-परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है। आत्मा स्वरूपत एक ही है परन्तु उपाधि तथा अवस्था की विभिन्नता के कारण वह १८ प्रकार का होता है। इन अठारहो प्रकार के आत्मा का प्रतिपादक होन के कारण पुराण भी १८ प्रकार के मान गये हैं।

अब आत्मा के १८ प्रकारो से परिचय रखना आवश्यक है। विषय की स्पष्टता के लिए इन प्रकारा को ऊपर चार्ट के द्वारा दिखलाया गया है। उस चार्ट की व्याख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—

मूलभूत आत्मा के प्रथमत तीन भेद होते हैं—(१) क्षेत्रज्ञ, (२) अन्तरात्मा तथा (३) दिव्यात्मा। मनुस्मृति के आधार पर इन तीनो भेदो का स्वरूप जाना जा सकता है[1]।

---

१ मनुस्मृति के इस विभाजन के आधारभूत श्लोक ये हैं—
योऽस्यात्मन कारयिता त क्षेत्रज्ञ प्रचक्षते।
य करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधै ॥

(१) जीवात्मा के कारयिता या उत्पादक को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जीव को प्रेरित करने वाला विशुद्ध आत्मा ही क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारा जाता है।

(२) जिसके द्वारा नाना जन्मों में सब सुख और दुःख का अनुभव किया जाता है अर्थात् विभिन्न जन्मों में सुख और दुःख का भोग करने वाला जो जीव है वही **अन्तरात्मा** की संज्ञा पाता है।

(३) जो आत्मा सब कर्मों को करता है वह **'भूतात्मा'** कहा जाता है इनमें क्षेत्रज्ञ चार प्रकार का, अन्तरात्मा पाँच प्रकार का तथा भूतात्मा नव प्रकार का होता है और इस प्रकार आत्मा के १८ भेद स्वीकृत किये जाते हैं।

(१) **क्षेत्रज्ञ** के चार प्रकार—परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर होते हैं। इस समस्त विश्व का अधिष्ठान भूमा तथा साथ ही साथ विश्वातीत जो आत्मा है वही **'परात्पर'** (परमात्मा) है। इस सृष्टि का जो आधारभूत आत्मा है वही **अव्यय** है जिसका किसी प्रकार भी व्यय या नाश नहीं होता। **अक्षर** आत्मा इस सृष्टि का निमित्त कारण है अर्थात् जिसकी प्रेरणा से सृष्टि उत्पन्न होती है वही अक्षर तत्त्व है। **क्षर** आत्मा सृष्टि का उपादान कारण होता है। घट के लिए मिट्टी के समान ही उसका स्थान है। संक्षेप में गीता के आधार पर हम कह सकते हैं कि समस्त भूत ही क्षर है, कूटस्थ अविकारी पुरुष ही अक्षर है तथा लोकत्रय को धारण करने वाला उत्तम पुरुष ही पुरुषोत्तम कहलाता है। आत्मा का यह विभाजन गीता (१५।१६-१७) के प्रख्यात पद्यों के ही आधार पर है।

(२) **अन्तरात्मा** के पाँच अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं —अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा तथा प्राणात्मा। **अव्यक्तात्मा** वह है जिससे इस शरीर की जीवितरूप में रहने की सम्भावना होती है और उसके अभाव में यह शरीर जीवित नहीं रह सकता। **महानात्मा** वह है जिससे सत्त्व, रजस तथा तमस इन तीनों गुणों की प्रवृत्ति होती है। विज्ञानात्मा वह है जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥

अध्याय १२

१ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

—गीता अ० १५ श्लोक १६, १७।

ऐश्वर्य का तथा उनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का प्रवर्तक होता है। प्रज्ञानात्मा वह है जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करता है। प्राणात्मा वह है जिससे शरीर में सन्निमा उत्पन्न होती है। इस पञ्चविध आत्मा का आधारस्थान है कठोपनिषद् के वे वाक्य जिनमें अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का निर्देश किया गया है और एक को दूसरे से पर बतलाकर अव्यक्त से पुरुष या परात्पर की श्रेष्ठता मानी गई है।[1]

(२) भूतात्मा के प्रथमतः तीन भेद होते हैं—शरीरात्मा, हंसात्मा तथा दिव्यात्मा। मनुष्य, पशु आदि भूतों का यह प्राणसम्पन्न शरीर ही शरीरात्मा कहलाता है। पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच विचरण करने वाला वायु ही हंसात्मा है। यह नामकरण वेद के आधार पर है जो कहता है कि यह एक हंस कभी सोता नहीं सर्वदा ही जागता रहता है और सोये हुए शरीरात्मा की रक्षा किया करता है[2]। दिव्यात्मा का तात्पर्य मनुष्य, पशु तथा निर्जीव पदार्थ (पाषाण आदि) से है। इसीलिए इसके भी प्रथमतः तीन भेद हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। पत्थर आदि निर्जीव पदार्थ 'वैश्वानर' के अन्तर्गत, अन्तःसंज्ञा वाले प्राणी (वृक्ष आदि) तैजस के अन्तर्गत तथा व्यक्तसंज्ञा वाले मानव प्राणी, जिनमें बुद्धि का विकास होता है, प्राज्ञ के अन्तर्गत माने जाते हैं।

इन तीनों में प्राज्ञ ही सबसे अधिक चैतन्य तथा बुद्धि से सम्पन्न होता है। इसके तीन विभाग माने जाते हैं—कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। कर्मात्मा का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म की महिमा सर्वातिशायिनी है। कर्म के बिना कोई भी जीवित नहीं रह सकता। प्राणी को कर्म करना पड़ेगा ही। गीता का सुस्पष्ट कथन है—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु, तिष्ठत्यकर्मकृत्। श्रुति भी कर्म की महिमा का प्रचार में करती है कि कर्म के बिना प्राण अधूरा ही रहते हैं और इसीलिए कर्माग्नि की सृष्टि हुई—'अकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मणः'।

---

१ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

—कठ उप०

२ स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः॥

तस्माद् धर्माग्निमसृजत् (शतपथ)। परन्तु कर्म होता है शीघ्र विनाशशाली। वह नष्ट भले ही हो, परन्तु वह अपना संस्कार छोड़ जाता है। ये ही संस्कार जिसमे समवेत होकर एकत्र निवास करते हैं वही है कर्मात्मा अर्थात् जीव। **चिदाभास** का अर्थ है चैतन्य का आभास अर्थात् ईश्वर-चैतन्य का वह अंश जो मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट होकर हृदयस्थित विज्ञानात्मा से संपृक्त होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के धर्मों से संसृष्ट होता है वही है चिदाभास, जो प्रति शरीर मे भिन्न भिन्न होता है। इस विभाजन की अन्तिम कड़ी है—चिदात्मा ईश्वर का वह भाग, जो समस्त विश्व मे व्याप्त होता है और साथ ही साथ शरीर मे भी व्याप्त रहता है परन्तु व्याप्ति-स्थानो के धर्मों से संपृक्त नही होता, चिदात्मा उसी का नाम है। इसे ही साधारण भाषा मे ईश्वर, पर-पुरुष आदि नामो से व्यवहृत करते हैं। इसके तीन भेद होते है जो गीता के अनुसार (अ० १०, श्लो० ४१) 'विभूतिलक्षण, श्रीलक्षण और ऊर्क्लक्षण माने जाते हैं। गीता के इस श्लोक मे ईश्वर को तीन पदार्थों से सम्पन्न होने की बात कही गई है—विभूति, श्री तथा ऊर्ज् और इसी कारण यहाँ त्रैविध्य स्वीकृत है।

संक्षेप मे कह सकते हैं कि क्षेत्रज्ञ के ५ प्रकार अन्तरात्मा के ५ प्रकार तथा भूतात्मा के ९ प्रकार—इन सबो की सम्मिलित संख्या १८ होती है। अतः पुराण-पुरुष के इन १८ प्रकारो को वर्णन करने के हेतु पुराणो मे अष्टादश संख्या का समवेत होना युक्ति तथा तर्क से संवलित है।[2]

(ख) पुराण के क्रम का रहस्य

ऊपर अष्टादश पुराणो की सूची मे जो क्रम बतलाया गया है वह सर्वसम्मत न होने पर भी बहुसम्मत तो अवश्यमेव है। अब प्रश्न है कि इन पुराणो का इसी क्रम से निर्देश क्यों है? इसका क्या कोई ऐतिहासिक कारण है? अथवा यह केवल मनमाने ढग से ही रखा गया है? इस प्रश्न के उत्तर मे सम्प्रदायवेत्ता पुराणविद् विद्वानो का मत है कि यह क्रम साभिप्राय है। यह किसी ऐतिहासिक कारण का फल न होकर वर्ण्य विषय को लक्ष्य मे रख कर ही सम्पन्न किया गया है। पुराणो के वर्ण्य विषय अनेक हैं परन्तु प्राधान्येन

---

१ यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ —गीता १०।४१

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य—पण्डित बदरीनाथ शुक्ल 'मार्कण्डेयपुराण एक अध्ययन' नामक ग्रन्थ, पृष्ठ ५-७, प्रकाशक, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९६१ ईस्वी तथा श्रीमधुसूदन ओझा रचित - पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग नामक ग्रन्थ, पृ० ५-१०, जयपुर, वि० सं० २००८।

व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार प्रधान विषय की दृष्टि से ही इस निर्देश-क्रम का औचित्य सुसंगत होता है।

हमने अनेक बार कहा है कि पुराण का प्रधान लक्ष्य सर्ग या सृष्टि है—किस प्रकार मूलतत्त्व से सृष्टि हुई, उसका विकास हुआ, नाना वंशो का उदय हुआ तथा उनमे भी अनेक गौरवशाली व्यक्तियो ने अपने महत्त्वसम्पन्न चरित्र का प्रदर्शन किया तथा अन्त मे सृष्टि के मूलतत्त्व मे विलीन होने से प्रलय हो गया। यही तो सृष्टि की प्रवहमान धारा है। विश्व का आदि है सर्ग और पर्यवसान है प्रतिसर्ग। इन दोनो छोरो के बीच मे मन्वन्तर, वंश तथा वंशानुचरित की धारा प्रवाहित होती हैं। पंचलक्षण का यही स्वारस्य है—यही सगति है। फलतः सृष्टितत्त्व का प्रतिपादन ही पुराण का मुख्य तात्पर्य या अभिप्राय भलीभाँति माना जा सकता है। इस मुख्यता की दृष्टि से पुराणो के क्रम पर ध्यान देने से उसका औचित्य स्वतः अभिव्यक्त होता है।

फलत सृष्टि के विषय मे प्रथमतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस ब्रह्माण्ड की रचना किसने की? तैत्तिरीय सहिता (३।१२।९।३) की स्पष्ट उक्ति है—ब्रह्म ब्रह्माभवत् स्वयम् अर्थात् सृष्टि कार्य के लिए ब्रह्म ही ब्रह्मा हुए। फलतः सृष्टि का मूल है वही ब्रह्म और इसी आदि-कर्ता के निर्देश के लिए 'ब्रह्मपुराण'[1] का नाम सबसे प्रथम इस सूची मे आता है। ब्रह्मा की उत्पत्ति के विषय मे तदनन्तर जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इस का उत्तर 'पद्मपुराण'[2] देता है—अर्थात् ब्रह्मा का उदय पद्म से—कमल से—हुआ। तब यह कमल कहाँ था? 'विष्णुपुराण'[3] के द्वारा प्रतिपाद्य विष्णु की ही नाभि मे वह कमल था जहाँ उत्पन्न होकर ब्रह्मा ने घोर तपस्या की और फलरूप नूतन सृष्टि का निर्माण किया। 'वायुपुराण'[4] को शेषशय्या का निरूपण करने वाला बतलाया गया है, जिस पर विष्णु भगवान् शयन करते हैं और जो इसीलिए उनके आधार का काम करता है। शेष भगवान् क्षीरसमुद्र मे रहते हैं और इस समुद्र के रहस्य को बतलाने वाला पुराण **श्रीमद्भागवत**[5] है। नारद जी भगवान् विष्णु के सन्तत भजनकर्ता हैं जो अपनी वीणा पर मधुर स्वर से भगवान् के अमृत-नाम का कीर्तन किया करते हैं और इस साहचर्य के कारण भागवत के अनन्तर **नारदपुराण**[6] का क्रम—निर्देश उचित ही है। अब तक सृष्टि के विकास की एक रेखा खीची गई जिसमे ६ पुराणो के क्रम की सगति दिखलाई गई।

परन्तु सृष्टिचक्र के विषय मे प्रश्नो का प्रश्न है कि यह चक्र किसकी प्रेरणा से सन्तत घूमता रहता है। इसके उत्तर मे अनेक मत उपन्यस्त हैं। प्रकृति-स्वरूपिणी देवी ही मूल प्रेरिका शक्ति है इस विश्व की—इस मत का प्रतिपादन करता है सप्तम पुराण **मार्कण्डेय**[7]। घट के भीतर प्राण तथा ब्रह्माण्ड के

भीतर अग्निरूप से क्रियाशील होने वाली वस्तु ही मूल प्रेरणा देती है– यह भी एक मान्य मत है और इसी का प्रतिपादन करता है अष्टम पुराण अग्नि पुराण[८]। अग्नि का तत्त्व सूर्य के ऊपर आधारित है अर्थात् मूलतः सूर्य ही प्रेरक शक्ति का काम करता है। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष के अनुसार सूर्य को जंगम तथा स्थावर सृष्टि की आत्मा होना वेद बतलाता है। इस प्रकार सृष्टि के उत्पादन में सूर्य की महत्ता सर्वातिशायिनी है और इसी सूर्य की महिमा का प्रतिपादक है—नवम **भविष्यपुराण**[९]। मूलतत्त्व के विषय में कई विप्रतिपत्तियाँ दिखलाकर पुराण ने अपने मत को प्रकट किया है अग्रिम **ब्रह्मवैवर्त**[१०] के नाम द्वारा। अर्थात् पुराण मत में ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि होती है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विकार तथा विवर्त का पार्थक्य तो सर्वत्र प्रख्यात है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है अवश्य। परन्तु वह स्वयं तात्त्विक वस्तु नहीं है—मायिक है और इसीलिए ब्रह्मवैवर्त की संज्ञा से ब्रह्म के मूल कारण होने और विश्व को उसका विवर्त होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन पुराण करता है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि यह मूलतत्त्व ब्रह्म जाना कैसे जाय? वह तो निर्गुण ठहरा और तब सगुणरूप में उसकी पहिचान किस प्रकार की जा सकती है? जीव अपने मंगल के निमित्त उसकी उपासना किस प्रकार करे? इन प्रश्नों का उत्तर अवशिष्ट पुराणों के द्वारा दिया गया है। ब्रह्म की शिव तथा विष्णु ही प्रख्यात सगुण अभिव्यक्तियाँ हैं और ये दोनों भी नाना रूपों में प्रकट हुआ करते हैं जिन्हें अवतार की संज्ञा दी जाती है। एकादश पुराण लिंग[११] तथा तेरहवाँ **स्कन्दपुराण**[१३] शिव के साथ सम्बन्ध रखते हैं। वाराह[१२] वामन[१४] कूर्म[१५] तथा मत्स्य[१६]—ये चारों अवतार भगवान् विष्णु के हैं जो सृष्टितत्त्व से विशेषरूप से सम्बद्ध हैं और जिनके द्वारा वे इस धराधाम पर अवतीर्ण होकर भक्तों के क्लेशों का निवारण करते हैं तथा उनके मुक्ति पाने के निमित्त सुगम मार्ग का उपदेश भी देते हैं। श्रीमद्भागवत का इस विषय में स्पष्ट कथन है (५।१९।५)—

> मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
> रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ॥

विभु व्यापक भगवान् का मर्त्यरूप में अवतार राक्षसों के वध के लिए ही नहीं होता, प्रत्युत मर्त्यों के शिक्षण के लिए होता है। मर्त्यशिक्षण की प्रधान दिशा है स्वजनों से निःस्पृह होकर आत्मारामी मुनि की उपलब्धि। इस अभिप्राय से भगवान् के रूप का मत्स्यरूप में अवतरण होता है जिसकी विशिष्ट चर्चा आगे की जायगी।

---

* द्रष्टव्य माधवाचार्य शास्त्री पुराणदिग्दर्शन पृ० ७१-७५।

अन्तिम दो पुराणों का सम्बन्ध जीव-जन्तुओं की गतिविधि है। कर्म, ज्ञान तथा उपासना के सम्पादन से जीवन को कौन गतियाँ प्राप्त होती हैं इसका प्रतिपादक है सत्रहवाँ **गरुडपुराण**[१७] जो मरणान्तर स्थिति का विशेष विवरण देता है और इन गतियों के विस्तृत क्षेत्र को बतलाने वाला है अन्तिम **ब्रह्माण्डपुराण**[१८]। अपने कर्मों के फलानुसार जीव इस पूरे ब्रह्माण्ड के भीतर घूमता रहता और सुख-दुःख का अनुभव किया करता है। इस प्रकार सृष्टिविद्या से सम्बद्ध तथा तदुपयोगी ज्ञान कर्म के प्रतिपादन में अष्टादश पुराण की उपयोगिता है। पौराणिक क्रम का यही अभिप्राय है।

(ग) पुराणों के विभाजन

मत्स्यपुराण (५३। ७- ८) के अनुसार पुराणों का त्रिविध विभाजन मान्य है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक पुराणों में विष्णु का माहात्म्य अधिक रूप से वर्णित है, राजस पुराणों में ब्रह्मा का तथा अग्नि का माहात्म्य अधिकतर वर्णित है। तामस पुराणों में शिव का[१]। इन तीनों से भिन्न एक सकीर्ण भेद भी है जिसम सरस्वती तथा पितृगणों का माहात्म्य अधिकतर वर्तमान है। पद्मपुराण में सात्त्विक पुराणों की गणना भी निर्दिष्ट है—वैष्णव, नारद, भागवत, गरुड, पद्म, तथा वाराह। परन्तु ध्यान देने की बात है कि इस विभाजन में अन्य पुराणों के साथ एकमत्य नहीं है, आश्चर्य तो तब होता है जब निश्चयरूपेण शिवभक्ति के प्रतिपादक वायुपुराण को गरुडपुराण सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत रखता है। फलतः इस विभाजन में वैज्ञानिकता की आशा करना दुराशामात्र है। गरुडपुराण[२] एक पग आगे बढ कर सात्त्विक पुराणों के भीतर तीन प्रकार का विभाग मानता है— (क) सत्त्वाधम = मत्स्य तथा कूर्म, (ख) सात्त्विकमध्यम—वायु (ग) सात्त्विक-उत्तम = विष्णु, भागवत तथा गरुड। देवता के प्राधान्य से पुराणों का विभाजन विद्वानों ने

---

१ सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥ ६७ ॥
तद्वदग्नेर्माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च
सकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते ॥ ६८ ॥

—मत्स्य, अ० ५३।

२ सत्त्वाधमे मात्स्यकौर्मे तदाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं प्राहुरार्याः ॥

—गरुडपुराण

किया है। गरुडपुराण ने पूर्वोक्त कथन में कूर्म भी सात्त्विक अर्थात् विष्णु-माहात्म्य प्रतिपादक पुराणो के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु इसके प्रकाशित अंश (ब्राह्मी संहिता) में शिव-शिवा के माहात्म्य का ही पूर्णतः प्रकाशन है। महेश्वर ही परमतत्त्व माने गये हैं। शक्ति का भी यहाँ विशिष्ट वर्णन है। श्री कृष्ण भी शिव की स्तुति करते हुए दिखलाये गये हैं। ऐसी दशा मे इसे 'सात्त्विक' क्योंकर कहा जा सकता है? वायु-पुराण का स्वरूप निश्चयेन शिव-माहात्म्य-परक है और इसीलिए यह स्कन्दपुराण में (शैव) नाम से भी अभिहित किया गया है। ऐसी दशा में इसमें पुराणसम्मत सात्त्विकता कहाँ? फलतः गरुड के पूर्वोक्त विभाजन में हम विशेष श्रद्धा नहीं रख सकते।

उपास्य देवो की विभिन्नता से पुराणो का विभाजन ऊपर किया गया है। स्कन्दपुराण के केदारखण्ड के अनुसार दश पुराणो मे शिव, चार मे भगवान् ब्रह्मा, दो मे देवी और दो म हरि—इस प्रकार विभाजन किया गया है, परन्तु तत् पुराणो के नाम निर्देश न होने से इस विभाजन की वैज्ञानिकता मापी नहीं जा सकती। इसी पुराण के 'शिवरहस्य' नामक खण्ड के अन्तर्गत सम्भव-काण्ड मे (२।३०।३८) एक दूसरा ही विभाजन किया गया है जो इस प्रकार है—

(१) शैव = शिव विषयक
　　शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिङ्ग, वाराह
　　स्कन्द, मत्स्य, कूर्म, वामन तथा ब्रह्माण्ड (१०)।

(२) वैष्णव - विष्णु विषयक
　　विष्णु, भागवत, नारदीय तथा गरुड　　(४)।

(३) ब्राह्म = ब्रह्मा-विषयक
　　ब्रह्म तथा पद्म　　(२)।

(४) आग्नेय = अग्नि विषयक
　　अग्नि पुराण　　(१)।

(५) सावित्र = सूर्य विषयक
　　ब्रह्मवैवर्त　　(१)।

　　　　　　१८

स्कन्दपुराण के अनुसार प्रतिपाद्य देवानुसारी यह विभाजन वैज्ञानिक रीत्या शोभन नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'पद्मपुराण' तो निश्चयेन भगवान् विष्णु की महिमा का सविशेषभावेन प्रतिपादक है। इसीलिए गौडीय वैष्णवो

के सिद्धान्तों का विकास, विशेषतः राधा का, इसी पुराण के आधार पर है। यह विभाजन सामान्य रीत्या ही मान्य है।

स्कन्दपुराण का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है—

(क) खंडात्मक विभाजन	(ख) संहितात्मक विभाजन	
(१) माहेश्वर खंड	(१) सनत्कुमार संहिता	= ५५ हजार श्लोक
(२) वैष्णव ,,	(२) सूत संहिता	= ६ ,, ,,
(३) ब्रह्म ,,	(३) शाङ्करी ,,	= ३० ,, ,,
(४) काशी ,,	(४) वैष्णवी ,,	= ५ ,, ,,
(५) अवन्ती ,,	(५) ब्राह्मी ,,	= ३ ,, ,,
(६) नागर ,,	(६) सौरी ,,	= १ ,, ,,
(७) प्रभास ,,		= १ लक्ष[1]
इन खंडों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर खंड भी वर्तमान हैं। श्लोकों की संख्या ८१ सहस्र।	इन संहिताओं के भी अनेक अवान्तर खंड हैं।	

पुराण का वर्गीकरण

अष्टादश पुराणों के वर्गीकरण अनेक प्रकार से किये गये हैं। भिन्न भिन्न पुराणों ने इस विषय में विभिन्न दृष्टियाँ अपनाई हैं। पुराण के पञ्चलक्षण को आधार मानकर प्राचीन और प्राचीनोत्तर–ये दो विभाग किये जा सकते हैं। इस कसौटी के अनुसार वायु ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराण मालूम

---

१ यह नाम संहिताओं का तथा उनकी श्लोक संख्या सूतसंहिता (१ अ० श्लो० १९–२४) के आधार पर है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि (ग्रन्थाङ्क २५) में पूना से प्रकाशित है। (१९२४ ई०)। इसके ऊपर माधवाचार्य रचित 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या भी यहीं प्रकाशित है। ध्यातव्य है कि ये माधव सायणाचार्य के अग्रज माधवाचार्य से नितान्त भिन्न हैं। ये मन्त्री होने के हेतु माधवमन्त्री के नाम से प्रख्यात हैं, परन्तु हैं उनके समकालीन ही-- १४ शती का मध्य भाग। विशेष द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ "आचार्य सायण और माधव" (प्रकाशक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

सूतसंहिता शैवदर्शन के सिद्धान्तों की विस्तार से प्रकाशिका है। माधव की यह व्याख्या गम्भीर रहस्यों को सरलतया प्रकट करती है।

पडते हैं, क्योंकि इन चारों में पुराण के पाँचों विषय उचित परिमाण में वर्णित हैं। इनसे भिन्न पुराणों को प्राचीनोत्तर वर्ग में अन्तर्भुक्त समझना चाहिए। देवता के विचार से पुराणों का अन्य वर्गीकरण है। पद्मपुराण के अनुसार मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्द, अग्नि—ये छः पुराण **तामस** हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्राह्म—ये छः **राजस** पुराण हैं तथा विष्णु, नारद, भागवत, गरुड, पद्म तथा वाराह—ये छः **सात्त्विक** पुराण माने गये हैं। यह वर्गीकरण विष्णु को सात्त्विक देव मानकर किया गया है। यहाँ तामस, राजस तथा सात्त्विक पुराणों की समान संख्या निर्धारित है।[1] मत्स्यपुराण इससे कुछ विभिन्न बात बतलाता है उसकी दृष्टि में विष्णु के वर्णनापरक पुराण सात्त्विक, ब्रह्मा और अग्नि के प्रतिपादक पुराण राजस, शिव के प्रतिपादक तामस, सरस्वती और पितरों के माहात्म्य को वर्णन करने वाले पुराणों 'संकीर्ण' माने गये हैं।

> सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः
> राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।
> तद्वदग्नेश्च, माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च
> संकीर्णेषु सरस्वत्या पितॄणां च निगद्यते॥
>
> —मत्स्य ५३ अ०, ६८–६९ श्लो०

स्कन्द की दृष्टि में दश पुराणों में तो केवल शिव की स्तुति है, चार में ब्रह्मा की और दो में देवी तथा हरि की है। इस वर्गीकरण में तत्तत् पुराणों का नाम नहीं दिया गया है —

> अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः
> चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः॥
>
> —स्कन्द केदारखण्ड १

[1] मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे॥
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे॥

—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २६३।८१–८४

तमिल ग्रन्थों में पुराणों के ये पाँच वर्ग किये गये हैं :—

(१) ब्रह्मा—ब्रह्मपुराण और पद्मपुराण,

(२) सूर्य—ब्रह्मवैवर्त,

(३) अग्नि—अग्नि,

(४) शिव—शिव, स्कन्द, लिङ्ग, कूर्म वामन, वराह, भविष्य, मत्स्य, मार्कण्डेय तथा ब्रह्माण्ड (=१०),

(५) विष्णु—नारद श्रीमद्भागवत, गरुड और विष्णु (=४)।

तात्पर्य यह है कि इन सकल वर्गीकरण की विभिन्नता का कारण उनका विभिन्न दृष्टिकोण है। आधुनिक विद्वानों ने पुराणों में वर्णित विषयों का पूर्ण और आलोचनात्मक परीक्षण करने के पश्चात् विषय-विभाग के अनुसार पुराणों के छ वर्ग निर्धारित किये हैं :—

(१) प्रथम वर्ग में साहित्य का विश्वकोष है अर्थात् मानव-समाज के लिए उपयोगी समस्त विद्याओं का—आध्यात्मिक तथा भौतिक विद्याओं का—सार-अश एकत्र कर दिया गया है। आजकल प्रकाशित होने वाले 'विश्वकोष' के समान इनका सकलन-मूल्य है। इस वर्ग में गरुड, अग्नि तथा नारदीय पुराण आते हैं जिनमें प्राचीन विद्याओं का सक्षेप बडे अच्छे ढग से प्रस्तुत किया गया है।

(२) द्वितीय वर्ग में मुख्यत तीर्थों तथा व्रतों का वर्णन है। इस विभाग में पद्मपुराण, स्कन्द तथा भविष्य की गणना है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के न्याय के अनुसार ही इसे समझना चाहिए। इन विषयों की मुख्यता होने के कारण ही ये तीन पुराण इस वर्ग में आते हैं, अन्यथा सामान्यरूप से ये विषय अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं।

(३) तृतीय वर्ग ब्रह्म, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों का है। इनके विषय में विद्वानों का मत है कि इनके दो-दो सस्करण हो चुके हैं, जिनमें इनका मूल भाग वही है जो उनका केन्द्रस्थ भाग है। इन दो बार के सस्करणों में आगे-पीछे बहुत कुछ जोडा गया है।[1]

(४) चतुर्थ वर्ग में ऐतिहासिक पुराणों की गणना है—'ऐतिहासिक पुराण' से तात्पर्य उस पुराण से है जिसमें कलियुग के राजाओं का

---

१ श्रीमद्भागवत के इस द्विविध सस्करण के विषय में लेखक को महान् सन्देह है। भागवत इतना सुव्यवस्थित पुराण है परस्पर में अन्योन्य से समन्वित, कि उसके दो सस्करण होने की बात समझ में नहीं आती। प्रचलित मत का आश्रय लेकर ही पूर्वोक्त कथन है।

वर्णन विशेषरूप से, इतिहास की दृष्टि को लक्ष्य में रख कर, किया गया है। ऐसे वर्ग में वायु तथा ब्रह्माण्डपुराण का समावेश है। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि इन दोनो पुराणो मे पारस्परिक साम्य वर्णन का ही नही, प्रत्युत अध्यायो का भी इतना अधिक है कि डा० किर्फेल ने इन दोनो को एक ही मूल पुराण से विनिःसृत बतलाया है। दोनो मे अध्याय के अध्याय ज्यो के त्यो आये हुए हैं। इसीलिए किर्फेल का कहना है कि किसी प्राचीन युग मे दोनो एक ही पुराण मे अन्तर्निविष्ट थे।[1] पीछे ये पृथक् कर दिये गये। यह घटना बाणभट्ट से पूर्व अर्थात् सप्तम शती से पहिले ही हो चुकी थी जब उन्होने वायुपुराण के प्रवचन का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(५) पञ्चम वर्ग मे साम्प्रदायिक पुराणो का अन्तर्भाव है। इसमे लिंग, वामन तथा मार्कण्डेयपुराण आते हैं।

(६) षष्ठ वर्ग में वाराह, कूर्म तथा मत्स्यपुराण की गणना है जिनमें पाठो का अत्यधिक सशोधन होने से मूल पाठ रह ही नहीं गया है।[2]

यह वर्गीकरण सामान्य रीति से ही समझना चाहिए। पुराणो का वर्गीकरण न यथार्थत सर्वमान्य रूप मे है, और न हो ही सकता है। भिन्नरुचिर्हि लोक ।

(घ) शिवपुराण तथा वायुपुराण का स्वरूपनिर्णय

विभिन्न पुराणो मे निर्दिष्ट पुराणसूची मे चतुर्थ पुराण के रूप मे किस पुराण की गणना मान्य की जाय, इस विषय मे ऐकमत्य नही है। यह वस्तुत. मतभेद का एक गभीर विषय है। पुराणो की बहुल सख्या 'शिवपुराण' को चतुर्थ पुराण मानने के पक्ष मे है, अल्पीयसी सख्या 'वायुपुराण' को वह आदरणीय स्थान देने पर आग्रह रखती है। नामनिर्देशपूर्वक यदि स्पष्टतः कहना पडे, तो कहना होगा कि कूर्म, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत; मार्कण्डेय, लिंग, वराह तथा विष्णु 'शिवपुराण' के पक्ष मे अपनी संमति देते हैं। जब कि देवीभागवत, नारद तथा मत्स्य 'वायुपुराण' के पक्ष मे अपना मत देते हैं, इस प्रकार विभिन्न आठ पुराणो के द्वारा निर्दिष्ट होने से शिवपुराण' को ही चतुर्थ महापुराण होने का श्रेय प्राप्त है, परतु

---

१. जर्मन विद्वान् डा० किर्फेल ने अपने मत का विशद प्रतिपादन 'पुराण पञ्चलक्षण' ग्रन्थ की जर्मन-भाषा-निबद्ध भूमिका में किया है जिसका अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है जिसकी है प्रकाशित जर्नल आव वेंकटेश्वर इन्स्टिट्यूट की पत्रिका (भाग ७ और ८) में।

२ देखिए डा० पुसालकर का एतद्विषयक लेख-कल्याण का संस्कृति अंक (१९५०) पृ० ५५२-५५३।

ऐसे विषयो मे बहुमत का कोई मूल्य तथा महत्व नहीं माना जा सकता। प्रामाणिकता का निर्णय बहुमत की कसौटी से करना न्यायसगत प्रतीत नहीं होता।

१ दोनों पुराणों का वर्तमान स्वरूप

इस समय शिवपुराण तथा वायुपुराण के नाम से दो विभिन्न ग्रंथ प्रचलित है जो आकार प्रकार म, वर्ण्यविषय के संकेत मे नितात भिन्नता रखते हैं। शिवपुराण बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से छपकर प्रकाशित है (स० १९८२, शाके १८५७) तथा पडित पुस्तकालय, काशी से अभी निकला है। वायुपुराण बिब्लि ओथेका इण्डिका (कलकत्ता, १८८०-८९ ई०) में, आनन्द सस्कृत ग्रंथावलि (पूना, १९०५ ई०) मे तथा गुरुमडल ग्रंथमाला (कलकत्ता, वि० स० २०१६, ई० सन् १९५९, उन्नीसवाँ पुष्प) मे प्रकाशित हुआ है। इन तीनो सस्करणो मे पाठ प्राय एक समान ही है। शिवपुराण की खडभूता सहिताओं की सख्या का निर्णय एक विषम समस्या है। इस समस्या की जटिलता का अनुमान इस घटना से किंचिन्मात्र लग सकता है, जब हम दो प्रकार की सहिताओ का निर्देश वर्तमान शिवपुराण में दो स्थानो पर प्राय एक ही रूप म पाते हैं। शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता (अध्याय २ । ४९-५५) मे तथा वायवीय संहिता के पूर्वार्ध मे (प्रथम अध्याय, श्लोक ५०-५२) बारह सहिताओं तथा उनकी श्लोकसख्या का निर्देश प्राय एक ही आकार प्रकार स उपलब्ध होता है। इन सहिताओ के नाम य हैं—विद्येश्वर, रौद्र, विनायक, औम, मातृ, रुद्रैकादश, कैलास, शतरुद्र, कोटिरुद्र, सहस्रकोटि, वायुप्रोक्त सहिता तथा धर्मसहिता।[१]

इनकी श्लोक सख्या एक लाख बताई जाती है। इन लक्षश्लोकात्मक द्वादश सहिताओ से सम्पन्न शिवपुराण का अस्तित्व हस्तलेखा के रूप म भी नहीं सुना जाता, इसके प्रकाशित होने की तो बात ही न्यारी है। श्लोको की यह महती सख्या भी आलोचको की शका का एक प्रधान कारण है। इस सख्या क सम्मिलित होने पर तो चतुर्लक्षात्मक पुराणों की सख्या मे विशेष वृद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होता है जो कथमपि न्याय्य तथा निर्दुष्ट नहीं माना जा सकता। तथ्य यही प्रतीत होता है कि शिवपुराण की मूलभूता चतुर्विंशति साहस्री सप्तसहिताओ के स्थान पर ही यह चतुर्गुणित सख्यावाली द्वादश सहिताए केवल पुराण के विशिष्ट गौरव तथा सर्वमान्य माहात्म्य को प्रकट करने के लिये ही कल्पित की गई हैं। क्योंकि पुराणों में सबसे बडा पुराण है स्कदपुराण, परतु इसके भी श्लोकों की सख्या इक्यासी हजार तक सीमित है। फलत लक्षश्लोकी महाभारत से

---

१ द्रष्टव्य परिशिष्ट १।

तुलना तथा समान सम्मान से सम्पन्न होने की भव्य भावना ही शिवपुराण के इस विराट रूप का कारण मानी जा सकती है। उपलब्ध शिवपुराण की सातो संहिताओ का निर्देश इस प्रकार है — १—**विद्येश्वर** संहिता (२५ अध्याय), २—**रुद्र** संहिता (१९७ अध्याय) [जिसमे पाच खड हैं (क) सृष्टि (२० अ०) (ख) सती खण्ड (४३ अ०), (ग) पार्वती खड (५५ अ०) (घ) कुमार खड (२०अ०) तथा (ङ युद्ध खड (५९ अ०)] ३—**शतरुद्र** संहिता (४२ अ० , ४—**कोटिरुद्र** संहिता (४३ अ०), ५—**उमा** संहिता (५१ अ०), ६—**कैलास** संहिता (२३ अ०) तथा ७—**वायवीय** संहिता (पूर्व भाग ३५ अ० तथा उत्तर भाग ४१)। इन संहिताओ मे अन्तिम संहिता वायुप्रोक्त होने से **वायवीय** नाम स अभिहित की जाती है तथा इसके दो भाग हैं जिनके अध्यायो की सख्या का निर्देश ऊपर किया गया है। इस प्रकार समग्र शिवपुराण म ४५७ अध्याय हैं परतु वायवीय संहिता में केवल ७६ अध्याय तथा चार सहस्र श्लोक हैं।

वायुपुराण पुराण-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है— पुराणीय पचलक्षण को सम्पत्ति म तथा रचना की प्राचीनता में तथा शैली की विशुद्धता में। पुराणीय पचलक्षणीय का उचित सन्निवेश लघुकाय होने पर भी वायुपुराण का एक आकर्षक वैशिष्ट्य है। इसमें सर्ग, प्रतिसर्ग वंश, मन्वतर तथा वशानुचरित—ये पाचो विषय दीर्घ या ह्रस्व मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध वायुपुराण म ११२ अध्याय मिलते हैं, परन्तु ग्रथ की अन्तरग परीक्षा से स्पष्ट पता चलता है कि अत के नौ अध्याय (१०४–११२) वैष्णव मत की पुष्टि के लिये किसी वैष्णव लेखक ने पीछे से जोडे हैं। इस पुराण का अंतिम अध्याय बिना किसी सदेह के १०३रा अध्याय ही है, क्योंकि इसके अत म पुराण के अवतार की गुरुपरपरा प्रामाणिक रूप से निबद्ध की गई है (श्लोक ५८–६६) तथा आगे के श्लोकों म पञ्चभूति और महेश्वर की स्तुति की गई है जो वायु पुराण म शैवतत्त्वप्रतिपादक होने का स्पष्ट सकेत है। अध्याय १०४ म महर्षि व्यास द्वारा परमतत्त्व के वर्णन तथा साक्षात्कार का विवरण है और वह परम-तत्त्व **राधासंवलित श्रीकृष्ण** ही माने गए हैं। यहाँ आनंदकद श्री कृष्णचद्र का वर्णन[1] बडी ही सरस भाषा तथा रसमयी शैली म निबद्ध होकर रससपन्न गीति-काव्य का चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। इस वर्णन म राधा का नामोल्लेख, जो श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण जैसे विशुद्ध विष्णुभक्तिप्रधान पुराणो म भी नहीं किया गया है, वायु म इस अध्याय को इन पुराणो की रचना स अर्वाचीन कालीन सिद्ध कर रहा है। वायुपुराण म अंतिम आठ अध्याय (१०५—

[1] द्रष्टव्य परिशिष्ट २।

११२) गयामाहात्म्य के विशद प्रतिपादक हैं। गया के तीर्थदेवता 'गदाधर' नाम्ना प्रख्यात विष्णु ही हैं जिनकी यह अनुप्रासमयी स्तुति इसके साहित्यिक स्वरूप की परिचायिका है—

गदाधरं व्यपगत कालकल्मषं
गयागतं त्रिदितगुणं गुणातिगम्।
गुहागतं गिरिवर-गौर-गेहगं
गणार्चितं वरदमहं नमामि॥

— अ० १०९, श्लोक २७।

इस प्रकार अध्याय १०४—११२ भगवान् विष्णु की स्तुति तथा महत्ता के प्रतिपादक हैं और इन्हें निश्चयरूप से वैष्णवमत की सवर्धना के निमित्त किसी लेखक ने इस प्राधान्यत शिवमाहात्म्यप्रतिपादक पुराण में पीछे से जोड़ दिए हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पुराणस्थ विषयों की अनुक्रमणी में भी 'गयामाहात्म्य' का निर्देश न होना निश्चय ही इसे प्रक्षिप्त सिद्ध कर रहा है।

वायुपुराण चार भागों में विभक्त है – १. प्रक्रियापाद (अ० १—६), २ उपोद्घातपाद (अ० ७—६४), (३) अनुषंगपाद (अ० ६५—९९) (४) उपसंहारपाद (अ० १००—११२) भागचतुष्टय की यह कल्पना बड़ी प्राचीन है। इन भागों की तुलना वदचतुष्टय तथा काल-चतुष्टय से की गई है तथा समग्र पुराण की सख्या द्वादश सहस्र निश्चित रूप से दी गई है (३२।६६) जो उपलब्ध पुराण की श्लोकसख्या से बहुत अधिक नहीं है। प्रचलित वायुपुराण की श्लोकसख्या दस सहस्र नौ सौ इक्यानब (१०,९९१) है। प्रतीत होता है कि इस पुराण के कुछ अश छिन्न-भिन्न तथा त्रुटित हो गए हैं। इतना तो निश्चित ही है कि आजकल का उपलब्ध यह पुराण प्राचीन वायु-पुराण से विशेष भिन्न नहीं है।

मूल श्लोकों की सख्या का प्रतिपादक पुराणस्थ वचन ध्यान देने योग्य है—

एवं द्वादश साहस्रं पुराणं कवयो विदुः। ६६
यथा वेदश्चतुष्पादश्चतुष्पादं तथा युगम्
यथा युगं चतुष्पादं विधात्रा विहितं स्वयम्
चतुष्पादं पुराण तु ब्रह्मणा विहितं पुरा॥ ६७॥

—वायुपुराण, द्वात्रिंश अध्याय।

२. चतुर्थ पुराण का लक्षण

शिवपुराण तथा वायुपुराण में किसे महापुराण माना जाय? यह समस्या गभीर है। इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पुराणों की सख्या अठा

रह है, यह तो पौराणिको का निश्चित तथा प्रामाणिक सप्रदाय है। इससे विरुद्ध होने के कारण डा० फरकूहर का पुराणा की सख्या बीस मानने का आग्रह कथमपि समुचित नही है।[1] उन्होंन शिव तथा वायु के अतिरिक्त हरिवश को पुराणो के भीतर अतर्भुक्त कर पुराणसख्या बीस मानी है। इस मत के लिये कोई भी आधार नही है—न सप्रदाय का और न किसी ग्रन्थ का ही। कूर्मपुराण का वायु तथा शिवपुराण दोनो को एक साथ अष्टादश पुराणो के अतगत मानना कथमपि समुचित नही है, क्योकि यह सूची 'अग्निपुराण को महापुराण से बाहर फेक देती है जो सब प्रकार स पुराणो के अन्तगत निश्चित रूप से माना गया है। फलत वायुपुराण और शिवपुराण—इन दोनो मे से किसी एक को तो *महापुराणो की सूची से हटाना ही पडेगा। परन्तु किसको? इसी का समाधान* करने का यह प्रयास है।

सबसे प्रथम चतुर्थ पुराण के समस्त लक्षणो को एकत्र करना चाहिए कि *ये लक्षण दोना पुराणो में से किसके साथ सुसगत घटित होते हैं।* पुराणो के अनुक्रमणी भाग मे ये लक्षण दिए गए हैं, परन्तु इस भाग पर विशेष आस्था रखना भी न्याय्य नही, क्योकि ये अर्वाचीन काल की रचना है—सभवतः एकादश शताब्दी की। नारदीयपुराण (पूर्वार्ध ९५ अ०) रेवामाहात्म्य तथा मत्स्यपुराण (५३ अ०) मे चतुथ पुराण के लक्षण दिए गए हैं। नारदीयपुराण[2] (१९५-१ १६ श्लोक) के अनुसार वायवीयपुराण रुद्र का प्रतिपादक, चौबीस सहस्र श्लोको से सपन्न, श्वेतकल्प के प्रसग से वायु द्वारा प्रतिपादित है। इसके दो भाग हैं—पूव भाग म सर्गादि मन्वतरो के राजवश, गयासुर का विस्तार से हनन, माघ मास का माहात्म्य व्रत दानधर्म, राजधर्म आदि विषयों का विवरण दिया गया है। उत्तर भाग म नमदा का वणन तथा शिव का माहात्म्य प्रतिपादित है। रेवामाहात्म्य[3] के अनुसार पूर्व भाग म शिव की महिमा तथा उत्तरार्ध मे रेवा (नर्मदा) का माहात्म्य वर्णित है। मत्स्यपुराण[4] तथा वायवीय सहिता[5] का सक्षिप्त वर्णन बतलाता है कि वायु ने श्वेतकल्प के प्रसग से रुद्र की महिमा चौबीस हजार श्लोको म प्रतिपादित की है। इन लक्षणों को समन्वित करने से इस चतुथ पुराण के वैशिष्ट्य का परिचय निश्चयेन मिलता है। यह वायु के द्वारा प्रोक्त श्वेतकल्प के प्रसंग मे रुद्र की महिमा का प्रतिपादक पुराण है जिसमें दोनों खंडों की श्लोकसंख्या मिलाकर २४ हजार है। *नारदीयपुराण की अनुक्रमणी ग्रन्थ की अपेक्षा कुछ विस्तृत है।* उसके अनुसार पूर्वार्ध में गयासुर क वणन का तथा उत्तरार्ध में नर्मदा के माहात्म्य का

१ आउट लाइन आव् रिलिजस लिटरेचर आव् इंडिया, पृ० १३९।

२ ५ *द्रष्टव्य परिशिष्ट* ३ ४, ५ *तथा* ६।

वर्णन है। तथा दान, धर्म आदि अन्य विषयों का भी यहाँ सकेत है। अब देखना है कि इन लक्षणों का समन्वय किस पुराण मे किया जा सकता है— शिवपुराण में अथवा वायुपुराण में ?

३. शिवपुराण में लक्षणसंगति

प्रथमत. शिवपुराण में इस लक्षण का समन्वय सघटित नहीं होता। शिवपुराण के अन्तर्गत अन्तिम 'वायवीय सहिता' का ही प्रवचन वायु के द्वारा निर्दिष्ट है, समस्त पुराण का नहीं। उसी के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध नाम से दो खड अवश्य विद्यमान हैं, परतु श्लोकों की सख्या केवल चार सहस्र है। शिव के माहात्म्य का वर्णन तथा शैवदर्शन के सिद्धान्तों का बहुश: प्रतिपादन अवश्य उपलब्ध है, परतु उसके पूर्वार्ध मे न तो गयासुर के वध का प्रसग है और न उत्तरार्ध में रेवा (नर्मदा) के माहात्म्य का ही कहीं सकेत है। समग्र शिवपुराण के श्लोकों की सख्या चौबीस हजार से कहीं अधिक है। ऐसी दशा मे शिवपुराण को चतुर्थ पुराण होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं किया जा सकता। शिवपुराण को महापुराण माननेवाले श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१।१।४) में 'वायवीय' से उद्धृत इस श्लोक की शिवपुराण में सत्ता पर भी अपना पक्ष आधारित करते हैं —

तथा च वायवीये

पतन्मनोरमं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभ. ॥

यह श्लोक शिवपुराण की वायवीय सहिता (१।२।८८) मे उपलब्ध होता है। इस उपलब्धि से हम इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि श्रीधर स्वामी के समय (१३वीं शती) में शिवपुराण ने 'वायुपुराण' को इतना दबा रखा था कि 'वायवीय सहिता' के द्वारा सामान्यजन 'वायुपुराण' का अर्थ समझने लग गए थे। निबन्धकारों का साक्ष्य इसके विपरीत है। वे लोग शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण से ही प्रमाण के लिये श्लोक उद्धृत करते हैं।[1] श्रीधर स्वामी के द्वारा उद्धृत श्लोक उपलब्ध वायुपुराण में भी कुछ भिन्न रूप मे उपलब्ध होता है।[2] इससे पता चलता है कि श्रीधर स्वामी के सामने वायुपुराण का कोई भिन्न ही पाठ वर्तमान था। यदि शिवपुराण को महापुराण की गणना में निविष्ट माना

---

८. हाजरा : पौराणिक रेकार्ड्स आन हिंदू राइट्स ऐन्ड कस्टम्स, पृ० १४।

९. भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत।
कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम् ॥
—वायुपुराण (आनदाश्रम) २।८।

जाय, तो उसकी परम्परागत एक लक्ष श्लोकों के योग से तो पुराणों की श्लोक-संख्या चार लाख से बहुत ही बढ़ जायगी। यदि समग्र 'शिवपुराण' को इस गणना में न रखकर केवल '*वायवीय संहिता' को ही अन्तर्भुक्त मानें*, तो विशेष विप्रतिपत्ति है उसके श्लोकों की संख्या की। अनुक्रमणीनिर्दिष्ट २४ सहस्र श्लोकों के विरोध मे यहाँ तो केवल ४ हजार ही श्लोक मिलते हैं। ऐसी दशा मे शिव-पुराण मे महापुराण की सगति कथमपि नही बैठती।

४. वायुपुराण में लक्षणसंगति

अब इस लक्षण क सगति उपलब्ध वायुपुराण से मिलाने से इसके अनेक अश—*सर्वांश भले ही नहीं—निश्चित रूप से मिलते है।* इसके वक्ता वायु हैं तथा रुद्र-शिव की महिमा का विशद तथा व्यापक प्रतिपादन यहाँ किया गया है। *आज इसमे चार खड (पाद) अवश्य उपलब्ध होते है*, परन्तु *हस्तलेखों की* समीक्षा बतलाती है कि प्राचीन काल मे कभी इसके दो ही खण्ड थे—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। अड्यार से उपलब्ध एक हस्तलेख मे यही विभाजन है।[1] यही विभाजन अनुक्रमणी मे निर्दिष्ट किया गया है। रहा वायुपुराण की श्लोकसख्या का समन्वय। ग्रन्थ की अन्तरग परीक्षा से तथा हस्तलेखो के प्रामाण्य पर वायु-पुराण *का उल्लेख 'द्वादशसाहस्री सहिता' के नाम से किया गया है।* इसमे मूलत १२ हजार ही श्लोक थे और इससे सम्बद्ध अनेक स्वतन्त्र माहात्म्यग्रन्थो का उदय कालान्तर मे होता गया जिससे अनुक्रमणीरचना से पूर्व उसमे २४ हजार श्लोको की मान्यता सिद्ध हुई। डाक्टर पुसालकर का कहना है कि इगलिंग के कैटेलाग (हस्तलेख स० ३५९९) मे वायुपुराण के *अन्तर्गत* किसी **लक्ष्मी संहिता** का उल्लेख है[2] जिससे इस पुराण से सम्बद्ध *अन्य* सहिताओ के अस्तित्व की कल्पना न्याय्य प्रतीत होती है। ये सहिताएं जो मूल वायुपुराण की कभी अशभूता थी, आज उससे हटकर पृथक् रूप से उपलब्ध होती हैं। इसलिये वायुपुराण के श्लोको की सख्या की गणना अनुचित नही प्रतीत होती। वाराहकल्प से सम्बद्ध होने पर भी श्वेतकल्प की घटनाओ का भी उल्लेख गौण-रूप से वायुपुराण मे पाया जाता है। इस प्रकार वायुपराण मे चतुर्थ पुराण के सब लक्षण तो पूर्णतया सगत नहीं होते, परन्तु अधिकाश की सगति बैठती है।

---

१. हस्तलेख की पुष्पिका—इति श्री महापुराण वायुप्रोक्ते द्वादश साहस्रया सहितायां ब्रह्माडावर्त समाप्तम्। समाप्तम् वायुपुराण पूर्वार्धम्। अत पर रेवामाहात्म्य भविष्यति॥

२ डा० पुसालकर—स्टडीज इन दि एपिक्स ऐन्ड पुराणज, पृ० ३८ (बम्बई, १९५५)।

गयामाहात्म्य प्रथमार्ध म उल्लिखित किया गया है, परन्तु आज यह ग्रन्थ के बिल्कुल अन्त म ही मिलता है (अध्याय १०५ से लेकर ११२ तक)। मेरी दृष्टि मे यह माहात्म्य मूल ग्रन्थ म पीछे से जोडा गया अश है, परन्तु अनुक्रमणी की रचना से पूव ही यह वहाँ विद्यमान था। ऊपर मैंने दिखलाया है कि किस प्रकार उपलब्ध वायुपुराण का नैसर्गिक पर्यवसान १०३ अध्याय मे ही है और उसके बाद वाला अश पीछे जोडा गया है।, फलत शिवपुराण म की अपक्षा वायुपुराण मे पूर्वनिर्दिष्ट लक्षण अधिकता से उपलब्ध होते हैं।

५. वायुपुराण का रचनाकाल

इतना ही नही, वायुपुराण की रचना, उल्लेख, विषयसगति आदि का विवेचन एसे स्वतन्त्र प्रमाण हैं जिनके द्वारा इसके महापुराण होने के तथ्य की पर्याप्तिरूपेण पुष्टि होती है। वायुपुराण निश्चितरूपेण प्राचीन, तान्त्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक सकीर्णता से नितान्त विवर्जित पुराण है, जब कि शिवपुराण अर्वाचीन, तान्त्रिकता से मडित तथा रौद्री साम्प्रदायिकता से समग्र तथा सपुटित एक उपपुराण की कोटि का ग्रन्थ है। इस तथ्य की सपुष्टि दोनों पुराणो के यथाविधि समय निर्देश के पोषक प्रमाण से की जा सकती है। षष्ठ तथा सप्तम शतक म वायुपुराण की लोकप्रियता का पर्याप्त परिचय हमे उपलब्ध होता है शकराचार्य के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य द्वारा तथा बाणभट्ट के दोनों ग्रन्थो द्वारा। शकराचार्य ने पुराण का न तो नामनिर्देश किया है और न पुराण का सामान्य उल्लेख ही किया है। वे पुराणस्थ वचनो को 'स्मृतिवचन' मानते हैं, परन्तु ये किसी भी स्मृति मे उपलब्ध न होकर पुराण' मे ही उपलब्ध होते हैं— विशेषत 'वायुपुराण' मे। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य (१।३।२८) मे 'नामरूपे च भूताना' पद्य स्मृतिवचन रूप से उद्धृत है। यह वायुपुराण के ९वें अध्याय का ६३ वाँ श्लोक है। इसी प्रकार भाष्य (१।३।३०) म दो पद्य उद्धृत किए गए हैं स्मृतिवचन के रूप मे—

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे
> तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमाना पुन पुनः।
> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते
> तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत् तस्य रोचते ॥

ये दोनो वायुपुराण मे अष्टम अध्याय के ३२ तथा ३३ सख्यक पद्य हैं। ये अगले अध्याय मे पुन उद्धृत किए गए हैं (९ अ०, ५७ तथा ५८ श्लोक)। इसी भाष्य के अन्त मे स्मृतिवचन के रूप, तीन पद्य उद्धृत किए गए हैं—
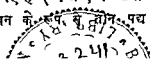
स्मृतिरपि—

> ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः
> शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवास्य ददाति स. ।
> यथर्तुष्वृतु-लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये
> दृश्यन्ते तानि तान्येव यथा भावा युगादिषु ॥
> यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह
> देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥

इन तीनो श्लोको मे से आदि के दोनो श्लोक वायुपुराण मे (९ अ०, ६४ तथा ६५ श्लोक) उपलब्ध होते हैं। इन उद्धृत श्लोको के स्थान का निर्देश आचार्य शकर ने नही दिया है। परतु मेरी दृष्टि मे ये श्लोक वायुपुराण से ही उद्धृत किए गए है। इसका मुख्य कारण इस पुराण की उस युग मे—सप्तम शती मे—लोकप्रियता है, क्योकि शकराचार्य से पूर्ववर्ती प्रख्यात गद्यकाव्यनिर्माता बाणभट्ट ने अपने दोनो ग्रथो मे **वायुपुराण** का नि सदिग्ध उल्लेख किया है। **कादंबरी** के पूर्वभाग मे जाबालि आश्रम के वर्णनप्रसग मे बाणभट्ट की एक विख्यात परिसख्यामयी उक्ति है—**पुराणे वायु-प्रलपितम्** (अर्थात् वायुजन्य प्रलपन पुराण मे था। अन्यत्र कही भी वायुजन्य प्रलाप—वायु के प्रभाव मे बकझक करना—*नही था*) यह नि सदेह 'वायुपुराण' के अस्तित्व का परिचायक है। इतना ही नही, उस युग मे वायुपुराण का प्रवचन भी एक सामान्य वस्तु था।[१] हर्षचरित (तृतीय परि०) मे बाणभट्ट का उनके मित्र पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने गीतवाद्य के द्वारा मनोरजन किया जिसमे पवमान (वायु) प्रोक्त पुराण का पठन भी समिलित था। यह पुराण व्यासमुनि के द्वारा गीत, अत्यत विस्तृत, ससार भर मे *व्यापक तथा प्रभावशाली, पवन के द्वारा प्रोक्त था और इस प्रकार 'हर्षचरित'* से अभिन्न था। ध्यातव्य है कि इस आर्या मे पुराण के लिये प्रयुक्त विशेषण श्लेष के माहात्म्य से 'हर्षचरित' की विशिष्टता के प्रतिपादक हैं। यह वर्णन वायुपुराण की लोकप्रियता का नि सदिग्ध प्रमाण है। फलत वायुपुराण सप्तम शती से नि सदेह प्राचीनतर है।

---

१२ पुस्तकवाचकः सुदृष्टि गीत्या पवमान-प्रोक्त पुराण पपाठ ।
तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापि पावन तदपि
हर्षचरितादभिन्न प्रतिभाति हि पुराणमिदम् ॥

इस आर्या मे 'पावन' (पवित्र तथा पवनसंबधी अर्थ का द्योतक) एक विशिष्ट श्लिष्ट पद है।

महाभारत में वायुप्रोक्त, ऋषियों द्वारा संस्तुत-प्रशंसित पुराण का स्पष्ट निर्देश है जिसमें अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) से संबद्ध चरितों का वर्णन किया गया है—

> एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
> वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषि-संस्तुतम् ॥
>
> — महाभारत वनपर्व १९१। १६।

इस पद्य में 'अतीतानागत' पद से तात्पर्य उन राजवंशावलियों से है जो कलिपूर्व में तथा भविष्य में होनेवाली हैं। उपलब्ध वायुपुराण में यह वंशावली केवल मिलती ही नहीं, प्रत्युत अन्य पुराणों की वंशावलियों से यह सर्वथा प्राचीनतम भी स्वीकृत की जाती है। 'शिवपुराण' में ऐसी वंशावली का नितांत अभाव है। फलतः महाभारत के उक्त श्लोक के प्रमाण पर शिवपुराण तो कथमपि चतुर्थ महापुराण का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

पुराण के लक्षण की दृष्टि से भी वायुपुराण एक नितांत सपन्न तथा पुष्ट पुराण है जिसमें पुराण के पाँचों लक्षणों की सत्ता विद्यमान है। इस पुराण के भिन्न-भिन्न अध्यायों में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वंतर, वंश तथा वंशानुचरित विद्यमान हैं, परन्तु शिवपुराण में अधिक से अधिक सर्ग ही जहाँ-तहाँ मिलते हैं। राजाओं तथा ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश श्लोक तथा गाथाएँ वायुपुराण में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती हैं, परंतु शिवपुराण में नहीं। यह भी वायुपुराण की प्राचीनता का निःसंदिग्ध प्रमाण है। शिवपुराण एक भारी भरकम पुराण है जिसमें शिव से संबंध रखनेवाली नाना कथाओं, चरित्रों, पूजापद्धतियों, दीक्षा—अनुष्ठानों का बड़ा ही विशद वर्णन है। इस पुराण की द्वितीय रुद्र संहिता के अवांतर सतीखंड में दक्षकन्या सती के चरित्र का व्यापक विवरण ४३ अध्यायों में दिया गया है जिसमें एक अध्याय में सीता का रूप धारण कर सती द्वारा जंगल में इतस्ततः भ्रमण करनेवाले जानकीवियुक्त रामचंद्र की परीक्षा लेने का प्रसंग है जिसका ग्रहण तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकांड में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इसी प्रकार पार्वतीखंड में पार्वती के जन्म तथा तपश्चरण का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया गया है। वायवीय संहिता में शैवतन्त्र से संबद्ध उपासनापद्धति का ही विशद विवेचन नहीं है, प्रत्युत शैवदर्शन के सिद्धांतों का भी विवरण तात्त्विकता की पूरी छाप बतला रहा है। 'शिवपुराण' का यह रूप अनुक्रमणिका द्वारा प्रतिपादित वायुप्रोक्त पुराण के स्वरूपसे एकदम भिन्न है, नितांत पृथक् है। गया तथा रेवा के माहात्म्यपरक अंश भी एकदम अनुपस्थित हैं। इतना ही नहीं, इसका आविर्भावकाल भी वायुपुराण के पूर्वोक्त काल की अपेक्षा नितांत अर्वाचीन तथा अवांतरकालीन है।

६. शिवपुराण की अर्वाचीनता

शिवपुराण के काल का निर्णय बहिरंग तथा अंतरंग उभय साक्ष्य के आधार पर पर्याप्तरूपेण किया जा सकता है। तमिल देश मे शिवपुराण प्राचीनकाल से लोकप्रिय है। इसका पूरा प्राचीन अनुवाद तमिल भाषा मे तो आज उपलब्ध नही है, परन्तु इसके तीन विशिष्ट आख्यानो का अनुवाद हस्तलिखित रूप मे मिलता है जिनमे शरभपुराण (जिसमे शिव के शरभ रूप धारण करने की कथा का वर्णन है,), उपलब्ध शिवपुराण (वेंकटेश्वर द्वारा प्रकाशित) की तृतीय (शतरुद्रिय) संहिता के १० से लेकर १२ वें अध्याय तक मिलता है तथा दधीचिपुराण शिवपुराण की द्वितीय (रुद्र) संहिता के द्वितीय खंड के ३८-३९ अध्यायो में मिलता है। इस तमिल अनुवाद के रचयिता तिरुमल्लैनाथ माने जाते हैं जिनका आविर्भाव काल १ वीं शती है।[1] अलबरूनी के भारत-वर्णन ग्रन्थ मे शिवपुराण का नामोल्लेख पुराणो की सूची मे निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। इन्होंने पुराणों के नाम तथा विस्तार की दो सूचियां अपने पूर्वोक्त ग्रंथ मे दी हैं—एक सूची मे वायुपुराण का तथा दूसरी सूची मे उसी स्थान पर शिवपुराण का नामनिर्देश इस तथ्य का प्रमाण है कि शिवपुराण की रचना १०३० ईस्वी से पूर्व ही संपन्न हो चुकी थी जब इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया। यह तो हुआ बहिरंग साक्ष्य। शिवपुराण की अंतरंग परीक्षा से भी इस पुराण का कालनिर्णय सुसाध्य है। कैलास संहिता के १६-१७ वें अध्याय मे प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तो का विशद प्रतिपादन किया गया है जिसमे 'शिवसूत्र' के दो सूत्रो का तथा तत्सबद्ध 'वार्तिक' का सुस्पष्ट निर्देश तथा उद्धरण है—

> चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ ४४ ॥
> चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञान-क्रियात्मकम्।
> स्वातंत्र्यं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः ॥ ४५ ॥
> इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
> ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितु ॥ ४६ ॥
>
> —कैलास संहिता, अ० १६।

इस उद्धरण में दो शिवसूत्रों का उल्लेख है जिनमे चैतन्यमात्मा प्रथम शिवसूत्र है तथा ज्ञानं बंध दूसरा शिवसूत्र है। इतना ही नही, यहां शिवसूत्रो

१. पुराणम् (काशिराजन्यास मे प्रकाशित) वर्ष २, जुलाई १९६०, पृष्ठ २२९-२३०।

के य [िन्द का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का आदि ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि का श्रेय आचार्य वसुगुप्त को दिया जाता है। काश्मीरी शैवाचार्यों का अविच्छिन्न सम्प्रदाय है कि भगवान् शङ्कर के स्वप्न में दिए गए आदेश के अनुसार वसुगुप्त को ये सूत्र (तीन उन्मेषों में विभक्त तथा संख्या में ७७) महादेव गिरि की घाटी पर किसी पत्थर के ढोंके पर लिखे गए प्राप्त हुए थे, जो आजकल 'शङ्कर पल' (शङ्कर उपल) के नाम से प्रख्यात है। इन्हीं वसुगुप्त के शिष्य कल्लट थे जो अवंति वर्मा (८५३ ई०—८८८ ई०) के राज्यकाल में महनीय सिद्ध पुरुष के अवतार माने जाते थे—कल्हण का ऐसा स्पष्ट कथन है।[1] शिष्य के समय से गुरु का समय भली भाँति अनुमानित किया जा सकता है। वसुगुप्त का समय इसीलिए ८२० ई० के लगभग माना जाता है। 'शिवसूत्र' के ऊपर दो वार्तिक उपलब्ध हैं—१—भास्कररचित तथा २—वरदराजप्रणीत। इनमें भास्कर कल्लट के सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा दोनों में चार पीढ़ियों का व्यवधान था।[2] फलतः एक पीढ़ी के लिये पच्चीस साल का समय मानने से भास्कर का समय कल्लट के समय (८८० ई० लगभग) से सौ वर्ष पीछे होना चाहिए क्योंकि इन्होंने अभिनवगुप्त (९८० ई० १०१५ ई०) के पट्टशिष्य क्षेमराज की शिवसूत्रवृत्ति के आधार पर अपने 'शिवसूत्र वार्तिक' का प्रणयन किया था। मेरी दृष्टि में शिवपुराण के पूर्वोक्त उद्धरण में भास्कर के शिवसूत्र वार्तिक का ही उल्लेख है। अलबरुनी (१०३० ई०) के द्वारा सङ्केतित होने से तथा भास्कररचित 'शिवसूत्र वार्तिक (रचनाकाल लगभग ८४० ई०) को उद्धृत करने के कारण शिवपुराण का समय दशम शती का अंत मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।[3]

इस प्रकार दोनों पुराणों की तुलना करने पर वायुपुराण ही प्राचीन तथा निश्चय रूप से महापुराण है तथा शिवपुराण अर्वाचीन और तान्त्रिकता से मंडित उपपुराण है। पूर्वोक्त प्रमाणों के साक्ष्य पर इस तथ्य पर संदेह करने का कोई अवकाश नहीं है।

---

१ कल्लटाद्याः सिद्धा भुवमवातरन्।

—राजतरंगिणी।

२ शिवसूत्र वार्तिक का उपोद्घात् श्लो० ४ तथा ९॥

३. महामाहेश्वरश्रीमत्-क्षेमराज मुखोद्गताम्॥ ४॥
अनुसृत्यैव सद्वृत्तिमञ्जसा क्रियते मया।
वार्तिकं शिवसूत्राणां वाक्यैरेव तदीरितैः॥ ५॥

—वार्तिक का आरम्भ।

परिशिष्ट

१

विद्येशं च तथा रौद्रं वैनायकमथौमिकम्।
मात्रं रुद्रैकादशकं कैलासं शतरुद्रकम्॥ ४९॥
कोटिरुद्रसहस्राद्यं कोटिरुद्रं तथैव च।
वायवीयं धर्मसंज्ञं पुराणमिति भेदतः॥ ५०॥
संहिता द्वादश मिता महापुण्यतरा मताः।
तासां संख्या ब्रुवे विप्राः शृणुतादरतोऽखिलम्॥ ५१॥
विद्येशं दशसाहस्रं रुद्रं वैनायकं तथा।
औमं मातृपुराणाख्यं प्रत्येकाष्टसहस्रकम्॥ ५२॥
त्रयोदश-सहस्रं हि रुद्रैकादशकं द्विजाः।
षट् सहस्रं च कैलासं शतरुद्रं तदर्धकम्॥ ५३॥
कोटिरुद्रं त्रिगुणितमेकादशसहस्रकम्।
सहस्रकोटि रुद्राख्यमुदितं ग्रन्थसंख्यया॥ ५४॥
वायवीयं खाब्धिशतं धर्मं रविसहस्रकम्।
तदेवं लक्षसंख्याकं शैवसंख्याविभेदतः॥ ५५॥

—विद्येश्वर संहिता, अध्याय २।

२

अक्षरस्याऽऽत्मनश्चापि स्वात्मरूपतया स्थितम्।
परमानन्दसन्दोहरूपमानन्दविग्रहम्॥
लीलाविलासरसिकं वल्लवीयूथमध्यगम्।
शिखिपिच्छकिरीटेन भास्वद्रत्नचितेन च॥
उल्लसद्विद्युदाटोपकुण्डलाभ्यां विराजितम्।
कर्णोपान्तचरन्नेत्रखञ्जरीटमनोहरम्॥
कुञ्जकुञ्जप्रियावृन्दविलासरतिलम्पटम्।
पीताम्बरधरं दिव्यं चन्दनालेपमण्डितम्॥
अधरामृतसंसिक्तवेणुनादेन वल्लवीः।
मोहयन्तं चिदानन्दमनङ्गमदभञ्जनम्॥
कोटिकामकलापूर्णं कोटिचन्द्रांशुनिर्मलम्।
त्रिरेखकुण्टविलसद्रत्नगुञ्जामृगाकुलम्॥
यमुनापुलिने तुङ्गे तमालवनकानने।
कदम्बचम्पकाशोकपारिजातमनोहरे॥

शिखिपरावतशुकपिककोलाहलाकुले ।
निरोधार्थं गवामेव धावमानमितस्ततः ॥
राधाविलासरसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ।
श्रुतवानस्मि वेदेभ्यो यतस्तद्गोचरोऽभवत् ॥
एवं ब्रह्मणि चिन्मात्रे निर्गुणे भेदवर्जिते ।
गोलोकसञ्ज्ञके कृष्णो दीव्यतीतिश्रुतं मया ॥
नातः परतरं किञ्चिन्निगमागमयोरपि ।
तथापि निगमो वक्ति ह्यक्षरात्परतः परः ॥
गोलोकवासी भगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादपि परः कोऽसौ गीयते श्रुतिभिः सदा ॥
उद्दिष्टो वेदवचनैर्विशेषो ज्ञायते कथम् ।
श्रुतेर्वाऽर्थोऽन्यथा बोध्यः परतस्त्वक्षरादिति ॥
श्रुत्यर्थे संशयापन्नो व्यासः सत्यवतीसुतः ।
विचारयामास चिरं न प्रपेदे यथातथम् ॥

—वायुपुराण अ० १०४, श्लो० ४४–५५ ।

२

शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
यस्मिन् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥ १ ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मानत्राह मारुतः ॥ २ ॥
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ।
सर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरम् ॥ ३ ॥
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ।
गयासुरस्य हननं विस्तराद्यत्र कीर्तितम् ॥ ४ ॥
मासानां चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।
दानधर्मा राजधर्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥ ५ ॥
भूपातालककुब्व्योमचारिणां यत्र निर्णयः ।
व्रतादीनां च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥ ६ ॥
उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहितोक्ता वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥ ७ ॥
संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः ।
नर्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्तितम् ॥ ८ ॥

—नारदपुराण

४

पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम्।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ॥ ९ ॥
महिमानं शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा।
अपरार्द्धं तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥ १० ॥
पुराणेपूत्तरं प्राहु पुराणं वायुनोदितम्।
शिवभक्तिसमायोगान्नमद्वयविभूषितम् ॥ ११ ॥

—रेवामाहात्म्य

५

श्वेतकल्पप्रसंगेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत्।
यत्र यद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥ १२ ॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥

—मत्स्यपुराण

६

प्रवक्ष्यामि परमं पुण्यं पुराणं वेदसम्मितम्।
शिवज्ञानार्णवं साक्षाद् भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥
शब्दार्थन्यायसंयुक्तैरागमार्थैर्विभूषितम् ।
श्वेतकल्पप्रसंगेन वायुना कथितं पुरा ॥

—वायुसंहिता

(छ) श्रीमद्भागवत की महापुराणता

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को प्रभावित करनेवाले संस्कृत ग्रन्थों में श्रीमद्भागवत अन्यतम है। भागवत के दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर गोस्वामीजी ने अपने रामायण को सर्वजन तथा सर्वलोक के लिए उपादेय तथा आवर्जक बनाया है। रामचरितमानस के दार्शनिक दृष्टिकोण के विषय में मानसमर्मज्ञ विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोक अद्वैत को तथा इतर लोग विशिष्टाद्वैत को ही रामायण का प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं। मेरी दृष्टि में इस विषय में भागवत से तुलसीदास ने अत्यधिक स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण की है। भागवत का सिद्धान्तपक्ष है अद्वैत तथा साधनापक्ष है भक्ति और रामचरितमानस का भी यही प्रतिपाद्य है—अद्वैत से समन्वित भक्तियोग। श्रीमद्भागवत के स्वरूप निर्णय करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है कि भागवत पुराण है अथवा उपपुराण तथा इसके प्रणेता अन्य पुराणों के रचयिता व्यासदेव हैं या बोपदेव नामधारी कोई विद्वान् ?

अष्टादश पुराणों तथा पुराणस्थ अनुक्रमणी में 'भागवत' का नाम ही सर्वत्र पुराणरूप से निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु आजकल 'भागवत' नामधारी दो पुराण की सत्ता विद्यमान है (१) विष्णु की महिमा का प्रतिपादक श्रीमद्भागवत तथा (२) देवी के गौरव का प्रतिपादक देवीभागवत। ऐसी स्थिति में विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन पुराण 'भागवत' नाम से उल्लिखित तथा प्रमाणित किया जाय। इस प्रश्न के समाधानार्थ कतिपय प्रमाण नीचे दिए जाते हैं—

(१) पद्मपुराण में सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत विष्णु, नारद, गरुड, पद्म तथा वाराह के साथ 'भागवत' का भी स्पष्ट संकेत है।[1] गरुड पुराण में सात्त्विक पुराणों की तीन श्रेणियाँ—उत्तम, मध्यम तथा अधम-स्थापित कर उनका विभाजन किया गया है—(क) मत्स्य तथा कूर्म को 'सत्त्वाधम' (ख) वायु को 'सात्त्विकमध्यम' तथा (ग) गरुड, विष्णु और भागवत को 'सत्त्वोत्तम' पुराण माना गया है।[2] प्रश्न यह है कि पुराण की सात्त्विकता की कसौटी

---

१. वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै॥ —पद्मपुराण।

२. सत्त्वाधमे मात्स्य–कौर्मे समाहुर्वायुं चाहुः सात्त्विकं मध्यमं च।
विष्णोः पुराणं भागवतं पुराणं सत्त्वोत्तमे गारुडं चाहुरार्याः।'—गरुडपुराण

गया है ? इसके उत्तर में कूर्म तथा गरुड पुराण की स्पष्ट सम्मति है कि जिन पुराणों में हरि का माहात्म्य अधिकता से प्रतिपादित हो तथा विष्णु के स्वरूप तथा चरित का विशेष उपन्यास हो उन्हें 'सात्त्विक' कहा जाता है।[1] गरुड पुराण के साक्ष्य पर भागवत सर्वोत्तम पुराण इसीलिए है कि उसमें विष्णुचरित सर्वापेक्षया अधिकता से वर्णित है।

इस कसौटी पर कसने से देवीभागवत सात्त्विक पुराण की कोटि में *आता ही नहीं, क्योंकि उसमें विष्णु के माहात्म्य का प्रतिपादन न होकर* देवीमहिमा का ही उत्कृष्ट विवरण है। फलतः इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत ही, जिसके समस्त स्कन्धों में हरि का ही यश विशेष रूप से उनके नाना अवतारों के चित्रण के अवसर पर वर्णित हैं, अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत होने की योग्यता रखता है।

(२) भागवत का लक्षण—पुराणों में स्थान स्थान पर भागवत का *वैशिष्ट्य तथा लक्षण का निर्देश मिलता है। मत्स्यपुराण*[2] *तथा वामनपुराण*[3] में निर्दिष्ट लक्षणों के समन्वय करने पर भागवत के तीन वैशिष्ट्यों के परिचय आलोचकों को मिलते हैं—(क) गायत्री से समारंभ; (ख) वृत्र के वध का प्रसंग; (ग) हयग्रीव ब्रह्मविद्या का विवरण।

इन तीनों वैशिष्ट्यों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। देवी-भागवत के आरम्भ में मंगलात्मक श्लोक का उपन्यास 'गायत्र्या समारंभ' का *सङ्केत माना जाता है।* वह मंगल श्लोक है—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।

इस श्लोक में 'धीमहि' तथा 'प्रचोदयात्' दोनों ही गायत्री के साक्षात् पद हैं। यह तीन पादों का श्लोक है जो वेद की त्रिपदा गायत्री का बोधक माना गया है। परन्तु विचार करने से तो यही प्रतीत होता है कि किसी लेखक ने बुद्धिपूर्वक वैदिक गायत्री की समता की दृष्टि से इस अनुष्टुप्

---

१. अन्यानि विष्णोः प्रतिपादकानि।
सर्वाणि तानि सात्त्विकानीति चाहुः॥ —गरुडपुराण।
सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः॥ —कूर्मपुराण।

२. यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद् भागवतमिष्यते॥ —*मत्स्यपुराण (५३।२०)*

३. *हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।*
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः॥ —वामनपुराण

में तीन ही चरणों की रचना की है। परन्तु 'गायत्र्या समारम्भ' का स्वारस्य गायत्री छंद की समता से निष्पन्न नहीं होता क्योंकि इसमें गायत्री के प्रतिपाद्य विषय का कथमपि स्पर्श नहीं है। 'धीमहि' में ध्यान तथा तृतीय चरण (बुद्धि या न प्रचोदयात्) के पदों में बुद्धि की प्रेरणा की चेतना अवश्य होती है, परन्तु 'सवितु' 'वरेण्य' 'भर्गो' आदि पदों का न तो समानार्थक कोई पद ही उपलब्ध होता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ का ही कहीं संकेत मिलता है।

श्रीमद्भागवत का आदिम पद्य (प्रथम स्कन्ध का प्रथम श्लोक) अपने प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता तथा वैशिष्ट्य के निमित्त नितान्त प्रख्यात है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञ स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः॥
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

—भा० १।१।१

इस पद्य में गायत्री के कई पद और अर्थ विद्यमान हैं। गायत्री के 'सवितु' शब्द का अर्थबोध 'जन्माद्यस्य यत' द्वारा होता है। 'देवस्य' = स्वराट। 'वरेण्य भर्ग' = धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्। 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' गायत्रीस्थ स्वराट पद का प्रतिनिधि है। धीमहि = धीमहि। 'सत्य पर धीमहि' का प्रयोग इस आदि श्लोक के समान भागवत के अन्तिम पद्य के अत में भी है।[1] इस प्रकार पद्य में गायत्री अर्थतः तथा शब्दतः उभय विधया प्रतिपादित है। फलतः 'यत्राधिकृत्य गायत्रीम्', 'गायत्र्या च समारम्भ' तथा 'गायत्री भाष्यरूपोऽसौ' आदि वचनों का लक्ष्य श्रीमद्भागवत ही है, देवीभागवत नहीं।

यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि गायत्री के द्वारा प्रतिपाद्य देवता कौन है? इस विषय में पुराण तथा योगी याज्ञवल्क्य[3] नारायण विष्णु को ही

१ द्रष्टव्य-भा०, १२।१३।१९।

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य इस पद्य की मधुसूदनी व्याख्या, प्र०-काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

३ वरेण्य वरणीय च संसारभय भीरुभि।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभि॥
जन्ममृत्युविनाशाय दु खस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्य स सूर्यमण्डले॥—योगी याज्ञवल्क्य।

गायत्री द्वारा प्रतिपाद्य देव स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण के अध्याय २१६ में गायत्री के अर्थ के प्रसग म इस विषय का गभीरता के साथ विचार किया गया है। उसमे अग्नि सूय शिव तथा शक्ति के अथ को सूचित कर विष्णुपरक तात्पर्य को ही मान्यता दी गई है।[1] फलत सवितृमडलमध्यवर्ती नारायण ही गायत्री के द्वारा द्योत्य हैं और इस तात्पय की पूण सत्ता भागवत के आद्य श्लोक म विशदतया वतमान है इसके विषय मे दो मत हो नहा सकते।

(ख) वृत्रवध का प्रसग दोनो भागवतों मे मिलता है। श्रीमद्‌भागवत मे यह प्रसग वैशद्य के साथ वर्णित है।[2]

(ग) वामन पुराणस्थ भागवत लक्षण म हयग्रीव ब्रह्मविद्या का प्रधानतया निर्देश है। भागवत के कथनानुसार षष्ठ स्कध के अध्याय आठ म वर्णित 'नारायण कवच' ही पूर्वोक्त हयग्रीव ब्रह्मविद्या है। इस कवच के उपदेश की परपरा भी अगले अध्याय (६।९) मे दी गई है। दधीचि ऋषि नितात ब्रह्मज्ञानी थे। अभ्यर्थना किए जाने पर उन्होंने अश्विनीकुमारो को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना स्वीकार किया। इद्र ने इसका यह कह कर विरोध किया— 'वैद्य होने के कारण अश्विनी ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं है। यदि मेरी आज्ञा का उल्लघन करोगे तो मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा। दधीचि से इस बात। की सूचना पान पर अश्विनीकुमारो ने दधीचि का मूल शिर काट कर

अलग रख दिया और उसके स्थान पर घोड़े का सिर लगा दिया। दधीचि ने इसी 'अश्वशिर से' ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जिसे क्रुद्ध इन्द्र ने काट डाला। तब इन स्वर्वैद्यों ने अपनी शल्य चिकित्सा की अलौकिक चातुरी से मूल शिर दधीचि को लगा दिया। 'अश्वशिर' से उपदिष्ट होने से यह नारायण कवच 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' के नाम से विख्यात हुआ। भागवत में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

> स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
> यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात्॥[1]
>
> —भागवत, ६।९।५२।

इस कवच के सम्प्रदाय की परंपरा इस प्रकार है—अथर्ववेदी दध्यङ् (या दधीचि) ऋषि→त्वष्टा→विश्वरूप—इन्द्र (भागवत, ६।९।५३)। यह कवच ही 'विद्या' के नाम से भागवत में बहुत निर्दिष्ट किया गया है—

> 'न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्'। —६।८।३७।
> 'इमां विद्यां पुरा कश्चित्'। —६।८।३८।
> 'एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः। —६।८।४२।

इस 'नारायण कवच' के स्वरूप तथा मन्त्रों का विशद विवरण भागवत के छठें स्कन्ध के अष्टम अध्याय में है। इस कवच का उपदेश वृत्रासुर के वध के अवसर पर भागवत में दिया गया है। वृत्रासुर की कथा देवीभागवत में भी अनेक अध्यायों में वर्णित है।[2] दोनों में अन्तर इतना ही है कि देवीभागवत के अनुसार वृत्र फेन के द्वारा मारा गया जिसमें पराशक्ति ने प्रवेश कर उसे शक्ति-सम्पन्न बनाया था। अतः वृत्र-वध में पराशक्ति का ही विशेष हाथ है।[3] श्रीमद्भागवत में इसी प्रसंग में नारायण कवच का उपदेश तथा शक्तिसम्पन्न इन्द्र के द्वारा वृत्र-वध का स्पष्ट वर्णन है। निष्कर्ष यह है कि वैष्णव भागवत के स्वरूपानुसार 'नारायण कवच' के उपदेश की संगति वहीं बैठती है, देवीभागवत में नहीं, जिसमें इस कवच का नितान्त अभाव है। फलतः 'गायत्र्या समारम्भ' तथा 'हयग्रीव ब्रह्मविद्योपदेश' निःसन्देह श्रीमद्भागवत को ही पुराण-निर्दिष्ट 'भागवत' सिद्ध करने में पर्याप्त लक्षणयुक्त है।

---

१. इसकी विशिष्ट व्याख्या के लिए द्रष्टव्य इस श्लोक की श्रीधरी जिसमें प्राचीन पद्य इस कथानक के विषय में उद्धृत किए गए हैं।

२ द्रष्टव्य स्कन्ध— , अ० २, ६।

३. इत्थं वृत्रः पराशक्ति-प्रवेशयुत-फेनतः।
तथा इन्द्रविमोहाच्च दम्भेन सहसा हतः॥ —देवीभाग०, ६।६।६७

गायत्री द्वारा प्रतिपाद्य देव स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण के अध्याय २१६ में गायत्री के अर्थ के प्रसग मे इस विषय का गभीरता के साथ विचार किया गया है। उसमे अग्नि, सूर्य, शिव तथा शक्ति के अर्थ को सूचित कर विष्णुपरक तात्पर्य को ही मान्यता दी गई है।[1] फलत सवितृमडलमध्यवर्ती नारायण ही गायत्री के द्वारा द्योत्य हैं ओर इस तात्पर्य की पूर्ण सत्ता भागवत के आद्य श्लोक मे विशदतया वर्तमान है, इसके विषय मे दो मत हो नही सकते।

(ख) वृत्रवध का प्रसग दोनो भागवतो मे मिलता है। श्रीमद्भागवत मे यह प्रसग वैशद्य के साथ वर्णित है।[2]

(ग) वामन पुराणस्थ *भागवत लक्षण मे हयग्रीव ब्रह्मविद्या का प्रधानतया* निर्देश है। भागवत के कथनानुसार षष्ठ स्कध के अध्याय आठ मे वर्णित 'नारायण कवच' ही पूर्वोक्त 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' है। इस कवच के उपदेश की परपरा भी अगले अध्याय (६।९) मे दी गई है। दधीचि ऋषि नितात ब्रह्मज्ञानी थे। अभ्यर्थना किए जाने पर उन्होंने अश्विनीकुमारो को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना स्वीकार किया। इद्र ने इसका यह कह कर विरोध किया—'वैद्य होने के कारण अश्विनौ ब्रह्मविद्या के अधिकारी नही है। यदि मेरी आज्ञा का उल्लघन करोगे, तो मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा'। दधीचि से इस वार्ता की सूचना पाने पर अश्विनीकुमारो ने दधीचि का मूल शिर काट कर

ध्येय सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती।
नारायण सरसिजासन-सन्निविष्ट ॥
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी।
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशखचक्र ॥ —सूर्यस्तव का श्लोक १।

१. शिव केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूप पठन्ति च।
केचित् सूर्य केचिदग्नि वेदगा अग्निहोत्रिण ॥
अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते।
तत् पद परम विष्णोर्देवस्य सवितु स्मृतम् ॥ —अग्नि०, २१६।८-९।

अग्निपुराण के तात्पर्य को देवीभागवत की तिलक व्याख्या के रचयिता शैव नीलकण्ठ ने नास्तिकमूल कहकर उसका खण्डन किया है। उन्होने 'भर्गो वै रुद्र' मैत्रायणी के इस वचन के आधार पर 'भर्ग' शब्द का अर्थ रुद्र किया है तथा नारायणपरक अर्थ की उपेक्षा की है। यदि नीलकण्ठ की दृष्टि मे अग्निपुराण का वचन अर्थवाद तथा स्तावकमात्र है तो मैत्रायणी श्रुति तथा प्रपचसार आदि तन्त्र के वचन भी उसी प्रकार स्तावक माने जा सकते हैं।

२ द्रष्टव्य देवीभागवत, ६।२-६ तथा श्रीमद्भागवत, ६।९-१४।

अलग रख दिया और उसके स्थान पर घोड़े का सिर लगा दिया। दधीचि ने इसी 'अश्वशिर से' ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जिसे क्रुद्ध इन्द्र ने काट डाला। तब इन अश्वियों ने अपनी शल्य चिकित्सा की अलौकिक चातुरी से मूल सिर दधीचि को लगा दिया। 'अश्वशिर' से उपदिष्ट होने से यह नारायण कवच 'हयग्रीव ब्रह्मविद्या' के नाम से विख्यात हुआ। भागवत में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार है—

> स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्।
> यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधाम्॥[1]
>
> —भागवत, ६।९।५२।

इस कवच के संक्रमण की परंपरा इस प्रकार है—अथर्ववेदी दध्यङ् (या दधीचि) ऋषि→त्वष्टा→विश्वरूप—इन्द्र (भागवत, ६।९।५३)। यह कवच ही 'विद्या' के नाम से भागवत में बहुश निर्दिष्ट किया गया है—

> 'न कुतश्चिद् भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत्'। —६।८।३७।
> 'इमां विद्यां पुरा कश्चित्'। —६।८।३८।
> 'एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः। —६।८।४२।

इस 'नारायण कवच' के स्वरूप तथा मन्त्रों का विशद विवरण भागवत के छठें स्कन्ध के अष्टम अध्याय में है। इस कवच का उपदेश वृत्रासुर के वध के अवसर पर भागवत में दिया गया है। वृत्रासुर की कथा देवीभागवत में भी अनेक अध्यायों में वर्णित है।[2] दोनों में अन्तर इतना ही है कि देवीभागवत के अनुसार वृत्र फेन के द्वारा मारा गया जिसमें पराशक्ति ने प्रवेश कर उसे शक्तिसम्पन्न बनाया था। अतः वृत्र-वध में पराशक्ति का ही विशेष हाथ है।[3] श्रीमद्भागवत में इसी प्रसंग में नारायण कवच का उपदेश तथा शक्तिसम्पन्न इन्द्र के द्वारा वृत्र-वध का स्पष्ट वर्णन है। निष्कर्ष यह है कि वैष्णव भागवत के स्वरूपानुसार नारायण कवच' के उपदेश की संगति वहीं बैठती है, देवीभागवत में नहीं, जिसमें इस कवच का नितांत अभाव है। फलतः 'गायत्र्या समारम्भ' तथा 'हयग्रीव ब्रह्मविद्योपदेश' निःसन्देह श्रीमद्भागवत को ही पुराण-निर्दिष्ट 'भागवत' सिद्ध करने में पर्याप्त लक्षणयुक्त है।

---

१. इसकी विशिष्ट व्याख्या के लिए द्रष्टव्य इस श्लोक की श्रीधरी जिसमें प्राचीन पद्य इस कथानक के विषय में उद्धृत किए गए हैं।

२ द्रष्टव्य स्कन्ध— , अ० २, ६।

३. हत्य वृत्र पराशक्ति-प्रवेशयुत-फेनतः।
तथा कृतविमोहाच्च शर्मेण सहसा हत ॥ —देवीभाग०, ६।६।६३।

(३) निबन्ध ग्रन्थों का साक्ष्य—(क) मध्ययुगीय धर्मशास्त्र के निबन्ध ग्रन्थो मे उद्धृत श्लोक श्रीमद्भागवत म ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत म नही। निबन्धकारो म विशेषत वल्लालसेन, हेमाद्रि, गोविदानद, रघुनन्दन, गोपालभट्ट ने अपने-अपने निबध ग्रन्थो मे किसी 'भागवत' से जितने उद्धरण उद्धृत किए हैं उनमे अधिकाश श्रीमद्भागवत मे ही उपलब्ध होते हैं, देवीभागवत मे ऐसा एक भी श्लोक नही मिलता। इससे श्रीमद्भागवत' की प्राचीनता तथा पुराणत्वेन प्रख्याति नि सदिग्ध है।

(ख) वल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' (रचनाकाल १०९१ शक= ११६९ ई०) मे जिन पुराणो से उद्धरण दिए है उनके तथ्यातथ्य के विषय मे अपनी बहुमूल्य आलोचना भी दी है। उस युग के निबन्धकार मे ऐसी आलोचना-शक्ति का सद्भाव सचमुच आश्चर्यकारी प्रतीत होता है। भागवत के विषय मे वल्लालसेन का कथन है कि दानविषयक श्लोको के नितात अभाव के कारण ही इस पुराण से श्लोक उद्धृत नही किए गए हैं—

भागवतं च पुराणं ब्रह्माण्डं चैव नारदीयं च
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्य॥

—उपोद्घात श्लोक ५७।

यह कथन श्रीमद्भागवत के महापुराणतत्त्व की सिद्धि के निमित्त निर्णायक माना जा सकता है। वर्तमान देवीभागवत मे एक पूरा अध्याय ही (नवम स्कन्ध, ३० अ०) दान की प्रशसा तथा विविधरूपता के विषय मे उपलब्ध होता है, परन्तु श्रीमद्भागवत मे दानविषयक पद्य का सचमुच नितात अभाव है। यदि उनकी दृष्टि मे 'देवीभागवत' भागवत नाम के द्वारा लक्षित होता तो इस कथन की आवश्यकता न होती और वे उसी मे से दानविषयक पद्य उद्धृत करते। यह पद्य इस विषय मे बडे महत्त्व का है। अत वल्लालसेन की दृष्टि मे वैष्णव भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित होने की योग्यता रखता है।

(ग) अलबरूनी (१०३० ई०) ने अपने भारतविषयक ग्रन्थ मे वैष्णव भागवत को प्रधान पुराणो म अन्यतम माना है, परन्तु यह देवीभागवत से अपनी अभिज्ञता प्रकट नही करता। यहाँ पुराणो की दोनो सूचियो मे से किसी भी सूची मे इस भागवत का नाम निर्दिष्ट नही है। यह इसकी सत्ता के अभाव का प्रतिपादक है।

(घ) पद्मपुराण के उत्तरखण्ड मे तथा स्कन्दपुराण के विष्णुखण्ड म भागवत के माहात्म्य का वर्णन कई अध्यायो मे मिलता है। इन दोनों स्थलो पर माहात्म्य की सूचिका आख्यायिका भी भिन्न-भिन्न हैं। यह माहात्म्य श्रीमद्भागवत का ही है, भागवत नामधारी किसी अन्य पुराण का नहीं। स्कन्दपुराण म पृथक्

से पाँच अध्यायों में देवीभागवत का माहात्म्य वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दपुराण दोनों भागवतों का अस्तित्व पृथक् रूप से मानता है। दोनों में किसी प्रकार का साम्य नहीं करता। देवीभागवत का माहात्म्य स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड'[1] का बतलाया गया है जिसका अस्तित्व ही ज्ञात नहीं है।[2]

(ङ) नारदीय पुराण ने अपने पूर्वभाग के ९६ अध्याय में भागवत के वर्ण्य विषय का निर्देश किया है जो वैष्णव भागवत में आज भी उपलब्ध होता है, देवीभागवत में नहीं।

(च) श्रीमद्भागवत में देवीभागवत का कहीं भी उल्लेख नहीं है और न अपने आपको मुख्य पुराण सिद्ध करने का किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न है। परन्तु देवीभागवत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह श्रीमद्भागवत से भलीभाँति परिचय रखता है। देवीभागवत का अष्टम स्कन्ध जिसमें भूगोल तथा खगोल का विस्तृत विवरण है, श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध का अक्षरश: अनुकरण है—अन्तर इतना ही है कि जहाँ श्रीमद्भागवत वैज्ञानिक विषयों के वर्णन के लिये उपयुक्त गद्य के नैसर्गिक माध्यम का आश्रय लेता है, वहाँ देवीभागवत अपनी अधमर्णता को छिपाने के लिए पद्य का कृत्रिम माध्यम पकड़ता है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। देवीभागवत के अष्टम स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन है। यह अक्षरश: श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय से आनुपूर्वी गृहीत है—आरंभ के ५ श्लोक = भागवत के ५।१९।११-१५ तथा इस अध्याय के अन्तिम ८१ श्लोक = भागवत के उसी अध्याय के २१-२८ श्लोक। भागवत के बीच के गद्यभाग देवीभागवत में पद्यात्मना परिणत कर दिए गए हैं। भारतवर्ष विषयक ये सुंदर पद्य भागवत की शैली में ही निबद्ध हैं—

> **अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।**
> **यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥**

---

१ 'स्कन्दपुराण' के सात ही खण्ड आज तक प्रख्यात थे और प्रकाशित भी थे। यह 'मानसखण्ड' उन सब से पृथक् तथा भिन्न है। इसकी एक प्रति कई वर्षों पूर्व सर्वभारतीय काशिराजन्यास (रामनगर) को नेपाल से मिली थी जिस उपलब्धि की सूचना गत व्यास-पूर्णिमा पर्व पर स्वयम् काशिराज डा० विभूति-नारायण सिंह ने दी। यदि यह अज्ञात खण्ड अन्य प्रमाणों के आधार पर सचमुच ही वास्तविक सिद्ध हो जाय तो पौराणिक संसार में यह निःसन्देह नूतन उपलब्धि है।

२ इस माहात्म्य के लिए देखिए देवीभागवत का मनसुखराय मोर द्वारा प्रकाशित संस्करण, पूर्वार्ध, पृ० १-२३, कलकत्ता—१९६०।

भुवन कोष के अन्य विभागों के वर्णन के लिये भी यही रीति अपनाई गई है। इससे देवीभागवत श्रीमद्भागवत से केवल परिचित ही नहीं है, प्रत्युत उसका विशेष-भावेन ऋणी भी है।

(छ) अपनी उत्कृष्टता दिखलाने के लिए देवीभागवत को उपपुराणा के अन्तर्गत रखने मे नहीं हिचकता।[1] शुकदेव का चरित्र भी दोनो मे पृथक् दिखलाया गया है। श्रीमद्भागवत मे शुकदेव नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप म चित्रित किए गए हैं, परतु देवीभागवत म उनके गार्हस्थ्य धर्म क ग्रहण करने की विशद कथा दी गई है। यह वर्णन अवान्तरकालीन प्रतीत होता है, क्योंकि गार्हस्थ्यधम की महिमा का प्रदर्शन भारतीय समाज की प्रतिष्ठा के निमित्त नितात आवश्यक समझने पर किया गया।

(ज) अष्टादश पुराणो मे निर्दिष्ट 'भागवत के निर्देश के विषय मे शास्त्रो मे मतैक्य नहीं है। कुछ लोग कालिकापुराण को ही इस नाम से उल्लिखित करते हैं क्योंकि उसमे 'भागवती के चरित्र का आमूल वर्णन है, कुछ लोग 'देवीपुराण' को यह गौरव देने के पक्षपाती हैं तो दूसरे जन देवीभागवत' को। यह अनैकमत्य इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि वैष्णवभागवत को प्रतिष्ठा तथा महिमा से उद्विग्न होकर शाक्त लोग अपने लिए नाना शाक्त ग्रन्थो को 'भागवत' का गौरव प्रदान करने के लिए उत्सुक थे। ऐकमत्य का अभाव किसी पुष्ट परम्परा के अभाव का स्पष्ट सूचक है।

(झ) मत्स्यपुराण का कथन है—

> सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्यु नरोत्तमा.।
> तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद् भागवतमुच्यते ॥

—मत्स्य ५३।२१।

इसके अनुसार भागवत मे सारस्वत कल्प की कथा होनी चाहिए परन्तु द्वितीय स्कन्ध के 'पाद्म कल्पमथो शृणु' वचन भागवत मे पाद्मकल्प के चरित का वर्णन बतलाया गया है। यह विरोध क्यो? इसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रीमद्भागवत म सारस्वत कल्प कथा का अभाव है।

बृहद् वामनपुराण के वचन—

> आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यमे।
> कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥

के अनुसार कृष्णकथा सारस्वत कल्प की ही है। फलत मत्स्यपुराण के पूर्वोक्त वचन से कथमपि विरोध नहीं है।

---

१ द्रष्टव्य—देवीभागवत, १।३।१६।

इन तर्कों पर ध्यान देने से देवीभागवत की उपपुराणता तथा श्रीमद्भागवत की महापुराणता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भागवत तथा वोपदेव

भारतीय साहित्य में वोपदेव की कीर्ति न्यून नहीं है। ये श्रीमद्भागवत के विशेष मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने भागवत के विषय को लेकर तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया (१) हरिलीलामृत (या भागवतानुक्रमणी)—जिसमें श्रीमद् भागवत के समस्त अध्यायों की सूची विस्तार से दी गई हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रदर्शन मार्मिकता से किया गया है, (२) मुक्ताफल—यह भागवत के श्लोकों का रसानुयायी संग्रह है जिसमें श्लोकों का वर्गीकरण नवरस की दृष्टि से किया गया है, (३) परमहंस प्रिया—श्रीमद्भागवत की टीका बतलायी जाती है, परन्तु अभी तक अप्रकाशित होने से इसके स्वरूप के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों की संज्ञा का तो नहीं, परन्तु संख्या की ओर वोपदेव ने स्वयम् संकेत किया है—'साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रय'। वोपदेव ने श्रीमद्भागवत के अनुशीलन में भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित किया तथा भक्ति को केवल भाव माननेवाले कश्मीरी आचार्यों के मतों की तीव्र आलोचना की। भक्तिरस का यह प्रथम विन्यास वोपदेव के महत्त्व का प्रतिपादक है। ये भगवान् में 'मनोनिवेश' को भक्ति का स्थायीभाव मानते हैं तथा इन्होंने भक्ति की रसरूपता की पुष्टि युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर बड़े अभिनिवेश के साथ अपने 'मुक्ताफल' में की है।[1]

इन्होंने अपने को विद्वद्वर धनेश का शिष्य तथा भिषक् केशव का पुत्र बतलाया है। इनके ग्रन्थों की अंतरंग परीक्षा से सुस्पष्ट है कि ये रामगिरि के यादव नरेशों के माहामात्य धर्मशास्त्री हेमाद्रि के आश्रय में रहते थे तथा उन्हीं की प्रेरणा से इन्होंने पूर्वोक्त त्रयी का प्रणयन किया। इनका समय ईसा की १३ वीं शती है।

ये ही वोपदेव श्रीमद्भागवत के रचयिता माने गए हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही अपने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में (पृ० ३३५ पर) इस बात का उल्लेख किया हो, ऐसी बात नहीं है। पंडित नीलकण्ठ शास्त्री ने भी देवीभागवत टीका के उपोद्घात में इस बात का उल्लेख इस प्रकार किया है—'द्वितीयैकपक्षैर्देशिनोऽपि विष्णुभागवतं बोपदेव-कृतमिति वदन्ति।' इस किंवदन्ती का उदय कैसे हुआ? ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। हरिलीलामृत

१. डा० रामनरेश वर्मा, हिंदी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० २८८-९०, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०२०।

जैसे भागवताध्यायानुक्रमणी को लक्ष्य कर ही किसी ने यह प्रवाद चला दिया होगा, तो कोई आश्चर्य नहीं। अब इस प्रवाद के खण्डनार्थ कतिपय तर्क यहा उपस्थित किए जाते हैं—(१) बोपदेव के आश्रयदाता हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिंतामणि' मे भागवत के श्लोको को प्रमाण दिखलाने के निमित्त उद्धृत किया है। यह स्थिति भागवत को समकालीन रचना नही सिद्ध करती। अपने आश्रित की रचना को कोई भी विज्ञ पुरुष प्रमाण देने के लिए कभी नही उद्धृत करेगा।

(२) द्वैतमत के प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व (या आनन्दतीर्थ) ने भागवत तात्पर्यनिर्णय नामक ग्रथ मे भागवत के तात्पर्य का विश्लेषण किया है तथा भक्ति को ही सर्वातिशायी साधन बतलाया है। स्मृत्यर्थसागर के श्लोक के आधार पर मध्वाचार्य का जन्म १२५७ विक्रमी (१२०० ई०) म माना जाता है[1] अर्थात् मध्वाचार्य बोपदेव से लगभग सौ वर्ष पहिले उत्पन्न हुए। यह ऐतिहासिक तथ्य पूर्वोक्त मत का स्पष्ट खण्डन करता है।

(३) श्री वैष्णवमत के उन्नायक श्रीरामानुजाचार्य (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्त तत्त्वसार' मे भागवत की वेदस्तुति १०।८७ से तथा एकादश स्कध से कतिपय पद्यो को उद्धृत किया है।

श्रीशकराचार्य के कतिपय स्तोत्रो के ऊपर भागवत की स्पष्ट छाप है। कहीं कही शब्द-साम्य इतना अधिक है कि उनका भागवत से परिचित होना नितान्त स्वाभाविक है। एक दो उदाहरण लीजिए। आचार्य के 'गोविंदाष्टक' का यह श्लोक जिसमे श्रीकृष्ण के मिट्टी खाने का वर्णन है भागवत के आधार पर है—

> मृत्स्नामत्सीहेति यशोदा ताडन शैशव संत्रासम्।
> व्यादितवक्त्रालोकित लोकालोक चतुर्दशलोकालम्॥

'प्रबोधसुधाकर' आदि शकराचार्य की निसदिग्ध रचना मानी जाती है। इसमे श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का, ब्रह्मा का मोहित होना, बछडो का चुराना, सब के रूप मे श्रीकृष्ण का बदल जाना आदि के वर्णन भागवत का अनुसरण करते हैं। गोपियो के प्रेम का रसमय वर्णन तो बलात् भागवत की ही स्मृति दिलाता है जहाँ उसका परिपाक मधुरता से सपन्न है। शकराचार्य ने इस पद्य में स्फुटत व्यास के वचनो की ओर सकेत किया है जो भागवत म निश्चयन उपलब्ध है—

---

१ एकादशशते शाके विंशत्यद्वये गते।
अवतीर्ण मध्वमुनि सदा वन्दे महागुरुम्॥
११२२ शाक = १२५७ विक्रमी = १२०० ईस्वी।

कापि च कृष्णायन्ती कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः ।
अपिबत् स्तनमिति साक्षाद् व्यासो नारायणः प्राह ।—शकर ।
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् ।।—भागवत ।

श्रीमद्भागवत के वचन को शकराचार्य ने यहां अक्षरशः उद्धृत किया है और स्पष्टत कहा है कि यह व्यास का वचन है। फलत भागवत वेदव्यास रचित है तथा शकराचार्य से प्राचीनतर है—यह तथ्य स्वयमेव सिद्ध होता है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय (सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) मे बगाक्षरो मे लिखी हुई भागवत की एक प्रति विद्यमान है जो लिपि की परीक्षा से दशम शती मे लिखी गई मानी जाती है—अर्थात् यह हस्तलेख बोपदेव से लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है।

(६) वेदात की प्रख्यात मान्यता है कि आचार्य शकर के गुरु थे गोविदपाद और उनके गुरु थे श्री गौडपादाचार्य। इन्ही गोडपाद ने अपने 'पचीकरण व्याख्यान' मे 'जगृहे पौरुष रूपम्' इति भागवतमुपन्यतम्' ऐसा लिखा है। यह श्लोक भागवत के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय का प्रथम श्लोक है। इन्होने उत्तरगीता की अपनी टीका मे 'तदुक्त भागवते' लिखकर 'श्रेय सृति भक्तिमुदस्य ते विभो' श्लोक उद्धृत किया है जो भागवत के दशम स्कन्ध के चौदहवें अध्याय का चौथा श्लोक है।

आचार्य शकर का समय मेरी दृष्टि मे सप्तम शती का उत्तरार्द्ध है। फलत उनके दादागुरु गोडपाद का काल इससे लगभग पचास साल पूर्व सप्तम शती का आरम्भ होना चाहिए। उनके द्वारा उद्धृत किए जाने से स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवत की रचना सप्तम शती से पूर्ववर्ती है अर्थात् तेरहवी शती मे उत्पन्न बोपदेव से छ सात सौ वर्ष पूर्व। ऐसी निश्चित परिस्थिति मे बोपदेव को भागवत का प्रणेता मानना नितात अनुचित, अप्रमाणिक तथा इतिहास-विरुद्ध है।

अलबरुनी और पुराण

अलबरुनी महमूद गज़नी के भारतवर्ष की यात्रा पर आया और यहां के विद्वज्जनो की सहायता स उसने भारतवर्ष के विषय मे विशद जानकारी प्राप्त की, विशेषत ज्योतिष, तथा दर्शन के विषय मे। भारत-विषयक अपने ग्रंथ के १२ वें परिच्छेद ने उसने हिन्दुओ के प्राचीन साहित्य का, विशेषत धार्मिक साहित्य का, विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। १८ पुराणो की नामावली उसने दो प्रकार स दी है। एक सूची तो विष्णु पुराण के ऊपर आधारित है और इस सूची मे पुराणो के नाम तथा क्रम

वे ही हैं जो आजकल प्रचलित हैं। दूसरी सूची मे पुराण तथा उपपुराण का मिश्रण हैं। इस सूची के अनुसार १८ पुराणों के नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं :—(१) आदि पु० (२) मत्स्य पु० (३) कूर्म, (४) वराह पु०, (५) नरसिंह पु०, (६) वामन पु०, (७) वायु पु०, (८) नन्दी पु०, (९) स्कद पु०, (१०) आदित्य पु०, (११) सोम पु०, (१२) साम्ब पु०, (१३) ब्रह्माण्ड पु०, (१४) मार्कण्डेय, (१५) तार्क्ष्य पु० (= गरुड पु०), (१६) विष्णु पु० (१७) ब्रह्म पु०, (१८) भविष्य पु०। इस सूची के विश्लेषण करने से अनेक तथ्यों का पता लगता है—

(क) उस समय तक ६ उपपुराणों की रचना हो चुकी थी जिनके नाम ये हैं :—आदि, नरसिंह, नन्दी, आदित्य, सोम तथा साम्ब।

(ख) आदि पुराण ब्रह्म पुराण से भिन्न ही पुराण है।

(ग) सूर्य के विषय मे आजकल प्रचलित उपपुराण 'सौर पुराण' है, परन्तु उस समय आदित्य पुराण का प्रचलन था जो आजकल प्रसिद्ध और प्रचलित नही है।

(घ) साम्ब पुराण का प्रचलन आज भी है, परन्तु सोम पुराण आदित्य पुराण के जोड पर बना हुआ चन्द्र-विषयक उपपुराण प्रतीत होता है।

अलबरुनी का कहना है कि इनमे से उसने केवल तीन पुराण के—आदित्य, मत्स्य तथा वायु के ही कतिपय अशो को देखा है। ग्रन्थ के भौगोलिक तथा खगोलीय विवरण देने मे उसने विष्णु पुराण और विष्णु-धर्म से बहुत ही उद्धरण दिये है जिससे प्रतीत होता है कि उस काल मे ये दोनो ग्रन्थ बहुत ही अधिक लोकप्रिय थे। अलबरुनी के ग्रन्थ का समय ११ शती का उत्तरार्ध (लगभग १०६७ ई०) माना जाता है। पूर्वोक्त ग्रन्थो के निर्देश से यह निश्चित हो जाता है कि उसके युग से पहिले ही ये उपपुराण प्रणीत हो चुके थे और लोक-व्यवहार मे आने लगे थे।

वल्लालसेन तथा पुराण

दानसागर बल्लालसेन का विशिष्ट धर्मशास्त्रीय निबन्ध है। दान के विषय मे पुराणो तथा स्मृतियो मे जिन जिन विषयो का वर्णन उपलब्ध है उन सबका यहाँ साङ्गोपाङ्ग सन्निवेश किया गया है। निबन्धकारो की शैली के अनुसार यत्र तत्र कठिन शब्दो का तात्पर्य भी प्रदर्शित किया गया है। वल्लालसेन ने ग्रन्थ के आरम्भ मे अपना परिचय भी दिया है। ये बगाल के अन्तिम स्वतन्त्र शासक सेनवशावतस, लक्ष्मण सवत् के सस्थापक तथा जयदेव, गोवर्धनाचार्य आदि प्रख्यात कविजनो के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन (११६०–१२१०) के पिता थे। इनके पितामह का नाम था हेमन्तसेन तथा पिता का नाम था विजय-

सेन। इनका समय द्वादश शतक का (उत्तरार्ध है)। इन्होंने पांच सागर-नामान्त ग्रन्थों का प्रणयन किया था जिनमें से 'अद्भुत सागर' (काशी से) तथा दानसागर (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से) प्रकाशित हुआ है। इनके अन्य तीन ग्रन्थ हैं प्रतिष्ठासागर तथा आचार-सागर (दानसागर के पृष्ठ ६, श्लोक ५५-५६ में निर्दिष्ट) तथा व्रत-सागर (दानसागर के पृ ५२ पर निर्दिष्ट) जिनकी रचना 'दानसागर' से पहिले ही की गई थी। 'अद्भुत सागर' का आरम्भ १०८९ शक (११६७ ई०) में किया गया और उनके पुत्र लक्ष्मणसेन ने पूर्ण किया। 'दानसागर' १०९१ शक (=११६९ ई०) में प्रणीत हुआ। 'हारलता' तथा 'पितृदयिता' के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट इनके गुरु थे जिनकी विद्वत्ता तथा चारित्र्य की स्तुति दानसागर के आरम्भ में ही बड़े ही सुन्दर शब्दों में की गई है। इन्हीं से बल्लालसेन ने पुराणों तथा स्मृतियों का रहस्य सीखा, ऐसा उनका कथन है। इस प्रकार बल्लालसेन के साहित्यिक जीवन का काल ११५५ ई० से लेकर ११८० तक माना जाना चाहिए[1]।

दानसागर की उपक्रमणिका में बल्लालसेन ने पुराणों के स्वरूप के विवेचन प्रसग में जिस विवेचन शैली तथा प्रतिभा का परिचय दिया है वह मध्ययुगीय निबन्धकारों में नितान्त दुर्लभ है। पुराणों के वर्जन के विषय में उनकी युक्ति बड़ी सूक्ष्म तथा तलस्पर्शी है। दानसागर के लिए सगृहीत ग्रन्थों में जिनके श्लोक प्रमाण के रूप में उपन्यस्त हैं—में पुराण तथा धर्मशास्त्र का प्रामुख्य है। इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्म, वाराह आग्नेय भविष्य, मत्स्य, वामन, वायवीय, मार्कण्डेय, विष्णु, शैव, स्कन्द, पद्म (१२ पुराण), साम्बपुराण, कालिका, नन्दी, आदित्य, नरसिंह, मार्कण्डेय, विष्णुधर्मोत्तर, विष्णुधर्म (=८ उपपुराण), गोपथ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, मनु, वसिष्ठ संवर्त आदि अनेक स्मृतियाँ (आरम्भ, श्लोक १६–२० जिनका अनावश्यक समझ कर पूरा नाम निर्देश यहाँ नहीं किया जाता)।

अन्य पुराण तथा उपपुराणों के श्लोक यहाँ सगृहीत नहीं किये गये हैं—इन ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में बल्लालसेन के विचार नितान्त आलोचनात्मक हैं तथा इनकी अलौकिक प्रतिभा और गाढ अध्ययन के द्योतक हैं। इन्हीं विचारों का संक्षेप के यहाँ उपन्यास किया जाता है। तथा मूलश्लोक टिप्पणी में दिये गये हैं।[2]

---

१ द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग १ पृ ३४०-३४१ तथा खण्ड ५ भाग २ पृ ८७०।

२ भागवतञ्च पुराणं ब्रह्माण्डञ्चैव नारदीयञ्च।
दानविधिशून्यमेतत् त्रयमिह न निबद्धमवधार्य ॥ ५७ ॥

दानसागर का कथन है कि भागवत पुराण, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय—इन तीनों पुराणों से श्लोकों का संग्रह इसलिए नहीं किया गया कि ये तीनों दानविधि से शून्य हैं। यह कथन भागवत के लिए निर्णायक माना जा सकता है कि बल्लाल सेन की दृष्टि मे श्रीमद्भागवत ही वास्तव 'भागवत' पुराण है, क्योंकि सचमुच इसमे दानविधि का प्रतिपादन नहीं मिलता। देवीभागवत का भागवत शब्द से संकेत इन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि इस भागवत मे एक समग्र अध्याय (स्कन्ध ९, अ० ३०) ही दान के विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करता है। ग्रन्थकार की दृष्टि मे 'देवीभागवत' अभिमत 'भागवत' पुराण होता, तो ऐसी आलोचना व्यर्थ होती। लिंगपुराण के श्लोकों का चयन इसलिए नहीं किया गया कि मत्स्यपुराण मे वर्णित महादान का सार ही इस पुराण मे

बृहदपि लिङ्गपुराणं मत्स्यपुराणोदितैर्महादानैः।
अवधार्य तुल्यसारं दाननिबन्धेऽत्र न निबद्धम् ॥ ५८ ॥
सप्तम्यैव पुराणं भविष्यमपि सगृहीतमतियत्नात्।
त्यक्त्वाष्टमी नवम्यौ कल्पौ पाषण्डिभिर्ग्रस्तौ ॥ ५९ ॥
लोकप्रसिद्धमेतद्विष्णु-रहस्यञ्च शिवरहस्यञ्च।
द्वयमिह न परिगृहीतं सग्रहरूपत्वमवधार्य ॥ ६० ॥
भविष्योत्तरमाचार-प्रसिद्धमविरोधि च।
प्रामाण्यज्ञापकादृष्टेर्ग्रन्थादस्मात् पृथक् कृतम् ॥ ६१ ॥
प्रचरद्रूपतः स्कन्दपुराणैकाशतोऽधिकम्।
यत् खण्डत्रितयं पौण्ड्रेरावन्तिकथाश्रयम् ॥ ६२ ॥
तार्क्ष्यं पुराणमपरं ब्राह्ममाग्नेयमेव च।
त्रयोविंशतिसाहस्रं पुराणमपि वैष्णवम् ॥ ६३ ॥
षट् सहस्रमितं लैङ्गं पुराणमपरं तथा।
दीक्षाप्रतिष्ठापाषण्ड-युक्तिरत्नपरीक्षणैः ॥ ६४ ॥
मृषावंशानुचरितैः कोषव्याकरणादिभिः।
असङ्गतकथाबन्ध-परस्परविरोधतः ॥ ६५ ॥
तन्मीनकेतनादीनां भण्डपाषण्डलिङ्गिनाम्।
लोकवञ्चनमालोक्य सर्वमेवावधीरितम् ॥ ६६ ॥
तत्तत्पुराणोपपुराणसस्यावहिष्कृतं कश्मलकर्मयोगात्।
पाषण्डशास्त्रानुमतं निरूप्य देवीपुराणं न निबद्धमत्र ॥ ३७ ॥
ये दानधर्मविधि सत्त्नुतायेपुराणपुण्यागमस्मृतिगिरां बहवो विवर्त्ताः।
ते ग्रन्थविस्तरभयादविचित्य मेचिदस्माभिरत्र कलिता कलयन्तु सन्तः ॥६८॥

—दानसागर : उपक्रमणिका

उपलब्ध होता है। फलतः वल्लालसेन लिंगपुराण को मत्स्य से अवान्तर कालीन ही नहीं मानते, प्रत्युत महादान के विषय में उसे मत्स्य का अधमर्ण भी मानते हैं। भविष्यपुराण से सप्तमी तिथि के वर्णन तक तो श्लोकों का संग्रह किया गया, अष्टमी तथा नवमी तिथि के परित्याग का कारण पाखंडियों के द्वारा उनका दूषित किया जाना है। शिवरहस्य और विष्णु रहस्य तो लोक में प्रचलित है, परन्तु इनमें श्लोक संग्रह इसीलिए नहीं किया गया कि ये संग्रहरूप है, मौलिक ग्रन्थ बिल्कुल नहीं हैं। भविष्योत्तर आचार वर्णन के कारण प्रसिद्ध तथा सिद्धान्तों से अविरोधी होने पर भी प्रामाण्य के ज्ञापन का कोई साधन नहीं है अर्थात् इस पुराण में दिये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता की पुष्टि कथमपि नहीं की जा सकती और इसी कारण वह वर्जित कोटि में रखा गया है, यद्यपि इस पुराण में आचारों का वर्णन है तथा इसके कथन शिष्ट सिद्धान्तों से कथमपि विरुद्ध नहीं हैं। अन्य पुराणों के वर्णन का कारण नीचे दिया गया है—स्कन्द पुराण के तीन खण्ड जो पौण्ड्र, रेवा तथा अवन्ती की कथा पर आश्रित हैं—ये लोक में प्रचलितरूप से एकाद से अधिक हैं। गरुड पुराण, दूसरा ब्राह्म०, आग्नेय, तेइस हजार श्लोकों वाला विष्णुपुराण, ६ हजार श्लोकों वाला दूसरा लिंग पुराण-दीक्षा, प्रतिष्ठा, पाखण्डियों अर्थात् बौद्धों की युक्ति, रत्नपरीक्षण, मिथ्या वंशानुचरित, कोप-व्याकरण आदि, असंगत कथाओं का निवेश, परस्पर विरोध का अस्तित्व, कामदेव सम्बन्धी कथा, भण्ड, धूर्त, पाखण्ड (बौद्ध) तथा लिंगी (सन्यासी, पाशुपत, पाञ्चरात्र आदि) के द्वारा लोक का प्रवञ्चन देखकर ऊपर निर्दिष्ट पुराणों तथा उपपुराणों का निरस्कार किया गया है। 'देवीपुराण' का भी यहाँ संग्रह नहीं किया गया है, क्योंकि एक तो यह पुराण तथा उपपुराण की संख्या से बहिष्कृत है, दूसरे निन्दित कर्मों (जैसे मारण, मोहन आदि) का यहाँ सन्निवेश है और तीसरे पाषण्ड-शास्त्र—तन्त्र शास्त्र के मत का यह अनुसरण करने वाला है। तात्पर्य है कि ऊपर लिखे गये ग्रन्थों का विभिन्न कारणों से प्रामाण्य है ही नहीं और इसी कारण इनके श्लोकों का संग्रह इस दानसागर में नहीं किया गया है।

दानसागर का रचनाकाल निश्चित होने से वल्लालसेन के पूर्वोक्त कथन बडे महत्त्व तथा गौरव से सम्पन्न है। ऊपर इसका रचनाकाल ११६९ ईस्वी बतलाया गया है। फलतः १२वीं शती के मध्यकाल में पुराणों उपपुराणों की स्थिति के विषय में ये कथन नितान्त महत्त्व-शाली है। इन कथनों के प्रमुख परिणाम इस प्रकार हैं—

(क) श्रीमद्भागवत ही 'भागवत' नाम से अभिहित था। देवी भागवत नहीं। ऐसा यदि नहीं होता, तो दानविषयक एक पूरे अध्याय के रहने पर भागवत दानविधि से शून्य नहीं बतलाया जाता।

आशय है कि जब मूल प्रकृति मे लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत् तत्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्व से तीन प्रकार तामस, राजस तथा सात्त्विक--के अहकार बनते हैं । त्रिविध अहंकार से ही पञ्चतन्मात्रा (भूतमात्र), इन्द्रिय तथा (पच) भूतो की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है।

(२) प्रतिसर्ग—

सर्ग से विपरीत वस्तु अर्थात् प्रलय। विष्णु पुराण मे प्रतिसर्ग के स्थान पर 'प्रतिसंचर' शब्द का प्रयोग मिलता है (विष्णु १।२।२८)। श्रीमद्भागवत मे इस शब्द के स्थान पर 'सस्था' शब्द प्रयुक्त हुआ है (१२।७।१७):—

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः ॥

इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है—नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक। यही 'सस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।'

(३) वंश—

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ॥

—भाग० १२।७।१६

अर्थात् ब्रह्मा जी के द्वारा जितने राजाओ की सृष्टि हुई है, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमानकालीन सन्तान-परम्परा को 'वश' नाम से पुकारते हैं। भागवत के द्वारा व्याख्यात इस शब्द के भीतर राजाओ की ही सन्तान-परम्परा या उल्लेख प्राधान्यधिया है, परन्तु 'वश' को राजवश तक ही सीमित करना उपयुक्त नही है। इस शब्द के भीतर ऋषियो के वश का ग्रहण अन्य पुराणो मे किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद

पुराण का परिचय

(क) पुराण का लक्षण

पुराण के साथ 'पञ्चलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। पञ्चलक्षण के भीतर निम्नलिखित विषय इस प्रख्यात श्लोक के द्वारा निर्दिष्ट किये गये है—

> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
> वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पुराण विषयक यह पद्य प्राय प्रत्यक पुराण मे उपलब्ध होता है।[1] 'पञ्चलक्षण' शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश मे यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है। व्याख्या-विहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोक प्रियता का सकेतक माना जाता है। इस शब्द के विषय मे भी यही तथ्य सर्वतोभावेन क्रियाशील माना जाना चाहिए।

पुराण की सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार ये ही पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं:—

(१) सर्ग—

जगत् की तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है।

> अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहम।
> भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भव सर्ग उच्यते ॥

—भाग० १२।७।११

---

१ यही लक्षण किञ्चित् पाठ भेद से या ऐकरूप्येण इन पुराणो मे प्राप्त होता है—विष्णु पुराण ३।६।२४, मार्कण्डेय १३४।१३, अग्नि १।१४, भविष्य २।५, ब्रह्मवैवर्त १३३।६, वराह २।४, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड, २।८४), कूर्म (पूर्वार्ध १।१२) मत्स्य ५३।६४, गरुड (आचार काण्ड २१८), ब्रह्माण्ड (प्रक्रियापाद १।३८), शिवपुराण (वायवीय संहिता, १।४१)।

(ख) वायु तथा शिव दोनो पुराणो म परिगणित किये गये हैं, यद्यपि मेरी दृष्टि मे वायु० ही महापुराण के अन्तगत है तथा शिव पुराण तान्त्रिक विधियो से सम्पन्न होने के हेतु उपपुराण ही है।

(ग) ब्राह्म, आग्नेय, लिंग तथा विष्णु—ये पुराण दो प्रकार से उस समय वर्तमान थे। ६ हजार श्लोका वाला लिंग पुराण भी उसी प्रकार अप्रामाणिक था, जिस प्रकार २३ हजार श्लोको वाला विष्णु पुराण। यह तथ्य कूर्म पुराण के एक विशिष्ट उल्लेख से भी समर्थित होता है। कूर्म (१।१७–२०) ने उपपुराणो का जो नाम निर्दिष्ट किया है उसम स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड तथा नारदीय पुराणो के समान ही नाम मिलते हैं। इससे यह परिणाम निकालना अनुचित न होगा कि बहुत से उपपुराण पुराणो के सक्षेप रूप थे और इसीलिए वे उन्ही नामो से प्रख्यात थे। बल्लालसेन का पूर्वोक्त कथन इसकी सत्यता प्रमाणित कर रहा है। बृहत् लिंग पुराण के उल्लेख के साथ ही साथ निर्दिष्ट ६ हजार श्लोकों वाला लिंग पुराण प्रमाणित करता है कि इनमे से प्रथम तो महापुराण की कोटि मे था और दूसरा उपपुराण था। दोनो यहा सगृहीत नही है और इसके निमित्त कारण भी भिन्न भिन्न ही बतलाये गये हैं।

(घ) वह तान्त्रिक विधियो से घृणा करते थे और इसीलिए 'देवीपुराण' को वे प्रमाण से बहिष्कृत मानते थे तथा स्कन्द के कतिपय अशो को भी।

(ङ) गरुड पुराण भी बल्लालसेन की दृष्टि मे अनेक कारणो से जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है प्रमाण कोटि मे नही आता।

दानसागर के विस्तृत निर्देशो के आधार पर निकाले गये ये सिद्धान्त १२वीं शती मे पुराण उपपुराणो की सत्ता-असत्ता तथा प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय पर विशेष प्रकाश डालते हैं जो ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए विशेष उपयोगी और उपादेय है।

चतुर्थ परिच्छेद

पुराण का परिचय

(क) पुराण का लक्षण

पुराण के साथ 'पञ्चलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। पञ्चलक्षण के भीतर निम्नलिखित विषय इस प्रख्यात श्लोक के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं—

> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
> वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुराण विषयक यह पद्य प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है।[1] 'पञ्चलक्षण' शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश में यह शब्द विना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है। व्याख्या-विहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोक-प्रियता का संकेतक माना जाता है। इस शब्द के विषय में भी यही तथ्य सर्वतोभावेन क्रियाशील माना जाना चाहिए।

पुराण की सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार ये ही पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं :—

(१) सर्ग—

जगत् की तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है।

> अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः।
> भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥

—भाग० १२।७।११

---

१ यही लक्षण किञ्चित् पाठ भेद से या ऐक्यरूपेण इन पुराणों में प्राप्त होता है—विष्णु पुराण ३।६।२४; मार्कण्डेय १३४।१३; अग्नि १।१४, भविष्य २।५, ब्रह्मवैवर्त १३३।६, वराह २।४, स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड, २।८४), कूर्म (पूर्वार्ध १।१२). मत्स्य ५३।६४; गरुड (आचार काण्ड २।२८), ब्रह्माण्ड (प्रक्रियापाद १।३८); शिवपुराण (वायवीय संहिता, १।४१)।

आशय है कि जब मूल प्रकृति में तीनों गुण क्षुब्ध होते हैं तब महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्त्व से तीन प्रकार तामस राजस तथा सात्त्विक—ये अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकार से ही पञ्चतन्मात्रा (भूतमात्र) इन्द्रिय तथा (पंच) भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है।

(२) प्रतिसर्ग—

सर्ग से विपरीत वस्तु अर्थात् प्रलय। विष्णु पुराण में प्रतिसर्ग के स्थान पर प्रतिसंचर शब्द का प्रयोग मिलता है (विष्णु १।२।२८)। श्रीमद्भागवत में इस शब्द के स्थान पर संस्था शब्द प्रयुक्त हुआ है (१२।७ १७)—

> नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।
> संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः॥

इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है—नैमित्तिक प्राकृतिक नित्य तथा आत्यन्तिक। यही संस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।¹

(३) वंश—

> राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः॥
>
> —भाग० १२।७।१६

अर्थात् ब्रह्मा जी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई है उनकी भूत भविष्य तथा वर्तमानकालीन सन्तान-परम्परा को वंश नाम से पुकारते हैं। भागवत के द्वारा व्याख्यात इस शब्द के भीतर राजाओं की ही सन्तान-परम्परा का उल्लेख प्राधान्यधिया है परन्तु वंश को राजवंश तक ही सीमित करना उपयुक्त नहीं है। इस शब्द के भीतर ऋषियों के वंश का ग्रहण अन्य पुराणों में किया गया है।

(४) मन्वन्तर—

पुराण के अनुसार सृष्टि के विभिन्न काल मान का द्योतक यह शब्द है। पौराणिक काल-गणना का महत्त्व तथा स्वरूप आगे दिखलाया जायगा।

---

१ भागवत (३।१०।१४) में प्रलय के लिए प्रयुक्त प्रतिसंक्रम शब्द प्रतिसर्ग के समान ही सक्रम (सर्ग) से विपरीत तत्त्व का द्योतक है—

> काल-द्रव्य-गुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः॥

विष्णु पुराण का प्रतिसंचर शब्द इसी शैली का शब्द है।

मन्वन्तर १४ होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर का अधिपति एक विशिष्ट मनु हुआ करता है जिसके सहयोगी पांच पदार्थ और भी होते हैं।

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥
—भाग० १२।७।१५

मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार—इन छः विशिष्टताओं से युक्त समय को 'मन्वन्तर' कहते हैं।

(५) वंश्यानुचरित—

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये। —भाग० १२।७।१६

पूर्वोक्त वंशों में उत्पन्न हुए वंशधरों का तथा मूलपुरुष राजाओं का विशिष्ट विवरण जिसमें वर्णित होता है वह 'वंशानुचरित' कहलाता है। यहाँ मनुष्य वंश में प्रसूत महर्षियों का तथा राजाओं का चरित भी समाविष्ट समझना चाहिए। महर्षियों के चरित्र की अपेक्षा राजाओं के चरित्र का ही विशेष विवरण पुराणों में उपलब्ध होता है।

राजनीति शास्त्र में 'पुराण पञ्चलक्षणम्' का एक नया ही संकेत उपस्थित किया गया है जो पूर्व निर्दिष्ट लक्षण से नितान्त भिन्न है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (१-५) की व्याख्या में जयमङ्गला ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया है—

सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्षप्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

इसमें 'पञ्चलक्षण' की एक नितान्त नूतन व्याख्या दी गई है। ध्यान देने की बात है कि धर्म पुराण का एक अविभाज्य लक्षण स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल रूप से ही पुराण में धार्मिक विषयों का सन्निवेश अभीष्ट था। धर्म का सम्बन्ध पुराण के साथ अवान्तर शताब्दियों की घटना है जब वह विकसित होकर अन्य विषयों को भी अपने में सम्मिलित करने लगा था—आधुनिक संशोधकों का प्रायः यही सर्वमान्य मत है। परन्तु जयमंगला के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से यह मत यथार्थतः विशुद्ध नहीं प्रतीत होता। 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः' कह कर भागवत ने भी मन्वन्तर के भीतर धर्म का उपन्यास न्याय्य माना है। यह कथन पूर्वोक्त सिद्धान्त का पोषक माना जा सकता है।[1]

१. द्रष्टव्य पुराण पत्रिका (भाग ४, अंक १) में पण्डित राजेश्वरशास्त्री द्रविड का लेख 'भारतीयराजनीतौ पुराणपञ्चलक्षणम्' पृ० २३६-२४४। जुलाई १९६४। प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर दुर्ग, वाराणसी।

इस सक्षिप्त विवरण मे 'वश' के अन्तर्गत देवताओ तथा ऋषियो के वशो का भी समावेश समझना चाहिए। इन विषयो को पुराण का मौलिक वर्ण्य विषय मानने मे प्रधान हेतु 'सूत' के कार्यों के साथ इसकी पूर्ण सगति है। पहिले कहा गया है कि पुराण का वाचन तथा व्याख्यान करना 'सूत' का प्रधान कार्य था। वायुपुराण के प्रथम अध्याय मे 'सूत' ने स्वय ही 'स्वधर्म' का निर्देश इन महत्त्वपूर्ण शब्दो मे किया है पुरातन सज्जनों के द्वारा दृष्ट या उपदिष्ट सूत का स्वधर्म है—देवताओ ऋषियो, अमिततेज सम्पन्न राजाओ का तथा लोकविश्रुत महात्माओ के वशो का धारण करना। ये महात्माजन आदि इतिहास-पुराणों मे ब्रह्मवेत्ताओ के द्वारा दिष्ट होते हैं। सूत का अधिकार वेद मे नही होता। वायुपुराण के इन वचनो के द्वारा इतिहास, पुराण और वेद का द्वैविध्य विशद-तया द्योतित किया गया है। यह पौराणिक वचन हमारे कथन की पुष्टि करता है कि पुराण की धारा वैदिकधारा से पृथक् विभिन्न धारा थी जिसके सरक्षण—सवर्धन, प्रचार-प्रसार का कार्य सूत की अधिकार सीमा के भीतर था।

पुराण का दश लक्षण

श्रीमद्भागवत मे (२।१०।१-७ तथा १२।७।८-) दो स्थानो पर तथा ब्रह्मवैवर्त मे दश लक्षण महापुराण के निर्दिष्ट हैं और पूर्वोक्त पाच लक्षणो को क्षुल्लक पुराण का लक्षण माना गया है। यहा दशलक्षण तथा पञ्चलक्षण के तुलनात्मक विवेचना का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। एक बात ध्यातव्य हैं कि श्रीमद्भागवत के दोनो स्थलो पर दिये गये लक्षणों मे मूलत साम्य है, नामत वैषम्य भले ही दृष्टिगोचर हो। इन दोनो स्थानो में शब्द-भेद अवश्य है, परन्तु अभिप्राय भेद नही। भागवत के द्वादश स्कन्ध के अनुसार ये दश लक्षण हैं :—

सर्गोऽथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ —भाग १२।७।९

(१) सर्ग	(६) वश,
(२) विसर्ग,	(७) वशानुचरितम्
(३) वृत्ति,	(८) सस्था
(४) रक्षा,	(९) हेतु
(५) अन्तराणि	(१०) अपाश्रयः

१. स्वधर्म एव सूतस्य सद्भिर्दृष्ट पुरातनै।
देवतानामृषीणा च राज्ञा चामिततेजसाम्॥ ३१॥
वशाना धारण कार्यं श्रुताना च महात्मनाम्।
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभि॥ ३२॥
न हि वेदष्वधीकारः कश्चित् सूतस्य दृश्यते। —वायुपुराण, १ अध्याय

(१) सर्ग—पूर्ववर्णित सर्ग से यह भिन्न नहीं है।

(२) विसर्ग—जीव की सृष्टि। परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा सृष्टि की सामर्थ्य प्राप्त करके महत् तत्त्व आदि पूर्व कर्मों के अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओं की प्रधानता के कारण जो यह चराचर शरीरात्मक उपाधि से विशिष्ट जीव की सृष्टि किया करते हैं इसे ही विसर्ग कहते हैं। इसकी उपमा के विषय में कहा गया है कि जैसे एक बीज से दूसरे बीज की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक जीव से दूसरे जीव की सृष्टि को इस नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार विसृष्टि =विविध सृष्टि न तु वैपरीत्येन सृष्टि प्रलय।

(३) वृत्ति—जीवों के जीवन निर्वाह की सामग्री। भागवत के अनुसार चर पदार्थों की अचर पदार्थ वृत्ति हैं।[२] मानव जीवन को चलाने के लिए जिन वस्तुओं का उपयोग मनुष्य करता है वही उसकी वृत्ति है। चावल गेहूँ आदि अन्न सब वृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। कुछ वृत्ति को तो मनुष्य ने स्वभाववश अपनी कामना से निश्चित कर लिया है और कुछ वृत्ति को शास्त्र के आदेश के कारण वह ग्रहण करता है। दोनों का उद्देश्य एक ही है मानव जीवन का धारण तथा रक्षण।

(४) रक्षा—इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतारों से है। भगवान् युग युग में पशु पक्षी मनुष्य ऋषि, देवता आदि के रूप में अवतार ग्रहण कर अनेक लीलायें किया करते हैं। इन अवतारों के द्वारा वे वेदत्रयी वेदधर्म-से विरोध करने वाले व्यक्तियों का संहार भी किया करते हैं। इस कारण भगवान् का यह अवतार लोक विश्व की रक्षा के लिए ही होता है। इसलिए इसकी संज्ञा है—रक्षा।[३]

भागवत ने इस पद्य के द्वारा संक्षेप में अवतार-तत्त्व के हेतु पर प्रकाश डाला है। अवतार का लक्ष्य वेद के विरोधियों का संहार करना तथा वेदधर्म की

---

१ पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम् ।

—भाग० १२। ।१२

इसका स्वरूप द्रष्टव्य देवीभागवत ९ स्कन्ध, ३ अ० ।

२ वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥

—तत्रैव श्लो० १३

३ रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्-मर्त्यर्षि देवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥

—भाग० १२।७।१४

रक्षा करना है। श्रीमद्भगवद् गीता के प्रख्यात श्लोको की ओर यहा स्पष्ट सकेत है। परन्तु त्रयीद्वेषको का हनन विभु भगवान् के लिए तो एक सामान्य कार्य है। इसी के लिए वे अवतार का ग्रहण नही करते, प्रत्युत लीला-विलास ही उसका प्रधान लक्ष्य है जिसका चिन्तन तथा कीर्तन करता हुआ जीव इस तापबहुल ससार से अपनी मुक्ति प्राप्त करने म समर्थ होता है—

> नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन ॥
>
> —भाग० १०।२९।१४

लीला के द्वारा आनन्द रस का आस्वादन कराना तथा करना ही भगवान् के अवतारो का लक्ष्य है। भगवान् अपनी इच्छा से ही देह का ग्रहण करते हैं, भक्तो की आर्त पुकार इसमे कारणभूत अवश्य होती है, परन्तु रहती है भगवान् की स्वेच्छा ही प्रधान प्रयोजिका। भक्तों का रक्षण करना भी उनकी ललित लीला से बहिर्भूत नही होता—

> स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये।
> सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः॥
>
> —भाग० १०।२७।११

जीव को मुक्ति प्रदान करना ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा का एकमात्र लक्ष्य होता है। भागवत की दशम स्कन्ध की प्रख्यात देवस्तुति मे (१०।२) इसका वारबार निर्देश है—

> शृण्वन् गृणन् संस्मरयँश्च चिन्तयन्
> नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
> क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
> राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥
>
> —भाग० १०।२।३७

इन समग्र तथ्यो का ग्रहण 'रक्षा' के अन्तर्गत समझना चाहिए।

(५) अन्तराणि—पूर्ववर्णित मन्वन्तर के समानही।

(६) वंश } पूर्ववत्
(७) वंशानुचरित }

(८) संस्था = पूर्व सूची का 'प्रतिसर्ग'।

(९) हेतु—हेतु शब्द से जीव का ग्रहण अभीष्ट है। यह अविद्या के द्वारा सर्ग का कर्ता है। ससार की सृष्टि म जीव को कारण मानने का रहस्य यह है कि जीव के अदृष्ट के द्वारा प्रयुक्त होने से विश्व का सर्ग तथा प्रतिसर्ग आदि होता है। उल्ल-

जीव अपने अदृष्ट के द्वारा विश्व-सृष्टि या विश्व प्रलय का कारण होता है और इसी अभिप्राय से वह भागवत में 'हेतु' जैसे सार्थक शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। चैतन्य के प्रधान से वह अनुशयी-साक्षी माना गया है और उपाधि प्राधान्य की विवक्षा से कुछ लोग उसे 'अव्याकृत' नाम से पुकारते हैं। जो लोग उसे चैतन्यप्रधान की दृष्टि में देखते हैं, व उसे अनुशयी-प्रकृति मे शयन करने वाला-कहते हैं, और भी उपाधि की दृष्टि से कहते हैं वे उसे 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृतिरूप कहते हैं।

(१०) अपाश्रय—ब्रह्म का द्योतक महनीय अभिधान है। जीव की तीन वृत्तियाँ या अवस्थायें होती हैं—जाग्रत् , स्वप्न तथा सुषुप्ति और इन दशाओं में चैतन्य का निवास है जो क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ के नाम से प्रख्यात है। इन मायामयी वृत्तियों में साक्षिरूपेण जो सन्तत प्रतीत होता है वही अधिष्ठानरूप अपाश्रय तत्व है। वह इन अवस्थाओं परे तुरीय तत्त्व के रूप मे लक्षित होता है वही ब्रह्म है और उसे 'अपाश्रय'[१] कहते हैं। नाम-विशेष (देवदत्त घट, पट आदि) तथा रूप-विशेष (कोई मानव आकार का है, तो पशु आकार का है आदि आदि) के युक्त पदार्थों पर विचार करें, तो वे सन्मात्र-वस्तु के रूप में सिद्ध होते हैं और उनकी बाहरी विशेषतायें नष्ट हो जाती हैं। वह सत्ता ही एकमात्र उन विशिष्टताओं के रूप म प्रतीत होती है और वह उनसे पृथक् भी है। ठीक यही दशा है देह तथा ब्रह्म के सम्बन्ध म। इस देह का आदि बीज है तथा पञ्चता (पञ्चत्व, नाश) है इसका अन्त (बीजादि पञ्चतान्तासु)। शरीर तथा विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु और महाप्रलय पर्यन्त जितनी नाना विशेष अवस्थायें होती उन सब म सब रूपों म परम सत्य ब्रह्म ही प्रतीत होता है और वह उनसे पृथक् भी है। वह 'युतायुत'[२] रूप में प्रतीत हो रहा है अनुस्यूत होने से अर्थात् वह

---

१. हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारक ।
त चानुशयिन प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ —भाग० १२।७।१८

२. व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिस्वपाश्रय ॥ — भाग० १२।७।१९

जाग्रदादिस्ववस्थासु जीवतया वर्तन्ते इति जीववृत्तय विश्व-तैजस प्राज्ञा । तेषु मायामयेषु साक्षितयान्वयः समाध्यादौ च व्यतिरेको यस्य तद् ब्रह्म संसार-प्रतीति-बाधयोरधिष्ठानादधिभूतमपाश्रय उच्यते ।

—श्रीधरी

३ पदार्थेषु यथा द्रव्य सन्मात्र रूपनामसु ।
बीजादि पञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् । वही, २० ।

नाम रूपात्मक पदार्थों के साथ युत भी है और उनसे पृथक् रूप में रहने के कारण अयुत भी है। यही अधिष्ठान और साक्षी रूप में प्रतिभासित होने वाला ब्रह्म ही भागवत-सम्मत अपाश्रय तत्त्व है।

इसी ब्रह्म के ज्ञान होने से द्रष्टा (चेष्टा या जगत्) की निवृत्ति हो जाती है। कब ? और कैसे ? इसका उत्तर संक्षेप में भागवतकार देते हैं—जब[1] चित्त स्वयं आत्मविचार से अथवा योगाभ्यास के द्वारा सत्त्व रज तम गुणों से सम्बन्ध रखने वाली व्यावहारिक वृत्तियों का और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त आदि स्वाभाविक वृत्तियों का परित्याग कर जगत् के व्यापार से विराम पा लेता है—शान्त हो जाता है तब शान्त वृत्ति के उदय होने पर तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्यों के द्वारा आत्म ज्ञान का उदय होता है—वह आत्मा को जान लेता है। उस समय आत्मज्ञानी पुरुष अविद्याजनित कर्म वासना से और कर्म प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है।

संक्षेप में यही आश्रय तत्त्व है और यही भागवत का अन्तिम ध्येय है। इसीकी विशुद्धि के लिए पूर्व नव लक्षणों का उपपादन किया गया है। आत्मा की उपलब्धि ही वास्तव परम ध्येय है परन्तु इस ज्ञान की पुष्टि के लिए पूर्व सर्ग—सर्ग विसर्ग आदि—लक्षणों का इसी निमित्त से विवरण दिया गया है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तिम दशम अध्याय में दश लक्षणों का निवेश है जो पूर्वोक्त लक्षणों के साम्य रखने पर भी नामतः भिन्न हैं —

✓ अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

—भाग० २।१०।१

दश लक्षणों के नाम इस प्रकार हैं —

(१) सर्ग	(६) मन्वन्तरम्
(२) विसर्ग	(७) ईशानुकथा
(३) स्थानम्	(८) निरोध
(४) पोषणम्	(९) मुक्ति
(५) ऊतय	(१०) आश्रय।

१ विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्।
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्तते॥२१

—भाग० १२।७ अध्याय।

पूर्वोक्त लक्षणों के साथ तुलना करने से पहिले इनके स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। इस सूची में कतिपय नूतन रूप अवश्य प्रतीत होते हैं। फलतः उनके विश्लेषण की आवश्यकता है :—

(१) सर्ग — पूर्ववत् सर्ग

(२) विसर्ग — ,, विसर्ग।

(३) स्थानम् = 'स्थिति-वैकुण्ठविजयः'

वैकुण्ठ भगवान् के विजय का नाम है स्थिति या स्थान। भगवान् ने पूर्व दोनों रचना के द्वारा जिस विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है वह अपनी नियमित मर्यादा के भीतर ही रहकर अपनी उन्नति या उत्कर्ष को धारण करता है। मर्यादा का उल्लंघन कर वह कभी अपना अभ्युदय प्राप्त नहीं कर सकता। प्रकृति के गुणवैषम्य से जो विराट सृष्टि होती है, उसका नाम 'सर्ग' है। विराट् के एक अण्ड में ब्रह्मा के द्वारा जो व्यष्टि सृष्टि या विविध सृष्टि होती है, उसका नाम 'विसर्ग' है। जिस सर्ग के पदार्थ अनुभूत होने पर जगत् की समष्टि का पूर्ण परिचय करा देते हैं सर्ग के रूप में। सर्ग से परे परमात्मा का दर्शन कर जीव कृतकृत्य हो जाता है, उसी भाँति 'विसर्ग' भी परमात्मा के अनुभव कराने का एक साधन है। अन्तर दोनों में इतना ही है कि सर्ग होता है महान् और विसर्ग होता है अपेक्षाकृत अल्प। फलतः दोनों तत्त्वों के वर्णन के पश्चात् उनकी स्थिति का विवरण भी न्याय प्राप्त है।

भुवन कोश का समस्त विषय स्थिति या स्थान के भीतर अन्तर्निविष्ट समझना चाहिए। एक ब्रह्माण्ड में कितने लोक हैं, लोकों का विस्तार कितना है और उनका धारण किस प्रकार होता है, किन मर्यादाओं के पालन से ब्रह्माण्ड में स्थिरता है—आदि विषयों का विचार इस तृतीय लक्षण के भीतर निश्चित रूप से किया जाता है। भागवत का पञ्चम स्कन्ध जिसमें भूगोल तथा खगोल का विशद विस्तृत विवरण प्रस्तुत है, 'स्थान' का उज्ज्वल उदाहरण है। इस विशाल आकाश में विचरणशील इन असंख्यातीत ब्रह्माण्डों के जनक, स्थापक, मर्यादापालक भगवान् ही हैं। 'स्थिति वैकुण्ठविजय' इसीलिए इसका यह विश्लेषण लगा है। भगवान् के विजय का, सर्वश्रेष्ठता का, लोकाधिपत्य का, सूचक तत्त्व ही 'स्थिति' नाम से भागवत में अभिहित है।

(४) पोषणम् = तदनुग्रहः।

पोषण का अर्थ है भगवान् का अनुग्रह, भगवान् की दया। यह लक्षण पूर्व लक्षण के साथ नैसर्गिकरूपेण सम्बद्ध है। ब्रह्माण्ड के नियन्त्रण का, नियमन को तथा न्याय का अवलोकन कर जीव भगवान् की अलौकिक घटना-घटीयसी माया-शक्ति के रहस्य को समझने लगता है। वह जान लेता है कि यह समग्र विश्व

हो भगवान् की कृपा या विलास है। भगवान् ताप-सताप से पीडित जन्तुओ के ऊपर अहैतुकी कृपा का वषण किया करते हैं। पोषण जीव को भगवद् मुख बनाने मे एक प्रेरक तत्त्व है। भागवत के षष्ठ स्कन्ध म तीनो प्रकार के जीवो—मानव देवता तथा दैत्य के ऊपर भगवान् की नैसगिक कृपा का बडा ही विस्तृत विवरण है। अजामिल जैसा दुराचारी मानव गुरु का अपकर्ता तथा विश्वरूप ब्राह्मण का हन्ता देवराज इन्द्र हाथी समेत इन्द्र को निगल जाने वाला अत्याचारी दैत्य वृत्रासुर—इन तीनो जीवो पर भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्तिमयी कृपा का स्वाभाविक विलास दिखलाया था और तीनो का उद्धार किया था। इन आख्यानो से सिद्ध होता है कि भगवान् साधक के हृदय की सज्ञान अभिरुचि तथा प्रेम प्रवणता के पारखी हैं।

एक ही बार के नामस्मरण से हो अगणित जन्म के पातक बालू की भीत के समान छिन्न भिन्न हो जाते हैं तब साक्षात् दर्शन के प्रभाव की बात क्या कही जाय? चित्रकेतु का यह वचन इस विषय म कितना औचित्यपूर्ण है—

> न हि भगवन्नघटितमिद
> त्वद्दर्शनान् नृणामखिलपापक्षय ।
> यन्नामसकृच्छ्रवणात्
> पुल्कसकोऽपि विमुच्यते ससारात् ।
>
> —भाग० ६।१६।४४

भागवत का यह पोषण तत्त्व शाक्ततन्त्र के शक्तिपात का प्रतिनिधि माना जा सकता है। यह वैदिक तत्त्व है इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। श्री वल्लभाचाय जी ने इस पोषण को अपने वैष्णव सम्प्रदाय का अनिवाय तत्त्व मानकर अपने माग की ही सज्ञा इसी के आधार पर रखी है—**पुष्टिमार्ग**। फलत यह लक्षण भागवत के सग विशदरूप से अनुस्यूत है।

(५) ऊतय[1] = कर्मवासना

विचारणीय प्रश्न है कि भगवान् की अहैतुकी कृपा की वृष्टि प्रतिक्षण होती रहती है तब भी जीव इतना दुःखी क्यो है? उस वृष्टि का एक छींटा छोटा

---

१ ऊति की व्याख्या श्रीधर स्वामी के अनुसार यह है—

कमणा वासना वेञ तन्तुसन्ताने। ऊयन्त कमभि सतयन्त इत्यूतय। मद्वा सुध्यर्या सश्लेषार्थाद्वाऽवतेर्धातोरिद रूपम। ऊयते कमभिर् ह्यन्ते सश्लिष्यन्त इति वा ऊतय इत्यथ ॥ ४ ॥

—श्रीधरी भाग० २ १०।४

मिल जाने पर भी वह सौरय-शान्ति से प्रफुल्लित हो उठता। इस प्रश्न का समाधान यह पञ्चम लक्षण कर रहा है। ऊति के कारण ही ऐसी दयनीय स्थिति है जीव की। ऊति का अर्थ है कर्मवासना—कर्म करने के लिए या करने से जो वासना जीव में उत्पन्न होती है वही प्रतिपक्षी होता है दया से लाभ न उठाने का। ऊति है कर्म-बन्धन जिसमें जकड़ा हुआ जीव भगवत्सान्निध्य रूपी अमृत की ओर लपकता ही नहीं। वासना के दो प्रकार होते हैं शुभ-वासना और अशुभ वासना। शुभ वासना का दृष्टान्त है प्रह्लाद स्वयं जिसे गर्भ-स्थिति की दशा में ही नारद जी का समागम प्राप्त हुआ था और माता कयाधू के दानवी होने पर भी जिसकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर स्वतः प्रसूत हुई। अशुभ वासना का उदाहरण है जय-विजय का चरित्र जिन्होंने वैकुण्ठ के द्वारपाल होकर भी सनकादिकों से द्वेष किया और जिसके कारण उन्हें तीन जन्मों तक असीम क्लेश भोगना पड़ा था।

(६) मन्वन्तराणि = सद्धर्मः

मन्वन्तर काल को विशिष्ट रूप माना है जिसमें सज्जनों के धर्म का प्रत्यक्षी-करण साधकों को होता है। पौराणिक कालतत्त्व का विश्लेषण विशदरूप से आगे किया जायगा।

(७) ईशानुकथा—

> अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्
> सतामीशकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥

एक मन्वन्तर के बाद दूसरा मन्वन्तर और एक कल्प के बाद दूसरा कल्प आता है और सृष्टि का प्रवाह सदा जारी रहता है। सृष्टि में प्रवाह-नित्यता है। जीव इस सृष्टि में पड़ा हुआ इसके बाहर निकलने की कोशिश किया करता है। परन्तु उसे सफलता अपने प्रयत्न में तभी मिलेगी जब वह भगवान् की लीलाओं की अमृतधारा में डुबकी लगाता रहेगा। इसीलिए मन्वन्तर के पश्चात् 'ईशानुकथा' का स्थान निर्दिष्ट है। भगवान् तथा उनके नित्य पार्षदों के अवतारों की कथा 'ईशानुकथा' कहलाती है।

(८) निरोध

> निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ॥
>
> —भाग० २।१०।६

जब आत्मा अपनी शक्तियों के साथ सो जाता है, तब सारे जगत् का निरोध अर्थात् प्रलय हो जाता है। पञ्चलक्षण में 'प्रतिसर्ग' का यह प्रतिनिधि लक्षण है।

(९) मुक्ति

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

—तत्रैव, श्लो० ६

जब जीव अपने अन्यथा रूप को छोड कर स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है तब उसे मुक्ति कहते है। संसार-दशा म जीव अपने को देह इन्द्रियो के साथ अध्यस्त कर अपने को देह ही तथा इन्द्रिया ही मान बैठता है और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। 'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः' इस मान्य कथन के आधार पर ज्ञान के उदय होने पर 'मुक्ति' प्राप्त होती है। उस समय जीव मिथ्या ज्ञान या अध्यासजात समस्त भ्रमो स उन्मुक्त होकर अपने यथार्थ सच्चिदानन्द रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। दु खो के आत्यन्तिक विलयन होने से यह 'मुक्ति' कहलाती है।

(१०) आश्रय

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥

—तत्रैव श्लोक ७

जिस तत्त्व से सृष्टि तथा प्रलय प्रकाशित होते है, वही आश्रय है—पर ब्रह्म तथा परमात्मा शास्त्रो मे वही कहा गया है। जो नेत्र आदि इन्द्रियो का अभिमानी द्रष्टा जीव है, वही इन्द्रियो के अधिष्ठात देवता सूर्य आदि के रूप मे भी है और नेत्र-गोलक आदि से युक्त जो यह देह है वही उन दोनो को अलग अलग करता है। इन तीनो मे यदि एक का भी अभाव हो जाय, तो इतर दोनो की उपलब्धि नही हो सकती। अत जो इन तीनो को जानता है वही परमात्मा सबका अधिष्ठान आश्रय तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वय ही है, दूसरा कोई नही (भाग० २।१०।८ ९)

दोनों की पारस्परिक तुलना

भागवत के दो विभिन्न स्कन्धो म प्रतिपादित १० लक्षणो का स्वरूप सक्षेप मे ऊपर निर्दिष्ट किया गया है। दोना की तुलना करने पर दोनो मे विशेष पार्थक्य प्रतीत नही होता।

द्वादशस्कन्ध	द्वितीयस्कन्ध
१ सर्ग २ विसर्ग	दोनो मे समानभावेन गृहीत हैं।

३. 'अन्तराणि' के स्थान पर स्पष्टतः 'मन्वन्तर' का उल्लेख।

'[illegible]' — 'आश्रय' का निर्देश।

५ हेतु—जीव का बोधक है। जीव की संसार प्राप्ति करानेवाली वासना रूप अविद्या कर्मादि ही हैं। इसके लिए 'ऊति' शब्द का प्रयोग पाते हैं। फलतः हेतु तथा ऊति के समानार्थक लक्षण निष्पन्न होते हैं।

६-७ वंश तथा वंशानुचरित का ग्रहण 'ईशानुकथा' में समझना चाहिए, क्योंकि हरि तथा उनके अनुवर्ती जनों की कथा के भीतर ऋषि तथा राजवंशों का समावेश अनुचित नहीं माना जा सकता।

८ संस्था के चार प्रकार
(क) नैमित्तिक, प्रलय }
(ख) प्राकृतिक ,, } का अन्तर्भाव निरोध में
(ग) नित्य ,, }
(घ) आत्यन्तिक प्रलय = मोक्ष में अन्तर्भाव

९ 'रक्षा'—के भीतर भगवान् के अवतार का तथा उसके लिए उनके हृदय में जागनेवाली कृपा का भी बोध समझना चाहिए। द्वितीय स्कन्ध में इसी लक्षण को दो लक्षणों में विभक्त कर दिया है—ईशानुकथा तथा पोषण। फलतः
रक्षा = (क) ईशानुकथा
(ख) पोषण

१० वृत्ति—वृत्तिशब्द के द्वारा जीवों की आपस में सघर्षात्मक जीवन स्थिति का द्योतन होता है। इसी का ग्रहण करता है स्थान या स्थिति शब्द द्वितीय स्कन्ध में। 'वैकुण्ठ विजय' का अर्थ होगा 'स्वकार्य साधकता = जीवों का परस्पर उपमर्दन भावन अवस्थान।

ब्रह्माण्ड पुराण में निर्दिष्ट दश लक्षण प्रायः वही भागवत वाले ही हैं। थोड़ा ही यत्किंचित् पार्थक्य है। यथा (१) सर्ग (२) विसर्ग (३) स्थिति, (४) रक्षणा वासना, (५) मनूनां वार्ता, (६) प्रलयानां वर्णनम्, (७) मोक्षस्य निरूपणम्—ये सातों लक्षण समान ही हैं। (८) हरेः कीर्तनम्—के भीतर आश्रय तथा पोषण समझना चाहिए। (९) 'देवानां च पृथक्-पृथक्' ईश की कथा का द्योतन करता है, क्योंकि वेदों में 'हरिः सर्वत्र गीयते' के अनुसार भगवान् की ही तो कथा अनुवर्णित है। (१०) वंशानुचरित का स्पष्ट निर्देश है। इस प्रकार ये दश लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षणों से साम्य रखते ही हैं।

ऊपर प्रतिपादित दश लक्षणों को पंचलक्षणों का ही आवश्यकतानुसारी विस्तार समझना चाहिए। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तराणि तथा वंशानुचरित—ये पंचलक्षण तो भागवत के १२ स्कन्ध (अध्याय ७) में स्वशब्दन प्रतिपादित है—इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इतर अवशिष्ट पञ्च लक्षणों का भी समावेश इन्हीं पञ्चलक्षणों में भली भाँति किया जा सकता

है। उदाहरणार्थ देखिये। विसर्ग सर्ग का ही अवान्तर भेद है। सर्ग ठहरा ब्रह्माण्ड की सृष्टि और विसर्ग ठहरा उसी के अन्तर्गत जीव जन्तुओं की सृष्टि। फलत विसर्ग की गतार्थता सर्ग म मानना ही न्याय्य है। अपाश्रय (या आश्रय) शब्द से उपात्त परमात्मा का सर्ग के कर्ता होने से प्रतिपादन उचित है। हेतु (जीव) तथा ऊति (=कर्मवासना) का सर्ग हेतु होने के कारण 'सर्ग' के भीतर अन्तर्भाव यथार्थ है। वृत्ति या स्थान का भी ग्रहण वंशानुचरित के भीतर समझना चाहिए। भगवान् के अवतारों की उत्पत्ति तो किसी वंश को ही लेकर ही होती है। इसलिए तद् विषय द्योतक ईशानुकथा, पोषण अथवा रक्षा का भी अन्तर्भाव 'वंशानुचरित के भीतर करना सर्वथा मान्य है। इसलिए भगवान् की लीला के बोधक चरित्र का—अवतार कथा का समावेश वंशानुचरित म करना उचित ही है। इस प्रकार तारतम्य परीक्षण करने पर भागवत की दशलक्षणी पञ्चलक्षणी का ही विकसित अथ च परिबृंहित स्वरूप है।

दशलक्षण पुराण सामान्य का लक्षण न होकर पुराण-मूर्धन्य श्रीमद्भागवत का ही निजी लक्षण है यही मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। भगवान् के स्वरूप का तथा भागवत धर्म का विवेचन ही श्रीमद्भागवत के उदय का प्रधान हेतु है। फलत भगवान् ही वहाँ प्राधान्येन विवेच्य तत्त्व है। इतर नव लक्षण तो उन्हीं के पोषक होने के कारण यहाँ उपन्यस्त हैं अर्थात् वे केवल ईश्वर-स्वरूप के परिज्ञान के लिए ही विवेचित हैं। उनका विवेचन प्रकृत परमेश्वर के स्वरूपाधायक होने के कारण है, उनमें अपनी कोई भी पृथग् उपयोगिता अथवा सत्ता नहीं है। इसीलिए भागवतकार की स्पष्ट उक्ति है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

आदि के नव लक्षण दशमतत्त्व अर्थात्म तत्त्व की विशुद्धि अर्थात् यथार्थ निश्चय के लिए हैं। परमात्मा तथा जीव के परस्पर सम्बन्ध का अवलम्बन कर इन तत्त्वों का प्रतिपादन भागवत म किया गया है। पञ्चकृत्यकारी परम-शिव के समान ही परमेश्वर के पञ्चकृत्यकारिता की कल्पना कथमपि अप्रासङ्गिक नहीं है[1]। सर्ग, स्थिति, निरोध विसर्ग तथा पोषण परमशिव के पञ्चकृत्य उत्पत्ति स्थिति, लय, निग्रह तथा अनुग्रह के क्रमशः भागवत प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। पञ्चकृत्यकारी परमेश्वर के दो रूप होते हैं—

(क) उपासना के निमित्त ग्राह्य अनुग्राहक रूप, जिसका अभिधान 'अपाश्रय' या 'आश्रय' है।

---

१ द्रष्टव्य "पुराणम्" (१ वर्ष, २ सख्या) म पुराणलक्षणानि 'शीर्षक लेख।
—पृ० १३५-१३८ (फरवरी १९६०)

(ख) जगत् का परिचालन करने वाला कालरूप, जिसका संकेत 'मन्वन्तर' शब्द से किया गया है।

निगृहीत जीवभाव को प्राप्त होने वाले व्यक्ति को संसार में बन्धन में डालने वाली है ऊति (कर्मवासना) संसार से विमुक्त करने वाला साधन है है ईशानुकथा और भगवान् के पोषण तत्त्व (अनुग्रह) का साक्षात् फल है मुक्ति। इस प्रकार ये दशों भगवान् तथा उनके स्वरूप से ही सम्बन्ध रखते हैं। फलतः ये श्रीमद्भागवत के निजी वैशिष्ट्य के प्रतिपादक होने से भागवत के ही लक्षण हैं, पुराण-सामान्य के नहीं। इसीलिए भागवत में इनका द्विः उल्लेख या पुनरावृत्ति मीमांसकों के द्वारा अर्थनिर्णय के लिए निर्धारित 'अभ्यास' का ही अभिव्यक्त रूप है।

श्रीमद्भागवत का वर्ण्य विषय ही है भगवान् और इस भगवान् के साथ तन्मयता की प्राप्ति के लिए आवश्यक भागवत धर्मों का भी विश्लेषण इसी निमित्त उपादेय मानकर किया गया है। भागवत का समग्र शरीर ही इस तात्पर्य को अग्रसर करता है, परन्तु भागवत के प्रथम स्कन्ध में (५।१०-११) तथा द्वादश स्कन्ध में १२ वें अध्याय में पुनरावृत्त इन्हीं पद्यों को पढ़कर किसी को भी सवेग को समझने देर न लगेगी कि भगवान् ही भागवत का साध्यतत्त्व है और भक्तियोग ही साधनतत्त्व है। फलतः पूर्वोक्त दशलक्षणों का भागवतके साथ अविनाभाव सम्बन्ध मानना सर्वथा न्याय्य और सुसंगत है। भागवतकार का यह बड़ा ही मार्मिक कथन है कि वर्णाश्रम के अनुकूल आचरण, तपस्या और अध्ययन आदि के लिए जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है यश अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति। परन्तु भगवान् के गुण, लीला आदि के कीर्तन का फल है श्रीधर के चरणों की अविस्मृति। और इसीके द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने से भक्ति तथा विज्ञान, वैराग्य-युक्त ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो मानवजीवन का परमोच्च लक्ष्य है —

> अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
> सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
>
> — भाग० १२।१२।५४

(ख) पुराणों का परिचय

(१) ब्रह्मपुराण

यह पुराण 'आदि ब्राह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की संख्या २४५ है और श्लोकों की संख्या १४,००० के आस-पास है। पुराण-सम्मत समस्त विषयों का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। सृष्टि-कथन के अनन्तर सूर्यवंश तथा सोमवंश का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है। पार्वती-आख्यान बड़े विस्तार से १० अध्यायों में—(३० अध्याय मे ५० तक)—दिया गया है। मार्कण्डेय के आख्यान (अध्याय ५२) के अनन्तर गौतमी, गंगा, कृत्तिका तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुनतीर्थ, यमतीर्थ, आपस्तम्ब-तीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थों के माहात्म्य गौतमी माहात्म्य के अन्तर्गत (अ० ७०—१७५) दिये गये हैं। भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों (अध्याय १८० से २१२ तक) में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वही है जिसका वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध में है। मरण के अनन्तर होनेवाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है। इस पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं है। परन्तु उड़ीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्सम्बद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छः अध्यायों (अ० २८—३३) में है।

इस पुराण में सांख्ययोग की समीक्षा भी बड़े विस्तार के साथ दस अध्यायों (अ० २३४—४४) में की गई है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने सांख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इन पुराणों में वर्णित सांख्य अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में अवान्तरकालीन सांख्य से भेद रखता है। पिछले सांख्य में तत्त्वों की संख्या केवल २५ ही है। परन्तु यहाँ मूर्धस्थानीय २६ वें तत्त्व का भी वर्णन है। पौराणिक सांख्य निरीश्वर नहीं है तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२ वें पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायों में अक्षरशः मिलते हैं। धर्म ही परम पुरुषार्थ है, इस तत्त्व का प्रतिपादन इस पुराण के अन्त में कितनी सुन्दर भाषा में किया गया है :—

> धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां,
> स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
> अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना,
> नैव प्रभावमुपयन्ति न च स्थिरत्वम्॥
> (ब्र० पु० २४५।३५)

(२) पद्म पुराण

यह पुराण परिमाण में स्कन्दपुराण को छोड़कर अद्वितीय है। इसके श्लोकों की संख्या ५०,००० बतलाई जाती है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवतपुराण से तिगुना परिमाण में समझना चाहिए। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। (१) बंगाली संस्करण और (२) देवनागरी संस्करण। बंगाली संस्करण तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों में पड़ा है। देवनागरी संस्करण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में चार भागों में प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम संस्करण में छ खण्ड हैं, (१) आदि (२) भूमि (३) ब्रह्म (४) पाताल (५) सृष्टि और (६) उत्तर खण्ड। परन्तु भूमिखण्ड (अध्याय १२८— १४१) से ही पता चलता है कि छ खण्डों की कल्पना पीछे की है। मूल में पाँच ही खण्ड थे जो बंगाली संस्करण में आज भी उपलब्ध होते हैं।

> प्रथमं सृष्टिखण्डं हि, भूमिखण्डं द्वितीयकम्।
> तृतीयं स्वर्गखण्डं च, पातालञ्च चतुर्थकम्॥
> पंचमं चोत्तरं खंडं, सर्वपापप्रणाशनम्।

अब इन्हीं मूलभूत पाँच खण्डों का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

(१) सृष्टि खण्ड—इसमें ८२ अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय (श्लोक ५५—६०) से पता चलता है इसमें ५५,००० श्लोक थे तथा यह पुराण पाँच पर्वों में विभक्त था—(१) पौष्कर पर्व—जिसमें देवता, मुनि, पितर तथा मनुष्यों की ९ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। (२) तीर्थपर्व—जिसमें पर्वत, द्वीप तथा सप्त सागरों का वर्णन है। (३) तृतीय पर्व—जिसमें अधिक दक्षिणा देनेवाले राजाओं का वर्णन है। (४) राजाओं का वंशानुकीर्तन है। (५) मोक्ष पर्व में मोक्ष तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है। इस खंड में समुद्र मथन, पृथु की उत्पत्ति, पुष्कर तीर्थ के निवासियों का धर्मकथन, वृत्रासुर-संग्राम वामनावतार मार्कण्डेय की उत्पत्ति, कार्तिकेय की उत्पत्ति राम-चरित, तारकासुरवध आदि कथाएँ विस्तार के साथ दी गई हैं।

(२) भूमि खण्ड—इस खंड के आरम्भ में शिवशर्मा नामक ब्राह्मण की पितृभक्ति के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन है। राजा पृथु के जन्म और चरित्र का वर्णन है। किसी छद्मवेशधारी पुरुष के द्वारा जैनधर्म का वर्णन सुन कर वेन के मार्गगामी बन जाता है। तब सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मन्थन होता है जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दानों के अनन्तर सती सुकला की पातिव्रतसूचक कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। ययाति और मातलि के अध्यात्म विषयक

सम्वाद मे पाप और पुण्य के फलो का वर्णन और विष्णुभक्ति की प्रशसा की गई है। महर्षि च्यवन की कथा भी बडे विस्तार के साथ दी गई हैं। यह पद्मपुराण विष्णु-भक्ति का प्रधान ग्रन्थ है। परन्तु इसमे अन्य देवताओ के प्रति अनुदार भावो का प्रदर्शन कही भी नही किया गया है। शिव और विष्णु की एकता के प्रतिप्रादक ये श्लोक कितने महत्त्वपूर्ण है'—

> शैवं च वैष्णवं लोकमेकरूपं नरोत्तम।
> द्वयोश्चाप्यन्तरं नास्ति एकरूपं महात्मनोः॥
> शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे।
> शिवस्य हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये शिव॥
> एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा।
> त्रयाणामन्तरं नास्ति, गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥

(३) स्वर्ग खण्ड—इस खड मे देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के लोको का विस्तृत वर्णन है। इसी खण्ड मे शकुन्तलोपाख्यान है जो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सर्वथा भिन्न है, परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से बिलकुल मिलता-जुलता है। इससे कुछ विद्वानो का कहना है कि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक की कथावस्तु महाभारत से न लेकर इसी पुराण से ली है। 'विक्रमोर्वशी' के सम्बन्ध मे भी यही बात है।

(४) पाताल खण्ड— इसमे नागलोक का विशेष रूप से वर्णन है। प्रसगत' रावण के उल्लेख होने से पूरे रामायण की कथा इसमे कही गई है। इसमे विशेष बात यह है कि कालिदास के द्वारा 'रघुवश' मे वर्णित राम की कथा से यह कथा मिलती-जुलती है। रावण के वध के अनन्तर सीता-परित्याग तथा रामाश्वमेध की कथा भी इसमे सम्मिलित है। यह कथा भवभूति के उत्तर रामचरित' मे वर्णित रामचरित से बहुत-कुछ मिलती है। इस पुराण मे व्यासजी के द्वारा १८ पुराणो के रचे जाने की बात उल्लिखित है जिसमे भागवत पुराण की विशेष रूप से महिमा गाई गई है।

(५) उत्तरखण्ड—इस पाँचवें खण्ड मे विविध प्रकार के आख्यानो का संग्रह है। इसमे विष्णुभक्ति की विशेष रूप से प्रशसा की गई है। 'क्रिया-योगसार' नामक इसका एक परिशिष्ट अश भी है जिसमे यह दिखलाया गया है कि विष्णु भगवान् व्रतों तथा तीर्थों के सेवन से विशेषरूप से प्रसन्न होते हैं।

पद्मपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सबसे बडा पुराण है। भगवान् का नामकीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता है? कितने नामापराध है? आदि प्रश्नो का उत्तर इस पुराण मे बडी प्रामाणिकता से दिया गया है। इसीलिये अवान्तर-कालीन वैष्णव-सम्प्रदाय के ग्रन्थो ने इसका महत्त्व बहुत

आदर माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है। पुराणों में तो अनुष्टुप् का ही साम्राज्य रहता है, परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप् के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है। भगवान् की स्तुति के ये दोनों पद्य कितने सुन्दर हैं —

> संसारसागरमतीव गभीरपारं,
> दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरंगैः।
> सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं,
> तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥
> कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव,
> विद्युल्लतोल्लसति पातकसंचयमें।
> मोहान्धकारपटलैर्मयि नष्टदृष्टे;
> दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥

(३) विष्णुपुराण

दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवतपुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव दर्शन का मूल आलम्बन है। इसीलिये आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसका प्रमाण तथा उद्धरण बहुलता से दिया है। परिमाण में यह न्यून होते हुए भी महत्त्व में अधिक है। इसके खण्डों को 'अंश' कहते हैं। इसके अंशों की संख्या ६ है तथा अध्यायों की संख्या १२६ है। इस प्रकार परिमाण में इस भागवतपुराण का तृतीयांश मात्र है। प्रथम अंश में सृष्टि वर्णन है (अ० ११—२०)। द्वितीय अंश (खण्ड) में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। तृतीय अंश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष निर्देश है। इसके तीन अध्यायों (अ० ४—६) में वेद की शाखाओं का विशिष्टवर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिये बड़े काम की वस्तु है। चतुर्थ अंश विशेषतः ऐतिहासिक है जिसमें सोमवंश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु,—इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पंचम अंश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव भक्तों का आलम्बन है। इस खण्ड में दशम स्कन्ध के समान कृष्ण चरित पूर्णतया वर्णित है परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अंश केवल आठ अध्यायों का है जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बड़ा ही रमणीय, सरस तथा सुन्दर है। इसके चतुर्थ अंश में प्राचीन सुष्ठु गद्य की झलक देखने को मिलती है। ज्ञान के

साथ भक्ति का सामञ्जस्य इस पुराण मे बडी सुन्दरता से दिखलाया गया। विष्णु की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण मे साम्प्रदायिक सकीर्णता का लेश भी नही है। भगवान् कृष्ण ने स्वय महादेव शिव के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए अपने श्रीमुख से कहा है —

> योऽहं स त्वं जगच्चेदं, सदेवासुरमानुषम्।
> मत्तो नान्यदशेषं यत्, तत्त्वं ज्ञातुमिहार्हसि॥
> अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
> वदन्ति भेदं पश्यन्ति, चावयोरन्तरं हर॥
>
> (५।३३।४८-९)

सुन्दर भाषण के लाभ का यह कितना अच्छा वर्णन है :—

> हितं, मितं, प्रियं काले, वश्यात्मा योऽभिभाषते।
> स याति लोकानाह्लादहेतुभूतान् नृपाक्षयान्॥

(४) वायुपुराण

यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी मे इसका उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अत इससे जान पडता है कि इस ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण मे अन्य पुराणो से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायो की सख्या केवल ११२ है तथा श्लोको की ११,००० के लगभग है। इस पुराण मे चार खण्ड है जो 'पाद' कहलाते हैं—(१) प्रक्रिया पाद (२) अनुषङ्ग पाद (३) उपोद्घात पाद (४) उपसहार पाद। इसके आरम्भ मे सृष्टि-प्रकरण बडे विस्तार के साथ कई अध्यायो मे दिया गया है। तदन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णनों के लिये विशेषरूप से पठनीय है। जम्बू द्वीप का वर्णन विशेषरूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपो का भी वर्णन बडी सुन्दरता से यहाँ (अ० ३४ — ३९) किया गया है। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ मे विस्तृत रूप मे उपलब्ध होता है (अ० ५०-५३)। अनेक अध्यायो में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ का वर्णन समुपलब्ध है। अध्याय ६० मे चारों वेदों की शाखाओ का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है। प्रजापति वशवर्णन (अ० ६१—६५), कश्यपीय प्रजासर्ग (अ० ६६—६९) तथा ऋषिवश (अ० ७०) प्राचीन ब्राह्मण-वंशों के इतिहास को जानने के लिये बड़े ही उपयोगी है। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायो मे है। अध्याय ८६ और ८७ म सगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। ९९ वाँ अध्याय प्राचीन राजाओ का

विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है।

इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। परन्तु यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का भी वर्णन इसमें अनेक अध्यायों में मिलता है। विष्णु का महत्त्व तथा उनके अवतारों का वर्णन कई अध्यायों में यहाँ उपलब्ध है। पशुपति की पूजा से संबद्ध 'पाशुपत योग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। पाशुपत योग का वर्णन अन्य पुराणों में नहीं मिलता। परन्तु इस पुराण में उसकी पूरी प्रक्रिया बड़े विस्तार के साथ (अ० ११—१५) दी गई है। यह अंश प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप को जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय २४ में वर्णित 'शार्वस्तव' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अध्याय ३० में दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बड़ी सुन्दर है। ये स्तुतियाँ वैदिक 'रुद्राध्याय' के पौराणिक रूप हैं—

> नमः पुराण-प्रभवे, युगस्य प्रभवे नमः।
> चतुर्विधस्य सर्गस्य, प्रभवेऽनन्त-चक्षुषे॥
> विद्यानां प्रभवे चैव, विद्यानां पतये नमः।
> नमो व्रतानां पतये, मन्त्राणां पतये नमः॥

(५) श्रीमद्भागवत

यह पुराण संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी अपनी पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णवसम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं—रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका' माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली', निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्तप्रदीप', वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक

टीका; चैतन्यमत मे श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सबसे अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की 'श्रीधरी' है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायो की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओ का आधार यही अष्टादश सहस्रश्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दो मे करता है। श्री भगवान् ने अपने विषय मे ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है—

> अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
> पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
>
> —भाग० २।९।३२

सृष्टि के पूर्व मैं ही था - मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमे लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय मे सब पदार्थो के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब वही है। अद्वततत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[1]। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकाररूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। 'परमार्थभूत[2] ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दो के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुणरूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते है, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा' तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को पुरुष'

---

१. वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

—भाग० १।२।११.

२. ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥

—भाग० ५।१२।११.

कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार-व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते है, 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारो ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अत भागवत के मत मे ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतार पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित् शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥

—भाग० ११।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत मे विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् है (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥

—२।९।३४

वास्तविक वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा मे किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश मे एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल मे नहीं दीख पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसमन्वित हैं। वह एक समय मे भी एक होकर भी अनेक हैं। नारद जी ने द्वारिकापुरी मे एक समय मे ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियो के महलो मे विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यों मे संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन मार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का

निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य-पुत्रों मे प्राण का ही सचार नही हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को भी प्राप्त हो गये। अत भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
—११।१४।२०

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बडे सुन्दर शब्दों मे किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नही होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
—७।७।५१ ५२

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति मे प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं अत परम्परया साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नही। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने मे है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारो का निष्पादन नितान्त आवश्यक है (भाग० ११।२०।९)। कर्मफलो को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोडना है (भाग० १।५।१२)। श्रेय की मूल-स्रोतरूपिणी भक्ति को छोडकर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवो का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालो का यत्न (१०।१४।४)।

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली है, क्योंकि आचार्य शङ्कर के दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्य ने 'उत्तरगीता की अपनी टीका म 'तदुक्त भागवते' कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अत भागवत का समय गौडपाद (सप्तम शतक) से कही अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक मे उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयकर ऐतिहासिक भूल है।

अत भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति' तथा 'साध्यरूपा भक्ति' साधनभक्ति नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन। भागवत में सख्यभक्ति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्सदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भावचरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते है :—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥

—भाग० ११।१४।१४.

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पक्षरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

—भाग० ६।११।२६

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य भरा है। अत भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है :—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र, ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

(६) नारद-पुराण

बृहन्नारदपुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अत उससे इसे पृथक् करने के लिये इसे नारदीय पुराण नाम दिया गया है। इस ग्रन्थ में

दो भाग हैं। पूर्वभाग में अध्यायो की सख्या १२५ है और उत्तरभाग मे ८२ है। सम्पूर्ण श्लोको की सख्या २५,००० है। डाक्टर विलसन इस पुराण का रचना काल १६ वी शताब्दी बतलाते हैं तथा इसे विष्णु भक्ति का प्रतिपादक एक सामान्य ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु ये दोनो बातें सर्वथा निराधार हैं। १२ वी शताब्दी मे बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ मे इस पुराण के श्लोको को उद्धृत किया है। अलबरुनी (११ वी शताब्दी) ने भी अपने यात्राविवरण मे इस पुराण का उल्लेख किया है। अत यह पुराण निश्चय ही इन दोनो ग्रन्थकारो के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग मे वर्ण और आश्रम के आचार (अ० २४।२८) श्राद्ध (अ० २८) प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रो का अलग-अलग एक-एक अध्याय मे विवेचन है। अनेक अध्यायो मे विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रो का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसग को लेकर उत्तरभाग मे (अ० ७–३७ तक) विख्यात विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गद का चारु चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडा महत्त्वपूर्ण है। अठारहो पुराणो के विषयो की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ (अ० ९२–१०९ पूर्वभाग) दी गई है। यह अनुक्रमणी सभी पुराणो के विषयो को जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्तमान पुराणो के मूलरूप तथा प्रक्षिप्त अंश की छानबीन बडी सुगमता के साथ कर सकते हैं। विष्णुभक्ति की इसमे प्रधानता होने पर भी यह पुराण पुराणो के पञ्च लक्षणो से रहित नही है।

(७) मार्कण्डेयपुराण

इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। परिमाण मे यह पुराण छोटा है। इसके अध्यायो की सख्या १३७ है और श्लोको की सख्या ९,००० है। इस पूरे पुराण का अग्रेजी मे अनुवाद पार्जिटर साहब ने किया है (बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज कलकत्ता, १८८८ से १९०८ ई०) तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायो का अनुवाद जर्मन भाषा मे भी हुआ है जिसमे मरणोत्तर जीवन की कथा कही गई है। इन पश्चिमी विद्वानो की सम्मति मे यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है। हमारी दृष्टि मे भी यह सम्मति ठीक ही जान पडती है। प्राचीनकाल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र इस ग्रथ मे बडे विस्तार के साथ किया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामजस्य कर दिखाया। इसी ग्रन्थ का 'दुर्गा, सप्तशती' एक विशिष्ट

अंश है। इसमे देवीभक्तो के लिए सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बड़े विस्तार के साथ दिया गया है।

(८) अग्निपुराण

इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओ का विश्वकोश कह तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणो का उद्देश्य जन साधारण मे ज्ञातव्य विद्याओ का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमे इस पुराण के *अनुशीलन से मिलता है।* इस पुराण के ३८३ *अध्यायो मे नाना प्रकार के* विषयो का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नही है। अवतार की कथाओ का संक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई है। मन्दिर-निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन सक्षेप मे सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिष-शास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रो का वर्णन बडे विस्तार के साथ मिलता है। छन्द शास्त्र का निरूपण आठ अध्यायो मे किया गया मिलता है। अलंकार-शास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग मे किया गया है। व्याकरण की भी छानबीन कितने ही अध्यायो मे की गई है। कोष के विषय मे भी कई अध्याय लिखे गये हैं जिनके अनुशीलन से पाठको को शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठो अंगो का वर्णन संक्षेप मे बडा ही सुन्दर है। अन्त मे अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार-संकलन है। एक अध्याय मे गीता का भी साराश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिये इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि—

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिता.।

—अ० ३८३।५२

(९) भविष्यपुराण

इस पुराण के विषय मे सबसे अधिक गडबडी दिखाई पड़ती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमे भविष्य मे होनेवाली घटनाओ का वर्णन किया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर होनेवाले विद्वानो ने इसमे अपने समय मे होनेवाली घटनाओ को भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। और तो क्या इसमे 'इग्रेज' नाम से उल्लिखित अग्रेजो के आने का भी वर्णन मिलता है। प० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थी जो आपस में विषय की

दृष्टि से नितान्त भिन्न थी। उनका कहना है कि आजकल जो भविष्य पुराण उपलब्ध होता है उसमे इन उपर्युक्त चारो प्रतियो का मिश्रण है। यही इस पुराण की गडबडी का कारण है। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं—(१) ब्राह्म पर्व (२) विष्णु पर्व (३) शिव पर्व (४) सूर्य पर्व (५) प्रतिसर्ग पर्व। इसके श्लोको की सख्या १४,००० हैं। इस पुराण मे सूर्यपूजा का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था जिसकी चिकित्सा करने के लिये गरुड शाकद्वीप से ब्राह्मणो को लिवा लाये जिन्होने सूर्य भगवान् की उपासना से साम्ब को रोगमुक्त कर दिया। इन्ही ब्राह्मणो को शाकद्वीपी, मग या भोजक ब्राह्मण कहते हैं। सूर्योपासना के रहस्य तथा कलि मे उत्पन्न विभिन्न ऐतिहासिक राजवशो के इतिहास जानने के लिए यह पुराण नितान्त उपादेय है।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

इस पुराण के श्लोको की सख्या १८००० के लगभग है। इस प्रकार यह पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण मे छोटा नही है। इस पुराण मे चार खड हैं—(१) ब्रह्म खड (२) प्रकृति खड (३) गणेश खड (४) कृष्णजन्म खड। इसमे कृष्णजन्म खड आधे से भी अधिक है। इस खड मे १३३ अध्याय हैं। कृष्ण-चरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। राधा कृष्ण की शक्ति है और इस राधा का वर्णन बडे साङ्गोपाङ्ग रूप से यहाँ दिया गया है। इस राधा-प्रसङ्ग के कारण अनेक ऐतिहासिक इस पुराण को बहुत ही पीछे का बतलाते हैं। परन्तु राधा की कल्पना बडी प्राचीन है। महाकवि भास ने अपने 'बालचरित' नाटक मे कृष्ण की बाललीला तथा राधा का वर्णन विस्तार के साथ किया है। भास का काल तृतीय शतक है। अत इस पुराण की रचना तृतीय शतक से पहिले हो चुकी होगी। सच पूछिय तो भागवत के दशम स्कन्ध के अनन्तर श्रीकृष्ण की लीला का इतना अधिक विस्तार और कही नही मिलता।

(१) **ब्रह्म खण्ड**—इसमे केवल तीस (३०) अध्याय हैं जिसमे कृष्ण के द्वारा जगत् की सृष्टि का वर्णन है। इसका १६ वाँ अध्याय आयुर्वेद शास्त्र के विषय का वर्णन करता है। (२) **प्रकृति खण्ड**—इसमे प्रकृति का वर्णन है जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा के रूप मे अपने को समय-समय पर परिणत किया करती है। इस खड मे सावित्री तथा तुलसी की कथा बडे विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। (३) **गणेश खण्ड**—इसमे गणपति के जन्म, कर्म तथा चरित का वर्णन है। गणेश कृष्ण के अवतार के रूप मे दिखलाये गये है। इस पुराण के नामकरण का कारण

स्वय इसी पुराण म इस प्रकार दिया हुआ है कि कृष्ण क द्वारा ब्रह्म के विवृत (प्रकाशित) किय जान क कारण इसका नाम 'ब्रह्मवैवर्त पडा।

"विवृतं ब्रह्म कार्त्स्न्येन, कृष्णेन यत्र शौनक।
ब्रह्म-वैवर्तकं तेन, प्रवदन्ति पुराविद ॥
ब्र० वै० १।१।१०

दक्षिण भारत म यह पुराण ब्रह्मकैवर्त क नाम स प्रसिद्ध है। इस नामकरण का कारण स्पष्ट रूप स प्रतीत नहीं होता। नारदपुराण म जो इस पुराण की अनुक्रमणी उपलब्ध होती है, उसस वर्तमान पुराण स पूरा सामञ्जस्य है। कृष्णपरक होन क कारण कृष्णभक्त वैष्णवो म इस पुराण की बडी मान्यता है। विशेषत गौडीय वैष्णवो म इस पुराण का बडा आदर है।

(११) लिङ्गपुराण

इसम भगवान् शंकर की लिङ्गरूप स उपासना विशेष रूप स दिखलाई गई है। शिवपुराण का कहना है कि—

"लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात् पुराणं लिङ्गमुच्यते"

यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है क्योंकि इसम अध्यायो की सख्या १६३ और श्लोको की सख्या ११००० है। इसम दो भाग है (१) पूर्व भाग (२) उत्तर भाग। यहा लिङ्गोपासना की उत्पत्ति दिखलाइ गइ है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शकर के द्वारा बतलाया गया है। शकर के २८ अवतारो का वर्णन भी हम यहाँ उपलब्ध होता है। शिवपरक होन के कारण स शैव-व्रतो का और शैव-तीर्थों का यहा अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है। उत्तर भाग म पशु पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या (अ० ९) की गइ है, वह शैव-तन्त्रो के अनुकूल है। यह पुराण शिवतत्त्व की मीमासा के लिए बडा ही उपादेय तथा प्रामाणिक है।

(१२) वराहपुराण

विष्णु न वराहरूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा स मुख्यत सम्बन्ध रखन के कारण इस पुराण का नाम वराह पुराण पडा है। हेमाद्रि (१३ वी शताब्दी) न अपने चतुर्वर्ग चिन्तामणि म इस पुराण म वर्णित बुद्धद्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौडनरेश बल्लालसेन (१२ वी शताब्दी) न 'दानसागर नामक ग्रन्थ म इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किय है। अत यह पुराण १० वी शताब्दी स प्राचीन अवश्य है। इस पुराण क दो पाठ भेद उपलब्ध होते है (१) गौडीय (२) दाक्षिणात्य। इनम अध्यायों की सख्याओं म भी अन्तर है। आजकल

गौडीय पाठवाला संस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण मे २१८ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या २४,००० है। परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमे केवल १०,७०० श्लोक है। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का बहुत बडा भाग अब तक नही मिला है। इस पुराण मे विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतो का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत—भिन्न-भिन्न मासो की द्वादशी व्रत–का विवेचन मिलता है तथा इन द्वादशी व्रतो का भिन्न-भिन्न अवतारो से सम्बन्ध दिखलाया गया है जो निम्नांकित हैं :—

मास	शुक्ल द्वादशी का नाम
अगहन	मत्स्य द्वादशी
पौष	कूर्म ,,
माघ	वराह ,,
फाल्गुन	नृसिंह ,,
चैत्र	वामन ,,
वैशाख	परशुराम ,,
ज्येष्ठ	राम ,,
आषाढ़	कृष्ण ,,
श्रावण	बुद्ध ,,
भाद्रपद	कल्कि ,,
आश्विन	पद्मनाभ ,,
कार्तिक	× ,,

इस पुराण के दो अंश विशेष महत्त्व के हैं –(१) मथुरा महात्म्य (अ० १५२–१७२) जिसमे मथुरा के समग्र तीर्थों का बडा ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। ये अध्याय मथुरा का भूगोल जानने के लिए बडे ही उपयोगी हैं। (२) नचिकेतोपाख्यान (अ० १९३–२१२) जिसमे नचिकेता का उपाख्यान बडे विस्तार के साथ दिया गया है। इस उपाख्यान मे स्वर्ग तथा नरकों के वर्णन पर ही विशेष जोर दिया गया है। कठोपनिषद् की आध्यात्मिक दृष्टि इस उपाख्यान मे नही है।

(१३) स्कन्द-पुराण

इस पुराण मे स्वामी कार्तिकेय ने शैवतत्वों का निरूपण किया है, इसीलिये इसका नाम स्कन्दपुराण है। सबसे बृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि यह भागवत पुराण से चौगुना

मोटा है। इसकी श्लोक संख्या ८१,००० है जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पचमाश ही कम है। इन पुराण के अन्तर्गत अनेक संहितायें, खण्ड तथा महात्म्य हैं। इसी पुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता (अ० श्लो० २० १२) के अनुसार इस पुराण मे छ संहितायें हैं जो अपने ग्रन्थ-परिमाण के साथ इस प्रकार हैं —

संहिता	श्लोक संख्या
(१) सनत्कुमार संहिता	३६,०००
(२) सूत संहिता	६,०००
(३ शंकर संहिता	३०,०००
(४) वैष्णव संहिता	५,०००
(५) ब्राह्म संहिता	३,०००
(६) सौर संहिता	१,०००
	८१,००० श्लोक

इन संहिताओ के विषय मे विस्तृत निर्देश नारद पुराण मे दिया गया है स्कन्द पुराण के विभाजन का एक दूसरा भी प्रकार खण्डों मे है। ये खंड संख्या मे सात हैं :—(१) माहेश्वर खंड (२) वैष्णव खंड (३) ब्रह्मखंड (४) काशी खंड (५) रेवा खंड (६) तापी खंड (७) प्रभास खण्ड।

संहिताओं मे सूत संहिता शिवोपासना के विषय मे एक अनुपम ग्रंथ है। यह संहिता वैदिक तथा तान्त्रिक उभय प्रकार की पूजाओं का विस्तार के साथ वर्णन करती है। इस संहिता की इसी विलक्षणता के कारण विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री माधवाचार्य[1] की दृष्टि इस पर पडी और उन्होंने 'तात्पर्य दीपिका नामक बडी ही प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है जो आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना (न० २५) से प्रकाशित हुई है। इस संहिता मे चार खण्ड हैं —(१) पहला खण्ड जिसका नाम 'शिव माहात्म्य' है १३ अध्यायों मे शिव महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है। (२) ज्ञान योग खण्ड—यह २० अध्यायों मे आचार-धर्मों के वर्णन करने के अनन्तर हठयोग की प्रक्रिया का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। (३) मुक्तिखण्ड—यह ९ अध्यायों म मुक्ति के उपाय का वर्णन करता है। (४) यज्ञ वैभव खण्ड—यह सब खण्डों मे बडा है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्व

१ माधवाचार्य की जीवनी के लिए देखिए—
बलदेव उपाध्याय 'आचार्य सायण और माधव'।
प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

भाग और (२) उत्तर भाग। पूर्व भाग मे ४७ अध्याय हैं जिनमे अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तो का शैव भक्ति के साथ सम्पुटित कर बडा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड बडा ही उपादेय प्रमेय-बहुल तथा मीमांसा करने योग्य है। इसके उत्तर भाग मे दो गीतायें सम्मिलित हैं—(१) ब्रह्मगीता और (२) सूतगीता। पहली गीता १२ अध्यायो मे विभक्त है और दूसरी ८ अध्यायो मे। इनका भी विषय अध्यात्म ही है। आत्मस्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बडी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गये हैं। इस संहिता मे शिव के प्रसाद से ही सब कर्मों की सिद्धि का वर्णन किया गया है। इस विषय के दो श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

> प्रसाद लाभाय हि धर्मसंचयः
>   प्रसाद-लाभाय हि देवतार्चनम्।
> प्रसाद-लाभाय हि देवनास्मृतिः,
>   प्रसाद लाभाय हि सर्वमीरितम्॥
> शिवप्रसादेन विना न भुक्तयः,
>   शिवप्रसादेन विना न मुक्तयः।
> शिवप्रसादेन विना न देवताः,
>   शिवप्रसादेन हि सर्वमास्तिकाः॥

शंकर[1] संहिता—यह अनेक खण्डो मे विभक्त है। इसका प्रथम खण्ड शिवरहस्य कहलाता है जो पूरी संहिता का आधा भाग है जिसमे १३,००० श्लोक हैं तथा ७ काण्ड हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) सम्भव काण्ड (२) आसुर काण्ड (३) माहेन्द्र कांड (४) युद्ध कांड (५) देव काण्ड (६) दक्षकाण्ड (७) उपदेश काण्ड। छठवीं संहिता सौर संहिता है जिसमे शिवपूजा सम्बन्धी अनेक बातो का वर्णन किया गया है। पहली संहिता—

सनत्कुमार संहिता बीस-बाइस अध्यायो की एक छोटी सी संहिता है। इन संहिताओ को छोडकर अन्य संहितायें उपलब्ध नहीं होतीं।

अब खण्डो के क्रम से इस पुराण का वर्णन किया जाता है—

(१) माहेश्वर खण्ड—इसके भीतर दो छोटे खण्ड हैं (क) केदार खण्ड (ख) कुमारिका खण्ड। इन दोनो खंडों मे शिव पार्वती की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का बडा सुन्दर वर्णन किया गया है।

---

१. इन दोनो संहिताओं की विस्तृत विषयानुक्रमणी के निमित्त देखिये अष्टादशपुराणदर्पण पृ० १२१–१२७।

(२) वैष्णव खंड—इस खण्ड के अन्तर्गत उत्कल खड है जिसमें उडीसा के जगन्नाथ जी के मन्दिर, पूजाविधान, प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बद्ध अनेक उपाख्याना का वर्णन मिलता है। राजा इन्द्रद्युम्न ने नारद जी के उपदेश से किस प्रकार जगन्नाथ जी के स्थान का पता लगाया, इसका विस्तृत वर्णन इस खण्ड म पाया जाता है। इस प्रकार जगन्नाथपुरी का प्राचीन इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

(३) ब्रह्म खंड—इसमें दो खण्ड हैं (१) ब्रह्मारण्य खण्ड (२) ब्रह्मोत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड म तो धर्मारण्य नामक स्थान के माहात्म्य का विशद प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड म उज्जैनी मे स्थित महाकाल की प्रतिष्ठा तथा पूजन का विशेष विधान है।

(४) काशी खण्ड—इसमें काशी की महिमा का वर्णन है। काशी के समस्त देवताओ शिव लिङ्गों के आविर्भाव तथा माहात्म्य का प्रतिपादन यहां विशेष रूप से किया गया है। काशी का प्राचीन भूगोल जानन के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

(५) रेवा खण्ड—इसम नर्मदा की उत्पत्ति तथा उनके तट पर स्थित समस्त तीर्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सत्यनारायण व्रत की सुप्रसिद्ध कथा इसी खण्ड की है।

(६) अवन्ति खण्ड—अवन्ति (उज्जैन) म स्थित भिन्न भिन्न शिवलिङ्गों की उत्पत्ति तथा माहात्म्य का वर्णन इस खण्ड म किया गया है। महाकालेश्वर का वर्णन बडे ही विस्तृत रूप म दिया गया है। प्राचीन अवन्ती की धार्मिक स्थिति का पूरा दिग्दर्शन यहां मिलता है।

(७) तापी खण्ड—इसम नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना तीर्थों का वर्णन मिलता है। नारद पुराण के मत स इसक षष्ठ खड का नाम नागर खण्ड है। आजकल जो नागर खण्ड उपलब्ध होता है उसम तीन परिच्छेद हैं। (१) विश्वकर्मा उपाख्यान (२) विश्वकर्मा वशाख्यान (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। इस तीसरे खण्ड म नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन है। भारत की सामाजिक दशा जानन के लिये यह खड अत्यन्त उपादेय है।

(८) प्रभास खण्ड—इसम प्रभास क्षेत्र का बडा ही विस्तृत वर्णन है। द्वारिका के आसपास का भूगोल जानने के लिए यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी है।

महापुराणा म महाकाय स्कन्द पुराण का यह स्वल्पकाय वर्णन है। इस पुराण म जगन्नाथ जी के मन्दिर का वर्णन होन से कुछ पाश्चात्य विद्वानो का विचार है कि यह पुराण १३ वी शताब्दी में लिखा गया। क्योंकि १२६८

ई० के आसपास जगन्नाथ जी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है क्योंकि ९३० शक (१००८ ई०) में लिखी गई इसकी हस्तलिखित प्रति कलकत्ते में उपलब्ध हुई है। परन्तु इससे भी प्राचीन ७ वीं शताब्दी में लिखित इसकी हस्तलिखित प्रति नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसका उल्लेख डा० हरप्रसाद शास्त्री ने वहाँ के सूचीपत्र में किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण बहुत ही प्राचीन है। इसका मूलरूप क्या था और यह कैसे धीरे-धीरे इतना विशालकाय हो गया ? यह भी पुराण के पण्डितों के लिये अनुसन्धान का विषय है।

(१४) वामन पुराण

इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह एक छोटा पुराण है। इसमे केवल ९५ अध्याय हैं तथा १०,००० श्लोक हैं। विष्णुपरक होने के कारण इसमे विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारो का वर्णन होना स्वाभाविक है परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेषरूप से दिया हुआ है। इस पुराण मे शिव, शिव का माहात्म्य, शैवतीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित आदि विषयो का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इसमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिक सकीर्णता नहीं है।

(१५) कूर्म पुराण

इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार सहितायें थी—(१) ब्राह्मी सहिता (२) भागवती (३) सौरी (४) वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी सहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्म पुराण है। भागवत तथा मत्स्य पुराणो के अनुसार इसमे १८,००० श्लोक होने चाहिये परन्तु उपलब्ध पुराण मे केवल ६००० ही श्लोक मिलते है। अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयांश भाग ही उपलब्ध है। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिये यह कूर्म पुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमे सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप मे वर्णित हैं और यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश मे किसी प्रकार का अन्तर नही है। ये एक ही ब्रह्म की पृथक्-पृथक् तीन मूर्तियाँ हैं। इस ग्रन्थ मे शक्ति-पूजा पर भी बडा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम यहाँ दिये गये हैं (१।१२)। विष्णु शिव के रूप तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलाई गई हैं। शिव देवाधिदेव के रूप मे इतने महत्त्वपूर्ण रूप से वर्णित किये गये हैं कि उन्ही के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति मे समर्थ होते हैं।

इस पुराण में दो भाग हैं। पूर्व भाग में ५२ अध्याय और उत्तर भाग में ४४ अध्याय हैं। पूर्वभाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर, पार्वती की तपश्चर्या तथा इनके सहस्र नाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य (अ० ३ –३७) दिया गया है। उत्तर भाग में ईश्वर गीता तथा व्यास गीता है। ईश्वर गीता (१–११ अ०) में भगवद्गीता के ढंग पर ध्यानयोग के द्वारा शिव के साक्षात्कार का वर्णन है। व्यासगीता में चारों आश्रमों के कर्तव्य कर्मों का वर्णन महर्षि व्यास के द्वारा किया गया है (१२–४६ अ०)। इस पुराण के उपक्रम से ही पता चलता है कि मूल रूप में इसमें चार संहितायें थीं और आजकल ब्राह्मी संहिता (६,००० श्लोक) ही उपलब्ध होती है—

> ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्तिताः।
> चतस्रः संहिताः पुण्या धर्मकामार्थमोक्षदाः॥
> इयं तु संहिता ब्राह्मी चतुर्वेदैश्च सम्मता।
> भवन्ति षट् सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥
>
> —१।१३५

(१६) मत्स्यपुराण

यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें अध्यायों की संख्या २९१ है तथा श्लोकों की संख्या १४,००० के लगभग है। इस पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के सामान्य वर्णन के अनन्तर पितृवंश का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। वैराज पितृवंश का १३ वें अध्याय में, अग्निष्वात्त पितरों का १४ वें में तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन १५ वें अध्याय में विशेष रूप से वर्णित है। श्राद्ध-कल्प का विवेचन ७ अध्यायों (अ० १६–२२ तक) में किया है। सोमवंश का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ उपलब्ध है, विशेषतः ययाति के चरित्र का (अ० २७ से ४२ तक)। अन्य राजन्य वंशों का भी वर्णन है। व्रतों का वर्णन इस पुराण की महती विशेषता है (अ० ५५–१०२)। प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायों (अ० १०३–११२) में किया गया है। भगवान् शङ्कर का त्रिपुरासुर के साथ जो संग्राम हुआ था, उसका वर्णन यहाँ हम बड़े विस्तार के साथ पाते हैं (अ० १२९–१४०)। तारकवध का भी बड़ा विस्तार यहाँ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिए तो यह पुराण लिखा ही गया है। काशी का माहात्म्य भी अनेक अध्यायों में यहाँ (अ० १८०-१८५) विराजमान है। वहीं दशा नर्मदा माहात्म्य की भी (अ० १८७ से १९४) है।

इस पुराण में तीन-चार बातें विशेष महत्त्व की दीख पड़ती हैं। पहली बात यह है कि इस पुराण के ५३ वें अध्याय में समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी

दी गई है जिससे हम पुराणो के क्रमिक विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकते हैं। दूसरी विशेषता है प्रवर ऋषियो के वश का वर्णन। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ, पराशर, अगस्त्य—इन ऋषियो के वशो का वर्णन बडे सुचारु रूप से हम १९५ अध्याय से लेकर २०२ अध्याय तक क्रमपूर्वक पाते हैं। तीसरी विशेषता है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। २१८ वें अध्याय से लेकर २४३ तक दैव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहायसम्पत्ति और तुलादान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। इसी राजधर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का दण्ड भी बडी नवीनता लिये हुए है (अ० २२८ से ३३८)। चौथी विशेषता है प्रतिमा-लक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओ की प्रतिमा का मापपूर्वक निर्माण। हमारा प्रतिमा-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न देवताओ की मूर्तियो की रचना तालमान के अनुसार होती है। उनकी प्रतिष्ठा-पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होता है। इन सब विषयो का वर्णन इस पुराण मे अनेक अध्यायों (अ० २५७-२७०) मे बडे प्रामाणिक रूप से दिया गया है। राजा को अपने शत्रु पर चढ़ाई करते समय किन किन बातो का ध्यान रखना चाहिए—इसका कितना सुन्दर वर्णन इस पुराण के राजधर्म मे दिया गया है :—

> विज्ञाय राजा द्विजदेशकालौ,
> दैवं त्रिकालं च तथैव बुद्ध्वा।
> यायात् परं कालविदां मतेन,
> संचिन्त्य सार्धं द्विजमन्त्रविद्भिः॥

(१७) गरुड-पुराण

इस पुराण मे विष्णु ने गरुड को विश्व की सृष्टि बतलाई थी। इसीलिये इसका नाम गरुड पुराण पड गया। इसमे १८,००० श्लोक हैं और अध्यायो की सख्या २६४ है। इसमे दो खड हैं। पूर्वखड मे उपयोगिनी नाना विद्याओ के विस्तृत वर्णन हैं। आरम्भ मे विष्णु तथा उनके अवतारो का माहात्म्य कथित है। इसके एक अश मे नाना प्रकार के रत्नो की परीक्षा है जैसे मोती की परीक्षा (अ० ६९), पद्मराग की परीक्षा (अ० ७०), मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक, रुधिराख्य रत्न, स्फटिक तथा विद्रुम की परीक्षा (अ० ७१-८० तक) क्रमश की गई है। राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ (अ० १०८ से ११८ तक) उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेको अध्यायो (अ० १५०-१८१) मे किया गया है। नाना प्रकार के रोगो के दूर करने के लिए औषधि-व्यवस्था भी यहाँ (अ० १७०-१९८ तक) की गई है। इसके अतिरिक्त

एक अध्याय (१९७) में पशु-चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया गया है जो समधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ० १९९) बुद्धि के निर्मल बनाने के लिये औषधि की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक ये ५० अध्याय जरा पुस्तकाकार प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इनका भी अनुशीलन किया जाता। छन्दशास्त्र के विषय में ६ अध्याय (अ० २११-२१६) यहाँ मिलते हैं। सांख्ययोग का भी इसमें (अ० २३० और अ० २४३) वर्णन है। एक अध्याय (अ० २४२) में गीता का सारांश भी वर्णित है। इस प्रकार गरुड़ पुराण का यह पूर्व खण्ड अग्निपुराण के समान ही समस्त विद्याओं का विश्वकोश कहा जाय तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तरखण्ड 'प्रेत कल्प' कहा जाता है जिसमें ४५ अध्याय हैं। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है ? वह किस योनि में उत्पन्न होता है तथा कौन-कौन सा भोग भोगता है ? इसका वर्णन अन्य पुराणों में यत्र तत्र पाया जाता है, परन्तु इस पुराण में इस विषय का अत्यन्त विस्तृत तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसमें गर्भावस्था, नरक, यमनगर का मार्ग, प्रेतगण का वासस्थान, प्रेतलक्षण तथा प्रेतयोनि से मुक्ति, प्रेतों का रूप, मनुष्यों की आयु, यमलोक का विस्तार सपिण्डीकरण की विधि, वृषोत्सर्ग-विधान आदि विषयों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है। इस 'उत्तर खण्ड' का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है।

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण

इस पुराण में समस्त ब्रह्माण्ड के वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा है। भुवन कोश का वर्णन प्रायः हर एक पुराण में उपलब्ध होता है; परन्तु इस पुराण में पूरे विश्व का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। आजकल उपलब्ध पुराण में जो वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है—प्रक्रियापाद तथा उपोद्घात पाद आदि चारों पाद उपलब्ध हैं। नारद पुराण से पता चलता है कि आरम्भ में इसके १२,००० श्लोक थे तथा प्रक्रिया,

१. शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि, ब्रह्माण्डाख्यं पुरातनम्।
यच्च द्वादश साहस्रं, भाविकल्प-कथायुतम् ॥
प्रक्रियाख्योऽनुषङ्गाख्यः उपोद्घातः तृतीयक।
चतुर्थ उपसंहारः, पादाश्चत्वार एव हि ॥

अनुषङ्ग, उपोद्घात और उपसंहार नामक चार पाद थे। इन चारों पादो की विषय सूची भी नारदपुराण म दी हुई है। कूर्म पुराण की विषय-सूची म इस पुराण को 'वायवीय ब्रह्माण्ड पुराण' कहा गया है। इस नामकरण ने अनेक पश्चिमी विद्वानो को भ्रम मे डाल दिया है। उनके मत से इस पुराण का मूल वायुपुराण है और ब्रह्माण्डपुराण उसी वायुपुराण का विकसित रूप है। परन्तु यह धारणा नितान्त निराधार है। नारदपुराण के वचन से हम जानते है कि व्यासजी को वायु ने इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिये इसका वायु प्रोक्त ब्रह्माण्ड पुराण नाम पडना उचित ही है। नारद पुराण का महत्त्वपूर्ण वाक्य यह है —

> व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत्, प्रभञ्जनमुखोद्गतम्।
> प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन्, प्रावर्तयदनुत्तमम्॥

इस पुराण के प्रथम खण्ड म विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वणन है। जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियो का वर्णन अनक अध्यायो मे (अ० ६६-७२ तक) है। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्र द्वीप, किंपुरुषवष कैलाश, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप शाक द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपो का भिन्न भिन्न अध्यायो मे बडा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहो, नक्षत्रो तथा युगो का भी विशेष विवरण इसम दिया गया है। इस पुराण के तृतीय पाद मे भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वशो का वणन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

इस पुराण के विषय म एक विशेष बात उल्लेखनीय है। ईसवी सन् ५ वी शताब्दी मे इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे जहा उसका जावा की प्राचीन 'कवि' भाषा मे अनुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस पुराण का समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

पञ्चम परिच्छेद

पुराण में अवतारतत्त्व

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'तृ' धातु से घञ् प्रत्यय से सिद्ध होती है। इस विषय में पाणिनि का विशिष्ट सूत्र है—अवे तृस्त्रोर्घञ् (३।३।१२०) जिसमें 'अवतार' शब्द का अर्थ है किसी ऊँचे स्थान से नीचे उतरने की क्रिया अथवा उतरने का स्थान। इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका एक विशिष्ट अर्थ भी है—किसी महनीय शक्तिसम्पन्न भगवान् या देवता का नीचे के लोक में ऊपर से उतरना तथा मानव या अमानवरूप का धारण करना। इसी अर्थ में पुराणों में 'आविर्भाव' शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। 'अवतार' की सिद्धि दो दशाओं में मानी जाती है—एक तो रूप का परिवर्तन (स्वीय रूप का परित्याग कर कार्यवश नवीन रूप का ग्रहण), दूसरा है नवीन जन्म ग्रहण कर तत्तद्रूप में आना जिसमें माता के गर्भ में उचित काल तक स्थिति की बात भी सन्निविष्ट है। भगवान् के लिए ये दोनों अवस्थायें उपयुक्त तथा सुलभ हैं। 'अवतार' की बात किसी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति-भगवान् विष्णु, शंकर या इन्द्र आदि-के लिए ही उपयुक्त मानी जाती है। कार्यवश भगवान् का बिना रूप परिवर्तन किये ही आविर्भाव होना 'अवतार' के भीतर ही माना जाता है। जैसे प्रह्लाद की विपत्ति से उद्धार के लिए विष्णु का अपने ही रूप में आविर्भाव विष्णु पुराण[1] में तथा गजेन्द्र के उद्धार के लिए विष्णु का स्वरूपतः प्रादुर्भाव भागवत पुराण (८।३) में वर्णित है। इन अवतारों में रूप-परिवर्तन की बात नहीं है।

अवतार की प्रक्रिया

भगवान् के अवतार धारण करने के विषय में पुराण तथा इतिहास में चार मत बतलाये गये हैं जिनमें अवतार की कल्पना का स्पष्ट विकास लक्षित होता है।

---

१. तस्य तच्चेतसो देवः स्तुतिमित्थं प्रकुर्वतः ।
   आविर्बभूव भगवान् पीताम्बरधरो हरिः ॥

—विष्णु १।२०।१४

(१) प्रथम[1] मत-इसको हम लोकप्रिय सामान्य मत कह सकते हैं। इस मत के अनुसार भगवान् अपनी दिव्य मूर्ति का सर्वथा परित्याग कर ही भूतल पर अवतीर्ण होते है—चाहे नवीन जन्म धारण करके या बिना जन्म धारण के ही रूप परिवर्तन करके। यह मत आदिम मानवों की कल्पना तथा विश्वास से प्रसूत माना जा सकता है। (२) द्वितीय[2] मत यह है कि भगवान् का केवल एक अंश ही—चाहे वह आधा हो, चतुर्थांश हो या एक बहुत ही छोटा भाग हो—इस धरातल पर अवतीर्ण होता है। अवतीर्ण अंश से अवशिष्ट भाग मूल स्थान में ही निवास करता है और ये दोनों भाग एक साथ ही एक ही काल में विभिन्न व्यापार करते हैं। अवतीर्ण अंश जिस समय एक विशिष्ट (जैसे संरक्षण) कार्य करता है अवतारी अंश उसी समय अन्य कार्य में निषक्त पाया जाता है। श्रीकृष्ण के अवतार काल में विष्णु का स्वर्ग में भूमि के साथ वार्तालाप का वर्णन महाभारत करता है। तात्पर्य यह है कि दो भिन्न कार्य एक साथ ही निष्पन्न होते हैं।

(३) तृतीय मत है कि विष्णु ने अपनी मूर्ति का दो भाग कर दिया। पहिली मूर्ति स्वर्ग में स्थित होकर दुश्चर तपस्या करती है और दूसरी मूर्ति योगनिद्रा का आश्रयण कर प्रजाओं के संहार तथा सृष्टि के विषय में विचार किया करती है। एक सहस्र युगों तक यह मूर्ति शयन करने के बाद अपनी समुद्री शय्या से उत्थित होती है तथा कार्य के अनुकूल आविर्भूत होती है। हरिवंश (१।४१।१८ आदि) के इस मत के प्रतिपादक पद्यों की व्याख्या में नीलकण्ठ प्रथम मूर्ति को 'सात्त्विकी' तथा द्वितीय मूर्ति को 'तामसी' कहते हैं। इस मत के अनुसार अवतार कार्य भगवान् के अर्धभाग का विलास है। प्रथम मूर्ति जो तपस्या के निष्पादन में ही संलग्न रहती है, अवतार के कार्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती। महाभारत प्रथम मूर्ति को वासुदेव तथा द्वितीय मूर्ति को 'संकर्षण' नाम से पुकारता है।[3]

---

१ त्यक्त्वा दिव्यां तनुं विष्णुर्मानुषेष्विह जायते।
युगे त्वथ परावृत्ते काले प्रशिथिले प्रभुः॥ —मत्स्य ४७।३४

२ यदा यदा त्वधर्मस्य वृद्धिर्भवति भो द्विजाः।
धर्मश्च ह्रासमभ्येति तदा देवो जनार्दनः॥
अवतारं करोत्यत्र द्विधाकृत्वाऽऽत्मनस्तनुम्।
सर्वदैव जगत्यर्थे स सर्वात्मा जगन्मयः।
स्वल्पांशेनावतीर्योर्व्यां धर्मस्य कुरुते स्थितिम्।—ब्रह्म ७२।२-३ तथा ९

३ तस्यैषा महाराज मूर्तिर्भवति सत्तम।
नित्यं दिविष्ठा या राजन्! तपश्चरति दुश्चरम्॥

(४) चतुर्थमत-जो इस विषय में विशेषतः विकसित मत प्रतीत होता है। यह है ब्रह्मपुराण का कथन कि समस्त जगत को व्याप्त करने वाले नारायण ने अपनी मूर्ति को चार भागों में विभाजित किया जिनमें एक मूर्ति 'निर्गुण' तथा अन्य तीन 'सगुण' रूप हैं। निर्गुण मूर्ति का नाम है (१) वासुदेव तथा सगुणमूर्ति के नाम है—(२) सङ्कर्षण, (३) प्रद्युम्न तथा (४) अनिरुद्ध। इन चारों मूर्तियों को महाभारत में क्रमशः पुरुष, जीव, मनः तथा अहङ्कार कहा गया है और इस प्रकार इनका दार्शनिक रूप अभिहित किया गया है। ब्रह्मपुराण के अनुसार 'वासुदेव' मूर्ति निर्देश-विहीन शुक्ल, ज्वाला के समूह से दीप्यमान शरीरवाली, योगियों के द्वारा उपास्य, दूर तथा अन्तिक दोनों जगह रहने वाली तथा गुणों से अतीत होती है। दूसरी मूर्ति का नाम है शेष या सङ्कर्षण जो अपने मस्तक पर नीचे से पृथ्वी को धारण करती है और सर्परूप को धारण करने के हेतु, वह तामसी कही जाती है। तृतीय मूर्ति—प्रद्युम्न का कार्य धर्म का संस्थापन तथा प्रजा का पालन है और इसी लिए यह सत्त्वप्रधान मूर्ति मानी गई है। चतुर्थ मूर्ति अनिरुद्ध—समुद्र के बीच सर्प की शय्या पर शयन करती है। रज इसका गुण होता है और इसी से यह संसार की सृष्टि करने वाली होती है। इन चारों मूर्तियों में से तृतीय मूर्ति जिसका कार्य प्रजा का पालन है नियतरूप से धर्म की व्यवस्था करती है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब यह अपने को सृष्ट कर भूतल पर अवतीर्ण होती है। 'अवतार' करने वाली यह प्रद्युम्न मूर्ति है जिसका मुख्य कार्य रक्षा कार्य की निष्पत्ति है। इस मत के अनुसार भगवान् की प्रद्युम्न मूर्ति का ही कार्य अवतार लेना तथा धर्म की व्यवस्था करना है अर्थात् अवतार भगवान् के चतुर्थ अंश का ही विकास है। इस पुराण का यह और भी कथन

द्वितीया चास्य शयने निद्रायोगमुपाययौ।
प्रजासंहार सर्गाथ किमध्यात्मविचिन्तकम्॥
सुप्त्वा युग सहस्र स प्रादुर्भवति कार्यतः।
पूर्णे युगसहस्रे तु देवदेवो जगद् पतिः॥

—हरिवंश प्रथम खण्ड ४१।१८–२०।

१. स देवो भगवान् सर्वं व्याप्य नारायणो विभुः।
चतुर्धा संस्थितो ब्रह्मा सगुणो निर्गुणस्तथा।
एका मूर्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः।
ज्वालामालावनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा॥
दूरस्था चान्तिकस्था च विज्ञेया सा गुणातिगा।
वासुदेवाभिधानासौ निर्ममत्वेन दृश्यते॥

है कि देव, मनुष्य तथा तिर्यग्योनि मे जहाँ कही यह मूर्ति अवतीर्ण होती है वहाँ वह उसके स्वभाव को ग्रहण[1] करती है तथा पूजित होने पर वह अभिमत कामना की पूर्ति करती है। देव तथा गन्धर्व, जो धर्म के रक्षण मे तत्पर रहते हैं, को तो वह बचाती है, परन्तु उद्धत असुरो को, जो धर्म के नाश करने में आसक्त होते हैं, सर्वथा नष्ट कर[1] देती है। इस प्रकार धार्मिक सन्तुलन की व्यवस्था करना, जो अवतार का मुख्य उद्देश्य होता है प्रद्युम्न मूर्ति के ही द्वारा सम्पन्न होता है[2]।

इस प्रकार अवतार का सम्बन्ध पुराणो की दृष्टि में चतुर्व्यूहवाद से सिद्ध होता है। चतुर्व्यूहवाद भागवतो का विशिष्ट सिद्धान्त था जैसा शंकरभाष्य से स्पष्टतः संकेतित होता है (शारीरिकभाष्य २।२।४२) अवतार के विकसित सिद्धान्त की प्रतिपादिका श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्व्यूह के सिद्धान्त का उल्लेख नही करती। महाभारत के नारायणीय पर्व में चतुर्व्यूह का वर्णन उपलब्ध

द्वितीया पृथिवी मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यध।
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्व समुपागता॥
तृतीया कर्म कुरुते प्रजापालनतत्परा।
सत्वोद्रिक्ता च सा ज्ञेया धर्मसस्थानकारिणी॥
चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा।
रजस्तस्या गुणः सर्ग सा करोति सदैव हि॥
या तृतीया हरेर्मूर्ति प्रजापालनतत्परा
सा तु धर्म व्यवस्थान करोति नियत भुवि॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि समुपजायते।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजत्यसौ॥
इति सा सात्विकी मूर्तिरवतार करोति च
प्रद्युम्नेति समाख्याता रक्षा-कर्मण्यवस्थिता॥

ब्रह्म० ७१।१६ आदि। इस कल्पना को महा० शान्तिपर्व (अ० ३४२, ३४७ तथा ३५६) से मिलाइए।

१. देवत्वेऽथ मनुष्यत्वे तिर्यग्योनौ च सस्थिता।
गृह्णाति तत्-स्वभाव च वासुदेवेच्छया सदा।
ददात्यभिमतान् कामान् पूजिता सा द्विजोत्तमा॥

—ब्रह्म० ७१।४१-४२

२. प्रोद्धतानसुरान् हन्ति धर्मव्युच्छित्तिकारिण।
पाति देवान् सगन्धर्वान् धर्मरक्षापरायणान्॥

—तत्रैव ७१।२४

है। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि महाभारत के मूल में (जैसा प्राचीन हस्तलेखों से सिद्ध होता है) वासुदेव तथा सङ्कर्षण केवल इन्हीं दोनों व्यूहों का ही उल्लेख था। प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की कल्पना अवान्तर युग की घटना है क्योंकि ये दोनों व्यूह पिछले हस्तलेखों में ही निर्दिष्ट किये गये हैं। महाभाष्य के एक उदाहरण—जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव—को डाक्टर भाण्डारकर इस चतुर्व्यूह वाद का समर्थक मानते हैं। यदि यह मत ठीक हो, तो चतुर्व्यूह का सिद्धान्त ईसापूर्व द्वितीय शती से निःसन्देह प्राचीन सिद्ध होता है। आचार्य शङ्कर के मतानुसार परमात्मा के प्रतीकभूत वासुदेव से जीवप्रतीक सङ्कर्षण की उत्पत्ति होती है और सङ्कर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहङ्कार) की (शाङ्करभाष्य २।२।४२)। शङ्कर के मत में जीव की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त अवैदिक है परन्तु रामानुज के मत में यह पूर्ण वैदिक है[1]। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में अवतार का सिद्धान्त विशेषरूप से उपलब्ध नहीं होता, परन्तु वैखानस आगम में इसकी संक्षेप में सूचना मिलती है। जो कुछ भी हो, पुराणों के आधार पर अवतार का सिद्धान्त पाञ्चरात्रों के चतुर्व्यूहवाद के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और इस तरह अवतार के विकास के ऊपर इस तन्त्र का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

अवतार का प्रयोजन

यह अवतार-तत्त्व पुराण के प्रधान विषयों में अन्यतम है। अवतार का तत्त्व भगवान् के धर्म नियामकत्व रूप पर प्रतिष्ठित है। इस विश्व को एक सूत्र में धारण करने वाला, नियमित रखने वाला तत्त्व धर्म है। इस धर्म का नियमन सर्वशक्तिमान् परमात्मा की एक विशिष्ट शक्ति का विलास है। जब-जब इस धर्म की ग्लानि होती है तथा अधर्म का अभ्युत्थान (उदय) होता है तब-तब भगवान् अपने को इस विश्व में पैदा करते हैं। ऊर्ध्व लोक से इस अधो लोक में भगवान् का उतर कर आना ही 'अवतार' पद वाच्य होता है। भगवान् श्रीकृष्ण का यह स्वतः कथन है कि साधुओं (दूसरके कार्य को सिद्ध करने वाले व्यक्तियों) के परित्राण (सर्वतः, चारों ओर से रक्षा) के निमित्त तथा पापियों के नाश के लिए मैं युग युग में अपनी माया का आश्रयण कर स्वयं उत्पन्न होता हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता के ये श्लोक अवतारवाद का मौलिक तथ्य प्रकट करते हैं—

---

१ आगम के प्रमाण्य पर द्रष्टव्य यामुनाचार्य का 'आगम प्रामाण्य', वेदान्त देशिक की 'पाञ्चरात्र रक्षा' तथा भट्टारक वेदोत्तम का 'तन्त्रशुद्ध', भागवत सम्प्रदाय पृ० १०९ १११

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

—गीता ४।३-४

ये श्लोक अवतारवाद के माना रीढ है और इन्ही वचनो का प्रभाव पुराणो पर पडा है। इसलिए इस तथ्य के द्योतक श्लोक इसी रूपम उपलब्ध होते हैं।[1]

इस प्रयोजन के अतिरिक्त भागवत म एक अन्य प्रयोजन की सूचना मिलती है जिसे इसकी अपेक्षा उदात्ततर स्थान दिया गया है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन॥

—भाग० १०।२९।१४

---

१ अवतार की आवश्यकता के समर्थक पौराणिक वचन अनेक हैं। उनम से कुछ चुने हुए वचन यहाँ दिये जाते है —

(१) जज्ञे पुन पुनर्विष्णुयज्ञे च शिथिल प्रभु
कर्तुं धर्मव्यवस्थानम् अधमस्य च नाशनम्॥

—वायु० ९८।६९।

मत्स्यपुराण (४७।२३५) म यह श्लोक मिलता है पाठभेद के साथ— धर्मे प्रशिथिले तथा असुराणा प्रणाशनम् —ये दो नये पाठ है।

(२) बह्वी ससरमाणो वै योनीवर्तामि सत्तम।
धर्मसरक्षणार्थाय धर्मसस्थापनाय च॥

आश्वमेधिक पर्व ५४।१३

(३) असता निग्रहार्थाय धर्मसरक्षणाय च।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये।
स एव भगवान् विष्णु कृष्णेति परिकीर्त्यते॥

—वनपर्व, ٠७२।७१ ७२

(४) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूधर
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा वेषान् बिभम्यहम्॥

—देवी भागवत (٠१३९)

(५) ब्रह्मपुराण (१८०।२६ २७ तथा १८१।२-४) म गीता के पूर्वोक्त वचनो से सदृश वचन पाये जाते हैं।

अव्यय, अप्रमेय, गुणहीन तथा गुणात्मक भगवान् की अभिव्यक्ति—अवतार—मनुष्यो के परमकल्याणभूत मोक्ष के साधन के लिए है। यदि भगवान् का प्राकट्य इस जगतीतल पर नही होता, तो उनके अशेष गुण-समुच्चय का पता ही अल्पज्ञ जीव को किस प्रकार चलता ? भगवान् का भौतिक सौन्दर्य, चारित्रिक माधुर्य, अप्रमेय आकर्पण का परिचय जीव को तभी मिलता है, जब उनकी अभिव्यक्ति अवतार के रूप मे इस धराधाम के ऊपर होती है। भगवान् के विलास, हास, अवलोकन और भाषण अत्यन्त रमणीय होते हैं तथा उनके अवयवो से अलौकिक आभा निकलती है। इनके द्वारा भक्तो का मन तथा प्राण विषयो से आहृत होकर भगवान् मे ही केन्द्रित हो जाता है और न चाहने पर भी भक्तिमुक्ति का वितरण करती है, परन्तु यह तभी सभव है जब भगवान् का अवतार भूतल पर होता है। भागवत के शब्दो से—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते ॥

—भाग० ३।२५।३६

अलौकिक रागात्मिका भक्ति का वितरण ही भगवान् के प्राकट्य का उच्चतर तात्पर्य है जिसके सामने धर्मका व्यवस्थापन एक लघुतर व्यापार है।

ज्ञान का वितरण भी भगवान् के अवतार का प्रयोजन हैं। भगवान् ही सब गुरुओ के गुरु है तथा सब ज्ञानो के आधार है। वही से ज्ञान की धारा लोक-मगल के लिए प्रवाहित होती है जिसके कतिपय बिन्दुओ को पाकर भी मानव धन्य हो जाता है। 'कपिल' अवतार का उद्देश्य ही तत्त्व-प्रसख्यान-तत्त्वो का निरूपण तथा आत्मा की उपलब्धि का मार्ग बतलाना था। कर्दम तथा देवहूति के घर कपिलरूप से अवतरण के समय भगवान् का अपना कथन है—

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसंख्यानाय तत्त्वाना सम्मतायात्मदर्शने ॥

—भाग० ३।२४।३६

अन्यत्र (३।२५।१) भी इसी का सकेत किया गया है—

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवान् आत्ममायया ।
जात. स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥

फलतः जीव को मोक्ष प्रदान करना ही भगवान् के अवतरण का मुख्य उद्देश्य है। बद्ध जीव दूसरे बद्ध को मुक्त नही कर सकता—

स्वयं बद्धः कथमपरान् तारयति ।

शुद्ध बुद्ध-मुक्त भगवान् ही बद्ध जीव के बन्धन को काटने का मार्ग बतला कर उसे मुक्त कर सकते हैं। यही मुख्य तात्पर्य है अवतार का। भौतिक क्लेश

का विनाश तो एक लघुतर अभिप्राय है अवतार का। श्रीमद्भागवत का यह शङ्खनाद इस विषय का चूडान्त विमर्श है :—

मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभो ॥

अवतार का बीज

अवतार का बीज वैदिक ग्रन्थो मे स्पष्टत मिलता है। ऋक् संहिता के अनुशीलन से इसके बीजो का संकेत इसके अनेक मन्त्रो मे उपलब्ध होता है। अवतार का सम्बन्ध पुनर्जन्मवाद के साथ घनिष्ठरूप से माना जाता है और विद्वानो की दृष्टि मे पुनर्जन्म अथवा आत्मा के संसरण के सिद्धान्त ऋग्वेद के मन्त्रो मे यत्र तत्र पाये जाते हैं। ऋग्वेद के इन मन्त्रो मे इन्द्र को अपनी माया के द्वारा नाना रूपो के धारण करने का तत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

(क) रूपं रूपं मघवा बोभवीति
मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद् दिवः परिमुहूर्तमागात्
स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ३।५३।८

(ख) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ ६।४७।१८

इन मन्त्रो मे इन्द्र मायाओ के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप धारण करने वाले बतलाये गये हैं। 'माया' का वैदिक अर्थ अवान्तर लोक-प्रचलित अर्थ से भिन्न माना जाता है। इसीलिए सायण ने इसका अर्थ ज्ञान, शक्ति अथवा आत्मीय संकल्प किया है। परन्तु महाभारत के काल मे इसका व्यवहार प्रचलित अर्थ मे हो गया था, क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रो के आधार पर ही वहाँ इन्द्र को 'बहुमाय' बतलाया गया है।[1] यह प्रयोग नवीन अर्थ मे ही किया गया है। ऋग्वेद (१।५१।१३) मे इन्द्र वृषणश्व की मेना नाम्नी दुहिता का रूप धारण करने वाले कहे गये हैं। सायण के इस मन्त्र के अर्थ का आधार

१ स (इन्द्रः) हि रूपाणि कुरुते विविधानि भूयतम।
बहुमायः स विप्रर्षे बल्हा पाकशासन ॥

—महा० भा० अनुशासन ७५।१५

शाट्यायन तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के तत्तत् स्थल हैं जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणयुग मे यह आख्यायिका बहुत प्रचलित हो गई थी। ऋग्वेद (८।१७।१३) मे इन्द्र 'श्रृंगवृष' के पुत्र का रूप धारण करने वाले माने गये हैं। इन दोनो स्थलो पर इन्द्र के अवतार का स्पष्ट आभास मिलता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् का प्रथम अवतार 'पुरुष'[1] है जिसका वर्णन ऋग्वेद के प्रख्यात पुरुषसूक्त मे किया गया है। भागवत इस रूप को ही नाना अवतारो का बीज मानता है जिसके अशाश से देव, तिर्यक् तथा नर आदि की सृष्टि होती है[2]। निष्कर्ष यह है कि अवतार का सकेत ऋग्वेद के पूर्वोक्त मन्त्रो म, अस्पष्ट रूप से सही, अवश्यमेव विद्यमान है। यह तो इन्द्र-विषयक मन्त्रो के आधार पर है। पुरुषसूक्त मे वर्णित पुरुष' को भागवत भगवान् का आद्य अवतार ही नही, प्रत्युत नाना अवतारो का बीज (उद्गम स्थान) तथा निधान (सहार स्थान) भी मानता है।

अवतारवाद[3] के ऋग्वेद-सहिता मे दिये गये बीज ब्राह्मण ग्रन्थो मे विशेष विकसित दृष्टिगोचर होते हैं—इस भावना का स्पष्टरूप हमे शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है। प्रजापति ने ही मत्स्य (१ ८ १ १) का, कूर्म का (७ ५ १ ५, १ १ ७–११) तथा वराह का (१४ १ २ ११) अवतार लिया था, ऐसा शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है। प्रजापति के वराहरूप धारण करने की कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१ १. ३ ५) मे तथा काठक सहिता म भी (८ २) बीजरूप से मिलती है। रामायण मे भी वराह अवतार का वर्णन है (रामा० २।११०) तथा महाभारत मे ब्रह्मा के द्वारा मत्स्यरूप लेने का सकेत है (३।१८७)। अभीतक इन अवतारो का सम्बन्ध अधिकतर प्रजापति के साथ था, कालान्तर मे विष्णु के प्राधान्य की स्थापना होने पर ये अवतार विष्णु के ही माने गये। परन्तु वामनावतार के विषय मे

---

१ जगृहे पौरुष रूप भगवान् महदादिभि ।
सभूत षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥

—भाग० १।३।१

२. एतन्नानावताराणा निधान बीजमव्ययम्।
यस्याशाशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादय ॥

—भाग० १।३।५

३ द्रष्टव्य याकोबी इनकार नेशन, इ आर ए० भाग ७,
काणे - हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग २, पार्ट २, पृ २१७ आदि।
रायचौधरी अर्ली हिस्ट्री आव वैष्णव सेक्ट पृ ९८

ऐसा नहीं कहा जा सकता। आरम्भ से ही ऋग्वेद में विष्णु 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' के विशेषणों से मण्डित किये गये हैं और तीन डगों में पृथ्वी को माप लेना (विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय) उनका एक विशिष्ट वीर्यसम्पन्न कार्य माना गया है तथा शतपथ ब्राह्मण में (१ २.५ १) विष्णु के वामन होने की विस्तार से कथा दी गई है। अतः वामनावतार का सम्बन्ध मूलतः विष्णु से है, अन्य अवतारों (मत्स्य, कूर्म, वाराह) का प्रजापति के साथ वैदिक साहित्य में वर्णित सम्बन्ध विष्णु के प्रधान देव होने पर उन्हीं के साथ जोड़ दिया गया, ऐसा मानना अनुचित न होगा।

एक बात ध्यान देने योग्य है। अवतारवाद ब्राह्मण साहित्य में अवश्यमेव वर्तमान था, परन्तु न तो उस समय विष्णु का प्राधान्य था और न इन अवतारों की पूजा ही होती थी। भागवत सम्प्रदाय के उदय होने पर जब कृष्ण बलराम की भक्ति उद्घोषित हुई तब अवतार वाद का उत्कर्ष सम्पन्न हुआ। वासुदेव कृष्ण के विष्णु के अवतार होने की कल्पना का उदय आरण्यक युग में हो गया था जब तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक १०, अनुवाक १।) उनकी गायत्री इस मन्त्र में दे रहा है—

> नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि।
> तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

पाणिनि ने अपने सूत्र (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्) में वासुदेव तथा अर्जुन की भक्ति का उल्लेख किया है। वैष्णव आगम के उदय होने पर वासुदेव कृष्ण का नारायण के साथ ऐक्य स्थापित हो गया और अवतारवाद के विकास का युग आ गया। श्रीमद्भगवद्गीता के युग में (ईस्वी पूर्व चतुर्थ पंचम शती में) अवतार वाद वैष्णवधर्म का एक विशद तथ्य स्वीकृत हो गया था, इसे विशेष रूप से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। श्रीकृष्ण के पूर्वोदाहृत वचन इस विषय में स्पष्ट प्रमाणभूत हैं।

अवतारों की संख्या

अवतार-वाद का सिद्धान्त मान्य होने पर भी अवतारों की कितनी संख्या थी? इसके विषय में महाभारत तथा पुराणों में अनेक मत दृष्टिगोचर होते हैं। विषय तरल अवस्था में था, किसी ठोस अवस्था को उसने प्राचीन ग्रन्थों में नहीं पाया था। इसका पता इस घटना से लग सकता है कि एक ही ग्रन्थ के भिन्न भिन्न अध्यायों में ही पार्थक्य नहीं है, प्रत्युत कभी-कभी एक ही अध्याय में भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अवतार-वाद का मौलिक तथ्य भगवद्गीता की देन है, परन्तु गीता में दो ही अवतार निर्दिष्ट हैं—

राम (राम शस्त्रभृतामहम्) तथा कृष्ण। नारायणीय पर्व (शान्तिपर्व अ० ३३९।७७–१०२) में केवल छ ही अवतार अपने विशिष्ट कार्यों के साथ निर्दिष्ट किये गये हैं—वराह, नरसिंह, वामन, भार्गव राम, दाशरथी राम तथा कृष्ण। इन अवतारों के कार्य वे ही हैं जो लोक में सर्वत्र प्रख्यात हैं। इसी अध्याय में दस अवतार भी उल्लिखित[1] हैं जिनमें दशावतार के लोकप्रिय नामों में बुद्ध का अभाव है तथा 'हंस' की सत्ता होने से संख्या की पूर्ति होती है। साधारणतः स्वीकृत दस अवतारों का निर्देश पुराणों में बहुलतया उपलब्ध है (वराह ४।२,४८।१७–२२ मत्स्य २८५।६–७, अग्नि अध्याय २–१६ दशों के कार्यों का विवरण भी) नरसिंह (अ० ३६) पद्मपुराण (६।४३।१३–१५)। इन नामों के अतिरिक्त भी अवतारों की गणना पुराणों में मिलती है। भागवत में चार स्थलों पर निर्देश हैं।

भगवान् ने कितने अवतारों को धारण किया ? इस विषय में एकमत्य नहीं। श्रीमद् भागवत के चार स्कन्धों में भगवान् के अवतारों की गणना दी गई है। प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में अवतारों की संख्या बाइस (२२) दी गई है इस क्रम से—(१) कौमार सर्ग (= सनक, सनन्दन सनातन तथा सनत्कुमार) (२) वराह (३) नारद, (४) नर नारायण (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय (७) यज्ञ, (८) ऋषभदेव, (९) पृथु (१०) मत्स्य, (११) कच्छप, (१२) धन्वन्तरि (१३) मोहिनी (१४) नरसिंह (१५) वामन, (१६) परशुराम (१७) वेदव्यास, (१८) रामचन्द्र, (१९) बलराम, (२०) कृष्ण (२१) बुद्ध तथा (२२) कल्कि। यहाँ केवल २२ अवतारों का ही निर्देश है, परन्तु साधारणतया भगवान् के तो २४ अवतार प्रसिद्ध हैं। इस वैषम्य को दूर करने के लिए टीकाकारों ने एक युक्ति दी है जिसका निर्देश आगे किया जायगा। द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में भी भगवान् के इन अवतारों का वर्णन क्रमशः किया गया है—वराह, यज्ञ, कपिल, दत्तात्रेय, चतुःसन (कौमारसर्ग) नर-नारायण, पृथु, ऋषभ, हयशीर्ष (= हयग्रीव) मत्स्य कच्छप, नृसिंह गजेन्द्र मोक्षदाता, वामन, हंस, धन्वन्तरि, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, कल्कि। इस द्वितीय सूची को प्रथम सूची से मिलाने पर अनेक नामों में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। द्वितीय सूची में अवतारों की संख्या यही बाइस है। प्रथम सूची के २२ नामों में हंस तथा हयग्रीव अब

---

१ हंस कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावाद् द्विजोत्तम।
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च॥
रामो दाशरथिश्चैव सात्वत कल्किरेव च॥

—शान्ति ३३९।१०३–१०४

तारो को सम्मिलन कर देने पर यह सख्या २४ हो जाती है। कुछ विद्वान् इसकी उपपत्ति अन्यथा बतलाते हैं। उनका कथन है प्रथम सूची मे (बल) राम तथा कृष्ण को छोड देने पर २० अवतार बच जाते हैं। शेष चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अश हैं। श्रीकृष्ण स्वय तो पूर्णपरमेश्वर हैं। अतः वे अवतारी है, अवतार नही हो सकते। उनके चार अश हैं जो अवतार की गणना मे गिने जाते हैं—एक तो केश का अवतार, दूसरा सुतपा तथा पृश्नि पर कृपा करने वाला अवतार, तीसरा सकर्षण (बलराम) तथा चौथा पर-ब्रह्म। इस प्रकार इन चार अवतारो से विशिष्ट पाँचवें साक्षात् भगवान् वासुदेव हैं। इस प्रकार २४ अवतारो की पूर्ति टीकाकारो ने की है।

भागवत के दशम तथा एकादश स्कन्धो मे अवतारो का वर्णन है जो पूर्व वर्णन से कही मिलते है और कही-कही पृथक् भी हैं। दशम स्कन्ध (४०।१७–२२) में इस क्रम से अवतारो का निर्देश है—मत्स्य, हयशीर्ष, कच्छप, वराह, नृसिह, वामन, भृगुपति (परशुराम), रघुवर्य, वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध (= चतुर्व्यूह), बुद्ध तथा कल्कि। एकादश (४।१७–२२) मे अवतारो का विशेष विवरण उपलब्ध है—नर-नारायण, हस, दत्तात्रेय, कुमार, ऋषभ, हयास्य, मत्स्य वराह, कूर्म, गजेन्द्रमोक्षकर्ता, वालखिल्य के रक्षक, इन्द्र के शापमोचक, देवास्त्रियो के उद्धारक, नृसिह, वामन, राम, सीतापति, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। इन चारो अवतार-सूचियो का अनुशीलन हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि अवतारो की गणना अभी तरल रूप मे थी जिसमे नये-नाम जोडे घटाये जाते थे। अभी तक वह ठोस रूप मे, एक निश्चित परम्परा मे अन्तर्भुक्त होने वाली दृष्टिगोचर नही होती।

तथ्य तो यह है कि बाइस या चौबीस रूपो मे अवतारो का नियमन करना श्रीमद् भागवत के प्रणयन के पीछे की घटना है। इसीलिए भागवत का कथन[1] है कि सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरि के अवतार असख्येय है, उनकी

[1]. अवतारा ह्यसख्येया हरे. सत्त्वनिधेर्द्विजा॰।
यथाऽविदासिन कुल्या सरस स्यु सहस्रश ॥ २६ ॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजस.।
कला॰ सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा। २७
एते चांशकला॰ पुस॰ कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। —भागवत १।३।

हरिवंश तथा शान्तिपर्व मे भी अवतारो के इसी गणनातीत रूप का उल्लेख मिलता है—

प्रादुर्भावसहस्राणि अतीतानि न संशयः।
भूयश्चैव भविष्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः॥ —हरिवंश १।४१।४१

गणना ही नहीं की जा सकती। जिस प्रकार अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, उसी प्रकार अवतारों की बात समझनी चाहिए। ऋषि, मनु, मनुपुत्र, देव, प्रजापति तथा शक्तिशाली पुरुष—ये सब भगवान् के अंशावतार अथवा कलावतार हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) हैं, अवतार नहीं। श्रीमद् भागवत का यह परिनिष्ठित सिद्धान्त कि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् धार्मिक जगत् का एक समग्र तथ्य है जिसमें वैष्णव मतों का अनुयायी ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक विचारशाली मानव अपनी पूर्ण श्रद्धा रखता है। आजकल तो भगवान् के अवतारों की संख्या, प्रचलित रूप में, दश[1] ही मानी जाती है जिनका नाम और क्रम इस प्रकार है—

> वनजौ वनजौ खर्वः त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
> अवतारा दशैवैते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

अवतार तो दश ही हैं—वनजौ (= जल में उत्पन्न होने दो अवतार—मत्स्य तथा कच्छप) वनजौ (जंगल में पैदा होने वाले दो अवतार—वराह तथा नृसिंह), खर्व (= वामन), त्रिरामी (= तीन राम परशुराम, दाशरथी राम तथा बलराम) सकृप (कृपायुक्त अवतार = बुद्ध) तथा अकृपः (कृपाहीन अवतार = कल्कि)। कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं जिनमें ये अवतार संभूत होते हैं। अवतारों का इस संख्या में नियमन कब हुआ? यह अनुशीलन का विषय है। द्वादश शती में तो यह संख्या तथा क्रम दृढमूल हो गया था जब जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' के प्रथम सर्ग में इसी दशावतार की स्तुति की तथा क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतार-चरित' महाकाव्य में इन अवतारों का चरित विस्तृत रूप से निबद्ध किया।

> अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः॥
>
> —(शान्ति ३३९।१०६)

१. यही क्रम और संख्या अग्निपुराण में भी स्वीकृत है (द्रष्टव्य अग्निपुराण अध्याय २—१६) तथा पद्मपुराण में भी—

> मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
> रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश॥
>
> —पद्मपुराण, उत्तर २५७।४०-४१

लिंगपुराण (२।४८।३१-३२) में भी यही श्लोक उपलब्ध होता है। = वराहपुराण (४।२) तथा ११३।४२। = मत्स्यपुराण २८५।६-७ = गरुड-पुराण १।८६।१०-११, २।२०।३१-३२।

दशावतार की कल्पना जिसमें बुद्ध अवतार के रूप में गृहीत किये गये कब स्वीकृत हुई ? इसका अनुमान लगाया जा सकता है। कुमारिल[1] ने तन्त्रवार्तिक (जैमिनि सूत्र १ ३।७) में लिखा है कि पुराणों में धर्म के लोप करने वाले शाक्य (गौतम बुद्ध) आदि का चरित कलि प्रसंग में वर्णित है परन्तु इनका वचन कौन सुनेगा ? कुमारिल के इस कथन से तात्पर्य निकलता है कि उन पुराणों में जिनके साथ उनका परिचय था बुद्ध की निन्दा की गई थी। फलत: वे उस समय (सप्तम अष्टम शती) तक अवतार के रूप में गृहीत नहीं हुए थे। एक और तथ्य का पता चलता है कि कुमारिल के समय में कलियुग से सम्बद्ध विशेषताओं का वर्णन पाया जाता था। यह भी एक ध्यान देने की बात है। दशावतार की कल्पना का उदयकाल अष्टम तथा एकादश शती के मध्य की शताब्दियाँ है। एकादश शती में दशावतार की बुद्ध सहित योजना स्वीकृत हो गई थी। ११५० ई० के आसपास जयदेव ने अपने गीत गोविन्द की आरम्भिक स्तुति में दशावतारों में बुद्ध को भी स्थान दिया है। क्षेमेन्द्र ने १०६६ ईस्वी में अपने दशावतारचरित महाकाव्य का प्रणयन किया तथा अपरार्क (शिलाहार वंशीय राजा समय ११००–११३० ई०) ने याज्ञवल्क्य की विशद टीका में मत्स्य पुराण से एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमें बुद्ध के साथ दश अवतारों का नाम निर्देश किया गया है (मत्स्य अ० २८५। श्लो० ७)। इस प्रमाण के आधार पर यही सिद्ध होता है कि १००० ईस्वी से पूर्व ही बुद्ध अवतारों के मध्य परिगणित किये गये थे यद्यपि कुमारिल के समय तक उन्हें वह गौरव पूर्ण स्थान नहीं मिला था और वे तिरस्कार की—धर्म विप्लावक की दृष्टि से ही देखे जाते थे। अतः विभिन्न पुराणों में उपलब्ध दशावतार (बुद्ध सवलित) की कल्पना के उदय का यही काल मानना चाहिए—लगभग नवम शती का काल। मेरा यह कथन पुराण के समग्र अंश की रचना के विषय में न होकर उसके दशावतार विषयक अंश के प्रणयन के विषय में अवश्य है। दश अवतारों की गणना भिन्न रूपसे भी प्राप्त है। मत्स्य (अ० ४७) ने दश अवतारों में तीन को दिव्य माना है नारायण नरसिंह तथा वामन और सात को मानुष = दत्तात्रेय मान्धाता चक्रवर्ती परशुराम राम व्यास बुद्ध तथा कल्कि। हरिवंश (१।४१) में दश अवतारों के नाम ये हैं—पौष्करक वराह नरसिंह वामन दत्तात्रेय परशुराम कृष्ण व्यास कल्कि। ब्रह्म में भी ये ही नाम पाये जाते हैं व्यास यहां स्वयं वक्ता थे और इसीलिए उनका नाम नहीं है। इस प्रकार हम देख

---

[1] स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥
—तन्त्रवार्तिक (जै० सू० १।३।७)

सकते है कि दश अवतारो की संज्ञा के विषय में पुराणो मे वैविध्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु विभिन्न शताब्दियों से होकर यह अभिधान आजकल के प्रचलित नामो मे सीमित तथा मर्यादित कर दिया गया है।

अवतारवाद तथा विकासतत्त्व

अवतार के इस क्रमबन्ध के भीतर एक वैज्ञानिक रहस्य निगूढ है जिधर विचारशीलो का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त अभीष्ट है। एक तो इसका सामान्य तात्पर्य नितरा सुस्पष्ट है कि भगवान् को कोई एक विशिष्ट योनि अभीष्ट नही है, क्योकि वे छोटी से छोटी योनि मे लेकर ऊंची से ऊंची योनि मे पैदा होते हैं। प्रत्येक योनि मे उनका प्राकट्य सम्भावित है। और ऐसा होना उचित ही है। जब सब योनियो का निर्गम-स्थान स्वयं भगवान् ही ठहरते हैं, तब उनके लिए कौन योनि जन्म ग्रहण के निमित्त ग्राह्य हो और कौन योनि त्याज्य हो ? इस भेदभावना के लिए यहा स्थान ही नही। दूसरा मार्मिक तथ्य यह है कि इस क्रमबद्धता मे वैज्ञानिक विकास-सिद्धान्त का तत्त्व छिपा हुआ है। पाठक जानते हैं कि अंग्रेज वैज्ञानिक डारविन ने १९ शती के मध्यभाग मे अपने वैज्ञानिक अन्वेषणो के आधार पर **विकासवाद** (थ्योरी आफ इवोल्यूशन) का तत्त्व पश्चिमी जगत् मे सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया। तब से लेकर आज तक इसने ज्ञान के सब विभागो ने अपना सिक्का जमा लिया है। सृष्टि के विषय मे **विकासवाद** का यही तात्पर्य है कि सृष्टि का आरम्भ लघुकाय जीवो में प्रथमत. हुआ और धीरे-धीरे सृष्टि दीर्घकाय प्राणियो मे आविर्भूत हुई। प्रथमतः जन्तु बुद्धि से विहीन थे और पीछे से उनमे बुद्धि तत्त्व का विकास सम्पन्न हुआ। इस प्रकार पश्चिमी जगत् मे विकासवाद सौ वर्ष से अधिक प्राचीन नही है।

परन्तु इस अवतार-तत्त्व की समीक्षा विकासवाद की भित्ति पर निःसन्देह आधारित प्रतीत होती है। सबसे पहिले सृष्टि का आरम्भ जलीय प्राणी से होती है। मत्स्य उसी का प्रतीक है। मछली का वास केवल पानी ही है। वह पानी मे ही जीती-जागती है और पानी से बाहर निकलने ही वह गतप्राण हो जाती है। आगे चलकर जल तथा थल दोनो के ऊपर समान रहने वाले जीवो का सर्जन हुआ और इस युग का प्रतिनिधित्व करता है कछुआ, जो जमीन के ऊपर भी चल सकता है और जीवित रहता है। पानी तक उसकी गति-विधि सीमित तथा मर्यादित नहो रहती। इसके अनन्तर हम स्थलीय जीवो, जमीन के ऊपर रहने वाले प्राणियो, का विकास पाते हैं और इसका प्रतिनिधि हम 'वराह' = शूकर को मानते हैं। वह जगल का ही जीव है, जमीन पर रहकर जीवन यापन करना उसकी विशिष्टता है।

अय मानव का प्राबल्य होने वाला है। परन्तु विशुद्ध मानव की उत्पत्ति स पूर्व हम ऐसे प्राणी की कल्पना करते है जिसम पशुत्व तथा मनुष्यत्व दोनो का समभावेन मिश्रण पाया जाता है और वह प्राणी है नरसिंह जो आधा पशु है और आधा मनुष्य है। नरसिंह के अनन्तर मानव आविर्भूत होता है, परन्तु वह होता है बहुत ही ठिगना लघुकाय, और वामन रूप इसी का प्रतिनिधि है। मानव का बौना रूप ही प्राथमिक रूप है जहाँ से वह आगे बढता है। मनुष्य का खूखार, भयानक, रक्तपिपासु रूप वामन के अनन्तर सामने आता है और अपने हाथ मे परशु धारण करने वाले तथा इक्कीस बार दुर्दान्त शासको का नाश करने वाले 'परशुराम इस रूप के प्रतिनिधि हैं। दाशरथी राम हमारे मर्यादा–पुरुषोत्तम हैं जिनमे मानव के जीवन की समग्र मर्यादाओ का विकास सम्पन्न होता है। यहा आदश पिता आदर्श पुत्र आदर्श राजा आदि समग्र आदर्शो की पूर्ण प्रतिष्ठा होती है तथा मानव अपन चरम विकास तक पहुँचन के लिए उत्सुक होता है। बलराम म हम बल के ऊपर अधिक आग्रह रखन वाले मानव रूप का साक्षात्कार करते है जो प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए अनियन्त्रित बल का ही आ यण करता है। बुद्ध म कृपा की ही अधिकता पाते हैं। यहा मानव कृपा के आधिक्य से इतना सम्पन्न रहता है कि वह शत्रु के ऊपर बल का प्रयोग न कर कृपा करुणा तथा मैत्री के उपायो द्वारा उसे अपन वश मे करने मे समर्थ होता है। ऐसा करन पर भी मानव की समस्या सुलझती नही। कृपा का प्रयोग कुछ सीमा तक प्राणियो की समस्याओ का समाधान करता है परन्तु दुर्दान्त तथा उद्दण्ड प्राणी कृपा करुणा के कोमल साधनो से पराक्रान्त नही होता। कल्कि के रूप मे हम मानव के अरूप रूप का साक्षात्कार करते हैं। दुर्दान्त का दमन हिंसा की सहायता चाहता है। उद्दण्ड का स्वभाव करुणा की मीठी पुडिया से शान्त नही होता। फलत कल्कि के अवतार म हम प्राणियो क वतमान युग की समस्याओ का समाधान–कारक रूप पाते हैं।

इस प्रकार अन्त प्रविष्ट होकर विचार करन पर अवतारवाद विकासवाद के वैज्ञानिक तथ्य के ऊपर आधारित नितान्त सत्य तथा बहुमूल्य देन है इसम सशय के लिए स्थान न होना चाहिए। विकासवाद का तत्व भारतवष म सुदूर प्राचीन काल म विवेचित किया गया था।

पौराणिक अवतारवाद का मूल स्रोत

अवतारवाद पौराणिक साहित्य का विशिष्ट क्षेत्र है, परन्तु इसे पुराणा को ही अपनी मनमानी मौज तथा उपज मानना नितान्त भ्रान्त है। अवतारा का मूल स्रोत स्वय वद ही है—मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद, जहाँ से ये सगृहीत कर

विभिन्न पुराणों में उपन्यस्त तथा परिबृंहित हैं। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वेदों का परिबृंहण इतिहास–पुराण में है और इसी सिद्धान्त का एक पोषक साधन यहाँ उपस्थित किया जाता है।

(१) मत्स्य अवतार की वैदिक कथा शतपथ ब्राह्मण (१।८।१।१) में उपलब्ध होती है[1]। वैदिक कथा का रूप इस प्रकार है—नदी के तट पर अवनेजन करते समय मनु के हाथ में मछली का एक बच्चा अकस्मात् आ गया। उसने कहा कि मेरा पालन-पोषण करो, तो मैं तुम्हें पार उतार दूँगा। मनु ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा कि किससे पार उतारोगे ? मछली ने कहा—बड़ी बाढ़ (ओघ) आने वाली है जो समग्र प्रजाओं को अपने में समेट ले जावेगी। उसमें मैं तुझे बचाऊँगा। मनु ने उसे बचाया और उसके वचनानुसार उसे घड़े में, पीछे तालाब में और अन्त में समुद्र में रखा जहाँ उसने विशाल काय धारण कर लिया। ओघ जलप्लावन–आया और सब वस्तुओं को नष्ट कर डाला। मत्स्य के वचनानुसार मनु ने सब अन्नों के बीजों को पहिले से ही उसमें बचाकर रखा था। ओघ शान्त होने पर मनु ने यज्ञ किया और उन्हीं सुरक्षित बीजों से फिर पदार्थों का सर्जन किया। मत्स्यावतार की यही कथा प्रायः अनेक पुराणों[2] में आती है। मत्स्य पुराण तो इसी के कारण तन्नामधारी है। श्रीमद्भागवत के एक ही अध्याय में (स्कन्ध ८, अध्याय २४) यह कथा संक्षेप-रूप में दी गई है। अन्तर इतना ही है कि वैदिक आख्यान में कथानक का भौगोलिक क्षेत्र हिमाचल है, तो भागवत में द्रविड देश की 'कृतमाला' नदी (८।२४।१२) तथा तद्देशीय राजा सत्यव्रत के सम्बन्ध से यह कथा द्रविड देश में चरितार्थ मानी गई है। इस भौगोलिक भेद का जो भी हेतु हो, कथा के रूप में कोई भी विशेष अन्तर नहीं है।

एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। जलप्लावन की कथा, जिसमें संसार के पूर्वसृष्ट समस्त पदार्थों का नाश होने तथा नये प्रकार से सृष्टि का आरम्भ होने का वर्णन किया गया है भारत में ही प्रख्यात नहीं है, प्रत्युत सामी जातियों की कथा परम्परा में भी यह विराजमान है। बाइबिल में यह कथा प्रायः इसी

---

१ मनवे ह वै प्रातः ⋯ मत्स्यः पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाद बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मा पारयिष्यसीति ? ओघ इमाः सर्वाः प्रजाः निर्वोढा। ततस्त्वा पारयिष्यामीति।

—शतपथ

२. भाग० १।३।१५, २।७।१२, ८ स्कन्ध, २४ अध्याय ११-६१ श्लो०। मत्स्य पुराण १ अ० २५९, अग्निपुराण २ अ० । ४९, गरुड़ ३।१४२, पद्म ५।४। ७३; महाभारत १२।३४०

से मिलते-जुलते रूप में मिलती है। यहाँ 'नूह' की 'किश्ती' का हाल विस्तार से दिया गया है। कुरान इसी का अनुसरण करता है। अन्य देशों के कथासाहित्य में, यहाँ तक कि जंगली जातियों की दन्तकथाओं में भी यही कथा उपलब्ध होती है जिससे इसके ऐतिहासिक होने की सम्भावना विद्वानों ने मानी है। वेद की इस कथा ने कब तथा किस प्रकार अन्य देशों में भ्रमण कर अपना अस्तित्व बना लिया—यह गम्भीर अनुशीलन का विषय है।

इतना तो निश्चित है मत्स्यावतार की कथा पुराण की कल्पना न होकर वेद के द्वारा अनुमोदित तथ्य है। फलतः इस अवतार की कल्पना पूर्णरूपेण वैदिक है। इसमें सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

(२) कूर्मावतार का प्रसंग तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।३) में भले प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रसंग का आशय यह है कि प्रजापति के शरीर से रस कम्पायमान हुआ। जल के भीतर कूर्मरूप से विचरण करते हुए देख कर प्रजापति ने कहा—हे कूर्म, तुम मेरी त्वचा तथा मांस से उत्पन्न हुए हो। कूर्म ने उत्तर दिया—नहीं, मैं यहाँ तो तुमसे भी पहिले था। इसीलिए उसे 'पुरुष' की संज्ञा हुई अर्थात् पुरस्तिष्ठतीति पुरुष इस व्युत्पत्ति के अनुसार पहिले से (पुर) रहने वाला व्यक्ति 'पुरुष' पद वाच्य होता है। कूर्म वहाँ पहिले से निवास करता था। अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार कूर्म 'पुरुष' कहलाया। उसके हजार सिर थे (सहस्रशीर्षा) हजार आँखे थीं तथा हजार पैर थे। इस रूप में वह कूर्मपुरुष उठा। इसका तात्पर्य है कि 'सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्' पुरुषसूक्त के इस मन्त्र द्वारा वही कूर्म निर्दिष्ट है। इस आरण्यक के भाष्य ने उस कूर्मरूप को परमात्मा से अभिन्न माना है। शतपथ ब्राह्मण ने भी इस तथ्य का प्रतिपादन किया है—

स यत् कूर्मो नाम एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत

—(शतपथ ७।५।१।५)

इस मन्त्र में कूर्म का रूप धारण कर प्रजापति के द्वारा प्रजा की सृष्टि करने का उल्लेख स्पष्टतः किया गया है।

इस वैदिक तत्त्व का उपबृंहण समुद्रमन्थन के अवसर पर पुराणों में किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के सप्तम अध्याय में समुद्रमन्थन के

---

१ अन्तरतः कूर्मभूत—सर्पन्तं तमब्रवीत्—मम वै त्वङ्मांसात् समभूत्। नेत्यब्रवीत्। पूर्वमेवाहमिहासमिति। तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् भूत्वोदतिष्ठत्।

—तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।३

अवसर पर निराधार होने के हेतु जब मन्दराचल समुद्र में डूबने लगा और समुद्र मन्थन में महान् प्रत्यूह उत्पन्न हुआ तब भगवान् ने कच्छप का अद्भुत रूप धारण कर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण कर लिया। अद्भुत का तात्पर्य है कि वह कच्छप शरीर से बहुत विशाल था—एक लाख योजन फैला हुआ, ठीक जम्बू द्वीप के समान।[1] इसी दृढ आधार के ऊपर रख कर मन्दराचल से नाना वस्तुओं की सहायता से जब समुद्र का मन्थन किया गया तब एक के बाद एक १४ रत्न क्रमश उत्पन्न हुए। फलत यहा भी एक महान् सकट से उद्धार करने के कारण ही भगवान् ने कच्छप रूप धारण किया।

इस प्रकार कूर्म अवतार के लिए पर्याप्त वैदिक आधार उपलब्ध है। फलत इस पुराणो द्वारा वैदिक तत्त्व का उपबृहण ही समझना चाहिए।

(२) वराह अवतार का प्रसग तैत्तिरीय सहिता मे तैत्तिरीय ब्राह्मण मे तथा शतपथ ब्राह्मण मे तीन स्थानो पर पृथक रूप से परन्तु एक ही आधार मे उपलब्ध होता है। इन तीनो स्थलो का साराश नीचे उपस्थित किया जाता है—

---

१ विलोक्य विघ्नशविधि तदेश्वरो
दुर तवीर्योऽवितथाभिसधि ।
कृत्वा वपु काच्छपमद्भुत महत्
प्रविश्य तोय गिरिमुज्जहार ॥ ८ ॥

× × ×

दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥ ९ ॥

—भाग० ८।७।

२ द्रष्टव्य भाग० ८।७ कूर्म पु० ११६।७७-७८, अग्नि ४ अ० । ४९ गरुड १।१४२ पद्म ५।४ १३ ब्रह्म १८० २१३ विष्णु १।४।

१ (क) आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत्। त वर ही भूत्वाऽहरत्

—तैत्ति० स० ७।१।५।१

(ख) स वराहो रूप कृत्वोप यमज्जत। स पृथ्वीमध आच्छत्

—तैत्ति० ब्रा० १।१।६

(ग) इतीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री
तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्या पतिरिति।

—शत० ब्रा० १४।१।२।११

(क) पहिले इस विश्व में जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप होकर उसमे विचरण करने लगा। वहाँ उसने पृथ्वी को देखा। तब वह वराह के रूप मे उस पृथ्वी को (उस लोक से उद्धार कर) हरण किया।

—तैत्ति० स० ७।१।५।१

(ख) प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया। वह पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आय।

—तैत्ति० ब्रा० १।१।६

(ग) यह इतनी बडी पृथ्वी प्रादेशमात्र थी। तब पृथ्वी के पति प्रजापति वाराह रूप धारण कर इसे नीचे से ऊपर लाये।

—शतपथ १४–२।११

इन वैदिक ग्रन्थों मे प्रकटित तथ्य अक्षरश पुराणो मे स्वीकृत है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के १३ अध्याय मे इसका बडा ही यथार्थ तथा आकर्षक वर्णन किया गया है। इस स्थल पर वराह 'यज्ञवराह' के रूप मे चित्रित किया गया है अर्थात् यज्ञ मे जितने साधन तथा अग स्रुव, चमस आदि प्रयुक्त किये जाते हैं उन सबका प्रतीकरूप वराह के देह मे विद्यमान था। वराह को यज्ञवराह के रूप मे चित्रण स्पष्टत. वैदिकत्व की छाप को स्पष्ट कर रहा है। फलत वराह अवतार के द्वारा पाताल लोक से भूतधात्री पृथ्वी का उद्धारकार्य प्रजापति के कार्यों मे एक विशिष्ट स्थान रखता है, और यह वेद मे स्पष्टत निर्दिष्ट होकर पुराणो मे उपबृंहित किया गया है। आजकल प्रचलित रूप मे मत्स्य का प्रथम अवतार बतलाया गया है, परन्तु अनेक स्थलो पर वराह अवतार को ही आदि अवतार होने का गौरव दिया जाता है। यह उचित भी प्रतीत होता है।[२] जिस पृथ्वी के ऊपर अन्य अवतारो का लीला-विलास

(घ) वाराहेण पृथिवीसविदाना (अथर्व १२।१।४८)

(ङ) उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना (तैत्ति० आ० १।१।३०)

१ द्रष्टव्य ब्रह्म० २१३। ३२–३९, वायु ६।१६-२३, ब्रह्माण्ड १।५।१६-२३, मत्स्य २४८।६६–७४, भाग० ३।१३।३५-३९ विष्णु १।४।३२-३६, अग्नि ५।१–३।

२ भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय मे अवतारो की द्वितीय सूची मे वराह अवतार ही प्रथमत वर्णित है—

यत्रोद्यत क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडी तनु सकल यज्ञमयीमनन्त ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्य
त दष्ट्याऽद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥

सम्पन्न होता है, उसी पृथ्वी के उद्धारकर्ता अवतार (वराह) को प्रथम अवतार के रूप में मान्यता प्रदान सर्वथा समुचित तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। पुराणों में वराह के साथ यज्ञ का प्रतीक इतना सवलित माना गया है कि वह 'यज्ञवाराह' के नाम से ही विश्रुत हैं।[1]

(४) नृसिंहावतार की पूर्ण सूचना तैत्तिरीय आरण्यक के प्रपाठक १० के प्रथम अनुवाक में दी गई है। वहां नृसिंह की गायत्री दी गई है—

> वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि
> तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्

इस गायत्री में नरसिंह अवतार के लिए 'वज्रनख' तथा 'तीक्ष्णदंष्ट्र' पदों का प्रयोग उसकी भयंकरता की ओर स्पष्टतः लक्ष्य कर रहा है। इसी का उपबृंहण हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद को आशीर्वाद देनेवाले श्रीनृसिंह भगवान् के चरित-चित्रण के अवसर पर पुराणों में किया गया है, विशेषतः श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में। अष्टम अध्याय में नृसिंह का जो सटामण्डित कराल रूप का वर्णन किया गया है, वह पूर्वोक्त गायत्री के वज्रनखाय तथा तीक्ष्ण दंष्ट्राय शब्दों के ऊपर मानो भाष्यरूप है :—

> प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
> स्फुरत् सटाकेसर जृम्भिताननम् ॥ २० ॥
> करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-
> क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम्
> स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
> व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ॥ २१ ॥

(५) वामनावतार के लिए वैदिक स्रोतों को विशेष प्रयत्नपूर्वक खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह तो ऋग्वेद के विष्णुसूक्तों के अनेक मन्त्रों में बहुधा संकेतित है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, १५४ सूक्त के अनुशीलन से विष्णु के वैदिक स्वरूप का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। उनके विशिष्ट कार्यों में तीन डगों में पृथ्वी को माप लेना अपनी प्रधानता रखता है (विचक्रमा-

---

यह तो सूचना मात्र है, परन्तु विशेष वर्णन के प्रसंग पर भी इसी अवतार का प्रथम वर्णन है। द्रष्टव्य भागवत तृतीय स्कन्ध, १३ अध्याय।

१ यज्ञवराह के सांगोपांग विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य डा० अग्रवाल का एतद्विषयक लेख—पुराणम्, वर्ष ५, भाग २, पृष्ठ १९९-२३६, जुलाई १९६३ (रामनगर, वाराणसी)

२. भाग० ७।८ अ०; अग्नि ४।२-५, २७६।१०, २७६।१३

णसनैधोरुगाय), विष्णु ने अकले ही तीन पदा म माप लिया इस दीर्घ दूर तक फैलने वाले सघस्थ (अन्तरिक्ष) को जहाँ पितर लोगो का एकत्र निवास होता है (य इद दीघ प्रयत्न सधस्थम् , एको विममे त्रिभिरित् पदभि १।१५४।३) तीन डगा से पृथ्वी की माप ऐने क कारण ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण केवल विष्णु के लिए ही वेद म प्रयुक्त किये गये हैं। यह प्रसिद्ध मन्त्र इसी तथ्य का द्योतक है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे परम्
समूढमस्य पांसुरे

—ऋ० व० १।२२।१७

मन्त्र का तात्पर्य यह है कि विष्णु ने इस जगत् को तीन चरणो से आक्रान्त कर पैर रखा और इनके धूलि-धूसर (पासुरे) पद म यह भूमि आदि समस्त लोक अन्तर्हित हो गये। विष्णु के लिए वामन' शब्द का प्रयोग हम शतपथ ब्राह्मण मे (१।२।५।५) की इस उक्ति म मिलता है—वामनो ह विष्णुरास। फलत वेद मे विष्णु के तीन डगो को भरने की, उरुगाय-उरुक्रम आदि अन्वर्थक नामो के धारण करने की ही उपलब्धि नही होती, प्रत्युत 'वामन' विशिष्ट नाम का भी प्रयोग हम वेद मे उपलब्ध होता है। फलत वामनावतार की कथा का मूल स्रोत वद मे प्रामाणिकरूप मे हमे प्राप्त होता है।

एक तथ्य पर और विचार करना आवश्यक है। विष्णुसूक्तो के अनुशीलन से गोपाल कृष्ण की भी कथा का सकेत उपलब्ध होता है।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य.
अतो धर्माणि धारयन्॥ —ऋ० १।२२।१८

यह मन्त्र विष्णु को 'गोपा' के विशेषण से सम्बोधित करता है। फलत उरुक्रम वामन तथा गोपवेषधारी विष्णु की एकता का स्पष्ट प्रतिपादक यह मन्त्र अध्यात्मदृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इतना ही नही वैष्णवमत मे भगवान् विष्णु के सर्वोच्च पद को 'गोलोक' नाम से पुकारते हैं और इसके लिए वैदिक आधार हमे प्राप्त है इस मन्त्र म—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृंगा अयास ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण
परम पदमव भाति भूरि ॥

—१।१५४।६

तात्पर्य है कि हम इन्द्र विष्णु के उन लोको को जानेकी सन्तत कामना करते हैं जहा बहुत ही सीग वाली तथा चचल गायें निवास करती हैं। फलतः

गायें के सचार के कारण वह लोक 'गोलोक' के नाम से भक्ति साहित्य में सर्वत्र अभिहित है। यह भी ध्यातव्य है कि विष्णु के सौरदेवता होने के कारण उनका किरणा के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित है वैदिक मन्त्रो मे। अत 'गो' शब्द का तात्पर्य यहाँ किरणो से समझा जाता है। विष्णु के सूक्तो के गाढ अनुशीलन से परवर्ती काल मे उनके स्वरूप के विकास का पूरा परिचय आलोचक के सामने स्वत प्रस्तुत हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण (१।२।५-७) मे वामन का प्रसग आता है जो पौराणिक प्रसग का मूलरूप माना जा सकता है। सक्षेप म यह प्रसग इस प्रकार है

दव और असुर—दोनो ही प्रजापति की सन्तान हैं। य दोनो आपस मे विवाद करन लगे। उनम मे तीक्ष्ण स्वभाववाले असुरो से दवगण परास्त हो गये, तब असुरो ने माना कि यह समस्त भुवन हमारा ही है॥ १॥

उन लोगो ने विचार किया कि समस्त पृथ्वी को हम विभाजित कर दें और उस बाट कर उसी के द्वारा आजीविका निर्वाह करें। यह विचार कर उन्होने वृषचर्म की बहुत बारीक तात बनायी और पश्चिम स लेकर पूरब तक उसका बंटवारा करन के लिए उद्यत हुए॥ २॥

इस बात को देवो ने सुना कि असुर लोग पृथ्वी का बटवारा कर रहे हैं। दवगण विचारकर कहने लगे—चलें जहा असुर लोग पृथ्वी का विभाजन कर रहे हैं। यदि हमको इसका अश न मिलेगा, तो हमारा क्या होगा ? हमारा काम कैसे चलेगा ? तब वे यज्ञरूपी विष्णु को आगे कर अर्थात् अपना नेता बनाकर असुरो के स्थान पर गये॥ ३॥

दव बोले—"हमारे पीछे पृथ्वी का बटवारा मत करो। हमारा भी तो इसम भाग है'। इस बात को सुनकर असुर लोग असूया करने लगे और बोले कि जितने स्थान पर यह विष्णु सोता है (अर्थात् व्याप्त कर लेता है), उतनी पृथ्वी तुमको दे देंगे॥ ४॥

विष्णुजी वामन थे (अर्थात् यदि विष्णु के शयनयोग्य भूमि ही देवो को प्राप्त होती तो वह बहुत थोडी थी, क्योकि विष्णु का रूप बौना था) इसलिए देवा ने यह बात स्वीकार नही की और आपस म कहने लगे—असुरा ने यज्ञ के बराबर जो भूमि हम दी है, सो ठीक ही है। यह कम नही, बहुत ही है॥ ५॥

दव लोग पूर्व दिशा में विष्णु को स्थापित कर छन्दो के द्वारा उन्ह चारो ओर से घेर लिया। पूर्व दिशा म गायत्री छन्द से घेर दिया, दक्षिण में त्रिष्टुम् छन्द के द्वारा, पश्चिम-दिशा में जगती छन्द स तथा उत्तर दिशा में उन्ह छन्दों से चारो ओर से घेर दिया॥ ६॥

पूर्व दिशा मे अग्नि की स्थापना की और उसकी पूजा-अर्चा करते हुए वे चारो ओर घूमने लगे और इस अर्चा के प्रभाव से उन्होने समग्र पृथ्वी को प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

इस कथानक के द्वारा देवो के द्वारा असुरो से समस्त पृथ्वी को जीतने का वृत्तान्त उपस्थित किया गया है। इस कार्य में यज्ञरूपी विष्णु का ही हाथ था। यहा स्पष्टत विष्णु वामन के रूप मे चित्रित किये गये हैं। ऋग्वेद के उरुगाय विष्णु के त्रिविक्रम को तथा शतपथ के इस वामन आख्यान को एक सग मे मिला कर पुराणो मे वामनावतार का पूर्ण प्रसग प्रस्तुत किया गया है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ शतपथ मे असुरो से भूमि जीतने की कथा है, वहा पुराणो मे असुरो के राजा बलि से। शतपथ का कथानक यज्ञ को महिमा का प्रतिपादक है और देवो ने असुरो की भूमि पर यज्ञ का विस्तार कर उसे आत्मसात् कर लिया, पुराणो मे तीन क्रमो मे पृथ्वी, स्वर्ग तथा बलि के शरीर को मापने के अनन्तर समग्र पृथ्वी असुरो से छीनकर देवो को समर्पित की गई है। दोनो ही आख्यान विष्णु के माहात्म्य-द्योतक है। पुराणो ने ऋक्सहिता तथा शतपथ ब्राह्मण दोनो पर आधारित कर स्वाभीष्ट कथन को प्रामाणिक बनाया है।

पुराणो मे, विशेषत भागवत के अष्टम स्कन्ध मे वामन अवतार का वर्णन राजा बलि के प्रसग मे किया गया है। स्वर्ग को जीतकर बलि स्वय इन्द्र बन गया और देवताओ को पराजित कर उन्हे स्वर्ग से निकाल भगाया। देवो की तीव्र प्रार्थना पर भगवान् अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए। इस कामना की पूर्ति के निमित्त अदिति ने 'केशव तोषण' नामक व्रत किया था (भाग० ८।१६) वामन रूप मे उत्पन्न होकर भगवान् बलि की [1]यज्ञशाला मे पधारे और तीन डगो जमीन माँगी। शुक्राचार्य के निषेध करने पर भी बलि ने वामन की इच्छा पूर्ण की। वामन ने दो ही डगो मे पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनो को नाप डाला और तीसरा चरण बलि के आत्मसमर्पित मस्तक के ऊपर रखकर

१. बलि का यह यज्ञ नर्मदा के उत्तर तट पर 'भृगुकच्छ' 'आधुनिक नाम भडोच) में हुआ था जहाँ भृगु लोगो ने ऋत्विज् बनकर यज्ञ का कार्य सम्पन्न कराया था। आज भी यहा भार्गव ब्राह्मणो की प्रसिद्ध बस्तिया हैं।

त नर्मदायास्तट उत्तरे बले-
र्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसञ्ज्ञके।
प्रवर्तयन्तो भृगव. क्रतूत्तम
व्यचक्षतारादुदित यथा रविम् ॥

—भाग० ८।१८।२१

—भाग० ८ १८ अ०, अग्नि० ४।५।१२

अपने 'त्रिविक्रम' नाम को चरितार्थ बनाया। भागवत मे निर्दिष्ट यह कथा प्राय इसी रूप मे अन्य पुराणो में भी आती है। ध्यान देने की बात है कि भागवत वामन के लिए वैदिक विशेषणो का बहुश प्रयोग करता है। पृश्निगर्भ, वेदगर्भ, त्रिनाभ, त्रिपृष्ठ, शिपिविष्ट, ब्रह्मण्यदेव आदि नामो के साथ ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' प्रयोग वेद का सर्वथा अनुसरण करता है (भाग० ८।१७।२५-२६)। निष्कर्ष यह है कि वामन अवतार का सकेत ही नहीं, प्रत्युत विशद उल्लेख भी वैदिक साहित्य मे प्राप्त होता है तथा अन्य अवतारों के समान इस अवतार को भी वेदानुकूल सिद्ध कर रहा है।

इस प्रकार विष्णु के आद्य पांच अवतारो के वैदिक स्रोतो का यहाँ विस्तार से अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। इसके आगे अवतारो मे अन्तिम दो अवतारो के विषय मे हम जानते हैं कि बुद्ध को जन्म लिये केवल अढाई हजार वर्ष हुए तथा कल्कि का अवतार इसी कलियुग म अभी भविष्य म होने वाला है। अत इनके लिए वैदिक मूल ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। रह गये बीच के तीन अवतार—परशुराम, राम तथा कृष्ण। इनके लिए वेद म पर्याप्त पोषक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। भार्गवेय राम का निर्देश ऐतरेय ब्राह्मण (७।५।३४) के जिस वाक्य म (प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय) माना गया है, उसम यथार्थ पाठ 'मार्गवेयो' है, भार्गवेयो नहीं। रामायण के कथानक को वैदिक मन्त्रों के आधार पर सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयास नीलकण्ठ (महाभारत के व्याख्याकार)[1] ने अपने **मन्त्ररामायण** मे किया है तथा **मन्त्रभागवत** का प्रणयन कर उन्होंने ही ऋग्वेद के मन्त्रो मे भागवत का पूरा आख्यान—श्रीकृष्ण की नाना लीलाओं का प्रसग सिद्ध किया है। नीलकण्ठ के इस प्रयास की हम भूयसी प्रशसा करते हैं, परन्तु आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से हम इसका प्रामाण्य अक्षरश मानने के लिए तैयार नहीं हैं। फिर भी राम तथा कृष्ण का प्रसग वैदिक साहित्य मे यत्र तत्र अवश्यमेव उपलब्ध होता है। इसका सक्षिप्त परिचय यहाँ अब दिया जायगा।

---

१ नीलकण्ठ चतुर्धुरीण वश के उत्पन्न महाराष्ट्र ब्राह्मण थ। इनके पूर्वज महाराष्ट्र से आकर काशी म रहते लग थ। नीलकण्ठ न काशी म ही अपना प्रधान ग्रन्थ समग्र महाभारत का टीका ग्रन्थ ('भारतभावदीप' नामक) बनाया जो आज भी महाभारत क मूल अर्थ को जानने के लिए हमारे पास बहुमूल्य साधन है। इस ग्रन्थ क नाना हस्तलेखों का समय १६८७ ई० स लेकर १६९५ ई० तक है। फलत नीलकण्ठ का समय १७वीं शती का उत्तरार्ध (१६५० ई०-१७०० ई०) मानना सर्वथा समुचित है। विशेष द्रष्टव्य—मेरा ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० १०४, षष्ठ स०, काशी)

(६) **परशुराम**—परशुराम के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है—कार्तवीर्य हैहय का नाश तथा उद्धत क्षत्रिय शासकों का २१ बार संहार। इनका चरित महाभारत तथा पुराणों में बहुश वर्णित है। इन कथाओं के मूल स्रोत हैं—महाभारत II, 49, III, 98, 116 117 आदि, मत्स्यपुराण ४७ अ०, विष्णुपुराण ४।७, ४।११, भागवत १।३।२०, २।७।२२ ९।१५–१६। परशुराम का अवतार षष्ठ माना जाता है—वामन तथा राम के बीच मे। मत्स्यपुराण की गणना मे भी यह अवतार षष्ठ है। विशेष बात यह है कि मत्स्य के[1] अनुसार यह अवतार १९वें त्रेतायुग मे हुआ था तथा विश्वामित्र विष्णु के यज्ञ के पुरोहित थे। भागवत के अनुसार यह सोलहवाँ (१।३) तथा सत्रहवाँ अवतार विष्णु के २२ अवतारो के बीच मे माना गया है (२।७)।

यह अवतार राम तथा कृष्ण के समान ही ऐतिहासिक माना जाता है, क्योंकि परशुराम ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनके द्वारा सम्पादित कार्य अलौकिक भले ही हो, वे कथमपि अतिमानव नहीं हैं। 'क्षत्रात् किल त्रायते इति क्षत्रिय' इस व्युत्पत्ति के विरुद्ध जब क्षत्रिय शासक प्रजा का, तथा विशेषत अध्यात्म-परायण ब्राह्मण वर्ग का, पोषक होने के स्थान पर शोषक बन जाता है, तब इस अवतार का उदय होता है। दुर्दान्त तथा अभिमानी शासक का दमन तथा ब्राह्मण की रक्षा इस अवतार का उद्देश्य है। महाभारत पूर्व युग मे इस अवतार के अस्तित्व का पता नही मिलता। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' म जमदग्नि के पुत्र राम किन्ही वैदिक मन्त्रो के द्रष्टा माने गये हैं (१०।११०)। सम्भव है ये ही जामदग्न्य राम पौराणिक परशुराम हो, परन्तु वैदिक ऋषि क ऊपर वीर योद्धा के शौर्यमण्डित कार्यकलापो का आरोप सामान्यत नैसर्गिक नही प्रतीत होता।

(७) **वेदों में रामकथा**—वेदो मे राम की प्रख्यात कथा संकेतरूप से भी मिलती है या नहीं? इसका संक्षेप मे निरूपण करना आवश्यक है। रामायण कथा के प्रसिद्ध कतिपय पात्र वैदिक साहित्य मे अवश्य मिलते हैं, परन्तु इनका पारस्परिक सम्बन्ध कही भी निर्दिष्ट नही मिलता जिससे कथा का सूत्र विच्छिन्न ही रहता है। 'इक्ष्वाकु' शब्द ऋग्वेद के एक बार (१०।६०।४) तथा अथर्ववेद म भी एक बार (१९ ३९ ९) आया है। दशरथ का

---

१. एकोनविंश्या त्रेतायां सर्वक्षत्रान्तकृद् विभु।
जामदग्न्यस्तथा षष्ठो विश्वामित्र पुर सर॥

—मत्स्य ४७।२४१

उल्लेख वैदिक साहित्य म एक ही वार हुआ है—ऋग्वेद की एक दानस्तुति म जहा अन्य राजाओ क साथ दशरथ की भी प्रशसा का गई है (१।१२६।४) — चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणा सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति (अर्थात् दशरथ क चालीस भूरे रग क घोडे एक हजार घोडा क दल का नतृत्व करत ह)। राम नामक अनक व्यक्तिया का उल्लेख वैदिक साहित्य म उपलब्ध होता है (१) एक राजा के रूप म (ऋग्वद १०।९३।१४) (२) ब्राह्मण कुल म 'राम नाम धारी अनेक व्यक्तिया का निर्देश मिलता है

राम मार्गवेय (श्यापर्ण कुल के तथा जनमेजय के समकालीन थ एत० ब्रा० ७।२७।३४)

राम औपतस्विनी (याज्ञवल्क्य के समकालीन दार्शनिक आचार्य शत० ब्रा० ४ ६ १ ७)

राम क्रातुजातेय (एक वैदिक आचार्य जैमिनीय उप० ब्रा० म दो स्थला पर निर्दिष्ट)

इन नामा का अस्तित्व यही दिखलाता है कि राम एसा अभिधान वैदिक काल म राजाओ तथा ब्राह्मणो में उपलब्ध था। इससे आग किसी वात का पता नहा।

इसी प्रकार जनक वैदेह का बहुत परिचय मिलता है तै० ब्रा० म तथा शत० ब्रा० म। वैदिक साहित्य म सीता शब्द अनकत्र उपलब्ध होता हैं। सीता सावित्री की कथा तैत्तिरीय ब्रा० म (३ १०) मिलती है। कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप म सीता का उल्लेख मिलता है ऋग्वद के सूक्त ४।५७ म तथा अथववद के सूक्त ३।१७ म। तथा अयत्र भी यह कल्पना उपलब्ध होता है।

इस प्रकार रामायणीय कथा के प्रधान व्यक्तिया के नाम तो अवश्य वैदिक साहित्य म मिलते हैं परन्तु इनका आपस म किसी सम्बन्ध का परिचय नहा मिलता। इक्ष्वाकु क वश म उत्पन्न दशरथ के पुत्र राम थ इस घटना का परिचय इक्ष्वाकु दशरथ तथा राम नामा के मिलन पर भी नहा होता। सीता तथा जनक के उल्लिखित होन पर भी सीता जनक की पुत्री थी यह तथ्य अपरोक्ष ही है वैदिक साहित्य म। और न राम का सीता स कोइ सम्बन्ध ही है।

इसका निष्कर्ष यही हो सकता है कि वैदिक काल म रामायण की रचना हुई थी अथवा रामसम्बन्धी गाथायें प्रसिद्ध हो चुकी था इसकी असन्दिग्ध सूचना

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य फादर कामिल बुल्के रचित रामकथा पृ० १ २९। प्रकाशक हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग १९५०

वैदिक साहित्य के आधार पर उपस्थित नही की जा सकती। कुछ पात्रो के नाम अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

(८) वेदों में कृष्ण कथा

अवतारो के बीच मे कृष्ण का अवतार नौवाँ अनेकत्र माना गया है, परन्तु कही-कही कृष्ण के सग मे बलराम भी अवतार माने गये है। भागवत की प्रथम सूची (३।२३) मे राम (बलराम) तथा कृष्ण दोनो ही अवतार माने गये हैं। परन्तु जब श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा के रूप मे गृहीत कर लिये गये, तब नवम अवतार बलराम के रूप मे परिगृहीत किया गया। इसलिये अनेक पुराणो मे बलराम का भी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ अग्निपुराण मे बलभद्र अनन्त की मूर्ति माने गये हैं (१५।५) जिनकी मूर्ति चतुर्भुजी बनाई जाती थी। बायें भाग के ऊपर हाथ मे 'लाङ्गल' (हल) तथा निचले हाथ मे 'शख' रखने का विधान है। दाहिने भाग के ऊपरी हाथ मे मुपल तथा निचले हाथ मे चक्र रखने का नियम है। अग्नि० (४९।६-७) के पूर्व मे दाशरथी राम का तथा इसी अध्याय के आठवे श्लोक मे बुद्ध का वर्णन उपलब्ध होता है जिससे दोनो का बीचवाला अवतार श्रीकृष्ण के स्थान पर नवम अवतार माना गया है। कृष्ण का सकेत वैदिक साहित्य मे है। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७।६) ने **घोर आङ्गिरस** के शिष्य जिस **देवकीपुत्र कृष्ण** की चर्चा की है वे पुराणो मे वर्णित देवकी तथा वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण से भिन्न नही प्रतीत होते। 'वासुदेव' शब्द का उल्लेख न होने पर भी 'देवकीपुत्र' विशेषण ही दोनो के ऐक्यसाधन के लिए पर्याप्त माना जाता है। इसलिए कृष्णावतार की सूचना वेद-प्रतिपाद्य ही है[1]।

(९) **बुद्ध का अवतार**--बुद्ध का जीवनचरित नितान्त विख्यात है। हीनयान सम्प्रदाय मे बुद्ध का वैयक्तिक जीवन ही आदर्श माना जाता है जिसका अनुकरण तथा जिनके उपदिष्ट अष्टागिक मार्ग का अनुसरण साधक को 'अर्हत्' की उन्नत दशा पर पहुँचा देता है, परन्तु थोडी ही शताब्दियाँ पीछे महायान मे गौतम बुद्ध अवतार के रूप मे गृहीत किये गये, उनकी मूर्ति का निर्माण होने लगा तथा कारुण्य और दया की मूर्ति 'बोधिसत्त्व' का आदर्श सर्वत्र परिगृहीत किया गया। इस प्रकार महायान मे वे तुषित स्वर्ग के निवासी लोकोत्तर बुद्ध माने जाने लगे तथा इस लोकोत्तरवाद के आगे उनका मानवरूप एकदम ह्रास पाकर तिरोहित-सा हो गया। यही तो बुद्धधर्म मे बुद्ध

१. कृष्ण चरित के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य भागवत १० स्कन्ध। ब्रह्म (अ० १८२-२१२ अ० पूरे ३० अध्यायो में)

के जवतार का निर्देश है। ब्राह्मण वैदिकधम म भी बुद्ध विष्णु के अवनार मान जान ल्ग थ। कब तथा किस परिस्थिति म ? यही विचार का विषय है।

विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों म बुद्धधम का भूयान् अभ्युत्थान हुआ। इसमें राजाश्रय ही प्रधान हेतु था। मौय सम्राट अशोकवधन कलिंग युद्ध म भूयान्-नरसहार स इतना ग्तप्त तथा व्यथित हुआ कि उसन सदा-सवदा क लिए युद्ध का बद कर दिया और बुद्धधम को राजधम बनाकर इसक प्रचार क निमित्त विदेशों म भिक्षुओं को भेजा विक्रम पूर्व तृतीय शती में। इसक लगभग चार सौ वप क अनन्तर कुषाण नरश कनिष्क न प्रयम शती में बुद्धधम क प्रचार प्रसार क लिए अश्रान्त परिश्रम किया। चतुथ सगीति बुलाइ तथा चीन जैस दश में अपन प्रचारक भेजे। बुद्धधम के बाहरी देशों में अभूतपूर्व विजय के साथ ही साथ भारत में भी इसका अभूतपूर्व प्रसार हुआ। भारतीय जनता विशेषत निम्नस्तर की जो वैदिक धम में श्रद्धा रखती थी बौद्धधम की सरलता के चाकचिक्य के आग उस श्रद्धा को भूलकर इस नवीन धर्म में दीक्षित होने लगी। पुराणों न इसी भूली जनता का वैदिक धम में पुनर्दीक्षित करन क निमित्त एक सावभौम धामिक क्रान्ति उत्पन्न की। अवतारों में बुद्ध की गणना भी इस क्रान्ति का एक महनीय साधन था।

कुमारिल भट्ट न बौद्धों क दाशनिक सिद्धान्तों का बडा ही प्रौढ खण्डन अपन श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक ग्रथों में किया। तथ्य तो यही है कि कुमारिल तथा शङ्कर—इन दोनों आचार्यों की उवक्कश वाणी न बौद्धधम की धज्जियाँ उडा दीं जिसके कारण इसने अपने मूलस्थान भारत स निष्कासित होकर भारततर प्रदेशों में अपना आश्रयण लिया। फलत कुमारिल बुद्ध क प्रति श्रद्धा का भाव रखें—यह सोचना ही गलत है। उन्होंने पुराणों का हवाला देकर स्पष्ट शब्दों मे घोषणा की है कि शाक्य आदि (बौद्ध धम आदि) कलियुग में धम में विप्लव मचाने वाले हैं पुराणों में यह कथन बहुश सम्मृत हैं। तब उनक वाक्य को कौन सुनने लायक है ?

स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्म-विप्लुति-हेतव ।
कलौ शाक्यादयस्तेषा को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥
—तन्त्रवार्तिक (जै० सू० १।३।७)

कुमारिल के इस प्रकार प्रख्यात होन पर भी पुरातत्वीय प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि अष्टम शती म बुद्ध को अवतार रूप म गणना जन-समाज म परिगृहीत होन लगी थी। दक्षिण भारत के महाबलिपुरम् के पवत से काट कर बनाय गय मन्दिर म एक शिलालेख उपलब्ध है जिसका एक अधूरा श्लोक इस प्रकार है—

रस्य नारसिंहश्च नाग ।
रामा रामस्य(श्च) रामस्य(श्च) बुद्ध कल्की च न दश ॥

इस शिलालेख का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध बताया गया है। मध्यप्रदेश के सीरपुर नामक स्थान म दम शती के आसपास का एक मदिर है जिसमे राम की मूर्ति के बगल म बुद्ध की अपनी ध्यानावस्थित मुद्रा म मूर्ति मिलती है। मदिर का निर्माणकाल अष्टम शती के आसपास माना गया है। ये दोनो उल्लेख बडे महत्त्व के है।[1] पिछले युग म काश्मीर कवि क्षेमेन्द्र न अपन 'दशावतार महाकाव्य (समाप्ति काल १०६० ई०) बुद्ध को नवम अवतार के रूप म वर्णित किया है। फलत बुद्ध का विष्णु अवतारो म गणना का समय नवम शती मानना अनुपयुक्त नही होगा।

पुराणो मे एक दो को छोडकर सवत्र ही बुद्ध अवतारो म परिगणित किये गय ह। परन्तु पौराणिको के सामने विकट समस्या थी कि बुद्ध के वेदबाह्य सिद्धान्तो का वैदिक सिद्धान्त क साथ आनुकूल्य कैसे दिखलाया जाय? जिसने वैदिक यज्ञयागो की जमकर निन्दा की वेद को धूर्तो का प्रलाप माना तथा वेद-प्रतिपाद्य ईश्वर तथा आत्मा का भी अभाव ही माना उस बुद्ध को वैदिक अवतारो के बीच स्थान देना बडे ही साहस का काम था। परन्तु एक आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुराणो को यही करना पडा। वह ध्यान था वेद विरोधी असुरो का व्यामोहन। इस तक की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है भागवत के इस श्लोक मे—

तत कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्ना जिन-सुत कीकटेषु भविष्यति ॥

—भाग० १।३।२४

और इसी श्लोक का भाव अन्य पुराणो के एतद् विषयक प्रसगो मे पाया जाता है। विष्णुपुराण (अश ३ अ० १८) मे दिगम्बर महामोह प्रथमत जैनधम का उपदेश देता है (१-१३ श्लोक) जो इस प्रसग मे प्रयुक्त अनका न्तवाद तथा 'आहत आदि शब्दो से सुस्पष्ट है। इसके बाद का उपदेश श्रीधर स्वामी की टीका क अनुसार बौद्धधम के उपदेशरूप मे पुराणकार को अभीप्सित है (श्लोक १४ २१)। विष्णुपुराण म इस उपदेष्टा महामोह के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण नहा है परन्तु अग्निपुराण तो स्पष्ट ही कहता है कि यह महामोह

---

१ Memoir No 26 of the *Archaeological survey of India* by H Krishna Shastri p 5

शुद्धोदन का पुत्र बन गया तथा दैत्यों को वेदधर्म छोड़ने के लिए मोहित किया :—

> महामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ।
> मोहयामास दैत्यांस्तान् त्याजिता वेदधर्मकम् ॥
>
> अग्निपु० १।१२

यही तथ्य भविष्यपुराण (४।१२।२६-२९) में पाया जाता है। श्रीमद्भागवत में बुद्धावतार का अनेकत्र वर्णन किया गया है (भाग० १।३।२४, ६।८।१९, १०।४०।२२ तथा ११।४।२२) फलतः बुद्ध अवतार में प्रायः सब पुराणों में स्वीकृत हैं।[1] बुद्ध का निश्चित निर्देश महाभारत के असली पाठों में नहीं मिलता। महाभारत शान्ति ३४८ अ० में यह श्लोक अवश्य पाया जाता है—

> मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
> रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्कीति ते दश ॥

परन्तु इसके अन्तिम चरण का पाठ अन्य हस्तलेखों में है—कृष्णः कल्कीति ते दश। 'बुद्ध' की इस गणना पर अश्रद्धा का कारण यह भी है कि इसी अध्याय के ५८ श्लोक में दशावतारों की पुनर्गणना की गई है जहाँ 'बुद्ध' के स्थान पर 'हंस' का नाम आता है—

> हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ।
> वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च ।
> रामो दाशरथिश्चैव सात्त्वतः कल्किरेव च ॥

एक ही अध्याय में यह पूर्वापर विरोध कैसा? फलतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मूल महाभारत में बुद्ध की गणना अवतारों के अन्तर्गत नहीं है।[2]

---

१ द्रष्टव्य डा० रामशंकर भट्टाचार्य : इतिहासपुराण का अनुशीलन, पृष्ठ २८०-२८, काशी, १९६३। यहाँ पुराणों से बुद्धविषयक वचन परिश्रम से एकत्र किये गये हैं।

२ बुद्ध की मूर्ति का उल्लेख अग्नि ४९।८ में इस प्रकार है—

> शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौराङ्गश्चाम्बरावृतः ।
> ऊर्ध्वपद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः ॥

यह श्लोक ध्यानावस्थित बुद्ध की अभय मुद्रा का वर्णन करता है। 'लम्बकर्ण' उनकी निजी विशेषता है। गान्धार में निर्मित बुद्ध की मूर्ति पर यह वर्णन पूरे तौर पर लागू होता है। अन्य पुराणों में भी बुद्धमूर्ति का प्रसंग आता है।

(१०) कल्कि अवतार—इस अवतार के विषय मे शास्त्र का कथन है कि यह अवतार अभी भविष्य मे होने वाला है—कलियुग के अन्त म, जब शासको के दुष्कर्मो से प्रजाओ का नितान्त उत्पीडन होगा, जब अधम अपनी चूडा पर पहुँच जावेगा तथा ब्राह्मणधर्म की सार्वत्रिक निन्दा तथा अपमान होगा। अवतार के स्थान का भी पता मिलता है। महाभारत (वनपर्व १९०-९१), हरिवश (१४१) ब्रह्म १०४ अ० आदि के अनुसार सभल या शम्भल कल्कि का जन्मस्थान होगा। हरिवश का कथन है कि कल्कि तथा उनके अनुयायियो का कर्मक्षेत्र गगा तथा यमुना के बीच का प्रदेश (अन्तर्वेदी) होगा और यह अनुमेय है कि इसी अन्तर्वेदी म कही सम्भल होना चाहिए। महा० (सभापर्व ५० तथा वनपर्व १९०) म विष्णुयशा कल्कि का ही नामान्तररूप से दिया गया है, परन्तु महा० (शान्ति ३४८ अ०) मत्स्य ४७।२४८-२४९ तथा भाग० (१।३।२५) के अनुसार यह कल्कि के पिता का अभिधान है। हरि० के अनुसार याज्ञवल्क्य विष्णु के पुरोहित मान गये हैं परन्तु मत्स्य के अनुसार इस कार्य के निमित्त याज्ञवल्क्य के साथ पाराशर्य का भी नाम उल्लिखित है।

महाभारत तथा मत्स्य दोनो मे कल्कि के अवतार-कार्य की शैली का बडा ही रोचक वर्णन किया गया है कि किस प्रकार ब्राह्मण कल्कि ब्राह्मणो से घिर कर अधार्मिक जनो का अपने नाना तीव्र आयुधो के द्वारा सहार करेंगे तथा सबका विध्वसन कर नये सुखद युग—कृतयुग—की स्थापना करेंगे। कल्कि का वर्ण हरित पिंगल होगा—हरा तथा भूरा का सम्मिश्रण तथा वे घोडे पर सवारी कस कर अपना कार्य सम्पादन करेंगे और उनके सहायक ब्राह्मणगण भी घोडे पर सवार रहेंगे। कल्कि के द्वारा विध्वसनीय दस्यु तथा अधार्मिको के परिचय का सकेत हरिवश (१।४१।६५) तथा मत्स्य (४७।२४९) के एक विशिष्ट उल्लेख से मिलता है। ये दोनो ग्रन्थ कल्कि अवतार को 'भाव्य सम्भूत' अथवा 'भाव्यसपन्न' बतलाते हैं। नीलकण्ठ ने हरिवश के इस श्लोक की व्याख्या म इसका अर्थ लिखा है—भाव्यसपन्न = भाव्यै क्षणिकवादिभि सह सपन्न वादे युद्धे च सगत ॥ इस व्याख्या के अनुसार व धर्मविरोधी बौद्ध ही हैं जिनको कल्की ने वाद तथा युद्ध दोनो मे परास्त किया था। इसी प्रसग म उल्लिखित 'पाषण्ड'[2] शब्द भी इस तथ्य का पोषक माना जा सकता है। विष्णु

---

१. कल्की तु विष्णुयशस पाराशर्यपुर सर।
दशमो भाव्यसभूतो याज्ञवल्क्यपुर सर॥ —मत्स्य ४७। २४५

२. सर्वाश्च भूतान् स्विमितान् पाषण्डांश्चैव सर्वशः
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैर्वृत. शतशहस्रश॥ —तत्रैव, २४६ श्लो०

के अवतारों में यह अन्तिम अवतार माना गया है—दसवाँ अथवा बाइसवाँ। भागवत (२।७।३८) का स्पष्ट कथन है कि वैदिकधर्म की स्थापना के निमित्त तथा अवैदिकधर्म के विध्वंसन के लिए ही इस अवतार का उदय हुआ था। फलतः इस अवतार का उद्देश्य भी वही है जो इतर अवतारों का ऊपर बतलाया गया है—धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश।[1]

इतर अवतार

यहाँ प्रख्यात दश अवतारों की विशिष्ट चर्चा समाप्त होती है। भागवत के अवतारों की दोनों सूचियों के मिलाने पर ये इतर अवतार प्रतीत होते हैं। इनका वर्णन भागवत के अन्य स्कन्धों में कम या अधिक मात्रा में मिलता है तथा अन्य पुराणों में भी। महाभारत में बहुतों का अस्तित्व मिलता है। भागवत के प्रथम क्रम (१।३) को ही मुख्य मानकर इनका निर्देश संक्षेप में इस प्रकार है—

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(११) चतुःसन (या कौमार सर्ग)	दोनों स्थान पर अवतार १।३।६ तथा २।७।५	ब्रह्मा के मानस पुत्र तो माने गये हैं, परन्तु विष्णु के अवतार की कल्पना नहीं।
(१२) नारद	१।३।८	भागवत में अवतार, अन्यत्र नहीं।
(१३) नर नारायण	१।३।९ २।७।६–८	महाभारत शान्ति ३४२, मत्स्य ४७।२३७–३८.
(१४) कपिल	१।३।१०, २।७।३, ३।२२–३३	महा० सभा १०६–१०७, हरि० १। ४१।१४, विष्णु० ४४
(१५) दत्तात्रेय	१।३।११, २।७।४	महा० सभा, ४८, हरि० १,३३ ४१, मत्स्य ४७, विष्णु ४।११, ब्रह्म० ७१, १०४
(१६) यज्ञ (सुयज्ञ)	१।३।१२, २।७।२	कूर्म ५१
(१७) ऋषभ	१।३।१३, २।७।१०, ५।३–६	अन्यत्र नहीं

1. यस्मिन्नल्पष्वपि सतां न हरेः कथा स्युः
   पाषण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ।
   स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
   शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥
   —भाग० २।७।३८

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(१८) पृथु	१।३।१४, २।७ ९	पुराणों में बहुश वर्णित परन्तु अवतार कल्पना केवल भाग० में ही।
(१९) धन्वन्तरि	१।३।१७ २।७।२१	भाग० में अवतार, अन्यत्र नहीं
(२०) मोहिनी	१।३।१७	केवल भागवत में ही अवतार कल्पना, अन्यत्र नहीं।
(२१) वेद व्यास	१।३।२१, २।७।३६	महा० शान्ति, ३५९, हरिवंश १।४१ मत्स्य ४७, कूर्म० १४।५१
(२२) मान्धाता चक्रवर्ती	भाग० ९।६ में वर्णन होने पर भी अवतार कल्पना नहीं	केवल मत्स्य में अवतार कल्पना, अ० ४७
(२३) हंस	भाग० २।७ प्रथम सूची में नहीं	महा० शान्ति ३४८।५५ जहाँ वे बुद्ध के स्थान पर उल्लिखित हैं।
(२४) पौष्करक	भाग० में नहीं	हरि० १।४१।२६–२७, ब्रह्म० १०४। ३०–३१ स्पष्ट रूप नहीं चलता
(२५) हयशीर्ष (अथवा) हयग्रीव	भाग० २।७।११, १०।४०।१७ वेद का उद्धार ही लक्ष्य ५।१८।६	महा० शान्ति० ३४७ में अवतार का कार्य विस्तरश उल्लिखित। मत्स्य के समान ही वेद के उद्धार का कार्य[1]
(२६) गजेन्द्र मोक्षकारक	भाग० में त्रयोदश अवतार २।७।१५–१६	अन्यत्र नहीं
(२७) पृश्निगर्भ	भागवत में उल्लिखित	

इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण के ५१ वें अध्याय में अन्य पांच अवतारों का निर्देश मिलता है जिनमें से अनेक का अभिधान नहीं दिया गया है, केवल सामान्य निर्देश ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार संकलन करने पर विष्णु के ३२ अवतारों का परिचय मिलता है, जिनमें से आरम्भ में वर्णित १० तो मुख्य हैं इतर २२ गौण तथा अल्प प्रसिद्ध। शिव के २८ अवतारों का नाम कूर्मपुराण के ५३ अध्याय (पूर्वार्ध) में उपलब्ध होता है—

---

१ एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः ।
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः ॥
— शान्ति ३४७।५७-५८

(१) सुतार, (२) मदन, (३) सुहोत्र, (४) कङ्कण, आदि । अन्तिम (२८) अवतार नकुलीश्वर है जो स्पष्टतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। पाशुपत मत की संज्ञा लकुलीश पाशुपत होने का यही कारण है कि वह नकुलीश (या लकुलीश) के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था।

इस प्रकार अवतार की कल्पना तथा उनके विविध रूपों के चरित और लीला का वर्णन पुराणों का प्रधान विषय है। पुराणों का एक बड़ा भाग अवतारों के लीलावर्णन में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए इस विषय का एक ऐतिहासिक अनुशीलन ऊपर किया गया है।

१, इन अवतारों के विशेषवर्णन के लिए देखिए Allahabad university Studies भाग १० (१९३४) में श्री ग ल कात्रे लिखित Avatāras of God शीर्षक लेख।

नाम	भागवत स्थल	इतर स्थल
(१८) पृथु	१।३।१४, २।७ ९	पुराणों में बहुश वर्णित परन्तु अवतार कल्पना केवल भाग० में ही।
(१९) धन्वन्तरि	१।३।१७ २।७।२१	भाग० में अवतार, अन्यत्र नहीं
(२०) मोहिनी	१।३।१७	केवल भागवत म ही अवतार कल्पना, अन्यत्र नहीं।
(२१) वेद व्यास	१।३।२१, २।७।३६	महा० शान्ति, ३५९, हरिवंश १।४१ मत्स्य ४७, कूर्म० १४।५१
(२२) मान्धाता चक्रवर्ती	भाग० ९।६ में वर्णन होने पर भी अवतार कल्पना नहीं	केवल मत्स्य में अवतार कल्पना, अ० ४७
(२३) हस	भाग० २।७ प्रथम सूची में नहीं	महा० शान्ति ३४८।५४ जहाँ वे बुद्ध के स्थान पर उल्लिखित हैं।
(२४) पौष्कारक	भाग० में नहीं	हरि० १।४१।२६-२७, ब्रह्म० १०४। ३०-३१ स्पष्ट रूप नहीं चलता
(२५) हयशीर्ष (अथवा) हयग्रीव	भाग० २।७।११, १०।४०।१७ वेद का उद्धार ही लक्ष्य ५।१८।६	महा० शान्ति० ३४७ में अवतार का कार्य विस्तरश उल्लिखित। मत्स्य के समान ही वेद के उद्धार का कार्य[1]
(२६) गजेन्द्र मोक्षकारक	भाग० में त्रयोदश अवतार २।७।१५-१६	अन्यत्र नहीं
(२७) पृश्निगर्भ	भागवत मे उल्लिखित	

इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण के ५१ वें अध्याय मे अन्य पाच अवतारो का निर्देश मिलता है जिनमे से अनेक का अभिधान नही दिया गया है केवल सामान्य निर्देश ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार सकलन करने पर विष्णु के ३२ अवतारो का परिचय मिलता है जिनमे से आरम्भ मे वर्णित १० तो मुख्य हैं इतर २२ गौण तथा अल्प प्रसिद्ध। शिव के २८ अवतारो का नाम कूर्मपुराण के ५३ अध्याय (पूर्वार्ध) म उपलब्ध होता है—

---

१ एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधर ।
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरि ॥

—शान्ति ३४७।५७ ५८

(१) सुतार, (२) मदन, (३) सुहोत्र, (४) कङ्कण, आदि। अन्तिम (२८) अवतार नकुलीश्वर है जो स्पष्टत ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। पाशुपत मत की सज्ञा लकुलीश पाशुपत होने का यही कारण है कि वह नकुलीश (या लकुलीश) के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था।

इस प्रकार अवतार की कल्पना तथा उसके विविध रूपो के चरित और लीला का वर्णन पुराणो का प्रधान विषय है। पुराणो का एक बडा भाग अवतारो के लीलावर्णन मे प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए इस विषय का एक ऐतिहासिक अनुशीलन ऊपर किया गया है।

१, इन अवतारो के विशेषवर्णन के लिए देखिए Allahabad university Studies भाग १० (१९३४) म भी स ल वाले लिखित Avatāras of God शीर्षक लेख।

परिशिष्ट

श्रीकृष्ण के लौकिक चरित का विश्लेषण

वृन्दावन विहारी नन्द-नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अलौकिक व्यक्तित्व की इतनी अधिक चर्चा भक्ति साहित्य तथा कृष्ण-काव्यो म है कि उनका लौकिक व्यक्तित्व आलोचको तथा सामान्य जनो की दृष्टि से एक प्रकार से ओझल ही रहता है—सत्ता होने पर भी वह असत्ता के साम्राज्य मे ही अधिकतर विचरण करता दीखता है। भक्तो की उधर दृष्टि ही नही जाती कि उनका लौकिक जीवन भी उतना ही भव्य तथा उदात्त है जितना उनका अलौकिक जीवन मधुर तथा सुन्दर है। पुराणो मे, विशेषकर श्रीमद्भागवत मे, श्रीकृष्ण परमैश्वर्य मण्डित, निखिल ब्रह्माण्डनायक, अघटित घटना पटीयान् भगवान् के रूप मे ही चित्रित किये गय हैं। वे वाणी के परमवर्णनीय विषय माने गये हैं। जो वाणी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन नही करती, वह वायसतीर्थ के समान उपेक्षणीय तथा गर्हणीय है, हस तीर्थ के समान श्लाघनीय तथा आदरणीय नही—

> न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
> जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
> तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं
> यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमला ॥
>
> —भागवत १२।१२।५०

यह कथन कृष्णचन्द्र के लौकिक चरित्र के अनुरोध से भी सम्बन्ध रखता है। अलौकिक से पृथक् तथा भिन्न उनका एक लौकिक चरित्र भी था उसमे उदात्तता का कम निवास न था। श्रीकृष्ण के इसी लौकिक व्यक्तित्व की सक्षिप्त मीमासा यहा प्रस्तुत की जाती है।

हरिवश तथा पुराण—दोनो ही जनता मे कृष्ण के प्रति भव्य-भावुक भक्ति के उद्भावक ग्रन्थ है। फलत इन दोनो मे श्रीकृष्ण का अलौकिक जीवनवृत ही प्रधानतया प्रतिपाद्य है। लौकिक वृत्त के चित्रण का मुख्य आधार है महाभारत जहा श्रीकृष्ण पाण्डवो के उपदेशक तथा जीवन निर्वाहक मुख्य सखा के रूप म चित्रित किये गये हैं। जीवन के नाना पक्षो के द्रष्टा, स्वय कार्य करने वाले, महाभारत युद्ध के लिए पाण्डवो के मुख्य प्रेरक के रूप मे महाभारत उन्हें प्रस्तुत करता है। उसी स्वरूप का विश्लेषण कर उसकी उदात्तता तथा मूर्धन्यता प्रकट करने का यह एक सामान्य प्रयास है।

(१) श्रीकृष्ण की अद्वयता

प्रथमतः विचारणीय है कि कृष्ण एक थे अथवा अनेक ? कृष्ण के बाल्यकाल तथा प्रौढकाल के जीवन-वृत्तो का असामजस्य ही उनके अनेकत्व की कल्पना का आधार है। उनका बालजीवन इतने अल्हडपने से भरा है—नाच, गान, रगरेलियो की इतनी प्रचुरता है उसमे कि लोगो को विश्वास ही नही होता कि वृन्दावन का बाल कृष्ण ही महाभारत के युद्ध मे अर्जुन का सारथि तथा गीता के अलौकिक ज्ञान का उपदेष्टा है। यूरोपियन विद्वानों ने ही इस असामञ्जस्य के कारण दो कृष्णो के अस्तित्व की कल्पना की जो डा० रामकृष्ण भण्डारकर के द्वारा समर्थित[1] होने पर भारतीय विद्वानो के लिए एक निर्भ्रान्त सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत हुआ। परन्तु श्रीकृष्ण के दो होने की कल्पना नितान्त भ्रांत तथा सर्वथा अप्रमाणिक है। पौराणिक कृष्ण तथा महाभारतीय कृष्ण के चरित्र मे पार्थक्य होना तत्तत् आधार ग्रन्थो की भिन्नता के ही कारण है। पुराणो का लक्ष्य कृष्णचन्द्र के प्रति जनता की भक्ति जागरूक करना था, फलत अपने लक्ष्य से बहिर्मुख होने के कारण इन्होंने श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की लीला का वर्णन नही किया। पुराणो मे केवल श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के उभय-भागीय वृत्तो का उचित रीति से वर्णन किया है। दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध कसवध तक ही सीमित है, परन्तु इसके उत्तरार्ध मे महाभारत-युद्ध से सम्बद्ध कृष्ण-चरित्र का पूर्ण सकेत तथा सक्षिप्त विवरण दिया गया है। महाभारत का प्रधान लक्ष्य श्रीकृष्ण के प्रौढ जीवन की घटनाओ का वर्णन है—उन घटनाओ का, जब ये पाण्डवो के सम्पर्क मे आते हैं तथा भारत युद्ध का सचालन करते हैं। फलतः वह उनके बाल्यजीवन की घटनाओ का वर्णन नही करता अपने उद्देश्य पूर्ति बहिरग होने के कारण। परन्तु समय-समय पर उन घटनाओ का सकेत अभ्रान्त रूप मे करता है। सभा-पर्व मे राजसूय की समाप्ति पर अग्रपूजा के अवसर पर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के ऊपर नाना प्रकार का लाञ्छन जब लगाया था तब उसने उनके बालचरित को लक्ष्य कर ही ऐसा किया था।

> यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
> तौ वाऽश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥
> चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
> पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥
> वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचल.।
> तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

---

१. इसके लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर सेक्ट्स (पूना का सस्करण)

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि ।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥ १० ॥
यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः ।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

—सभापर्व, ४१ अध्याय ।

इन पद्यो मे श्रीकृष्ण के सामान्यतः आश्चर्यभरी लीला का मौक्तिक उपहास किया गया है । सप्तम श्लोक से पूतना, केशी तथा वृषभासुर के वध का संकेत है । आठवें श्लोक मे चेतनारहित शकट के पैर से तोड डालने का उपहास है; नवम श्लोक बतलाता है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण करना कोई अचरज भरी घटना नही है, क्योंकि इसे तो चीटियो ने खोखला बना डाला था !!! पहाड के शिखर पर नाना पकवानो के भक्षण की बात सुन कर दूसरे लोग ही अर्थात् मूर्ख लोग ही आश्चर्य मे पडते है । जिस कंस के अन्न को इसने खाया था, उसे ही मार डालना अद्भुत काम नही हैं—यह तो कृतघ्नता की पराकाष्ठा है !!!

शिशुपाल की यह निन्दाभरी वक्तृता श्रीकृष्ण के एकत्व स्थापन मे पर्याप्त प्रमाण है । यह स्पष्ट बतला रही है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जिस व्यक्ति की अग्रपूजा की गई है, वह उस व्यक्ति से भिन्न नही है जिसने[1] बाल्यकाल मे पूतना, वृषासुर, केशी, नामक राक्षसो का वध किया था, गोवर्धन पर्वत का हाथ पर धारण किया था तथा उसके शिखर पर बहुत सा अन्न अकेले ही खा डाला था तथा राजा कंस का वध किया था। ये ही श्रीकृष्ण की बाल्यकाल की आश्चर्य-रस से भरी लीलायें है । फलत महाभारत की दृष्टि से कृष्ण की एकता तथा अभिन्नता सर्वतोभावेन समर्थित तथा प्रमाणित है ।

द्रोणपर्व मे धृतराष्ट्र ने सञ्जय से श्रीकृष्ण की स्तुति मे जो बातें निर्दिष्ट की, वे उनके बाल्य-जीवन से सम्बन्ध रखती है । इस प्रसग मे श्रीकृष्ण के ऐक्य प्रतिपादक कतिपय पद्य यहा उद्धृत किये जाते हैं —

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय ।
कृतवान् यानि गोविन्दो यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥

---

१. इन लीलाओ का वर्णन अनेक पुराणों मे एक समान ही किया गया है—विशेषत· विष्णुपुराण के पचम अश मे तथा श्रीमद्भागवत के १० म स्कन्ध (पूर्वार्ध) मे । यथा—पूतना-वध (भाग० १०।६), वृषासुरवध (१०।३६), केशीवध (१०।३७), गोवर्धनधारण तथा अन्नभक्षण (१०।२४-२५), कंस का वध (१०।४४) ।

गोकुले वर्धमानेन बालेनैव महात्मना ।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय ॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे ।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठं चापि महासुरम्
मुरं चामरसंकाशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः ।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः ।
भोजराजस्य मध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना ।
तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥
चेदिराजं च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली ।
अर्घ्ये विवदमानं च जघान पशुवत् तदा ॥
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥

इन पद्यों में गोकुल, मथुरा हस्तिनापुर की लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख है। धृतराष्ट्र की दृष्टि में इन स्थानों की लीला करने वाला व्यक्ति एक ही कृष्ण था। फलतः महाभारत श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में द्वैविध्य नहीं रखता। श्रीकृष्ण एक ही व्यक्ति थे—महाभारत का अकाट्य प्रमाण इस तथ्य का स्पष्ट साधक है।

(२) श्रीकृष्ण का सौन्दर्य

श्रीकृष्ण की बाह्य आकृति, उनका साँवला रंग, उनका पीताम्बर, उनके शरीर की गठन—आदि भौतिक शरीर उस युग के मानवों के ही लिए आकर्षक न था प्रत्युत गत सहस्रों वर्षों से वह कवियों के आकर्षण का विषय बना हुआ है। बाल्यकाल में उनकी रूपछटा का अवलोकन कर यदि सरल ग्रामीण गोप-वधू तथा नगर की स्त्रियाँ आनन्द में आप्लुत हो उठती थीं, तो वह हमारे चित्त में इतना कौतुक नहीं उत्पन्न करता। जब हम देखते हैं कि भीष्म पितामह, श्रीकृष्ण के पितामह के समवयस्क, सौ वर्ष से ऊपर वय वाले, शरशय्या पर योग के द्वारा अपने जीवन समाप्त करने के इच्छुक इच्छामरण भीष्म—श्रीकृष्ण के सामने आने पर उनके शरीर-सौन्दर्य से आकृष्ट हुए बिना नहीं रहते, तब तो

श्रीकृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य और आकर्षण को हठात् मानना ही पडता है। यह है उनकी प्रौढावस्था की घटना। इसीलिए तो शरशय्या पर पडे हुए भीष्म नारायण के रूप मे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भी उनकी शारीरिक सुषमा का विशद संकेत करते हैं—

> त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
> रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
> वपुरलककुलावृताननाब्जं
> विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या।
> ललितगतिविलासवल्गुहास-
> प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः
> कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
> प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।
>
> —भागवत १।९।३३,४०

इन कमनीय पद्यो का आशय है कि उनका शरीर त्रिभुवन सुन्दर तथा तमाल के समान सावला है, जिस पर सूर्य किरणो के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता है, और कमल-सदृश मुख पर घु घराली अलके लटकती रहती हैं, उन अर्जुनसखा कृष्ण मे मेरी निष्कपट प्रीति हो। जिनकी लटकीली सुन्दर चाल, हावभाव-युक्त सुन्दर चेष्टा मे मधुर मुसकान और स्नेह-भरी चितवन से अत्यन्त सम्मानित गोपिया रासलीला मे उनके अन्तर्धान होने पर प्रेमोन्माद से मतवाली होकर जिनकी लीलायो का अनुकरण कर तन्मय हो गई थी, उन्ही भगवान् श्रीकृष्ण म मेरा परम प्रेम हो।

यह वर्णन है श्रीकृष्ण की प्रौढावस्था की रूप-शोभा का और वर्णनकर्ता हैं उस युग के सबसे विद्वान्-ज्ञानी शिरोमणि बाबा भीष्म जिनके ऊपर पक्षपात का दोषारोपण कथमपि नही किया जा सकता। तब तो हठात् मानना ही पडेगा कि श्रीकृष्ण की देह-कान्ति सचमुच ही अत्यन्त ही चमत्कारी थी। पीताम्बर के बाह्य परिधान से वह और भी सुरञ्जित की गई थी। इस बाह्य शोभा को श्रीकृष्ण ने मानसिक गुणों के संवर्धन से और भी चमत्कृत तथा उदात्त बना रखा था। क्योकि उस युग के सबसे प्रौढ विद्वान् काशीवासी साम्प्रत उज्जयिनी-प्रवासी सान्दीपनि गुरु म चतुष्षष्टि विद्याओ और कलाओं का अध्ययन कर उन्होने विद्या के क्षेत्र म भी अपनी परम उन्नति की थी। गीता के उपदेशक होने की योग्यता का सूत्रपात श्रीकृष्ण के जीवन-प्रभात मे ही इस प्रकार मानना सर्वथा युक्ति-सगत प्रतीत होता है (भागवत, १०म स्कन्ध उत्तरार्ध)।

(३) श्रीकृष्ण की अग्रपूजा

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पर्यवसान में अग्रपूजा का प्रसंग उपस्थित था। यज्ञ के अन्त में किसी महनीय उदात्त व्यक्ति की पूजा की जाती है जो 'अग्रपूजा' की संज्ञा से याज्ञिकों द्वारा अभिहित की जाती है। सहदेव के पूछने पर भीष्म-पितामह ने श्री कृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया। इस अवसर पर उन्होंने कृष्ण के चरित्र का जो प्रतिपादन किया, वह यथार्थतः उनकी उदात्तता, तथा अलोकसामान्य वैदुष्य और वीरता का स्पष्ट प्रतिपादक है। इस प्रसंग के एक-दो ही श्लोक पर्याप्त होंगे—

> एष ह्येषां समस्तानां तेजो बल पराक्रमैः।
> मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
> असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
> भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥

—सभा० ३६।२८-२९

इन पद्यों का तात्पर्य है कि इस सभा में एकत्र राजाओं के बीच—जहाँ भारतवर्ष के समस्त अधीश्वर उपस्थित थे—तेज बल तथा पराक्रम के द्वारा श्रीकृष्ण ही ज्योतियों के मध्य सूर्य के समान तपते हुए की भाँति प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सूर्य से विरहित अन्धतामिस्र से युक्त स्थान को भगवान् सूर्य चमका देता है और निर्वातस्थान को, जहाँ लोगों का हवा के बिना दम घुटता रहता है, वायु आह्लादित कर देता है—ठीक उसी प्रकार कृष्ण के द्वारा यह सभा उद्भासित तथा आह्लादित की गई है।

शिशुपाल इस अग्रपूजा के अनौचित्य पर क्षुब्ध होकर कृष्ण के दोषों का विवरण देकर भीष्म के ऊपर पक्षपात तथा दुराग्रह का आरोप करता है। इसके उत्तर में परम ज्ञानी दीर्घजीवी तथा जगत् के व्यवहारों के नितान्त अनुभवी भीष्म का कथन ध्यान देने योग्य है। कृष्ण की अग्रपूजा का कारण उनका सम्बन्धी होना नहीं है प्रत्युत उनमें अलोकसामान्य गुणों का निवास ही मूल हेतु है—उनमें दान, दक्षता, श्रुत (शास्त्र का परिशीलन) शौर्य, ह्री, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, सन्नति, श्री, धृति, तुष्टि तथा पुष्टि का नियत निवास है। इसीलिए वे अर्च्यतम हैं (सभा० ३८।२०)। अपने गुणों से कृष्ण ने चारों वर्णों के वृद्धों को अतिक्रमण कर लिया है (३८।१७)। वे एक साथ ही ऋत्विक्, गुरु विवाह्य, स्नातक, नृपति तथा प्रिय हैं। इसीलिए उनकी अर्चा अन्य महापुरुषों के रहते हुए की गई है (३८।२२)। "सबसे बड़ी बात तो यह है कि वेद-वेदाङ्ग का यथार्थ ज्ञान ब्राह्मण के महत्त्व का हेतु होता है और बल-सम्पत्ति क्षत्रिय के गौरव का कारण होती है। ये दोनों ही कृष्ण में एक साथ अन्यूनभाव से विद्यमान हैं। इसलिए

मेरी स्पष्ट सम्मति है कि इस मानवलोक मे केशव से बढ़ कर कोई भी व्यक्ति वर्तमान नही है ?" भीष्मपितामह की यह सम्मति यथार्थरूपेण श्रीकृष्ण के परम गौरव की तथा उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठापिका उक्ति है—

> वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
> नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥
>
> —तत्रैव ३८।१९

सजय भी उस युग के विशिष्ट विद्वान्, कुरुपाण्डवो के हित-चिन्तक तथा धृतराष्ट्र को शुभ मन्त्रणा तथा श्लाघ्य प्रेरणा देने वाले मान्य पुरुष थे। श्रीकृष्ण के प्रभाव का सकेत उनके ये शब्द कितनी विशदता से दे रहे है—

> एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दन ।
> सारतो जगत. कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥
> भस्म कुर्यात् जगदिदं मनसैव जनार्दन ।
> न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥
> यत. सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यत ।
> ततो भवति गोविन्दो यत. कृष्णस्ततो जयः ॥
>
> — उद्योगपर्व ६८।६-१०

इस प्रसग मे ये श्लोक नि सन्देह महनीय तथा मननीय हैं। समस्त जगत् तथा केवल कृष्ण की तुलना की जाय, तो सार—मूल्य—गौरव की दृष्टि मे समस्त जगत् से कृष्ण बढकर है। जनार्दन मे इतनी शक्ति है कि वे मन से ही केवल समस्त ससार को भस्म कर सकते हैं। इस पद्य मे 'मनसैव' पद किसी अलौकिक जादू-टोना का प्रतिपादक नही है, प्रत्युत वह एक मानसिक चिन्तन, ध्यान तथा केन्द्रित विचारशक्ति का स्पष्ट निर्देशक है। मेरी दृष्टि मे यही इसका व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है। जिस ओर सत्य रहता है, धर्म होता है, ह्री (=अकार्यात् निवृत्ति ह्री अर्थात् बुरे काम करने से निवृत्त होना) रहती है, और जिधर आर्जव (ऋजुता, स्पष्टवादिता तथा निर्दुष्ट चरित्र) रहता है, उधर ही रहते हैं गोविन्द और जिधर कृष्ण रहते हैं, उधर ही जय रहता है। फलत कृष्ण का आश्रयण विजय का प्रतीक है।

कितना सुन्दर चरित्रविश्लेषण है श्रीकृष्ण का इन नये-तुले शब्दो मे। और ये वचन हैं भी किसके ? ये कौरव-पक्ष के अनुयायी व्यक्ति के हैं जिसके ऊपर पक्षपात करने का आरोप कथमपि मढा नही जा सकता। पाण्डवपक्ष का व्यक्ति मिथ्या प्रशसा का दोषी ठहराया भी जा सकता है, परन्तु भीष्म तथा सजय के इन वचनो मे पक्षपात का भला कही गन्ध भी सूँघा जा सकता है?

× × ×

इस अवसर पर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता भी अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रद्योतित होती है। शिशुपाल श्रीकृष्ण के विरोधी दल का नेता था, उसे यह अग्रपूजा तनिक भी नही जँची। लगा वह कृष्ण पर गालियो की बौछार बरसाने। ध्यान देने की बात है कि इन गालियो मे कृष्ण के शौर्याभाव का ही विवरण है, किसी लम्पटता तथा दुराचार का सकेत भी नही है (जो आजकल लोग उनके चरित्र पर लाञ्छन लगाया करते हैं गोपी प्रसग को लेकर)। कृष्ण के बाद वह टूट पडा भीष्म के ऊपर और लगा उन्हे कोसने नाना प्रकार की पक्षपातभरी बातो का हवाला देकर। भीष्म ने तो अपने पक्ष के समर्थन मे बहुत ही युक्तियाँ दी तथा तर्क उपस्थित किये, परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मौन मुद्रा का भंजन तब किया जब अपनी बूआ को दी गई पूर्व प्रतिज्ञा की समाप्ति हो गई। श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा के पालन मे एक धुरन्धर व्यक्ति थे जिसका सकेत उन्होने द्रौपदी को आश्वासन देते समय स्वय किया था --

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यति।
पतेत् द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत्।
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्॥

— वनपर्व १२।३०-३१

आकाश भले ही गिर जाय, हिमालय भले ही चूर्ण-विचूर्ण होकर धराशायी हो जाय, पृथ्वी टुकडे-टुकडे हो जाय, और समुद्र भले ही सूख जाय, परन्तु हे कृष्णे द्रौपदी ! मेरा वचन व्यर्थ नहीं हो सकता। ऐसे सत्यप्रतिज्ञ की प्रतिज्ञा कभी झूठी नही होती।

इस प्रसग मे श्रीकृष्ण की महती सहिष्णुता तथा भूयसी दृढप्रतिज्ञा का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(४) श्रीकृष्ण की स्पष्टवादिता

स्पष्टवादिता महापुरुष का एक महनीय लक्षण है। जो व्यक्ति अपने चरित्र की त्रुटियो को जानता ही नही, प्रत्युत वह उन्हे भरी सभा मे, गण्य-मान्य पुरुषो के सामने नि सकोच भाव से कहने का भी साहस रखता है, वह सचमुच एक महान् पुरुष है, आदर्श उदात्त मानव है। इस कसौटी पर कसने से श्रीकृष्ण के चरित्र की महनीयता स्वत प्रस्फुटित होती है। एक ही दृष्टान्त उनकी प्रञ्जल स्पष्टवादिता को प्रदर्शित करने मे पर्याप्त होगा। विष्णुपुराण (४ अश, अध्याय १३) मे स्यमन्तकमणि की कथा विस्तार के साथ सुबोध सस्कृत गद्य मे निबद्ध की गई है। शतधन्वा नामक यादव ने सत्यभामा के पिता सत्राजित की हत्या कर स्यमन्तक मणि को छीन लिया। कृष्ण की सत्यभामा ने अपने पिता

की निर्मम हत्या की सूचना स्वय दी। वारणावत से वे द्वारिकापुरी मे आये। उसकी खबर पाते ही शतधन्वा अपनी शीघ्रगामिनी वडवा पर चढ पूरब की ओर भाग खडा हुआ और श्रीकृष्ण ने अपने अग्रज बलभद्रजी के साथ चोकडी जुते रथ पर चढकर उसका पीछा किया। द्वारिका से भागा हुआ शतधन्वा नाना प्रान्तो को पार करता मिथिला पहुँचा जहाँ उसकी वह तेज घोडी रास्ते के थकान के मारे अकस्मात् गिर कर मर गई जिससे वह पैदल ही भागा। कृष्ण ने अपना सुदर्शन चलाकर उसका सिर वही काट डाला, परन्तु उनके विषाद की सीमा न रही जब उसके कपडो के टटोलने पर भी वह मणि नही मिला, बलभद्र ने तो सत्या के मिथ्या वचनो मे आसक्ति रखने वाले अपने अनुज की बडी भर्त्सना की और रुष्ट होकर वे मिथिलेश राजा जनक के यहाँ चले गय। क्या करते ? खाली हाथ कृष्ण द्वारका लौट आये और अपने विपुल उद्योग की विफलता पर उन्होन खेद प्रकट किया। शतधन्वा ने वह मणि श्वफल्क के पुत्र अक्रूर जी के पास रख दिया था जिन्होने उससे प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले सोन का वितरण कर 'दानपति' की महनीय उपाधि प्राप्त की थी। 'दानपति' अक्रूर जी ने स्यमन्तकमणि को 'श्रीकृष्ण को देने का प्रस्ताव किया, परन्तु यादवो की भरी सभा मे उन्होने इसे अस्वीकार करते समय जिस स्पष्टवादिता का परिचय दिया वह वास्तव म श्लाघनीय तथा वन्दनीय थी।

श्रीकृष्ण ने कहा—यह स्यमन्तक मणि राष्ट्र की सम्पत्ति है ब्रह्मचर्य के साथ पवित्रता स धारण करने पर ही यह राष्ट्र का कल्याण साधन करता है, अन्यथा यह अमगल कारक है। दस हजार स्त्रियो से विवाह करने से उस आवश्यक पवित्रता का अभाव मुझे इसे ग्रहण करने की योग्यता प्रदान नही करता सत्यभामा तब कैसे ले सकती है ? हमारे अग्रज बलराम जी को मद्यपान आदि समस्त उपभोगो को तो इसके लिए तिलाञ्जलि देनी पडेगी। इसलिए अक्रूरजी के पास ही इस मणि का रहना सर्वथा राष्ट्रहित के पक्ष म है। इस प्रसग मे श्रीकृष्ण के मूल शब्दो पर ध्यान दीजिए—

एतच्च सर्वकालं शुचिना ब्रह्मचर्यादिगुणवता ध्रियमाणमशेष राष्ट्रस्योपकारकम्, अशुचिना ध्रियमाणम् आधारमेव हन्ति ॥१५१॥ अतोऽहमस्य षोडशस्त्रीसहस्रपरिग्रहादसमर्थो धारणे, कथमेतत् सत्यभामा स्वीकरोति ॥१५२। आर्यबलभद्रेणापि मदिरापानाद्यशेषोपभोगपरित्याग. कार्य. ॥१५७। तदलं यदुलोकोऽयं बलभद्रः सत्या च त्वां दानपते प्रार्थयाम —तद् भवानेव धारयितुं समर्थः ॥ १५८ ॥

—विष्णुपुराण ४।१३

इतनी अमूल्य मणि के पाने का सुवर्ण अवसर कृष्ण के पास था, परन्तु उन्हान राष्ट्र क कल्याण के लिए अपनी अयोग्यता अपने मुह से यादव सभा म

स्वीकार की। यह निःस्पृहता तथा इतनी स्पष्टवादिता श्रीकृष्ण के चरित्र को नितान्त उदात्त सिद्ध कर रही है। इतना ही नहीं, वे निरभिमानता की उज्ज्वल मूर्ति थे। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है युधिष्ठिर के राजसूय में, जब ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन का क्षुद्र काम श्रीकृष्ण ने अपने ऊपर लिया था और यज्ञ के महनीय तथा उच्च पदों का अधिकार दुर्योधन आदि कौरवों के सुपुर्द कर दिया था। कृष्ण पादावनेजने' (भागवत ७५।५)

> चरणप्रक्षालने कृष्णः ब्राह्मणानां स्वयं त्वभूत्।
> सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥
>
> —सभापर्व ३५।१०

उत्तम फल के पाने की इच्छा से कृष्ण ने ब्राह्मणों के पैर पखारने का काम अपने जिम्मे लिया—यह काम सचमुच ही श्रीकृष्ण के निरभिमान व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचायक है।

(५) श्रीकृष्ण का सन्धि-कार्य

महाभारत युद्ध के आरम्भ होने से पहिले श्रीकृष्ण ने अपना पूरा उद्योग तथा समस्त प्रयत्न युद्ध रोकने के लिए किया। वे पाण्डवों तथा कौरवों के बीच सम्भाव्यमान युद्ध की भयंकरता तथा विषम परिणाम से पूर्णतया परिचित थे और हृदय से चाहते थे कि भारत में रणचण्डी का यह प्रलयकारी नृत्य न हो। और इसके लिए उनके मनोभावों का तथा तीव्र प्रयत्नों का पर्याप्त वर्णन महाभारत का उद्योगपर्व करता है। धृतराष्ट्र के पास प्रधान पुरुष होकर भी स्वयं सन्धि का सन्देश लेकर जाना और दूत-कार्य करना श्रीकृष्ण के उदात्त चरित्र का पूर्णतया परिचायक है। पाण्डवों के सामने अपने दौत्यकर्म की सम्भाव्य असफलता को स्वीकार करते हुए भी वे कहते हैं कि पार्थ, वहाँ मेरा जाना कदाचित् निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है कदाचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाय—सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय। इतना न हो, तो भी अन्त में हम निन्दा का तो पात्र नहीं बनना पड़ेगा—

> न जातु गमनं पार्थ ! भवेत् तत्र निरर्थकम्।
> अर्थ-प्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥

इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण भावी आलोचना का स्वयं उत्तर प्रस्तुत करते हैं कि अधार्मिक, मूढ़ तथा शत्रु लोग मुझे ऐसा न कहें कि समर्थ होकर भी कृष्ण ने क्रोध से हठी कौरवों और पाण्डवों को नहीं रोका—इसलिए यह दौत्य कर्म मेरे लिए नितान्त उचित तथा समञ्जस है। कृष्ण के ये मार्मिक वचन ध्यान देने योग्य हैं—

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान्॥
—उद्योग पर्व-९३।१६

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इन्युत।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्यवाच्यताम्॥
मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम्।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति॥
अहापयन् पाण्डवार्थं यथावत्
शमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात्॥
—उद्योग ९३। १७-१९

आशय है कि मैं दोनो—कौरवो तथा पाण्डवो का कल्याण सिद्ध करने आया हूँ। मैं इसके लिए पूर्ण यत्न करूंगा जिससे मैं जनता मे निन्दा के भाजन होने से बच जाऊंगा। मेरे दौत्यकार्य का उद्देश्य क्या है? महात्मन्, यदि मैं पाण्डवो के न्याय्य स्वत्व मे बाधा न आने देकर कौरवो तथा पाण्डवो मे सन्धि करा सकूँगा, तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव लोग भी मृत्यु के पाश से बच जावेंगे।

श्रीकृष्ण ने ये वचन दोनो पक्षो के महनीय हितचिन्तक तथा राजनीति के कुशल पण्डित विदुरजी से कहे थे जिनसे उनके विशुद्ध हृदय की पवित्र भावनाओ की रुचिर अभिव्यक्ति हो रही है।

ये वचन कितने मर्मस्पर्शी हैं और कितनी रुचिरता से श्रीकृष्ण की शान्ति-भावना के प्रख्यापक हैं।

पाण्डवो के प्रतिवाद की अवहेलना कर श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को समझाने तथा पाण्डवों के लिए केवल पाच गाँवो के देने का प्रस्ताव रखने कौरव सभा मे गये और अपना बडा ही विशद, तर्कपूर्ण तथा युक्ति-समन्वित भाषण दिया (९५ अध्याय) जिसका अनुशीलन उनके निश्छल परिश्रम तथा प्रयत्न पर एक निर्दुष्ट भाष्य है। युद्ध के अकल्याणकारी रूप को दिखला कर उन्होने कहा कि युद्ध मे कभी कल्याण नही होता। न धर्म सिद्ध होता है और न अर्थ की ही प्राप्ति होती है, तब सुख कहा? और विजय भी अनिवार्य रूप से युद्ध मे सम्भव नही होता। ऐसी दशा मे युद्ध मे अपना चित्त मत रखो—युद्ध बडी भयानक वस्तु है।

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम्।
न चापि विजयो नित्यं न युद्धे चेत आधिथाः॥
—उद्योग १२९।४०

अर्थ और काम का मूल धर्म होता है। उसका आश्रय न करना राजा के लिए सर्वथा विनाशकारी होता है—

> कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
> न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन॥
> इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः।
> कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति॥
>
> —उद्योग, १२४।३६, ३७

किसी सभा के सभासदों का भी यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे न्याय के पक्ष का अवलम्बन कर न्यायोचित तथ्य का ही निर्णय करें। यदि वे ऐसा नहीं करते, न्याय की उपेक्षा करते हैं तथा जान बूझ कर सत्य का गला घोंटते हैं तो सभासद ही उस अधर्म से स्वयं विद्ध हो जाते हैं। पाण्डवों के एतद्-विषयक वचनों को कह कर श्रीकृष्ण सभासदों के उदात्त कर्तव्य की चेतावनी देते हैं इन विशिष्ट शब्दों में—

> यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
> हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
> विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते।
> न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥
> धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्॥
>
> —तत्रैव ९५।४८–५०।

कितनी नीति भरी है इन वचनों में तथा धर्माधर्म का कितना मार्मिक विवेचन करना न्याय्य है सभासदों की ओर से। श्लोकों का अभिप्राय है—जहाँ सभासदों के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद नष्ट हुए मान जाते हैं। जिस सभा में अधर्म से विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद गण उस अधर्मरूपी काँटा को काट कर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटे से सभासद् ही बिंधे जाते हैं अर्थात् उन्हें ही अधर्म से लिप्त होना पड़ता है। जैसे नदी अपने तट पर उगे हुए वृक्षों को गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्म, विरुद्ध धर्म, ही उन सभासदों का नाश कर डालता है।

श्रीकृष्ण के वचन सभाधर्म का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। ऐसी भावना विदुर जी ने द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग पर सभापर्व (अ० ५८) में भी प्रकट की थी यो जहाँ 'विद्धो धर्मो' वाला श्लोक पहिले ही आया है (श्लोक ७०)।

श्रीकृष्ण कौरवों तथा पाण्डवों के परस्पर सौहार्द तथा मैत्री के दृढ़ अभिलाषी थे और इसके लिये धृतराष्ट्र के प्रति उनके ये वचन सुवर्णाक्षरों में अंकित करने

लायक है—अपने पुत्रो से समन्वित धृतराष्ट्र वन है तथा पाण्डु के पुत्र व्याघ्र हैं। व्याघ्र के साथ वन को मत काटो। ऐसा दुर्दिन भी न आवे कि वन से व्याघ्र नष्ट हो जाय—

> वन राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
> व्याघ्रास्ते वै सञ्जय पाण्डुपुत्राः ।
> मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं
> मा व्याघ्राऽनीनशन् वनात् ॥
>
> —तत्रैव २९ अ० ५४ श्लो०

व्याघ्र तथा वन का यह दृष्टान्त सचमुच बडा ही हृदय ग्राही और तथ्यपूर्ण है। बिना जगल का व्याघ्र मार डाला जाता है और बिना व्याघ्र का जगल भी काट डाला जाता है। अर्थात् दोनो मे उपकार्योपकारक भाव हैं। दोनो के परस्पर सौहार्द से दोनो का मगल सिद्ध होता है। इस लिये व्याघ्र को वन की रक्षा करनी चाहिए तथा वन को व्याघ्र का पालन करना चाहिए—

> निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम् ।
> तस्माद् व्याघ्रो वन रक्षेद् वन व्याघ्रं च पालयेत् ॥
>
> —तत्रैव श्लोक ५५

कितना सुन्दर है यह दृष्टान्त और कितनी रुचिर है परस्पर उपकार की भावना। परन्तु इनके तथ्यपूर्ण उपदेश का पर्यवसान क्या हुआ ? दुर्योधन द्वारा श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का उपहासास्पद उद्योग। कृष्ण तो इस अवसर पर अपनी अलौकिक महिमा से अपना विराट रूप दिखला कर बच गये परन्तु ऐसे सदुपदेश की उपेक्षा करने वाला कौरवराज दुर्योधन महाभारत युद्ध म भस्म होने से न बच सका। इतनी सद्भावना देख कर भी क्या श्रीकृष्ण के ऊपर युद्ध के प्रेरक होने का लाञ्छन लगाना न्याय्य है ? नही कभी नही।

(६) श्रीकृष्ण की राजनीतिज्ञता

श्रीकृष्ण अपने युग म राजनीति के—पुस्तकस्था राजनीति के ही नही प्रत्युत व्यावहारिक राजनीति के प्रौढ विद्वान थे—इस तथ्य के अगीकार करने को अनेक प्रबल प्रमाण हैं। शान्तिपर्व के ८१ वें अध्याय का अनुशीलन इस विषय में विशेषत महत्त्वशाली है। यह अध्याय श्रीकृष्ण के राजनीतिक वैदुष्य व्यावहारिक पटुता और नि सहाय होने पर भी अकेले ही यादवीय राजनीति के सचालन-चातुर्य का पूर्ण परिचायक तथ्य प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि यादवो म दो प्रधान कुल थ—वृष्णि तथा अन्धक और दोनो का गणतन्त्र राज्य सम्मिलित गणतन्त्र के रूप म प्रतिष्ठित था। इस गणतन्त्र के दो मुख्य

'अध्यक्ष', (आजकल की भाषा में प्रेसिडेन्ट) थे उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण। वृद्ध होने के कारण उग्रसेन अपने राजनीतिक कार्य के निर्वाह में उतने जागरूक नहीं थे, फलतः उस गणतन्त्र के सचालन का पूरा उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण के ऊपर ही अकेले था। अपने एकाकीपन तथा राजनीतिक संघर्ष का विवरण देकर श्रीकृष्ण ने नारदजी से उपदेश की प्रार्थना की है। वृष्णि कुल की ओर से उस लोकसभा में आहुक नेता थे तथा अन्धक कुल की ओर से अक्रूर। दोनों में अपने-अपने स्वार्थ के लिए निरन्तर सघर्ष चला करता था जिसका प्रशमन कर गणतन्त्र को अभ्युदय की ओर ले जाना श्रीकृष्ण की राजनैतिक वैदुषी तथा व्यावहारिता के लिए भी एक चुनौती थी। इसी की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण के वचन कितने मर्मस्पर्शी तथा तथ्यपूर्ण हैं—

दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्धभोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥ ५ ॥
बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥ ११ ॥

नारदजी महाराज, मैं अपनी दुरवस्था की बात क्या कहूँ आपसे? मैं कहने के लिए तो ईश्वर (शासक) हूँ, परन्तु वस्तुतः मैं अपने दायादों की चाकरी करता हूँ। अपने राजकार्य में एकान्त असहाय हूँ। मेरे भाई तथा पुत्र दोनों ही अपनी राह चलते हैं, मुझे सहायता देने की उन्हें चिन्ता ही नहीं। मेरे अग्रज सकर्षण (बलराम) में बल है[1], मेरा अनुज गद तो सुकुमारता तथा

१. महाभारत-युग में चार वीर महाबलशाली माने जाते थे—इसी क्रम से बलराम, भीम, मद्रराज शल्य तथा मत्स्यराज का सेनानी कीचक, परन्तु इन चारों में भी बलरामजी सब से अधिक बलिष्ठ थे। उन्होंने गदायुद्ध में भीम को भी परास्त किया था। श्रीकृष्ण के कथन का ध्वन्यर्थ यह भी प्रतीत होता है कि शारीरिक बल से सम्पन्न होने से वे राजकाज में विशेष सहायता देने के योग्य भी नहीं हैं। महाभारत के श्लोक इस विषय में ध्यातव्य हैं—

साम्प्रत मानुषे लोके सदैत्य-नर-राक्षसे।
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ॥
उत्तमप्राणिना तेषा नास्ति कश्चिद् बले समः।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥
चतुर्थं कीचकस्तेषा पचम नानुशुश्रुम।
अन्योन्यान्तरबला परस्परजयैषिणः ॥
× × ×
येन नागायुतप्राणोऽप्यकृद् भीमः पराजितः ॥

कोमलता का (नजाकत का) जीवित रूप है। मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न अपने अलौकिक रूप पर मतवाला बना फिरता है। कहिए मेरी असहायता का क्या कहीं अन्त है। आहुक तथा अक्रूर की राजनीतिक कूट चालों से तथा आपसी संघर्ष से मैं और भी चिन्तित और व्यग्र रहता हूँ। दोनों को शान्त रखने का मैं यथावत् प्रयत्न करता हूँ। मेरी दशा तो दो जुवाड़ी पुत्रों वाली उस माता के समान है (जिसके दोनों पुत्र आपस में जुआ खेलते हैं और एक दूसरे को हटाने के चिन्ता में लगा रहता है) जो दोनों का भला चाहती है। फलतः न तो वह एक का जय चाहती है और न दूसरे का पराजय।

'कितवमाता' की यह उपमा कितनी सुन्दर तथा अर्थाभिव्यञ्जक है। उसे दोनों पुत्रों का मंगल अभीष्ट है। फलतः वह न तो एक के जय की अभिलाषिणी है और न दूसरे के पराजय की। यह उपमा श्रीकृष्ण के राजनीतिक-चिन्ताग्रस्त जीवन के ऊपर भाष्यरूपा है। यह श्रीकृष्ण की ही अनुपम राजनीतिमत्ता थी कि इस वृष्ण्यन्धक संघ ने इतने दिनों तक अपना प्रभुत्व भारत के पश्चिमी प्रान्त में बनाये रखा।

महाभारत युद्ध के प्रधान सूत्रधार होने से भी श्रीकृष्ण की कूटनीतिज्ञता का परिचय अनुमेय है। उन्होंने अपने मुख से भी इसका परिचय तथा संकेत स्थान-स्थान पर किया है।

> मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत्।
> हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥
> यदि नैवंविधं तात, कुर्यां जिह्ममहं रणे।
> कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतः सुखम् ॥
>
> —शल्यपर्व ६१।६२-६४

श्लोकों का तात्पर्य है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा भूतल पर अतिरथी के नाम से विख्यात थे। माया युद्ध का आश्रय लेकर ही मैंने अनेक उपायों से उन्हें मार डाला है। यदि कदाचित् युद्ध में इस प्रकार माया-कौशल पूर्ण कार्य नहीं करता, तो फिर आपको विजय कैसे प्राप्त होती? राज्य कैसे हाथ में आता और सुख कैसे मिल पाता। यह नई बात नहीं है। देवों ने भी प्राचीन काल में ऐसा ही आचरण किया था। यह मार्ग सज्जनों के द्वारा पूर्वकाल में समादृत हुआ है और इसका करने में मेरा कोई भी दोष नहीं है—

> पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः।
> सद्भिश्चानुगतः पन्था स सर्वैरनुगम्यते ॥
>
> —शल्यपर्व ६१।६८

उपसंहार

यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र के राजनीतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण स्वरूप को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उनके आध्यात्मिक उपदेष्टा का रूप स्वतः विख्यात है। अतः उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। महाभारत के सन्देह-हीन स्थलों का उद्धरण देकर दिखलाया गया है कि श्रीकृष्ण इस युग के महामहिमाशाली राजनीतिक नेता थे, जिन्होंने कौरवों को पूर्णतया समझा कर पाण्डवों का हित साधन करते हुए भी युद्ध रोकने का यथावत् प्रयत्न किया, परन्तु कौरवों के दुराग्रह तथा हठधर्मिता से वे अपने इस सार्वभौम मंगलकारी कार्य में कृतकार्य न हो सके। राजनीतिक दूरदर्शिता में, भारतीय राष्ट्र की मंगलचिन्तना में तथा राष्ट्र को धर्ममार्ग में अग्रसर करने में श्रीकृष्ण की वैदुषी अनुपमेय थी—इसमें सन्देह करने के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं। व्यासजी का यह कथन 'इतिहास' के पृष्ठ में सदा-सर्वदा गूँजता रहा है और भविष्य में गूँजता रहेगा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

—गीता १८।७८

षष्ठ परिच्छेद

वेद और पुराण

वेद और पुराण के पारस्परिक सम्बन्ध तथा प्रामाण्य का विचार पुराण ग्रन्थों में तथा दर्शन ग्रन्थों में वर्तमान पाया जाता है। पुराण में वेदार्थ का उपबृंहण अनेकशः प्रतिपादित किया गया है। इस कथन की पुष्टि में श्री जीवगोस्वामी ने 'पुराण' की व्युत्पत्ति एक नये प्रकार से निष्पन्न की है। वह निष्पत्ति है—पूरणात् पुराणम् अर्थात् जो (वेदार्थ का) पूरण करता है वह 'पुराण' कहलाता है। इस व्युत्पत्ति का व्यङ्ग्यार्थ अतिशय गम्भीर है। लोक में यह बहुधा अनुभूत है कि जिसके द्वारा किसी वस्तु का पूरण किया जाता है उन दोनों में एकरसता, अनन्यता रहती है। यदि सोने के अपूर्ण कंकन को पूर्ण करने का अवसर आता है, तो यह पूरण सोने के ही द्वारा किया जाता है लाह के द्वारा तो कभी नहीं, क्योंकि सोना और लाह दो भिन्नजातीय पदार्थ हैं। वेद और पुराण का भी सम्बन्ध इसी प्रकार का है। वेद के अर्थ का उपबृंहण या पूरण वेदभिन्न वस्तु के द्वारा कभी नहीं किया जा सकता। इस व्युत्पत्तिलभ्य युक्ति से पुराण की वेदता सिद्ध होती है।[1] पुराण स्वयं अपने आपको वेद के समकक्ष ही समझता है। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड का कथन[2] है कि सृष्टि के आदि में देवों के पितामह ब्रह्मा ने उग्र तप किया जिसके फलरूप षडङ्ग पद तथा क्रम से सम्पन्न वेदों का आविर्भाव हुआ। उसके अनन्तर सर्वशास्त्रमय पुराण का भी आविर्भाव सम्पन्न हुआ जो नित्यशब्दमय, पुण्यदायक और विस्तार में एक सौ करोड़ श्लोकों वाला था। यह पुराण भी वेद के समान ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ। श्रीमद्भागवत

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। इति पूरणात् पुराणमिति चान्यत्र। न चावेदेन वेदस्य बृंहणं संभवति नहि अपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते॥

—भागवत सन्दर्भ पृ० १७ (कलकत्ता सं०)

१ यदा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः।
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात् ॥

—प्रभास खण्ड

के तृतीय स्कन्ध में भी यह बात प्रकारान्तर से कही गई है। भागवत का कथन है—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व ब्रह्मा के पूर्वादि मुखों से क्रमशः उत्पन्न हुए। ब्रह्मा ने पञ्चम वेदरूप इतिहास-पुराण को अपने चारों मुखों से उत्पन्न किया। यहाँ इतिहास-पुराण के लिए साक्षात् रूप से 'वेद' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह तथ्य—पुराण की वेदरूपता—पुराण ही प्रकट नहीं करते प्रत्युत बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१०) ने बहुत पहिले ही वेदों के सदृश ही इतिहास और पुराण को महान् भूत—ब्रह्म का निःश्वास होने की बात कही है[२]। फलतः पुराण वेद के सदृश ही स्वतः प्रमाण है।

पुराणों का वेद और तन्त्र के साथ कैसा सम्बन्ध है? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों की भिन्न भिन्न सम्मतियाँ हैं। सनातनी विद्वानों की दृष्टि में पुराण वेदों के समान ही मान्य तथा अपौरुषेय हैं तथा तन्त्रों के सदृश ही प्रामाणिक हैं। इस मत के प्रदर्शन के लिए श्री करपात्री जी के विवेचन का एक अंश 'सिद्धान्त' (षष्ठ वर्ष, १९४५ पृ० १८-१९) से यहाँ उद्धृत किया जाता है।

पुराणों की वेदता

'बृहन्नारदीय पुराण' में बतलाया गया है कि श्री रघुनाथचरित रामायण की तरह सभी पुराण शतकोटिप्रविस्तर हैं। वहाँ का वचन है—

> "हरिर्व्यासस्वरूपेण जायते च युगे युगे।
> चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा॥
> तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोके निर्दिशत्यपि।
> अद्यापि देवलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्॥"

इससे भूलोक में चार लाख का और देवलोक में सौ करोड़ का विस्तार पुराणों का जानना चाहिए। 'वेद' ही की तरह 'पुराण' भी अनादि हैं, क्योंकि वेदों ही की तरह व्यासरूपधारी भगवान् के द्वारा इनका भी आविर्भाव ही सुना जाता है। तभी तो इतिहास-पुराणों का 'वेदोपबृंहकत्व' उपपन्न है। ज्ञान के 'कोड़े' में यदि कोई कमी होगी, तो क्या वह 'अणु (पवित्र) से पूरी होगी? पूरण करने के कारण ही इनका नाम 'पुराण' है—"पूरणाच्च पुराणम्"।

---

१ इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

—भाग० ३।१२।३९

२ एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।

बृ० उ० २।४।१०

जैसे असुवण के द्वारा सुवण की पूणता सम्भव नही है वैसे ही अवेद के द्वारा वद की पूरणा अथवा उपबृ हण सम्भव नहा है। अतएव **'पुराणं वेदसंमितम्'** यह उक्ति सङ्गत है। इनका वदत्व स्पष्ट ही है। इतिहास और पुराण के द्वारा वेद का उपबृ हण करना चाहिए-**"इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृंहयेत् ।"** इसीलिए इतिहास और पुराण को पाँचवाँ वद कहा जाता है—**"इतिहास पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते।'** बृहदारण्यक म—**'अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतदृग्वेद"** इत्यादि श्रुति म **'इतिहास पुराणम्'** ऐसा भी पाठ है। यहाँ प्रसिद्ध इतिहास पुराण को छोडकर दूसरा अथ नही लिया जा सकता क्योकि वैसा करने से प्रसिद्धि विराध होगा। साथ ही नित्य ब्रह्मयज्ञ मे इतिहास पुराण का पाठ भी वेद की तरह उनके प्रामाण्य को बतलाता है। कहा जा सकता है कि यदि यही बात है वेद और पुराण की एकता ही है तो वद से उसका भिन्न निर्देश क्यो हुआ है? इसका उत्तर यही है कि स्वर और क्रम का वैलक्षण्य ही इसका मूल है। दोनो ही (वद पुराण) अनादि है दोनो ही प्रतिकल्प म आविभूत होते हैं—इन अशो मे समानता होने पर भी स्वर और क्रम के वैलक्षण्य से ही परस्पर भेद उपप न है। उसी पुराण मे एकादशी व्रत के प्रसङ्ग मे बतलाया गया है कि एकादशी व्रत वद म वर्णित नही है अत वैदिको को वह न करना चाहिए। इस आक्षेप पर यही समाधान दिया गया है कि वेद मे जो सुस्पष्ट रूप से उपलब्ध नही होता वह भी पुराणोक्त होने से ग्राह्य है ही क्योकि वद मे ग्रह सचार कालशुद्धि तिथियो की क्षय-वृद्धि और पव ग्रह आदि का निणय नही किया गया। परन्तु इतिहास पुराणो के द्वारा यह निणय पहले से ही किया हुआ है। जो बात वेदो मे नही मिलती वह स्मृति मे लक्षित हो जाती है जो दोनो मे नही उपलब्ध होती उसका पुराणो मे वणन मिल जाता है। शिवजी पावती स कहते है कि मैं वेदाथ की अपेक्षा पुराणाथ को अधिक (विशद) मानता हूँ इसमे कोई स देह नहा कि पुराण मे वेद अच्छी तरह प्रतिष्ठित हैं—

"न वेदे ग्रहसञ्चारा न शुद्धि कालबोधिनी।
तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णय ॥
इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णय पुरा।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ ॥
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणै प्रगीयते।
वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ॥
वेदा प्रतिष्ठिताः सम्यक् पुराणे नात्र संशय ।"

(उत्तराद्ध २४ अध्याय)।

कहीं तो श्रुति-स्मृति को दो नेत्र और पुराण को हृदय बतलाया गया। एक नेत्र से हीन मनुष्य काना और दोनों से हीन अन्धा कहा गया है, परन्तु पुराण से हीन तो हृदयशून्य है, काना और अन्धा उसकी अपेक्षा कहीं अच्छे हैं—

> "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
> एकेन हीनः काणः स्याद् द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः॥
> पुराणहीनाद् हृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ॥"

इतिहास—पुराण से हीन के लिए हृदयहीनता कही गयी, जो काणत्व और अन्धत्व से ज्यादा पापमयी है।

पुराणों की तन्त्रमूलकता

'देवीभागवत' के ग्यारहवें स्कन्ध के आरम्भ में, श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति की प्रबलता और स्मृति एवं पुराण के विरोध में स्मृति की प्रबलता कही है—"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा।" वहाँ पुराणों के वेदमूलकत्व की तरह उनका तन्त्रमूलकत्व भी हेतुत्व से उपन्यस्त हुआ है। कहा जा सकता है कि पुराणों के तन्त्रमूलकत्व होने पर भी उनका प्राबल्य क्यों न हो, क्योंकि तन्त्र भी तो लीलाविग्रहधारी विष्णु भगवान् के द्वारा ही प्रोक्त हैं। बल्कि वेद तो घुणाक्षरन्याय से श्वास-प्रश्वास की तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न हुए, इसलिए उनकी अपेक्षा सर्वज्ञबुद्धिपूर्वक निर्मित तन्त्रों का ही प्राबल्य युक्त प्रतीत होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वेदाविरोधी तन्त्रों के प्रामाणिक होने पर भी वेदविरुद्धों के अप्रामाण्य से तन्मूलक पुराणों का श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य है। निःश्वास की तरह अबुद्धिपूर्वक प्रकट वेदों के सामने बुद्धिपूर्वक बने तन्त्रों की प्रबलता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वेदों के अबुद्धिपूर्वक होने से ही उनकी अपौरुषेयता है और इसी कारण वे समस्त पुन्दोषशङ्काकलङ्कपङ्क से विरहित हैं। तन्त्रों में यह बात नहीं है, वे बुद्धिप्रभव होने के कारण सम्भावित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित हैं। कहा जा सकता है कि जीवों की रचना में भ्रमादि दोष हो सकते हैं, तन्त्र तो सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा विरचित हैं, उनमें भ्रमादि दोषों की सम्भावना नहीं हो सकती, अतः उनका स्वतःप्रामाण्य स्पष्ट ही है। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस युक्ति से तन्त्रकारों की सर्वज्ञता परमेश्वरता सिद्ध करना चाहेंगे, उसी युक्ति से बाह्य भी अपने आगमकारों को सर्वज्ञतादिसाधनसम्पन्न और उनके आगमों को प्रामाणिक कहेंगे। कोई भी ऐसा विशेष हेतु हो नहीं सकता, जिससे तन्त्रकारों की ही सर्वज्ञता सिद्ध हो, उन्हीं की रचनाओं का

प्रामाण्य हो और अन्यान्यो का नही। बिना विशेष हेतु के अमुक सर्वज्ञ है, अमुक असर्वज्ञ, यह निर्णय न हो सकेगा। कथञ्चित् सबकी सर्वज्ञता मान भी ली जाय, तो फिर सर्वज्ञो की उक्तियो मे परस्पर विरोध न होना चाहिए, क्योकि अभ्रान्तों को एक ही रज्जुखण्ड मे सर्प, धारा, माला आदि विशेषित विविध ज्ञान सम्भव नही है। परन्तु ऐसी बात नही है, आत्मादि पदार्थों के निरूपण-प्रसङ्ग मे परस्पर की उक्तियो का विरोध उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति मे क्यो नही सुन्दोपसुन्दन्याय से यह सर्वज्ञता का व्यापादक होगा? इधर अपौरुषेय वेद के प्रमाण से पशुपति आदि तन्त्रकारो की सर्वज्ञता सिद्ध हो सकेगी, तत्पश्चात् तन्त्रो का प्रामाण्य भी। तब उपजीव्य होने से वेदो का ही मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति मे जो तन्त्र वेदानुकूल होगे, उनका प्रामाण्य होने पर भी स्पष्ट वेदवाक्यविरुद्ध उनका अप्रामाण्य ही है। इस प्रकार वैसे तन्त्रमूलक पुराणो का श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य और श्रुतिमूलक तन्त्रोपजीवियो का भी *साक्षात् श्रुतिमूलक स्मृति की अपेक्षा दौर्बल्य है।* धर्म चोदनैकवेद्य है, पौरुषेय वाक्य का वहा प्रामाण्य नही, योगियो और ईश्वर के प्रत्यक्ष का वह अविषय है, क्योकि वह **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"** **"शब्दात्"** इत्यादि अपौरुषेय शब्दमात्र से ही समधिगम्य है। योग्य ही सबके दर्शन से 'सर्वदर्शिता' है—अयोग्य से नही। अदाह्य के अदहन से अग्नि मे सर्वदाहकत्व अनुपपन्न नही समझा जाता। **'भगवन्नामकौमुदीकार'** आदि तो **'पञ्चमो वेद उच्यते'** इस पुराणो के साक्षात् वेदत्व श्रवण से तन्मूलकत्व की अनुपपत्ति द्वारा स्मृति की अपेक्षा भी पुराणो के प्राबल्य को अधिक मानते है। 'शारीरक-मीमासा' और उसके भाष्यकार आदि पुरुषसम्बन्ध से पौरुषेय होने के कारण पुराणो का स्मृतित्व ही स्वीकार करते हैं।

यह तो नही कहा जा सकता कि **"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे", "ऋग्वेदोऽग्नेरजायत"** इस रूप मे वेदो का पुरुषसम्बन्ध सुना जाता है, इसलिए इनका भी अपौरुषेयत्व क्यो माना जाय? क्योकि—**"वाचा विरूपनित्यया", "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"** इत्यादि वचनो के अनुरोध से सम्प्रदायप्रवर्तनलक्षण आविर्भाव ही उपर्युक्त 'जनि' श्रुत्यर्थ है। प्रमाणान्तर से अर्थ को न प्राप्तकर सुप्तप्रतिबुद्धन्याय से परमेश्वर • ज्ञान, धर्म और संस्कारातिशय से अथवा पुरुषान्तर के पूर्वकल्पीय वेदस्मरण से सम्प्रदाय का प्रवर्तन हो सकता है। गुरु से पढे गये और प्रमाणान्तर से अर्थोपलब्धि द्वारा न विरचित मन्त्रो का पुरुषसम्बन्ध नही है। उतने पुरुषसम्बन्ध मे उनका पौरुषेयत्व नही कहा जा सकता। धर्म वेदप्रणिहित है, उसके विपरीत अधर्म है। वेद साक्षात् स्वयम्भू नारायण हैं, ऐसा सुनते आये हैं। वेद ईश्वरात्म है, उसमे बड़े-बड़े विद्वानो को मोह प्राप्त होता है—

"वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः" ।

इत्यादि वचनों से पुराणों में ही वेदों का अपौरुषेयत्व, नित्यत्व और स्वतः-प्रामाण्य कहा गया है। किञ्च जिस योगज प्रभाव से पुराणार्थ का साक्षात्कार करके पुराण बनाये गये हैं, वह भी वेदैकसमधिगम्य ही है। इससे भी वेदों का पुराणोपजीव्यत्व है।

पुराणों से वेदों का वैलक्षण्य

कहा जा सकता है कि तब तो पुराणों का भी नित्यत्व और आविर्भूतत्व पुराणों में सुना जाता है, अतः उन्हें भी सर्वथा अपौरुषेय ही क्यों न माना जाय? परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'श्रीमद्भागवत' आदि में समाधि के द्वारा अर्थ (वस्तु) को प्राप्त करके विरचितत्व श्रुत है, अतः यहाँ स्पष्ट कर्तृस्मरण सम्भव है। सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता के साथ अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का अभाव होने से पुराणों में अपौरुषेयत्व नहीं है। वेदोपबृंहक पुराणार्थ के, जो अनादि परम्परागत हैं, अनादि होने पर भी समाधि आदि के द्वारा उनकी अभिव्यञ्जक वर्ण-पद-वाक्यानुपूर्वी का अर्थोपलब्धिपूर्वक विरचितत्व होने से भेद भी सम्भव है। परन्तु वेद में यह बात नहीं है, वहाँ तो पुरुषबुद्धिपूर्वकरचितत्व का अभाव होने से आनुपूर्वी भी प्रत्येक कल्प में एकरस होती है। यह भी पुराणों की अपेक्षा वेदों का वैलक्षण्य है। इसीलिए पुराणों को स्मृतिकोटि में गिना गया है। इस पर "स्मरन्ति च" (३-१-३) "स्मर्यतेऽपि च लोके" (३-१-२) "स्मर्यतेऽपि च लोके" (३-१-१९) इस व्याकरणसूत्र पर "अपि च स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनामयोनिजत्वम्" यह भाष्य है। शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है कि "यत नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वे स्मर्यन्ते पौराणिकैः"। इस प्रकार पुराणों का स्मृतित्व व्यवस्थित हो जाने पर स्मृति की अपेक्षा उनका दौर्बल्य नहीं कहा जा सकता। विरोध होने पर प्रत्यक्ष वेदवाक्य के सद्भाव और असद्भाव की आलोचना करके बलाबल का निर्धारण करना चाहिए अथवा "यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्" इस तरह श्रुतिप्रशस्त मनुवचन के अनुरोध से स्मृति और पुराणों के विरोध का परिहार करना चाहिए।

पुराण—प्रामाण्य पर विचार

पुराण के प्रामाण्य विषय मे तार्किको का मत इससे नितान्त पृथक् है। पुराण का प्रामाण्य दर्शनकारो ने विशेषरूप से विवेचित किया है। वेद का प्रामाण्य तो स्वत सिद्ध माना जाता है। वेद का जो भी कथन है वह प्रामाण्य से सम्पन्न है। अवश्य ही वेद के कथन को मीमासको ने दो भागो मे विभक्त किया है—विधि तथा अर्थवाद। **अर्थवाद** से तात्पर्य उन प्रशसात्मक वाक्यो से है जिनमे किसी अनुष्ठान विशेष की स्तुति की गई है। मीमासा के अनुसार विधि ही वेद वाक्यो का परिनिष्ठित तात्पर्य है, अर्थवाद तो विधिवाक्या का अगभूत होकर अपना प्रामाण्य धारण करता है। एव वेद का स्वत प्रामाण्य है—अर्थात् उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु को किसी अन्य के प्रामाण्य की अपेक्षा नही रहती। स्मृति का प्रामाण्य वेदमूलक है।

पुराण के प्रामाण्य के विवेचन के अवसर पर वात्स्यायन रचित **न्यायभाष्य** का भी यह कथन ध्यान देन योग्य है। वात्स्यायन का कथन है[1]—

मन्त्रब्राह्मण के जो द्रष्टा तथा प्रवक्ता (व्याख्यान करने वाले) ऋषि-मुनि है वे ही इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्र के भी द्रष्टा व्याख्याता हैं। अर्थात् द्रष्टा तथा व्याख्याता की दृष्टि से साहित्य के इन तीनो अगो मे समानता का ही भाव विद्यमान है। तब इनका प्रामाण्य भी क्या एक ही प्रकार है? वात्स्यायन का उत्तर है—नही, इन तीनो के विषय पृथक् रूप मे व्यवस्थित हैं और उन्ही के प्रतिपादन मे इनका विषयानुसार प्रामाण्य है। मन्त्रब्राह्मण का विषय है—यज्ञ। इतिहास-पुराण का है लोकवृत्त (ससार का चरित्र)। धर्मशास्त्र का विषय है लोक-व्यवहार का व्यवस्थापन (अर्थात् लोक व्यवहार किस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से चलेगा—उन नियमो का तथा सिद्धान्तो का प्रतिपादन)। फलत वात्स्यायन की दृष्टि मे इन विशिष्ट विषयो मे ही इन ग्रन्थो का प्रामाण्य है।" तात्पर्य यह है कि इतिहास-पुराण, वेद तथा धर्मशास्त्र का परिपूरक है। इन दोनो के द्वारा अव्याख्यात तत्त्व की वह व्याख्या करता है। जिस प्रकार वैदिक धर्म के स्वरूप जानने के लिए वेद की अपेक्षा है और धर्मशास्त्र की आवश्यकता है, उसी प्रकार इतिहास पुराण की भी। इसीलिए

---

१. 'य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टार प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य-धर्मशास्त्रस्य चेति विषयव्यवस्थापनाच्च यथाविषय प्रामाण्यम्। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य लोकव्यवहारव्यवस्थापन धर्मशास्त्रस्य विषय."

'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेध' न्यायसूत्र ४।१।६२ पर वात्स्यायनभाष्य।

वात्स्यायन इतिहास-पुराण को प्रमाण मानते हैं लोकवृत्त के ज्ञान के ही लिए सही, पर मानते तो हैं।

इसी प्रसग मे कुमारिल ने इतिहास-पुराण के प्रामाण्य पर विशद विचार किया है जिसका साराश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

कुमारिल के कथन का सारांश

सब स्मृतियो का प्रामाण्य उस प्रयोजन के कारण है जिसकी सिद्धि वे करती हैं। स्मृतियो का प्रयोजन द्विविध प्रकार से लक्ष्य होता है। स्मृतियाँ धर्म तथा मोक्ष से सम्बद्ध विषय के लिये प्रमाणभूत हैं, क्योकि वह वेद के ऊपर आश्रित रहता है। स्मृतिया मे अर्थ (धन) तथा सुख विषयक जो तात्पर्य है वह भी प्रमाणभूत है, क्योकि वह लोक-व्यवहार के ऊपर आश्रित रहता है। इस प्रकार दोनो मे एक प्रकार का पार्थक्य अवश्य मानना चाहिए। पुराण तथा इतिहास के उपदेश-वाक्यों की भी यही गति है—इस शैली से उन वाक्यो के प्रामाण्य का निर्णय करना चाहिए। उपाख्यानो की व्याख्या अर्थवाद के समान ही करनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार वैदिक अर्थवाद का प्रामाण्य निर्णीत किया गया है मीमासा-ग्रन्थो म, वह शैली उपाख्यानो की व्याख्या के विषय म अपनानी चाहिए। पुराणो मे पृथ्वी के विभागो का जो वर्णन है उसका उद्देश्य धर्म तथा अधर्म के साधनभूत फलो को भोगने के लिए उपयुक्त स्थानो का निर्देश है। आशय है कि तीर्थस्थलो मे नियमाण कार्य धर्म का सम्पादन करता है तथा दुष्ट स्थानो का कर्म अधर्म का सम्पादन करता है—इन विषयो के यथार्थ ज्ञान के लिए भुवनकोष का वर्णन पुराणो मे किया जाता है। इस वर्णन मे से कुछ तो अनुभव के ऊपर आश्रित रहता है और कुछ वेद के ऊपर। पुराणो का वशानुक्रमण ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति के गोत्रो के ज्ञान के लिए है और यह भाग दर्शन तथा वेद, लोकानुभव तथा श्रुति, दोनो के ऊपर आश्रित रहने से प्रामाण्य है। पुराणो मे देश तथा काल की परिगणना की जाती है जिसका उद्देश्य लोक तथा ज्योति शास्त्र के व्यवहार की सिद्धि है और पुराणो का यह अश यथार्थ अनुभव, गणित, सम्प्रदाय तथा अनुमान के ऊपर आश्रित होने से प्रमाण माना गया है। भविष्यकाल म कौन-कौन सी वस्तुयें होने वाली हैं (भाविकथन) वेद के ऊपर आश्रित है, इसका कारण यह है कि युगो का स्वभाव अनादि काल से प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार प्राणी धर्म तथा अधर्म का अनुष्ठान किया करता है जिसके फल के विकार की विचित्रता का ज्ञान होता है। कुमारिल के इस सारगर्भित वाक्य का तात्पर्य है कि पूर्वकाल से युगधर्म के स्वभाव के कारण मानव के कार्यो का विचित्र फल देखने को मिलता है।

इसी के ज्ञान के आधार पर पुराणो का 'भाविकथन' वाला अंश चरितार्थ होता है।[1]

इस अनुशीलन से पुराणो के वर्ण्यविषय तथा प्रामाण्य का विवेचन भली-भांति होता है —

(१) वर्ण्यविषय की दृष्टि से कुमारिल की मान्यता के अनुसार इतिहास—पुराणो मे कथानक, पृथ्वी के भूगोल, वंश की नामावली तथा उनका चरित, काल की गणना तथा भविष्यकाल मे होने वाली घटना—इन सबो का वर्णन नियमितरूप से वर्तमान रहता है।

(२) प्रामाण्य के विषय मे कुमारिल का मत है कि वेदानुसारी होने से पुराणो का प्रामाण्य है अर्थात् पुराण स्वतः प्रमाण न होकर वेदमूलक होने के हेतु प्रमाण माना जाता है अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः है ठीक स्मृतियो के समान। इसीलिए पुराण का वेदविरुद्ध अंश निर्मूलक होने के कारण से कथमपि प्रामाण्य नही रख सकता। कुमारिल के मत की ही पुष्टि आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थो मे की है।

पुराण—प्रामाण्य और श्री शंकराचार्य

आदि शंकराचार्य क पुराण विषयक मत जानने के लिए उनके शारीरक भाष्य का अनुशीलन कार्यसाधक है। इसमे उन्होंने पुराणो के वर्ण्यविषय तथा वैशिष्ट्य का वर्णन भली भांति किया है, यद्यपि वे किसी विशिष्ट पुराण का नाम अपने भाष्य म निर्दिष्ट नही करते। पुराण के वर्ण्य विषयो की आचार्यीय समीक्षा अन्यत्र दी गई। यहाँ उनके पुराण प्रामाण्य विषयक मत का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१ तेन सर्वस्मृतीनां प्रयोजनवती प्रामाण्यसिद्धिः। तत्र यावद्धर्ममोक्षसम्बन्धि तद् वेद-प्रभवम्। यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। एषैव इतिहासपुराणयोरप्युपदेश-वाक्यानां गतिः। उपाख्यानानि अर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवी विभाग कथन तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोगप्रदेशविवेकाय किञ्चिद् दर्शनपूर्वकं किञ्चिद् वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मणक्षत्रिय-जाति-गोत्रज्ञानार्थं दर्शनस्मरणमूलम्। देशकाल परिणाममपि लोक-ज्योतिःशास्त्रव्यवहार-सिद्ध्यर्थं दर्शन-गणित-सम्प्रदायानुमानपूर्वकम्। भाविकथनमपि स्वताादिकाल्प्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठान-फलविपाक-वैचित्र्यज्ञानद्वारेण वेदमूलम्॥

—जै० सू० (धर्मस्य शब्दमूलत्वाद् अशब्दमनपेक्षं स्यात्—१।३।१ सूत्र) का तन्त्रवार्तिक।

शंकराचार्य का मत है—**समूलमितिहासपुराणम्**—अर्थात् इतिहास और पुराण समूल है, निर्मूल नही। और इस तथ्य की सिद्धि क लिए उन्होंने अनेक युक्तियो और तर्कों का प्रदर्शन किया है। देवो का विग्रह तथा सामर्थ्य के विषय मे आचार्य कहते हैं कि इतिहास-पुराण का कथन मत्र तथा अर्थवाद-मूलक सभावित हो, तो वह भी देवताओ के विग्रह (शरीर धारण) को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। पुराण का कथन प्रत्यक्षादि मूलक भी है। जो वस्तु आजकल के मानवो को अप्रत्यक्ष है, वह प्राचीनो को प्रत्यक्ष होता था। इसीलिए तो पुराणो मे व्यास आदि ऋषियो की देवादिको क साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करने की घटना का अनेकत्र वर्णन उपलब्ध होता है।

शका—आधुनिक लोगो के समान प्राचीन लोगो को भी देवादिको के साथ व्यवहार करने का सामर्थ्य नही थी। उत्तर—तब तो आप जगत् की विचित्रता का ही निषेध करते हैं। आशय है कि विचित्रता ही ससार का स्वरूप है। **वैचित्र्यं जगत्**। अत पूर्व शका का रखना जगत् के इस महनीय रूप के प्रति अनास्था व्यक्त करना है। दृष्टान्त देखिए। आजकल (शकर के समय मे) सार्वभौम क्षत्रिय (सम्राट) नही है, तो क्या प्राचीन काल मे सम्राट् का अभाव था? तब तो राजसूय की विधि (जो वेदो म प्रतिपादित है) ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगी। आजकल जैसी वर्णाश्रम धम म अव्यवस्था वतमान है वैसी ही प्राचीन काल म थी[1]। तब तो व्यवस्था विधायक शास्त्र ही निष्फल हो जावेगा।

निष्कर्ष—धर्म के उत्कर्ष के कारण प्राचीन लोग देवादिको के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। यही कथन ही यथार्थ तथा वास्तव है।

योग का साधक प्रमाण—आचार्य अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि म योगशास्त्र का प्रमाण उद्धृत करते है—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग (योगसूत्र २।४४) अर्थात् मन्त्र के जप स देवता का सानिध्य तथा उनके साथ सभाषण दोनो उत्पन्न होते हैं। योग अणिमादि सिद्धियो तथा ऐश्वय की प्राप्ति करने वाला होता है—शास्त्र के इस सिद्धान्त को साहसमात्र स कोई

---

१ आचार्य का यह कथन—सार्वभौम क्षत्रिय का अभाव तथा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था—उनके समय निरूपण के लिए ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। आचार्य शकर के समय म ये दोनो बातें वर्तमान थी और भारतीय इतिहास म यह विलक्षणता हर्षवर्धन के पश्चाद् युग मे पाई जाती है। फलत मेरी दृष्टि में आदि शकर के आविर्भाव का यही युग था—सप्तम शती का उत्तरार्ध। आचार्य के समय निरूपण के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ—श्रीशङ्कराचार्य (द्वितीय स०, प्रयाग १९६३) पृष्ठ ३५-४९।

प्रत्याख्यान नही कर सकता। क्योकि इस विषय मे योग की महिमा का प्रतिपादन श्रुति (श्वेताश्वतर उप० २।१२) साक्षात् करती है। अत श्रुतिसम्मत योग माहात्म्य म अश्रद्धा किसको हो सकती है? मन्त्र तथा ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषियो का सामर्थ्य हमारे जैसे लोगो के सामर्थ्य के साथ क्या कथमपि बराबर किया जा सकता है? नही कभी नही। इतिहास पुराण इन्ही ऋषियो के सामर्थ्य को वर्णन उनके चरितवर्णन के प्रसग मे करता है। ऐसी दशा मे हमे मानना ही पडता है—**समूलम् इतिहास-पुराणम्।**

आचार्य शङ्कर का अभिमत सिद्धान्त कुमारिलभट्ट के सिद्धान्तो को अग्रसर करने वाला तथा पोषक है। आचार्य का इतिहास-पुराण के वैशिष्ट्य का यह प्रतिपादन कुमारिल के कथन मे नये तथ्यो तथा युक्तियो को जोड रहा है। तात्पर्य यह है कि वैदिक धर्म के अभ्युदयकारी इन आचार्यो की सम्मति मे पुराण [1]**स्मृतिवत्** है—वेदमूलक होने से उसमे प्रामाण्य को स्वीकार करना ही चाहिए।

---

१ शकराचार्य ने पुराणो के श्लोको का उद्धरण 'स्मृतश्च भवति' कह कर दिया है। अर्थात् वे पुराण का प्रामाण्य स्मृति-कोटि मे मानते हैं। कालिदास का 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्', कथन पुराण के ऊपर अक्षरश, घटित होता है। द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य १।३।३३।

इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलकत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति। भवति हि अस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवताभि प्रत्यक्ष व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति स जगद्वैचित्र्य प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमक्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात् ततश्च राजसूयादि चोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मोत्कर्षवशात् चिरन्तना देवादिभि प्रत्यक्ष व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलक स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरमिति। ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मण-दर्शिनां सामर्थ्य नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं युक्तम् तस्मात् समूलमितिहासपुराणमिति' (शारीरक-भाष्यम् १।३।३३)

पुराणों में वैदिक और पौराणिक मन्त्र

पुराणों में वैदिक अनुष्ठान का ही वर्णन है जो सामान्य जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं। श्रौत यज्ञों का तो वर्णन अप्रासंगिक होने से विशेष उपलब्ध नहीं है, परन्तु गृह्य यज्ञों का, देवों के बलि, पूजन तथा हवन का प्रसंग ही प्रचुरतया उपलब्ध होने से तत्तत् प्रसङ्ग में वैदिक मन्त्रों का बहुश उल्लेख किया गया है—कहीं प्रतीकरूप से और कहीं पूर्णरूप में। कभी-कभी तीर्थों के वर्णन में पवित्रता सूचनार्थ प्राचीन वैदिक आख्यान भी दिये गये हैं और साथ ही साथ वैदिक मन्त्र भी दिये गये हैं जो वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर विभिन्न देवों के प्रसंग में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए पुराणों में उद्धृत कतिपय वैदिक मन्त्रों का उल्लेख किया जा रहा है।

ब्रह्मपुराण में :

(१) गौतमी नदी (गोदावरी) से सम्बद्ध आत्रेय तीर्थ के प्रसंग में आत्रेय ने इन्द्र के स्वरूप का परिचय दिया है 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (अ० १४०।२२–२३ में पूरा मन्त्र उद्धृत है) मन्त्र के द्वारा। यह प्रख्यात 'स जनास' सूक्त का आदिमन्त्र है (ऋग्वेद २।१२।१)।

(२) ब्रह्मपुराण के १२४ अ० १४–१७ श्लोक इन्द्र की स्तुति में प्रयुक्त हैं। ये ऋग्वेद में ९।११४।२, ४, ३ तथा ९।११३।३ मन्त्र हैं। पुराण में पूरा मन्त्र उद्धृत किया गया है। इन चारों मन्त्रों में इन्दु से (सोम से) इन्द्र के लिए प्रवाहित होने की प्रार्थना की गई है। प्रति मन्त्र के अन्त में आता है—इन्द्रायेन्दो परिस्रव।

(३) सोम (चन्द्रमा) ने बृहस्पति की भार्या तारा का हरण किया था—इस कथा के प्रसंग में ब्रह्मपुराण (१५२।३४) जो मन्त्र उद्धृत करता है वह ऋग्वेद का १०।१०९।६ मन्त्र है जिसका प्रतीक है—पुनर्वै देवा अददुः (यहाँ भी पूरा मन्त्र ही उद्धृत किया गया है)।

(४) ब्रह्म (२३३।६२) का कहना है—'द्वे विद्ये वै वेदितव्ये' इति चाथर्वणी श्रुतिः अर्थात् यह मन्त्र का प्रतीक अथर्ववेद का है। यह मुण्डक उपनिषद् १।१।४ मन्त्र है। 'आथर्वणी श्रुतिः' पद बड़े महत्त्व का है। यह इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि पुराणकर्ता की दृष्टि में ब्राह्मण भी श्रुति माना जाता था। ज्ञातव्य है कि उपनिषद् ब्राह्मण का ही अन्तिम भाग होता है। इस पुराणोल्लेख से आधुनिकों का यह मत ध्वस्त हो जाता है कि 'ब्राह्मण' श्रुति से बहिर्भूत है और संहिता ही श्रुति के अन्तर्गत मान्य है।

(५) ब्रह्म के अन्य स्थानो पर छोटे-छोटे वैदिक मन्त्रो के अश भी उद्धृत किये गये हैं—

अर्धो जाया इति श्रुते (ब्रह्म १२९।६२)

= तैत्ति० स० ६।१।८।५ तथा शतपथ ब्रा० ५।२।१।१० = अर्धो ह वा एप आत्मनो यज्जाया।

इपे त्वा (ब्रह्म १७०।६४) = तैत्ति० स० १।१।१।१। यज्ञो वै विष्णु (ब्रह्म १६१।१५) ब्राह्मण का प्रख्यात वाक्य।

(६) ब्रह्म १५१ अध्याय मे उर्वशी और पुरुरवा का प्रख्यात वैदिक आख्यान दिया गया है जिसमे श्लोक ४ और १२ प्राय. ऋग्वेद (१०।९५।१६ तथा १५) के मन्त्रो के ही सर्वथा प्रतिरूप हैं।

(७) ब्रह्म अ० १२८, श्लोक २७ मे शिव के ही इन्द्र, मित्र, अग्नि नाम से प्रख्यात होने की बात कही गई है इस पद्य मे—

> **एक एवाद्वयः शम्भुरिन्द्रमित्राग्निनामभिः।**
> **वदन्ति बहुधा विप्रा भ्रान्तोपकृतिहेतवे॥**

यह ऋग्वेद के (१।१६४।४६) प्रख्यात मन्त्र से तात्पर्यत और शब्दत दोनो प्रकार से मिलता है—

> **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्**
> **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥**

(८) ब्रह्म १६१ अध्याय मे पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) के अनेक मन्त्रो का अक्षरश अनुवाद किया गया है। विशेषत. श्लोक ३५ और ३७ तथा ४७-४८ पुरुषसूक्त के प्रख्यात मन्त्रो के शब्दो की छाया लेकर निर्मित हैं।

(९) *ब्रह्मपुराण १७१ अध्याय (श्लोक ३२ तथा ३३)* मे *जुआडी (कितव)* की निन्दा प्राय उन्ही शब्दो मे करता है जिस प्रकार ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त १०।३४ के १०-११ मन्त्रो मे किया गया है, अन्त मे उपदेश देता है कि कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य करना चाहिए। अकैतवी तु या वृत्ति सा प्रशस्ता द्विजन्मनाम् कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यमपि कुर्यान्न कैतवम् (१७१।३६)। कैतव (जुआडी का पेशा) कभी न करना चाहिए—यह उपदेश ऋग्वेद के *'अक्षैर्मादीव्य कृषिमित् कृषस्व'* का ही पद्यान्तर म अनुवाद है।

(१०) हरिश्चन्द्रतीर्थ के प्रसग मे हरिश्चन्द्र का तथा शुन शेप का आख्यान

---

१ ब्रह्मपुराण मे अन्य वैदिक आख्यानो की सत्ता के विषय मे द्रष्टव्य पी वी काणे का लेख—कुन्हनराजा अभिनन्दन ग्रन्थ (अंग्रेजी) मे पृष्ठ ५-८, अड्यार १९४६।

ब्रह्मपुराण के १०४ अध्याय मे प्राय. ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) के ही समान शब्दों में दिया गया है।

नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम (ब्रह्म १०४।७) = नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत् सर्वे पशवो विदु. (ऐत० ब्रा०)

स्कन्दपुराण में

स्कन्दपुराण मे वेदविषयक विपुल सामग्री उपलब्ध होती है[1]। यहा वेद की महिमा के प्रतिपादन के साथ-साथ वेद के अध्ययन की रीति का भी सुस्पष्ट वर्णन है। ध्यान देने की बात है कि वेदाभ्यास केवल वेद के स्वीकार अर्थात् पठनमात्र से सिद्ध नही होता, प्रत्युत उसमे अर्थविचार, अभ्यास, तप तथा शिष्यो को अध्यापन भी क्रमश सम्मिलित बतलाये गये हैं—

श्रुत्यभ्यासः पञ्चधा स्यात् स्वीकारोऽर्थविचारणम्।
अभ्यासश्च तपश्चापि शिष्येभ्यः प्रतिपादनम्॥

—स्कन्द (ब्रह्मखण्ड, उत्तरभाग ५।१४)

वैदिक सूक्तो के तथा उपनिषदो के नाम तथा उल्लेख इस पुराण मे बहुश मिलते हैं। इस पुराण के विभिन्न खण्डों मे पचासों वैदिक मन्त्र तत्तत् स्थलो पर पूजा जप आदि के प्रसंग मे उद्धृत किये गये हैं प्रतीकरूप से ही। कतिपय मन्त्रों का निर्देश इस प्रकार है—

(१) शनो देवी
(२) आपो ज्योति·
(३) चित्र देवानाम्
(४) मधुव्वाता
(५) अग्निमीडे
(६) नमो व पितर·
(७) आपो हि ष्ठा
(८) उद्वय तमसस्परि
(९) सुमित्रिया न:
(१०) मा नस्तोक तनये

मत्स्यपुराण में

मत्स्यपुराण मे नाना वैदिक विधान अनुष्ठान का विस्तृत विवरण है जिनमे वैदिक मन्त्रो का प्रयोग पदे-पदे किया गया है। इस प्रसग मे दो अध्याय विशेष

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० रामशकर भट्टाचार्यः इतिहास-पुराण का अनुशीलन, पृ. २३८-२४६ (काशी, १९६३)

महत्त्व रखते हैं—९२ अध्याय जिस में ग्रहों की शान्ति का विशिष्ट विवरण है तथा २६४ अध्याय, जिसमें देवप्रतिष्ठा का विषय उपनीत है। इन अध्यायों के अनुशीलन से वेदों तथा वैदिक विषयों के प्रति पुराण की गम्भीर आस्था, दृढ़ाग्रह तथा मौलिक आदरभाव का तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है। ९२ अध्याय में ग्रहों की शान्ति का महत्त्वशाली विषय है जो गृहस्थों के जीवन में अपना विशेष गौरव रखते हैं। यहाँ नवग्रह के मन्त्रों के प्रतीक दिये जाते हैं जो इस अध्याय में निर्दिष्ट हैं। यहाँ पूरा मन्त्र न होकर मन्त्र का प्रतीक ही उल्लिखित है। नवग्रहों का हवन निम्न मन्त्रों से करना चाहिए (३३–३७)।

(१) सूर्य का हवनमन्त्र	आकृष्णेन।
(२) सोम	आप्यायस्व।
(३) मंगल	अग्निर्मूर्धा दिवः।
(४) बुध	अग्ने विवस्वदुषसः।
(५) बृहस्पति	बृहस्पते परिदीया रथेन।
(६) शुक्र	शुक्रं ते अन्यत्।
(७) शनैश्चर	शन्नो देवी।
(८) राहु	कया न श्चित्र आभुवः।
(९) केतु	केतुं कृण्वन्।

इसके अनन्तर रुद्र, उमा, विष्णु, स्वयम्भू, इन्द्र, यम, अग्नि, जल, सर्प, विनायक आदि अनेक देवी देवों के बलि देने के मन्त्रों का प्रतीक यहाँ उपस्थित किया गया है (३७–४०)

वैदिक मन्त्रों के अनन्तर **पौराणिक मन्त्रों** का पूर्ण उल्लेख यहाँ मिलता है। एक दो पौराणिक मन्त्र नीचे दिये जाते हैं। ये सरल सुबोध मन्त्र हैं। इनके अर्थ समझने के लिए विशेष प्रयास की अपेक्षा नहीं—

सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः
वासुदेवो जगन्नाथस्तथा संकर्षणो विभुः
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विजयाय ते॥ ५१॥

—मत्स्य०, ९२ अध्याय।

यह अन्तिम मन्त्र चतुर्व्यूहों का निर्देश करता है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व रखता है अर्थात् मत्स्यपुराण की रचना से पूर्व पाञ्चरात्र मत का यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका था। इस प्रकार १५९ श्लोकों का यह बृहद् अध्याय वैदिक

धर्मों के अनुष्ठान से तथा तदुपकारक मन्त्रा—वैदिक तथा पौराणिक से अच्छी तरह पूर्ण है।

मत्स्यपुराण का २६४ अध्याय देवप्रतिष्ठा विधि का वर्णन करता है। वेदी के चारों द्वारों पर चार द्वारपाठ के रखने का विधान है जहाँ प्रतिद्वार पर विभिन्न मन्त्रों के पाठ की व्यवस्था बतलाई गई है (२३-२७)। श्रीसूक्त, पवमानसूक्त, सोमसूक्त, शान्तिकाध्याय, इन्द्रसूक्त, रक्षोघ्नसूक्त, आदि अनेक सूक्तों के पाठ का इस प्रसंग में वर्णन है। इस प्रकार यह समस्त अध्याय वैदिक मन्त्रों के विपुल निर्देश में परिपूर्ण है।

अग्निपुराण में भी वैदिक मन्त्रों का समुल्लेख विभिन्न विधि-विधानों के अवसर पर विनियुक्त किया गया है। उदाहरणार्थ मन्दिर के शिलान्यास के अवसर पर ४१ अध्याय में (५-९ श्लोक) निर्दिष्ट 'आपोहिष्ठा', 'शन्नो देवी' पावमानी ऋचा (ऋग्वेद ९।१।१-१०), 'उदुत्तम वरुणम्' 'कया न' 'वरुणस्य' हंस शुचिषत्', तथा श्रीसूक्त से शिला का न्यास करना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में

मेरी दृष्टि में श्रीमद्भागवत में वैदिक सूक्त तथा मन्त्रों की उपलब्धि इतर पुराणों की अपेक्षा कहीं अधिक है। भागवतके रचयिता वेद के मूर्धन्य ज्ञाता और प्रकाण्ड पण्डित थे। भागवत की प्रशंसा में इस तथ्य का उल्लेख है कि भागवत सब वेदान्त का सार है (सर्ववेदान्तसार हि श्रीमद्भागवतमिष्यते १२।१२।१५) और यह कथन कथमपि अत्युक्तिपूर्ण न होकर वास्तव और यथार्थ है। भागवत में वैदिक सामग्री का सन्निवेश अनेकविधया है। कहीं तो पूरा वैदिक सूक्त ही किंचित् शब्दवैषम्य के, साथ यहाँ निविष्ट है, तो कहीं उपनिषदों के मन्त्रों तथा संहिता के मन्त्रों का यथानुपूर्वी संकलन है।

(क) वैदिक सूक्तों का निर्देश—

(१) पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) = पुरुष पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहित। (भाग० १०।१।२०)

(२) पुरुरवा सूक्त (ऋग्० १०।९५) के अनेक मन्त्रों का अक्षरशः अनुवाद नवम स्कन्ध के ऐलोपाख्यान में उपलब्ध है यथा—

> अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
> मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै॥ ३४॥

यह ऋग्वेद के मन्त्र का ही सुबोध परिवर्तन है।

(३) सरमासूक्त—सरमा और पणि का आख्यान, जिसमें सरमा नामक देवशुनी इन्द्र की गायों के अपहर्ता पणियों को डराकर गायों को छुड़ाने के लिए

दूतकर्म करती है, वेद मे अनेक स्थलो पर उपलब्ध है। यथा ऋग्वेद १।६२।३, १।७२।८ मे। प्रधान कथा १०।१०८ सूक्त मे उल्लिखित है। अथर्व मे भी उल्लेख है ९।४।१६ तथा २०।७७।८=ऋग्० ८।१६।८। बृहद्देवता में भी सरमा के विषय मे ११ श्लोक मिलते हैं। यही कथानक भागवत के पञ्चम स्कन्ध के २४ अ०, ३० गद्य अनुच्छेद मे निर्दिष्ट है जहाँ रसातलके निवासी दैतेय दानव ही 'पणि' नाम से बतलाये गये हैं और इन्द्रदूती सरमा ने मन्त्रवर्णो का उच्चारण कर इन्द्र से इनके हृदय मे भय उत्पन्न कराया था।[1]

(४) ऐतरेय ब्रा० मे निर्दिष्ट **हरिश्चन्द्र का उपाख्यान**, जिसमे शुन शेप की कथा अनुस्यूत है, भागवत के नवम स्कन्ध अध्याय सप्तम मे प्रायः उसी भाषा और शैली मे विद्यमान है।

(५) **पुरुषसूक्त** के विभिन्न मन्त्रो को भागवत ने उन्ही शब्दो मे अपनाया है। मन्त्रो का भाव विभिन्न अध्यायो मे बहुश मिलता है—

(क) **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्र का भाव**
= ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा —२।१।३७
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म —२।५।३७

(ख) **'चन्द्रमा मनसो जात.'**
= मनश्च। स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः। —२।१।३४

(ग) **नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्**
= इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः-आदि श्लोक
—२।१।२९-३३

(ख) उपनिषदों के सिद्धान्त का प्रतिपादन

उपनिषदो के सिद्धान्तो को श्रीमद्भागवतने अनेक स्थलो पर स्वायत्त किया है। भागवत ने वेद, साङ्ख्ययोग तथा सात्वत तन्त्र के साथ उपनिषदो को भी हरि के माहात्म्य के प्रतिपादक ग्रन्थो मे गिना है[2]। उसकी दृष्टि मे ये चारो समभावेन भगवान् के ही गुणानुवादमे अपनी चरितार्थता सिद्ध करते हैं। अन्यत्र (१०।१३।५४) भागवत ने उपनिषद् के अध्ययन करनेवाले पुरुषो का उल्लेख किया है। ५।१८।३४ में उत्तरकुरु वर्णन-प्रसंग मे यज्ञवाराहरूपधारी भगवान्

---

१. ततोऽधस्ताद् रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम ·· ये वै सरमयेन्द्र-दूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद् बिभ्यति —भाग० ५।२४।३०

२ त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगेन सात्वता।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम् ॥
—भाग० १०।८।४५

की चर्चा है जहाँ उनके विषय में अनेक श्लोकों को 'उपनिषद्' की संज्ञा से संकेतित किया जाता है[1]। इतना ही नहीं, भागवत शैवतन्त्र से सम्बद्ध रहस्य ग्रंथों को भी 'उपनिषद्' नाम से पुकारता है। भागवत के, शिवस्तुति में प्रयुक्त, एक श्लोक[2] का तात्पर्य है—सद्योजात आदि पाँच उपनिषद् ही तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव तथा ईशान नामक पाँच मुख हैं भगवान् शिव के। इन्हीं के पदच्छेद से अड़तीस कलात्मक मन्त्र निकले हैं। जब आप समस्त प्रपंच में उपरत होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, तब उसी स्थिति का नाम होता है—शिव'। वास्तव में यही स्वयंप्रकाश परमतत्त्व है। बृहदारण्यक आदि प्रख्यात उपनिषदों के तत्त्व भागवत में कहाँ और किस प्रकार गृहीत हैं—यह विषय अन्यत्र विवेचित होगा।

पुराणों में पौराणिक मन्त्र

वैदिक मन्त्रों का धार्मिक विधि विधानों में पुराणों ने अत्यन्त उपयोग किया, परन्तु साथ ही साथ पौराणिक मन्त्रों का भी प्रयोग उचित माना गया। यह बात ईस्वी सन् से आरम्भ के आसपास अथवा उससे एक दो शताब्दी पीछे सम्पन्न हुई—ऐसा मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता। याज्ञवल्क्य ने अपने स्मृति ग्रन्थ में श्राद्ध के अवसर पर ऋग्वेद का प्रख्यात मन्त्र उल्लिखित किया है जिसमें पितृगणों को श्राद्ध में पधारने का निमन्त्रण दिया गया है और कुश के ऊपर बैठने की प्रार्थना है। इस पर मिताक्षरा (लगभग ११०० ई०) का कथन है कि इस अवसर पर—

> 'आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः।
> ये तर्पणेऽत्र विहिताः सावधाना भवन्तु ते'॥

इस पौराणिक मन्त्र का भी प्रयोग वैदिक मन्त्र के संग साथ में अवश्य करना चाहिए। वायु (७४।१५–१६) तथा ब्रह्माण्ड (तृतीय खण्ड, ३।१७-१८) में श्राद्ध के अवसर पर इस प्रसिद्ध पौराणिक मन्त्र का उल्लेख किया

---

१ ···इमां च परमामुपनिषदमावर्तयति। ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वराध्यवयाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते॥

—भाग० ५।१८।३५-३६

२ मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः।
यत् तद् शिवाख्यं परमार्थतत्त्वं
देव स्वयं ज्योतिरवस्थितिस्ते। —भाग० ८।७।२९

गया है जिसे श्राद्ध के आरम्भ मे तीन बार और अन्त मे भी यजमान द्वारा तीन बार उच्चारण करने का विधान है—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च ।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवन्त्युत ॥

इस मन्त्र के अन्त मे 'नित्यमेव नमो नम.' पाठ भी मिलता है। मिताक्षरा की इस पर टिप्पणी है कि किन्ही के मत मे शूद्रो को भी इसका पूजानुष्ठान मे पाठ करने का अधिकार है परन्तु अन्य आचार्यों के मत मे शूद्रो को केवल 'नमः' कहने से कार्यसिद्धि होती है। पूरे मन्त्र के पढने की आवश्यकता नही।

श्राद्ध तथा तर्पण के अवसर पर ही उभयविध मन्त्रो का प्रयोग अभीष्ट नही है, प्रत्युत अभिषेक के समय मे भी ऐसे मन्त्र प्रयुक्त किये जाते थे। अग्निपुराण (२१८ अ०) ने ७० पौराणिक मन्त्रो का उल्लेख किया है जो अभिषेक के अवसर पर नियमतः प्रयुक्त किये जाते थे। विष्णुधर्मोत्तर के द्वितीय खण्ड २१ अ० मे राज्याभिषेक के लिये उपयुक्त वैदिक मन्त्रो के प्रयोग का विधान है तथा उसी खण्ड के अग्रिम २२ अध्याय मे १८४ पौराणिक मन्त्रो का भी साथ-साथ पाठ न्याय्य बतलाया गया है। मध्ययुगीय अनेक निबन्धकारो ने विष्णुधर्मोत्तर के इन्ही पौराणिक मन्त्रो मे से कतिपय मन्त्रो को अपने निबन्ध-ग्रन्थो मे उद्धृत किया है।

धीरे-धीरे पुराण का प्रभाव भारतीय समाज के ऊपर बढता गया और एक समय ऐसा आया जब वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा पौराणिक कृत्यो का अनुष्ठान ही श्रेयस्कर माने जाने लगा। ऐसी स्थिति का परिचय पद्मपुराण तथा नारदीय पुराण के कथनो से हमे भली भाँति मिलता है। पद्मपुराण मे धनशर्मा नामक एक वैदिक ब्राह्मण की कथा दी गई है जिनके पिता वेद मे निष्णात थे, परन्तु वैशाख मे विहित स्नान न करने के कारण उन्हे प्रेतयोनि प्राप्त हुई थी। इस अवसर पर उन्होने पुराण-महिमा का प्रतिपादन कर वेद से भी अधिक लाभकारी और उपादेय पुराण को ही बतलाया[1] गया।

---

१. उनके उद्गार सुनने लायक हैं—
मया केवलमेकैव श्रौतमार्गानुसारिणा ।
उद्दिश्य माधव देव न स्नात मासि माधवे ॥
वैदिक केवल कर्म कृतमज्ञानतो मया ।
पापेन्धनदवज्वालापापद्रुमकुठारिका ॥
कृता नैकापि वैशाखी विधिना वत्स ! पूर्णिमा ।
अव्रता यस्य वैशाखी सोऽवैशाखो भवेन्नरः ।
दश जन्मानि च स ततस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥
—पद्म, ४ खंड, ९४ अ.

नारदीय पुराण वेद, स्मृति तथा पुराण के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे बडा ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करता है। इन तीन धार्मिक ग्रन्थो के विषय तथा क्षेत्र के विभाग को दिखलाते हुए यह कहता है—वेद का क्षेत्र भिन्न भिन्न है। वेद का प्रधान क्षेत्र है यज्ञ कर्म का सम्पादन—इसी कार्य मे वेद का महनीय तात्पर्य है। गृहाश्रमियो के लिए स्मृति ही वेद है अर्थात् गृहस्थ के आचार-व्यवहार आदि मे ज्ञान का प्रकाशक धर्मस्मृति ही है। ये दोनो प्रकार के ग्रन्थ पुराण मे केन्द्रित रहते हैं। जिस प्रकार यह आश्चर्यमय जगत् उस पुराण पुरुष (अर्थात् भगवान् नारायण) से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार समस्त वाङ्मय—विस्तृत अर्थ मे साहित्य—पुराण से ही उत्पन्न हुआ है, इसमे तनिक भी सशय नही है। वेद के अर्थ (तात्पर्य) से मैं पुराण के अर्थ (अभिप्राय) को अधिक (विस्तृत अथवा श्रेष्टतर) मानता हूँ। पुराण की सहायता वेद भी अपने रहस्य के उपबृहण के निमित्त सर्वदा चाहता है। वह अल्प शास्त्रों के ज्ञाता से सदा डरा करता है कि वह मुझे मार न डाले'। नारदीय के ये कथन बडे महत्त्व तथा गम्भीर अर्थ के प्रकाशक है। नारदीय के इन पद्यो मे पुराण तथा वेद के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना है। इनमे सबसे भव्य श्लोक वह है जो वेद के अर्थ से पुराण के अर्थ को कही अधिक मानता है और इसीलिए समग्र वेदो को पुराणों मे ही प्रतिष्ठित स्वीकारता है—

> वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
> वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा॥

—नारदीय २।२४।१७

इस सिद्धान्त की पुष्टि मे इस पुराण का कथन यह है कि वेद मे ज्योतिष सम्बन्धी व्यावहारिक बातो का सर्वथा अभाव है। कौन तिथि कब होती है? दो एकादशी होने पर कौन ग्राह्य होगी? इत्यादि तिथिनिर्णय और काल-

---

> बहु शास्त्र समभ्यस्य बहून् वेदान् सविस्तरान्।
> पुसोऽश्रुतपुराणस्य न सम्यग्याति दर्शनम्।

—तत्रैव १०५।१३

१. शृणु मोहिनि ! मद् वाक्य वेदोऽत्र बहुधा स्थित ।
यज्ञकर्म क्रिया वेद स्मृतिर्वेदो गृहाश्रमे॥
स्मृतिर्वेदः क्रिया वेद. पुराणेषु प्रतिष्ठित'।
पुराणपुरुषाज्जात यथेद जगदद्भुतम्
तथेद वाङ्मय सर्वं पुराणेभ्यो न सशयः॥

—नारदीय पुराण, २।२४।१५-१६

शुद्धि का विषय पुराण मे ही सर्वथा विवेचित है। इसलिए पुराण की महिमा वेद से कहीं अधिक है।[1] इसी स्वर मे देवी भागवत की यह प्रख्यात उक्ति है—

> श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
> एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्॥
>
> —११।१।२१

श्रुति-स्मृति तो नेत्र है, परन्तु पुराण हृदय है धर्म-पुरुष का। इससे बढ़ कर पुराण की महिमा क्या हो सकती है?

---

१. न वेदे ग्रहसचारो न शुद्धि कालबोधिनी।
तिथिवृद्धि क्षयो वापि पर्वग्रहविनिर्णय॥
इतिहासपुराणैस्तु निश्चयोऽयं कृत पुरा।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत् सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणै प्रणीयते॥

—नारदीय २।१२।१८-२०

(३)

पुराण और शूद्र

पुराण की रचना सार्ववर्णिक है। पुराण का लक्ष्य भारतीय समाज के अन्तर्गत विराजमान प्रत्येक वर्ण के कल्याण तथा उद्धार की भव्य भावना है। वेद के गम्भीर रहस्यो को लौकिक बोधगम्य भाषा मे सरस-सुबोध शैली के द्वारा जनहृदय तक सरलता मे पहुँचा देना ही पुराण के मुख्य उद्देश्यो मे अन्यतम उद्देश्य है। वेद की भाषा स्वय दुरूह है और कालक्रम से जब उसके समझनेवालो की संख्या पण्डित-समाज मे भी न्यून हो चली, तब यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि वेदो के उपदेश, जो गम्भीररूप से संहिता तथा उपनिषदो मे निबद्ध हैं, भारतीय प्रजा के सामने रखे जाँय जिससे उमे सदाचार की शिक्षा मिले, भारतीय समाज का उन्नयन हो तथा समाज के भीतर पाप की प्रवृत्ति का उन्मूलन या ह्रास सम्पन्न हो और जनसाधारण ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक कल्याण को पाकर अपना इहलोक तथा परलोक दोनो को सुधारें। कहना न होगा कि पुराणो का यह उद्देश्य पूर्णमात्रा मे चरितार्थ हुआ। आज कल भारत मे जो कुछ भी धर्म मे अभिरुचि दीख पडती है, लोगो मे जो धार्मिकता का अवशेष आज भी बचा-खुचा है, यह सब पुराण के ही व्यापक प्रभाव का अभिव्यक्त परिणाम है।

कालान्तर में बौद्ध धर्म का जन्म हुआ। तथागत बुद्ध ने अपने धर्म का—अष्टांगिक मार्ग का—प्रचार समाज के समग्र वर्गों के लिए किया, परन्तु समाज के दलित वर्ग—धर्म तथा धर्म के उग्र आचारो से उत्पीडित वर्ग के प्रति उसका आकर्षण बडा जोरदार था। वैदिक समाज के अनेक बन्धनो को शिथिल कर गौतम बुद्ध ने जो धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न की, वह पूर्व समाज के समग्र वर्गों को, विशेष कर शूद्रो को, अपनी लपट मे इतनी तेजी से बाँधने म समर्थ हुई कि देखते ही इतने समाज की अधिकाश जनता बुद्ध धर्म मे बिलकुल मिल गई और जो न भी मिली तो उसकी अभिरुचि, सहानुभूति तथा झुकाव उस धर्म के प्रति नि सन्देह हो गया। अशोक तथा कनिष्क जैसे राजाओ का आश्रयप्रदान इस धर्म के परिबृंहण का मुख्य हेतु बन गया। इन बौद्ध राजाओ ने तथागत के नैतिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी सारी राजकीय शक्ति लगा दी। दूर-दूर विदेशो मे बौद्ध भिक्षु भेजे गये जिन्होंने विषम परिस्थिति मे भी अपने व्यक्तिगत सुख-सौख्य का बिना विचार किये धर्म-प्रचार के पावन कार्य में अपने आप को गला दिया। फल यह हुआ कि जिस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतवर्ष के कोने-कोने को अपने प्रभावक्षेत्र के भीतर

स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥
—१।४।२५

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक को मित्र मिश्र ने 'परिभाषा प्रकाश' में उद्धृत किया है तथा उसके ऊपर यह टिप्पणी भी लिखी है—वेदकार्यकारित्वादगमाद् भारतस्य वेदकार्यात्मज्ञान-कारित्वसिद्धि (परिभाषाप्रकाश पृ० ३७)। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि महाभारत वैदिक कार्यों के सम्पादन का वर्णन करता है और इसीलिए वेद से उत्पन्न जो आत्मज्ञान है उसके उत्पादन की भी सिद्धि उससे अवश्यमेव होती है। फलत महाभारत के श्रवण से स्त्री शूद्रादिको को आत्मज्ञान की और तज्जन्य मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव होती है—भागवत के वचन का यही स्वारस्य है। देवी भागवत भी भागवत के पूर्वोक्त कथन की ही पुष्टि करता है—

स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥
—देवीभाग० १।३।२१

भागवत के पद्य में भारत की रचना का जो हेतु बतलाया गया है, देवी भागवत की दृष्टि में पुराणों के प्रणयन का भी वही हेतु है। फलत इतिहास तथा पुराण दोनों की रचना का एक ही समान उद्देश्य है—वेद से वर्जित प्राणियों के लिए वेदप्रतिपाद्य आत्मज्ञान तथा मुक्ति प्राप्ति की शिक्षा। त्रयी (=वेदत्रयी) जिन व्यक्तियों की श्रुतिगोचर नहीं होती (अर्थात् जिन्हें वेद के श्रवण का अधिकार नहीं है) ऐसे व्यक्तियों में स्त्री की गणना प्राथम्येन की गई है। तदनन्तर शूद्रों की तथा सबके अन्त में उन द्विजो की जो जन्मना द्विज है, परन्तु कर्मणा नहीं। अर्थात् जन्मना द्विज होने पर भी जो द्विज के कर्म से हीन हैं उन्हे श्रुति के सुनने का अधिकार नहीं है। पुराण में इसी त्रयी के मन्त्रों का स्थलविशेष पर प्रतीक रूप से या पूर्णरूप में उल्लेख है। फलतः पुराणों के साथ शूद्र का सम्बन्ध एक अन्वेषणीय विषय है। इस विषय की मीमांसा पुराण तथा धर्मशास्त्र दोनों शास्त्रों ने अपनी दृष्टि से की है।

प्रथमत पुराणीय मीमांसा पर ध्यान देना आवश्यक है। भविष्य पुराण का यह प्रख्यात वचन शूद्रों को पुराण के अध्ययन का अधिकार नहीं देता, केवल श्रवण का ही अधिकार देता है। अर्थात् शूद्र स्वयं पुराण का पाठ नहीं कर सकता, ब्राह्मण द्वारा पठ्यमान पुराण का वह केवल श्रवण कर सकता है। यह वचन[1] इस प्रकार है—

---

[1] इस वचन का उल्लेख श्री राधामोहन गोस्वामी ने भागवत सन्दर्भ की अपनी व्याख्या में किया है पृ० ३० (कलकत्ता सं०)

खींच लिया, उसी प्रकार भारत के बाहरी देशों में भी वह पुष्पित तथा फल-भार से सम्पन्न बन गया। इस बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव को खर्व करना जिससे जनता ब्राह्मण धर्म के आस्तिकवाद की ओर झुके तथा वैदिक धर्म का आश्रय ग्रहण करे, पुराण का व्यापक और महत्त्वशाली कार्य था।

वैदिक धर्म के उन्नायक भट्ट कुमारिल भली भाँति जानते थे कि शूद्र ही बौद्ध धर्म के विशिष्ट अनुयायी हैं जब वे कहते है—'शाम (बुद्ध) आदि के समस्त वचन, केवल दम, दान, विषयक वचनों को छोड देने पर, समस्त चौदह विद्यास्थानों से विरुद्ध हैं। ये वचन वेदमार्ग को छोड कर विरुद्ध आचरण करने वाले बुद्ध आदिकों के द्वारा प्रचारित किये गये है। ये उपदेश उन लोगों को समर्पित किये गये हैं जो व्यामूढ हैं, जो तीनों वेद के द्वारा प्रतिपादित धर्म के क्षेत्र से बहिर्भूत है तथा जो मुख्यतः चतुर्थ वर्ण (शूद्र) के अन्तर्गत है तथा अन्य जो समाज से नितान्त बहिष्कृत किये गये हैं'। इस प्रकार सप्तम शती मे समाज का जो चित्र ऊपर कथन मे कुमारिल भट्ट ने खींचा है, वह वैदिक समाज की दृष्टि से कथमपि उपेक्षणीय नही था। वैदिक धर्म के उन्नायकों ने इन बौद्धानुयायी शूद्रों को अपने समाज मे फिर खींचकर लाने का जो अश्रान्त उद्योग किया, उसका पूर्ण परिचय पुराणों के अनुशीलन से भली भाँति चलता है। इस कार्य की सिद्धि के लिए विद्वानों ने हजारों की संख्या म पौराणिक मन्त्रों का निर्माण किया तथा पुराणो मे वैदिक मन्त्रों के संग मे इन मन्त्रों का भी सन्निवेश प्रस्तुत किया।

पुराणों के साथ शूद्रों का किंरूप सम्बन्ध है? वेदमन्त्रों से पुराणों का कलेवर शून्य नही है, इसका सप्रमाण प्रतिपादन पहिले ही किया गया है। वेद के पठन तथा श्रवण मे शूद्रों का अधिकार कथमपि नही है—इस तथ्य का प्रतिपादन प्राय सर्वत्र धर्मशास्त्र तथा पुराण मे समभावेन किया गया है। श्रीमद्भागवत का यह प्रसिद्ध-वचन इसी सिद्धान्त का सर्वथा पोषक माना जा सकता है—

---

१ शामादिवचनानि तु कतिपयदमदानानि वचनवर्जं सर्वाण्येव समस्त-चतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्य समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन सम्भाव्यन्ते।

—जै० सू० १।३।४ पर तन्त्रवार्तिक।

कुमारिल ने यहाँ 'निरवसित' पद का प्रयोग पाणिनिदत्त अर्थ मे किया है—शूद्राणामनिरवसितानाम् २।४।१० तथा इस सूत्र का भाष्य द्रष्टव्य।

स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

—१।४।२५

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक को मित्र मिश्र ने 'परिभाषा प्रकाश' में उद्धृत किया है तथा उसके ऊपर यह टिप्पणी भी लिखी है—वेदकार्यकारित्वावगमाद् भारतस्य वेदकार्यात्मज्ञान-कारित्वसिद्धि (परिभाषाप्रकाश पृ० ३७)। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि महाभारत वैदिक कार्यों के सम्पादन का वर्णन करता है और इसीलिए वेद से उत्पन्न जो आत्मज्ञान है उसके उत्पादन की भी सिद्धि उससे अवश्यमेव होती है। फलत महाभारत के श्रवण से स्त्री शूद्रादिको को आत्मज्ञान की और तज्जन्य मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव होती है—भागवत के वचन का यही स्वारस्य है। देवी भागवत भी भागवत के पूर्वोक्त कथन की ही पुष्टि करता है—

स्त्री शूद्र द्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥

—देवीभाग० १।३।२१

भागवत के पद्य में भारत की रचना का जो हेतु बतलाया गया है, देवी भागवत की दृष्टि में पुराणों के प्रणयन का भी वही हेतु है। फलत इतिहास तथा पुराण दोनों की रचना का एक ही समान उद्देश्य है—वेद से वर्जित प्राणियों के लिए वेदप्रतिपाद्य आत्मज्ञान तथा मुक्ति प्राप्ति की शिक्षा। त्रयी (=वेदत्रयी) जिन व्यक्तियों को श्रुतिगोचर नहीं होती (अर्थात् जिन्हें वेद के श्रवण का अधिकार नहीं है) ऐसे व्यक्तियों में स्त्री की गणना प्राथम्येन की गई है। तदनन्तर शूद्रों की तथा सबके अन्त में उन द्विजों की जो जन्मना द्विज हैं, परन्तु कर्मणा नहीं। अर्थात् जन्मना द्विज होने पर भी जो द्विज के कर्म से हीन हैं उन्हें श्रुति के सुनने का अधिकार नहीं है। पुराण में इसी त्रयी के मन्त्रों का स्थलविशेष पर प्रतीक रूप से या पूर्णरूप से उल्लेख है। फलत पुराणों के साथ शूद्र का सम्बन्ध एक अन्वेषणीय विषय है। इस विषय की मीमांसा पुराण तथा धर्मशास्त्र दोनों शास्त्रों ने अपनी दृष्टि से की है।

प्रथमत पुराणीय मीमांसा पर ध्यान देना आवश्यक है। भविष्य पुराण का यह प्रख्यात वचन शूद्रों को पुराण के अध्ययन का अधिकार नहीं देता, केवल श्रवण का ही अधिकार देता है। अर्थात् शूद्र स्वयं पुराण का पाठ नहीं कर सकता। ब्राह्मण द्वारा पठ्यमान पुराण का वह केवल श्रवण कर सकता है। यह वचन[1] इस प्रकार है—

---

[1] इस वचन का उल्लेख श्री राधामोहन गोस्वामी ने भागवत सन्दर्भ की अपनी व्याख्या में किया है पृ० ३२ (कलकत्ता स०)

अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥

प्रायश्चित्तविवेक मे उद्धृत पाद्म का यह श्लोक जो स्वय सूत की उक्ति है, पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण है। सूत का वचन है कि वेद मे किसी भी शूद्र का अधिकार नही है तब मुझे वेद-तुल्य पुराण मे अधिकार कैसे ? मुझे यह अधिकार अर्थात् पुराण के पठन-पाठन, पठन-प्रवचन का अधिकार ब्राह्मणो के द्वारा दिखलाया गया है अन्यथा शूद्र होने के नाते मुझे भी पुराण मे अधिकार नही था—

न हि वेदेष्वधीकार. कश्चित् शूद्रस्य जायते ।
पुराणेष्वधिकारो मे दर्शितो ब्राह्मणैरिह ॥

तथ्य तो यह है कि सूत विलोमजात प्राणी होता है—'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूत इस स्मृतिवचन के अनुरोध से क्षत्रिय पिता की ब्राह्मण माता मे उत्पन्न सन्तान 'सूत' कहा जाता है। फलत सूत का अधिकार वेदश्रवण मे कथमपि नही। इसकी पुष्टि शौनक ऋषि के इस कथन से स्पष्टत होती है—

मन्ये त्वां विषये वाचा स्नातमन्यत्र छान्दसात्

—भाग० १।४।१३

शौनक के कथन का अभिप्राय है कि सूत वेद को छोड कर अन्य वचनो मे सर्वथा निष्णात अर्थात् कुशल थे। परन्तु पुराणो के वे वक्ता थे। इस विप्रतिपत्ति का उत्तर वे स्वय देते हैं भागवत के प्रथम स्कन्ध के[1] दो श्लोको मे। सूत के कथन का साराश यही है कि विलोमजात होने पर भी आज ही हमारा जन्म इसी कारण सफल हुआ कि शौनक आदि महर्षियो की मुझ मे आदर बुद्धि उत्पन्न हुई (वृद्धानुवृत्त्या)। मुझे उन्होने आदर देकर कथाश्रवण करने, भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक की लीला का गुण-गान करने के निमित्त वक्ता के रूप मे वरण किया। लोक मे यह बहुश प्रत्यक्ष है कि महान् पुरुष के साथ सभाषण का योग ही नीच कुल मे उत्पन्न होने से जायमान मानसिक

---

१. अहो वय जन्मभृतोऽद्य हास्म
वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाता ॥
दौष्कुल्यमाधि विधुनोति शीघ्र
महत्तमानामभिधान योग ।
कुत पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहु ॥

पीडा को दूर भगा देता है। ऐसे महान् पुरुषो के भी आराध्य तथा सेवनीय, अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवान् अनन्त के नाम के कीर्तन से मेरी यह आधि एकदम दूर भाग गई है, इस विषय मे बहुत कहने की क्या आवश्यकता है? नहीं, कभी नहीं। श्रीमद्भागवत (१२।१२।६४) का (अधीत्य) शूद्र शुध्यति पातकात्' वचन[1] (अर्थात् शूद्र पुराण के पठन से पातक से शुद्ध हो जाता है) पूर्वोक्त कथन से स्पष्टत विरुद्ध होने से अपनी सगति चाहता है। इसकी सगति टीकाकारो ने 'अधीत्य' पद को अन्तर्भावित ण्यर्थक क्रिया मानकर पाठयित्वा' अर्थ देकर की है अर्थात् शूद्र को ब्राह्मण द्वारा पुराण पढवा कर सुनने का अधिकार है, स्वय पढने का नही। इसी तथ्य का समर्थन अन्यत्र भी प्राप्त है। मध्वाचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य मे 'व्योम संहिता'[2] मे कतिपय पद्य उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य है कि भगवान् की भक्ति से सम्पन्न, अन्त्यज—शूद्र से भी नीच जाति मे उत्पन्न व्यक्ति—को भगवान् के नाम तथा ज्ञान का, अधिकार प्राप्त है। स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओ को वेद से इतर धर्मग्रन्थो अर्थात् तन्त्र आदि के ज्ञान मे अधिकार है, परन्तु ग्रन्थपुरःसर नहीं, केवल एकदेश मे—मन्त्र तथा पूजा आदि मे ही।

निष्कर्ष यह है कि पुराण शूद्र को स्वय पुराण के श्रवणमात्र का ही अधिकार देता है, पठन का नहीं। वह पुराण के वाचन को ही सुन सकता है, स्वय उसका वाचन या पठन नहीं कर सकता।

पुराणो की आलोचना का समर्थन शकराचार्य जैसे आत्मवेत्ता वेदान्त-प्रतिष्ठापक आचार्य के द्वारा भी किया गया है। शकराचार्य ने (शारीरक भाष्य १।३।३८) बडी सावधानी से शूद्रो को वेदाधिकार का निषेध किया है अवश्य, परन्तु वे उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति करने से कभी निषेध नहीं करते। इस विषय मे उन्होंने विदुर तथा धर्मव्याध का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जो

---

१ विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञा राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्व च शूद्र शुध्यति पातकात्॥
—भाग० १२।१२।६४।

२ अन्त्या अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिण।
स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूना तन्त्र ज्ञानेऽधिकारिता॥
एकदेशोपरक्ते तु न तु ग्रन्थपुरःसरे।
त्रैवर्णिकाना वेदोक्त सम्यग् भक्तिमता हरौ।
—व्योमसहिता

भागवतसन्दर्भ की श्रीराधामोहन गोस्वामी कृत टीका मे उद्धृत वचन पृ० ३३

इस जन्म मे शूद्र योनि मे अवश्य उत्पन्न हुए थे परन्तु पूर्व जन्म के सस्कार उनमे जागरूक थे—पूव जन्म मे वे उच्च योनि म उत्पन्न होकर शुभकर्मों के निष्पादक थे। उसी सस्कार के वश इस योनि मे उन्हे आत्मज्ञान का उदय हुआ और तज्जन्य मोक्ष की – ससार से आवागमन की मुक्ति की—उन्हे सद्य प्राप्ति हुई इसका निषेध कथमपि नही किया जा सकता। शकर की दृष्टि मे शूद्रो का इतिहास-पुराण के श्रवण करने का पूरा अधिकार है क्योकि श्रावयेच्चतुरो वर्णान् के नियम से इतिहास पुराण के श्रवण मे चारो वर्णों का अधिकार है और इस प्रकार वे आत्मा का ज्ञान तथा तन्निष्पन्न मोक्ष की उपलब्धि अवश्यमेव कर सकते है। आचाय के वचन इस प्रकार है

येषा पुन पूर्वकृतसंस्कारवशाद्-विदुर-धर्मव्याध-प्रभृतीना ज्ञानोत्पत्ति, तेषां न शक्यते फलप्राप्ति प्रतिषेद्धुं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारश्रवणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकार शूद्राणामिति स्थितम्।

—ब्र० सू० १।३।३८ पर शा० भा०

'अन्तरा चापि तद्दृष्टे ३।४।३६ के भाष्य मे आचाय ने रैक्व तथा वाचक्नवी का दृष्टान्त वतमान रहन से आत्मविद्या मे अधिकार सम्पन्न होता है इस तथ्य के समथन म दिय है रैक्व वाचक्नवी प्रभृतीनामेव भूतानामपि ब्रह्मवित्वश्रुत्युपलब्धे। यहा वाचक्नवी स्त्री थी जिसके चरित का वणन बृहदा उप० (३।६।१ ३।८।१) म विनिरूपण दिया गया है। महाभारत स्वय इस तथ्य का समथन बहुश करता है कि यह चारो पुरुषार्थों के साधना का वणन करता है। धम अथ तथा काम की प्राप्ति के समान ही मोक्ष की प्राप्ति कराता है और इसलिए मोक्ष के इच्छुको के द्वारा ब्राह्मण राजा तथा गर्भिणी स्त्रिया के द्वारा इसका श्रवण सवदा करना चाहिए—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
जया नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता॥

—स्वर्गा० पव ५।८०-५१

पुराण तथा शूद्र के सम्बन्ध की मीमासा मध्ययुगीय निब धकारो ने की है जिसका विशिष्ट चर्चा कानेमहोदय ने अपन ग्रन्थ म भली भाति की है। धमशास्त्रीय ग्रन्थो के द्वारा बौद्धधम के मनोरम तथा हृदयावर्जक क्षेत्र के भीतर जीवन यापन करनेवाले शूद्रो का यहा म निकाल कर वैदिक धम में पुन सम्मिलित

करने की विषम समस्या थी। इस समस्या का समाधान पुराण के नवीन संस्करण बना कर किया गया, लेखक का यह परिनिष्ठित मत है। इसी कार्य के लिए पुराण का प्रणयन हुआ—यह मत समीचीन नहीं क्योंकि पुराण की प्राचीनता इस युग से पूर्व थी जिसका प्रतिपादन किसी पहिले परिच्छेद में सप्रमाण किया गया है। प्राचीन पुराण में ये नवीन संस्करण तथा कतिपय नूतन पुराणों का प्रणयन दो उद्देश्यों को लेकर सप्तम अष्टम शती में किया गया। पहिला उद्देश्य था जैन तथा बौद्धधर्मों के वृद्धिशील प्रभाव को रोकना अर्थात् उनके सिद्धान्तों को आत्मसात् कर वैदिकधर्म में उन लोभनीय तथ्यों की सत्ता उत्पन्न करना। दूसरा उद्देश्य था कि बुद्धधर्म के अनुयायी जनों को, जो अधिकतर शूद्र तथा अन्त्यज थे, अपनी ओर आकृष्ट करना। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि में पुराण विशेषरूपेण सफल तथा कृतकार्य हुए। और आज हिन्दूधर्म का जो लोकप्रिय स्वरूप वर्तमान है, वह पुराणों के ही व्यापक प्रभाव का महनीय परिणाम है।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में निबन्धकारों ने शूद्रों की समस्या का समाधान किया। काणे का कथन है कि प्राचीन निबन्धकारों में शूद्रों को सन्तुष्ट करने की भावना कुछ मात्रा में थी और इसलिए उन्होंने उस भावना के अनुकूल विशेष उदार वृत्ति का परिचय दिया। श्रीदत्त (पितृभक्ति, समय-प्रदीप आदि ग्रन्थों के प्रणेता—समय १२७५ ई०—१३१० ई० लगभग) का कथन है कि शूद्र पौराणिक मन्त्रों का धार्मिक कृत्यों में स्वयं उच्चारण कर सकता है, परन्तु पुराण का श्रवण ब्राह्मण द्वारा ही कर सकता है, स्वयं उसका पाठ नहीं कर सकता। यह निर्णय उदार वृत्ति का परिचायक है। कमलाकर (निर्णयसिन्धु के लेखक, समय १६१०–१६४० ई० के आसपास) का समय श्रीदत्त से तीन शताब्दियाँ पीछे है। इस युग में शूद्र हिन्दू समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। अब प्राचीन सन्तुष्टि भावना का सर्वथा ह्रास हो गया था। फलतः कमलाकर की भावना उग्र तथा कठोर है और इसीलिए उन्होंने अपने 'शूद्र कमलाकर' नामक एतद्विषयक ग्रन्थ में शूद्रों के विषय में अपना विशिष्ट मत दिया है—(क) शूद्र धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मन्त्रों का स्वयं प्रयोग नहीं कर सकता, प्रत्युत उसे यह कार्य किसी ब्राह्मण द्वारा ही कराना न्याय्य है (यह मत श्रीदत्त से एकदम विपरीत तथा विरुद्ध है)। (ख) शूद्र ब्राह्मण द्वारा पुराण का पाठ सुन सकता है, स्वयं पाठ नहीं कर सकता। इस निर्णय में

---

१ द्रष्टव्य काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड ५ भाग २, पृष्ठ ९२४–९२७।

वैदिक मन्त्रो से सम्पन्न पुराणो के शूद्रो द्वारा उपयोग किये जाने की समस्या का समाधान निबन्धकारो ने भली भाति कर दिया।

प्रश्न है क्या शूद्रो के लिए ही पुराण की उपयोगिता थी ? उत्तर है—नही, द्विजो के लिए भी उसकी उपयोगिता उसी प्रकार मान्य थी। इस तथ्य की अभिव्यक्ति अनेक पुराण-वचनो से वैशद्येन होती है। फलत मध्ययुग मे पुराण का बोलबाला था और भारत के समग्र समाज तथा समस्त वर्ण इसी का उपयोग धार्मिक कृत्यो मे करते थे। वेद के दुर्बोध तथा दुर्ज्ञेय होने से तत्प्रतिपाद्य विधि-विधानों का अब ह्रास हो गया और वदिक मन्त्रो के स्थान को पौराणिक मन्त्रो ने ले लिया। उदाहरणार्थ नव ग्रह की पूजा के लिए वैदिक मन्त्रो के स्थान पर नवीन पौराणिक मन्त्रो का अब प्रयोग होने लगा। आज के प्रचलित धर्मकाण्ड की पद्धति मे धार्मिक कृत्यो मे पौराणिक मन्त्रो का प्रयोग अधिकतर पाया जाता है, वैदिक मन्त्रो के सह-प्रयोग की प्रथा वेद-ज्ञान के ह्रास के कारण आज कल नामशेष रह गई है।

वेदार्थ का उपबृंहण

पुराण में वेद के अर्थ का उपबृंहण है। यह तथ्य महाभारत काल में अवश्य प्रादुर्भूत हो गया था, क्योंकि महाभारत में इस तथ्य के साधक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। महाभारत (१।१।८६) का स्पष्ट कथन है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र ने श्रुति की चाँदनी को प्रकाशित किया —

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता ।

वह प्रख्यात श्लोक जिसमें इतिहास पुराण के द्वारा वेदार्थ के उपबृंहण करने का उपदेश है, कि अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद सर्वदा डरा करते हैं कि कहीं वह उस प्रहार न करे (या दूसरे पाठ के अनुसार प्रतारण न करे = ठग न लेवे) मूलतः महाभारत का ही है और अन्य पुराणों में सम्भवतः पीछे उद्धृत किया गया है। वह विश्रुत श्लोक है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥ —(प्रतरिष्यति)

'उपबृंहण' शब्द का अर्थ है किसी तथ्य की पुष्टि करना तथा उसका विस्तार करना। बृंह धातु का मुख्य अर्थ वर्धन ही तो है। फलतः वेद के मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का सिद्धान्त का तथा तथ्य का विस्तार तथा पोषण पुराणों के श्लोकों में किया गया है। पूर्वोक्त श्लोक का यही तात्पर्य समझना चाहिए। श्रीमद्भागवत ने अपने को इसी परम्परा के भीतर अन्तर्भुक्त माना है। भागवत ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में अपने-आप को वेदार्थ का प्रतिपादक माना है। भागवतने अपने को निगम-कल्पवृक्ष का गलित सुपरिपक्व, अत एव मधुरतम फल माना है (निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्—१।१।३)। ग्रन्थ के अन्त में वह अपने को 'सर्ववेदान्तसार' बतलाता है (भाग० १२।१२।१५)। फलतः पुराण सामान्य में, श्रीमद् भागवत में विशेषतः, वेदार्थ का उपबृंहण किया गया है।

उपबृंहण के प्रकार

वेदार्थ के उपबृंहण के अनेक प्रकार पुराणों में अन्वेषण से विशदरूपेण प्रतीयमान होते हैं।

(क) वैदिक मन्त्रों में कहीं पर विशिष्ट पद ही पुराणस्थ स्तुतियों में स्पष्टतः गृहीत किये गये हैं। विष्णु स्तुतियों में विष्णु-मन्त्रों के विशिष्ट पद तथा

शिवस्तोत्रो के विशिष्ट पद तथा समग्र भाव अक्षरश: संचित किये गये हैं। उदाहरणार्थ वायुपुराण के ५५ अध्याय मे दी गई दार्शनिक शिवस्तुति मे यजुर्वेदस्थ रुद्राध्याय (अ० १६, माध्यन्दिन संहिता) के मन्त्रो के भाव तथा पद बहुश परिगृहीत हैं। वैष्णवो मे पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०।९०) की महिमा अपरिमेय तथा असीम है। इसका उपयोग विष्णु भगवान् की स्तुति के अवसर पर तद्रूप से या किंचित् परिवर्तित रूप से बहुश पुराणो मे किया गया है। भागवत मे समग्र सूक्त का उपयोग अनेक बार किया है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध मे (अ० ६, श्लो० १५-३०) तथा १०।१।२० मे पुरुषसूक्त का विस्तार से उपयोग किया गया है नारायण की स्तुति के अवसर पर। इस सूक्त के 'पुरुष' का समीकरण कभी नारायण के साथ और कभी 'कृष्ण' के साथ किया गया है। द्रष्टव्य भागवत २।१।३५-४२, विष्णु पुराण १।१२।५६—६४, ब्रह्म १६१।४१-५०, पद्म ५।४१।११६—१२४ तथा ६।२५४।६२-८३। भागवत मे विष्णु के लिए प्रयुक्त 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण पूर्णतः वैदिक हैं (द्रष्टव्य ऋग्वेद १।१५४ सू०)

(ख) वैदिक मन्त्रों की व्याख्या

पुराणो मे वैदिक (संहिता तथा उपनिषद् के) मन्त्रो की बहुश व्याख्या मिलती है जिसमे मूल मन्त्र का तात्पर्य कभी थोडे ही शब्दो मे और कभी विस्तार से बडे वैशद्य से दिखलाया गया है। मूल अर्थ की असंदिग्ध तथा परिबृंहित व्याख्या पुराणो का निजी वैशिष्ट्य है।

(१) विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् (ऋ० १।१५४।१) की विशद व्याख्या भाग० २।७।४० में की गई है जिसमें मूल तात्पर्य का स्पष्टीकरण नितान्त श्लाघ्य और ग्राह्य है:—

> **विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह**
> **यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।**
> **चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं**
> **यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम्॥**

(२) **ईशावास्यमिदं सर्वम्** (ईशावास्योपनिषद् के मन्त्र) की व्याख्या केवल आदि पद के परिवर्तन के संग मे **आत्मा वास्यमिदं विश्वम्** (भाग० ८।१।१०) मे की गई है। यहाँ श्लोक ९ से लेकर १६ तक **मन्त्रोपनिषद्** नाम से व्यवहृत किया गया है (८।१।१७) यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार उपनिषद् के ही मन्त्रो का प्रयोग साक्षाद्भावेन कर रहा है।

(३) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (ऋ. १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०; श्वेताश्वतर ४।६) नामक विख्यात मन्त्र की व्याख्या भाग० ११।११।६ मे

बड़े वैशद्य से की गई है जिससे मूल का गम्भीर भाव स्पष्ट अभिव्यक्त होता है। वायु ९१।११९ में भी इसी मन्त्र का अर्थ संकेतित किया गया है, परन्तु उतने वैशद्य से नहीं जैसे भागवत में।

(४) **ओं तत् सवितुर्वरेण्यं** (ऋ. ३।६२।१०) गायत्री मन्त्र की अत्यन्त विशद व्याख्या अग्निपुराण अ० २१६ (१-१८) में की गयी है। प्रश्न उठाया गया है कि गायत्री के उपास्य देव कौन हैं? शिव, शक्ति, सूर्य तथा अग्नि जैसे विविध विकल्पों का परिहार कर विष्णु को ही गायत्री मन्त्र द्वारा संकेतित देव माना गया है जो अग्निपुराण के वैष्णव रूपसे सर्वथा संगत ही है।

(५) **प्रणवो धनुः** (मुण्डक २।२।४) की व्याख्या भागवत ७।१५।४२ में की गई है—

> **धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति**
> **शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्।**

यह व्याख्या मूलगत सन्देह को दूर करती है कि शर यहाँ जीव है, प्रत्यगात्मा ही है, परमात्मा नहीं। यहीं पर ७।१५।४१ श्लोक में **'रथशरीर'** की कल्पना कठोपनिषद् के आधार पर की गई है।

(६) **आत्मानं चेद् विजानीयात्** (भागवत ७।१५।४०) में बृहदारण्यक के 'आत्मानं वेद' (४।४।१२) के अर्थ का परोक्षरूपेण स्पष्टीकरण है।

(७) मुण्डक १।२।४ में अग्नि की सप्त जिह्वाओं का—काली, कराली, मनोजवा आदि का—समुल्लेख है। इसकी विशद व्याख्या मार्कण्डेय ९९।५२-५८ श्लोकों में की गई है।

(८) **चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा** (ऋ० ४।५८।३) बड़ा ही गम्भीरार्थक मन्त्र माना जाता है। इस रहस्यात्मक मन्त्र की विविध व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने इसे शब्द की स्तुति माना है, मीमांसासूत्र १।२।४६ में यज्ञ की स्तुति तथा राजशेखर के काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष की स्तुति मानी गई है। गोपथ ब्रा० १।२।१६ में यागपरक अर्थ ही माना गया है जो निरुक्त में स्वीकृत है। इस मन्त्र की दो प्रकार की व्याख्यायें पुराणों में मिलती हैं। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड (७३ अ०, ९२-९६ श्लो०) में इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। भागवत

---

१ द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ पर्णविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः॥
—वायु० ९१।११९

ने इस मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या कर मानो इसी अर्थ के प्राधान्य की घोषणा की है—

> नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतु श्शृङ्गाय तन्तवे ।
> सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥
>
> —भाग० ८।१६।३१

'यज्ञो वै विष्णु' के अनुसार विष्णु भक्ति के पुरस्कर्ता श्रीमद्भागवत की दृष्टि मे यह व्याख्या स्वाभिप्रायानुकूल तो है ही, साथ ही साथ मूल तात्पर्य की भी द्योतिका है। यज्ञ ही वेद के द्वारा मुख्यतया प्रतिपाद्य होने से इस मन्त्र की यज्ञीय व्याख्या ही नितान्त समीचीन तथा ऐतिहासिक महत्त्वशाली प्रतीत होती है।

(९) ब्राह्मण वाक्यों की भी व्याख्या पुराणो मे मिलती है। तैत्ति० आर० २।२ मे सन्ध्याकर्म मे विघ्न डालने वाले मन्देह नामक राक्षसो का वर्णन मिलता है। इन्ही राक्षसो के कर्मों का विस्तृत विवरण वायु ५०।१६३-१६५ मे किया गया है कि किस प्रकार वे सूर्य भगवान् को खाना चाहते हैं। ब्रह्मा, देवता तथा ब्राह्मणगण सन्ध्या कर्म मे प्रयुक्त जल का जब क्षेपण करते है तब वे राक्षस नाश प्राप्त करते हैं। क्योकि वह जल ओंकार-सवलित गायत्री-मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित होता है और इसलिए उस वज्रभूत जल से राक्षसो का सद्योनाश हो जाता है।[1]

(१०) भागवत के ११।१०।१२ श्लोक मे आचार्य तथा अन्तेवासी को अरणिरूप बतलाया गया है तथा दोनो का सन्धान प्रवचन रूप मे निश्चित किया गया है। यह पूरी व्याख्या तैत्ति० उप० १।३ की है।

---

[1] निस्र कोटयस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसा ।
प्रार्थयन्ति सहस्रांशुमुदयन्त दिनेदिने ।
तापयन्तो दुरात्मान सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ॥ —१६३
अथ सूर्यस्य तेषा च युद्धमासीत्सुदारुणम् ।
ततो ब्रह्मा च देवाश्च ब्राह्मणाश्चैव सत्तमा ।
सध्येति समुपासन्त क्षेपयन्ति महाजलम् ॥ १६४ ॥
ओंकारब्रह्मसयुक्त गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् ।
तेन दह्यन्ति ते दैत्या वज्रभूतेन वारिणा ॥
अग्निहोत्रे हूयमाने समन्ताद् ब्राह्मणाहुति ।
सूर्यज्योति सहस्रांशु सूर्यो दीप्यति भास्कर ॥
—वायुपुराण—अध्याय-५०

(११) भागवत के ८।१९।२८ श्लोक मे 'अत्रापि बह्वृचैर्गीतम्' प्रस्तावना के साथ सत्य तथा अनृत की व्याख्या की गई है तथा सत्य को आत्मारूपी वृक्ष का फल-पुष्प बतलाया गया है। यह पूरा प्रसग (श्लोक ३८-४२) ऐतरेय आरण्यक के एक अश की मार्मिक व्याख्या है जो मूल के अर्थ का विस्तार कर उसे सपुष्ट बनाती है।

(१२) **त्रियम्बकं यजामहे** (ऋक् ७।५९।१२ तथा शुक्ल यजु० ३।६०) रुद्रशिव का नितान्त प्रख्यात मन्त्र है। इस मन्त्र की व्याख्या लिंगपुराण मे दो बार की गई है जहाँ मन्त्र के पदो की विस्तृत नाना व्याख्या दर्शनीय तथा मननीय है (१।३५।१६-३५ तथा २।३४।१७ ३१)

निष्कर्ष—ऊपर दिये गये कतिपय मन्त्र स्थलो का व्याख्यान इस तथ्य का पर्याप्त द्योतक है कि पुराणो के रचयिता ने वेद के मन्त्रो के तात्पर्य का विशदीकरण कर उन्हे सामान्य जनता के लिए (जिन के लिए धर्मतत्त्व की मीमासा करना पुराणो का मुख्य लक्ष्य है) बोधगम्य बनाया। नहीं तो इन दुरूह मन्त्रो का तात्पर्य समझना साधारण बुद्धि से बाहर की बात रहती। पौराणिक व्याख्या से वेद का रहस्य खिलना है और खुलना भी है।

(ग) वैदिक आख्यानो का पौराणिक बृंहण

वैदिक साहित्य मे—सहिता तथा ब्राह्मण मे—प्रसगवश अनेक आख्यान स्थान-स्थान पर विभिन्न देवताओ के स्वरूप विवेचन के समय वर्णित हैं। इन आख्यानो का पर्याप्त उपबृहण पुराणो मे किया गया है। इन आख्यानो को दो श्रेणी मे विभक्त किया जा सकता है—धार्मिक और लौकिक। धार्मिक आख्यानो के भीतर प्रजापति तथा विष्णु द्वारा अनन्त रूपो के धारण करने की बात बहुश उपवर्णित है, तो लौकिक आख्यानो मे किसी विशिष्ट राजा का वृत्त, ऋषि का चरित्र या कोई अलौकिक लोकरजन, प्रणय-कथा सक्षिप्तरूप मे, कहीं विस्तृतरूप मे विवृत है। इन समस्त आख्यानो के सूक्ष्म वैदिक सकेतो को पुराणो ने बडे ही वैशद्य के साथ व्याख्या की हैं। यह व्याख्या-पद्धति पुराण की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। पुराण का प्रणयन लोक-समाज को सुलभ शैली मे गम्भीर वैदिक तत्त्वो का लोकप्रिय उपदेश देने के निमित्त ही किया गया है। वेद के आख्यान को पुराणो ने एक विशिष्ट तात्पर्य तथा उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही परिबृहित किया है। वेदो मे प्रजापति के ही नाना रूप धारण करने का उल्लेख मिलता है। पुराणो ने अवतारवाद के सिद्धान्त की सपुष्टि मे इन समग्र कथाओ का उपयोग किया है और प्रजापति के स्थान पर वे समग्र रूप मे विष्णु या नारायण द्वारा गृहीत माने गये हैं। अतिरजना या मनोरजक सातिशय का भाव अनेक कथाओ के उपबृहण का निमित्त ठहराया जा

सकता है। दो चार दृष्टान्त ही इस मत के पोषण के लिए यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१) प्रजापति के द्वारा **मत्स्य** रूप धारण का आख्यान शतपथ ब्राह्मण (२।८।१।१) मे संक्षेपरूप से दिया गया है। जलप्लावन से इस कथा का सम्बन्ध पूर्व अध्याय मे अभिव्यक्त किया गया है। इस कथा का उपबृहण पुराणो मे अनेकत्र मिलता है। द्रष्टव्य भागवत १।३।१५; ८।२४।११-६१। अग्नि २।४९; गरुड १।१४२; पद्म ५।४।७३, महाभारत शान्ति अध्याय ३४०; मत्स्य पुराण का आरम्भ तो इस आख्यान के उपबृहण के लिए किया गया है। इसका प्रथम अध्याय इस प्रसंग मे मननीय है।

(२) **कूर्म** का आख्यान तैत्ति० आर० (१।२३।३), शतपथ ब्रा० ७।५।१।५ तथा जैमिनीय ब्रा० ३।२७२ मे संक्षिप्त रूप से दिया गया है। कूर्म प्रजापति का ही स्वरूप बतलाया गया है। पुराण इस कूर्म को भगवान् विष्णु का द्वितीय अवतार मानकर इस आख्यान की विस्तृत व्याख्या करते हैं। द्रष्टव्य भाग० ८।७, कूर्म-पुराण १।१६।७७ ७८, अग्नि ४।४९, गरुड १।१४२, पद्म ५।४ तथा ५।१३, ब्रह्म अ० १८० तथा २१३, विष्णु १।४।

(३) प्रजापति को वराह रूप धारण करने की कथा का संकेत तैत्तिरीय संहिता (७।१।५।१) तथा शतपथ (१४।१।२।११) मे उपलब्ध होता है, परन्तु यह कथा ऋग्वेद मे भी उल्लिखित है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषो को और क्षीरपाक को ग्रहण किया, जो वास्तव मे **'एमुष'** नामक वराह की सम्पत्ति थे। इन्द्र ने इस वराह को भी मार डाला।[1] शतपथ के अनुसार इसी एमुष वराह ने जल के ऊपर रहने वाली पृथ्वी को ऊपर उठा लिया था। तैत्तिरीय-संहिता पृथ्वी को ऊपर उठाने वाले इस वराह को प्रजापति का रूप मानती है। इसी कथा का उपबृंहण वराह अवतार के प्रसंग मे पुराणो ने किया है। द्रष्टव्य विशेषतः भागवत ३।१३। ३५-३९, विष्णु १।४।३२-३६ आदि।

(४) ऋग्वेद के सूक्तो मे उरुगाय त्रिविक्रम विष्णु की कथा बहुशः वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण (१।२।५।१) मे वामन का असुरो से पृथ्वी जीतकर देवो को दे देने की घटना का विस्तृत निर्देश है। इस घटना का उपबृहण प्रायः

---

१ विश्वेत् ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः ।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम् ॥

—ऋग्वेद ८।७७।१०

पुराणों में सर्वत्र है। वामन पुराण का नामकरण तो इसी घटना के उपलक्ष्य में किया गया है और वहां इसका विस्तार से वर्णन भी है[1]।

(५) पुरूरवा उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद के विख्यात आख्यानों में अन्यतम है। मूलतः यह स्वल्पकाय है, परन्तु पुराणों में इसका कविरंजना के साथ उपबृंहण किया गया है। विष्णु पुराण (४।६) ने चन्द्रवंश के आरम्भ के प्रसंग में पुरूरवा का आख्यान बड़े ही विस्तार तथा वैशद्य के साथ एक पूरे अध्याय में दिया है। हरिवंश १।२६ में भी यह वर्णित है। श्रीमद्भागवत ने एक पूरे अध्याय (९।१४) में ऐलोपाख्यान के अवसर पर इस आख्यान का उपबृंहण किया है। इतना ही नहीं, इसी अध्याय के ३३ श्लोक से लेकर ३८ श्लोक तक पांच मन्त्रों के भाव विशद अनुष्टुपों में अभिव्यक्त किये गये हैं। चन्द्रवंश के प्रारम्भ से सम्बद्ध होने के हेतु इसका संकेत अनेक पुराणों में तो वर्तमान ही है, भागवत तथा विष्णु में इसका उपबृंहण संस्कृत में प्रणय-कथा का विशुद्ध साहित्यिक रूप भी प्रस्तुत करता है।

(६) हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप का आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३) में विस्तार से वर्णित है। यह आख्यान ऋग्वेद के मन्त्रों में भी अव्यक्त-रूपेण संकेतित माना जाता है, परन्तु विस्तार है ऐतरेय ब्रा० में निःसंशयेन। इस कथा का उपबृंहण पुराणों में बहुशः किया गया है, विशेषतः मार्कण्डेय अ० ८ तथा ब्रह्मपुराण अध्याय १०४ (हरिश्चन्द्र तीर्थ के प्रसंग में) ब्रह्मपुराण तो अपने विवरण के संग-साथ में ऐतरेयस्थ मन्त्रों की भी व्याख्या करता गया है—

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत् सर्वे पशवो विदुः (ऐत०) = नापुत्रस्य परो लोको विद्यते नृपसत्तम (ब्रह्म० १०४।७)। मार्कण्डेय का हरिश्चन्द्रोपाख्यान नितान्त मधुर, प्रभावोत्पादक तथा साहित्यिक है। श्मशान का यथार्थ वर्णन कर इस पुराण ने कथानक में रोचकता तथा स्वाभाविकता का पूर्ण प्रसार प्रदर्शित किया है (अ० ८, श्लो० १०७–११८)। वैदिक कथा का यह उपबृंहण पिछले युग के कथा विकास का मूल प्रवर्तक माना जा सकता है। श्रीमद् भागवत ने भी ९।७ में वैदिक मन्त्रों की विशद व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। देवी भा० ७।१८–२७ ऐतरेय का बहुत अनुगमन कर इस कथा को रोचक ढंग से वर्णन करता है।

(७) नाचिकेतोपाख्यान—नचिकेत का उपाख्यान तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा कठोपनिषद् में पर्याप्तरूपेण विस्तृत है तथा विद्वज्जनों में विश्रुत है। इस

---

१. इन चारों अवतारों के वैदिक मूल तथा पौराणिक उपबृंहण की विस्तृत चर्चा 'पौराणिक अवतार वाद' के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद में की गई है। जिज्ञासुजन उसका अनुशीलन अवश्य करें।

आख्यान का उपबृंहण इतिहास (महाभारत) तथा पुराण (वराह) मे विशेष रूप से मिलता है साथ ही साथ परिवर्तित परिस्थिति मे मूल तात्पर्य का समयानुसारी परिवर्तन भी करके आख्यान मे रोचकता तथा समयानुकूलता दोनो का सामञ्जस्य प्रस्तुत किया गया गया है। इस कथा के विकास का गम्भीर ऐतिहासिक अनुशीलन परिशिष्ट रूप से यहा प्रस्तुत किया जाता है जिससे परिबृंहण की दिशा का भी परिचय जिज्ञासुजनो को मिल जावेगा।

(घ) वैदिक प्रतीकों की पौराणिक व्याख्या

वेद की भाषा निश्चयरूपेण प्रतीकात्मक है। वहा रूपको की सहायता से मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु रूपको को यथार्थन समझना एक विषम पहेली है। इसकी कुंजी पुराणो मे अन्तर्निविष्ट है। पुराणो की सहायता से ही यह गम्भीर तत्त्व उद्घाटित किया जा सकता है। इस विषय मे वेद तथा पुराण मे किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जो तत्त्व वैदिक मन्त्रो मे रूपकाकार की लपेट मे गुह्यरूप से निदिष्ट हैं, वे ही पुराणो मे सरल सुबोध शैली मे सामान्य जनता के उपदेशार्थ रोचक शब्दो मे प्रकट किये गये हैं। तात्पर्य दोनो ग्रन्थो का एक ही अभिन्न है। इसलिए वेद मे श्रद्धा रखने वाला जन पुराण मे अश्रद्धा रखे, यह एक विषम तथा औचित्य-विहीन वचन है। पुराण वे ही बातें विस्तार से कहता है जो वेद ने सूक्ष्मरूप में कहा है अथवा केवल सकेतित किया है। इस तथ्य को भुलाना क्या है? मानो हिन्दू धर्म के मौलिक तथ्य की जानकारी से पराङ्मुख होना है। पुराणो के वर्णनो में कही असम्बद्धता, असंगति, तथा व्यवहार-विरुद्धता का जो दोष दृष्टिगोचर होता है, उसे ठीक-ठीक समझने के लिए वेदो के पास आलोचको को जाना होगा। वैदिक प्रतीको को यथार्थरूप मे न जानने के कारण ही पुराणो पर दोषो का तीव्र आरोप किया गया है, क्योंकि पुराण वैदिक प्रतीको की ही व्याख्या अपनी कही सुबोध शैली में, और कहीं ऐतिहासिक पद्धति में करता है। और इन प्रतीको का अज्ञान अथवा अल्पज्ञान ही पुराणो के ऊपर कलङ्क लगाने का सर्वथा उत्तरदायी माना जा सकता है। कतिपय दृष्टान्तो से इस आरोप-परिहार के तथ्य को समझना होगा।

(१) अहल्यायै जारः

इन्द्र अहल्या का (या मैत्रेयी अहल्या का) जार (उपपति) था — यह कथा अनेक वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है[1] इतना ही नहीं, पूर्व दिशा का स्वामी

---

1. शतपथ ३।३।४।१८, तैत्ति० १।१२।४, षड्विंश १।१, लाट्यायन श्रौतसूत्र १।३।१.

इन्द्र सहस्राक्ष हो जाने से अतिपश्य अर्थात् भ्रान्तदर्शी हुआ—यह कथन भी अथर्व वेद (११।२।१७) के एक मन्त्र में उपलब्ध होता है।[1] अर्थात् इन्द्र अहल्या का जार तथा सहस्रनेत्र-सम्पन्न व्यक्ति था—यह तथ्य वैदिक ग्रन्थों से अभिव्यक्त होता है। अब पुराणा की ओर दृष्टिपात कीजिए। देवीभागवत (१।५।८६) तथा ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण जन्म-खण्ड ६१।४४-४६) में तथा वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड (अ० ४९) में गौतम ऋषि और अहल्या की कथा वर्णित है जो लोक में नितान्त विश्रुत है। देवराज इन्द्र ने गौतम ऋषि की धर्मपत्नी अहल्या का धर्षण किया, जिससे रुष्ट होकर गौतम ने अहल्या को पाषाण बन जाने का तथा इन्द्र को सहस्रभग' बन जाने का शाप दिया। प्रार्थना करने पर ऋषि ने प्रसन्न होकर अहल्या को रामचन्द्र के पादस्पर्श होने पर मुक्ति पाने का तथा इन्द्र को 'सहस्राक्ष' होने का आशीर्वाद दिया। विचारणीय प्रश्न है कि इस इन्द्र अहल्या वृत्त का वास्तविक तात्पर्य क्या है ?

इस समस्या का समाधान कुमारिलभट्ट ने अपने 'तन्त्रवार्तिक' में बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है। उन्होंने इस कथानक के रूपक का रहस्य समझाया है। यह वेदगाथा सूर्यरात्रि के दैनन्दिन व्यवहार की द्योतिका है। चन्द्रमा ही गौतम है (उत्तम गावो रश्मयो[2] यस्य स गौतम)। चन्द्र की पत्नी रात्रि ही अहल्या है, अहर्लीयते यस्या सा, दिन जिसमें लीन हो जाय एसी अर्थात् दिन को अपने में लीन कर देने वाली—'अहल्या' का यह निरुक्तिगम्य अर्थ है। सूर्य ही परमैश्वर्य से सम्पन्न होने के हेतु, इन्द्र है। इन्द्र और सूर्य के एकत्वबोधक वाक्य वैदिक साहित्य में बिखरे पड़े हैं, यथा—

य एष सूर्यस्तपति, एष उ एव इन्द्रः।

—(शतपथ ४।५।९।४)

सूर्य के उदय लेते ही रात्रि जीर्ण होकर भाग खड़ी होती है। अतः रात्रि को जीर्ण कर देने के हेतु सूर्य 'जार कहलाता है'[3] (रात्रि को जीर्ण = परिसमाप्त कर देने वाला)। अतएव कुमारिल (सप्तमशती) की सम्मति में 'चन्द्रमा की पत्नी रात्रि सूर्य के उदित होते ही जीर्ण होकर समाप्त हो जाती है' यही

---

१ सहस्राक्षमतिपश्य पुरस्तात्—अथर्व ११।२।१७

२. सुषुम्ण सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते ....सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते।

—निरुक्त २।२।२

३ आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता।

—वही, ३।३।४

पराक्रम किये गये कर्म से देवगण सन्तुष्ट हुए और उन्होंने इन्द्र को मेष का वृषण (अण्डकोश) लगाकर उन्हें 'सवृषण' बना दिया। रूपक-दृष्टि से देखने पर यह घटना दैनन्दिन घटना का प्रतीकमात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचारने पर यह राष्ट्रहित का महनीय कार्य है। उभय दृष्टियों को ध्यान में रखने पर पुराणस्थ घटना में कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

(२) तारापतिश्चन्द्रमाः

बृहस्पति तथा चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाली एक आख्यायिका वेदों में उपलब्ध होती है। इन कथा-सूत्रों को एकत्र गुम्फन करने पर कथा का निखरा रूप इस प्रकार अभिव्यक्त होता है। चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की धर्मपत्नी तारा को हठात् छीन लिया। हजार बार माँगने पर भी जब उसे नहीं लौटाई, तब घन घोर देवासुर-संग्राम छिड़ गया। ब्रह्मा जी ने बीच बचाव करके तारा को बृहस्पति को लौटा दिया। इसी बीच में उसे 'बुध' नामक पुत्र उत्पन्न हो गया था, जो चन्द्रमा का ही पुत्र सिद्ध होने पर उसे ही दे दिया गया। कथा नितान्त अश्लील है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पुराणों में (भागवत ९।१४।४-१४) तथा देवीभागवत में यह कथा इसी रूप में उपलब्ध होती है। यह पौराणिकरूप वैदिकरूप का उपबृंहण मात्र है।

अथर्ववेद में तथा ताण्ड्य ब्राह्मण में इस कथा के बीज स्पष्टरूप से मिलते हैं[1]—

(क) सोम पहिला राजा हुआ जिसने ब्राह्मण (बृहस्पति) की जाया को बिना लज्जा किये निर्लज्जतापूर्ण फिर से लौटा दिया।

(ख) जिस स्त्री को बड़ी केशों वाली (विकेशी) तारका ऐसा कहते हैं।

(ग) सोम के द्वारा ली गई अपनी जाया को बृहस्पति ने प्राप्त किया।

(घ) बुध सौमायन कहलाता है, क्योंकि वह सोम का पुत्र है।

---

१ (क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजाया पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ॥
—अथर्व० ५।१७।२

(ख) यामाहुस्तारकैषा विकेशीति।
—वही ५।१७।४

(ग) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्।
—वही ५।१७।५

(घ) सौमायनो (सोमपुत्रो) बुधः।
—ताण्ड्य ब्रा० २४।१७।६

लोक-व्यवहार की प्रतिदिन साक्षात्कृत घटना का वर्णन पूर्वोक्त वेद-गाथा मे किया गया है। कुमारिल से एक हजार वर्ष पूर्व होने वाले यास्काचार्य ने भी इसी तात्पर्य की ओर संकेत किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस व्याख्या का प्रामाण्य मान कर ठीक ऐसी ही व्याख्या की है[1]। फलत पुराण-वर्णित अहल्या-चरित मे किसी प्रकार की अश्लीलता या दुराचरण का स्पर्श भी नही है।

पुराण तथा रामायण मे वैदिक गाथा का स्पष्टत उपबृंहण है। अहल्या की कथा ऐतिहासिक जगत् से भी सम्बद्ध है। इसे यथार्थ इतिहास मानना भी *पौराणिक शैली से अनुचित नही होगा।* *इस धर्षण का कारण भी रामायण*[2] मे उपन्यस्त है। गौतम ऋषि उग्र तपस्वी थे जिनका तप समग्र जनस्थान को ध्वस्त तथा दग्ध करने मे समर्थ था। देवो का उनसे इस कारण भयाक्रान्त होना स्वाभाविक था। वे गौतम की उग्र तपस्या को भग करना चाहते थे, परन्तु *प्रश्न था किस प्रकार? बिना क्रोध उद्दीप्त किये उनकी तपस्या निष्फल नहीं* हो सकती थी। इसीलिए इन्द्र देवगणो की इच्छा तथा स्वीकृति से इस कुकर्म मे प्रवृत्त हुए। इस घटना से क्षुब्ध होकर गौतम ने शाप दिया जिससे उनकी तपस्या का फल विफल हो गया। एक नारी के धर्षण से (वस्तुतः अहिल्या *ब्रह्मा की मानसी सृष्टि थी तथा इन्द्र सूक्ष्म देहधारी दिव्य प्राणी थे जिससे अमैथुनी* सृष्टिविषयक होने से यह धर्षण नही कहा जा सकता) यदि राष्ट्र के लाखो व्यक्तियो का कल्याण हो, तो वह कथमपि हेय नही माना जा सकता।

पुराण के उपबृंहण पर ध्यान दीजिये। इन्द्र को 'जार' (उपपति) बतला कर भी वेद उसके दोष के मार्जन की व्यवस्था नही करता। उधर पुराण मानव-मर्यादा की रक्षा के लिये दोषी व्यक्ति के पदाधिकार का बिना ध्यान दिये ही उसे उचित दण्ड देने की व्यवस्था करता है। इन्द्र को वृषणहीन होना पडा (या कल्पान्तर मे सहस्र भग से सम्पन्न होना पडा)। परन्तु इन्द्र ने लोको-

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका पृष्ठ ३००।

२ कुर्वता तपसो विघ्न गौतमस्य महात्मन।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम्॥
अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्सा च निराकृता।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृत मया॥
तस्मा सुरवरा सर्वे सर्षिसघा सचारणा।
सुरकार्यकरं यूय सफलं कर्तुमर्हथ॥

—वाल्मीकि-रामायण बालकाण्ड ४९

पकारार्थ किये गये कर्म से देवगण सन्तुष्ट हुए और उन्होंने इन्द्र को मेष का वृषण (अण्डकोश) लगाकर उन्हें 'सवृषण' बना दिया। स्पष्ट-दृष्टि से देखने पर यह घटना दैनन्दिन घटना का प्रतीकमात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचारने पर यह राष्ट्रहित का महनीय कार्य है। उभय दृष्टियों को ध्यान में रखने पर पुराणस्थ घटना में कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

(२) तारापतिश्चन्द्रमाः

बृहस्पति तथा चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाली एक आख्यायिका वेदों में उपलब्ध होती है। इन कथा-सूत्रों को एकत्र गुम्फन करने पर कथा का निखरा रूप इस प्रकार अभिव्यक्त होता है। चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की धर्मपत्नी तारा को हठात् छीन लिया। हजार बार माँगने पर भी जब उसे नहीं लौटाई, तब घन घोर देवासुर-संग्राम छिड गया। ब्रह्मा जी ने बीच-बचाव करके तारा को बृहस्पति को लौटा दिया। इसी बीच में उसे 'बुध' नामक पुत्र उत्पन्न हो गया था, जो चन्द्रमा का ही पुत्र सिद्ध होने पर उसे ही दे दिया गया। कथा नितान्त अश्लील है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पुराणों में (भागवत ९।१४।४-१४) तथा देवीभागवत में यह कथा इसी रूप में उपलब्ध होती है। यह पौराणिकरूप वैदिकरूप का उपबृंहण मात्र है।

अथर्ववेद में तथा ताण्ड्य ब्राह्मण में इस कथा के बीज स्पष्टरूप से मिलते हैं[1] :—

(क) सोम पहिला राजा हुआ जिसने ब्राह्मण (बृहस्पति) की जायाको बिना लज्जा किये निर्लज्जतापूर्ण फिर से लौटा दिया।

(ख) जिस स्त्री को बड़ी केशों वाली (विकेशी) तारका ऐसा कहते हैं।

(ग) सोम के द्वारा ली गई अपनी जाया को बृहस्पति ने प्राप्त किया।

(घ) बुध सौमायन कहलाता है, क्योंकि वह सोम का पुत्र है।

---

१ (क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजाया पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ॥
—अथर्व० ५।१७।२

(ख) यामाहुस्तारकैषा विकेशीति ।
—वही ५।१७।४

(ग) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम् ।
—वही ५।१७।५

(घ) सौमायनो (सोमपुत्रो) बुधः ।
—ताण्ड्य ब्रा० २४।१७।६

विष्णु पुराण (चतुर्थ अंश, षष्ठ अध्याय १०-३३) और श्रीमद्भागवत में ऊपर निर्दिष्ट निर्देश (९।१४।४-१४) के द्वारा इस कथा के रूप का पता चलता है जो सक्षेप मे ऊपर दी गई है। वेद के दिये गये निर्देशो से इस कथानक के भीतर वर्तमान प्रतीक का तात्पर्य नही खुलता, परन्तु भागवत की व्याख्या से इस रहस्य का पता भल-भाँति लग सकता है—

सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः।

—भाग० ९।१४।७

इस घटना के होने पर जो देवासुर-सग्राम छिड गया था, वह ऐतिहासिक न होकर **तारकाओं का युद्ध था। 'समरस्तारकामय.'** इस विचित्र कथा के रहस्योद्घाटन की कुजी है। भागवत के कथनानुसार जब चन्द्रमा ने तारा को देना स्वीकार नही किया, तब शुक्राचार्य ने देवगुरु बृहस्पति के द्वेष से चन्द्रमा को असुरपक्ष मे मिला लिया। और उधर भी शिव ने तथा देवराज इन्द्रने देवगणो के साथ बृहस्पति का पक्ष लिया। तभी युद्ध छिड गया। युद्ध की समाप्ति तब हुई जब तारा बृहस्पति को मिल गई और बुध चन्द्रमा को प्राप्त हुआ।

इस कथा को ऐतिहासिक रूप मे लेने का अवसर प्राप्त प्रसग है भागवत पुराण मे। चन्द्रवशीय नरेशो की उत्पत्ति बतलाते हुए भागवत का कथन है कि ब्रह्मा से उत्पन्न हुये अत्रि। अत्रि से चन्द्रमा। चन्द्रमा से बुध और बुध से पुरुरवा। यह तो हुआ ऐतिहासिक पक्ष। परन्तु प्रस्तुत यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का सकेत है। यह खगोलविषयक सिद्धान्त का प्रतीकात्मक विवरण है जिसका स्पष्ट कथन इस प्रकार समझना चाहिए —बृहस्पति, चन्द्रमा, तारा तथा बुध—ये चारो ही खगोलीय नक्षत्र हैं। बृहस्पति ग्रह की कक्षा मे भ्रमण करने वाला तारा नामक उपग्रह चन्द्रमा के आकर्षण के द्वारा अपनी मूल कक्षा से च्युत होकर चन्द्रकक्ष में आ गया। इस आकर्षण विकर्षण के कारण आकाश-मण्डल में बडी गडबडी मच गई। पुन सूर्यरूपी प्रजापति (भागवत का विश्वसृट्) के पुन आकर्षण होने पर तारा अपनी मूल कक्षा में बृहस्पति के पास आ गई। इस आकर्षणविकर्षण के कारण चन्द्रमा का कोई भाग, जो आकाश के आग्नेयवाय्वो के मिश्रण से उसका अपना स्वरूप ही बन गया था, उससे टूट कर अलग हो गया जिससे 'बुध' नामक ग्रह का जन्म हुआ। बुध में चन्द्रमा के अनेक अश की सत्ता विद्यमान होने से वह चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है।'

इस प्रकार की व्याख्या एक मर्मज्ञ पुराणविद् ने अपने ग्रन्थ मे की है[1]।

१ पण्डित माधवाचार्य शास्त्री पुराण दिग्दर्शन पृष्ठ २९०–२९७ (दिल्ली)

परन्तु ज्योतिष के सिद्धान्तों से इस मत की ठीक सगति नही बैठती। चन्द्रमा से बृहस्पति सौरमण्डल मे इतनी अधिक दूरी पर हैं कि इन दोनों के आकर्षण की कल्पना ठीक नही जमती। दूसरी बात यह है कि बुध ग्रह है और चन्द्रमा उपग्रह है जो बुध की अपेक्षा छोटा है। इस दशा में चन्द्र के शरीर से बुध के निकलने का पूर्वोक्त सकत भी संगत नही होता। इसलिए इस पौराणिक आख्यान का ज्योतिःशास्त्र के ज्ञान सिद्धान्तो से सुसगत व्याख्या यहाँ दी जाती है।[1]

पौराणिक कथा—चन्द्रमा गुरु का शिष्य था, तारा गुरु की पत्नी। चन्द्रमा ने तारा का बलात् धर्षण किया। इससे बृहस्पति क्रुद्ध हुए तथा बृहस्पति और चन्द्रमा का युद्ध हुआ। देवताओं ने इस युद्ध को छुडा दिया। तत्पश्चात् तारा से बुध की उत्पत्ति हुई और देवताओ ने उसे चन्द्रमा का पुत्र मान कर चन्द्रमा को दे दिया।

ज्योतिष अर्थ—पुराण मे गुरु को देवताओ का गुरु माना गया है चन्द्रमा को एक देवता। अत चन्द्रमा को गुरु का शिष्य मानना एक पौराणिक कल्पना है। प्राचीन काल मे वैदिक आर्य लोग ग्रहो का वध पृष्ठभूमि मे स्थित तारो के सदर्भ से किया करते थे। ग्रहो की स्वाभाविक गति होने के कारण वह दूरस्थ तारा से कुछ हट बढ जाते थे। अत उन्हें ग्रह मान लिया जाता था। बृहस्पति का भी इसी प्रकार ज्ञान हुआ होगा। सभवत बृहस्पति का क्रान्ति-वृत्त के समीपस्थ किसी चमकीले तारा के साथ देखने से ही ज्ञान हुआ होगा कि बृहस्पति वर्ष भर मे एक राशि अथवा ३०° पूर्व की ओर चलता है। अत उसका पूर्वोक्त प्रकाशवती तारा के पास दृश्य होना तथा उसके साथ-साथ बहुत दिनों तक दिखलाई पडना सभव है। यदि दो प्रकाश वाले तारा ग्रह १ अश से अधिक दूरी पर हो, तो उनके योग को समागम कहते[2] हैं। सभवत बृहस्पति उक्त तारा से एक अश से कुछ अधिक दूरी के शरान्तर[3] पर होगा। इसी समागम के कारण उक्त तारा को बृहस्पति की पत्नी के रूप में कल्पना की होगी। यही उस तारा की सज्ञा पड गई होगी। कालान्तर मे बृहस्पति के स्वगति से कुछ दूर पूर्व जाने पर पश्चिम से पूर्व को आते समय चन्द्रमा से उस तारा की युति

---

१ इस व्याख्या के लिए लेखक वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के ज्योतिषशास्त्र के प्राध्यापक डाक्टर मुरारिलाल शर्मा का आभार मानता है। इस व्याख्या की सगति बैठाने का श्रेय उन्ही को है।

२. समागमोऽशादधिके भवतश्चेद् बलान्वितौ।

—सू० सि० ग्र० यु० अधि० १९

३ शर = क्रान्तिवृत्त (पृथ्वी का सूर्य की कक्षा) से दक्षिण अथवा उत्तर अन्तर।

होने से वह ढकी गई होगी। इसको उसका चन्द्रमा द्वारा धर्षण माना गया होगा। उसके बाद चन्द्रमा शीघ्र गति होने के कारण बृहस्पति की ओर अग्रसर हुआ होगा। यदि बृहस्पति-युति के आसन्न काल में कृष्ण की द्वादशी या त्रयोदशी रही होगी तो युद्ध के पश्चात् चन्द्रमा का क्षीणकान्ति दृश्य होना स्वाभाविक है। यदि गुरु तथा चन्द्र का शरान्तर एक अंश से कम हो तो ऐसी स्थिति की संज्ञा अपसव्य युद्ध है।[2] अत एव गुरु और चन्द्र के युद्ध की कल्पना है। तत्-पश्चात् चन्द्रमा के अमान्त के आसन्न होने के कारण बुध के पास होना भी संभव है। सामान्य अवस्थाओं में बुध ग्रह की ओर ध्यान नहीं जाता क्योंकि यह सूर्य के अत्यासन्न रहता है।[3] किन्तु उस विशेष परिस्थिति में वेधकर्ता आर्यों का ध्यान उस तारा की तरफ भी गया। बुध की गति अत्यधिक होने से उसका ग्रहत्व शीघ्र ही ज्ञात हो गया होगा। इस प्रकार आर्यों ने एक नये ग्रह को खोज लिया जिसमें चन्द्र की तारा से युति ने ही उनका ध्यान आकृष्ट किया था। अत एव उसे चन्द्रमा द्वारा तारा के धर्षण करने से उत्पन्न, चन्द्रसुतत्व कल्पित किया। यही इस कथा की व्याख्या प्रतीत होती है।

(३) विश्वरूपं जघानेन्द्रः

शतपथ ब्रा० (१।२।३।२; १।६।३।२–५) में तथा ताण्डय ब्रा० (१७.५।१) में विश्वरूप तथा इन्द्र के सम्बन्ध में एक विचित्र कथानक है। विश्वरूप त्वष्टा के पुत्र थे जिन्हें थे तीन सिर, छ आँखें तथा तीन मुँह। इन्हीं विचित्रताओं के कारण ही ये 'विश्वरूप' नाम से पुकारे जाते थे। वे एक मुख से सुरा पीते थे, दूसरे से सोम और तीसरे से अन्न खाते थे। इन्द्र ने उनसे द्वेष किया तथा उनके तीनों सिरों को काट डाला। सोमपानवाला मुख बन गया कपिञ्जल, सुरापान वाला हो गया कलविंक तथा अन्न खानेवाला मुख हो गया तित्तिरि (तीतर नामक चिड़िया)। शतपथ के अनुसार यही कथा है। श्रीमद्भागवत (६।६।४४–४५ तथा ६।९।१–७) में यही कथा वैदिक कथा से अक्षरशः मिलती है। एक दो बातें बिल्कुल नई हैं—

(क) त्वष्टा ब्राह्मण देवता थे, परन्तु इन्होंने दैत्यों की अनुजा—छोटी बहिन—रचना से शादी की थी। उसी के पुत्र थे—विश्वरूप जो इसी हेतु, 'त्वाष्ट्र' कहलाते थे।

---

१. चन्द्रगति लगभग प्रतिदिन १३° है।

२. अंशादूनेऽपसव्याख्यं युद्धमेकोऽत्र चेदणुः।

—सू० सि० ग्र० यु० अधि १९ श्लोक

३. बुध सूर्य के अत्यन्त समीप रहता है। इसकी रवि से अधिकतम दूरी २८° है।

(ख) किसी कारण से रुष्ट होकर बृहस्पति ने अपने यजमान तथा भक्त देवों को छोड़ दिया था, जब वृत्रासुर के मारने के लिए यज्ञ करने का अवसर आया, तब बृहस्पति के अभाव में देवों ने इन्हीं त्रिशिरा, त्वाष्ट्र, विप्रवर्य विश्वरूप को अपने यज्ञ का पुरोहित बनाया, यद्यपि वे जानते थे कि ये हमारे शत्रु असुरों के भाजे हैं।

(ग) शतपथ में त्वाष्ट्र के इन्द्र द्वारा वध का कोई भी कारण निर्दिष्ट नहीं किया गया है। वहाँ केवल सामान्य शब्द हैं—तमिन्द्रो दिद्वेष (उस में इन्द्र ने द्वेष किया) फलतः मारने का कोई भी कारण न होने से वैदिक गाथामें इन्द्र द्वारा विश्वरूप-वध नितान्त अनुचित, अयुक्तिमत् तथा याहच्छिक कार्य था। परन्तु पुराण ने उस जघन्य कार्य के लिए एक युक्तियुक्त हेतु, बतला कर सचमुच ही वेदार्थ का उपबृंहण किया है। वह हेतु है—चुपके[1] चुपके परोक्ष में असुरों को यज्ञ भाग का अर्पण। विश्वरूप के हृदय में मातृप्रेम उबलने लगा था और इसीलिए अपने पौरोहित्य के विरुद्ध भी वे देवों के प्रतिपक्षी (जिनके पराजय के निमित्त वह याग किया जा रहा था) असुरों को यज्ञ भाग देने में पराङ्मुख नहीं थे। इन्द्र ने उसे देखा और समझा। उनके सिरों को काट डाला जिससे उन्हें ब्रह्महत्या लगी।

(घ) ब्रह्महत्या लगने पर इन्द्र ने उसे अंजुली बाँध कर ग्रहण किया और उसका पूरा प्रतिशोध-प्रायश्चित्त किया। इस प्रकार देवराष्ट्र के हित में ही देवराज इन्द्र ने अपराधी पुरोहित का वध किया और उसका यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार कर उस हत्या से मुक्त भी हो गये। अपने राजमद के वशीभूत वे नहीं हुए।

इस प्रकार पौराणिक कथा ने मूल कथा की त्रुटि का परिहार कर और उसमें अवसर-विशेष तथा अपराध-विशेष की कल्पना कर युक्तियुक्त हेतु का ब्रह्महत्या के लिए जो निर्देश किया है वह यथार्थतः मूल का संपुष्टिकारक उपबृंहण है।

(४) ब्रह्मा स्वदुहितुः पतिः

ब्रह्मा अपनी पुत्री (वाग् या सरस्वती) के पति थे जिसका उन्होंने धर्षण किया—यह एक वैदिक प्रतीक है। वेद में जिस प्रकार से यह उपन्यस्त है, पुराणों ने भी उसे उसी रूप में बिना ननुनच किये, ग्रहण किया है। पुराणों पर इस वर्णन के लिए तीव्र दोष लगाया जाता है कि वह समाजविरोधी अधार्मिक

---

१. स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः॥

—भाग० ६।९।३

तथ्यों का वर्णन कर धर्मविरुद्ध आचरण को प्रोत्साहन देता है। इस कथा के पीछे विद्यमान प्रतीक को यथार्थ रूप से समझने की आवश्यकता है।

पुराण ने वैदिक गाथा का, कई अंशो की पूर्ति कर, उचित परिबृंहण किया है। वैदिक गाथा का स्वरूप संक्षेप मे इस प्रकार है—प्रजापति ने अपनी दुहिता का धर्षण किया (ऋग्वेद[1]), प्रजापति ने अपनी दुहिता का अनुगमन किया (ऐतरेय[2]), जिसका समर्थन शतपथ[3] ब्राह्मण करता है। अथर्ववेद[4] एक पग आगे बढ कर कहता है—पिता ने पुत्री मे गर्भ स्थापित किया। इसी की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण[5] करता है कि प्रजापति आरम्भ मे अकेला था। वाक् (सरस्वती) दूसरी थी। ये दोनो मिथुन बने। तब वह वाक् गर्भवती हुई। इन उद्धरणों से कथानक का संक्षिप्त रूप स्पष्ट हो जाता है।

श्रीमद्भागवत (३।१२।२८-३३) मे ब्रह्मा-सरस्वती का यह प्रसंग ठीक इसी रूप मे वर्णित है। 'काम के वशीभूत होकर स्वयम्भू ने कामनाहीन 'वाक्' नाम्नी अपनी पुत्री को चाहा'—ऐसा हमने सुन रखा है। अपने पिता को इस अधर्म कार्य मे कृतमति देख कर मरीचि आदि पुत्रों ने उन्हें समझाया—'आजतक किसी ने भी ऐसा जघन्य कार्य नही किया है और आगे भी कोई ऐसा कार्य न करेगा। अतः आपको भी ऐसे कार्य मे आसक्ति रखना नितान्त अनुचित और अधार्मिक है।' पुत्रों को इस प्रकार कहते हुए देखकर प्रजापति ने लज्जित होकर अपने शरीर का त्याग कर दिया।

दोनो कथाओं का ठीक एक ही आकार है। भागवत ने एक बात और भी जोड दी है कि अधर्म के प्रति अपनी अभिरुचि देखकर तथा अपने ही पुत्रों द्वारा अपमानित किये जाने पर प्रजापति ने अपना वह शरीर त्याग दिया। यह उचित प्रायश्चित्त है। इसका निर्देश मूल गाथा मे नही है।

इस कथा के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है जिसके न जानने से ही कथा मे अश्लीलता तथा अनाचार की अभिव्यक्ति हो रही है। उसका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है —

---

१ प्रजापति स्वां दुहितरमधिष्कन् (ऋग्वेद, १०।६१।७)

२ प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् (ऐतरेय, ३।३३)

३ प्रजापति स्वां दुहितरमभिदध्यौ (शत०, १।७।४।१)

४ पिता दुहितुर्गर्भमाधात् (अथर्व, ९।१०।१२)

५ प्रजापतिर्वा इदमासीत्। तस्य वाग् द्वितीयासीत्। तां मिथुनं समभवत्। सा गर्भमधत्त (ताण्ड्य० २०।१४।२)

(क) वैज्ञानिक तथ्य

प्रजाओं के पालन करने के कारण सूर्य ही प्रजापति है। यह प्रतिदिन का दृश्य है कि प्राची क्षितिज पर उषा का आगमन पहिले होता है और सूर्य का आगमन उसके पीछे होता है। सूर्य के आगमन होने पर उषा का जन्म होता है और इसलिए वह उसकी दुहिता कही गई है। उषा में सूर्य अपने अरुण किरणों का सन्निवेश कर दिवस रूपी पुत्र को उत्पन्न करता है। अरुण किरण रूपी बीज के निक्षेप के कारण ही दोनों में स्त्रीपुरुष का उपचार किया गया है। इस प्रकार सूर्य और उषा का दैनन्दिन व्यवहार यहाँ ब्रह्मादुहितृ रूप में चर्चित किया गया है। उषा का सूर्य द्वारा अनुगमन पुत्री का पिता द्वारा अनुगमन माना गया है तथा अरुण किरणों को बिखेर कर दिन की उत्पत्ति वीर्याधान की व्याख्या है। यही वैज्ञानिक तथ्य इस कथा के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। 'परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षद्विष' की शैली के आधार पर प्रत्यक्ष दृश्य घटना का यह परोक्ष संकेत है।[1]

श्रीमद्भागवत ने इस कथानक के वर्णन में इस संकेत की संक्षेप में अभिव्यक्ति की है। 'वाच दुहितरं तन्वीम्' में 'तन्वी' शब्द का प्रयोग व्यञ्जना से प्रकट करता है कि यह दुहिता कोई स्थूल शरीर वाली न होकर सूक्ष्म शरीरिणी है तथा निषेद्धा मानसपुत्रों में 'मरीचि' ऋषि का उल्लेख प्रकारान्तर से 'किरण' का भी बोधन करता है। इस प्रकार भागवत सूर्य-उषा परक तात्पर्य को संकेत द्वारा प्रकट करता है।

(ख) आध्यात्मिक रहस्य

वेदों में मन की ही संज्ञा 'प्रजापति' है तथा 'वाक' की संज्ञा सरस्वती है। यत् प्रजापतिस्तन्मन (जैमिनिउप० १।३३।२) तथा वाग् वै सरस्वती (कौषीतकि ५।१) मन की सत्ता वाणी से पूर्ववर्तिनी होती है। मनुष्य जो भी प्रथमतः सकल्प करता है उसे ही वह वाणी द्वारा प्रकट करता है। मन की सत्ता पहिले है तथा वाणी की स्थिति उसके अनन्तर है। इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण मन पिता (प्रजापति) कहा गया है और वाक् दुहिता। जब मन रूपी पिता वाणी रूपी अपनी पुत्री में

---

[1] इस व्याख्या का बीज ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान है—प्रजापतिरुष-समध्यैत् स्वां दुहितरम् (ताण्ड्य ब्रा० ८।२।१०) जिसका पल्लवन कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्तिक में किया है,—प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारात् आदित्य एवोच्यते। स च अरुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा च तदागमना-देवोपजायते इति तद्-दुहितृत्वेन व्यपदिश्यत। तस्यां चारुणकिरणाख्यबीज-निक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः। —तन्त्रवार्तिक १।३।७

प्रेरणा रूपी वीर्य का आधान करता है, तब शब्द रूपी पुत्र का जन्म होता है। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का आविष्करण इस कथा के मूल मे वर्तमान है। इस अर्थ की सूचना ब्रह्मवैवर्त पुराण के किन्ही श्लोको द्वारा मिलती है।

(ग) आधिदैविक तथ्य

आधिदैविक स्तर पर भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। वैदिक मन्त्रों के समान ही पौराणिक कथाओ की भी व्याख्या तीनो स्तरो को दृष्टि मे रख कर की जा सकती है। वैदिक मन्त्रो की इस त्रिविध व्याख्या का मार्ग यास्क ने अपने निरुक्त मे पूर्व ही प्रशस्त कर दिया है। उसी प्रक्रिया का प्रयोग पौराणिक कथानको की व्याख्या के निमित्त भी करना चाहिये। आधिदैविक रूप मे भी यह कथानक एक सारगर्भित तथ्य की अभिव्यञ्जना करता है। वह तथ्य वैदिक ग्रन्थो तथा स्मृतिग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट किया गया है। सृष्टि के अवसर पर ब्रह्माजी ने अपने शरीर को दो भागो मे विभक्त कर डाला। उसका वामभाग तो स्त्रीरूप हो गया तथा दक्षिण भाग पुरुष बना[1] और इन दोनो के सयोग से ही सारी सृष्टि—मनुष्य, पशु, गाय, अश्व आदि आदि की उत्पत्ति हुई। शतपथ के एक अंश (१४।३।४।३) मे इसका विवरण बडे विस्तार से दिया गया है। तथा मानव-पशु सृष्टि की प्रक्रिया बडे सुन्दर ढंग से दिखलाई गई है। फलतः ब्रह्मा वाली यह कथा इसी आदिम सृष्टि रहस्य की प्रतिपादिका है।[2]

व्यावहारिक दृष्टि से भी इसकी पर्यालोचना करने पर इस मे अधर्म की बात कही नही खटकती। इस अधार्मिक कृत्य की निन्दा तब उचित होती, जब इसका कर्ता बिना दण्डित हुए रह जाता, प्रायश्चित्त किये बिना जीवित बच जाता। वह तो हुआ नही। लोक के स्रष्टा होने पर भी ब्रह्मा को इसका

---

१. मनुस्मृति मे भी यह रहस्य उद्घाटित है—
द्विधाकृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्या तु विराजमसृजत् प्रभुः॥

—मनु १।३२

२. इन रहस्यो के अज्ञान के कारण ही पुराणो पर अनेक घृणित दोषो का आक्षेप किया जाता है। इनके समाधान के लिए द्रष्टव्य पण्डित माधवाचार्य शास्त्री रचित 'पुराण दिग्दर्शन' (तृतीय सं०, प्रकाशक माधव पुस्तकालय, देहली, पृष्ठ ४१०-७२०)। ऊपर की कई व्याख्याओं के लिए लेखक इस ग्रन्थ का विशेष ऋणी है तथा शास्त्री जी को अपना आभार प्रदर्शित करता है।

दण्ड भोगना पड़ा और वह उग्र दण्ड था अपने प्रिय प्राणों का भी धर्मवेदी पर समर्पण अर्थात् उनका त्याग —

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ॥

—भाग० ३।१२।३३

इस प्रकार नाना दृष्टियों से विचार करने से इस बहुधा चर्चित तथा अनेकशः निन्दित कथा का मूल रहस्य सातिशय गम्भीर तथा गौरवशाली है। उसी रहस्य की पीठिका पर आश्रित होने से यह कथा सारवती तथा महिमान्वित है। इस प्रकार पुराणों ने वैदिक प्रतीकों का सरल-सुबोध तथा सहेतुक व्याख्यान प्रस्तुत कर उन्हें जनसाधारण के लिए ग्राह्य तथा आदरणीय बनाया है। यहाँ भी वेदार्थ का समुपबृंहण नाना दृष्टियों से चरितार्थ होता है।

परिशिष्ट

वेद, इतिहास तथा पुराण में नाचिकेतोपाख्यान

विद्वानो से यह बात सुपरिचित है कि वेदो मे नाना प्रकार के भौतिक विषयो से सम्बद्ध आध्यात्मिक कहानियाँ मिलती है। रामायण, महाभारत तथा पुराणो मे कही ये कहानियाँ कुछ विस्तार के साथ तो कही सक्षेप रूप मे उपलब्ध होती हैं। कही तो अपने मूल अभिप्राय मे ही ये उपलब्ध होती हैं पर कहीं अभिप्राय भी बदल जाता है। इन आख्यानो का यदि अध्ययन किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस आख्यान का मूल रूप क्या है तथा किस प्रकार वह विकसित हुआ है।

वेद में नाचिकेतोपाख्यान

यह बात सुविदित है कि यह आख्यान वैदिक है। किन्तु यह आख्यान वेद की किसी मन्त्रसहिता मे उपलब्ध नही होता। सम्प्रति यह कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।११।८), कठोपनिषद् प्रथम अध्याय, महाभारत (अनुशासन पर्व, ७१वा अ०) वराहपुराण (अ० १९३–२१३) मे मिलती है। इस कथा के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन तत्तत् स्थलो पर इस कथा का अभिप्राय एक ही नहीं रहा है। यहाँ हम इसका विवेचन करेंगे।

मन्त्र-सहिता मे यह आख्यान नही है, इस कथन का प्रामाणिक विवेचन अपेक्षित है। ऋग्वेद १०।१३५ के देवता यम है तथा यमगोत्र कुमार ऋषि हैं। यह बात अनुक्रमणी से स्पष्ट है—'यस्मिन्कुमारो यामायनो याममा नुष्टुभं तु'। इस यमगोत्र कुमार को सायणाचार्य नचिकेता ही बताते हैं। किन्तु सूक्त के मन्त्राक्षरो से यह कथा अनिर्दिष्ट है तथा सन्दर्भ से भी इसकी सम्पुष्टि नही होती। जैसे—

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यम ।
> अत्रा नो विश्पति पिता पुराणाँ अनुवेनति ॥
>
> —ऋग्वेद, १०।१३५।१

सूक्त का यह आद्य मंत्र है। यद्यपि इस मन्त्र का सायणभाष्य नाचिकेतोपाख्यानपरक है तथापि विद्वज्जनो को यह अभिमत नही। इस मन्त्र मे 'न' यह बहुवचन पद व्यत्यय से एकवचनान्त कर दिया गया है। 'विश्पति' शब्द 'विशा प्रजानां पति पालक' इस विग्रह से प्रजापालक के अर्थ मे बहुधा प्रयुक्त होता है। सम्पूर्ण चरण की व्याख्या है—पुराणान् पुरातनान् अनु पश्चात् तत्समीपे निषसत्ययमिति वेनति मां कामयते मम नचिकेतसो जनक'।

अर्थात् मेरा पिता चाहता है कि मैं पूर्वजों के समीप निवास करूँ। मूलमंत्र मे 'विनति' क्रियापद का कोई कर्म दिखाई नहीं पड़ता। 'माम्' पद का उपन्यास भाष्यकार ने किया है अत. उपर्युक्त व्याख्या समीचीन नहीं लगती। स्वय आचार्य सायण भी उपर्युक्त व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हुये और वे 'यथा वेति' वचन से इस सूक्त को सामान्य ऋषिपरक बताते हैं।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण में नाचिकेतोपाख्यान

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड, एकादश प्रपाठक, अष्टम अनुवाक मे यह कथा मिलती है और वहाँ यह कथा प्रसङ्गप्राप्त है। सातवें अनुवाक मे पक्ष्याकारवायुदेवताविषयक नाचिकेताग्नि की उपासना तथा फलस्वरूप ब्रह्म-लोक की प्राप्ति कही गई है। यह कैसे प्राप्त होती है, इसी प्रश्न के समाधान के अवसर पर इस आख्यान का उपन्यास हुआ है। इस आख्यान का विषय सक्षेप मे इस प्रकार है —

वाजश्रवा नामक ऋषि ने सर्वस्व दक्षिणा वाले विश्वजिदादि याग के द्वारा उसके फल की इच्छा से यागमध्य मे ऋत्विजो को सर्वस्व दान कर दिया। उस ऋषि के नचिकेता नामक पुत्र थे। उस समय नचिकेता की आयु उपनयन के योग्य थी। दक्षिणा मे जिस समय गायें ले जायी जा रही थीं उस समय नचिकेता के मन मे दानविषयक श्रद्धा आविर्भूत हुई। उसने सोचा कि इस याग मे तो यजमान को सर्वस्व देना चाहिये और मैं भी अपने पिता की ही वस्तु हूँ। यह विचार उसने पिता से तीन बार पूछा कि मुझे किसे दे रहे हैं? पुत्र के इस आग्रह से पिता क्षुब्ध हो गये और कह दिया मृत्यु को तुझे देता हूँ। बालक नचिकेता पिता की इस अप्रत्याशित आज्ञा से किंचित् विस्मित हो गया। इसी समय दैवीवाक् ने कहा—'पिता ने तुझे मृत्यु को दे दिया। अत तुम्हें मृत्यु के पास जाना चाहिये। यम के प्रवासी रहने पर जाओ, तीन रात बिना भोजन किये उनके घर रहो। जब लौटने पर यम पूँछे कि कितनी रातें वहाँ रहे हो तो तीन रातें बताना। भोजन विषयक प्रश्न किये जाने पर कहना कि पहली रात उपवास करके तुमने उनकी प्रजाओ का भक्षण किया, दूसरी रात मे उनके पशुओं का भक्षण किया, तीसरी रात्रि म उनके सुकृतों का भक्षण किया।' दैवी वाक् स इस प्रकार आदिष्ट नचिकेता ने इसी प्रकार किया।

नचिकेता के इस शास्त्रमर्मानुसारी वचन से यम का हृदय द्रवित हो गया, वे उस बालक के प्रति आकृष्ट हो गए और निश्चय किया कि यह तो सत्कारार्ह है, मारणीय नहीं। उन्होंने कह दिया, वर माँगो। नचिकेता ने झट तीन वर माँग लिये। १. तुम्हारे द्वारा मारा न जाकर जीवित ही पिताजी के पास चला जाऊँ, २. मेरे इष्टापूर्त, श्रौतस्मार्तसुकृत की रक्षा हो, और ३. पुनर्जन्म-

निवारण के साधन विषयक जिज्ञासा। यम ने तीनो वरो को तुरन्त दे दिया। प्रथम वर तो यम के बिना कुछ किये ही प्राप्त हो गया। द्वितीय वर की पूर्ति के लिये नाचिकेत अग्नि का विस्तृत उपदेश किया और तीसरे वर मे भी पुन नाचिकेताग्नि-विद्या का उपदेश किया। एक अग्नि विद्या से ही दो फलो की सिद्धि कैसे हो सकती है, इस शङ्का का समाधान करते हुये आचार्य सायण ने लिखा है —

'चयन और उपासना मे जिस व्यक्ति की चयन की प्रधानता और उपासन की गौणता होती है उसकी इष्टापूर्ति अक्षय होती है, वह चिरकाल तक पुण्य लोक का अनुभव कर पुनर्जन्म स्वीकार करता है। जिसका उपासन प्रधान होता है और चयन गौण उसकी ब्रह्मलोक प्राप्ति के द्वारा मुक्ति हो जाती है, जन्मान्तर नहीं होता।"

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायणभाष्य, पृ० १३८२, आनन्दा० स०)

भाष्यकारका आशय यह है—दो वर की प्रार्थना मे एक भी अग्निविद्या का उपदेश फलभेद से दो प्रकार से उपकारक है। होमाग्नि उपासना मे अग्निचयन शब्द से विशिष्ट आकार वाली ईंटो से वेदी की रचना, तदनन्तर अग्नि को स्थापना और यज्ञीय साधनो से होमविधान ये सभी आदिष्ट हैं। वह्नि की देवता रूप मे उपासना और यजमान का उसमे मनोनिवेश यह परवर्ती विधि है। इसमे प्रथम से तो इष्टापूर्त की अक्षीणता निष्पन्न होती है और दूसरे से मृत्यु का अपक्षय होता है, यही सायणाचार्य का अभिमत है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणगत आख्यान का यह सक्षेप है।

कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान

कठोपनिषद् का आख्यान लोक मे नितान्त प्रसिद्ध है। वह आख्यान भी तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समान ही है यद्यपि कुछ विस्तृत रूप मे मिलता है। दोनो कथाओं में कुछ भेद है जिसम कठोपनियद मे जो नवीनता है उसका यहाँ निदर्शन किया जाता है —

(क) दक्षिणा मे ले जायी जाती हुई गायो की कृशता ही नचिकेता के पिता से प्रश्न का कारण है। क्योकि —

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥

—कठ०, १।१।३

निरिन्द्रिय गायों का दान आनन्दरहित तथा दु खदायी लोकों को प्राप्त कराता है यही विचार कर नचिकेता अपने पिता वाजश्रवा से अपने दान के लिए पूछता है।

(ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण म अशरीरिणी वाक् का सद्भाव है जो नचिकेता को भावी कार्य को करने का उपदेश करती है। कठोपनिषद् मे इसका सकेत भी नहीं है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण मे दैवी वाणी के उपदेश से ही नचिकेता अपने कार्य के यथोचित सम्पादन म समर्थ हुआ। कठोपनिषद् म दैवी वाणी का अभाव नचिकेता की तेजस्विता और अन्त सत्त्व को सद्य प्रकाशित कर देता है। दैवी वाणी के बिना उपदश के ही कुशाग्र बुद्धि, असामान्यसत्त्व तथा दृढनिश्चयी नचिकेता सभी कार्यों को उसी भांति निष्पन्न करता है, यह उसके चारित्र्य के प्रागल्भ्य का परिचायक है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ म यम द्वारा बताय भौतिक वैभवविलास के प्रलोभन का सकेत भी नही है। पर, उपनिषद् म वह प्रलोभन नितान्त हृदयहारी है

> ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
> सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
> इमा रामाः सरथाः सतूर्या
> न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
> आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
> नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥
>
> —कठ०, १।१।२५

इन प्रलोभनो से नचिकेता अपने निश्चय से जरा भी नही डिगा, यह उसकी प्रगल्भता और दृढता का परिचायक है।

(ग) दूसरा पार्थक्य भी स्पष्ट ही है। दो ग्रन्थो मे वरो की सख्या बराबर है—कठोपनिषद् मे भी तीन वर ही हैं। पर प्रथम दो वरो मे भेद न होने पर भी तीसरे वर के स्वरूप मे बडा भेद है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण मे कर्मकाण्ड के अनुरूप याज्ञिक सरणि का अनुसरण कर पुनर्मृत्यु निवारण के लिये नाचिकेताग्नि का उपदेश नितान्त समीचीन है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ में तो याग का ही प्राधान्य है। उपनिषद् म आध्यात्मिक उत्तर है। अत ज्ञानकाण्डपरक कठोपनिषद् मे आध्यात्मिक उत्तर सुतरा सगत है।

अत ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ म तात्पर्य म समानता होन पर भी उपदश की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है।

इतिहास में नाचिकेतोपाख्यान

महाभारत अनुशासनपर्व के ७१वें अध्याय मे समग्र नाचिकेतोपाख्यान प्राचीन इतिहास के रूप मे वर्णित है। नचिकेता के पिता उद्दालक ऋषि ने दीक्षा के समाप्त होने पर नचिकेता को नदी तीर से समिधा, दर्भ, पुष्प, कलश-

जल लेने के लिये भेजा। किन्तु नदी के वेग से सब कुछ बह गया था अत लौटकर बालक नचिकेता ने पिता से कहा दिया कि उसे वहा कुछ दिखाई नही पडा। यह सुन भूख-प्यास से आर्त ऋषि ने नचिकेता को शाप दे दिया—यम के पास जा। ऋषि के इस अतर्कित वाग्वज्र से आहत नचिकेता गतसत्व होकर सद्य भूलुण्ठित हो गया। दु खित पिता ने शेष दिन तथा रात को अत्यन्त दु खी होकर विताया।

पिता के अश्रु से सिक्त नचिकेता पुन उठ बैठा। आश्चर्यचकित पिता ने नचिकेता से यमपुरी का वृत्तान्त पूछा। नचिकेता ने कहा—अत्यन्त प्रकाशमान वैवस्वती सभा मे जाने पर यम ने अर्घ्यादि से मेरा स्वागत किया। और कहा कि तुम्हारे पिता ने केवल यमपुरी देखने के लिये कहा है अत तुम मरे नही हो। मैंने उनसे 'पुण्यवानो के लोक देखने की इच्छा प्रकट की जिसे उन्होने दिखाया। दूध और घी से भरी नदियो को देखकर मैंने यम से पूछा —

क्षीरस्यैताः सर्पिपश्चैव नद्यः।
शश्वत् स्रोताः कस्य भोज्याः प्रदिष्टाः॥

' अर्थात् दूध और घी से भरी ये नदिया किसकी भोज्य हैं। यम ने कहा—

यमोऽब्रवीद् विद्धि भोज्यास्त्वमेता
ये दातारः साधवो गोरसानाम्।
अन्ये लोकाः शाश्वता वीतशोकैः
समाकीर्णा गोप्रदाने रतानाम्॥

—महा, अनु, ७१।२९

यम ने गोदान की प्रभूत प्रशसा की। गोदान के प्रसग मे पात्र, काल और गोविशेष की भी महिमा वर्णित है। शोभन समय मे, शोभन विधि से, शोभन पात्र को दी गई गौ दाता को अनन्त दिव्य लोको को देती है। हीन और पुरानी गौ देने पर दाता को नरक ही देती है —

दत्त्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावद् वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम्॥ ३३॥

यह पद्य गोदान की प्रशसा करता है। गौओ के साथ मानवो का प्रेम सदा से रहा है इसका प्रतिपादक यह श्लोक देखिये —

गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो
गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके।

यस्तं जानन् न गवां हार्दमेति
स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥ ५२ ॥
—(महाभार० अनु० ७१)

इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्याय मे वैवस्वत यम ने गोदान का गौरव बताया है।

विवेचन

यहाँ महाभारतीय नाचिकेत कथा का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। ७१ वें अध्याय से पूर्व ही गोदान का प्रसङ्गोपात्त वर्णन है। अनुशासन पर्व अध्याय ६९ में गोदान का माहात्म्य सामान्यत वर्णित है। ७० वें अध्याय मे नृग राजा के गोदानजन्य कीर्ति का वर्णन है (नृग का वर्णन श्रीमद्भागवत १०।६४ मे विशेष रूप से है)। तदनन्तर गोदान की दृढता से महत्त्वस्थापन के लिये प्रसङ्गोपात्त ७१ वाँ अध्याय आता है। वहाँ 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहास पुरातनम्' अर्थात् (इस विषय मे यह पुराना आख्यान है) कह कर नचिकेता की कथा सक्षेप मे वर्णित है। क्योकि कथा सक्षेप मे वर्णित, है अत कई कथाशों मे सामञ्जस्य स्थापित नहीं होता। जैसे :—

(१) नचिकेता के अल्पापराध से ऋषि उद्दालक का शाप अनुचित प्रतीत होता है। ऋषि ने नचिकेता को नदीतीर से इध्मादि के आहरण के लिये कहा। नदी वेग से तत्तत् पदार्थों के बह जाने से नचिकेता उन्हें न ला सका अत उसका इसमें कोई अपराध नहीं। इस प्रकार इस कथा मे यह अनौचित्य दिखाई पड़ता है।

(२) कठोपनिषद् मे वर्णित इस कथा में पिता द्वारा निरिन्द्रिय गायो के दान को देखकर नचिकेता का हृदय दुःखित हो उठा अत' उसने स्पष्ट इसका *प्रतिरोध किया। इस प्रकार उपनिषद् मे नचिकेता ने गोदान के उचित नियम का* प्रतिपादन कर अपने ऊपर विपत्ति ली। यहा उसके हृदय की उत्कट गोभक्ति का परिचय मिलता है। स्वर्ग मे गोदानकर्ताओ को उत्तम गति मिलती है इस महाभारतीय कथा का औपनिषदिक कथा से सामञ्जस्य होता है। किन्तु महाभारत मे इस कथाश का निर्देश नही अत वहाँ पूर्वोत्तर के कथाश मे असामञ्जस्य खटकता है।

पौराणिक नाचिकेतोपाख्यान

वराह-पुराण में अध्याय १९३ से २१२ तक नाचिकेतोपाख्यान वर्णित है। यहाँ इस कथा को 'पुरावृत्ता कथैषा' कहा गया है जिसमे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। वहा इस आख्यान की महिमा भी वर्णित है :—

शृणु राजन् पुरावृत्तां कथां परमशोभनाम् ।
धर्मवृद्धिकरीं नित्यां यशस्यां कीर्तिवर्धिनीम् ॥
पावनीं सर्वपापानां प्रवृत्तौ कीर्तिवर्धिनीम् ।
इतिहासपुराणानां कथां ये विदुषां प्रियाम् ॥

—वराहपुराण, १९३।१०-११

२१२ वें अध्याय के अन्त मे कथा-समाप्ति के अवसर पर भी इसका महत्व प्रतिपादित है —

इदं तु परमाख्यानं भगवद् भक्तिकारकम् ।
शृणुयाच्छ्रावयेद् वापि सर्वकामानवाप्नुयात् ॥

—वराह० २१२।२०-२१

यहाँ कथा अत्यन्त सक्षिप्त रूप से वर्णित है। कथा का स्वरूप इस प्रकार है —

उद्दालक नामक कोई प्रसिद्ध ऋषि थे जो समस्त वेद-वेदाङ्ग मे पारङ्गत थे। उनके पुत्र नचिकेता हुये और वे भी अत्यन्त बुद्धिमान् तथा समस्त वेद वेदाङ्ग मे पारङ्गत थे। पिता ने रुष्ट होकर पुत्र को शाप दिया—'जाओ शीघ्र यम को देखो। योग विधि के ज्ञाता पुत्र न पिता से कहा—'आप का वचन मिथ्या न हो इसलिये मैं शीघ्र ही धर्मराज की पुरी मे जाऊँगा। यम का दर्शन कर निस्सन्देह यहा पुन आ जाऊँगा।' क्रोध मे ऋषि न नचिकेता को शाप तो दे दिया पर पीछे उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ अत उन्होने पुत्र को यमपुरी जाने से बहुत रोका। किन्तु नचिकेता ने भावी पुत्रनाश की आशङ्का से सन्त्रस्त पिता को सत्यमार्ग से विचलित देखकर उन्हे सत्यमार्ग से न हटने के लिये बहुत प्रयत्न किया। सत्य की महिमा के प्रतिपादक ये श्लोक अत्यन्त उदात्त हैं —

उदधिर्लंघयेन्नैव मर्यादा सत्यपालित ।
मन्त्र प्रयुक्त सत्येन सर्वलोकहितायते ॥
सत्येन यज्ञा वर्तन्ते मन्त्रपूता सुपूजिता ।
सत्येन वेदा गायन्ति सत्ये लोका प्रतिष्ठिता ॥
सत्यं गाति तथा साम सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सत्यं स्वर्गश्च धर्मश्च सत्यादन्यन्न विद्यते ॥
सत्येन सर्वं लभते यथा तात मयाश्रुतम् ।
न हि सत्यमतिक्रम्य विद्यते किञ्चिदुत्तमम् ॥

—वराहपुराण० १९३।३८ ४१

पिता को अपने धर्म पर स्थिर कर नचिकेता उस परम स्थान पर गया जहाँ राजा यम रहते हैं। उन्होंने बालक को आया देख यथा विधि अर्चना कर तुरत लौटा दिया—

अर्चितस्तु यथान्यायं दृष्ट्वैव तु विसर्जितः॥

नचिकेता वहाँ से लौटकर अपने पिता को आनन्दित करते हुये अपने आश्रम मे आया। पुत्र को लौटा देख अपने भाग्य की उद्दालक प्रशंसा करने लगे और परलोक की कथा सुनने की इच्छा वाले अन्य ऋषि-मुनियों को बुला लिया। आश्रम मे इकट्ठे उन लोगो ने यमलोक विषयक अनेक कौतूहलोत्पादक प्रश्नो को पूछा (अ० १९४)। यहाँ से लेकर २१२ अध्याय तक नचिकेता ने उन लोगो के प्रश्नो का उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। परलोक-विषयक जिज्ञासुओ के लिये ये अध्याय उपयोगी हैं तथा उन्हें इसका आलोडन करना चाहिये। १९५ वें अध्याय मे यमलोकस्थ पापियो, और १९६ मे धर्मराज की नगरी का विस्तृत वर्णन है जहाँ 'पुष्पोदका' नामक नदी बहती है। उसके तट पर ऊँचे प्रासाद हैं जो दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेते हैं।

१९८ अध्याय मे यमकृत नचिकेता की अभ्यर्थना वर्णित है। कुशास्तृत, पुष्पोपशोभित स्वर्ण आसन पर यम की आज्ञा से नचिकेता बैठे। यम का रौद्र मुख उस समय सौम्य हो गया। बालक नचिकेता ने उनकी प्रशस्त स्तुति की जिससे प्रसन्न होकर यम ने उन्हें चित्रगुप्त के पास भेजा। नचिकेता को चित्रगुप्त ने विविध नरक यातनाओ का दर्शन कराया। इन सबका नचिकेता ने अपने पिता के सामने यथावत वर्णन किया।

विवेचन

वराहपुराण मे दी हुई कथा के विवेचन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं —

(क) वराहपुराण मे यह कथा 'पुरावृत्ता' कही गयी है। इससे यह द्योतित होता है कि यह कथा प्राचीन है तथा यह अनुमान होता है कि यह कथा वैदिक है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पुराण-काल मे यह कथा विस्मृत प्राय हो गयी थी।

(ख) ऋषि उद्दालक के क्रोध का कारण न देने से यहाँ कथा की नैसर्गिकता मे बाधा आती है। किसी के भी क्रोध का हेतु होना चाहिये, उसके न होने से अनौचित्य प्रतीत होता है।

भावी पुत्रवियोग की आशका से उद्दालक का पश्चात्ताप, उद्वेग, सत्य से प्रच्युति पाठको को उद्विग्न कर देती है। ऋषि के हृदय मे जिस दृढ़ता की अपेक्षा होती है उसकी कमी देखकर पाठको का मन दुःखी होता है।

(ग) पुराणकार का अभीष्ट प्रतीत होता है यमलोक के वृत्तान्त, पुण्य कर्मो के परिपाक, और पापियो की नरकयातना का वर्णन। इसी उद्देश्य से प्राचीन नाचिकेत कथा यहाँ निर्दिष्ट है। साक्षात् देखी हुई वस्तु के वर्णन मे जितनी श्रद्धा होती है उतनी सुनी हुई वस्तु के वर्णन मे नही। इस विषय मे नचिकेता की कथा नितान्त उचित प्रतीत होती है। पिता के शापवश नचिकेता ने स्वर्ग तथा नरक की गतियो का साक्षात् अवलोकन किया—इस वैदिक कथा को पुराणकार ने साग्रह तथा साभिप्राय यहा उपनिबद्ध किया है। दृष्ट वस्तु मे श्रुत की अपेक्षा अधिक विश्वास जमता है। यही विचार कर नाचिकेत कथा पुराण मे उपनिबद्ध है। कथा की प्राचीनता, प्रामाणिकता और विषयोपकारिता स्पष्ट है। समस्त स्थानो पर जहा यह आख्यान है मुनिबालक का नाम नचिकेता या नाचिकेत है।

नासिकेतोपाख्यान

उपर्युक्त पौराणिक कथा से कुछ सम्बद्ध, यद्यपि अनेको भिन्नतायें वर्तमान हैं, एक नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तक उपलब्ध होती है। इसके कई हस्तलेख मिले हैं तथा कही से प्रकाशित भी हुई है। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय मे उपलब्ध हस्तलेखो के आधार पर इस कथा का उपन्यास किया जाता है।

यहा यह स्पष्ट कह देना उचित है कि नासिकेतोपाख्यान की कथा नाचिकेतोपाख्यान से सुतरा भिन्न है। इस आख्यान मे कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है —

वेद वेदाङ्ग मे पारङ्गत महर्षि उद्दालक अपने आश्रम मे उग्र तप कर रहे थे तभी वहा पिप्पलाद नामक ऋषि आये। उन्होने गृहस्थाश्रम की बडी प्रशसा की तथा पुत्रप्राप्ति की महत्ता वर्णित करते हुये कहा—

> कुलानि तारयेत् तस्य सुपुत्रो वंशवर्धनः।
> अपुत्रस्य गृहं शून्यमपुत्रेण गृहेण किम्।
> अपुत्रो वंशनाशोऽस्ति श्रुतिरेषा सनातनी॥

मुनि अपने भाग्य को पूछने स्वर्गलोक मे चले गये जहाँ प्रजापति ने उन्हे बताया कि पहले तो तुझे पुत्रलाभ होगा फिर पत्नी मिलेगी। आश्रम मे लौटकर मुनि विषय की चिन्ता करने लगे और उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसे उन्होंने कमल के पुष्प मे रखकर गगा नदी मे छोड़ दिया। दैवयोग से किसी रघुनामक राजा की चन्द्रावती नामक लड़की थी जो उसी समय गंगास्नान मे

लिये गई और उसने उस कमलपुष्प को देखा। सखिया उस फूल को उठा लायीं और राजकुमारी ने उसे सूंघ लिया। उद्दालक के अमोघ वीर्य से उसे गर्भ हो गया और दसवें महीने उसने नासाग्र से एक पुत्र उत्पन्न किया। नासाग्र से उत्पन्न होने से उसका नाम नासिकेतु या नासिकेत पड़ा—

नासाग्रेण समुत्पन्न ऋषिर्नाम तथाकरोत्।
नासिकेत इति ज्ञात्वा मम प्रोक्तं महात्मना॥

इस पुत्र को अन्याय से प्राप्त जान कर उस कन्या ने काष्ठ मञ्जूषा में रखवा कर सखियों द्वारा गंगा जल में फेंकवा दिया। उस राजकुमारी के पिता को जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने अनर्थ की आशङ्का से उस लड़की को जंगल में छोड़वा दिया। काष्ठमञ्जूषा में बहते बालक को उद्दालक के शिष्य ने देखा और उसे उठा लाया। ऋषि ने उसका पालन-पोषण किया। चन्द्रावती भी उनके आश्रम पर पहुँची और अपना समस्त पूर्व वृत्तान्त बताया—

आगतं पद्मपुटकं दर्भेण परिवेष्टितम्।
तस्मिन्नाघ्रातमात्रेण जातं गर्भस्य धारणम्॥—४।४१

ऋषि को सब वृत्तान्त ज्ञात हो गया। उन्होंने रघु से जाकर समस्त समाचार निवेदन किया और नासिकेत को पुत्र रूप में तथा तदनन्तर चन्द्रावती को पत्नीरूप में ग्रहण किया। इस प्रकार प्रजापति द्वारा कही बात हो गयी।

किसी समय पिता ने नासिकेत को अग्निहोत्र की सामग्री लाने के लिए वन में भेजा। नासिकेत वन के किसी रमणीय भाग में जाकर समाधिस्थ हो गये और आधा वर्ष बीत गया। आने पर अग्निहोत्र में प्रत्यवाय की आशङ्का कर पिता उद्दालक ने नितान्त आक्रोश प्रकट किया। नासिकेत ने अग्निहोत्र की निन्दा कर योगविधि की प्रशंसा की—

अग्निहोत्रमिदं तात संसारस्य तु बन्धनम्।
जन्ममृत्युमहामोहे संसारे तव न ध्रुवम्॥
योगाभ्यासात् परं नास्ति संसारार्णवतारणम्॥

उसकी बात सुनकर क्रुद्ध पिता ने तुरत शाप दिया—

उवाच गच्छ शीघ्रं त्वं यमं पश्य सुताधम॥

अर्थात् तुम शीघ्र यमका मुख देखो।

नासिकेत ने यमलोक में जाकर यम की आज्ञा तथा चित्रगुप्त के अनुग्रह से यमलोक की यातनाओं तथा सुखों को स्वयं देखा। यमलोक से लौटने पर जब मुनियों ने उससे यमलोक का वृत्तान्त पूछा तो नासिकेत ने सभी बता दिया—

इत्यादि सर्वमाख्यातं तत्र दृष्टं मुनीश्वराः।
सन्देहो नात्र कर्त्तव्यः सर्वप्रत्ययदर्शनात्॥ १७।२९

इस ग्रंथ की हस्तप्रतियों का अवलोकन करने पर इसके दो पाठ दिखाई पड़ते हैं—(१) बृहत्पाठ और (२) लघुपाठ। इसकी बहुत सी हस्तप्रतियां उपलब्ध हैं। लघुपाठ वाले आख्यान का १८०३ ई० में सदल मिश्र ने कलकत्ता से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया जो हिन्दी के आरम्भिक ग्रन्थों में अपना विशेष महत्त्व रखता है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इसे प्रकाशित किया है।[1]

नाचिकेतोपाख्यान-विमर्श

वेद, इतिहास तथा पुराण में उपलब्ध नाचिकेतोपाख्यान का संक्षिप्त विमर्श यहां प्रस्तुत किया जाता है

(१) ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ में ऋषिबालक का नाम नचिकेतस या नचिकेता है इतिहासपुराण में नाचिकेत है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् में पिता का नाम वाजिश्रवस है। फिर कठोपनिषद् में 'औद्दालकिरारुणि मत्प्रसृष्ट' में आरुणि को औद्दालकि भी कहा गया है। शाङ्कर भाष्य में उद्दालक एव औद्दालकि' है अत उसके पिता का उद्दालक भी नाम परिचित प्रतीत होता है। पुराण और महाभारत में उद्दालक या उद्दालकि ही नाम है।

(२) यह उपाख्यान वैदिक ही है। यह आख्यान सर्वप्रथम तैत्तिरीय-ब्राह्मण में दिखाई पड़ता है। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण ही इसका मूल है। पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि मूलत यह आख्यायिका कठशाखा के अध्येताओं में ही प्रचलित थी। इस अनुमान का समर्थक यह प्रमाण है तैत्तिरीय ब्राह्मण के मूल प्रपाठकों में स्वर्ग शब्द का उच्चारण 'सुवर्ग' है, यथा—

अपदातीनृत्विजः समावहन्त्या सुब्रह्मण्याया।
सुवर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै।
यार्च यस्योपवसति-सुवर्गस्य लोकस्य गुप्त्यै॥

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।८।१

किन्तु ११ वें प्रपाठक से आरम्भ कर तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्त तक यह बहुप्रचलित पद्धति उलट जाती है। यहां सुवर्गशब्द स्वर्ग हो जाता है यथा—

यो ह वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरं वेद, सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति। हिरण्यं वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरम्। य एवं वेद। सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण, प्रपाठक ११, अनुवाक ७।

---

१ नाचिकेतोपाख्यान की हस्तलिखित प्रतियों के विषय में विस्तृत विमर्श के लिए देखिए काशिराजन्यास, रामनगर की पुराण पत्रिका (६।२) में मेरा एतद्विषयक निबन्ध। —पृ० ३९५-९६

अतः यह अनुमान होता है कि ये दोनों प्रपाठक किसी दूसरी शाखा के हैं जो इधर-उधर से यहाँ आ गये हैं। मूलतः ये दोनों प्रपाठक कठ शाखा के थे, यह अनुमान करना भी कठिन है। एकादश प्रपाठक में उपलब्ध यह आख्यान कठ शाखा का है यह कथन भी विरुद्ध नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि कठोपनिषद् में सर्वाङ्ग रूप में उपलब्ध यह कथा कठशाखीय याज्ञिक सम्प्रदाय में ही मूलतः उत्पन्न हुई और अन्य ग्रन्थों में भी तात्पर्य भेद से गृहीत या स्वीकृत हुई।

(३) प्रेक्षकों का तात्पर्य में भेद भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस आख्यान का याज्ञिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहा और यह वहाँ उद्भूत हुआ। अतः यह आख्यान कर्मकाण्डविषयक था इसमें कुछ विचार कहने की अपेक्षा नहीं। कठोपनिषद् का वर्णन नाचिकेताग्नि का वैशिष्ट्य दर्शाता है। अन्य अग्नियों के चयन से उसके चयन में, इष्टों की संख्या में भेद है—**लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।**' यह कठोपनिषद् का ही वचन है। ब्राह्मण-ग्रन्थ में इस आख्यान का कर्मकाण्ड ही उद्देश्य है। नाचिकेताग्नि के सेवन से स्वर्गप्राप्ति तथा मृत्युहानि—ये दो तात्पर्य ब्राह्मण-ग्रन्थ में सुस्पष्ट हैं। चूँकि उपनिषद् में ब्रह्मविद्या का प्राधान्य है अतः यह कथा अध्यात्मविषयक है। उपनिषद् में नचिकेता का गौओं के लिए तीव्र कष्ट को अंगीकार करना, यमलोक में यम से ब्रह्मविद्या सीखना तथा लौटकर पिता का दर्शन वर्णित है। इतिहास-पुराण में इसके केवल दो ही भाग—गौ के लिए कष्टस्वीकृति तथा लौटना—ये ही मुख्य रूप से वर्णित हैं। महाभारत में यह कथा गो-महिमा के रूप में उपनिबद्ध है। पापी लोग परलोक में नाना तीव्र यातनाओं को सहते हैं और पुण्यात्मा लोग दिव्य लोकों को प्राप्त कर दिव्याङ्गनाओं के साथ अक्षय्य सुख भोगते हैं—यह नचिकेता के मुख से प्रामाणिक रूप से कहलवाकर पुण्य का परिपाक शुभ और पाप का परिपाक अशुभ होता है। यही इस आख्यान का सार है। इस प्रकार ग्रन्थों के तात्पर्यभेद कालभेद तथा परिस्थितिभेद से कथा का अभिप्राय बदल जाता है। मूलतः कर्मकाण्डपरक यह कथा उपनिषद् में विद्यास्तुतिपरक हो गयी, महाभारत में गोदानप्रशंसापरक तथा इतिहास-पुराण में कर्मफल की व्यापिका हुई। यह कालभेद के कारण हुआ। मूलतः नचिकेता का चरित्र तेजस्वी, ब्रह्मवर्चससम्पन्न तथा उदात्त था। ब्राह्मणकाल से आज तक परिवर्तित होती हुई भी यह कथा अत्यन्त लोकोपकारक है।

-र
र्शित

सप्तम परिच्छेद

पुराणों का वर्ण्य विषय

पुराणो का मुख्य वर्ण्य विषय पञ्चलक्षण ही है—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। इन लक्षणो के स्वरूप का समीक्षण पुराणो के समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। पीछे दिखलाया गया है कि पुराण का यही सर्वप्राचीन लक्षण है। इस परिच्छेद और अगले परिच्छेद में इन पाँचो विषयो की समीक्षा संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत है। साथ ही साथ इतर विषयो का सामान्य निर्देश करने के अनन्तर पुराण निर्दिष्ट भूगोल का भी विवरण अन्त मे दिया जावेगा।

(१)

पौराणिक सृष्टितत्त्व

पुराण मे सृष्टि विद्या का बडे वैशद्य से वर्णन किया गया है। सर्ग (सृष्टि) पुराणो के पञ्चलक्षणो मे से आद्य तथा मुख्य लक्षण है। पौराणिक सृष्टि विद्या में सांख्य दर्शन के द्वारा निर्दिष्ट सृष्टि विद्या का विशेष अवलम्बन तथा आश्रयण लिया गया है। सांख्य का प्रभाव पुराणो के ऊपर विशेषरूप से पडा है, इसका प्रत्यक्ष प्रत्येक आलोचक को अल्प प्रयास से ही हो सकता है। ध्यातव्य तत्त्व यही है कि पुराण के सृष्टिप्रकरण पर सांख्य का विपुल प्रभाव पडा है अवश्य, परन्तु पौराणिक सृष्टितत्त्व सांख्यीय सृष्टितत्त्व का अक्षरश अनुवाद नही है। पौराणिक सृष्टि विद्या का अपना वैशिष्ट्य है, स्वातन्त्र्य है, सांख्यमत से प्रभावित होने पर भी उसमे अपना व्यक्तित्व है। पुराणों मे वर्णित सृष्टितत्त्व महाभारत तथा मनुस्मृति के एतद् वर्णन के अनन्तर किया गया है। वैदिक सृष्टितत्त्व का भी प्रभाव इन तीनो ग्रन्थो के सृष्टिवर्णन के ऊपर विशेषरूपेण दृष्टिगोचर होता है। पुराणकालीन सांख्य निरीश्वर दर्शन न होकर सेश्वर दर्शन है अर्थात् सांख्य-वेदान्त मे किसी प्रकार का विरोध या वैषम्य इस प्राचीन काल मे लक्षित नही होता जैसा वह अवान्तर काल मे स्पष्टतया प्रतीत होता है। यहाँ तो सांख्य तथा वेदान्त का मञ्जुल सामरस्य है अर्थात् प्रकृति-पुरुष के द्वैत का प्रतिपादक सांख्य अद्वय ब्रह्म के द्योतक वेदान्त के साथ मिलकर पौराणिक दर्शन की मूलभित्ति तैयार करता है। प्रकृति तथा पुरुष दो भिन्न तत्त्व नही है, प्रत्युत वे दोनो ब्रह्म के द्वारा प्रेरित होकर ही अपने कार्य के सम्पादन मे समर्थ होते हैं। ब्रह्म इन

दोनों का अध्यक्ष है और इस ब्रह्म को वैष्णव विष्णु से तादात्म्य करते हैं शैव शिव से शाक्त शक्ति से—अर्थात् प्रत्येक मत अपने अभीष्ट परदेवता के साथ उसकी अभिन्नता मानते हैं।

सांख्य में सृष्टि का विकास प्रधान तथा पुरुष इन दोनों तत्त्वों के पारस्परिक प्रभाव तथा संयोग का परिणत फल है। सांख्य में ये दोनों ही अनादि तथा नित्य तत्त्व हैं, परन्तु पुराण में ये दोनों ही विष्णु के दो रूप माने गये हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति विष्णु की सत्ता पर आधारित है। विष्णु-पुराण का स्पष्ट कथन है कि विष्णु के परम (=उपाधिरहित) स्वरूप से प्रधान और पुरुष दो रूप होते हैं और विष्णु के एक तृतीय रूप—कालात्मक रूप—के द्वारा ये दोनों सृष्टि-समय में संयुक्त होते हैं तथा प्रलय-दशा में वियुक्त होते हैं। भगवान विष्णु कालशक्ति के द्वारा ही विश्व की सृष्टि तथा प्रलय किया करते हैं[1]। विषयों का रूपान्तर या बदलना ही काल का आकार[2] है। काल तो स्वयं अनादि अनन्त तथा निर्विशेष है। उसी को निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेल में अपने आप ही को सृष्टिरूप में प्रकट कर देते हैं। पहिले यह समग्र विश्व भगवान् की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप में स्थित था। उसी को अव्यक्तमूर्ति काल के द्वारा भगवान् ने पुनः पृथक् रूप से प्रकट किया।

पुराण के अनुसार यह विश्व अनादि तथा अनन्त है। इस समय में वह जैसा है वह पहिले भी वैसा ही था और आगे भी वह इसी रूप में रहेगा।

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।

—(भाग० ३।१०।१३)

तब प्रलय की सम्भावना कैसे? यह जगत् कतिपय वर्षों में विलीन तथा नष्ट हुआ दृष्टिगोचर होता है—इसका रहस्य क्या है? इसका उत्तर है **प्रवाहनित्यता**। गंगा जी में डुबकी लगानेवाला व्यक्ति उसी जल में फिर डुबकी नहीं लगाता, जिसमें वह एक क्षण पूर्व डुबकी लगा चुका था। जल तो सन्तत प्रवहणशील है—वह निरन्तर परिवर्तनशील है एक क्षण के लिए भी उसमें विराम नहीं है तब गंगा के उसी जल में डुबकी लगाने का तात्पर्य क्या है? जल प्रतिक्षण अवश्य बदलता रहता है परन्तु वह प्रवाह वह धारा जिसका

---

१ विष्णोः स्वरूपात् परतो हि ते द्वे
रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते
रूपान्तरं यद् द्विज कालसंज्ञम्। —विष्णु १।२।२४

२ वही १।२।२७

वह अविभाज्य अग है, कभी भी उच्छिन्न नही होती है। वह नित्य होती है। सृष्टि के विषय में भी यही प्रवाह-नित्यता का सिद्धान्त कार्यशील मानना चाहिए।

प्रकृति, पुरुष, व्यक्त (=जगत्) तथा काल—ये चारो रूप उसी परमात्मा विष्णु के हैं, परन्तु वह इन्ही के द्वारा सीमित नही होता। वह इनसे परे भी वर्तमान रहता है। जगत् की सृष्टि उस विष्णु की क्रीडा ही समझनी चाहिए, अन्यथा उस आप्तकाम के लिए इस विचित्र विश्व के उत्पादन का तात्पर्य हो, उद्देश्य ही कौन सा हो सकता है? पुराणो ने विश्व के सृष्टितत्त्व का वर्णन कम या अधिक मात्रा में बहुश किया है।[1] साख्य के सृष्टि तत्त्व का पौराणिक सृष्टितत्त्व के ऊपर प्रभाव का विश्लेषण अनेक विद्वानो ने किया है। वह इस प्रसग मे अनुसन्धानयोग्य है।[2]

नवसर्ग

पुराणो में सृष्टि के नव प्रकार बतलाये गये हैं। इन नव[3] सर्गों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। सर्ग मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं—(१) **प्राकृतसर्ग**, (२) **वैकृतसर्ग** तथा (३) प्राकृत वैकृत। प्राकृत तथा वैकृत सर्ग के पार्थक्य के विषय में पुराणो का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिकरूप में होती है और उसके निमित्त ब्रह्मा को अपनी बुद्धि या विचार को कार्यरूप में लाने की आवश्यकता नही होती। इसके विपरीत, वैकृतसर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् ब्रह्मा ने खूब सोच-समझ कर इस सर्ग के प्रकारो का निर्माण किया :—

---

१ द्रष्टव्य ब्रह्म, अ० १, विष्णु १।२-५, वायु ३-६ अ०; भाग० ३।१०, ३।२०; नारदीय १।४२ अ०, मार्क० ४७-४८ अ०, भविष्य २।५-६; ३।५-१०, कूर्म १।४-१०; गरुड १।४ अ०, मत्स्य २-३ अ०; देवी भाग० ३।१-७; हरिवंश १।१-३.

२. द्रष्टव्य The Sānkhyization of the Emanation Doctrine shown in a Critical Analysis of texts by Dr. P. Hacker (Purāna Bulletin, Vol Iv, NO 2 PP. 218–338' 1962, Ramnagar)

३. नवसर्गविषयक श्लोक विष्णुपुराण अ० ५।१-२५ में तथा मार्कण्डेय (अ० ४७) में बिल्कुल एक समान ही हैं। दोनो में बहुत ही कम अन्तर है। विष्णु ५।२१ का पाठ है 'इत्येष प्राकृत. सर्ग. सम्भूतो बुद्धिपूर्वक:' है जो मार्कण्डेय तथा शिवपुराण के पूर्वोक्त श्लोक-पाठ के स्वारस्य से 'अबुद्धिपूर्वक:' ही होना चाहिए।

प्राकृताश्च त्रये पूर्वे सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः ।
बुद्धि पूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पञ्च वैकृताः ॥

—शिवपुराण, वायवीय १।१२।१८

प्राकृतसर्ग की सख्या है तीन, वैकृतसर्ग की पांच तथा प्राकृत-वैकृतकी एक । इस प्रकार सर्गो की सम्मिलित सख्या नव (९) है ।[1]

प्राकृत सर्ग—

(१) **ब्रह्मसर्ग**—महत् तत्त्व के सर्ग को ब्रह्मा का प्रथम सर्ग कहते हैं । 'ब्रह्मसर्ग' मे ब्रह्मन् शब्द गीता के अनुसार महत् ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्त्व का द्योतक है (गीता १४।३) साख्य-दर्शन के अनुसार बुद्धि या महत्तत्त्व ही प्रकृति-पुरुष के सयोग का प्रथम परिणाम है । वही मत यहा भी स्वीकृत है ।

(२) **भूतसर्ग**—पञ्च तन्मात्राओं की सृष्टि का यह अभिधान है तन्मात्रायें पृथिव्यादि पच भूतो की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था के द्योतक तत्त्व हैं । ये 'अविशेष' नाम से भी साख्य मे प्रख्यात हैं ।

(३) **वैकारिक सर्ग**—इन्द्रियसम्बन्धी सृष्टि का यह नाम है । साख्य-शास्त्राभिमत प्रक्रिया यहा पुराणों को अभिमत है कि अहंकार के तामस रूप से तो पञ्च तन्मात्रों का जन्म होता है तथा सात्त्विक रूप से इन्द्रियों का जन्म होता है । राजसरूप दोनो की सृष्टि मे समान-भाव से क्रियाशील रहता है और इसीलिए उस रूप से किसी पदार्थ का उदय नही होता । पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया तथा उभयरूपात्मक सकल्प-विकल्पात्मक मन को मिलाने से इन्द्रियो की सख्या एकादश होती है ।

वैकृत सर्ग—(पाच सख्या मे)

(४) **मुख्यसर्ग**—विष्णुपुराण के कथनानुसार (१।५।३-४) सर्ग के आदि मे ब्रह्मा जी के पूर्ववत् सृष्टि का चिन्तन करने पर पहिले अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ **पञ्चपर्वा अविद्या** के रूप मे । तम (अज्ञान) मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध) तथा अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—ये अविद्या के पञ्च पर्व या पञ्च प्रकार हैं । पुन: ब्रह्मा जी के ध्यान करने पर जो सृष्टि हुई वह ज्ञानशून्य, भीतर-बाहर से तमोमय तथा जड नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, वीरुध्) रूप पाच प्रकार के जड पदार्थों की थी । यह जडसृष्टि मुख्यसर्ग के नाम से इसलिए अभिहित की गई है कि

१· बहुतर पुराणो में यही संख्या मान्य है, परन्तु श्रीमद् भागवत ने इसमें एक सर्ग जोडकर इसे दस सख्या बतलाया है (द्रष्टव्य भाग० ३।१० २८)

भूतल पर चिरस्थायिता की दृष्टि से पर्वतादिकों की मुख्यता है (मुख्या वै स्थावराः स्मृता, विष्णु १।५।२१)।

(५) **तिर्यक् सर्ग**—ब्रह्मा ने इस सृष्टि को पुरुषार्थ के लिए असाधक जानकर पुनः ध्यान किया तो तिर्यग्योनि के जीवों का उदय हुआ। 'तिर्यक्' नाम का स्वारस्य यही है कि इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरछी गति से चलते हैं। इस सर्ग मे आते हैं—पक्षी तथा पशु। ये सब प्रायः तमोमय (अज्ञानी) विवेक से रहित (अवेदिन) अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले (उत्पथग्राहिण) और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले होते हैं। ये सब अहकारी अभिमानी अट्ठाइस प्रकार के वधा से युक्त, अन्त-प्रकाश तथा परस्पर मे एक दूसरे की प्रवृत्ति को न जानने वाले होते हैं। स्थावर सृष्टि के बाद जगम सृष्टि का यह प्रथम रूप उदय मे आया।

(६) **देवसर्ग**—तिर्यक्योनि की सृष्टि से ब्रह्मा को प्रसन्नता नही हुई। उनकी प्रसन्नता का हेतु वह सर्ग है जो परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का साधक सिद्ध हो। तिर्यक् स्रोत का सर्ग इस तात्पर्य मे सहायक न होने से उन्होंने ऊर्ध्वस्रोत वाले प्राणियो का सर्जन किया। यह ऊर्ध्व लोक मे निवास करने वाला सात्त्विक वर्ग है। इस सृष्टि के प्राणी विषय-सुख की प्रीति से सम्पन्न होते हैं, बाह्य तथा आन्तर दृष्टि से युक्त होते हैं। ये भीतरी-बाहरी प्रकाश से युक्त होते हैं।

(७) **मानुषसर्ग**—पूर्व सर्ग भी ब्रह्माजी की दृष्टि मे पुरुषार्थ का असाधक ही निकला। इसलिए सत्यसकल्प ब्रह्मा ने फिर अपने ध्यान से एक नवीन प्राणिवर्ग का निर्माण किया जो पृथ्वीपर ही भ्रमण करने वाले जीव थे (अर्वाक्स्रोतस)। इनमे सत्त्व रज तथा तम—इन तीनो गुणो का आधिक्य रहता है। इस वैशिष्ट्य के कारण वे दुःखबहुल होते है (तमोद्रेकात्) वे

---

१ 'वध' का अर्थ है अशक्ति। साख्यकारिका (कारिका ४९, ५१) में इन समस्त वधों का रूप निर्दिष्ट है। अनावश्यक होने से ये यहाँ नही दिये जाते, जिज्ञासुजन इन्हे साख्यकारिका तथा उसकी टीका में विस्तार से देखें।

श्रीमद् भागवत ३।१०।२० का पाठ है—'तिरश्चामष्टम सर्ग सोऽष्टाविंशद्विधो मत' जहा तिर्यक्सर्ग २८ प्रकार का बतलाया गया है। भाग० ने २० श्लो०–२४ श्लो० तक इन अट्ठाइस प्रकार के पशु पक्षियो का नाम्ना निर्देश भी किया है। लेखक की दृष्टि में 'अहङ्कृता अहम्माना अष्टाविंशद्–वधात्मका' इस विष्णुपुराणीय पाठ में 'वध' को विध पढने का यह दुष्परिणाम है। कहना न होगा कि विष्णुपुराण का यह वर्णन प्राचीन है जिसकी छाया भागवत पर है।

अत्यन्त क्रियाशील हैं—सदा कार्य मे संलग्न रहते हैं (रजोद्रेकात्) तथा बाह्य आभ्यन्तर ज्ञान से सम्पन्न होते हैं (सत्वोद्रेकात्) इस सर्ग के प्राणी 'मनुष्य' कहलाते हैं (विष्णु १।५।१५-१८)

(८) **अनुग्रह सर्ग**—विष्णुपुराण ने इसे सात्त्विक-तामस कह कर केवल सामान्य संकेत कर दिया है (विष्णु १।५।२४)। इसके स्वरूप का निर्देश मार्कण्डेय ने स्पष्टत. किया है[1] (४७ अ०, २८-२९ श्लो०) जहाँ यह चार प्रकार का बतलाया गया है—विपर्यय, सिद्धि, शान्ति तथा तुष्टि। (६।६७। ६८) वायु मे इन चारो की व्यवस्था भी की गई है--स्थावरों मे रहता है विपर्यास, तिर्यग्योनि मे शक्ति, मनुष्यो मे सिद्धि तथा देवो मे तुष्टि।

यहाँ भावों की सृष्टि अभीष्ट है। सांख्य मे यह **प्रत्यर्य सर्ग** कहा गया है जिसके चार भेद विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि नाम से प्रख्यात हैं (द्रष्टव्य सांख्यकारिका, कारिका ४६)। वायु-पुराण की दृष्टि कुछ भिन्न ही है। समस्त प्राकृतसर्ग प्रकृति के अनुग्रह से जायमान होने के कारण ही अनुग्रह सर्ग कहलाता है। वायुपुराण का यह वर्णन बड़ा ही रोचक तथा साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है[2]।

संसार रुपी वृक्ष

बीज	अव्यक्त (प्रकृति)
स्कन्ध	बुद्धि
अङ्कुर	इन्द्रिय
शाखा	महाभूत (पञ्च)
पत्र	विशेष (=पञ्चविषय)
पुष्प	धर्म तथा अधर्म
फल	सुख तथा दुःख
पक्षी	सब प्राणी

१ पञ्चमोऽनुग्रह सर्गश्चतुर्धा स व्यवस्थितः।
विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या सिद्ध्या तथैव च॥

—मार्क० ४७।२८ = वायु ६।५७

२. अव्यक्तबीजप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियाङ्कुरकोटर॥ ११४॥
महाभूतप्रशाखश्च विशेषैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पस्तु सुखदुःखफलोदय॥ ११५॥
आजीवः सर्वभूतानामयं वृक्षः सनातन।
एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य तु॥ ११६॥

वायुपुराण इस समस्त प्राकृत सर्ग को अनुग्रह सर्ग बतलाता है।[1]

(९) **कौमार सर्ग**—यह अन्तिम सर्ग प्राकृत—वैकृत उभयात्मक माना गया है। इस शब्द से सनत्कुमार के उदय का संकेत है, क्योंकि भाग० १।३।६ मे 'कौमार सर्ग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया गया है—

> **स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।**
> **चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥**
>
> —भाग० १।३।६

सनत्कुमार भगवान् विष्णु के ही अन्यतम अवतार माने गये हैं।

(भाग० २।७)

यह सर्ग उभयात्मक अर्थात् प्राकृत-वैकृत उभयरूप माना गया है। इसके विषय मे टीकाकारो मे ऐकमत्य नही है। विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि ध्यानपूत मन से ही अन्य व्यक्तियो की सृष्टि हुई—यह कथन इसका प्रमाण है कि कुमारो की सृष्टि भगवद्ध्यानजन्य है तथा भगवज्जन्य भी है। और इसीलिए वे प्राकृत वैकृत कहे गये है[1]। सुबोधिनी मे वल्लभाचार्य जी ने इन्हे देव और मनुष्य मानकर इस द्विविधत्व का हेतु खोज निकाला है। इसका भागवत के निम्बार्की व्याख्याकार शुकदेवाचार्य ने खण्डन किया है कि सनत्कुमार कभी मनुष्यकोटि मे नहीं माने गये है। ये ज्ञानभक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका एक बार जन्म तो ब्रह्मा से हुआ तथा प्रत्यह प्रादुर्भाव होने से ये चिरस्थायियो मे अन्यतम परिगणित किये गये हैं। इसीलिए वे द्विविधरूप मे अंगीकृत है—प्राकृत भी तथा वैकृत[2] भी।

प्राणिसृष्टि मे नाना प्रकार के प्राणियो का निर्माण किस प्रकार हुआ ? इस प्रश्न का भी समाधान पुराणो से प्राप्त होता है प्राणियो मे असुर, सुर, पितर तथा मनुष्य मुख्य होते हैं। इसलिए इनकी उत्पत्ति का प्रकार भी बड़ी सुन्दरता से पुराणों मे बतलाया गया है। सृष्टि की कामना करने पर

अव्यक्त कारण यत्तु नित्य सदसदात्मकम्।
इत्येषोऽनुग्रह सर्गो ब्रह्मण प्राकृतस्तु य ॥ ११७ ॥

—वायुपुराण, नवम अध्याय

१. तेषां 'भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यांस्ततोऽसृजदिति अग्रिमोक्तेर्भगवद्ध्यानजन्यत्वेन भगवज्जन्यत्वाच्च प्राकृतो वैकृतश्चेति।

—विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या (भाग० ३।१०।२६)

२ इन टीकाकारों के मतो के लिए द्रष्टव्य दशटीका समन्वित भागवत, तृतीय स्कन्ध, पृ० २५२ (वृन्दावन से प्रकाशित)

जब ब्रह्मा जी दत्तचित हुए तब प्रथमत उनमे तमोगुण का आधिक्य हुआ। उस समय सबसे पहिले उनकी जघा से असुर उत्पन्न हुए। असुर के निर्माण के अनन्तर ब्रह्माजी ने उस तामसिक देह का परित्याग कर दिया जो तुरन्त रात्रि के रूप मे परिणत हो गया। अनन्तर सात्विक देह का आश्रय करने पर ब्रह्मा के मुख से सत्वप्रधान **सुरों** की उत्पत्ति हुई। उसके बाद प्रजापति के द्वारा परित्यक्त वह शरीर दिन के रूप मे परिणत हो गया। इसके बाद उन्होंने आंशिक सत्वमय देह को धारण किया और अपने पार्श्व से पितरो का निर्माण किया। वह छोडा गया शरीर दिन और रात के बीच सन्ध्या बन गया। तब इन्होंने रजोमय देह का आश्रयण किया जिससे रज प्रधान मनुष्यो की सृष्टि हुई। प्रजापति के द्वारा छोडा गया वह शरीर ज्योत्स्ना अर्थात् प्रभातकाल बन गया। इस प्रकार चार प्राणिवर्ग का सम्बन्ध चार काल-विभाग से है, क्योंकि उनकी बलशालिता उसी काल म देखी जाती है। इस प्रकार—

असुर का सम्बन्ध है रात्रि से
सुर „ दिन से
पितरो „ „ साय सन्ध्या से
मनुष्य „ प्रात काल से

सृष्टि के विषय म एक विशिष्ट तथ्य का पुराण वर्णन करता है जो मनुस्मृति (१।२९) म उल्लिखित है तथा जिसका प्रामाण्य आचार्य शकर ने शारीरक भाष्य (१।३।३०) मे स्वीकार किया है। यावत् स्थावर-जगम की रचना ब्रह्माजी के द्वारा ही की जाती है। इन जीवों का यह वैशिष्ट्य है कि प्राक् कल्प म उनका जैसा स्वभाव था, जैसी प्रवृत्ति थी, इस सृष्टि म भी वही उन्ह प्राप्त होता है—वैसा ही स्वभाव तथा वैसी ही प्रवृत्ति। उस समय हिंसा-अहिंसा, मृदुता-कठोरता, धर्म अधर्म, सत्य अनृत—य सब अपनी पूर्व भावना क अनुसार ही उन्ह प्राप्त होत हैं तथा उन जीवो को वे अच्छे लगने भी लगते है —

> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
> तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना. पुन पुनः॥
> हिंस्राहिंस्रे मृदु-क्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
> तद्भाविता प्रपद्यन्ते तस्मात् तत्तस्य रोचते॥
>
> —विष्णु १।५। ६०–६१

इसी प्रकार के श्लोक मनुस्मृति म भी उपलब्ध होते हैं (मनुस्मृति १।२९ म द्वितीय श्लोक किचित् भिन्न रूप मे उपलब्ध है—यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत्, परन्तु इसका तात्पर्य वही है)। इस प्रकार पुराण की

दृष्टि में कर्मानुसार सृष्टि है। इसमें ब्रह्मा पर न तो क्रूरता का और न वैषम्य का दोष आरोपित किया जा सकता है[1] पूर्व कर्म के कारण ही इस जन्म में प्राणियों की विभिन्न प्रवृत्ति तथा विभिन्न प्रकृति है। पुराणों का यह तथ्य कथन भारतीय दर्शन की सुचिन्तित परम्परा के अन्तर्भुक्त है—इसे कौन स्वीकार न करेगा ?

ब्राह्मी सृष्टि

भगवान् विष्णु की प्रेरणा से उनके ही नाभिकमल पर बैठे हुये ब्रह्मा जी ने दिव्य शतवर्ष तक तपस्या की। तब उन्होंने देखा कि यह जल तथा उनका आसनभूत कमल प्रबल वायु के वेग से काँप रहा है। सृष्टि से प्राक्‌काल में यह उस दशा का सूचक है जब एकार्णव-समस्त समुद्र के ऊपर वायु का ही प्रबल आघात होता रहता है। तपस्या तथा अध्यात्म ज्ञान के बलपर ब्रह्मा में विज्ञान शक्ति का प्राबल्य हो गया और इसी शक्ति के बल पर उन्होंने उस प्रबल वायु को तथा विशाल जल राशि को पान कर डाला। अवशिष्ट बचे हुए वियद्-व्यापी कमल को देख कर ब्रह्मा ने विचार किया कि इसी के द्वारा पूर्वकाल में प्रकृति में लीन लोकों की रचना करूँगा। फलत उन्होंने उस आकाशव्यापी कमल में स्वयं प्रवेश कर उसे तीन भागों में विभक्त कर दिया, यद्यपि वह चौदह भागों में विभक्त होने के योग्य था। इन्हीं भागों का नाम है—भू भुव तथा स्व। कर्म का राज्य इन्हीं लोकों में सीमित है। इसके ऊपर जो चार लोक अवशेष हैं मह, जन, तप, सत्य, इनमें उनलोगों का निवास होता है जो निष्काम कर्म के सम्पादक होते हैं। इन चारों लोकों की समष्टि का एक सामूहिक अभिधान है—**परमेष्ठी** लोक या ब्रह्म लोक[1]।

इन्हीं ब्रह्मा ने पूर्ववर्णित जीवों को—स्थावर से लेकर देवपर्यन्त—सृष्टि की, परन्तु जब उस सृष्टि की वृद्धि आगे न बढ़ सकी और उनकी सृष्टि का तात्पर्य ही सिद्ध न होने लगा, तब उन्होंने मानसपुत्रों का सर्जन किया—अपने समान ही शक्तिसम्पन्न तथा अध्यात्ममण्डित। ब्रह्मा के इन मानसपुत्रों को वरदमान होने के हेतु 'ब्रह्मा' के ही नाम से भागवत पुकारता है। ये संख्या में नव (९) हैं—भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस्, मरीचि, दक्ष, अत्रि तथा वसिष्ठ। ये नव ब्रह्मा के नाम से पुराणों में विख्यात हैं। ख्याति, भूति आदि नव कन्याओं को भी उत्पन्न कर इन्हें ही पत्नी होने के लिए प्रदान किया जिससे आगे चल कर सृष्टि का विस्तार हुआ।

---

१ भागवत ३।१०।४-९.

२. द्रष्टव्य, विष्णुपुराण १।७।१-८

मानसी सृष्टि

ब्रह्मा की सृष्टि मानसिक ही होती है। वे शरीर-संयोगपूर्वक बैजी सृष्टि नहीं करते। जीवों के पूर्व जन्म में किये गये कर्मों को जान कर ही ब्रह्मा उन्हें उत्पन्न करते हैं। ब्रह्मा इन कर्मों को भगवत्-प्रदत्त ज्ञान द्वारा ही जान कर सृष्टि करते हैं। ब्रह्मा की मानसी सृष्टि द्वारा उत्पादित मरीचि, कश्यप आदि अनेक अधिकारी पुरुष होते हैं जो ब्रह्मा के संग साथ में मिल कर उन्हीं की प्रेरणा से सृष्टि-कार्य का सम्पादन करते हैं। इसीलिए तो ये नव मानसपुत्र कार्य के साम्य के कारण नव ब्रह्मा के नाम से भागवत में पुकारे गये हैं। इसी कारण प्रजापति कश्यप से देव-दैत्य, पशु-पक्षी स्थावर-जगम सब जन्तुओं का उदय होता है। कश्यप की निरुक्ति भी उनकी सृष्टि-शक्ति की पर्याप्त द्योतिका है। ब्राह्मणग्रन्थों ने 'कश्यप पश्यको भवति' कह कर कश्यप का अर्थ निर्वचन किया है—देखने वाला अर्थात् अपनी दृष्टि से सृष्टि करने वाला'। महाभारत में भी मानसी सृष्टि की परिभाषा इसी तथ्य की पोषिका है—

> प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः।
> तथैव देवान्, ऋषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥
> आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।
> सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥

मानसी सृष्टि की परिभाषा है वह सृष्टि जो आदि देव ब्रह्माद्वारा वेदमूलक, अक्षय, अव्यय तथा धर्मानुकूल हो।

मानसी सृष्टि के अनन्तर ही बैजी सृष्टि होती है जिसका वर्णन वैकृत सर्ग के प्रसंग में ऊपर किया गया।

रौद्री सृष्टि

इनसे पूर्व सनन्दन, सनातन आदि चारों कुमारों की सृष्टि ब्रह्मा ने सृष्टि की वृद्धि के लिए ही की थी, परन्तु सन्तान तथा संसार के प्रति उनके औदासीन्य तथा निरपेक्षभाव को देख कर पितामह के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसी समय क्रोधदीपित तथा भ्रुकुटि-कुटिल ललाट से प्रचण्ड सूर्य के समान प्रकाशमान रुद्र का आविर्भाव हुआ। रुद्र के शरीर का वैशिष्ट्य यह था कि उनका आधा शरीर नर के आकार में था और अपर आधा शरीर नारी के आकार में था। ब्रह्माजी के आदेश से रुद्र ने अपने शरीर का द्विधा विभाजन किया—स्त्री रूप में और पुरुष रूप में। पुरुषभाग को ग्यारह भागों में पुनः विभक्त किया तथा स्त्री भाग को सौम्य-क्रूर, शान्त अशान्त, श्याम-गौर आदि अनेक रूपों में

विभक्त किया। रुद्र के द्वारा आविर्भावित यह सृष्टि रौद्री सृष्टि के नाम से पुराणों में अभिहित की गई है[1]।

पौराणिक सृष्टितत्त्व की मीमांसा

पुराण में वर्णित सृष्टितत्व की यह एक सामान्य रूपरेखा है। इसका विश्लेषण करने से भागवतों की समन्वयदृष्टि का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। त्रिदेवों का सृष्टि के उत्पादन में सहयोग है। प्रधानतः सृष्टि तो ब्रह्माजी का ही कार्य है, परन्तु इस सृष्टिकार्य के लिए उन्हें प्रेरणा प्राप्त होती है विष्णु के द्वारा ही। विष्णु के नाभि-कमल के ऊपर ब्रह्मा का निवास होता है। वे अगोचरा वाक् के द्वारा तप करने के लिए प्रेरित किये जाते हैं और सौ वर्षों तक निष्पन्न तपस्या के फलरूप उन्हें सृष्टिकार्य की योग्यता प्राप्त होती है और विष्णु के द्वारा प्रेरणा पाकर ही ब्रह्मा इस विशाल विश्व के सर्जन में प्रवृत्त होते हैं। विष्णु-पुराण इसीलिए ब्रह्मा को हरि का ही रूपान्तर मानता है। अर्थात् वह परम शक्तिशाली भगवान् विष्णु ही अपने ब्रह्मारूपी मूर्त्यन्तर से विश्व का निर्माण करते हैं। शैव पुराणों में शिव की प्रेरणा से यह कार्य होता है, परन्तु *ध्यान देने की बात यह है कि सृष्टिकार्य में रुद्र का भी सहयोग अनिवार्य है।* भागवत तथा मार्कण्डेय ने रुद्रसर्ग की चर्चा की है जो अर्धनारी-स्वरूप होने से अपने ही देह का दो विभाग करके विश्व नर तथा नारी अर्थात् मानव-दम्पति की सृष्टि करते हैं। पुराणों की समन्वय-दृष्टि नितान्त अवर्जनीय है। भागवत सम्प्रदाय का यही वैशिष्ट्य रहा है और इस सम्प्रदाय का प्रभाव वैष्णव तत्त्व-मीमांसा के ऊपर विशदरूप से पड़ा है—इस तथ्य को धार्मिक इतिहास का जिज्ञासु अपने हृदय से ओझल नहीं कर सकता।

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य का विपुल प्रभाव सृष्टि-प्रक्रिया के ऊपर पड़ा है। कपिल आदि विद्वान् के रूप में उपनिषदों में गृहीत किये गये हैं। तत्त्वों की मीमांसा उनका महान् वैशिष्ट्य है। उनकी अपनी सृष्टि प्रक्रिया है। इसका पूरा प्रभाव पौराणिक सृष्टिवाद पर है, परन्तु उसका अक्षरशः पालन यहाँ नहीं है। सांख्य तो प्रकृति तथा पुरुष को मूल तत्त्व मानता है, परन्तु पुराणों की दृष्टि में ये दोनों परमात्मा से ही विनिःसृत होते हैं और प्रलय-दशा में ये दोनों उसी मूल तत्त्व में लीन हो जाते हैं। विष्णु-पुराण का स्पष्ट वचन है—

> प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
> पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥

---

1. द्रष्टव्य विष्णु, १।७।११-१२, — मार्कण्डेय ५२ अध्याय २-१० श्लोक।

परमात्मा च सर्वेषामाधार परमेश्वर.।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥
—विष्णु० ६।४।३९-४०

निष्कर्ष यह है कि साख्य का बहुत आधार लेने पर भी पौराणिक सृष्टि प्रक्रिया अपनी मौलिकता से मण्डित है। आश्चर्य नहीं कि उस युग की लोक-सस्कृति के सिद्धान्त भी यहा गृहीत किये गये। पुराण अध्यात्मवादी दृष्टिकोण रखने पर भी अपने विवरणो मे एकाङ्गी नहीं रहता। यह लोक-सामान्य के मगल-साधन की प्रेरणा से निर्मित हुआ है। फलत लोक की दृष्टि सदा पुराणकार के सामने जागरूक रहती है। इस तथ्य का अविस्मरण सर्वदा आवश्यक है।

(२)

प्रतिसर्ग

प्रतिसर्ग का वर्णन प्राय समस्त पुराणो मे किया गया[1] है। इन पुराणों के स्थलनिर्देश यहाँ सक्षेप मे दिये जाते हैं। 'प्रतिसर्ग' के विषय मे बहुत से विशिष्ट शब्द पुराणों के द्वारा व्यवहृत हैं—अन्तर प्रलय (ब्रह्म २३२।११), अन्तरात्म उपसहृति (विष्णु ६।८।४०), आभूतसम्प्लव, उदाप्लुत (भाग० ३।८।१०) निरोध, सस्था (भाग० १२।७।१७), उपसहृति, एकार्णवावस्था, तत्त्वप्रतिसयम (वायु १०२। ७) प्रतिसञ्चम, प्रतिसञ्चर, प्रतिससर्ग, सम्प्लव (भाग० १२।४।६४) आदि।

प्रलय चार प्रकार का होता है (१) नैमित्तिक प्रलय, (२) प्राकृत प्रलय, (३) आत्यन्तिक प्रलय तथा (४) नित्य प्रलय। श्रीमद्भागवत के १२ वें स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में यह विषय बडी सुन्दरता और विशदता के साथ वर्णित है। उसी के आधार पर यह सक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है —

(१) नैमित्तिक प्रलय

मन्वन्तर के वर्णन के अवसर पर कल्प का सक्षेप म निर्देश किया जायगा। मनुष्यमान से या देवमान से हो, एक हजार चतुर्युगी ब्रह्मा का एक दिन माना जाता है। वर्षों की गणना ऊपर दी गई है। ब्रह्मा के एक दिन का ही नाम कल्प है जिसके भीतर १४ मनुओं का काल बीतता है। कल्प के अन्त हो जाने

---

१ पुराणों म प्रतिसर्ग का उल्लेख-ब्रह्म २३१।१-२३३।७५, विष्णु ६।३।१—७।१०।४, वायु १००।१३२-१०२।१३५, भागवत १२ स्क०, ४ अ, मार्क० ४६।१-४४, कूर्म २।४५।४-४६।६५, गरुड १।२१५।४-२१७।१७, ब्रह्माण्ड ३।१।१२८-३।११३

पर उतने ही काल के लिए प्रलय भी होता है इसी प्रलय को ब्राह्मी रात्रि (=ब्रह्मा जी की रात) भी कहते हैं। इस समय तीनों लोकों—भूर् भुवर्, स्वर्—का प्रलय हो जाता है परन्तु इनके उपरितन चारों लोक—मह: जन तप सत्यम्—अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। इस प्रलय के अवसर पर सारे विश्व को अपने अन्दर समेट कर अर्थात् अपने में लीन कर ब्रह्मा और तत्पश्चात् शेषशायी भगवान् नारायण भी शयन कर जाते हैं। ब्रह्मा जी के इस शयन को निमित्त मानकर इस प्रलय का उदय होता है। इसीलिए यह प्रलय नैमित्तिक कहलाता है।

> एष नैमित्तिको नाम मैत्रेय प्रतिसंचर ।
> निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो हरि ॥
>
> —विष्णु ६।४।७

(२) प्राकृत प्रलय

यह प्रलय नैमित्तिक प्रलय की अपेक्षा अधिक वर्षों के अनन्तर होता है। ब्रह्मा की आयु उनके मान से एक सौ वर्ष की होती है तथा मानव मान से वह दो परार्ध वर्षों की होती है। ब्रह्मा की इस आयु के समाप्त होने पर एक महान् प्रलय संघटित होता है। उस समय सातों प्रकृतियाँ पञ्चतन्मात्रायें अहंकार और महत्तत्त्व—अपने कारणभूता अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती हैं। इस प्रलयके उपस्थित होने पर विश्व में भीषण संहार का दृश्य उपस्थित हो जाता है। पंचमहाभूतों के मिश्रण से बना हुआ यह समग्र ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड कर कारणरूप में स्थित हो जाता है। भागवत ने इस प्रलय का बडा ही रोमांचकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रलय का समय आ जाने पर मेघ सौ वर्षों तक वृष्टि ही नहीं करते अन्न न उपजने के कारण क्षुत्क्षामकण्ठ वाली प्रजा एक दूसरे को देखने लगती है। प्रजा मृत्यु का ग्रास बनकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है। ऊपर चमकता है प्रचण्ड तिग्मांशु की किरण और नीचे चमकती है पातालस्थ संकर्षण के मुख से निकलने वाली तीव्र अग्नि की ज्वाला। प्रचण्डपवन बडे वेगसे सैकडों वर्षों तक बहता है। उस समय का आकाश धूम तथा धूलि से भरा ही रहता है। असंख्यों रंगबिरंगे बादल आकाश में बडी भयङ्करता के साथ गरज-गरज कर सैकडों वर्षों तक वर्षा करते हैं। अखिल भुवन एक महार्णव बन जाता है। तब पृथ्वी के गुण गन्ध

---

१ विष्णुपुराण (६ अंश ३ अ० तथा ४ अ०) में इसी प्रकार का साहित्यिक विवरण उपलब्ध है जो वैज्ञानिक दृष्टि से बडा ही सम्पन्न सुव्यवस्थित तथा विस्तीर्ण है। दोनों की तुलना जिज्ञासुजन करें।

को जल तत्त्व ग्रस लेता है जिससे भूमि का जल मे प्रलय हो जाता है। इस प्रकार तत्तत् विशिष्ट गुणो के लीन हो जाने से जल तेज मे, तेज वायु मे, वायु आकाश में लीन हो जाता है। आकाश का लय हो जाता है अहंकार मे, अहंकार का महत्तत्त्व मे और महत्तत्त्व का प्रकृति मे। उस समय प्रकृति ही केवल शेष रह जाती है। प्रकृति जगत् का मूल कारण है, वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य और अविनाशी है। उस समय किसी प्रकार की सत्ता नही रहती। उस समय प्रकृति तथा पुरुष दोनो की शक्तियाँ काल के प्रभाव से क्षीण हो जाती हैं और अपने मूल कारण मे विलीन हो जाती हैं। इसी का नाम है—प्राकृतिक प्रलय[1]।

(३) आत्यन्तिक प्रलय

पूर्ववर्णित दोनो प्रलयो का काल नियत है। नैमित्तिक प्रलय कल्प के अन्त मे अर्थात् ब्रह्माजी के एक दिन व्यतीत होने पर होता है। उसी प्रकार प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माजी के आयु-शेष हो जाने पर सम्पन्न होता है। परन्तु आत्यन्तिक प्रलय को काल की परिधि या सीमा मे बाँधा नहीं जा सकता। यह आज भी इसी एक क्षण मे सम्पन्न हो सकता है अथवा कोटि-कोटि वर्षो के अन्तराल होने पर भी नही सम्पन्न हो सकता है। उसके उदय की साधन-सामग्री जब भी उपस्थित हो जाय, तभी वह हो सकता है। इसमे काल कोई व्याघातक तत्त्व नही है।

आत्यन्तिक प्रलय आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का ही अपर नाम है। त्रिविध दुःखों की निवृत्ति लौकिक-आनुश्रविक उपायो से हो सकती है तथा होती है, परन्तु वह सदा-सर्वदा के लिए कहाँ होती है? कुछ समय तक तो वह निवृत्ति दुःखों से अवश्य होती है, परन्तु फिर दुःख के साधन उपस्थित होने पर वह दुःख पुनः आविर्भूत होता है। तो यह दुःख का कारण क्या है? आत्मा-अनात्मा-विवेक या वेदान्त के शब्दों मे अध्यास। अनात्मा को आत्मा रूप से समझना ही सब अनर्थो का बीज है। भागवत मे अध्यास तथा तन्निवारक ज्ञान का वर्णन बडे ही मोहक शब्दो मे किया गया है। बादल तथा सूर्य के

---

१ द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते॥

—भाग० १२।४।५—६

व्यवहार पर दृष्टिपात कीजिये।[1] बादल सूय से ही उत्पन्न होता है और सूर्य से ही प्रकाशित होता है। फिर भी वह सूय के ही अशभूत नेत्रो के लिए सूय का दशन होने मे बाधक बन जाता है। ठीक यही दशा अहकार तथा ब्रह्म की भी है। अहकार ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और ब्रह्म से ही प्रकाशित होता। ब्रह्म के अशभूत जीव के लिए ब्रह्मस्वरूप के साक्षात्कार म बाधक बन जाता है। जब सूर्य से प्रकट होने वाला मेघ तितर बितर हो जाता है तब नेत्र अपने स्वरूपभूत सूय का दशन करने म समथ होता है। ठीक उसी प्रकार जब जीव के हृदय मे जिज्ञासा जगती है तब आत्मा की उपाधि अहकार नष्ट हो जाता है और जीव को अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।[2] इस प्रकार अहकार को हटाना ही मुख्य, साधन ठहरा और यह कार्य सिद्ध होगा विवेकरूपी ज्ञान से।

जब जीव विवेकरूपी तलवार से आत्मा को बाँधने वाले मायामय अहकार का बन्धन काट डालता है तब वह अपने एक रस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार मे स्थित हो जाता है। आत्मा की यह मायामुक्त वास्तविक स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है —

> यदैवमेतेन विवेकहेतिना
> मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।
> छित्त्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
> तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम्॥
>
> —भाग० १२।४।३४

(४) नित्यप्रलय

पुराणो के अनुसार सृष्टि भी नित्य होती है और प्रलय भी नित्य होता है। तत्त्वदर्शी लोगो का कहना है कि ब्रह्मा से लेकर तिनके तक जितने प्राणी या पदाथ होते हैं व सभी हर समय पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हे अर्थात्

---

१ यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तम।
एव त्वह ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धन॥ —भाग० १२।४।३२

२ घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते
चक्षु स्वरूप रविमीक्षते तदा।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत्॥ —वही १२।४।३३

नित्यरूप से सृष्टि तथा प्रलय होना ही रहता है। संसार के परिणामी पदार्थ नदी प्रवाह और दीपशिखा के समान प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, परन्तु यह परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। आकाश में तारे हर समय में चलते रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राणियों के परिवर्तन की भी यही दशा है। इस परिवर्तन का कारण भगवान् की स्वरूपभूता काल-शक्ति है जो अनादि है और अनन्त है। उस शक्ति के कारण परिवर्तन क्षण-क्षण में होता रहता है, परन्तु वह इतना सूक्ष्म तथा दुर्बोध है कि वह मानव-बुद्धि से स्पष्टतः ग्राह्य नहीं होता। प्रतिक्षण जायमान इस विनाश को 'नित्य प्रलय' के नाम से पुकारा जाता है।

पौराणिक सृष्टि तथा प्रलय के विवेचन का यह संक्षिप्त रूप है। विस्तार के लिए पुराणों के तत्तत् प्रसंग देखना चाहिए।

मन्वन्तर का विवरण

पुराणकार के मत से समय का स्वरूप

(मनुष्यमान)

('सिद्धान्तशिरोमणि'[1] के अनुसार)

१८ निमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
३० कला		१ घटी
२ घटी = ६० कला	=	१ मुहूर्त
६० घटी = ३० मुहूर्त	=	१ दिन-रात (दिवस)
१५ दिन-रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ महीना
६ महीने	=	१ दक्षिणायन
६ महीने	=	१ उत्तरायण
२ अयन	=	१ वर्ष
१ दक्षिणायन	=	१ दिव्यरात
१ उत्तरायण	=	१ दिव्य दिन
३० वर्ष	=	१ दिव्य मास
३६० वर्ष	=	१ दिव्य वर्ष
३०३० वर्ष	=	१ सप्तर्षि वर्ष
९०९० वर्ष	=	१ ध्रुव वर्ष
९६००० वर्ष	=	१ दिव्य वर्षसहस्र
१७,२८,००० वर्ष	=	१ सत्ययुग (कृतयुग)
१२,९६,००० वर्ष	=	१ त्रेतायुग
८,६४,००० वर्ष	=	१ द्वापरयुग
४,३२,००० वर्ष	=	१ कलियुग
४३,२०००० वर्ष	=	१ चतुर्युगी
३०,६७,२०,०० वर्ष०	=	१ मन्वन्तर (= ७१ चतुर्युगी)
४,२९,४० ८०,००० वर्ष०	=	१४ मन्वन्तर
२५९ २०,००० वर्ष	=	मन्वन्तर सन्ध्यांश
१९७,२९,४९,०६४ वर्ष	=	सृष्टि भुक्तकाल[1] (सं० २०२१ तक)
४,३२,००,००,००० वर्ष	=	१ ब्राह्मदिन सहस्र चतुर्युगी
४,३२,००,००,००० वर्ष		१ ब्राह्मरात्रि

---

१ सि० शि० १९,७२९,४७१७९ + गतगताब्द १९७२९४७१७९ + १८८५ = १,९७,२९,४९,०६४

—सिद्धान्तशिरोमणि (कालमानाध्याय) २८ श्लोक

इस विवरण के अनुसार मनुष्य मान से एक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्षों की होती है। एक हजार चतुर्युगी बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है चार अरब बत्तीस करोड वर्षों का और ब्रह्मा की एक रात्रि का भी यही परिमाण है चार अरब बत्तीस करोड वर्षों का। एक ब्राह्म दिन ही एक कल्प माना जाता है। इस प्रकार एक कल्प मे (अर्थात् एक ब्राह्म दिन में) १४ मनुओ का साम्राज्य-काल माना जाता है। एक मनु के बीतने तथा दूसरे मनु के आने के समय के बीच वाले समय को—अन्तराल को—एक मन्वन्तर कहते हैं। एक हजार चतुर्युगी के काल मे १४ मन्वन्तरो की सीमा होने से एक मन्वन्तर का काल निर्धारित किया जा सकता है।

$$१.\ \text{मन्वन्तर} = \frac{\text{१००० चतुर्युगी वर्ष}}{१४}$$

$$,, \quad = \quad ७१\tfrac{६}{१४}\ \text{चतुर्युगी वर्ष}$$

एक मन्वन्तर की काल गणना बतलाते समय पुराण का एक बहुचर्चित वाक्य है'—मन्वन्तरं चतुर्युगानां साधिका ह्येकसप्तति'। एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगी का होता है और उससे कुछ अधिक, परन्तु कितना अधिक ? इस प्रश्न का उत्तर पुराणो मे नही दिया गया है। अनेक पुराणो मे ७१ चतुर्युगी का काल वर्षों मे गिनाया गया है। यथा[१]—

(क) विष्णु-पुराण (१।३।२०–२१)—

त्रिंशत् कोटयस्तु सम्पूर्णा संख्याताः संख्यया द्विज।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने ॥ २० ॥
विंशतिस्तु सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज ॥ २१ ॥

(ख) वायु-पुराण से—

एवं चतुर्युगाख्या तु साधिका ह्येकसप्ततिः
कृतत्रेतादियुक्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥
मन्वन्तरस्य संख्या तु वर्षाग्रेण निबोधत।
त्रिंशत् कोटयस्तु वर्षाणां मानुषेण प्रकीर्तिताः ॥
सप्तषष्टिस्तथाऽन्यानि नियुतान्यधिकानि तु
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयं सन्धिकं विना[२] ॥
—(वायु, अ० ५७, ३३—३५ श्लो०)

---

१ आगे दिये गये वायु (५७।३५) के स्वारस्य पर यहाँ शुद्ध पाठ 'सन्धिक' होना उचित प्रतीत होता है।

२ ये ही श्लोक इसी रूप म अनेक पुराणो मे उपलब्ध होते हैं। वायु म ये ही पुनरुक्त हुए हैं—द्रष्टव्य वायु ६१।१३८–१४०।

इन दोनों पुराणों में मन्वन्तर का जो कालमान दिया गया है वह एक समान ही है—तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हजार। परन्तु यह मान 'सन्धिकं विना' है अर्थात् दो मन्वन्तरों के बीच जो सन्धिकाल होता है उसे छोड़ कर ही पूर्वोक्त गणना है। १४ मनुओं का ७१ चतुर्युगी प्रत्येक की मानने पर पूरा योग है ९९४ चतुर्युग और ६ चतुर्युग अवशिष्ट रह जाता है। और यही है १४ मन्वन्तरों का सन्धिकाल। विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक पर श्रीधरी में इसका संकेत-मात्र है।

> चतुर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः
> मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादीनां च सत्तम ॥
>
> —विष्णु०, १।३।१७

श्रीधर स्वामी ने 'साधिका' शब्द की व्याख्या में लिखा है—

चतुर्युगसहस्रप्रमाणस्य ब्रह्मदिनस्य चतुर्दशधा विभागे प्रतिविभागमेकसप्ततिश्चतुर्युगानि भवन्ति। अवशिष्यन्ते चतुर्युग षट्‌कान्तरस्य चतुर्दशांशो यथा गणितः प्रतिमन्वन्तरमेकसप्ततेरधिक इत्यर्थः।

श्रीधरस्वामी के सामने विष्णु-पुराण का 'साधिका ह्येकसप्तति' पाठ था और इसी पाठ की उन्होंने व्याख्या की है। परन्तु, इस पाठ में निश्चित काल की सूचना भी नहीं है। मे[illegible] में 'सन्धिकं विना' पाठ के द्वारा गणना का निश्चित रूप सदा नि[illegible] है। ज्यो[illegible] की सहायता इसमें नितान्त अपेक्षित है। [illegible] । मे[illegible] 'सन्धिक' के निश्चित [illegible]

इन श्लोकों में एक नवीन तथ्य की भी सूचना मिलती है। वह यह है कि प्रत्येक सन्धिकाल में एक जलप्लव—जलप्लावन—(बड़ी बाढ़) आता है। यह मत्स्य-पुराण के कथन (प्रथम अध्याय) की पुष्टि करता है कि वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ होने से पूर्व एक बड़ा ही दीर्घ जलप्लावन आया था जिसमें मत्स्य की अनुकम्पा से मनु ने सृष्टि के समस्त बीजों को बचा लिया था।

मन्वन्तर की कालगणना में पुराणों ने सन्धिकाल को उसमें सम्मिलित न कर उसे अलग ही छोड़ दिया है। यह रीति बिल्कुल ठीक है, क्योंकि सन्धियाँ होनी पन्द्रह तथा मन्वन्तर होते हैं चौदह। दो मन्वन्तरों के बीच में सन्धि होनी है, परन्तु कल्प के आरम्भ में भी तो एक सन्धि होती है। इस प्रकार सन्धियों की संख्या १५ है। यदि सन्धियों का भी काल मन्वन्तर के साथ सम्मिलित किया जावेगा, तो 'कल्प' की संख्या-गणना में बड़ी गड़बड़ी मच जायेगी। इसे हटाने के लिए पुराणों ने 'सन्धिका ह्येकसप्तति' मन्वन्तर की परिभाषा तो अवश्य कर दी, परन्तु सन्धि के काल को मन्वन्तर के साथ जोड़ने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया। फलतः पुराणों की मन्वन्तर परिभाषा ज्यौतिषशास्त्र के साक्ष्य पर बिल्कुल यथार्थ है।

मन्वन्तर के नाम[1]

चौदह मन्वन्तरों के नाम पुराणों में प्राय एकाकार ही है।

(१) स्वायम्भुव मनु
(२) स्वारोचिष ,,
(३) उत्तम ,,
(४) तामस ,,
(५) रैवत ,,
(६) चाक्षुष ,,
(७) वैवस्वत मनु (= श्राद्धदेव)
(८) सावर्णि मनु
(९) दक्षसावर्णि ,,
(१०) ब्रह्मसावर्णि
(११) धर्मसावर्णि
(१२) रुद्रसावर्णि
(१३) देवसावर्णि[2]
(१४) इन्द्रसावर्णि

---

१. विष्णु० ३।१ तथा ३।२; भागवत ८।१३

२. अन्तिम दो मनुओं का पूर्वोक्त नाम श्रीमद्भागवत के अनुसार है। विष्णुपुराण में अन्तिम मनुओं की संज्ञा रुचि तथा भौम है, मार्कण्डेय (९४ अ० तथा ९९ अ०) रौच्य तथा भौत्य नाम मिलते हैं।

मन्वन्तर के अधिकारी

प्रत्येक मन्वन्तर मे अधिकाश पुराणो के अनुसार पांच (भागवत के अनुसार छ) अधिकारी होते हैं जो अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करने आते हैं और उस कार्य के अवसान होने पर, मन्वन्तर के परिवर्तन होने पर, वे अपने अधिकार को छोड कर निवृत्त हो जाते हैं । उनके स्थान पर नये मन्वन्तर मे नये अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं । इन अधिकारियो के रूप मे भगवान् विष्णु की ही शक्ति समर्थ तथा क्रियाशील रहती है और इन अधिकारियो को विष्णु पुराण स्पष्ट शब्दो मे विष्णु की विभूति मानता है[1] । विष्णु' शब्द की निष्पत्ति विश् प्रवेशने धातु से होती है और इसलिए यह समग्र विश्व जिस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है, वही विष्णु नाम से अभिहित किये जाते हैं[2] ।

इन अधिकारियो के नाम विष्णुपुराण (३.२.४९) के अनुसार हैं— (१) मनु, (२) सप्तर्षि, (३) देव (४) देवराज इन्द्र तथा (५) मनुपुत्र । श्रीमद्-भागवत मे इन पाचो अधिकारियो के साथ ही हरि के अशावतार की भी कल्पना कर सख्या मे एक की वृद्धि की गई है —

> मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।
> ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥
>
> —भागवत, १२।७।१५

इन अधिकारियो का कार्य बडा ही विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण है । विष्णु पुराण के कथनानुसार जब चतुर्युग समाप्त हो जाता है, तब वेदो का विप्लव—लोप—हो जाता है । उस समय वेदो का प्रवर्तन नितान्त आवश्यक हो जाता है और इस राष्ट्रहित के कार्यनिमित्त सप्तर्षि लोग स्वर्ग से भूतल पर आकर उन उच्छिन्न तथा विप्लुत वेदो का प्रवर्तन करते हैं । अत सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर मे वेदो के प्रवर्तक-रूप से अधिकारी हैं[3] । सूर्य-सिद्धान्त के मत का प्रतिपादन ऊपर

---

१ विष्णु पुराण ३।१४।६

२ तत्रैव ३।१।४५

३. चतुर्युगान्ते वेदाना जायते किल विप्लव ।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुव सप्तर्षयो दिव ॥
कृते कृते स्मृतेर्विप्र-प्रणेता जायते मनु ।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तर तु तद् ॥

—विष्णु० ३।२।४६-४७,

किया गया है जो चतुर्युग के अन्त में जलप्लावन की घटना का अवश्यम्भावी रूप से उल्लेख करता है। इसलिए प्रत्येक सत्ययुग के आदि में मनुष्यों की धर्ममर्यादा स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयनकार्य के लिए मनु का जन्म होता है। फलतः स्मृति-रचयिता के रूप में मनु का अधिकारी होना उचित ही है। मनु की व्यवस्था में द्विजों के लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है। फलतः मन्वन्तर के अन्त तक देवता लोग यज्ञयागों के फल भोगने का कार्य करते हैं और इस प्रकार वे अपने अधिकार को चरितार्थ करते हैं। देवों के राजा होने से इन्द्र का भी अधिकारी होना स्वभावसिद्ध है। संसार की वृद्धि तथा अभ्युदय के लिए बीज का पर्याप्त उद्गम होना आवश्यक होता है और इस कार्य को जल की वृष्टि कर भगवान् इन्द्र ही करते हैं। फलतः मन्वन्तर में उनका एक विशिष्ट अधिकारी होना न्याय्य है (भाग० ८।१४।७)। मनुपुत्र से तात्पर्य क्षत्रिय राजाओं से है जो उस समय पृथ्वी का पालन तथा प्रजावर्ग का संरक्षण करते हैं। 'मनुपुत्र' की अन्वर्थता इस हेतु से है कि ये राजा लोग परम्परया मनु की सन्तान हैं अथवा तदीय वंश में अन्तर्भुक्त न होने पर भी मनु-प्रणीत व्यवस्थापद्धति का समाश्रयण करते हैं दण्डनीति के विधान में और इस प्रकार प्रजाओं के संरक्षण में वे सर्वथा कृतकार्य होते हैं। भागवत के कथनानुसार प्रति-मन्वन्तर में हरि के अंशावतार का भी उदय होता है। अवतार का कार्य विश्रुत ही है—धर्म का संरक्षण तथा अधर्म का विनाश। प्रत्येक काल में ऐसी विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर भक्तवत्सल भगवान् इस भूतल पर अपने प्रतिज्ञानुसार स्वयं अवतीर्ण होते हैं और भक्तों का क्लेश स्वयं ध्वस्त कर देते [illegible]। अतएव भागवत द्वारा अंशावतार को षष्ठ अधिकारी मानने में सर्वथा [illegible]त्य उद्भासित होता है।

[illegible]र्य यह है कि पुराण मनु को एक विशिष्ट दीर्घकाल के लिए सम्राट् [illegible] मानता है। मनु आदि पाँचों व्यक्ति भगवान् विष्णु के सात्विक [illegible]ार्य ही है जगत् की स्थिति करना—

> भूभुजः सेन्द्रा देवाः सप्तर्षयस्तथा।
> [illegible]ंऽशः स्थितिकरो जगतो द्विजसत्तम॥
>
> —विष्णु, ३।२।५४

[illegible]ण के कार्य में सहायक जितने भी अधिकारी होते होते हैं, अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करते हैं शीतल छाया मानवों का मंगल करती है। [illegible]ा लोकमंगल की भावना का एक जाग्रत् [illegible] विश्व का कल्याण हो नहीं सकता और

मन्वन्तर के अधिकारी

प्रत्येक मन्वन्तर मे अधिकाश पुराणो के अनुसार पाँच (भागवत के अनुसार छ) अधिकारी होते हैं जो अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करने आते है और उस कार्य के अवसान होने पर, मन्वन्तर के परिवर्तन होने पर, वे अपने अधिकार को छोड कर निवृत्त हो जाते हैं। उनके स्थान पर नये मन्वन्तर मे नये अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। इन अधिकारियो के रूप मे भगवान् विष्णु की ही शक्ति समर्थ तथा क्रियाशील रहती है और इन अधिकारियो को विष्णु पुराण स्पष्ट शब्दो मे विष्णु की विभूति मानता है[१]। विष्णु' शब्द की निष्पत्ति विश् प्रवेशने धातु से होती है और इसलिए यह समग्र विश्व जिस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है, वही विष्णु नाम से अभिहित किये जाते हैं[२]।

इन अधिकारियो के नाम विष्णुपुराण (३।२।४९) के अनुसार हैं—(१) मनु, (२) सप्तर्षि, (३) देव (४) देवराज इन्द्र तथा (५) मनुपुत्र। श्रीमद्-भागवत मे इन पाचो अधिकारियो के साथ ही हरि के अशावतार की भी कल्पना कर सख्या मे एक की वृद्धि की गई है —

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥

—भागवत, १२।७।१५

इन अधिकारियो का कार्य बडा ही विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण है। विष्णु पुराण के कथनानुसार जब चतुर्युग समाप्त हो जाता है, तब वेदो का विप्लव—लोप—हो जाता है। उस समय वेदो का प्रवर्तन नितान्त आवश्यक हो जाता है और इस राष्ट्रहित के कार्यनिमित्त सप्तर्षि लोग स्वर्ग से भूतल पर आकर उन उच्छिन्न तथा विप्लुत वेदो का प्रवर्तन करते है। अत सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर मे वेदो के प्रवर्तक-रूप से अधिकारी हैं[३]। सूर्य-सिद्धान्त के मत का प्रतिपादन ऊपर

---

१ विष्णु पुराण ३।१।४६

२ तत्रैव ३।१।४५

३. चतुर्युगान्ते वेदाना जायते किल विप्लव ।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुव सप्तर्षयो दिव ॥
कृते कृते स्मृतेर्विप्र-प्रणेता जायते मनु ।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तरं तु तत् ॥

—विष्णु० ३।२।४६-४७,

किया गया है जो चतुर्युग के अन्त में जलप्लावन की घटना का अवश्यम्भावी रूप से उल्लेख करता है। इसलिए प्रत्येक सत्ययुग के आदि मे मनुष्यों की धर्ममर्यादा स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयनकार्य के लिए मनु का जन्म होता है। फलत स्मृति-रचयिता के रूप मे मनु का अधिकारी होना उचित ही है। मनु की व्यवस्था में द्विजो क लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है। फलतः मन्वन्तर के अन्त तक देवता लोग यज्ञयागो के फल भोगने का कार्य करते हैं और इस प्रकार वे अपने अधिकार को चरितार्थ करते हैं। देवो के राजा होने से इन्द्र का भी अधिकारी होना स्वभावसिद्ध है। ससार की वृद्धि तथा अभ्युदय के लिए बीज का पर्याप्त उद्गम होना आवश्यक होना है और इस कार्य को जल की वृष्टि कर भगवान् इन्द्र ही करते हैं। फलत. मन्वन्तर में उनका एक विशिष्ट अधिकारी होना न्याय्य है (भाग० ८।१४।७)। मनुपुत्र से तात्पर्य क्षत्रिय राजाओ से है जो उस समय पृथ्वी का पालन तथा प्रजावर्ग का सरक्षण करते हैं। 'मनुपुत्र' की अन्वर्थता इस हेतु से है कि ये राजा लोग परम्परया मनु की सन्तान हैं अथवा तदीय वश मे अन्तर्भुक्त न होने पर भी मनु-प्रणीत व्यवस्थापद्धति का समाश्रयण करते हैं दण्डनीति के विधान में और इस प्रकार प्रजाओ के सरक्षण में वे सर्वथा कृतकार्य होते हैं। भागवत के कथनानुसार प्रति-मन्वन्तर मे हरि के अशावतार का भी उदय होना है। अवतार का कार्य विश्रुत ही है—धर्म का सरक्षण तथा अधर्म का विनाश। प्रत्येक काल मे ऐसी विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर भक्तवत्सल भगवान् इस भूतल पर अपने प्रतिज्ञानुसार स्वयं अवतीर्ण होते हैं और भक्तो का क्लेश स्वयं ध्वस्त कर देते हैं। अतएव भागवत द्वारा अशावतार को षष्ठ अधिकारी मानने में सर्वथा औचित्य उद्भासित होता है।

निष्कर्ष यह है कि पुराण मनु को एक विशिष्ट दीर्घकाल के लिए सम्राट् तथा शास्ता मानता है। मनु आदि पाँचो व्यक्ति भगवान् विष्णु के सात्त्विक अश हैं जिसका कार्य ही है जगत् की स्थिति करना—

> मनवो भूभुजः सेन्द्रा देवाः सप्तर्षयस्तथा।
> सात्त्विकोऽशः स्थितिकरो जगतो द्विजसत्तम॥

—विष्णु, ३।२।५४

फलत. जगत् के सरक्षण के कार्य मे सहायक जितने भी अधिकारी होते हैं, वे मनु के साथ ही उत्पन्न होते हैं, अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करते हैं जिससे लोक मे सुव्यवस्था की शीतल छाया मानवों का मगल करती है। इस प्रकार मन्वन्तर की कल्पना लोकमगल की भावना का एक जाग्रत् प्रतीक है। विना सुव्यवस्था हुए विश्व का कल्याण हो नहीं सकता और

मन्वन्तर के अधिकारी

प्रत्येक मन्वन्तर मे अधिकाश पुराणो के अनुसार पाँच (भागवत के अनुसार छ) अधिकारी होते हैं जो अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करने आते हैं और उस कार्य के अवसान होने पर, मन्वन्तर के परिवर्तन होने पर, वे अपने अधिकार को छोड कर निवृत्त हो जाते हैं । उनके स्थान पर नये मन्वन्तर म नये अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं । इन अधिकारियो के रूप म भगवान् विष्णु की ही शक्ति समर्थ तथा क्रियाशील रहती है और इन अधिकारियो को विष्णु पुराण स्पष्ट शब्दो मे विष्णु की विभूति मानता है[1] । विष्णु शब्द की निष्पत्ति विश् प्रवशने धातु से होती है और इसलिए यह समग्र विश्व जिस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है, वही विष्णु नाम से अभिहित किये जाते हैं[2] ।

इन अधिकारियो के नाम विष्णुपुराण (३।२।४९) के अनुसार हैं— (१) मनु (२) सप्तर्षि, (३) देव (४) देवराज इन्द्र तथा (५) मनुपुत्र । श्रीमद्-भागवत मे इन पाचो अधिकारियो के साथ ही हरि के अशावतार की भी कल्पना कर सख्या मे एक की वृद्धि की गई है —

> मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्रा· सुरेश्वर· ।
> ऋषयोऽशावतारश्च हरे· षड्विधमुच्यते ।।
>
> —भागवत, १२।७।१५

इन अधिकारियो का कार्य बडा ही विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण है । विष्णु पुराण के कथनानुसार जब चतुर्युग समाप्त हो जाता है तब वेदो का विप्लव—लोप—हो जाता है । उस समय वेदो का प्रवर्तन नितान्त आवश्यक हो जाता है और इस राष्ट्रहित के कार्यनिमित्त सप्तर्षि लोग स्वर्ग से भूतल पर आकर उन उच्छिन्न तथा विप्लुत वेदो का प्रवर्तन करते हैं । अत सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर म वेदो के प्रवर्तक-रूप से अधिकारी हैं[3] । सूर्य-सिद्धान्त के मत का प्रतिपादन ऊपर

---

१ विष्णु पुराण ३।१४।६

२ तत्रैव ३।१।४५

३ चतुर्युगान्त वेदाना जायते किल विप्लव ।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुव सप्तर्षयो दिव ।।
कृते कृते स्मृतेर्विप्र प्रणेता जायते मनु ।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तर तु तत् ।।

—विष्णु० ३।२।४६-४७,

किया गया है जो चतुर्युग के अन्त मे जलप्लावन की घटना का अवश्यम्भावी रूप से उल्लेख करता है। इसलिए प्रत्येक सत्ययुग के आदि म मनुष्यों की धर्ममर्यादा स्थापित करने के निमित्त स्मृति के प्रणयनकार्य के लिए मनु का जन्म होता है। फलत स्मृति-रचयिता के रूप मे मनु का अधिकारी होना उचित ही है। मनु की व्यवस्था मे द्विजो क लिए यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है। फलत. मन्वन्तर के अन्त तक देवता लोग यज्ञयागो के फल भोगने का कार्य करते हैं और इस प्रकार वे अपन अधिकार को चरितार्थ करते हैं। देवो के राजा होने से इन्द्र का भी अधिकारी होना स्वभावसिद्ध है। ससार की वृद्धि तथा अभ्युदय के लिए बीज का पर्याप्त उद्गम होना आवश्यक होता है और इस कार्य को जल की वृष्टि कर भगवान् इन्द्र ही करते हैं। फलत मन्वन्तर मे उनका एक विशिष्ट अधिकारी होना न्याय्य है (भाग० ८।१४।७)। मनुपुत्र से तात्पर्य क्षत्रिय राजाओ से है जो उस समय पृथ्वी का पालन तथा प्रजावर्ग का सरक्षण करते हैं। 'मनुपुत्र' की अन्वर्थता इस हेतु से है कि ये राजा लोग परम्परया मनु की सन्तान हैं अथवा तदीय वश मे अन्तर्भुक्त न होने पर भी मनु-प्रणीत व्यवस्थापद्धति का समाश्रयण करते हैं दण्डनीति के विधान मे और इस प्रकार प्रजाओ के सरक्षण में वे सर्वथा कृतकार्य होते हैं। भागवत के कथनानुसार प्रति-मन्वन्तर मे हरि के अशावतार का भी उदय होता है। अवतार का कार्य विश्रुत ही है—धर्म का सरक्षण तथा अधर्म का विनाश। प्रत्येक काल म ऐसी विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर भक्तवत्सल भगवान् इस भूतल पर अपने प्रतिज्ञानुसार स्वय अवतीर्ण होते हैं और भक्तों का क्लेश स्वय ध्वस्त कर देते हैं। अतएव भागवत द्वारा अशावतार को षष्ठ अधिकारी मानने मे सर्वथा औचित्य उद्भासित होता है।

निष्कर्ष यह है कि पुराण मनु को एक विशिष्ट दीर्घकाल के लिए सम्राट् तथा शास्ता मानता है। मनु आदि पाँचो व्यक्ति भगवान् विष्णु के सात्त्विक अश हैं जिसका कार्य ही है जगत् की स्थिति करना—

> मनवो भूभुज. सेन्द्रा देवा. सप्तर्षयस्तथा।
> सात्त्विकोऽशः स्थितिकरो जगतो द्विजसत्तम ॥

—विष्णु, ३।२।५४

फलत जगत् के सरक्षण के कार्य मे सहायक जितने भी अधिकारी होते हैं, वे मनु के साथ ही उत्पन्न होते हैं, अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करते हैं जिससे लोक मे सुव्यवस्था की शीतल छाया मानवों का मगल करती है। इस प्रकार मन्वन्तर की कल्पना लोकमगल की भावना का एक जाग्रत् प्रतीक है। बिना सुव्यवस्था हुए विश्व का कल्याण हो नहीं सकता और

मन्वन्तर सुव्यवस्था के निर्धारण या एक सुचारु साधन है— यही उसका मागलिक पक्ष है।[1]

अधिकारियों के नाम

मन्वन्तरो के आदिम आठ मन्वन्तरो का बडा ही विशद विवरण मार्कण्डेय पुराण मे दिया गया है। इसमे प्रत्येक मनु का वैयक्तिक जीवनचरित बडे विस्तार से दिया गया है जो अन्य पुराणो मे उपलब्ध नही होता। यथा स्वारोचिष मनु की कथा ६१ अ० से आरम्भ कर ६७ अ० तक, उत्तम मनु की कथा ६९ अ० से ७४ अ० तक, तामस की कथा ७४ अ० मे, रैवत की कथा ७५ अ०, वैवस्वत मनु की ७७ अ० से लेकर ७९ अ० तक है। अष्टम मनु सार्वणि के चरित-प्रसग मे ही देवी-माहात्म्य का विशद विवरण तेरह अध्यायो मे (८१ अ०—९३ अ०) दिया गया है जो मार्कण्डेय पुराण का प्रकृष्ट वैशिष्ट्य है। अन्य पुराणो मे यत्र तत्र इन मनुओ की जीवनलीलाओ का सामान्य सकेत ही उपलब्ध होता है, इतना विस्तार नही।

प्रथम पाच मनुओ का सम्बन्ध एक ही व्यक्ति के साथ निश्चित रूप से घटित माना गया है और वह व्यक्ति हैं मानवो के आदि स्रष्टा स्वायम्भुवमनु। इन्ही के ज्येष्ठ पुत्र थे प्रियव्रत। और इन्ही प्रियव्रत के वश मे विष्णु-पुराण स्वारोचिष, उत्तम, तामस तथा रवत की गणना करता है[2]। विष्णु-पुराण इस सामान्य निर्देश से ही सन्तोष करता है कि ये चारो मनु प्रियव्रत के अन्वय या वंश मे उत्पन्न थे, परन्तु श्रीमद्भागवत का उल्लेख अधिक स्पष्ट तथा विशद है। वह कहता[3] है कि प्रियव्रत की अन्य जाया (बर्हिष्मती से भिन्न भार्या) मे उत्पन्न पुत्र उत्तम, तामस तथा रैवत तीनो ही क्रमशः तृतीय, चतुर्थ तथा पचम मन्वन्तरो के अधिपति थे।

इसका तात्पर्य यह है कि स्वायम्भुव मनु ही निश्चित रूप से इस मन्वन्तर परम्परा के प्रवर्तक है और उन्ही के वशधर ही इस महनीय तथा मान्य

---

१. द्रष्टव्य भागवत अष्टम स्कन्ध, १४ अध्याय जहा विष्णुपुराणोक्त तथ्य का पर्याप्त समर्थन किया गया है।

२. स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
प्रियव्रतान्वया ह्येते चत्वारो मनवः स्मृता.॥

—विष्णु, ३।१।२४

३. अन्यस्यामपि जायाया त्रयः पुत्रा आसन् उत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः॥ —भागवत ५।१।२८

उपाधि के धारण करने की योग्यता रखते थे और इसी कारण यह पद इसी वंश मे कम से कम पाँच मन्वन्तरो तक अवश्यमेव वर्तमान था। मन्वन्तर की काल-गणना तीस करोड वर्षों से भी अधिक ही है। ऐसी दशा मे उत्तम, तामस तथा रैवत जैसे सहोदर भ्राताओ का क्रमश. विभिन्न मन्वन्तरो के अधिपति होने की घटना पर ऐतिहासिक विपर्यय का दोष इसलिए नही लगाया जा सकता की भागवत के अनुसार प्रियव्रत ने एकादश अर्बुद (अरब) वर्षों तक अकेले ही राज्य का निर्वाह किया था।[1] तब ऐसे दीर्घजीवी पिता के पुत्रो को अलौकिक दीर्घ आयु मिलना कोई विलक्षण वस्तु नही मानी जा सकती। जो कुछ भी हो इन तीनो का प्रियव्रतान्वय म अन्तर्भुक्त होना विष्णुपुराण के आधार पर भी मान्य है।

प्रत्येक मन्वन्तर के अधिकारियो का नामनिर्देश अनेक पुराणो मे उपलब्ध है। विष्णुपुराण का विवरण बडा ही सुव्यवस्थित तथा विशद है[2]। भागवत मे भी यह अनेक अध्यायो मे है[3]। विस्तृत होने से यह सूची यहा नही दी गई है। केवल वर्तमान मन्वन्तर के अधिकारियो का ही नाम यहा दिया गया है। वर्तमान मन्वन्तर सप्तम है—वैवस्वत मन्वन्तर जिसके मनु सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र महातेजस्वी तथा बुद्धिमान् श्राद्धदेव हैं। इस मन्वन्तर मे आदित्य, वसु तथा रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनी और ऋभु—ये देवगण है। देवराज इन्द्र का नाम पुरन्दर है। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज—ये सप्तर्षियो के नाम हैं जो वर्तमान मन्वन्तर मे अपने विशिष्ट कार्य का निर्वाह करते हैं। मनु-पुत्रों की सख्या मे मतभेद है। विष्णुपुराण के अनुसार वैवस्वत मनु के ९ पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नारिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट, करूष तथा पृषध्र (३।१।३३–३४)। भागवत के अनुसार यह सख्या १० है और पूर्वसूची मे 'वसुमान्' का नाम परिगणित कर यह सख्या पूर्ण की गई है (भागवत ८।१३।२–३)।

भागवत ने प्रत्येक मन्वन्तर मे भगवान् के विशिष्ट अंशावतार का भी निर्देश किया है। भगवान् स्वय अवतार लेकर उस मन्वन्तर मे होने वाली धार्मिक अव्यवस्था को दूर करते हैं, जगत् मे मगल का साधन करते हैं जिससे प्राणिमात्र का कल्याण होता है। तथ्य तो यही है कि समस्त मन्वन्तरो मे देवरूप से स्थित होने वाले भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्त्वप्रधाना शक्ति ही ससार की स्थिति मे उसकी अधिष्ठात्री होती है—

---

१. भागवत ५।१।२९

२ विष्णुपुराण अंश ३, अध्याय १ तथा २।

३ भागवत स्कन्ध ८, अध्याय ५ तथा १३

मन्वन्तर सुव्यवस्था के निर्धारण का एक सुचारु साधन है—यही उसका मांगलिक पक्ष है।[1]

अधिकारियों के नाम

मन्वन्तरों के आदिम आठ मन्वन्तरो का बडा ही विशद विवरण मार्कण्डेय पुराण मे दिया गया है। इसमे प्रत्येक मनु का वैयक्तिक जीवनचरित बडे विस्तार से दिया गया है जो अन्य पुराणो मे उपलब्ध नही होता। यथा स्वारोचिष मनु की कथा ६१ अ० से आरम्भ कर ६७ अ० तक, उत्तम मनु की कथा ६९ अ० से ७४ अ० तक, तामस की कथा ७४ अ० मे रैवत की कथा ७५ अ०, वैवस्वत मनु की ७ अ० से लेकर ७९ अ० तक है। अष्टम मनु सावर्णि के चरित प्रसग म ही देवी माहात्म्य का विशद विवरण तेरह अध्यायो म (८१ अ०—९३ अ०) दिया गया है जो मार्कण्डेय पुराण का प्रकृष्ट वैशिष्ट्य है। अन्य पुराणो म यत्र तत्र इन मनुओ की जीवनलीलाओ का सामान्य सकेत ही उपलब्ध होता है, इतना विस्तार नही।

प्रथम पाच मनुओं का सम्बध एक ही व्यक्ति के साथ निश्चित रूप से घटित माना गया है और वह व्यक्ति हैं मानवो के आदि स्रष्टा स्वायम्भुवमनु। इन्ही के ज्येष्ठ पुत्र थे प्रियव्रत। और इन्ही प्रियव्रत के वश म विष्णु पुराण स्वारोचिष, उत्तम, तामस तथा रैवत की गणना करता है[2]। विष्णु पुराण इस सामान्य निर्देश से ही सन्तोष करता है कि ये चारो मनु प्रियव्रत के अन्वय या वश म उत्पन्न थे परन्तु श्रीमद्भागवत का उल्लेख अधिक स्पष्ट तथा विशद है। वह कहता[3] है कि प्रियव्रत की अन्य जाया (बर्हिष्मती से भिन्न भार्या) म उत्पन्न पुत्र उत्तम, तामस तथा रैवत तीनो ही क्रमश तृतीय, चतुर्थ तथा पचम मन्वन्तरो के अधिपति थे।

इसका तात्पर्य यह है कि स्वायम्भुव मनु ही निश्चित रूप से इस मन्वन्तर परम्परा के प्रवर्तक हैं और उन्ही के वंशधर ही इस महनीय तथा मान्य

---

१ द्रष्टव्य भागवत अष्टम स्कन्ध, १४ अध्याय जहां विष्णुपुराणोक्त तथ्य का पर्याप्त समर्थन किया गया है।

२. स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
प्रियव्रतान्वया ह्येते चत्वारो मनव स्मृता ॥

—विष्णु, ३।१।२४

३ अन्यस्यामपि जायायां त्रय पुत्रा आसन् उत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतय ॥ —भागवत ५।१।२८

उपाधि के धारण करने की योग्यता रखते थे और इसी कारण यह पद इसी वंश मे कम से कम पाच मन्वन्तरो तक अवश्यमेव वर्तमान था । मन्वन्तर की काल-गणना तीस करोड वर्षों से भी अधिक ही है । ऐसी दशा मे उत्तम, तामस तथा रैवत जैसे सहोदर भ्राताओ का क्रमश विभिन्न मन्वन्तरो के अधिपति होने की घटना पर ऐतिहासिक विपर्यय का दोष इसलिए नहीं लगाया जा सकता की भागवत के अनुसार प्रियव्रत ने एकादश अर्बुद (अरब) वर्षों तक अकेले ही राज्य का निर्वाह किया था ।[1] तब ऐसे दीर्घजीवी पिता के पुत्रो को अलौकिक दीर्घ आयु मिलना कोई विलक्षण वस्तु नही मानी जा सकती । जो कुछ भी हो इन तीनो का प्रियव्रतान्वय म अन्तर्भुक्त होना विष्णुपुराण क आधार पर भी मान्य है ।

प्रत्येक मन्वन्तर के अधिकारियो का नामनिर्देश अनेक पुराणों मे उपलब्ध है । विष्णुपुराण का विवरण बडा ही सुव्यवस्थित तथा विशद है[2] । भागवत मे भी यह अनेक अध्यायों मे है[3] । विस्तृत होने से यह सूची यहा नही दी गई है । केवल वर्तमान मन्वन्तर के अधिकारियो का ही नाम यहा दिया गया है । वर्तमान मन्वन्तर सप्तम है—वैवस्वत मन्वन्तर जिसके मनु सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र महातेजस्वी तथा बुद्धिमान् श्राद्धदेव हैं । इस मन्वन्तर मे आदित्य, वसु तथा रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनी और ऋभु—ये देवगण हैं । देवराज इन्द्र का नाम पुरन्दर है । कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज—ये सप्तर्षियो के नाम हैं जो वर्तमान मन्वन्तर मे अपने विशिष्ट कार्य का निर्वाह करते हैं । मनु-पुत्रो की सख्या मे मतभेद है । विष्णुपुराण के अनुसार वैवस्वत मनु के ९ पुत्र हैं—इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नारिष्यन्त, नाभाग, अरिष्ट, करूष तथा पृषध्र (३।१।३३–३४) । भागवत के अनुसार यह सख्या १० है और पूर्वसूची मे 'वसुमान्' का नाम परिगणित कर यह सख्या पूर्ण की गई है (भागवत ८।१३।२–३) ।

भागवत न प्रत्येक मन्वन्तर मे भगवान् के विशिष्ट अशावतार का भी निर्देश किया है । भगवान् स्वय अवतार लेकर उस मन्वन्तर में होने वाली धार्मिक अव्यवस्था को दूर करत हैं, जगत् म मगल का साधन करते हैं जिससे प्राणिमात्र का कल्याण होता है । तथ्य तो यही है कि समस्त मन्वन्तरो मे देवरूप से स्थित होने वाले भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्त्वप्रधाना शक्ति ही ससार की स्थिति म उसकी अधिष्ठात्री होती है—

---

१. भागवत ५।१।२९

२ विष्णुपुराण अश ३, अध्याय १ तथा २ ।

३ भागवत स्कन्ध ८, अध्याय ५ तथा १३

विष्णुशक्तिरनौपम्या सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता।
मन्वन्तरेष्वशेषेषु देवत्वेनाधितिष्ठति ॥

—विष्णु, ३।१।३५

प्रत्येक मन्वन्तर मे विष्णुपुराण के अशावतारो का विवरण विष्णुपुराण मे मिलता है (३।१।३६—४५)। वर्तमान मन्वन्तर के आराध्यदेव वामन है जो कश्यप ऋषि के द्वारा अदिति के गर्भ से विष्णु के अंश से प्रकट हुए है[1]।

सृष्टि का आरम्भ

प्रत्येक हिन्दू अपने सकल्पवाक्य मे सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक होने वाले काल का सकेत करता है। यह संकल्पवाक्य है—

ॐ तत् सत्। अद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे *आर्यावर्तैकदेशान्तरगते कुमारिका नाम क्षेत्रे* वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे ·· ।

इस संकल्पवाक्य को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि ब्रह्मा जी *की अपने मान से सौ वर्षों की आयु होती है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्माण्ड* की सृष्टि से लेकर महाप्रलय तक इतना काल व्यतीत होता है। ब्रह्माजी का पूर्व परार्ध अर्थात् आधा जीवन बीत गया है। अपनी आयु का ५० वर्ष व्यतीत कर वे अपने ५१ वें वर्ष मे इस समय वर्तमान हैं। द्वितीय परार्ध का प्रथम कल्प (दिन) चल रहा है जिसका नाम है— श्वेत वाराह कल्प'। इस प्रथम दिन की भी १३ घड़ियाँ, ४२ पल, ३ विपल, ४३ प्रतिविपल बीत चुके हैं। जानना चाहिये कि चारों युगो की वर्ष सख्या दो प्रकार की होती है दिव्यमान से और मानुष मान से। मनुस्मृति (१।६८-७४ तथा ७९-८०), महाभारत का वनपर्व (अ० १८८।२२-२४,२६) शान्तिपर्व (अ० २३१।१६ ३१) तथा भागवत (३।११।१८-२० तथा २२-२४) मे चतुर्युगो के मान दिव्य वर्षो मे दिये गये है। हमारा एक वर्ष होता है देवो का एक अहोरात्र। इस प्रकार देव (दिव्य) वर्ष मे ३६० अको से गुणा करने पर मानुष वर्ष बनते है।

---

१ मन्वन्तरेऽत्र सम्प्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज।
वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्या सबभूव ह ॥

—विष्णु ३।१।४२

इसकी तुलना कीजिये भागवत ८।१३।६ से:—
अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्।
आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥

इसका प्रमाण ज्यौतिष तथा उससे भिन्न ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। 'मासेन स्यादहोरात्र पैत्र, वर्षेण दैवत' (अमर १।४।२१), 'एक वा एतद् देवाना-महर्यत् सवत्सर' (तैत्ति० ब्रा० ३।९।२२।१)-इसी प्रकार के प्रमापक वाक्य हैं।

युगों का मान

	देव वर्ष	मानुष वर्ष
कलियुग	१२००	४, ३२, ०००
द्वापर	२४००	८, ६४, ०००
त्रेता	३६००	१२, ९६ ०००
सत्ययुग	४८००	१७, २८, ०००
	योग १२,०००	४३, २०, ०००

शब्दो मे तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष। ७१ चतुर्युगो का एक मन्वन्तर होता है, इसका सप्रमाण वर्णन ऊपर किया ही गया है। एक मन्वन्तर की मानुपवर्ष की गणना ऊपर दी गई है—३०,६७,२०,००० (तीस करोड, सतसठ लाख, बीस हजार)। एक कल्प म १४ मन्वन्तरा की सत्ता होने से कल्प की सख्या है—४,२९,४०,८०,०००। सूर्य सिद्धान्त का वचन उद्धृत किया है जिसके अनुसार १४ मन्वन्तरो की १५ सन्धियाँ होती है और प्रत्येक सन्धि का वर्ष परिमाण सत्ययुग के वर्ष के बराबर होता है (१७ लाख २८ हजार वर्ष)। इस प्रकार सब सन्धियो के वर्ष मिलकर होते हैं = १७ लाख २८ हजार वर्ष × १५ = २,५९,२०,००० (दो करोड ऊनसठ लाख बीस हजार)। अब मन्वन्तरो के काल के साथ सन्धिकाल को मिला देने पर एककाल अथवा ब्रह्मा के एक दिन का वर्षमान हो जाता है—एक सहस्र चतुर्युगी = ४,३२,००,००,००० मानुष वर्ष (चार अरब बत्तीस करोड वर्ष)। इतने ही वर्षो की ब्रह्मा की रात्रि भी होती है, परन्तु कल्प की गणना म ब्रह्मा की रात्रि की गणना नही की जाती। तात्पर्य यह है कि ब्राह्म दिन ही एक कल्प का बोधक होता है। ब्रह्मा के अहोरात्र के वर्ष होते हैं—आठ अरब चौसठ करोड। इस सख्या म ३० अका से गुणा करने पर ब्राह्म मास का काल निकलता है और उसमे १२ का गुणा करने से ब्राह्म वर्ष के समय का पता चलता है। इन अको मे एकसौ से गुणा करने पर ब्रह्मा की पूरी आयु निकलती है—३१ नील, १० खरब, ४० अरब। इस पूरी आयु म से बीते हुए कालका निर्देश ऊपर किया गया है। इस काल के भुक्त वर्षो की जानकारी अब आवश्यक है—

(विक्रम सं० २०२१, कलियुग ५०६४, सन् १९६४ ६५)

भुक्त कल्प के वर्षों का विवरण

गत छः मन्वन्तरों के वर्ष	=	१८४,०३,२०,०००
इन की सात सन्धियों के वर्ष	=	१,२०,९६ ०००
सातवें मन्वन्तर के गत २७ चतुर्युगों के वर्ष		०,११,६६४०,०००
२८ त्रियुगी के भुक्त वर्ष		३८,८८ ०००
२८ कलि का भुक्त वर्ष	=	५,०६४
	=	१,९७,२९ ४९ ० ४

= शब्दों में एक अरब सनतानवे करोड़,
उनतीस लाख उनचास हजार चौसठ

कल्प के भोग्य वर्षों की गणना कल्प के वर्षों से ऊपर वाली संख्या घटा देन से सरलता से निकल सकती है। इस प्रकार पुराणों के अनुसार पृथ्वी की आयु दो अरब वर्षों के आसपास है। यह गणना आधुनिक वैज्ञानिक गणना से भी मेल खाती है।[1]

---

१ नये मतों के लिए द्रष्टव्य महराज नारायण मेहरोत्रा —पृथ्वी की आयु (हिन्दी समिति लखनऊ द्वारा प्रकाशित, १९६२)

पुराण में धर्मशास्त्रीय विषय

पुराणों ने सब वर्णों के लिए लोक तथा परलोक म आनन्द से जीवन प्राप्त करने का सब से सुगम उपाय बतलाया है। वेदों में भी उस जीवनमय जीवन की उपलब्धि के साधन बतलाये हैं अवश्य, परन्तु वे कलियुगी जीवो के लिए कष्ट-साध्य, तथा शौचसाध्य हैं। कलियुग का प्राणी न तो इतना अर्थसम्पन्न है, और न इतना पवित्र है कि यज्ञो क लिए अत्यावश्यक उपकरण का भी वह सचय कर सके। इसलिए कलियुग में पुराणो के द्वारा प्रतिपाद्य धर्म क ऊपर मनीषियो का इतना अधिक आग्रह है। पद्मपुराण मे व्यासजी युधिष्ठिर से य सारगर्भित वचन कहे हैं—"कलियुग मे मनुद्वारा प्रतिपादित तथा वेद द्वारा निर्दिष्ट धर्मों का आचरण नहीं किया जा सकता, परन्तु पुराणो मे प्रतिपादित एकादशी व्रत का अनुष्ठान सुखपूर्वक अल्पधन से तथा स्वल्पक्लेश से किया जा सकता है तथा फल भी उससे महान् उत्पन्न होता है। इसलिए यमलोक से निवृत्ति पाने की अभिलाषा से प्रत्येक मनुष्य को यावज्जीवन एकादशी व्रत करना चाहिए"।[1] सूतसहिता म भी इसी तथ्य का निरूपण किया गया है। (१।७।२२)। फलत. पुराणो ने अल्पप्रयास से सर्वसाधारण क लिए मुक्ति-प्राप्ति के सुलभ साधनो को बतलाया और आजकल पुराण की लोकप्रियता का रहस्य इसी घटना मे छिपा हुआ है।

अपन पूर्वोक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पुराणो ने महाभारत तथा मनुस्मृति के कतिपय नियमो का उल्लघन भी कभी-कभी किया है। बौधायन धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा वशिष्ठधर्मसूत्र ने श्राद्ध मे विस्तार करन का इसलिए निषेध किया है कि यह पाँच वस्तुओ का अपकर्ष करता है—सत्कार—निमन्त्रित व्यक्तियो के प्रति पूर्ण सत्कार का दिखलाना, देश तथा काल का औचित्य, शुचिता, योग्य ब्राह्मणो की प्राप्ति। इन्हीं कारणो स श्राद्ध म विस्तार न करना चाहिए—

---

१ श्रुता ते मानवा धर्मा वैदिकाश्च श्रुतास्त्वया।
कलौ युगे न शक्यन्ते ते वै कर्तु नराधिप॥
सुखोपायमल्पधनमल्पक्लेशं महाफलम्।
पुराणानां च सर्वेषां सारभूत महामते।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि॥

—पद्म ६।५३।८-६

सत्-क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥

(मनु ३।१२६; बौ. ध. सू ३।४।४०; कूर्मपुराण २ २२।२७)

अनुशासन पर्व तथा अन्यत्र श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणो के पात्रत्व का विचार बलपूर्वक उद्घोषित है[1]। *दैव कर्म मे ब्राह्मण की योग्यता का विचार* नही करना चाहिए, परन्तु पितृकर्म मे योग्यता की परीक्षा एकान्त आवश्यक है। अनुशासन के इस तथ्य का उद्घोष वायु-पुराण मे भी उपलब्ध होता है।[2] परन्तु, पुराणो ने इन दोनो नियमो के उल्लंघन के प्रति अपना पूर्ण आग्रह दिखलाया है। श्राद्ध के अवसर पर प्रभूत धन व्यय करने की शिक्षा देते हुए पुराण कभी नही थकते। 'वित्तशाठ्य' की इस अवसर पर पुराणों मे बडी निन्दा है। सम्पत्ति होने पर श्राद्ध तथा एकादशी के अवसर व्यय करने मे कभी भी शठता या कृपणता न करनी चाहिए। इस प्रसंग मे विष्णु-पुराण मे एतद्विषयक श्लोक स्मरणीय हैं जिनमे पितृगणो ने अपनी कामना अभिव्यक्त की है। ऐसे नव[3] श्लोको (३।१४।२२-३०) मे से एक दो श्लोक ही यहाँ दिये जाते हैं—

अपि धन्यः कुले जायात् अस्माकं मतिमान् नरः।
अकुर्वन् वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति ॥
रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति ॥

—विष्णु ३।१४।२२-२३

पितरो की यह भावना नितान्त सुन्दर है। इन श्लोको का आशय है— कि हमारे कुल मे क्या कोई ऐसा मतिमान् धन्य पुरुष उत्पन्न होगा जो वित्त की लोलुपता को छोड कर हमे पिण्डदान देगा। तथा जो सम्पत्ति होने पर हमारे उद्देश्य से ब्राह्मणो को रत्न, वस्त्र, यान और सम्पूर्ण भोग सामग्री देगा। वित्त-

---

१. ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित्।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्याय्यमाहु परीक्षणम् ॥
— अनुशासन ९०।२, (हेमाद्रिद्वारा उद्धृत)

२. न ब्राह्मणान् परीक्षेत सदा देये तु मानव।
दैवे कर्मणि पित्र्ये च श्रूयते वै परीक्षणम् ॥
— वायु० ८३।५१

३. ये नव श्लोक वाराहपुराण १३।४०-५१ मे भी अक्षरशः समान ही हैं। ३।१४।२४-३० श्लोक श्राद्धक्रियाकौमुदी मे उद्धृत हैं तथा व्याख्यात भी हैं।

शाठ्य की निन्दा एकादशी-व्रत के अनुष्ठान के अवसर पर पद्मपुराण में भी की गई है (पद्म १ ९।१८१, ६।३९।२१)। तीर्थस्थ ब्राह्मणों की पात्रता, अपात्रता का भी विचार पुराणों ने हेय माना है। ब्राह्मण की योग्यता का विचार पुराणों की सामान्य दृष्टि से सर्वदा ओझल रहता है। वायु पुराण ने गया तीर्थ के ब्राह्मण के कुल, शील, विद्या, तथा तप के परीक्षण को अनावश्यक बतलाया है। ब्राह्मण के पूजन मात्र से ही मुक्ति प्राप्त होती है[1]। वराह-पुराण ने इसी प्रकार मथुरा के ब्राह्मणों को पात्रता के समीक्षण में वहिर्भूत ही रखा है[2]। इस प्रकार पुराणों ने महाभारत में निर्दिष्ट दोनों नियमों का अपवाद उपस्थित किया है।

ब्राह्मणों के सद्गुणों को अपवाद मानने में पुराणों का एक गम्भीर तात्पर्य लक्षित होता है जिसे काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ में स्फुटीकृत किया है। बौद्ध धर्म को राजकीय आश्रय प्राप्त होने पर वैदिक धर्म की रक्षा की समस्या मनीषियों के सामने प्रस्तुत हुई। ब्राह्मण ही ऐसा वर्ग था जो वैदिक धर्म के संरक्षण का महनीय कार्य करता था, परन्तु उसके योगक्षेम की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि उसकी रक्षा की व्यवस्था राजा या सम्पन्न गृहस्थ नहीं करता, तो वेद का संरक्षण क्योंकर सम्पन्न हो सकता है? इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर ही—अपने युग की एक विषम समस्या के सुलझाने के निमित्त ही पुराणों ने ऐसी व्यवस्था दी है। तभी तो पद्मपुराण का यह वचन सुसंगत होता है—

> तीर्थेषु ब्राह्मणं नैव परीक्षेत कथंचन।
> अन्नार्थिनमनुप्राप्तं भोज्यं तं मनुरब्रवीत्॥
>
> —पद्म, ५।२९।२१२

इसी तात्पर्य की मुख्यता को ध्यान में रखकर पुराणों ने दान, श्राद्ध, तीर्थयात्रा तथा पवित्र नदियों में स्नानादि व्रत, भक्ति, अहिंसा, भगवन्नामकीर्तन आदि को सद्गृहस्थों के लिए आवश्यक कर्तव्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

पूर्त धर्म

वैदिक समाज में इष्टापूर्त की महिमा विशिष्ट रूपेण मान्य तथा ग्राह्य है। 'इष्टापूर्त' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के एक मन्त्र में (१०।१४।८) उपलब्ध

---

१ न विचार्य कुलं शील विद्या च तप एव च।
पूजितैस्तैस्तु राजेन्द्र! मुक्तिं प्राप्नोति मानवः॥ —वायु ८३।२७

२. अनृग् वै माथुरो यत्र चतुर्वेदस्तथाऽपरः।
वेदैश्चतुर्भिर्न च स्यान्माथुरेण समं क्वचित्॥ —वराह १६५।५५

होता है परन्तु इसकी व्याख्या या अर्थ सकेत वहा नही मिलता । पुराणो मे इन शब्दो की व्याख्या मिलती है जिससे इष्ट वेद द्वारा प्रतिपाद्य कर्म है तथा पूर्त पुराणो द्वारा प्रशसित कर्म है—

> अग्निहोत्रं तप सत्यं वेदानां चैव साधनम् ।
> आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
> वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
> अन्नप्रदानमर्थिभ्य पूर्तमित्यभिधीयते ॥

मार्कण्डेय, १६।१२३, १२४ तथा अग्नि, २०९।२-३
=अत्रि सहिता, ४३, ४४ ।

तात्पर्य यह है कि जनता के कल्याण के लिए वापी, कूप, तालाब का खोदवाना, मन्दिर का निर्माण करना, याचको को अन्न प्रदान करना पूर्त' कहलाता है । और इसी धर्म का अनुष्ठान पुराणो के द्वारा बहुश प्रशसित है । पुराणो मे ऐसे बहुत से विचार हैं जो बिल्कुल आधुनिक प्रतीत होते है, जैसे समाज की सेवा तथा आर्तों-पीडितो के दु ख का अपनयन सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप मे परिगणित किया गया है । परोपकार को ही मुख्य धर्म बतलाने वाले कतिपय पुराण वचन द्रष्टव्य हैं ।

अवतारवाद पुराणो का महनीय दार्शनिक सिद्धान्त है जिसका विस्तृत विवेचन पीछे किया गया है । अवतार के साथ ही भक्ति का सिद्धान्त भी पुराण मे वैशद्येन प्रतिपादित है । भक्ति एक वैदिक तत्त्व है और इसके ऊपर किसी बाहरी प्रभाव को खोज निकालना नितान्त भ्रान्त है—इसकी सूचना अन्यत्र दी गई है । इसी न सम्बद्ध **व्रतों** का भी पुराणो मे बडा विस्तार है । वर्ष के कतिपय मास जैसे वैशाख, अगहन तथा माघ आदि नितान्त पवित्र मान जाते हैं । तिथियो म एकादशी तो वैष्णवो के लिए तथा प्रदोष व्रत शैवो क लिए नितान्त उपादेय मान जाते है ।

---

१. न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत् सुख प्राप्यते नरै ।
यदार्तजन्तुनिर्वाण दानोत्थमिति मे मति ॥

मार्कण्डेय, १५।५७

प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च ।
कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् वदेत् ॥

—विष्णु, ३।१२।४५

जीवित सफल तस्य य परार्थोद्यत सदा ॥

—ब्रह्म, १२५।३६

दान का भी वैशद्येन विवरण पुराण का अपना विषय है। निबन्धकारों में अन्यतम बल्लालसेन ने अपने दानसागर में दान का बड़ा ही विशद तथा प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है जिसमें पुराणों के आवश्यक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। षोडश महादानों का विशिष्ट वर्णन भी अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है।

श्राद्ध का विषय भी बड़ा उपादेय माना जाता है। तीर्थों में श्राद्ध का विधान आवश्यक माना जाता है। गरुड पुराण का उत्तर खण्ड प्रेतकल्प के नाम से विख्यात है (३५ अध्यायों में) जिसमें और्ध्वदैहिक क्रियाओं से सम्बद्ध हिन्दू भावनाओं का एक विस्तृत प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। श्राद्ध के विषय में सर्वमान्य होने से गयातीर्थ की महिमा प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। महाभारत के वनपर्व में गया तथा वहाँ के अक्षयवट का गौरव बड़ी सुन्दरता से वर्णित है। वहाँ पितृगणों का वह लोकप्रिय वचन भी उद्धृत है जिसमें वे लोग गया में श्राद्ध की संस्तुति करते हैं—

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥

—वनपर्व ८४।९७

तीर्थ-महात्म्य

पुराणों में तीर्थों की महिमा का विपुल वर्णन मिलता है। यह इतना साङ्गोपाङ्ग रूप से वर्णित है कि उस प्रदेश का विस्तृत भौगोलिक चित्र रुचिरता से प्रस्तुत किया जा सकता है। तीर्थयात्रा के पौराणिक प्रसंग को भूगोल का पूरक मानना चाहिये। उदाहरणार्थ स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड का समीक्षण कीजिये। रेवा—नर्मदा के तीर पर वर्तमान तीर्थों का यह सारा विवरण उस प्रदेश के भौगोलिक वृत्त की सर्वथा पूर्ति करता है। काशीखण्ड की भी दशा ऐसी ही है। इस खण्ड में काशीस्थ शैवलिंगों का इतना सुचारु वर्णन है कि उसकी सहायता से काशी के प्रख्यात स्थानों का स्थल निर्देश भली भाँति आज भी किया जा सकता है। किसी स्थान पर किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा की गई तपश्चर्या से परिपूत स्थलविशेष की संज्ञा 'तीर्थ' है। 'तीर्थ' का मूल अर्थ है वह स्थान जहाँ पर किसी नदी को पार किया जा सकता है। ऐसे स्थानों पर जनता का एकत्र होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे नदीतट होने से पवित्रता की दिव्य भावना से मण्डित होने पर वही स्थान धार्मिक तात्पर्य वाले 'तीर्थ' के रूप में परिगृहीत हो जाता है। तीर्थ मूलतः नदी से सम्बद्ध है। तदनन्तर अन्य भी पवित्र स्थल जो पर्वतों के ऊपर भी वर्तमान रहते हैं तीर्थ की संज्ञा पाने लगते हैं। तीर्थ भारतवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने वाले साधना

मे अन्यतम है। ऐसा कोई दिव्य सुन्दरता-मण्डित नदी-तीर, पर्वत-शिखर, झील या जल प्रपात नही है जहाँ भारतीयता के प्रसारक नही पहुँचे हो और पहुँच कर जिन्हे वे तीर्थ के रूप मे दिव्यरूप प्रदान न किये हो।

तीर्थ की महिमा का प्रतिपादन महाभारत के समय से ही है। वनपर्व मे एक बडा दीर्घ अवान्तर पर्व छिहत्तर अध्यायो का है (८० अ०—१५६ अ०) जो तीर्थयात्रा पर्व के नाम से विख्यात है। इन अध्यायो मे तीर्थों के तीन वर्णन हैं जिसका भौगोलिक क्षेत्र क्रमश विस्तृत तथा विस्तीर्ण होता गया है। प्रथम तीर्थों का वर्णन है पुलस्त्य के द्वारा (८० अ०-८५ अ०), दूसरा है धौम्य के द्वारा (८ अ०-९० अ०) तथा तीसरी और पूर्ण विकसित सूची तीर्थों की है लोमश के द्वारा व्याख्यात (९१ अ०—१५६ अ०)। प्रथम दोनो सूचियो मे स्थानो का निर्देशमात्र है तथा धार्मिक चूर्णिका स्वल्प मात्रा मे है। तृतीय सूची मे अधिकतम स्थलो का ही निर्देश नही है, प्रत्युत उनसे सम्बद्ध ऐतिहासिक महत्त्वशाली घटनाओ का भी विस्तृत विवरण तीर्थों के महत्त्व को भूरिश. प्रकट करता है। यथा वनपर्व के १३५ अध्याय मे कनखल तीर्थ तथा गंगा का माहात्म्य वर्णित है। वहाँ प्रसगत रैभ्याश्रम की सूचना है जहा भरद्वाज के पुत्र यवक्रीत का नाश हुआ था। इसी प्रसग की व्याख्या मे यवक्रीत का वह विश्रुत उपाख्यान यहाँ चार अध्यायो मे (१३५ अ०—१३८ अ०) वर्णित है जिसे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ४।२।६० सूत्र के भाष्य मे निर्दिष्ट किया है और जो किसी समय लोगो मे नितान्त प्रख्यात था।

पुराणों ने महाभारत की इस शैली को अपनाकर तीर्थों के माहात्म्य वर्णन के अवसर पर प्राचीन आख्यानो का भी विशद उल्लेख किया है। जैसे ब्रह्म-पुराण ने तीर्थों का बडा विशाल विवरण है वहाँ प्राचीन आख्यानो का निर्देश करना पुराणकार कभी भूलते नही। ब्रह्मपुराण के १३१ अ० मे यमतीर्थ के वर्णन प्रसग मे सरमा के वैदिक आख्यान का पूरा विवरण दिया गया है। १३६ अ० मे विष्णुतीर्थ के प्रसग मे मौद्गल्य का आख्यान वर्णित है। १७१ अ० मे उर्वशीतीर्थ के अवसर पर पुरूरवा का आख्यान है। यह तीर्थ वर्णन १०९ अध्याय से प्रारम्भ कर १७८ अ० तक फैला हुआ है। अग्नि-पुराण ने १०९ अ० मे तीर्थों की सूची एकत्र देकर इसके अगले अध्यायो मे तीर्थ-विशेषो का—गङ्गा, प्रयाग वाराणसी नर्मदा, गया - का पृथक्-पृथक् विवरण संक्षेप मे दिया है। देवविशेषो से सम्बद्ध तीर्थों की एकत्र सूची पुराणों मे उपलब्ध होती हैं – पितृतीर्थ सूची (मत्स्य २२ अ०), देवीपीठ सूची (मत्स्य १३ अ०) ब्रह्मतीर्थ सूची (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। अग्निपुराण ने अत्यन्त संक्षिप्त विवरण केवल पूर्वनिर्दिष्ट पाँच तीर्थों का ही दिया है। प्रतीत होता है कि ये तीर्थ पञ्चक—गंगा, प्रयाग, वाराणसी, नर्मदा तथा गया—अत्यन्त प्राचीन काल

से ही प्रख्याति पाते आते हैं।[1] धीरे-धीरे यह संख्या बढ़कर समग्र भारतवर्ष को ही अपने में समेटे हुई है।

राजधर्म

पुराणों में राजधर्म का विवरण अनेक स्थलों पर बहुश उपलब्ध है। राजा की उत्पत्ति प्राचीन काल में क्या हुई ? उसके सहायक कितने अङ्ग तथा उपाङ्ग होते हैं ? साम दाम, दण्ड, भेद राजा के ये चार मुख्य धर्म कब उपयोग में लाये जाते हैं ? आदि प्रश्नों का समुचित समाधान पुराणों में किया गया है। मत्स्य पुराण में (२१९ अ०—२२६ अ०) यह विषय संक्षेप में विवृत है। राजकुमार को शिक्षा-दीक्षा किस प्रकार देनी चाहिये इसका विस्तृत विवरण २१९ अ० मे यहाँ दिया गया है। राजा के सात प्रसिद्ध अंग यहा भी निर्दिष्ट हैं—स्वामी, अमात्य, जनपद दुर्ग दण्ड, कोश तथा मित्र (सहायक राजागण)। साम (२२१ अ०), भेद (२२२ अ) दण्ड (२२४ अ० तथा २२६ अ०) के प्रयोग के अनन्तर, राजा का साम्य विभिन्न देवो के साथ किस प्रकार न्याय्य तथा उचित है—इस विषय का सुन्दर वर्णन भी यहाँ एक पूरे अध्याय (२५) में उपलब्ध है। अग्निपुराण (२१८ अ०—२४७ अ०) में भी यह विषय विस्तार से विवृत है। वक्ता हैं पुष्कर जो विष्णुधर्मोत्तर (२।१।७-९) के साक्ष्य पर वरुण के पुत्र हैं तथा श्रोतव्य हैं परशुराम। यही पुष्करनीति विष्णुधर्मोत्तर के कई अध्यायो में वर्णित है (२।६५-७०, १४५-१६५ अ०)। वक्ता तथा श्रोतव्य दोनों ही वे ही हैं जैसे अग्निपुराण में। निबन्धकारों ने अपने अपने निबन्धो मे अग्निपुराणस्थ इन प्रकरणो के अनेक श्लोको को उद्धृत किया है। अग्नि पुराण के कई अध्यायों में राम के द्वारा लक्ष्मण जी को प्रतिपादित नीति का विवेचन है (२३८ अ०—२४२ अ० तक)। यहाँ राजधर्म का ही विशेष रूप से वर्णन है। यह रामनीति कौटिल्य के अर्थशास्त्र का बहुश अनुसरण करती है। राम के द्वारा प्रतिपादित होने पर भी इसमे उदात्तता तथा महनीयता का नितान्त अभाव है, जिसे हम राम के साथ सम्बद्ध मानते आते हैं। तथ्य यह है कि यह काम दकीय नीति का सारसंकलन प्रस्तुत करता है जो अग्नि

---

१ पुराणों में विविध स्थानों पर विवृत तीर्थमाहात्म्य को एकत्र कर काणे महोदय ने बड़ी सुन्दरतया प्रदर्शित किया है। देखिए उनका हिस्ट्री आव धर्म शास्त्र चतुर्थ खण्ड जहाँ पुराणो तथा नवीन इतिहास के आधार पर प्रधान तीर्थों के महत्त्वपूर्ण विवरण भी हैं।

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य Political Thought and Practice in the Agni Purana, Purana vol III PP 35 37

पुराण की सग्राहक शैली के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। गरुडपुराण के कई अध्यायो मे (१०८–११५ अ) से नीतिसार नामक उपन्यस्त प्रकरण इसी विषय से भी सबध रखता है। इसमे धर्म अर्थ तथा काम अर्थात् पुरुषार्थ से सम्बद्ध फुटकल श्लोको का सग्रह तो है ही। साथ ही साथ राजधर्म तथा राजतन्त्र से सम्बद्ध श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। इस नीतिसार प्रकरण के श्लोक अन्यान्य पुराणो तथा सुभाषित ग्रन्थो से अविकल अथवा किञ्चित् पाठ-भेद के साथ यहाँ उद्धृत किये गये हैं। नीतिसार प्रकरण से अनेक श्लोक गरुड पुराण का नाम लेकर 'राजनीतिप्रकाश' मे उद्धृत किये गये हैं। राज्याभिषेक का प्रसग अग्निपुराण मे आता है जहाँ अभिषेक के निमित्त अनेक पौराणिक मन्त्र भी उपन्यस्त किये गये हैं (२१८—२१९ अध्याय)। इन प्रकरणो मे राजनीति के तथ्य सम्बन्धी बातो का भी अन्वेषण किया जा सकता है यद्यपि प्राचीन ग्रन्थो के सग्रह प्रस्तुत करने के हेतु मौलिकता की विशेष आशा नहीं है।

राजनीतिविषयक वर्णन मत्स्य अग्नि तथा गरुड के अतिरिक्त मार्कण्डेय जैसे पुराण में तथा और विष्णुधर्मोत्तर जैसे उपपुराणो मे भी प्राप्त होते हैं। इन अध्यायो के परिशीलन से पौराणिक राजधर्म का स्वरूप भली भाँति अभिव्यक्त होता है जो महाभारत आदि ग्रन्थो मे प्रतिपाद्य राजनीति से भिन्न नहीं है। राजा के विषय में मत्स्यपुराण एक बडे पते की बात बतलाता है। वह इस प्रकार है —

> कृपणानाथ वृद्धाना विधवाना च योषिताम्
> योगक्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत् ॥
>
> —मत्स्य २१५।६४

इसका तात्पर्य है कि कृपण अनाथ, वृद्ध तथा विधवाओ के योगक्षेम तथा वृत्ति का प्रबन्ध करना राजा का महनीय धर्म होना चाहिए। यह श्लोक महाभारत के एक श्लोक की ओर सकेत करता है जिसमे नारदजी ने युधिष्ठिर से अनाथ अन्ध तथा अङ्गहीन लोगों की वृत्ति नियत करने का उपदेश किया है—

> कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान्
> पितेव पासि धर्मज्ञ ! तथा प्रव्रजितानपि ।
>
> —सभापर्व ५।१२४

इस प्रकार के राज्य को जिसमे बूढों अनाथो लूलों लँगड़ो की वृत्ति का प्रबन्ध होता है जिससे वे भी संसार मे जीवन निर्वाह कर सकते हैं आजकल की भाषा मे वेल्फेयर स्टेट अर्थात् कल्याण राष्ट्र कहते हैं। यह आजकल के नितान्त समुन्नत राष्ट्र के विकसित रूप का प्रतीक माना जाता है। आश्चर्य की बात है कि पुराणों ने राष्ट्र का यही समुज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत रखा है

जिसमे किसी दोष के कारण कोई भी प्राणी जीने क अधिकार से वंचित न रह जाय। गरुडपुराण के नीतिसार का प्रकरण अपनी नैतिक शिक्षा के लिए बड़ा ही उपोदय तथा सग्रहणीय है। सस्कृत के नीतिवाक्यों के भीतर शताब्दियों से सचित अनुभव अपनी अभिव्यक्ति पाता है। वाक्य तो होते हैं छोटे, परन्तु उनके भीतर गम्भीर अर्थ भरा रहता है। बुढापे के रूप पहिचानने के लिए यह श्लोक कितना सरवान् है—

> अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
> असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा॥

यहाँ चार पदार्थों के वार्धक्य या जीर्णता का विवरण है और ये चारों बातें गम्भीर अनुभूति के ऊपर आश्रित हैं। इसी प्रकार गार्हस्थ्य जीवन के आदर्श का सकेत इस छोटे से पद्य मे कितनी रुचिरता से दिया गया है —

> यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया।
> उत्तरोत्तर वादास्या सा जरा, न जरा जरा॥
>
> —गरुड १०८।२३

पुराणो म नीति के ये स्थल बड़े ही मार्मिक, सारवान् तथा उपादेय हैं[1]

पुराणों में विज्ञान

लोकोपयोगी अनेक विद्याओं का वर्णन पुराणों मे, विशेषत विश्वकोशीय अग्नि०, गरुड० तथा नारदीय० मे प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन विद्याओं का विवरण इनके प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थो के आधार पर किया गया है। वर्णन है तो सक्षिप्त ही, परन्तु पर्याप्त प्रामाणिक है। लोक-व्यवहार के लिए इतनी भी जानकारी कम उपयोगी नहीं है। कुछ विद्यायें तो इतनी विलक्षण हैं कि उनके मूल ग्रन्थ आज बड़े परिश्रम से खोजे जा सकते हैं। पुराणो ने इन विद्याओं के आचार्यों के भी नाम तथा मत दिये हैं जो अज्ञात या अल्पज्ञात हैं। अत सस्कृत के वैज्ञानिक साहित्य का भी परिचय पुराणों के गम्भीर अध्ययन से सर्वथा सुलभ है। इसी दृष्टि से भी पुराणों का अध्ययन लोकोपयोगी तथा कल्याणकारी है। इस विषय की स्थूल सामग्री सक्षेप मे यहाँ दी गई है।

(१) अश्वशास्त्र—यह प्राचीन विद्या है। सभापर्व के ५।१०९ में अश्वसूत्र तथा हस्तिसूत्र का उल्लेख है। अश्वो की चिकित्सा के निमित्त एक

---

१ द्रष्टव्य Political Thoughts in the Puranas सम्पादक जगदीश लाल शास्त्री (लाहौर)। इस ग्रन्थ मे मत्स्य, अग्नि, मार्कण्डेय, गरुड, कालिका तथा विष्णुधर्मोत्तर के राजनीतिपरक अध्याय पूरे रूप मे सगृहीत हैं, तथा उनके आधार पर पुराणो के एतद्-विषयक विचार सक्षेप मे दिये गये हैं।

स्वतन्त्र आयुर्वेद विभाग था जो 'शालिहोत्र' के नाम से प्रख्यात था। पुराणो से अश्व के सामान्य परिचय, उनके चलाने के प्रकार, उनके रोग और उपचार आदि विषयो की सम्यक् जानकारी हमे हो सकती है। अग्निपुराण (अध्याय २८८) मे घोडो के चलाने के प्रकारो का बडा ही उपयोगी वर्णन है। इस पुराण के २८९-२९० अ० में अश्वो की चिकित्सा सक्षेप मे वर्णित है। गरुडपुराण के एक (२०१ अ०) अध्याय मे भी यह विषय विवृत हुआ है। इसी के प्रसग मे हस्तिशास्त्र का भी विवरण बडा उपयोगी है। सोमपुत्र बुध गजवैद्यक के प्रवर्तक थे—ऐसी पौराणिक अनुश्रुति मत्स्यपुराण (२४।२-३) मे निर्दिष्ट है। गजायुर्वेद का वर्णन धन्वन्तरि ने किया था। इसका सक्षिप्त विवेचन गरुड-पुराण (२०१ अ०, ३३-३९ श्लो०) मे उपन्यस्त है। अग्निपुराण के २८७ अध्याय मे यह विषय विवृत है तथा २९१ अ० में गजशान्ति का उपन्यास है। मत्स्यपुराण मे सकेतित सोमपुत्र बुध का निर्देश पालकाप्य ने अपने हस्ति-विद्याविषयक ग्रन्थ मे किया है। मत्स्य का कथन इस प्रकार है—

> तारोदर-विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभः।
> सर्वार्थविद् धीमान् हस्तिशास्त्र प्रवर्तकः॥
> नाम्ना यद् राजपुत्रीयं विश्रुतं गजवैद्यकम्।
> राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुधःस्मृतः॥
>
> —मत्स्य २४।२-३

मल्लिनाथ के रघुवंश (४।३९) की टीका मे 'राजपुत्रीय' से गम्भीरवेदी हस्ती का लक्षण उद्धृत किया है।

अग्निपुराण (२८२ अध्याय) गायो की चिकित्सा का अलग से वर्णन करता है। इस प्रकार पशु-चिकित्सा के त्रिविध प्रकारो का वर्णन पुराणो ने प्रस्तुत किया है।

(२) **आयुर्वेद**—आयुर्वेद एक लोकोपयोगी जनजीवन से नित्यप्रति सम्बद्ध शास्त्र है। फलत लोक से सम्बन्ध रखने वाले पुराणो मे इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है। अग्नि तथा गरुड—दोनो पुराणो से यह विषय वैशद्य से चर्चित है। आयुर्वेद के अनेक विभागो मे निदान तथा चिकित्सा मुख्य है। इसके निमित्त ओषधियो के स्वरूप का तथा गुण का परिचय होना आवश्यक है। इन पुराणो मे ये विषय विस्तार से विवृत हुये हैं। धन्वन्तरि यहाँ वक्ता हैं जो सुश्रुत को उपदेश देते हैं। यह धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास का ही नामान्तर बतलाया जाता है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बतलाये गये हैं। गरुडपुराण ५६ अध्यायो मे (१४६ अ० २०२ अ०) इस विषय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रधान रोगो के जैसे ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास आदि के निदान वर्णन पहिले किया गया है (१४६ अ०—

१६७ अ०)। ओषधियों के नामों की विस्तृत सूची २०२ अ० में दी गई है तथा १७३ अ० १९३ अ० में द्रव्यगुण का वर्णन है। गारुडीविद्या अर्थात् सर्पदंश को दूर करने की विद्या भी १९७ अ० में विवृत है. अग्निपुराण में भी इस विषय का उपयोगी उपन्यास किया गया है। अ० २७९-२८१ तक रोगों का. २८३ अ० में नाना रोगों को हरण करने वाली ओषधियों का, २८५ अ० में 'मृत-सञ्जीवनी' नामक सिद्ध योगों का तथा २८६ अ० में नाना कल्पयोगों का विवरण देकर पुराणकार ने चिकित्साशास्त्र का एक हस्तामलक ही मानो यहा प्रस्तुत कर दिया है। इतना तो निश्चय है कि इन पुराणों ने उपयोगी विद्याओं के सार-सङ्कलन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार ही यह विषय विवेचन किया है जो प्रामाणिक होने के साथ ही साथ नितान्त व्यवहारोपयोगी भी है।

वृक्षायुर्वेद भी भारत जैसे कृषिप्रधान देश के लिए तो सर्वोपरि उपादेय शास्त्र है। इसमें वृक्ष, लताओं तथा गुल्मों में लग जाने वाले रोगों की दवाओं का वर्णन है। अग्निपुराण के एक विशिष्ट अध्याय (२८२ अ०) ही ने इस विषय का प्रामाणिक, परन्तु संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। यह भारतवर्ष की एक प्राचीन विद्या है। बृहत्-संहिता की उत्पलकृत टीका (५४ अ०) में काश्यप, पराशर, सारस्वत आदि इस विद्या के प्राचीन आचार्यों के नाम निर्दिष्ट हैं तथा वचन भी उद्धृत किये गये हैं।

रत्नपरीक्षा—रत्नों की परीक्षा का विषय भी किन्हीं पुराणों में वर्णित है। गरुडपुराण में यह विषय बारह अध्यायों में काफी विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है (अध्याय ६८ ८० अ०) रत्नों का प्रथमतः विभाजन किया है और तदनन्तर उनके दोषों-गुणों का विवरण है जिससे दुष्ट रत्नों का त्याग कर निर्दुष्ट रत्न का ग्रहण किया जाय। वज्र (६८ अ०), मुक्ताफल (६९ अ०) पद्मराग (७० अ०), मरकत (७१ अ०), इन्द्रनील (७२ अ०), वैदूर्य (७३ अ० तथा ७६ अ०) पुष्पराग (७० अ०) कर्केतन (७५ अ०), पुलक (७७ अ०) रुधिर रत्न (७८ अ०), स्फटिक (७९) तथा विद्रुम (८० अ०)—इन रत्नों की परीक्षा तत्तत् अध्यायों में की गई है। अग्निपुराण के २६४ अ० में यही विषय वर्णित है, परन्तु बहुत ही संक्षेप में पन्द्रह श्लोकों में केवल सामान्य निर्देश ही किया गया है। गरुड का विवरण इसकी अपेक्षा विस्तृत, विशद तथा अधिक उपादेय है। अन्य पुराणों में भी जहा यह विषय आया है उनका उल्लेख भोजराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'युक्तिकल्पतरु' में विशेष भाव से किया है[1]।

---

१ द्रष्टव्य 'युक्तिकल्पतरु' (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित, कलकत्ता, १९१६)

वास्तुविद्या—

मन्दिर तथा राजप्रासाद के निर्माणविधि को वास्तु शास्त्र के नाम से पुकारते हैं। यह बहुत ही उपयोगी विद्या है। सामान्य गृहस्थो के ही लिए तो कम, परन्तु राजाओ के लिए अत्यधिक। मत्स्यपुराण ने इस विषय का बडा ही विस्तृत वर्णन अठारह अध्यायो मे दिया है (२५२ अ०—२७० अ०)। अग्निपुराण में भी यह विषय अनेक अध्यायो मे विकीर्ण रूप से प्रस्तुत किया है (४० अ०; ९३–९४ अ०, १०५–१०६ अ०, २४७ अ०)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे भी इन विषयो का विवेचन है (२।२९–३१)। संक्षिप्त विवेचन गरुड मे भी उपलब्ध होता है (१।४६)। इन सब से विस्तृत विवेचन होने के कारण मत्स्य का विवरण विशेष महत्त्व रखता है। प्रतीत होता है कि मत्स्य ने किसी विशिष्ट वास्तुशास्त्रीय निबन्ध का सार अपने अध्यायो मे प्रस्तुत किया है। यहा चार विषयो का विवेचन पुराणकार करता है :–(१) वास्तुविद्या के मूल सिद्धान्त, (२) स्थान का चुनाव तथा उस पर निर्माण की रूपरेखा, (३) देवो की मूर्तियो का निर्माण तथा (४) मन्दिर तथा राजप्रासादो की रचना। मत्स्य के २५२ अ० मे इस शास्त्र के १८ आचार्यों के नाम दिये गये हैं (भृगु, अत्रि, विश्वकर्मा, मय, नारद आदि), इनमे से कतिपय नाम काल्पनिक हो सकते हैं, परन्तु जैसा अन्य स्रोतो से सिद्ध होता है अनेक नाम वास्तविक हैं। इन आचार्यों ने वास्तव मे इस शास्त्र के विषय मे ग्रन्थो का प्रणयन किया था।[1]

गृह निर्माण का काल (२५३ अ०), भवन निर्माण (२५४ अ०) स्तम्भ का मान निर्णय (२५५ अ०) आदि विषयो का विवरण देने के अनन्तर इस पुराण ने देवप्रतिष्ठा की विधि तथा प्रासाद-निर्माण की विधि का विवेचन विस्तार से किया है। इसी प्रसंग मे प्रतिमा-लक्षण की भी चर्चा पुराणो मे है। अग्निपुराण ने ४९–५५ अध्यायो मे पूज्य देवता की प्रतिमाओ के लक्षण तथा निर्माण का विवरण दिया है। मत्स्य ने भी यही विषय २५८–२६४ अ० मे दिया है[2]। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड मे भी यही विषय विवृत है।

---

१. श्री तारापद भट्टाचार्य ने वास्तु विद्या के अपने अनुशीलन Canons of Indian Architecture नामक ग्रन्थ मे इन अठारहो आचार्यों की ऐतिहासिकता का तथा उनके ग्रन्थो का समीक्षण प्रस्तुत किया है (१९४७ ई० मे प्रकाशित)

२. मत्स्य के इन परिच्छेदो की विस्तृत तथा चित्रसमन्वित व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल रचित मत्स्यपुराण—ए स्टडी–नामक अंग्रेजी ग्रन्थ (पृष्ठ ३४३–३७०)। इन पृष्ठो मे यह विषय बड़ी सुन्दरता तथा विशदता के साथ विवेचित किया गया है।

पुराणो के अतिरिक्त यह विषय मौलिकरूप से मानसार, चतुर्वर्ग चिन्तामणि, सूत्र धारमण्डन, रूपमण्डन तथा बृहत्संहिता (५८ अ०) मे विस्तार से दिया गया है।

ज्योतिष—ज्योतिष का भी विवरण पुराणो मे यत्रतत्र उपन्यस्त है, खगोल तो भूगोल के साथ सवलित होकर अनेक पुराणों मे अपना स्थान रखता यथा श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्धमे (१६ अ०-२५ अ०) और इसी के अनुकरण पर देवीभागवत के स्कन्ध ८ (५ अ०-२० अ०) मे। गरुडपुराण म पाँच अध्याय (५९ अ०—६४ अ०) इसी विषय के वर्तमान हैं जिनमे फलित ज्योतिष का ही मुख्यतया विवरण है। नक्षत्रदेवताकथन, योगिनीस्थिति का निर्णय, सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा विवरण, दशाफल, यात्रा मे शुभाशुभ का कथन, राशियो का परिमाण, विभिन्न लग्नो मे विवाह के फल आदि विषयो का विवरण इन अध्यायो म दिया गया है। नारदीयपुराण के नक्षत्रकल्प म भी (१ ५५,५६) नक्षत्र सम्बन्धी बातें दी गई हैं। इस पुराण के ५४ अ० मे गणित का विवरण है। अग्निपुराण के कतिपय अध्यायो मे (१२१ अ०) शुभाशुभ विवक के विषय मे वर्णन उपलब्ध है।

सामुद्रिक शास्त्र—स्त्री-पुरुषो के शारीरिक लक्षणो के विषय में किसी समुद्र नामक प्राचीन आचार्य का ग्रन्थ था। आज भी सामुद्रिकशास्त्र के नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु यह उतना प्राचीन नहीं प्रतीत होता। स्त्री-पुरुषो के विभिन्न अगो के स्वरूप को देखकर, उच्चता-ह्रस्वता-दीर्घता-लघुता आदि परीक्षाकर उनके जीवन की दिशा को बतलाना इस विद्या का अग है। सुन्दरकाण्ड के एक विशिष्ट सर्ग मे रामचन्द्र के अगविन्यास का विवरण बडी सचेष्टता से दिया गया है। यह अगविद्या (प्राकृत अग विज्जा) का विषय है। अगविद्या सामुद्रिक विद्या के साथ सम्बद्ध एक प्राचीन विद्या थी जिसके द्वारा नर-नारी के शरीर का विस्तृत वर्णन शुभ या अशुभ सूचना के साथ उपस्थित किया जाता था। वीरमित्रोदय के 'लक्षणप्रकाश' में मित्रमिश्र ने इस विद्या से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री प्राचीन आचार्यो के वचनो के उद्धरण के *साथ उपस्थित की है। पुराणो ने अंगविद्या का भी सकलन अपने अध्यायो मे* किया है। अग्निपुराण के २४३-२४५ अध्यायो मे तथा गरुडपुराण के १।६३-६५ अध्यायों मे यही विद्या प्रपंचित है। जैनधर्म मे अनेक ग्रन्थ इसी अगविद्या (=अगविज्जा) से सम्बन्ध रखने वाले उपलब्ध हुए हैं जिनमे एक प्राकृत ग्रन्थ प्राकृत ग्रन्थमाला (काशी) से हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

धनुर्विद्या

प्राचीन काल मे यह विद्या अत्यन्त प्रख्यात थी, परन्तु देश के परतन्त्र हो जाने के कारण इस विद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम ही यत्र-तत्र उपलब्ध होते

हैं। प्रपचहृदय मे इस शास्त्र के वक्तारूप मे ब्रह्मा प्रजापति इन्द्र मनु तथा जमदग्नि के नाम निर्दिष्ट हैं। महाभारत के अन्य पर्वों मे इस विद्या के आचार्यों नाम सस्मृत है अगस्त्य का नाम आदिपव म (१५२।१० कुम्भकोण स०) तथा भरद्वाज का नाम शान्तिपव मे (२१०।२१) धनुर्विद्या के आचायरूप मे उल्लिखित है। *जमदग्नि का उल्लेख डल्हण करते हैं। अग्निपुराण* के चार अध्यायों म (२४९ २५२ अ०) इस विद्या का सार सकलित किया गया है। मधुसूदन सरस्वती न प्रस्थानभेद मे विश्वामित्रकृत धनुर्वेद का उल्लेख किया है परन्तु यह ग्र थ उपलब्ध नही ह।[1]

पुराणों में वर्णित विचित्र विद्यायें—

पुराणा मे ऐसी विद्यायें आख्यानको के प्रसग मे वर्णित हैं जिन पर आधुनिक मानव प्राय विश्वास नही करता परन्तु उस युग मे व सच्ची थी तथा उनका उपयोग जनसाधारण के बीच किया जाता था। सस्कृत मे मन्त्र शास्त्र माया और विज्ञान तथा पाली मे मन्त और विज्जा विद्या के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इन विद्याओ म से कुछ का सकेत यहा दिया जाता है—

(१) **अनुलेपन विद्या**—माकण्डेय (अ० ६१ ८ २० श्लो) मे ऐसे विशिष्ट पादलेप का सकेत है जिसे पैर म लगान से आधे दिन मे ही सहस्र योजन की यात्रा करन की शक्ति आती थी। इसके उपयोक्ता एक ब्राह्मण की चर्चा है जिसने एक अन्य ब्राह्मण को यह पादलेप दिया। इसके प्रभाव से वह हिमालय पहुँच गया परन्तु सूरज की धूप के कारण तप्त बरफ पर पैर रखने से वह लेप धुल गया जिससे यात्रा की वह अलौकिक शक्ति नष्ट हो गई।

(२) **स्वेच्छारूपधारिणी विद्या**—माकण्डेय (द्वितीय अ०) मे इसका सुन्दर दृष्टान्त है। जब कन्धर ने अपने भ्राता कक के वध का बदला चुकाने के लिए विद्युद्रूप राक्षस का वध किया तब उसकी पत्नी मदनिका ने कन्धर के निकट आत्मसमपण किया। मदनिका को यह विद्या आती थी जिससे स्वच्छया अभीष्ट रूप का धारण किया जाता था। वह कन्धर के घर म आकर पक्षिणी बन गई (द्वितीय अ०)। महिषासुर ने स्वेच्छा स सिंह योद्धा मतग तथा महिष का रूप धारण किया था इस विद्या क प्रभाव स (मार्क० ८३।२० स्कन्द ब्रह्मखण्ड ७।१५– ७)। पद्मपुराण क सृष्टिखण्ड म राजा धर्ममूर्ति को प्रशसा म कहा गया है कि वह 'यथेच्छरूपधारी' था (२१।३)।

(३) **अस्त्रग्राम हृदय विद्या**—इसके द्वारा अस्त्रो का रहस्य जाना जाता था जिसस शत्रुओ का पराजय अनायास होता था। मनोरमा नामक विद्याधरी

---

१ द्रष्टव्य डा० रामशकर भट्टाचाय अग्निपुराण। विषयानुक्रमणी पृ० ५६–५७ जहाँ अनक उद्धरण दिय गये हैं।

के इस विद्या के ज्ञान की कथा मार्कण्डेय (६२ अ०) में दी गई है जिसने अपने आक्रमणकारी राक्षस से मुक्ति पाने के निमित्त राजा स्वरोचिप् को यह विद्या दी थी। वहां इस विद्या के उपदेशक्रम का भी वर्णन है। रुद्र स्वायम्भुव मनु—वसिष्ठ—चित्रायुध (इसी विद्याधरी का मातामह)—इन्दीवराक्ष (इस विद्याधरी का पिता)—मनोरमा (मार्क० ६३।२४-२७)। मनोरमा ने इसे पात्रान्तरित करते समय जलस्पर्श कर आगम और निगम के साथ इसे राजा स्वारोचिप् को दिया।

(४) **सर्वभूतरुत विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से मनुष्य सभी प्रकार के अमानवीय जीवजन्तुओं की ध्वनियों का अर्थ समझ लेता है। विद्याधर मन्दार की कन्या विभावरी ने यह विद्या राजा स्वरोचिप् को दहेज में दी थी (मार्क० ६४।३)। मत्स्यपुराण (२०।२५) राजा ब्रह्मदत्त को इस विद्या का ज्ञाता बतलाता है जिसने नर-मादा चींटियों के परस्पर मनोरञ्जक प्रेमालाप को समझ लिया था। इसी राजा के विषय में इस घटना का उल्लेख पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड १०।८५) भी करता है। आजकल बन्दरों की बोली समझने तथा उसका रेकार्ड कर उपयोग करने वाले जर्मनी के वैज्ञानिकों की बातें सुनी जाती हैं। सम्भव है भविष्य में अन्य पशुओं की बोलियों पर भी इसी प्रकार के अनुसन्धानों में सफलता मिले।

(५) **पद्मिनी विद्या**—इस विद्या के प्रभाव से निधियों को वश में किया जाता था जिससे इसके ज्ञाता को कभी भी धन की कमी नहीं होती थी। कलावती के द्वारा राजा स्वारोचिप् को इसके दान की कथा मार्क० (६४।१४) में दी गई है।

(६) **रक्षोघ्न विद्या**—यज्ञों को अपवित्र बनाने वाले राक्षसों को दूर करने की विद्या। मार्क० ७०।२१ में बलाक राक्षस का हनन इस विद्या के द्वारा वर्णित है।

(७) **जालन्धरी विद्या**- महर्षि वाल्मीकि ने कुशलव को इस विद्या की शिक्षा दी थी (पद्मपुराण—पातालखण्ड ३७।१३)। इसके रूप का ठीक परिचय नहीं मिलता। सम्भवतः अन्तर्धान से इसका सम्बन्ध हो।

(८) **विद्यागोपाल मन्त्र**—भगवान् शंकर ने काश्यपवंशी पुण्यश्रव मुनि के पुत्र को यह मन्त्र दिया था (पाताल खण्ड ४१।१३९) इस मन्त्र के प्रभाव से, जिसमें इक्कीस अक्षर होते हैं, साधक को वाक् सिद्धि प्राप्त होती थी।

(९) **परा बाला विद्या**—सर्वसिद्धि प्रदायिनी इस विद्या के प्रभाव से अर्जुन को कृष्णलीला का रहस्य समझ में आया था। भगवती त्रिपुरा सुन्दरी ने इस विद्या का प्रथम उपदेश अर्जुन को किया था। (पाताल खण्ड ४३।४०)

(१०) पुरुष प्रमोहिनी विद्या—इस विद्या के प्रभाव से स्त्रियाँ पुरुषों को मोहित कर अपने वश में कर लेती हैं। यमराज की कन्या सुनीथा को रम्भा द्वारा इस विद्या के शिक्षण का वर्णन भूमिखण्ड (३४।३८) में है जिससे वह प्रजापति अत्रि के पुत्र अंग की धर्मपत्नी तथा वेण की माता बनी (भाग०)। वशीकरण विद्या का वर्णन अग्निपुराण (१ ३।२६) में है। इसमें कई नुसखे भी दिये गये हैं। भिन्न भिन्न उद्भिद् द्रव्यों एक एक साथ पीस कर तिलक करने का विधान है जिसके लगाने से मनुष्यों को कौन कहे स्वयं देवता भी वश में हो जाते हैं।

(११) उल्लापन विधान विद्या—इस विद्या के प्रभाव से टेढ़ी वस्तु सीधी की जा सकती थी। श्रीकृष्ण ने इसी विद्या के बल से मथुरा की प्रख्यात कुबड़ी कुब्जा को सरल सीधी तथा स्वस्थ बना दिया था (विष्णुपुराण ५।२०।९—शौरिरुल्लापन विधान वित्)।

(१२) देवहूति विद्या—दुर्वासा द्वारा कुन्ती को दी गई विद्या जिससे देवता भी बुलाने पर प्रत्यक्ष होते थे। सूर्य भगवान् के स्मरण करने पर उनके सशरीर प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध ही है (भाग० ९ २ ।३२)

(१३) युवकरण विद्या—स्पर्शमात्र से ही जीर्ण वस्तुओं को युवक बनाने की विद्या। राजा शन्तनु को यह विद्या आती थी जिसके बल पर वह स्पर्शमात्र से ही बूढ़ों को नवयुवक बना देता था (भागवत ९।२२।११)

(१४) वज्रबाहनिका विद्या—युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं को परास्त करने के लिए यह विद्या अचूक मानी जाती थी (लिंगपुराण ५१ अ०) इसी प्रकार अनेक चमत्कारिणी विद्याओं के संकेत पुराणों में मिलते हैं जिनमें से कुछ के नाम तथा स्थान इस प्रकार हैं—सिंहविद्या (अग्नि ४३।१३) नरसिंहविद्या (अग्नि० ६३।३) गान्धारी विद्या (अग्नि १२४।१२) मोहिनी तथा जृम्भणी विद्या (अग्नि ३२३ ४—२०) अन्तर्धान विद्या (भाग० ४ १५।१५) वैष्णवी विद्या या नारायण कवच (भाग० ६।८) त्रैलोक्यविजय विद्या (ब्र० वै० गणेश खण्ड ३०।१—३२) आदि[1]।

पुराणों के गम्भीर अनुशीलन से यदि इन विद्याओं के स्वरूप का परिचय मिल सके, तो इस वैज्ञानिक युग में नवीन चमत्कार आज भी दिखलाये जा सकते हैं।

---

[1] द्रष्टव्य कल्पना, फरवरी १९५२, पृष्ठ १३२--१३९

(५)

पौराणिक भूगोल

पुराण में भूगोल और खगोल एक अत्यन्त सारवान् विषय है। पुराणकारों ने भूगोल का विवरण दो दृष्टियों से किया है—एक तो है समस्त संसार का भूगोल और दूसरा है भारतवर्ष का भूगोल। इन दोनों के बीच प्रथम में कल्पना का प्राचुर्य है और द्वितीय में पूर्ण यथार्थता का सद्भाव—ऐसी धारणा अनेक विद्वानों की है। मेरी दृष्टि में संसार के पौराणिक भू-विवरण में कल्पना का उतना समावेश नहीं है, जितना साधारणतया समझा जाता है। आजकल के वैज्ञानिक युग में परिज्ञात तथा बहुश: वर्णित समस्त भूमिखण्ड पुराणकारों को सर्वथा ज्ञात थे और उन्होंने इसका विवरण बड़ी यथार्थता से दिया है। त्रुटि इतनी ही है कि उन स्थानों की पहिचान आजकल निःसन्दिग्ध रूप से ज्ञात नहीं हो रही है। पृथ्वी के सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। इन द्वीपों में से तीन—कुशद्वीप, शाकद्वीप और जम्बूद्वीप—की पहिचान बड़े ही सांगोपांग रूप से यथार्थत: हो सकी है। पुराणों की भौगोलिक यथार्थता का परिचायक यह घटना कथमपि विस्मरणीय नहीं है कि कप्तान स्पीक ने पुराणस्थ संकेत को आधार मान कर ही मिश्र देश में बहने वाली आफ्रिका की नील नदी के उद्गम का पता लगाया। पुराण में नदी का उद्गमस्थान कुशद्वीप में बतलाया गया है। कुश देश तथा कुश लोगों का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट् दारियवहु (५२२–४८६ ईस्वी पूर्व) के अनेक फारसी अभिलेखों में मिलता है। कुशद्वीप को आधुनिक नूबिया मान कर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक भूगोलीय यथार्थता का विजयघोष है!!!

वहाँ कुश लोगों का राज्य २२००—१८०० ई० पू० में था। शक द्वीप की पहचान यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित 'सिथिआ' से की जाती है। पुराणों के द्वारा वर्णित शक देश की अवान्तर जातियों का, वहाँ के दूध सागर का तथा नदियों का विवरण इतना यथार्थ है कि यह स्पष्टत: कल्पना प्रसूत न होकर ठोस अनुभव पर आश्रित है। भारतवर्ष के नवीन उपनिवेश जहाँ हिन्दुओं ने जाकर अपनी सभ्यता और संस्कृति की वैजयन्ती फहराई थी पुराणों में विशदता के साथ उल्लिखित और वर्णित है। एसिया की, व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वशालिनी बड़ी-बड़ी सात नदियों का वर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पाताल की पहिचान पश्चिमी गोलार्ध से की गई है जिसमें नियामक वर्णन है मध्य अमेरिका के मयसंस्कृति के क्रीडाक्षेत्र मेक्सिको और पेरू के भू-वृत्त का।

(५)

पौराणिक भूगोल

पुराण में भूगोल और खगोल एक अत्यन्त सारवान् विषय है। पुराणकारों ने भूगोल का विवरण दो दृष्टियों से किया है—एक तो है समस्त संसार का भूगोल और दूसरा है भारतवर्ष का भूगोल। इन दोनों के बीच प्रथम में कल्पना का प्राचुर्य है और द्वितीय म पूर्ण यथार्थता का सद्भाव—ऐसी धारणा अनेक विद्वानों की है। मेरी दृष्टि में संसार के पौराणिक भू-विवरण में कल्पना का उतना समावेश नहीं है, जितना साधारणतया समझा जाता है। आजकल के वैज्ञानिक युग म परिज्ञात तथा बहुश वर्णित समस्त भूमिखण्ड पुराणकारों को सर्वथा ज्ञात थे और उन्होंने इसका विवरण बडी यथार्थता स दिया है। त्रुटि इतनी ही है कि उन स्थानों की पहिचान आजकल निःसन्दिग्ध रूप से ज्ञात नहीं हो रही है। पृथ्वी के सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। इन द्वीपों में से तीन—कुशद्वीप, शकद्वीप और जम्बूद्वीप—की पहिचान बडे ही सांगोपांग रूप से यथार्थत हो सकी है। पुराणों की भौगोलिक यथार्थता का परिचायक यह घटना कथमपि विस्मरणीय नहीं है कि कप्तान स्पीक ने पुराणस्थ संकेत को आधार मान कर ही मिश्र देश में बहने वाली आफ्रिका की नील नदी के उद्गम का पता लगाया। पुराण में नदी का उद्गमस्थान कुशद्वीप में बतलाया गया है। कुश देश तथा कुश लोगों का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट् दारियवहु (५२२—४८६ ईस्वी पूर्व) के अनेक फारसी अभिलेखों मे मिलता है। कुशद्वीप को आधुनिक नूबिया मान कर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक भूगोलीय यथार्थता का विजयघोष है!!!

वहां कुश लोगों का राज्य २००० —१८०० ई० पू० में था। शक द्वीप की पहचान यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित 'सिथिआ' से की जाती है। पुराणों के द्वारा वर्णित शक देश की अवान्तर जातियों का, वहाँ के दूध सागर का तथा नदियों का विवरण इतना यथार्थ है कि यह स्पष्टत कल्पना प्रसूत न होकर ठोस अनुभव पर आश्रित है। भारतवर्ष के नवीन उपनिवेश जहां हिन्दुओं ने जाकर अपनी सभ्यता और संस्कृति की वैजयन्ती फहराई थी पुराणों मे विशदता के साथ उल्लिखित और वर्णित है। एशिया की, व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वशालिनी बडी-बडी सात नदियों का वर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पाताल की पहिचान पश्चिमी गोलार्ध से की गई है जिसमें नियामक वर्णन है मध्य अमेरिका के मयसंस्कृति के क्रीडाक्षेत्र मेक्सिको और पेरू के भू-वृत्त का।

इस प्रकार पौराणिक भूगोल यथार्थ है, काल्पनिक नही, इतना होने पर भी अभी भी उसकी कुछ भौगोलिक सामग्री इतनी उलझी हुई और गोलमाल है कि उसके आधार पर विश्व का पूरा नकशा अभी भी ठीक-ठीक तैयार नही किया जा सकता। यहा इस पौराणिक भूगोल के मुख्य अशो की एक सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

पुराण मे भुवनकोश एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमे समग्र भुवनो का भौगोलिक नाम, विस्तार तथा स्वरूप का विशद वर्णन पुराणो मे उपस्थित किया गया है। इस भूवृत्त को समझने के लिए इसके केन्द्रस्थानीय पर्वत मेरु का स्वरूप जानना परम आवश्यक है।

समग्र पृथ्वी को कमल का रूप स्वीकार किया गया है जिसकी कर्णिका (*मूल मध्य जहा से पखुडिया निकल कर चारो ओर फैलती हैं*) मे मेरु पर्वत की स्थिति मानी गई है।

अव्यक्तात् पृथिवीपद्मं मेरुपर्वत कर्णिकम्।

— वायु ३४।३७

वायुपुराण का अन्यत्र कथन है कि उस महात्मा प्रजापति का सोने का बना (हिरण्मय) मेरुपर्वत गर्भ है, समुद्र गर्भ से नि स्यन्दमान उदक हैं और सिरायें तथा हड्डिया पर्वत हैं —

हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्योल्वं तन्महात्मनः।
गर्भोदकं समुद्राश्च सिरास्थीनि पर्वताः॥

—(वायु[1] ५।८०)

इसी प्रकार मत्स्यपुराण मे मेरु अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का नाभि-बन्धन माना गया है—नाभिबन्धन सभूतो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मन (मत्स्य। १।२।१४)। तात्पर्य यह है कि मेरु पर्वत पृथ्वी की नाभि होने से वह केन्द्र है जिसे मूल *मान कर भुवनकोश का विन्यास किया गया है।*

मेरु पर्वत पुराण परम्परा के अनुसार इलावृत्त वर्ष के मध्य मे स्थित है जो जम्बूद्वीप का केन्द्र माना जाता है[2]। इलावृत्त के चारो ओर चार पर्वत मेरु

---

१ कूर्मपुराण ने वायु के इस वचन को परिष्कृत रूप मे उपस्थित किया है—
मेरुरुल्बमभूत् तस्य जरायुश्चापि पर्वता ।
गर्भोदक समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मन ॥

—कूर्म ४।४०

२ इलावृत्त तु तन्मध्ये सौवर्णो मेरु उच्छ्रितः। अग्नि १०८।९।
जम्बूद्वीपो द्वीपमध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रित.। तत्रैव १०८।३।

को आलम्बन देने वाले खम्भों के समान फैले हुए हैं —पूरब दिशा में है मन्दर पर्वत दक्षिण में है गन्धमादन, पश्चिम मे है विपुल पर्वत तथा उत्तर मे है सुपार्श्व। मरु का चारों ओर से घेरने वाले अन्य पर्वतो का भी उल्लेख मिलता है। मेरु के उत्तर मे है नील पर्वत, उसके उत्तर मे है श्वेत पर्वत जिसके उत्तर में है शृंगी पर्वत। पूरब ओर हैं जठर तथा देवकूट। दक्षिण में है निषध पर्वत, जिसके दक्षिण मे है हेमकूट और इसके भी दक्षिण में हिमवान (हिमालय)। पश्चिम ओर हैं दो पर्वत माल्यवान तथा गन्धमादन। इन पर्वतो क नाम तथा स्थान पुराणों मे इतनी भिन्नता से वर्णित हैं कि मेरु की स्थिति समझने में बडी गडबडी तथा कठिनाई का सामना करना पडता है। परन्तु पुराणो में मेरु पर्वत क वर्णनो में इतनी विस्तृत बातों का विवरण दिया गया है कि उसे हम कल्पना-प्रसूत पर्वत नहीं मान सकते। मेरु के वर्णन में वायु पुराण (३४।१६–१८) का कथन है कि वह 'प्रजापतिगुणान्वित' है अर्थात् प्रजापति के गुणों से युक्त है। पूरब ओर वह श्वेत रग का है जिससे उसका ब्राह्मण्य प्रकट होता है, दक्षिण ओर वह पीतवर्ण का है जिससे उसका वैश्यत्व ख्यापित होता है, पश्चिम ओर वह भृङ्गराज के पत्र के समान है (श्यामरग का) और यह इसके शूद्रत्व का ख्यापक है। उत्तर ओर वह रक्तवर्ण का है जो उसक क्षत्रियत्व का सकेत करता है। प्रजापति की समता तो इससे अवश्य सिद्ध होती है, परन्तु इन विभिन्न रगों का वास्तविक तात्पर्य समझना एक विकट समस्या है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मेरु वास्तव में एक विशिष्ट पर्वत था जिसकी पुराणवर्णित भौगोलिक स्थिति के आधार पर वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है[1]।

मेरु की पहिचान

मेरु की पहिचान के विषय में विद्वानों ने नाना मत माने हैं। मेरु एक ऐसा विशिष्ट पर्वत है जहां से पर्वतश्रेणियां निकल कर चारो दिशाओं में फैलती हैं। फलत अनेक विद्वानो ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। डा० हर्ष ने अपने एक सुचिंतित लेख में मरु पर्वत को अलताई पर्वत के क्षेत्र में स्थित माना है। यह अलताई पर्वत-श्रेणी एशिया के नक्शे में पश्चिमी साइ-

---

१ विष्कम्भा रचिता मेरोर्योजनायुत-विस्तृता।
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादन।
विपुल पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृत॥
—वायु १।३५।११,१६। अग्नि १०८।११–१२। कूर्म ४५। १८–१६

रिया तथा मंगोलिया में स्थित देखी जा सकती हैं। हिमालय के उत्तर में मरु पर्वत की स्थिति पुराणो मे बतलाई गई है अर्थात् हिमालय तथा मेरु के बीच म हमकूट और निषध दो पर्वतो की स्थिति है। एशिया के नक्शा में कू नलुन' तथा थिएनशान पवत की श्रेणिया देखी जाती हैं इन्हे ही क्रमश हेमकूट तथा निषध पर्वतो का वर्तमान रूप माना जा सकता है। डा० हर्षे न अपन सिद्धा त को स्थिर करने में अनेक प्रौढ युक्तियाँ दी हैं और इस मेरु पवत को ही आर्यों का मूल निवास बतलाया है। उनके तर्कों म बहुत बल और आधार है। आलताई शब्द मगोलिन भाषा का है (आलतेन–उला) जिसका अथ है—सुवण का पवत। और पुराणो ने प्राय सवत्र मेरु को सुवण पवत कहा है—हिरण्मय तथा सौवर्ण पवत। नाम का ही साम्य नहीं है प्रत्युत पुराणा म वर्णित मेरु का भौगोलिक विवरण आस पास की नदियों तथा चारो ओर फैलने वाले पहाडो का वणन भी—इस साम्य को पुष्ट करन के लिए प्रमाणभूत माना जा सकता है। मेरु पर देवो का निवास माना जाता है और इसलिए वह भूतल का स्वग है। इन सब तथ्यो का भी आधार खोजा जा सकता है। निष्कष यह है कि मेरु पर्वत हिमालय के उत्तर में स्थित है और बहुत सम्भव है कि वह पश्चिमी साइबेरिया में वतमान आलताई पहाड ही हो।[१]

चतुर्द्वीपा वसुमती

पुराणों के भुवन कोश के समीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसमें वसुमती के द्विविध विवरणो का सम्मिश्रण हो गया है। पृथ्वी के विषय में प्राचीन मत (वायु पुराण में निर्दिष्ट) था कि पृथ्वी में चार द्वीप हैं मेरु की चारो दिशाओ में परन्तु आगे चलकर सप्तद्वीपा वसुमती की कल्पना भी कभी जागरूक हुई और पुरानी चतुर्द्वीपी कल्पना के साथ इस अभिनव कल्पना का सम्मिश्रण हो जाने से वणनो में बडी गडबडी तथा मिलावट दीख पडती है जिसकी छानबीन कर मूल रूप को भी पहचाना जा सकता है। वायु पुराण के इस कथन पर चतुर्द्वीपा वसुमती की कल्पना सवप्राचीन कल्पना प्रतीत होती है —

> पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सघनद्रुमा।
> तदस्य लोक-पद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम्॥ ४५॥

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० आर० जी० हर्षे मेरु होमलैण्ड आव दी आरियन्स नामक लेख। विश्वेश्वरानन्द–भारतभारती लेखमाला १०९, होशियारपुर पजाब १९६४।

महाद्वीपास्तु विख्यातास्चत्वार. पत्रसंस्थिता ।
तत कर्णिकसंस्थानो मेरुर्नाम महाचल ॥ ४६ ॥

—वायुपुराण, अध्याय ३४।

मेरु से महाद्वीपो की स्थिति सकेतित की गई है । पूरब की ओर है भद्राश्व महाद्वीप, दक्षिण मे है जम्बुद्वीप (जो 'भारतवर्ष' के नाम से भी वर्णित है), पश्चिम मे केतुमाल तथा उत्तर मे उत्तरकुरु :

स तु मेरु परिवृतो भुवनैर्भूतभावनै ।
यस्येमे चतुरो देशा नाना पार्श्वेषु संस्थिता. ॥
भद्राश्वं भारतं चैव केतुमालं च पश्चिमे ।
उत्तराश्चैव कुरव कृतपुण्य-प्रतिश्रयाः ॥

—मत्स्य, ११२ अ०, ४३–४४ श्लो०

(ये दोनो श्लोक इसी रूप मे वायु पुराण अ० ३४, श्लो० ५६–५७ श्लो० मे भी उपलब्ध होते हैं । वायु० का ३४ अ० मेरु पर्वत के विशद तथा विस्तृत विवरण के लिए नितान्त मननीय है) ।

इन चारो महाद्वीपो की वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है । 'भद्राश्व' का शाब्दिक अर्थ है कल्याणकारी घोडा । सम्भवत यह चीन देश को सूचित करता है । भारत तो हमारा भारतवर्ष है । भारत हैमवत वर्ष के नाम स कभी इसलिए विख्यात था कि वह हिमालय की दक्षिण दिशा म र्तमान है । वक्षुनदी (आक्सस नदी–आमू दरिया और सिर दरिया) का देश केतुमाल महाद्वीप है जो मेरु के पश्चिम में वर्तमान है । उत्तर कुरु वह वेशाल देश है जो आल्ताई पर्वत से लेकर उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ है । सकी सौख्य-समृद्धि के विस्तृत वर्णन को पुराणो म पढकर यह एक काल्पनिक वर्ग-भूमि के समान प्रतीत होता है, परन्तु वह एक यथार्थ भौगोलिक क्षेत्र था ो मेरु के उत्तर म स्थित था । साइबेरिया का पूरबी तथा उत्तरी भाग इस त्र के भीतर आता है । भौगोलिक परिवर्तनो के कारण आज यह प्रदश अत्यन्त ीतमय तथा हिममय होने से मानवो के निवास के लायक नही रहा, परन्तु भी यह बडा ही समृद्धिशाली प्रदेश था और आज भी वहाँ की खानो से कलने वाली बहुमूल्य धातुओ की सत्ता से उसके वैभव का सकेत समझा जा ता है । यही है चतुर्द्वीपा वसुमती का सामान्य पौराणिक निर्देश ।

इन प्रत्येक महाद्वीप मे एक विशिष्ट पर्वत, एक नदी, एक वृक्षकुज, एक र, एक वृक्ष तथा आराधना के निमित्त एक विशिष्ट रूपधारी भगवान् की

भी स्थिति थी। फलत ये महाद्वीप सर्व प्रकार के भौगोलिक साधनों से सम्पन्न भी थे। इनकी स्थिति इस नकशे में देखिए[1] —

चतुष्पत्री भुवनपद्म

७ वटवृक्ष
६ मत्स्य भगवान्
५ महाभद्र सरस्
४ सावित्र वन
३ सोमा नदी
२ शृङ्गी पर्वत
१ उत्तरकुरु

१ केतुमाल		१ भद्राश्व
२ ऋषभ पारिमात्र पर्वत	मेरु	२ देवकूट पर्वत
३ चक्षु (वक्षु) नदी	इलावृत्त वर्ष	३ सीता नदी
४ वैभ्राज वन		४ चैत्ररथ वन
५ शीतोद सरस्		५ अरुणोद सरस्
६ वराह भगवान्		६ हयग्रीव भगवान्
७ अश्वत्थवृक्ष		७ भद्रकदाम्ब वृक्ष

१ भारतवर्ष
२ कैलास-हिमवत् पर्वत
३ अलकनन्दा
४ नन्दन वन
५ मानस सरस् (= मान सरोवर)
६ कच्छप भगवान्
७ जम्बू वृक्ष
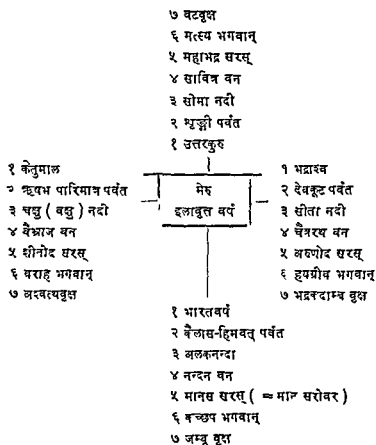
सप्तद्वीपा वसुमती

भुवनकोष के विषय में प्राचीन मत यही था कि पृथ्वी चार द्वीपों से घिरी है परन्तु पुराणों के नवीन संस्करण में सातद्वीपों का सिद्धान्त मान लिया गया। इन सात द्वीपों के क्रम के विषय में पुराणों में ऐकमत्य नहीं दृष्टिगोचर होता,

---

१ डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल के अंग्रेजी Matsya Purana A Study नामक ग्रन्थ से उद्धृत, पृ० १८७। (प्रकाशक अखिल भारतीय काशिराज न्यास, रामनगर, वाराणसी, १९६३)। यह वर्णन विष्णुपुराण के २।२। पर तथा श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, १६ अ० पर आधृत है।

परन्तु सप्तद्वीपा वसुमती का सिद्धान्त समग्र पुराणों का एक नितान्त महनीय तथा मान्य रहस्य है। जम्बूद्वीप इस कल्पना के द्वारा मध्य में है और यह सात द्वीपों के द्वारा वेष्टित है और ये द्वीप आपस मे एक-एक समुद्र के द्वारा पृथक्कृत किये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) **जम्बूद्वीप** (क्षार समुद्र या लवणोदधि द्वारा वेष्टित)।
(२) **प्लक्ष** (गोमेदक) द्वीप (इक्षुरस समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(३) **शाल्मलि द्वीप** (सुरा समुद्र के द्वारा वेष्टित)।
(४) **कुशद्वीप** (घृत समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(५) **क्रौञ्च द्वीप** (दधि समुद्र द्वारा वेष्टित)।
(६) **शाकद्वीप** (क्षीर समुद्र के द्वारा वेष्टित)।
(७) **पुष्करद्वीप** (स्वादु जल समुद्र द्वारा वेष्टित)।

इनमे प्रथम या मध्यस्थित जम्बू द्वीप का विस्तार—एक लक्ष योजन है। प्रत्येक द्वीप अपने पूर्व द्वीप से आयाम म द्विगुणित है। फलत प्लक्ष द्वीप का विस्तार द्विलक्ष योजन माना जाता है। इसी प्रकार अन्य द्वीपों का भी विस्तार समझना चाहिए। प्रत्येक द्वीप म सात नदियो तथा सात पर्वत होते हैं।[1] द्वीपो का यह क्रम वायु, विष्णु (२।४) भागवत (५।२०) तथा मार्कण्डेय (५४६) के अनुसार है। मत्स्य (अ० १२१ तथा १२२) के अनुसार द्वीपो का क्रम इस प्रकार है—(१) जम्बू द्वीप, (२) शाक, (३) कुश, (४) क्रौञ्च, (५) शाल्मल, (६) गोमेद तथा (७) पुष्करद्वीप। इन द्वीपों की वर्तमान भौगोलिक स्थितियो का पता लगाना नितान्त दुःसाध्य है। कुशद्वीप के विषय म सकेत सूत्रमात्र उपलब्ध होता है, परन्तु शाकद्वीप के विषय में यूनानी, अरब तथा ईरानी लेखकों के ग्रन्थो के साहाय्य से बडी ही उपादेय तथा निर्णायक सामग्री मिलती है।

कुशद्वीप

कुश नामक देश तथा वहा के निवासी कुशीय लोगों का उल्लेख अनेक प्राचीन फारसी शिलालेखो में मिलता है। उदाहरणार्थ दारयवहु (अंग्रेजी मे डैरियस, ५२२-४८६ ईस्वी पूर्व) के हमदान लेख[2] म उसके राज्य की सीमा

१. इन नदियों और पर्वतो के नाम में बडी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। स्थानाभाव से इस विषय की समीक्षा यहाँ नही की जा सकती। केवल स्थूल बातें ही दी जाती हैं।

२ इस मूल लेख के लिए द्रष्टव्य डा० डी सी सरकार रचित 'जियाग्रफी आव ऐनशण्ट ऐण्ड मधिएवल इण्डिया' नामक अंग्रेजी ग्रंथ पृष्ठ १६४।

इस प्रकार बतलाई गई है —सोग्दियाना (सिरदरिया और आमूदरिया के बीच का बुखारा प्रान्त) से पर पार में रहने वाले शको के देश मे—वहाँ से लेकर कुश तक—सिन्धु (सिन्धु प्रदेश,—भारतवर्ष का सिन्ध नदी से प्रवाहित प्रदेश) से लेकर स्वर्दा तक ('एशिया माइनर' में सारडिस नामक स्थान) ये प्रदेश उसके राज्य की सीमा हैं। यहा कुशदेश का नाम स्पष्टत उल्लिखित है। कुशदेश है कहाँ ? कुछ विद्वान इथोपिआ से इनका समीकरण मानते हैं और दूसरे विद्वान इसे मिश्रदेश के मध्यभाग में स्थित मानते हैं। प्राचीन फारस सम्राटो के राज्यो के प्रान्तो की गणना में कुश तथा मुद्राय (इजिप्त या मिश्रदेश) दोनो को अलग-अलग गिनाया गया है। अत कुश की स्थिति मिश्र से बाहर अफ्रिका क पूर्वोत्तर भाग में कही पर मानना उचित होगा। यही कुश हमारी दृष्टि में पुराणो का कुशद्वीप है।

शकद्वीप या शाकद्वीप

शाकद्वीप विषयक पौराणिक सामग्री बडी महत्त्वपूर्ण तथा भौगोलिक तथ्यो से सर्वथा परिपूर्ण है। इसमें पुराण रीत्यनुसार सात पर्वत तथा सात नदियो के नाम दिये गये हैं। मत्स्यपुराण (अध्याय १२१) इनके दो-दो नाम देता है (**द्विनामानः**)। इन द्विविध नामो का रहस्य यही प्रतीत होता है कि एक नाम तो भारतीय (पुराणस्थ) है और दूसरे नाम विदेशी (अर्थात् शकीय = शक जाति के लोगो द्वारा प्रदत्त)। पुराणो ने इस द्वीप का वर्णन इतना सागोपाग किया है कि उनके आधार पर इसकी पहिचान पूर्ण प्रामाणिक रीति पर की जा सकती है।

शाकद्वीप में सात पर्वत, सात वर्ष तथा सात नदियो का उल्लेख मिलता है (मत्स्य अध्याय १२१)। शाकद्वीपों के पर्वतो के नाम ये हैं—मेरु (दूसरा नाम उदय), जलधार (चन्द्र नाम से भी ख्यात, विष्णु में जलधार), दुर्ग शैल (नारद से भी प्रख्यात) श्याम (अपर नाम दुन्दुभि), अस्तगिरि (अपर नाम सोमक), आम्बिकेय (अपर नाम सुमनस्), विभ्राज (अपर नाम केशव)। *विष्णुपुराण में रैवतक तथा केसरी दो नाम इनमें से किन्हीं दो पर्वतो के लिए दिये गये हैं।*

शाकद्वीप के सात वर्षों के नाम हैं —१ उदय वर्ष (उदय पर्वत का प्रदेश), २ सुकुमार वर्ष (अपर नाम शैशिर, जलधार पर्वत का प्रदेश), ३ कौमार (अपर नाम सुखोदय, नारद पर्वत का प्रदेश), ४ मणिचक (अपर नाम आनन्दक, श्याम पर्वत का प्रदेश) ५ कुसुमोत्तर (अपर नाम असित, सोमक पर्वत का प्रदेश), ६. मैनाक (क्षेमक भी ख्यात, आम्बिकेय पर्वत का देश) ७. विभ्राज ('ध्रुव' नाम से भी ख्यात, विभ्राज पर्वत का देश)।

शकद्वीप की सात नदियां —१ सुकुमारी ('मुनितप्ता' भी) २ कुमारी (तप सिद्धा नाम से भी प्रख्यात) ३ नन्दा (अपर नाम पावनी), ४ शिविका (द्विविधा नाम भी) ५ इक्षु (अपर नाम कुहू) ६ वेणुका (अपर नाम अमृता) ७ सुकृता (अपर नाम गभस्ति)।

शकद्वीप का यह भूगोल 'हिरोदोतस' नामक यूनानी लेखक द्वारा वर्णित शकों के निवास प्रान्त के भूगोल से बिल्कुल मिलता है। नन्दलाल दे ने अपनी पुस्तक में अनेक पौराणिक नामों की पहिचान इस प्रकार दी है —

संस्कृत नाम	यूनानी नाम
शकद्वीप	सी दिया
कुमुद	कौमेदेइ
सुकुमार	कोमारोइ
जलधार	सल्तेरोई
इक्षु	आक्सस नदी
श्यामगिरि	मुस्तामुग (जिसका अर्थ है काला पर्वत और जो अवेस्ता में निर्दिष्ट श्यामक गिरि से भिन्न नहीं है)
सीता	सिर दरिया
मृग	मरगिआना (वर्तमान 'मर्व')
मशक	मस्सगेताइ

शकद्वीपीय जातियाँ

भविष्यपुराण का कथन है कि इस द्वीप में चार जातियाँ निवास करती थी जो भारत के चतुर्वर्णों की प्रतिनिधि मानी जा सकती हैं —

> तत्र पुण्या जनपदाश्चतुर्वर्ण्यसमन्विता।
> मगाश्च मगगाश्चैव गानगा मन्दगास्तथा॥
> मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मगगा क्षत्रिया स्मृता।
> वैश्यास्तु गानगा ज्ञेया शूद्रास्तेषां तु मन्दगा॥
>
> —भविष्य १।१३९

भविष्य के इन वचनों के आधार पर शकद्वीप की जातियाँ चार वर्णों में विभक्त हैं—मग ब्राह्मण हैं मगग राजन्य क्षत्रिय हैं गानग वैश्य हैं तथा मन्दग शूद्र हैं। महाभारत में इन लोगों के नाम कुछ भिन्न ही हैं—

> तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोक-संमिता।
> मगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा॥
>
> —महाभारत ६।१२।३३

महाभारत म प्रदत्त इन अभिधानो मे आदि तथा अन्त नाम तो मत्स्य पुराण वाले ही हैं केवल बीच वाले नाम भिन्न पडते हैं। मगगा के स्थान पर मशका पाठ मिलता है तथा गानगा के स्थान पर मानसा । इन चारों नामो के विभिन्न पाठान्तर महाभारत के पूना स० म दिये गये हैं (त्रिटिकल सस्करण भाग ७ पृष्ठ ६०)। इन चारो की पहिचान शकदेशीय चार विभिन्न जन जातियो के साथ बडी आसानी से की जा सकती है। शक एक सामुदायिक जातीय अभिधान है जिसके भीतर अनेक जातिया सम्मिलित थी। प्रथम शती ईस्वी मे भारतवष मे अपना शासन स्थापित करने वाले कुषाण लोग भी शक जाति से ही मूलत सम्बद्ध थे। शक लोग एक घुमक्कड जाति के थे जो अपने आरम्भिक जीवन मे एक स्थान पर स्थिरतया प्रतिष्ठित न होकर उवर भूमि की खोज मे घूमा करते थे। कभी य मध्य एशिया म भी रहते थे परन्तु वहाँ से चलकर ये ईरान (फारस) के समीपस्थ कास्पियन (काश्यपाय) सागर के तीरस्थ भूमिखण्ड मे निवास करने लगे थे। यूरेशिया द्वीप मे एक समय दुनाई नदी (डेन्यूब) से लेकर त्यान्शान्–आल्ताई (पवत श्रेणी) तक फैली शक जाति की भूमि ही भारतीय परिभाषा के अनुसार शकद्वीप है पुराने ईरानी शब्दानुसार इसे शकानवेइजा (शकाना बीज ?) या पीछे की भाषा के अनुसार **शकस्तान** भी कह सकते हैं लेकिन ई० पू० द्वितीय शती मे शको के बस जाने के कारण ईरान के पूर्वी भाग को शकस्तान या सीस्तान कहा जाने लगा[1]। काश्यप समुद्र के तीरस्थ प्रदेश को आदि शकस्तान कहा जाना चाहिए[1]। पुराणो का शक (या शाक ?) द्वीप यही भूभाग है—इसे ही आगे सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

(क) शाकद्वीप की प्रथम जाति जिसका उल्लेख पुराणो मे **मग** (या मक) है। इस शब्द के दो पाठान्तर भी मिलते हैं—**सग** और **मद**। सग तो शक का ही प्राकृत रूपान्तर है तथा मद माद का रूपान्तर है। **माद** एक ईरानी जाति थी जिसका उल्लेख असुरिया के नवम शती ईस्वी पूव के अभिलेखो मे प्राप्त होता है। ईरानी ऋत्विज या पुरोहित की ईरानी सज्ञा है—**मगुस** और मग इसी शब्द का सस्कृत रूप है। पुराणो मे मग की एक व्युत्पत्ति[2] दी गई है—म मकर = सूय गच्छतीति **मग** अर्थात् सूर्योपासक । अवस्ता मे

१ शकों के रीति रस्म के बारे मे देखिए राहुल साङ्कृत्यायन मध्य एशिया का इतिहास खण्ड प्रथम (पटना १९६०) पृ० ६४-७०

२ मकरो भगवान् देवो भास्कर परिकीर्तित ।
मकारध्यान-योगाच्च मगा ह्येते प्रकीर्तिता ।

—भविष्यपुराण १३९ अ०

मगुस्' का प्रयोग कम बतलाया जाता है। इसके स्थान पर अथ्रवन् , एथ्रग या एथ्रपति शब्द का ही बहुल प्रयोग इसके ऋत्विज् अर्थ की ही अभिव्यंजना करता है। यज्ञो में इनका यह कार्य विशेष महत्त्व का था और इसके अतिरिक्त वे अर्थ तथा न्याय के शासन में अधिकारी रूप में भी पाये जाते हैं। यही ईरानी 'मगुस' शब्द यूनानियों के यहाँ 'मगि' या 'मागि' या मेगास के रूप मे गृहीत किया गया है। वाइबिल मे भी इसका प्रयोग 'पूरब के विद्वज्जन' के अर्थ मे किया गया है जो ईसा के जन्म लेने पर महनीय भविष्यवाणी करने के लिए उनके पिता के पास पहुँचे थे। फलतः **'मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठा'** मग लोगो के स्वरूप का यथार्थ प्रमापक वाक्य है।

ये ही मग लोग भारतवर्ष में भी कुषाण राजाओ के संग मे आये होंगे—यह मानना ऐतिहासिक दृष्टि से सुसगत प्रतीत होता है। गरुडपुराण के अनुसार भारतवर्ष मे इन्हें लाने का श्रेय श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को है जिन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के हेतु चन्द्रभागा नदी (चेनाव) के तीर पर सूर्य का मन्दिर बनवाया, परन्तु भारत मे उचित पूजारी के न मिलने पर इन ब्राह्मणों को शकद्वीप से गरुड द्वारा बुलवाया और भारत मे सूर्य की तान्त्रिक पूजा का तभी अवतार हुआ।

(ख) **गोग** तथा **मगोग** नामक अत्यन्त उग्र आक्रामक शक जातियाँ थी जिनके आक्रमण के कारण समग्र ईरान प्रदेश भय के कारण थर-थर कापता था। ये बडी क्रूर, अत्याचारी तथा हिंस्र जातियां थी। इनका उल्लेख यहूदियो के ओल्ड टेस्टामेन्ट (पुरानी वाइबिल) मे इन्ही नामो से तथा कुरान मे इन्ही शब्दो के विकृत रूप याजुज् तथा माजुज नाम से अनेकशः किया गया है। गोग और मगोग यहूदी भाषा के शब्द हैं जिनका अर्थ है 'बाहर की बर्बर जातियाँ'। इन्हीं शब्दो के साथ पुराणों में उल्लिखित 'गानग' या 'गनक' और 'मगग' शब्दों का समीकरण करना कथमपि अनुचित नही है। इन भयकर, युयुत्सु, लडाकू जातियो को शकद्वीप का क्षत्रिय तथा वैश्य जाति मानना भी सर्वथा शोभन है। पुराणो में निर्दिष्ट **मन्दग** 'माद' नामक ईरानी जाति का भारतीय प्रतिनिधि है। ये ईरान से सुदूर पूरब से आने वाले लोग बतलाये जाते हैं। 'माद' लोग ही 'मीडीज' के नाम मे यूरोपीय इतिहास मे अपनी आक्रमणकारी प्रवृत्तियों के कारण नितान्त विख्यात हैं। हिरोदोतस नामक ग्रीक इतिहासलेखक ने भी शक लोगों मे चार जातियो की सत्ता मानी है जो भारतीयो के पूर्वोक्त वर्णन से भली भाँति मेल रखता है।

(ग) कैसपियन सागर के विषय मे अधिक जानकारी की जरूरत है। यह आज संसार भर मे सबसे विस्तृत, बडा अन्तर्देशी समुद्र है, जिसका क्षेत्रफल एक लाख उनहत्तर हजार (१,६९,०००) वर्गमील है। किसी प्राचीन युग मे यह अपने

से पश्चिम मे स्थित कृष्णसागर से आरम्भ होकर साइबेरिया के उत्तरी भाग में फैले हुए आर्कटिक समुद्र तक फैला हुआ था। इस प्रकार यह नितान्त विशाल विस्तृत क्षेत्रफलवाला उन्मुक्त महार्णव था जो उत्तर मे फैलने वाले साइबेरिया के घास वाले मैदान (जिसे स्टेपीज के नाम से अग्रेजी म पुकारते हैं) के ऊपर से होकर बहता था। उस युग मे यह एक महासमुद्र था। महान् हिम युग म यह अपने क्षेत्रफल म घटने लगा जिससे कृष्णसागर (पश्चिम) तथा अराल सागर (पूरब) के साथ इसका भौगोलिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। अपनी विशालता के ही कारण यह यूरेशियन भूमध्य सागर (यूरेशियन मेडिटरेनियन) के नाम से विख्यात था। फलत ऐसे विशाल समुद्र ने शाक प्रदेश को उत्तर और पश्चिम की ओर से घेर रखा था[१] तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? आज इसका पानी खारा ही है पर तु प्राचीन युग में इसका पानी बहुत ही मीठा था। इसका प्रमाण यह है कि इस विस्तृत कैसपियन सागर से पृथककृत बालकश झील ससार भर में आज मीठे पानी का विशालतम झील माना जाता है। किसी समय ये दोनो जलाशय एक साथ ही सलग्न थे। और बाल्कश झील की वतमान दशा से हम भली भाति अनुमान कर सकते हैं कि उस युग में कैसपियन सागर अपन मीठ स्वादिष्ट पानी के लिए प्रख्यात था। इसीलिए इसे ईरान वाले शीरवान् नाम से पुकारते थे। पुराणो मे वर्णित क्षीरसागर से इसकी पहिचान करना कथमपि अनुचित या अप्रामाणिक नही है।

शाकद्वीप पुराणो मे क्षीरसागर (दूध समुद्र) के द्वारा आवृत बतलाया गया है। साधारण जन तो क्षीरसागर के नाम से चमत्कृत होकर इसे भौगोलिक अभिधान न मान कर केवल काल्पनिक जगत् मे इसकी सत्ता मानते हैं परन्तु तथ्य यह है कि यह वास्तव जगत् का ही एक समुद्र है। मार्कोपोलो नामक सुप्रसिद्ध यात्री न अपन यात्राविवरण मे शीरवान नामक समुद्र की चर्चा की है जो कास्पियन समुद्र से भिन्न नही माना जाता। यह शीरवान क्षीर सागर का प्रतिनिधि है। फारसी शीर शब्द सस्कृत क्षीर ही है। इस प्रदश

---

१ During the pleistocene Ice Age the Caspian flowed over the steppes that stretch away to north and was probably still connected with the Black Sea After the great ice cap has thawed the Caspian began to shrink in area and simultaneously its connections with the Black Sea and the Sea of Aral were severed

—Encyclopaedia Britannica Vol IV PP 969

में क्षीर नदी की कल्पना आज भी जागरूक है। ईरान की एक नदी का भी नाम है—शीरीं तथा रूस के इस भूभाग में प्रवाहित होने वाली 'मोलोकन्या' नामक नदी क्षीरनदी की ही प्रतिनिधि है। इस नदी का नाम रूसी शब्द—'मो-लो-को' से निकला है जिसका अर्थ है दूध और जो अंग्रेजी शब्द 'मिल्क' से भली भाँति शब्द-साम्य की दृष्टि से मिलता-जुलता है। पुराणों में उल्लिखित शाकद्वीपीय सरिताओं का भी नाम साम्य शक स्थान की नदियों के साथ खोजा जा सकता है। ईरान के पूरबी प्रान्त का नामकरण साइस्तान (या शकस्तान) इन्हीं शकों के निवासस्थान होने के कारण ही माना जाता है। ऐतिहासिकों का कथन है कि ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती में इनके उपलब्ध उल्लेखों से पूर्व ही शक इस प्रान्त में मध्य एशिया के यूचि लोगों के दबाव के कारण आकर बस गये थे। शकों का प्रभाव अफगानिस्तान के कबीलों की भाषा पर भाषा-शास्त्री अब मानने लगे हैं। पश्तो भाषा की यह विशिष्टता—'द' के स्थान पर 'ल' का परिवर्तन-शक भाषा का ही प्रभाव माना जाता है। फारसी पिदर = पश्तो पिलर (पिता), फारसी दुख्तर (दुहितर, पुत्री)=पश्तो लूर। यह लकार की प्रवृत्ति शक भाषा की विशिष्टता मानी जाती है।

(घ) शकों में सूर्य की ही मुख्यरूपेण उपासना होती थी जिसे वे स्वलियु के नाम से पुकारते थे जिसमें 'र' के स्थान पर 'ल' के साथ शकों के अत्यन्त प्रेम को हटा देने पर 'सूर्य' शब्द साफ़ दिखाई पड़ता है। शकों के परम पूज्य देवता सूर्य ही थे, इसका परिचय यूनानी ग्रन्थों से ही नहीं चलता, प्रत्युत पुराणों से भी भली भाँति चलता है। विष्णुपुराण का प्रमापक वचन है—

> शाकद्वीपे तु तैर्विष्णुः सूर्यरूपधरो मुने
> यथोक्तैरिज्यते सम्यक् कर्मभिर्नियतात्मभिः ॥
>
> —विष्णु २।४।७०

शकद्वीप में सूर्योपासक ब्राह्मणों का भारत में आगमन (गरुडपुराण), भारत में शकों जैसे बूटधारी सूर्य प्रतिमाओं का व्यापक प्रसार तथा ईसाई धर्म स्वीकार करने से पूर्व रूसियों की सूर्य में एकान्त भक्ति इस बात की साक्षी है कि शकों के पूज्य देव सूर्य ही थे। यह स्वलियु देव दिव् (द्यौः) पिता और अपिया माता का (द्यावापृथिवी का) पुत्र था।

पुराण ने शकद्वीप की जातियों, नदियों, पर्वतों का जितना यथार्थ भौगोलिक विवरण सुरक्षित रखा है—यह देख कर पुराणों के भुवनविन्यास वाले परिच्छेदों पर हमारी पूर्ण आस्था जमती है। पौराणिक भूगोल के केवल तीन द्वीपों की—जम्बूद्वीप, कुशद्वीप तथा शाकद्वीप-की ही पूरी जानकारी अभी

मिलती है। हमारा विश्वास है कि अन्य द्वीप भी काल्पनिक न होकर भौगोलिक तथ्य हैं। इस विषय मे विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है।[1]

जम्बूद्वीप के नौ वर्ष

जम्बूद्वीप आरम्भ काल मे भारतवर्ष का ही सूचक देश था, परन्तु शको तथा कुषाणो के आगमन से भारतीयो की भौगोलिक दृष्टि विशेषरूप से विस्फारित हुई और उस युग तक बहुत से अज्ञात देश भी भारतीयो की ज्ञान-सीमा के भीतर विराजमान हो गये। ऐसे ही युग म जम्बूद्वीप के नव वर्षों की कल्पना हमारे पुराणकारो ने की जिसम नवीन भौगोलिक सूचनायें एकत्र कर सुव्यवस्थित बनाई गई हैं। इन वर्षो की जानकारी[2] के लिए इस रेखाचित्र को देखिए।
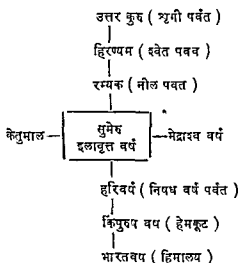
इन नव वर्षों के भीतर भारतवप के बाहरी देशो का भी समावेश अब भारत की विस्तृत सीमा के भीतर किया जाने लगा। इन वर्षो की पहिचान नि सदिग्ध

---

१ शकद्वीप के विवरण के लिए द्रष्टव्य डा० बुद्धप्रकाश का सुचिन्तित लेख *पुराण पत्रिका (भाग ३ खण्ड २ जुलाई १९६१) पृष्ट २५३—२८७।* इसी के आधार पर हमारा सक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया गया है। शको के विषय मे द्रष्टव्य राहुल साकृत्यायन मध्य एशिया का इतिहास प्रथम भाग पृष्ठ ७४—८० (पटना १९६०)

२ द्रष्टव्य विष्णुपुराण अंश २, अध्याय २, श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय १६, देवीभागवत, स्कन्ध ८।

रूप से नहीं की जा सकती। उत्तर कुरु तोलेमी का 'ओत्तोरो कोराई' देश है जो सम्भवतः चीनी तुर्किस्तान की तारिम घाटी को द्योतित करता है। हरिवर्ष सम्भवत सुग्द (या बोखारा प्रान्त) है जो घोड़ों के लिए सर्वदा प्रसिद्ध था। इलावृत्त वर्ष सम्भवत इलि नदी की घाटी है जो साइबेरिया के पर्वत से निकल कर बालकश मे गिरती है। भद्राश्व सम्भवत चीन का सूचक है। चीन का जातीय चिह्न है सफेद ड्रेगन। 'ड्रेगन' अग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अपने मुँह से ज्वाला उद्गीर्ण करने वाला मकर या सर्प जो अक्सर घोटक-मुख– घोडा मुँह वाला–बनाया जाता है। इसीलिए कल्याणकारी घोटक वाले देश—भद्राश्व– से चीन की पहिचान भली भाँति की जाती है।

केतुमाल चक्षु या वक्षु नदी के द्वारा पहिचाना जा सकता है उससे होकर बहती थी। चक्षु या वक्षु=आक्सस=आमू दरिया जो अराल सागर आज गिरती है और यहीं का भूभाग केतुकाल की सज्ञा से अभिहित था। किंपुरुष वर्ष तो किन्नरों का देश है जो हिमालय प्रान्त का सूचक है। हिरण्मय वर्ष एसिया के 'बदक्शाँ' प्रदेश का द्योतक है जो हीरा, जवाहिरात तथा कीमती धातुओं की खानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसी प्रकार रम्यक वर्ष सुदूर पूर्व के रमि या रम्नि टापूओं का सम्भवत सूचक है। तात्पर्य यह है कि यह समस्त नव वर्षों की कल्पना एशिया के विशाल प्रदेश को ही अपने मे गतार्थ नही करती, प्रत्युत सुदूर पूरबी प्रदेशों से सम्बन्ध रखती है। इन वर्षों का भौगोलिक विवरण अभी विशेष अनुसधान की अपेक्षा रखता है[1]।

एशिया की नदियाँ

चतुर्द्वीपी वसुमती की प्राचीन कल्पना मे गगा की चतुर्दिशा मे प्रवाहित होने वाली चार धाराओं का समुल्लेख बडे महत्त्व का है। पहिली धारा सीता है, जो पूरब मे भद्राश्व से होकर समुद्र म गिरती है, द्वितीय धारा अलकनन्दा है जो दक्षिण मे भारतवर्ष से होकर दक्षिणी समुद्र म, तृतीय धारा चक्षु (या स्वरक्षु) है जो पश्चिम मे केतुमाल से होकर पश्चिमी सागर मे गिरती है। चतुर्थ धारा भद्रा उत्तर कुरु को पारकर उत्तरी समुद्र मे गिरती है। इनमें से दो नदियों की पहिचान तो नि सन्दिग्धरूपेण की जा सकती है। अलकनन्दा से तो हम परिचित ही हैं। यही है हमारी गगा की मूलभूत धारा। चक्षु, स्वरक्षु या वक्षु एक ही नदी के विभिन्न अभिधान हैं जिसे यूनानी आक्सस कहते थे और आज आमू दरिया कहलाती है और पामीर पठार से निकल कर अराल के सागर मे गिरती है। सीता तथा भद्रा की पहिचान अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है।

१. इन द्वीपों की पहिचान के लिए द्रष्टव्य कृष्णमाचार्लू : दी कैन्डल आव इडियन हिस्ट्री (अड्यार लाइब्रेरी ग्रन्थ सख्या ५६, १९४७) पृष्ठ ३८-६२

गगा की सप्त धारा की कल्पना मत्स्यपुराण (अ० १२१।४२) तथा वायु (४७।३७-५१ श्लो०) मे जो दी गई है वह भारतीयो के भौगोलिक ज्ञान के विस्तार को सूचित करती है। भारतीयो का ज्यो ज्यो एशिया के विभिन्न प्रदेशो से आना-जाना शुरु हुआ, उनकी इन देशो के विषय मे जानकारी बढ़ने लगी और इन नवीन भौगोलिक जागृति के युग मे निबद्ध पुराणों का कलेवर इस अभिनव जानकारी से सर्वत परिपूर्ण है। एशिया की ये सात नदियाँ परिमाण तथा विस्तार क्षेत्र मे ही बडी नही हैं, प्रत्युत इतिहास तथा व्यापार की दृष्टि से उनका विपुल माहात्म्य है। इन सातो नदियो को गगा की सात धारायें मानना गगा पर पूज्यबुद्धि रखने वाले भारतीयो की धार्मिक श्रद्धा का एक विलास है। इन सात नदियो मे पश्चिम समुद्र म गिरने वाली तीन है तथा पूरबी समुद्र मे गिरने वाली भी तीन हैं और इन दोनो के बीच मे प्रवाहित होने वाली दक्षिणी समुद्र मे गिरने वाली एक है। इन नदियो के वर्णन म वायुपुराण का वर्णन बडा ही सटीक और यथार्थ है। मत्स्य का वर्णन पाठो की अशुद्धि के कारण विकृत है। इनमे सीता, चक्षु तथा सिन्धु तो पश्चिमी समुद्र मे गिरती हैं। चक्षु तो आक्सस का ही नामान्तर है सीता पूरबी भाग मे भद्राश्व वर्ष से होकर गिरने वाली इस नाम से प्रसिद्ध सीता नदी स नितान्त भिन्न है। वायु कहता है कि सीता सिन्धु मरु (विस्तृत रेगिस्तान) को पार कर म्लेच्छ देशो से—चीन, बबर, यवन तथा रूषाण आदि से होकर पश्चिमी समुद्र म गिरती है। ये म्लेच्छ जातियाँ एशिया के पश्चिमी भाग मे अफगानिस्तान से उत्तर मे निवास करती थी। रूषाण जाति कौन है ? क्या यह रूसी (रशियन) लोगो का सस्कृत नाम तो नही है ? सीता की पहिचान सिरदरिया से की जा सकती है, **चक्षु** बडी विशाल नदी थी जो चीनमरु (चीनी तुर्किस्तान), शूलिक (शूले या काशगर) तुषार, बबर तथा पारद और शक जातियो के प्रदेश से होकर बहती थी। उत्तरापथ के मुख्य चौरास्ते इसी के प्रा त म आकर मिलते थे। **सिन्धु** तो हमारी सिन्ध ही जो पजाब से होकर बहती है। **ह्लादिनी** पूरबी एशिया की कोई विशाल नदी होगी जिसकी पहिचान आज नही हो सकती। **नलिनी** सम्भवत वरमा की इरावदी है जो इन्द्रद्वीप के पास समुद्र मे गिरती है। **पावनी** सम्भवत मवाङ्क (माई गगा) नदी हो जो स्याम के दक्षिण मे प्रवाहित होती है। गगा तो अपनी चिरपरिचित भागीरथी है। ये हैं सभ्यता का विस्तार करने वाली एशिया की सप्त नदियां।

भारतवर्ष

(क) भारतवर्ष नाम पडने से पहिले यह देश **अजनाभ** (भाग० ५।७।३) तथा **हैमवत वर्ष** (वायु ३५।५२) के नाम से प्रख्यात था। **हैमवत वर्ष**

नाम का हेतु तो यह है कि इस वर्ष में सीमा विभाजन करने वाला हिमवत् गिरि (हिमालय या हिमाचल) प्रधानरूप से अवस्थित है और वह वर्षपर्वत है। फलतः हिमवत् के द्वारा उत्तर में वेष्टित होने के कारण यह नाम स्वाभाविक रीति से इस देश को दिया गया है। परन्तु अजनाभ अभिधान का तात्पर्य बहुत ही गम्भीर तथा अन्तरंग है। 'अजनाभ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अज (अजन्मा भगवान् विष्णु) के नाभि कमल पर स्थित देश। इस शब्द का स्वारस्य यह है कि ब्रह्मा ने भगवान् के नाभि-कमल पर निवास करते हुए जिस प्रथम लोक का निर्माण किया, वही है यह अजनाभ वर्ष। यह शब्द प्रदर्शित कर रहा है कि आदि सृष्टि यहीं अजनाभ वर्ष में ही हुई। मानवों की उत्पत्ति का स्थान यही वर्ष है। मानव सर्वप्रथम यहीं उत्पन्न हुआ और यहीं से भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैलकर उसने सभ्यता का विस्तार किया। यह व्युत्पत्ति मनुस्मृति में उपलब्ध इस पद्य की प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है—

> एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

फलत. आर्य जाति का मूलस्थान यही भारतवर्ष है; अन्य स्थान से आकर आर्यों ने भारतवर्ष को अपना उपनिवेश बनाया आदि नवीन कल्पनायें सर्वथा अप्रामाणिक हैं। पुराणों में आर्यों के मूलस्थान के विषय में यही सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य है।

'भारत' नाम की निरुक्ति

भारतवर्ष इस देश का नाम क्योंकर पड़ा ? इस विषय में पुराणों के कथन प्रायः एक समान है। केवल मत्स्यपुराण ने इस नाम की निरुक्ति के विषय में एक नया राग अलापा है। 'भरत' से ही 'भारत' बना है, परन्तु भरत कौन था ? इस विषय में मत्स्य मनुष्यों के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओं के भरण और रक्षण के कारण 'भरत' संज्ञा दी है—

> भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
> निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥
>
> —मत्स्य ११४।५-६

प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवान्तर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ जिनके एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया। और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने

लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं—

(क) ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्
तस्मात्तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥

—वायु ३३।५१ ५२; मार्क० ५३।३९-४०

(ख) प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिः ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण-परायणः
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम्॥

—भाग० ११।१५,१७

(ग) भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितल परिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासन परः पञ्चजनीं विश्वरूप-दुहितरमुपयेमे ·· ······। अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति।

—भागवत ५।७।१-३

भारतवर्ष का भूगोल दो रीतियो मे पुराणो मे अभिव्यक्त हुआ है—(क) कार्मुक संस्थान तथा (ख) कूर्म संस्थान। कार्मुक सस्थान से अभिप्राय है कि समग्र भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति कार्मुक अर्थात् धनुष के समान है जिसकी प्रत्यचा या डोरी स्वय हिमाचल उत्तर मे है तथा जिसका खीचा हुआ दण्ड दक्षिण की ओर फैला हुआ है। कार्मुक सस्थान का निर्देश पुराणो मे बहुश किया गया मिलता है—

दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणाः॥

—मार्क० ५७।६०

मार्कण्डेयपुराण ने अपने ५७ अध्याय में इसी सस्थान को लक्ष्य कर भारत- वर्ष के सात कुलपर्वत, नदियो तथा जनपदो की एव विस्तृत सूची दी गई है। पुराणों के भुवनकोशो का यही प्राचीन भूगोल था जो कूर्म (पूर्वार्ध अध्याय

१. यही श्लोक ब्रह्म० २७।६५।६९। में उपलब्ध है। ब्रह्म के २७ अ० में भारतवर्ष के पर्वत, नदियों तथा जातियो का विस्तृत विवरण है। अन्त में भारत की उत्कृष्ट महिमा प्रतिपादित है (श्लोक ७१—७८)।

४६) ब्रह्माण्ड (अ० ४९), मत्स्य (अ० ११४), वायु (अ० ४५) और वामन (अ० १३) तथा श्रीमद्भागवत के पञ्चमस्कन्ध (१६-२० अ०) में उपलब्ध होता है। मार्कण्डेयपुराण का वर्णन अनेक दृष्टियों से महत्त्वशाली है। यहाँ सात कुलपर्वतों का तथा उनसे निकलने वाली नदियों का पर्वतों से सम्बद्ध कर सुचारु वर्णन है। साथ में इस देश के विभिन्न भागों के जनपदों का तथा वहां रहने वाली जातियों (जिन्हें 'फिरके' शब्द से सूचित किया जा सकता है) का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। जनपदों की नामावली भारतवर्ष को सात विभागों में बाट कर की गई है। इन विभागों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मध्य देश, (२) उदीच्य, (३) प्राच्य, (४) दक्षिणापथ, (५) अपरान्त, (६) विन्ध्यपृष्ठ और (७) पर्वताश्रयी।

कूर्म संस्थान—भारतवर्ष में आराध्य देव भगवान् कच्छप हैं। प्रतीत होता है कि इस भावना को आधार मान कर समग्र भारतवर्ष को कच्छप की आकृति माना गया है और कच्छप के भिन्न अगों के सादृश्य पर भारतवर्ष को नव भागों मे विभक्त किया गया है। ये विभाग इस प्रकार हैं—(१) मध्यभाग, (२) मुख (३) पूर्व-दक्षिणी पैर, (४) दक्षिण कुक्षि, (५) पश्चिम दक्षिणी पैर, (६) पुच्छ या पृष्ठभाग, (७) पश्चिमोत्तरी पैर, (८) उत्तर कुक्षि, (९) पूर्वोत्तरी पैर। इन्हीं नव विभागों में भारतीय जनपदों का विभाजन किया गया है। कूर्म सस्थान का विवरण मार्कण्डेय के ५८वें अध्याय में विस्तार से है। इस प्रकार दो सस्थानो का विवरण एक ही पुराण में एक ही स्थान पर मिलता है—मार्कण्डेयपुराण में। भारतीय जनपदों की इस नवीन सूची को पूर्व अध्याय की प्राचीन सूची से मिलाने पर अनेक नूतन नाम मिलते हैं जो भारतीय इतिहास की बदली हुई परिस्थिति में कुषाण तथा गुप्तकाल में प्रथमवार उपलब्ध मिलते हैं। इतिहासविदों की यही मान्य सम्मति है। इस कूर्मसंस्थानीय भारत का मुख पूरब की ओर है और इसी दिक्सूत्र को पकड कर अन्य अवयवो की आपेक्षिक स्थिति निश्चित की जा सकती है। कूर्मसंस्थान पर आधारित जनपद सूची ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है—वराह मिहिर की बृहत्संहिता के नक्षत्र कूर्माध्याय (अ० १४), नरपति जयचर्या नामक ग्रन्थ मे तथा पराशरादि मुनियो द्वारा निर्मित प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थो मे है।

भारत—कर्मभूमि

पुराणों में भारतवर्ष की प्रकृष्ट प्रशस्ति दी गई है। जो आधुनिक मतवाले भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के ऊपर देशप्रेम के अभाव का लाञ्छन लगाते हैं, उन्हें पुराणों में दी गई भारत-प्रशस्ति का अनुशीलन करना चाहिए। इस प्रशस्ति की पृष्ठभूमि गुप्त साम्राज्य का सुवर्ण युग माना जा सकता है जब

भारतवर्ष आधिभौतिक, भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे समस्त विश्व मे अपना प्रतिमान नही रखता था और जब इसके पराक्रमी नाविको ने अगम्य तथा दुर्गम्य उत्तालतरंगमय महार्णव को पार कर पूर्वी द्वीप-पुजो में—जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन्स आदि-आदि में—अपनी सभ्यता की पताका फहराई थी और इन द्वीपो को अपना उपनिवेश बनाया था। उस युग में भारतीयों मे एक अदम्य उत्साह था, नाना देशो में अपनी संस्कृति फैलाने की अश्रान्त लिप्सा थी। सभी भारतीयो ने अपने भीतर सुप्त स्वज्योति-पुञ्ज का दर्शन किया था तथा उसी की आभा को विश्व के सामने छिटकाया था। इन प्रशस्तियो के अनेक आधार सूत्र हैं—

(क) भारत के समान पृथ्वी का कोई भी देश नही है—यह समूचे भूमण्डल मे अनुपम और अद्वितीय है।

(ख) भारत स्वर्ग से बढकर है और इसीलिए स्वर्गवासी देवगण भारत में मनुष्य के रूप में जन्म लेने को श्रेयस्कर समझते थे।

(ग) मानव जीवन के जितने मगल तथा कल्याण होते है उनके बीच भारत में विद्यमान हैं।

(घ) भारत कर्मभूमि है—अन्य देश भोगभूमि हैं। भारत में सिद्धियां कर्म के वशीभूत होकर फलीभूत होती हैं।

इन तथ्यो को सिद्ध करने वाले कतिपय श्लोक पुराणो से यहा उद्धृत किये जाते हैं —

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न ॥
—(देववचन, भागवत ५।१९।२१)

भारतभूमि कर्मभूमि है तथा स्वर्गभूमि भोगभूमि है—

इस तथ्य की पुष्टि में पुराणों में विशेष महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं—

पृथिव्यां भारतं वर्षं कर्मभूमिरुदाहृता।
—(ब्रह्मपुराण २७।२)

अत्रापि भारतं वर्षं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात् तीर्थं तदुच्यते॥
—(तत्रैव ७०।२१)

अभिसंपूजितं यस्मात् भारतं बहुपुण्यदम् ।
कर्मभूमिरतो देवैर्वर्षं तस्मात् प्रकीर्तितम् ॥

—(तत्रैव ७०।२४)

कर्मणस्तु प्रधानत्वमुवाच त्रिपुरान्तक ।
सर्वकर्मैव नाकर्म प्राणी क्वाप्यत्र विद्यते ।
कर्मैव कारणं यस्माद् अन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥

—(तत्रैव १४३।८-११)

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।

—(विष्णु २।३।२)

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥

—विष्णु २।३।२२

भारत नाम यद्वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ।
तत् कर्मभूमिर्नान्यत्र संप्राप्तिः पुण्यपापयोः ।
एतत् प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

—मार्कण्डेय ५५।२१-२२

प्रयाति कर्मभूर्ब्रह्मन् नान्यलोकेषु विद्यते ।

—वही ५७।६२

कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ।

— वनपर्व १८१।३१

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रम् । अन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ।

— भागवत ५।१७।११

भारतवर्ष के मनुष्य देवों से भी बढ़कर हैं, क्योंकि उनके हाथ में उनका भविष्य है। कर्म के सम्पादन की छूट होने से भारतवर्ष का मानव भोगभूमि स्वर्ग में कर्मफल को भोगने में आसक्त देवताओं से कहीं बढ़ कर है। मानव की श्रेष्ठता की यह स्वीकृति पुराणों की एक महत्त्वशाली देन माना जाना चाहिए :—

(क) देवानामपि विप्रर्षे ! सदा एष मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ।
मनुष्यः कुरुते तत्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः ॥

—मार्क० ५७।६३-६४

(ख) अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचित् लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥
—विष्णु २।३।२३

(ग) गायन्ति देवा किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
—वही २।३।२४

(घ) धन्या खलु ते मनुष्या
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीणा।
—वही २।३।२६

भारतवर्ष के नवखण्डात्मक विभाजन

भारतवर्ष के नव खण्डों का विभाजन पुराणों में मिलता है। मत्स्य (११४।७–८) तथा मार्कण्डेय (५७।८) में भारतवर्ष के इन खण्डों की संज्ञा इस प्रकार है—(१) इन्द्रद्वीप (२) कसेरु (३) ताम्रपर्ण (४) गभस्तिमान् (५) नागद्वीप (६) सौम्य (७) गन्धर्व (८) वारुण (९) स्वयं भारत ही—

भारतस्य च वर्षस्य नव भेदान् निबोधत।
इन्द्रद्वीप कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुण
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृत॥
—(मत्स्य ११४।७–८)

ये ही नाम मार्कण्डेय (अ० ५७) में पुनरावृत्त हैं और एक नई बात का यहाँ अधिक संकेत है कि ये नव विभाग एक दूसरे से समुद्र के द्वारा विभक्त (अन्तरित) थे तथा जमीन के रास्ते से अगम्य थे जहाँ जाना नितान्त असम्भव था—

समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्।
—मार्क० ५७।५ = वायु ४५।७८

अयं तु नवमस्तेषाम् प्रकट कह रहा है कि इस पुराण का लेखक भारत में ही वहाँ बैठ कर लिख रहा है। प्रश्न यह है कि इस नवम भाग का नाम क्या था? राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इस भाग का नाम कुमारी द्वीप बतलाया है (कुमारी द्वीपश्चायं नवमः)। अन्य पुराणों के लेखकों ने नव

भागों के विवरण देते समय नवम भाग की स्थिति के विषय में मौन ही धारण किया है, परन्तु वामन पुराण के रचयिता को यह श्रेय देना चाहिए कि उसने इस नवम भाग का अभिधान तथा स्वरूप ठीक ठीक दिया है—

> अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
> कुमाराद्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः॥

—वामन १३।११

वामन पुराण और काव्यमीमांसा के अनुसार यह नवम भाग कुमार द्वीप या कुमारीद्वीप के नाम से प्रख्यात था। इस संज्ञा का हेतु यही था कि यह प्रदेश कुमारी (कन्या कुमारी) से आरम्भ होकर गंगा के प्रवाह तक फैला हुआ था (आयतस्तु कुमारीतो गङ्गायाः प्रवहावधि[1]—मत्स्य ११४।१०)। फलतः दक्षिण से उत्तर तक फैले वाले देश का दक्षिण बिन्दु था—कुमारी (या कन्या कुमारी) और इसीलिए[2] यह भारत ही स्वयं कुमारीद्वीप के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतवर्ष के इस नवखण्डात्मक विभाजन का मुख्य कारण गुप्तों के समय में भारतवर्ष का सांस्कृतिक विस्तार था। इसी युग में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का, भाषा तथा साहित्य का, धर्म तथा दर्शन का पूर्वी द्वीपपुंजों में आश्चर्यजनक विस्तार सम्पन्न हुआ। ये सकल द्वीपसमूह भारतवर्ष के भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत तब समझे जाने लगे अर्थात् आजकल का बृहत्तर भारत (ग्रेटर इण्डिया) भारतवर्ष का क्षेत्र माना गया, तब मुख्य भारत के लिए किसी नये नाम की खोज की गई और यही नाम था—कुमारीद्वीप। वामन पुराण ने स्पष्टतः[2] कहा है कि जिसे अब तक भारत के नाम से पुकारते थे, उसे ही अब कुमारीद्वीप के अभिधान से पुकारने लगे। इस नवीन स्थिति की स्वीकृति सामान्य जनता ने भी दी। जिस परिवर्तित स्थिति का संकेत पुराण के लेखकों ने अपने नाना वचनों में किया, उसको सामान्य जनता ने भी स्वीकार

---

१ आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा-प्रभवाच्च वै।
तिर्यगुत्तरविस्तीर्णः सहस्राणि नवैव तु॥

—वायु ४५।८

२ इमे तवोक्ता विषया सुविस्तराद्
द्वीपे कुमारे रजनीचरेश।
एतेषु देशेषु च देशधर्मान्
सङ्कीर्त्यमानान् शृणु तत्त्वतो हि॥

—वामन १३।५९

करते विलम्ब नही किया। आज भी प्रतिदिन के सकल्पवाक्य मे भारतीय जन इस भौगोलिक परिवर्तन के स्वीकरण की सूचना देते हैं —हरि ओ तत्सत्। श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्धे श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते काशीक्षेत्रे आदि।

इस सकल्प वाक्य मे प्राचीन तथा नवीन भावनाओ का पूर्ण सामञ्जस्य प्रदर्शित किया गया है। जम्बूद्वीपे भरतखण्डे तो प्राचीन भावना का सकेत है जब भरतखण्ड जम्बूद्वीप के साथ अभिन्न अथवा उसका एक विशिष्ट खण्ड माना जाता था। भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे —यह नवीन भावना का द्योतक है जब समग्र भारतवर्ष नव खण्डों मे विभक्त होकर एक विशाल भौगोलिक ईकाई माना जाता था और मूल भारत कुमारिका खण्ड की आख्या से प्रसिद्ध हो गया था।

भारतवर्ष के समुद्रान्तरित आठ विभागो की वर्तमान स्थिति का आज सकेत मिल सकता है। ये भारत से पूरब की ओर फैलने वाले द्वीपसमूहो के अवयव हैं जिन्हे कालिदास के युग मे द्वीपान्तर के नाम से पुकारा जाता था और जहा कला साहित्य भाषा तथा सस्कृति के क्षेत्र मे भारतवर्ष का पुष्कल प्रभाव पडा था।

(१) इन्द्रद्वीप इन्द्रद्युम्न अडमन टापू
(२) नागद्वीप = नागवर नक्कवर (चोल शिलालेख) - निकोबार टापू
(३) ताम्रपर्णी - सिंघल लका।
(४) वारुणद्वीप = बोरनियो टापू
(५) कसेरुमान मलयद्वीप
(६) गभस्तिमान् = ?
(७) सौम्य = ?
(८) गन्धर्वद्वीप ?

अन्य पुराणो मे भी भारतवर्ष के नव खण्डो का नाम प्राय एतत्-समान ही है परन्तु कहीं कहीं कतिपय खण्डो के नाम भिन्न रूप से मिलते हैं। यथा वामन पुराण मे ऊपर दी गई सूची के अन्तिम दो नामो के स्थान पर **कटाह** तथा **सिंहल** द्वीप के नाम दिये गये हैं। कटाहद्वीप तो मलय प्रायद्वीप का **केडा** नामक स्थान से अभिन्न है जिसका उल्लेख सस्कृत के कथा साहित्य मे विशेष उपलब्ध होता है और जो कथा-सरित्सागर मे **कटाहच्छद्वीप** के अभिधान से निर्दिष्ट किया गया है। **सिंहल** द्वीप तो आजकल का सीलोन या लका है।

ताम्रपर्ण का भी सिंहल के संग साथ मे उल्लेख इन दोनों के वैभिन्य का द्योतक है। सामान्यत ताम्रपर्ण वर्तमान लका की ही सज्ञा माना जाता है, परन्तु सिंहल के साथ एक ही सूची म उल्लिखित होने से यह कोई भिन्न टापू प्रतीत होता है।

कुमारीद्वीप की विभिन्न दिशाओ मे स्थित जन-जातियो का भी उल्लेख कम महत्व का नही है। मत्स्य तथा मार्कण्डेय में कहा गया है कि कुमारीद्वीप की पूर्वोत्तरी सीमा पर **किरातों** का तथा पश्चिमोत्तरी सीमा पर **यवनों** का आवास था। यवनो का यह स्थिति निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। यह सम्भवत बैकट्रिया के यूनानी लोगों का स्पष्ट निर्देश है, जो मूल रूप मे चतुर्थ शती ई० पू० म बैक्ट्रिया मे निवास करते थे और पिछली शतियो मे गन्धार तथा काबुल घाटी म आकर बस गये थे। वामन पुराण के इस विवरण मे दो नाम सन्निविष्ट किये गय हैं—दक्षिण मे **आन्ध्र** तथा उत्तर मे **तुरुष्क**। यह ऐतिहासिक परिस्थिति के परिवर्तन का द्योतक माना जा सकता है प्रथम अथवा द्वितीय शती ईस्वी मे, जब आन्ध्र शातवाहनोका साम्राज्य दक्षिण मे पूरबी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक विस्तीर्ण था तथा उत्तर मे तुरुष्क या तुषारदेशीय शक (कुषाण आदि) पेशावर मे राज्य कर रहे थे।

कुलपर्वत

पौराणिक भूगोल म पर्वत दो प्रकार के होते हैं—वर्ष पर्वत तथा कुलपर्वत। **वर्षपर्वत** तत्तत् वर्षों के सीमागिरि हैं जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से पृथक् करते हैं। **कुलपर्वत** देश के भीतर उसके प्रान्तो की सीमा बनाते हैं तथा एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करते हैं। कुलपर्वतो की सख्या सात मानी गई है—(१) महेन्द्र, (२) मलय, (३) सह्य, (४) शुक्तिमान् (५) ऋक्ष, (६) विन्ध्य, (७) पारियात्र। इन पर्वतो का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है —

(१) **महेन्द्र**—कलिंग से शुरू होने वाली पूर्वी घाट की पर्वत-शृखला का नाम **महेन्द्र** है। परशुराम जी इसी पर्वत पर तपस्या करते हुए बतलाये गय हैं। आज भी गजम के समीप यह महेन्द्रमलै कहलाता है।

(२) **मलय**—दक्षिण भारत का नीलगिरि पर्वत, जहां पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियां एक दूसरे से मिलकर एक वक्रिम रेखा के समान आकार धारण करती हैं। इस पर्वत पर चन्दन के वृक्ष बहुतायत से होते हैं और इसी कारण चन्दन 'मलयज' के नाम से विख्यात है।

(३) **सह्य या सह्याद्रि**—उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट की पर्वत-शृखला, आज भी जो महाराष्ट्र तथा कोकण मे इसी नाम से पुकारी जाती है।

करने विलम्ब नही किया। आज भी प्रतिदिन के 'सकल्पवाक्य' मे भारतीय जन *इस भौगोलिक परिवर्तन के स्वीकरण की सूचना देते हैं —हरि ओं तत्सत्।* श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तर अष्टाविशतितमे युगे कलियुगे *प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्त-*र्गते काशीक्षेत्रे आदि।

इस सकल्प वाक्य मे प्राचीन तथा नवीन भावनाओ का पूर्ण सामञ्जस्य प्रदर्शित किया गया है। 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे तो प्राचीन भावना का सकेत है जब भरतखण्ड जम्बूद्वीप के साथ अभिन्न अथवा उसका एक विशिष्ट खण्ड माना जाता था। भारते वर्षे कुमारिकाखण्डे —यह नवीन भावना का द्योतक है जब समग्र भारतवर्ष नव खण्डो मे विभक्त होकर एक विशाल भौगोलिक ईकाई माना जाता था और मूल भारत कुमारिका खण्ड की आख्या से प्रसिद्ध हो गया था।

भारतवर्ष के समुद्रान्तरित आठ विभागो की वर्तमान स्थिति का आज सकेत मिल सकता है। ये भारत से पूरब की ओर फैलने वाले द्वीपसमूहो के अवयव हैं जिन्हे कालिदास के युग मे द्वीपान्तर' के नाम मे पुकारा जाता था और जहाँ कला, साहित्य, भाषा तथा सस्कृति के क्षेत्र मे भारतवर्ष का पुष्कल प्रभाव पडा था।

(१) इन्द्रद्वीप = इन्द्रद्युम्न, अडमन टापू
(२) नागद्वीप = नागवर नक्कवर (चोल शिलालेख) = निकोबार टापू
(३) ताम्रपर्णी = सिंघल, लका।
(४) वारुणद्वीप = बोरनियो टापू
(५) कसेरुमान मलयद्वीप
(६) गभस्तिमान् = ?
(७) सौम्य = ?
(८) गन्धर्वद्वीप - ?

अन्य पुराणा मे भी भारतवर्ष व नव खण्डो का नाम प्राय एतत्-समान ही है परन्तु कहीं कही कतिपय खण्डो के नाम भिन्न रूप से मिलते हैं। यथा वामन पुराण मे ऊपर दी गई सूची के अन्तिम दो नामो के स्थान पर कटाह तथा सिंहल द्वीप के नाम दिये गय हैं। कटाहद्वीप तो मलय प्रायद्वीप का केडा नामक स्थान स अभिन्न है जिसका उल्लेख सस्कृत के कथा साहित्य मे विशेष उपलब्ध होता है और जो कथा-सरित्सागर मे कटाहकच्छ द्वीप के अभिधान से निर्दिष्ट किया गया है। सिंहल द्वीप तो आजकल का सीलोन या लका है।

ताम्रपर्ण का भी सिंहल के संग-साथ मे उल्लेख इन दोनों के वैभिन्य का द्योतक है। सामान्यत ताम्रपर्ण वर्तमान लका की ही सज्ञा माना जाता है, परन्तु सिंहल के साथ एक ही सूची मे उल्लिखित होने से यह कोई भिन्न टापू प्रतीत होता है।

कुमारीद्वीप की विभिन्न दिशाओ में स्थित जन-जातियो का भी उल्लेख कम महत्त्व का नहीं है। मत्स्य तथा मार्कण्डेय मे कहा गया है कि कुमारीद्वीप की पूर्वोत्तरी सीमा पर किरातों का तथा पश्चिमोत्तरी सीमा पर यवनों का आवास था। यवनो का यह स्थिति निर्देश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। यह सम्भवत बैक्ट्रिया व यूनानी लोगों का स्पष्ट निर्देश है, जो मूल रूप म चतुर्थ शती ई० पू० म बैक्ट्रिया में निवास करते थे और पिछली शतियों में गन्धार तथा काबुल घाटी में आकर बस गये थे। वामन पुराण के इस विवरण मे दो नाम सन्निविष्ट किय गय हैं—दक्षिण मे आन्ध्र तथा उत्तर मे तुरुष्क। यह ऐतिहासिक परिस्थिति के परिवर्तन का द्योतक माना जा सकता है प्रथम अथवा द्वितीय शती ईस्वी मे, जब आन्ध्र शातवाहनोका साम्राज्य दक्षिण मे पूरबी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक विस्तीर्ण था तथा उत्तर म तुरुष्क या तुषारदेशीय शक (कुषाण आदि) पेशावर मे राज्य कर रहे थे।

कुलपर्वत

पौराणिक भूगोल म पर्वत दो प्रकार के होते हैं—वर्ष पर्वत तथा कुलपर्वत। वर्षपर्वत तत्तत् वर्षों के सीमागिरि हैं जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से पृथक् करते है। कुलपर्वत देश के भीतर उसके प्रान्तो की सीमा बनाते हैं तथा एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करते हैं। कुलपर्वतो की सख्या सात मानी गई है—(१) महेन्द्र, (२) मलय, (३) सह्य, (४) शुक्तिमान् (५) ऋक्ष, (६) विन्ध्य, (७) पारियात्र। इन पर्वतो का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है —

(१) **महेन्द्र**—कलिंग से शुरू होने वाली पूर्वी घाट की पर्वत-शृखला का नाम **महेन्द्र** है। परशुराम जी इसी पर्वत पर तपस्या करते हुए बतलाये गये हैं। आज भी गजाम क समीप यह महेन्द्रमलै कहलाता है।

(२) **मलय**—दक्षिण भारत का नीलगिरि पर्वत, जहा पूर्वी घाट तथा पश्चिमी घाट की पहाडिया एक दूसरे से मिलकर एक वक्रिम रेखा के समान आकार धारण करती हैं। इस पर्वत पर चन्दन के वृक्ष बहुतायत न होते हैं और इसी कारण चन्दन 'मलयज' के नाम से विख्यात है।

(३) **सह्य-या सह्याद्रि**—उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट की पर्वत-शृखला, आज भी जो महाराष्ट्र तथा कोकण मे इसी नाम से पुकारी जाती है।

(४) **शुक्तिमान्**—इसकी वतमान स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। सह्याद्रि पवत की उत्तरी छोर से कुछ पहिले ही पूर्व की ओर बढने वाली उसकी भुजायें ही इस नाम से सकेतित की गई जान पडती हैं जिसमे खानदेश की पहाडियो, अजन्टा तथा गोलकुण्डा का पठार भी सम्मिलित मानना चाहिए।

(५) **ऋक्ष पर्वत**—सतपुडा पहाडियो से आरम्भ होने वाली पवत शृखला इसका आधुनिक प्रतिनिधि है। ताप्ती तथा वेन गगा इस पहिचान को पुष्ट करती है। उडीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदियो का उद्गम भी इसी पवत से था। मानना पडेगा कि यह पर्वत छोटा नागपुर की पहाडियो तक फैला हुआ था।

(६) **विन्ध्य पर्वत** तो सुप्रसिद्ध विन्ध्याचल पवत है जिसमे शोण (सोन नद), नर्मदा, महानदी, तमसा (टौंस नदी मध्यभारत की) तथा दशाण (आजकल की धसान) नदियाँ निकल कर विभिन्न समुद्रो मे प्रवाहित होती ह।

(७) **पारियात्र**=अडावली पहाडी। इससे निकलने वाली नदियो से इसकी पहिचान की जा सकती है। इस पारियात्र से निकलने वाली नदियो म पर्णास (बनास नदी) चर्मण्वती (चम्बल, मही पावती वत्रवती (बेतवा)—ही मुख्य नदियाँ इस पर्वत से निकलती हैं जो इसके पूर्व पहिचान को दृढ करती हैं। इन पर्वतो के अतिरिक्त और भी पवत पुराणो म दिये गये हैं जैसे मलय, दर्दुर रैवत, अबुद, गोमन्त आदि आदि। हिमाचल वर्षपवत होने के नाते कुलपवतो की गणना मे नही आता। इन पवतो स निकलने वाली नदियो का नाम मार्कण्डेय मे ५७ अध्याय म सुव्यवस्थित रूप से दिया गया है। पुराणो ने भारतवर्ष के भीतर निवास करने वाली जन-जातियो का भी यथाथ वणन किया है जो इतिहास की दृष्टि मे विशेष महत्व रखता है।

---

१ इन नदियो तथा जातियो तथा देशो के वणन के लिए इन ग्रथो का अध्ययन उपयोगी है—

(क) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराण एक सास्कृतिक अध्ययन पृष्ठ १४६—१५८

(ख) डा० अग्रवाल—मत्स्यपुराण ए स्टडी पृष्ठ पृ० १८४-२०८

(ग) डा० डी० सी सरकार स्टडीज इन दी ज्याग्रफी आफ ऐन्शण्टएण्ड मिडिवल इंडिया पृष्ठ १७—१०९। इस ग्रथ म पुराण की नदियो का समग्ररूप से एक तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो महत्वशाली है। ५६ देशो तथा जातियो का भी विवरण उसी प्रकार बडा ही बढिया तथा उपयोगी है।

पुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड

पुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड के भीतर चौदह भुवन हैं जो भूतत्त्व से निर्मित हैं। पृथ्वी को ही मुख्य मान कर कह सकते हैं कि छ भुवन उसके ऊपर हैं तथा सात भुवन उसके नीचे हैं जिनको सामान्य रीति से 'पाताल' कहते हैं। इन चौदहों भुवनों की स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिए :—

ऊर्ध्वलोक'

सत्य लोक—
तपो लोक— } ब्राह्मस्वर्ग, अकृतक त्रैलोक्य
जन लोक—

महर्लोक — प्राजापत्य स्वर्ग

(सत्य लोक से महर्लोक तक) } दिव्य स्वर्ग, कृतकाकृतक

स्वर् लोक — माहेन्द्र स्वर्ग
भुवर्लोक } भौम स्वर्ग } कृतक त्रैलोक्य
मध्यलोक भू लोक

अधोलोक' अतल—
वितल—
सुतल—
तलातल— } बिल स्वर्ग
रसातल—
महातल—
पाताल—

ने महर्षि नारद की अनुभूति को उल्लिखित कर पाताल के विषय म यह कहना है पाताल तो स्वग से भी अधिक सु दर है **स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारद**[1]। सूय तथा च द्रमा की वहाँ स्थिति होनेसे वह सवथा प्रकाशमय तथा कान्तिमान् होता है—पर तु एक वैशिष्ट्य के साथ। दिन म सूर्य की किरणें केवल प्रकाश ही करती हैं पर तु घाम नहा करती रात मे च द्रमा की किरणों से शीत नहा होता केवल चादनी ही फैलती है। वहाँ के निवासी दैत्य दानव तथा नागलोक स्वच्छ आभूषण सुग धमय अनुलेपन तथा वेणु-वीणा आदि स्वरयन्त्रों—आदि उदारजनो के द्वारा भोग्य पदार्थों का सेवन करते हैं। भोग विलास की समग्र सामग्री स सम्पन्न पाताल लोक का निवास मनुष्यो के लिए भी एक स्पृहणीय वस्तु है ग॰णीय नही। वहा भगवान् विष्णु की तामसी तनु जिसका नाम शेष अथवा अनन्त है निवास करती है। वे अपने फणो की सहस्र मणियो से सम्पूर्ण दिशाओ को ददीप्यमान करते हुए ससार के कल्याण के समग्र असुरो को वीर्यहीन करते रहते है। श्रीमद्भागवत (५ २४।८–१५) ने भी इ ही कमनीय शब्दो मे पाताल लोको के ऐश्वय वैभव तथा भोगविलास का वणन किया है।[2] विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत का वणन विशिष्टतर है क्योकि यह सातो पाताल लोको मे प्रत्येक का वणन अलग अलग वैशद्य से करता है। यह वणन इतना साङ्गोपाङ्ग है कि इसमे अनुभूति की सत्यता स्पष्टत झाकती दृष्टिगोचर होती है। इस पाताल की पहिचान क्या किसी भूविशेष से की जा सकती है?

मेरी दृष्टि मे पाताल को पहिचान समग्र पश्चिमी गोलाध से की जा सकती है जिसे आजकल उत्तरी मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के नाम से पुकारते हैं। श्रीमद्भागवत न 'अतल' नामक पाताल लोक मे मय नामक असुर की स्थिति बतलाई है। यह प्रामाण्य बडा सारवान् है। मध्य अमेरिका के मुख्य प्रदेश मेक्सिको की प्राचीन सस्कृति मयसस्कृति के नाम से विख्यात है और वहा के निवासी आज भी उस प्राचीन सस्कृति के प्रचुर उपासक हैं। मय था

---

१ स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारद ।
प्राह स्वगसदोमध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम् ।

—ब्रह्म २१।५ तथा विष्णु २।५।५

२ तुलना कीजिये महाभारत के ताहश वचन से—

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
परिवास सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥

—महाभारत, आरण्यपर्व १०२।१५

बड़े ही अद्भुत महलों का निर्माता असुरो का इञ्जीनियर। मेक्सिको तथा पेरु आदि देशो की समृद्ध शिल्पकला तथा आश्चर्यजनक के प्राणवन्त प्रासादों को निरीक्षण कर आधुनिक शिल्पी आश्चर्य-चकित हो उठता है उस प्राचीन युग की इन विशद कलाकृतियो की विस्मयकारिणी समृद्धि तथा सम्पन्नता की सत्ता से। मय असुर माया के लिए भी प्रसिद्ध था और इन स्थानो मे आज भी प्राचीन युग के गुप्त महलो मे असख्य धनराशि अभिमन्त्रित कर रखी हुई है। मेक्सिको[1] का आचार-विचार, रहन-सहन, खिल-वट्टे का प्रयोग, भोजन का प्रकार, चपातियो का दाल तरकारी के साथ खाना—सब कुछ आज भी भारतीय है। फलत. मेरी दृष्टि मे समग्र अमेरिका की पाताल से पहिचान करना सर्वथा सत्य, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक है।

एक बात और भी इस विषय मे ध्यान देने योग्य है। वह है वहा का स्थानीय जलवायु। अमेरिका के इस भाग का जलवायु समशीतोष्ण है—न अधिक गरम, और न अधिक ठढा। पुराणवर्णित सूर्य-चन्द्र के मर्यादित व्यवहार का यह सर्वथा प्रमापक माना जा सकता है। गरमी का कम होना तथा शीत का भी मर्यादित रूप इस पुराण-निर्दिष्ट वैशिष्ट्य का स्पष्टत. द्योतक माना जा सकता है। पुराण का कथन है कि पाताल लोक भारतीयो के लिए अगम्य और अव्यवहार्य नहीं थे, परन्तु वहा से हमारा व्यवहार भी चलता रहा—

> सप्तैवमेते कथिता व्यवहार्या रसातलाः।
> देवासुरमहानागराक्षसाध्युषिताः सदा॥
>
> —वायु ५० अ०, ५४ श्लो०।

निष्कर्ष यह है कि पाताल का पौराणिक वर्णन कल्पनाप्रसूत न होकर अनुभवाश्रित है। ये सच्चे भूभाग की भौगोलिक इकाई हैं जहा आर्यो का गमनागमन होता था। यह तो भूगोल के पाठको को अज्ञात नहीं है कि साइबेरिया का पूरबी प्रदेश उत्तरी अमेरिका के अलास्का नामक उत्तरी प्रान्त से किसी समय बिल्कुल ही सलग्न था। फलत पाताल लोका मे जाने का रास्ता इधर से स्थलमार्ग से भी था, यह मानना अनुमान विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

---

१. मेक्सिको के निवासियों के आचार-विचार के विषय मे द्रष्टव्य दीवान चमन लाल रचित 'हिन्दू अमेरिका' नामक अंग्रेजी पुस्तक जिसके बड़े सस्करण मे वहाँ की कलाकृतियों के नमूने भी प्रचुरता से दिये गये हैं। सक्षिप्त सस्करण मे ग्रन्थकार ने अपने दीर्घकालीन खोजों के आधार पर सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। लघुसस्करण विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित है।

स्पेन के इतिहास से भी इन जातियो मे से अन्यतम जाति इन्का लोगो का जो अद्भुत वृत्तान्त मिलता है उससे भी उक्त पहिचान की पुष्टि होती है। इस विषय मे दो-चार बातें यहाँ स्पेनी इतिहास के आधार पर दी जाती हैं —

सन् १५३३ ईस्वी मे दक्षिणी अमेरिका के एक विशाल भूभाग पर जहाँ आजकल पेरु, ईक्वाडोर, चिली और अर्जन्टाइना के कुछ हिस्से हैं वहाँ 'अताहुआल्पा' नामक राजा राज्य करता था। इसके पूर्वज 'इन्का' जाति के सम्राट् थे जिनका सार्वभौम राज्य पूरे देश पर था। उस सम्राट् की राजधानी का विपुल वैभव देख कर आज आश्चर्य होता है, परन्तु बात बिल्कुल ठीक है कि सम्राट् के प्रमुख पथ, और महल की दीवारें सोने के पत्तरो स जडी हुई थी। राजमन्दिर का विस्तृत उद्यान पूरा पक्के सोने का बना हुआ था। सोने के पेड, सोने के फूल, सोने की पत्तियाँ, सोने की घास, सोने की तितिलियाँ सब कुछ सोने का बना हुआ था। हीरे, जवाहिरात तथा सोने का वहाँ अपार ढेर था जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। लोगो का विश्वास था कि इन्का सम्राट् को सूर्य भगवान् ने लोगो को शासन करने के लिए भेजा है। उनकी आज्ञा देवाज्ञा के समान पवित्र तथा अपरिहार्य मानी जाती थी। पूरे देश मे सोने, चादी, जवाहिरात की इतनी अधिक खानें थी जितनी कल्पना मे भी नही आ सकती। स्पेनी सरदार पिज़ारो ने इस इन्का सम्राट् को कैद कर डाला और अपने आदेश के अनुसार सोना प्राप्त हो जाने पर भी उसने सम्राट् को कैद से नही छोडा और उसे मार डाला। पिजारो ने मृत राजा के एक व्यक्ति को सम्राट् बना कर, एकत्रित अतुल सुवर्ण राशि को लेकर स्पेन लौट आया। इधर नवीन सम्राट् ने अपने प्राणो को संकटापन्न मानकर अतुल सम्पत्ति के साथ अपने राज्य के भीतर जगलो मे अपनी नयी राजधानी स्थापित की जिसका नाम था विल्काबम्बा और वही पर महलो के भीतर धनराशि रखकर उसे तिलिस्म के सहारे बन्द कर दिया। इन तिलिस्मो की कुञ्जी एक रस्सी और रंगीन गाठो मे है जिसके सकेत को आज भी कोई समझ नही रहा है। उसके पाने के अनेक खोजी साहसी व्यक्तियो ने अश्रान्त परिश्रम किया, परन्तु अभी सफलता उन्हें प्राप्त नहीं हुई। इस उद्योग की कहानी जो कल्पना से भी अधिक चमत्कारजनक है अभी अखबारो मे प्रकाशित हुई है।[१]

जिस तिलिस्म का उल्लेख यहाँ ऊपर किया गया है वह आसुरी माया का एक दृष्टान्त है। मय केवल प्रासादो के निर्माण मे ही अलौकिक दाक्ष्य नही रखते थे, परन्तु विलक्षण माया (या जादू) के भी वे अधीश्वर थे। ऊपर के

१. द्रष्टव्य 'धर्मयुग' नामक साप्ताहिक पत्र (२० सित०, १९६४ का अक पृष्ठ २५-२६, जहां बहुत से तथ्य एकत्र किये गये हैं)

वर्णन को पाताल के पौराणिक वर्णनो से मिलाने पर विलक्षण समता दृष्टिगोचर होती है। पुराण मे उल्लिखित पाताल के वैभव की एक फीकी रेखा इस वर्णन मे भी मिलती है। फलत आसुरी माया से सम्पन्न इन्का लोगो को तथा विशाल प्रासादो के निर्माता एव मय-सस्कृति के उपासक मेक्सिकन लोगो को पाताल लोक का अधिवासी मानने मे किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत नहीं होता।

मय असुर के विशाल प्रासादो के निर्माता होने की बात भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रसिद्ध है। युधिष्ठिर के राजप्रासाद की रचना मय मे ही की थी जिसके गच को देखने से भ्रम हो जाता था कि वह जल है या स्थल है। मेक्सिको मे मय लोगो के प्रासाद भी इसी नमूने के हैं। इसके विषय मे एक विशेषज्ञ की सम्मति यहा उद्धृत की जाती है जिससे मय लोगों की शिल्पकला की प्रक्रिया का परिचय मिल जायगा। भारतीय मय असुर के निर्माण तो केवल पुराणो मे वर्णन के विषय हैं, परन्तु मेक्सिको देश के मय लोगो के निर्माण आज भी विद्यमान हैं और अपनी अनुपम कला के द्वारा वे वर्तमान वैज्ञानिक युग के इन्जिनीयरो को भी आश्चर्य चकित कर रहे हैं।

पाताल लोक मे दैत्य, दानव तथा नाग लोगों का निवास है। सबसे निचले लोक—पाताल मे नाग लोक हैं जहां उसके अधिपति वासुकि, धृतराष्ट्र, धनञ्जय, शखचूड आदि महाभोग-सम्पन्न नागलोकाधिपति निवास करते हैं जिनके फणो के ऊपर चमकने वाली मणियो से उस लोक का अन्धकार सब

---

१. When one wanders through the great Maya Cities, One feels convinced that the Maya architects could not have accomplished such master pieces as the great-temples of Tokal or the charming temples of Sun, the Cross, and the foliated cross at Palenque, nor the house of the Governer and the nunnery at Uxmal, without first having laid out careful ground plans and having drawn up elevations and made sketches for the design They must have made estimates of the amount of stones with or without design to be ordred from the stone cutters and roughly calculated how many zapote-wood beams would be needed for their door ways

—Frans Blom

'हिन्दू अमेरिका' पृ० २१२ (तृतीय स०) पर उद्धृत।

विदूरित किया जाता है' (भाग० ५।२४।३१)। भागवत के इस कथन के साक्ष्य पर पाताल लोक म नागलोगो का निवास सवथा समर्थित तथा प्रमाण पुरःसर है। मेक्सिको तथा पेरु मे नाग लोगो का निवास था—यह वहा के इतिहास से समर्थित है। नागपूजा भी उस देश म प्रचलित थी। वोटन[1] नामक उस देश का प्रथम एतिहासिक जिसने उस जाति के उद्गम के विषय म एक ग्रन्थ लिखा है अपन को उस ग्रन्थ मे नाग बतलाता है तथा वहा के देशी निवासियो को नाग की सज्ञा देता है—पुराण का पूर्वोक्त वणन मध्य तथा दक्षिण अमेरिका म अक्षरश चरितार्थ होता है। इतना ही नही मेक्सिको के अन्तिम शासक जो अजटेक के नाम से पुकारे जाते ह नागदेवता के पूजक थे और बहुत सम्भव है कि यह शब्द आस्तीक स ही उद्भूत हुआ है। यह नाम उस ऋषि का है जिन्होंने अपन बुद्धि वैभव से जनमेजय के नाग यज्ञ मे सर्वाहुति होने स नागो को बचाया था[3]। नाग के उपासक अजटेक जाति का नामकरण नागो क उद्धारक तथा सरक्षक आस्तीक ऋषि क नाम पर पडा हो—यह कथमपि असम्भाव्य नही है।

मक्सिको—पेरु आदि अमेरिकन दशो का धनवैभव, सोने से जडा हुआ महल तथा सडकें इस बात का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है कि ये दश नितान्त समृद्ध तथा

---

१ Votan was the first historian of his people and wrote a book on the origin of the race, in which he declars himself a snake (Naga) a descendant of Imos, of the line of chan, of the race of chivim ' The interesting fact emrges that there was a snake people in America as there are Nāga people in India

२ Votan is Said to have returned to Paleque, where he found that several more of the natives had arrived There he recognised as Snakes (Nages) and showed them many favours

—Mackenyie myths of pre-columbian America P 265 *quoted in Hindu America P 13*

३ आस्तीक का चरित महाभारत के आस्तीक पव म वर्णित है जो आदि पव का एक अवान्तर पव १३ अध्याय से लेकर ५८ अ० तक फैला हुआ है। ये यायावर कुल के जरत्कारु ऋषि के पुत्र थे। नागराज वासुकि के भवन म इनका पालन हुआ और उसी के प्रत्युपकार म इन्होंने जनमजय द्वारा उत्पीडित नागो को बचाया था (आदिपव ५८ अ०)।

धन दौलत से भरे-पूरे थे। इन सब प्रमाणों को एकत्र करने से हम इस निःसंदिग्ध निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमेरिका, विशेषतः मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका, पुराणों में बहुशः वर्णित अतुल धन-सम्पत्ति शाली पाताल लोक से भिन्न नहीं है। दोनों के सादृश्य-प्रतिपादक अन्य प्रमाणों का भी अध्ययन तथा अनुशीलन अभी भी करने योग्य है।

पुराण साहित्य में चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का परिचय मिलता है जिसका एक संक्षिप्त ऊपर दिया गया है। भूलोक से लेकर सत्यलोक समग्र भूलोक और नीचे के अधोभुवन सप्त प्रकार पाताल आदि इसी के अन्तर्गत हैं। इसी ब्रह्माण्ड का ज्ञाता व्यक्ति शास्त्रों में **'पुराणविद्'** के नाम से प्रख्यात है। परन्तु आगमों से पता चलता है कि इससे भी विस्तृत तथा विशाल ब्रह्माण्डों की सत्ता विद्यमान है। तथ्य यह है कि केवल पृथ्वीतत्त्व के अन्तर्गत भुवनों की गणना पुराणों में है और इन भुवनों की समष्टि का नाम ब्रह्माण्ड की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। परन्तु तन्त्रों की दृष्टि में इस ब्रह्माण्ड के बाहर तथा इससे और भी विशाल अण्डों की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्माण्ड संख्या में असंख्य हैं, परन्तु इस ब्रह्माण्ड से भी बाहर ब्रह्माण्ड से भिन्न एक अण्ड है जो **प्रकृत्यण्ड** के नाम से प्रख्यात है। यह जल तत्त्व से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के तेइस (२३) तत्त्वों की समष्टि से बनता है। यह भी स्वयं असंख्य है। प्रकृत्यण्ड से भी ऊपर विद्यमान एक अन्य अण्ड है जो **मायाण्ड** के नाम से विख्यात है। पुरुष-नियति काल-राग-विद्या-कला तथा माया—इन सात तत्त्वों की समष्टि से निर्मित अण्ड को 'मायाण्ड' कहते हैं। एक एक मायाण्ड के भीतर असंख्य प्रकृत्यण्ड होते हैं। यह मायाण्ड पुरुष से लेकर पञ्चकञ्चुक और उनकी कारणरूपा माया से बना है। माया से बाहर ज्योतिर्मय शुद्ध सत्त्वात्मक अण्ड है जो **शाक्ताण्ड** के नाम से प्रख्यात है। यह विद्यातत्त्वों की समष्टि से बना है अर्थात् इस अण्ड के भीतर शुद्ध विद्या ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्वों की समष्टि विद्यमान रहती है। इन अण्डों के अधिष्ठाता पुरुषों की भी तन्त्रों में कल्पना है ब्रह्माण्ड (या पार्थिवाण्ड) के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता विष्णु हैं, मायाण्ड के अधिष्ठाता रुद्र हैं। यहाँ तक तो रहता है माया का राज्य। अब इसके आगे आरम्भ होती है शुद्धसत्त्वात्मक सृष्टि। और इसीलिए शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता हैं ईश्वर और सदाशिव। ईश्वर और सदाशिव तिरोधान और अनुग्रह शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर के ही दो कार्यानुरूप आधिकारिक नाम हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—इन पाँचों अधिकारी पुरुषों को तन्त्रों में 'पञ्च कारण' कहते हैं विश्व के समस्त व्यापारों में अपने विशिष्ट अधिकार के अनुसार इन्हीं का प्राधान्य रहता है।

अष्टम

दशम परिच्छेद

पौराणिक वंशवृत्त

अनुश्रुतिगम्य इतिहास की सत्यता

पुराणों मे अनुश्रुति के आधार पर इतिहास का वर्णन किया गया है। इस इतिहास की सत्यता की जाँच इतर प्रामाणिक शिलालेखो तथा मुद्राओ के द्वारा सिद्ध होती है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल आदि अनेक विद्वानो ने पौराणिक अनुश्रुति की पर्याप्त परीक्षा कर यह परिणाम निकाला है कि ये वास्तविक रूप से सत्य हैं। इधर डा० मिराशी ने इस सत्यता के कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत किया है[1]। उनके द्वारा पढे गये मुद्रालेखों से पुराणगत अनेक राजचरितों की सत्यता प्रमाणित होती है। वाकाटकों के विषय मे वायु तथा ब्रह्माण्ड मे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है जिसकी सत्यता ताम्रपत्रो से सिद्ध होती है। पुराण राजा विन्ध्यशक्ति के पुत्र का नाम 'प्रवीर' बतलाता है, जो प्रवरसेन प्रथम ही प्रतीत होता है। उसके द्वारा वाजपेय तथा अश्वमेध के अनुष्ठान का पौराणिक निर्देश वाकाटको के ताम्रपत्रो से प्रामाणिक सिद्ध होता है। उसके चार पुत्रों का पौराणिक उल्लेख भी सत्य ही प्रतीत होता है। यद्यपि उसके एक ही पुत्र (गौतमीपुत्र) होने की बात प्रचलित थी, परन्तु मुद्राओ के द्वारा उसके द्वितीय पुत्र सर्वसेन की सत्ता भी पौराणिक उल्लेख को सत्य सिद्ध कर रही है। बहुत सम्भव है कि उसके अन्य दो पुत्रों के विषय म ऐतिहासिक सामग्री भविष्य म उपलब्ध हो। आन्ध्रो क विषय में भी पौराणिक अनुश्रुति प्रामाणिक सिद्ध हो रही है। पुराणो मे पुत्रोमा वाशिष्ठीपुत्र नामक आन्ध्र राजा निर्दिष्ट है (पार्जिटर की सूची मे ३४ वा नाम)। वायुपुराण क एक हस्तलेख में इस राजा के पूर्व 'शातकर्णि' का उल्लेख मिलता है, जो अन्य पुराणो में न मिलने के कारण सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु कन्हेरी शिलालेख म इस राजा का 'शातकर्णि वाशिष्ठीपुत्र' नाम उल्लिखित हुआ है जो पुराण के साक्ष्य को प्रमाणित करता है। इसकी रानी महाक्षत्रप रुद्रदामन् की पुत्री थी। इस घटना स पुराण का कथन सत्य सिद्ध होता है। आन्ध्रो क उत्तराधिकारियों में 'मान' नामक शक राजा का उल्लेख पुराणों में

---

१ द्रष्टव्य मिराशी का लेख पुराणम् (काशिराज निधिद्वारा प्रकाशित, रामनगर, वाराणसी) भाग १ सख्या १, पृष्ठ ३१–३८।

मिलता है। इस तथ्य की पुष्टि इसी राजा की मुद्रा से अ ो हुइ है जो हैदराबाद के दक्षिण से प्राप्त हुई है। यह महिष्य देश का शासक था जो दक्षिणभारत का एक छोटा प्रान्त विशेष था। शिशुनाग न द शुग कण्व आन्ध्र तथा आ भ्र भृत्य मित्र नागवशी राजाओ की समग्र ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि पुराणो की देन है। यह विषय इतना विख्यात है कि आज इसे पुष्ट तथा प्रमाणित करने के निमित्त उदाहरण देने की आवश्यकता नहा है[1]।

पुराणो की अनुश्रुति मे सम्भव है कही कही गडबडी हो तथा घटनायें आपस मे मिश्रित कर दी गई हो, परन्तु सूतो न राजाओ की वशावली को बडी सावधानी से सुरक्षित रखा है। इन वशावलियो मे एक नाम वाले अनक राजा हुए हैं। इन नामो म अशुद्धि की सम्भावना को दूर करन क लिए पुराणो मे ऐसे नामा का स्पष्ट सकेत कर दिया गया है। यथा नल नामक दो राजा हुए—एक तो थे नैषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र तथा दूसरे थ इक्ष्वाकु वश मे उत्पन्न। मरुत्त नामक दो राजा हुए—कर धम के पुत्र तथा दूसरे अविक्षित् के पुत्र जो प्राचीन काल मे एक महान् नरेश गिने जाते थे ओर जिनके महाभिषेक का वणन ऐतरेय ब्राह्मण का अष्टम पचिका मे किया गया है। इसी प्रकार ऋक्ष परीक्षित तथा जनमेजय दो दो हुए तथा भीमसन तीन हुए[2]।

इतनी सचाइ से किया गया यह उल्लेख लेखक क ऐतिहासिक यथाथ ज्ञान का पूण परिचय कराता है।

---

१ द्रष्टव्य पार्जीटर का बहुमूल्य ग्रन्थ—एन्शेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) लडन १९२२, । इसकी पुष्टि म जयचन्द विद्यालकार ने दो नई युक्तियाँ दी हैं जिनके लिये दखिये उनका ग्रन्थ भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिल्द १, पृष्ठ २३७–२३९ प्रथम स० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १९३३।

२ नलौ द्वाविति विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वह ॥
—वायु ८३।१७४–७५ ब्रह्माण्ड ३।६३।१७४ लिंग ६६।२४ २५
करन्धमस्तु त्रैवानोमरुत्तस्तस्य चात्मज
अन्यस्त्वाविक्षितो राजा मरुत्त कथित पुरा ॥
—वायु ९९।२, मत्स्य ४८।२, ब्रह्म १३।१४३; ब्रह्माण्ड ३।७४।२
द्वावृक्षौ सोमवंशेऽस्मिन् द्वावेव च परीक्षितौ
भीमसेनास्त्रयो विप्रा द्वौ चापि जनमेजयौ ॥
—ब्रह्म १३।११२ ३, हरिवंश १।३२।४–५

पार्जीटर ने इस अनुश्रुति के प्रामाण्य की सिद्धि में अनेक प्रमाण तथा युक्तियाँ दी है जो प्राय प्रसिद्ध होने मे यहाँ दुहराई नही जाती। आज पौराणिक अनुश्रुति की सत्यता पर कोई अविश्वास नहीं करता। तथ्य तो यह है कि पौराणिक अनुश्रुति इतनी तथ्यपूर्ण है कि यदि शिलालेखों, ताम्रपत्रों अथवा मुद्राओ के आधार पर अब तक उसकी पुष्टि नहीं हुई तो यह असम्भव नहीं है कि भविष्य की खोजो से उसकी पुष्टि न हो सके। इतना अवश्य है कि वह अनुश्रुति अधिक साक्ष्य के ऊपर आधारित होनी चाहिए।

पार्जीटर इस विषय के उन्नायक नेता हैं जिनके महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ—एन्श्येंट इडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) ने पुराणों के अन्तरग ऐतिहासिक महत्त्व को विद्वानो के सामने प्रमाणभूत तथा यथार्थ सिद्ध किया। परन्तु उनके अनेक सिद्धान्त सिद्धान्ताभास न होकर वस्तुत अपसिद्धान्त ही हैं। ऐसा ही एक अपसिद्धान्त है—प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति का ब्राह्मण तथा क्षत्रिय श्रेणी मे विभाजन, क्षत्रिय अनुश्रुति की यथार्थता तथा ब्राह्मणों मे ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव आदि[१]। पार्जीटर ने ब्राह्मणों को खूब कोसा है अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में। ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव होना उनका कोई अपराध नही हैं, परन्तु पार्जीटर ने यह विशिष्ट दोषारोपण किया है कि ब्राह्मणो ने जानबूझ कर प्राचीन इतिहास को अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए विकृत किया है, तो यह धोखा देना ब्राह्मणो का महान् अपराध सिद्ध होता है, यदि यह सच्चा प्रमाणित हो जाय। तथ्य तो यह है कि अग्रेज शासकों का ब्राह्मणवर्ग पर धोखा देने का अपराध लगाना स्वय स्वार्थ की पराकाष्ठा है। भारतीय विद्वान् भी ब्राह्मणो के महत्त्व को ठीक ठीक नहीं आँकने या नही आँक सकते—यही तो समस्या को गम्भीर बनाता है।

ब्राह्मण का महत्त्व

वर्णव्यवस्था मे सर्वोच्च स्थान ब्राह्मण का है। ब्राह्मण का अस्तित्व ही हिन्दूसमाज का अस्तित्व है और इसके नाश से इस समाज का भी नाश अनिवार्य है। 'महाभारत' मे 'युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुम' इत्यादि कहकर अन्त मे 'मूल कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च' कहा गया है। क्यो ब्राह्मण को मूल कहा गया? ब्राह्मण का महत्त्व क्या है? इसे यथार्थ रूप से समझना चाहिये।

---

१ इस दोषारोपण का थोडा उत्तर जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने तथा काणे महोदय ने अपने ग्रन्थों मे दिया है। द्रष्टव्य भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रथम जिल्द, पृष्ठ २४०–२४७ तथा हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र पचम जिल्द, भाग २ पृष्ठ ८४५–८४९। पूना १९६२।

भारतीय समाज म ब्राह्मण की मुख्यता औपचारिक नहीं प्रत्युत वास्तविक है। ऋग्वद के उस सुप्रसिद्ध मन्त्र मे चतुर्वर्गो के उद्गम का वणन सर्वप्रथम किया गया मिलता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' अर्थात् उस विराट् पुरुष का ब्राह्मण मुख था। इस वाक्य के अनुशीलन से हम ब्राह्मण के स्वरूप तथा शक्ति का सकेत पा सकते हैं। शरीर म मुख की महत्ता नि सन्देह सिद्ध है। इसी प्रकार इस समाज-व्यवस्था म ब्राह्मण की महत्ता सर्वातिशायिनी है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अथवा मुखरूप होन के हेतु ब्राह्मण की मुख्यता वास्तविक है। ब्राह्मण इस समाज का मस्तिष्क है। सोचने का, विचारन का, विषम स्थिति को सुलझाने का तथा प्रगति के लिए अग्रसर होने के निमित्त उपदेश दने का काम ब्राह्मण के लिए स्वाभाविक है। ब्राह्मण के 'स्वकर्म या स्वधर्म का वर्णन स्मृति में बडे सक्षेप मे इस सुन्दर पद्य म किया गया है—

"अध्यापनं अध्ययनं यजन याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥"

अध्ययन तथा अध्यापन, यज्ञ करना तथा कराना (यजन तथा याजन), दान दना तथा दूसरो से दान लना (प्रतिग्रह)—ये ब्राह्मण के षट कर्म स्वभावज कर्म बतलाये गये हैं। इस श्लोक पर ध्यान देने से ब्राह्मण के स्वरूप का भलीभाँति परिचय मिल सकता है। समाज के नेतृत्व का भार ब्राह्मणो के ऊपर जन्मजात है। शिक्षित व्यक्ति ही समाज का नेता बन सकता है। अतएव स्वय वेदशास्त्रो का अध्ययन कर जनता मे उनके सिद्धान्तो का अध्यापन तथा प्रचारण करना ब्राह्मण का मुख्य कर्म माना जाता है। अध्ययन तथा अध्यापन के बीच की दो आवश्यक श्रेणियां होती है—बोध तथा आचरण। अध्ययन करने के अनन्तर उसके सिद्धान्तो का बोध (ज्ञान) करना नितान्त आवश्यक होता है। तदनन्तर उस तथ्य का आचरण अपने जीवन मे करना पडता है अर्थात् जिन सिद्धान्तों का अध्ययन के द्वारा सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है तथा मनन के द्वारा जिनका विशिष्ट ज्ञान (बोध) उपलब्ध होता है उन सिद्धान्तो को अपने जीवन मे उतारने की भी बडी आवश्यकता होती है और तभी उनका प्रचारण भी भलीभाँति उचित रीति से किया जा सकता है। ब्राह्मण के लिए अधीति (अध्ययन), बोध, आचरण तथा प्रचारण इन चारो वस्तुओ की आवश्यकता होती है और प्रत्येक विद्या को इन चारो प्रकारो के द्वारा अभ्यास करने के बाद ही ब्राह्मण सच्चा अध्यापक बनता था तथा देश एव राष्ट्र की उन्नति मे अपना जीवन खपा डालता था।

ब्राह्मण अपने 'ब्रह्मकोष' की गुप्ति (रक्षा) के निमित्त सर्वदा जागरूक रहा। वह जिस किसी को अपनी विद्या देने या अध्यापन करने से सदा पराङ्-

मूल था। अधिकारी को ही विद्या का दान देना उसका व्रत था। ब्राह्मण अपनी विद्या को एक बहुमूल्य धरोहर के रूप में समझता था और इसलिए उसकी अक्षुण्णता बनाये रखने के साथ ही साथ वह उसकी पवित्रता पर भी विशेष आग्रह करता था। अनभिज्ञ आलोचकों की यह आलोचना है कि 'ब्राह्मण विद्या के वितरण में सदा कृपणता का व्यवहार करता था,' परन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न ही है। ब्राह्मण कभी नहीं चाहता था कि उसकी विद्या किसी अपात्र के हाथ में चली जाय और इसीलिए वह पात्रापात्र पर, उचित व्यक्ति तथा अनुचित व्यक्ति के गुण तथा अगुण पर कड़ी दृष्टि रखता था। जब शिष्य परीक्षा के द्वारा सुपात्र सिद्ध हो जाता था, तभी उसे विद्या दी जाती थी। इस घटना से ब्राह्मण के कार्पण्य का परिचय नहीं मिलता, प्रत्युत विद्या की धारा को पवित्र तथा विशुद्ध बनाये रखने की उसकी तीव्र कामना का ही सङ्केत मिलता है। शास्त्रों के अध्यापन के अवसर पर भले ही यह निश्चय कुछ शिथिल दीखता हो, परन्तु वेदों के अध्यापन के समय तो इस नियम का निर्वाह बड़ी कड़ाई के साथ किया जाता था। शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार न होने का कारण इसी व्यापक नियम के भीतर छिपा हुआ है। इसका ऐतिहासिक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। वारेन हेस्टिंग्स के समय में बड़े न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने ब्राह्मण संस्कृतज्ञ से संस्कृत पढ़ने के लिए बड़ा ही उद्योग किया, आकाश पाताल एक कर डाला, परन्तु कोई भी ऐसा ब्राह्मण नहीं निकला, जो अपनी निधि को एक गोमांसाशी विधर्मी को देने के लिए तैयार होता। अन्ततोगत्वा एक कायस्थ बङ्गाली संस्कृतज्ञ ने जोन्स साहब को संस्कृत का अध्यापन कराया, परन्तु वह भी बड़े नियमों के साथ। हम पिछले इतिहास से जानते हैं कि अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ाने का क्या फल हुआ और इन विधर्मियों ने संस्कृत के ज्ञान का कितना उपयोग किया। उसे इन्होंने अपने ईसाई धर्म के प्रचार का मुख्य साधन बनाया और देश का घोर अमङ्गल किया। ऐसी परिस्थिति में विद्यादान के विषय में ब्राह्मण का सर्वथा जागरूक रहना क्या उसकी तीव्र कामना का प्रतिफल नहीं है?

सच्ची बात तो यह है कि अध्यापन तथा प्रचारण के लिए त्याग तथा तपस्या की विशेष आवश्यकता होती है और इसलिए ब्राह्मण त्याग तथा तपस्या का प्रतीक था। शरीर के क्लेशों पर तनिक भी ध्यान न देकर घनघोर उग्र तपस्या का आदर्श ब्राह्मण के लिए सर्वदा जागरूक था। इसलिए 'भागवत' का स्पष्ट उपदेश है—

> "ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
> कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥"

ब्राह्मण का शरीर ससारके भोग विलास जैसे क्षुद्र काम के लिए नही बनाया गया है। उसके सामने दो ही आदर्श होते हैं—(१) कठिन व्रतो तथा तपस्या का आचरण तथा (२) मर जाने पर *अनन्त सुख—मोक्ष—की प्राप्ति। इस छोटे* से पद्य मे भागवतकार ने ब्राह्मण के जीवन के आदर्श को बडे ही सक्षेप मे बतलाया है। तपस्या त्याग के बिना कभी भी सिद्धिदायिनी नही हो सकती। फलत त्याग तथा तपस्या के आचरण से ब्राह्मण मे वह ब्रह्मवर्चस उत्पन्न होता था जिसके सामने प्रबलप्रतापी दुर्दान्त राजन्यो के भी मस्तक स्वयमेव नत *हो जाते थे। ब्राह्मण के त्याग की अद्भुत कहानियां इतिहास के पृष्ठो* को आज भी सुशोभित करती हैं। कालिदास के समय मे वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अपनी जिस त्यागवृत्ति का परिचय दिया था उसे इस महाकवि ने 'रघुवश' के पंचम सर्ग मे अपनी प्रतिभा के बल पर उज्ज्वल रूप प्रदान किया है। इसी त्याग तपस्या की उपासना से ब्राह्मण जगत् के वैषयिक सुखो पर लात *मारकर, स्वय भिक्षुक बनकर जीवनयापन करना उचित समझता था तथा* राजन्यो को सिंहासन पर बैठाकर स्वय उनका मन्त्री बनना ही राष्ट्रहित के लिए श्रेयस्कर समझता था।

साधारणतया आजकल यही समझा जा रहा है कि 'ब्राह्मण राष्ट्र का अध्यात्मोपदेशक ही होता था, ब्राह्मण का जीवन अध्यात्म के चिन्तन मे ही व्यतीत *होता था तथा इहलोक की अपेक्षा उसे परलोक की ही अधिक चिन्ता होती थी।'* परन्तु सच्ची बात इसके विपरीत है। ब्राह्मण सचमुच राष्ट्र का, भारतीय राष्ट्र का उन्नायक तथा नेता होता था और वह राष्ट्र का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक नेता होने के अतिरिक्त व्यावहारिक विषयो का भी उपदेष्टा होता था। ब्राह्मण राजा का पुरोहित होता था और यह 'पुरोहित' पद उसके अध्यात्म-चिन्तन का परिणाम न होकर उसके व्यवहारकौशल का प्रतीक होता था। मनु की कल्पना के अनुसार क्षात्रतेज से समन्वित ब्राह्मतेज का सयोग पवन तथा अग्नि के समागम के समान ही कल्याणकारी तथा राष्ट्रमङ्गल का साधक होता है। कालिदास ने ठीक ही कहा है—

"पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा।"

इस कथन का साक्ष्य भारतीय इतिहास भलीभाँति दे रहा है। राष्ट्र के ऊपर विपत्ति आने पर ब्राह्मण अपनी व्यवहारकुशलता तथा राजनीतिपटुता के कारण देश का हितसाधन करता था तथा अपने उपदेशों के अनुसार वह एक महनीय राजविभूति के उद्गम में समर्थ होता था। भारतीय राष्ट्र को विधर्मी शत्रुओं से बचाने का समग्र श्रेय ब्राह्मणों को ही देना न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। भारत की मृत्युञ्जय संस्कृति के ऊपर कितने बड़े ही भयङ्कर आघात आये थे

और इन सभी अवसरों पर इसके संरक्षण कर्ता ब्राह्मण के ही प्रबल प्रयत्न से भारतीय राष्ट्र छिन्न भिन्न होने से, विदेशियों के द्वारा पददलित होने से, बाल-बाल बच गया। इतिहास इसका स्पष्ट साक्षी है।

सब से प्रथम प्रबल आघात पहुँचा था हमारे देश को सिकन्दर के द्वारा विक्रमपूर्व तृतीय शतक में। विद्वानों से छिपा नहीं है कि सिकन्दर पारसीक संस्कृति के समान भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करना चाहता था तथा यवन-संस्कृति को विश्व की संस्कृति बनाना चाहता था। परन्तु एक निर्धन ब्राह्मण ने उससे टक्कर लिया और उस महापुरुष का नाम था कौटिल्य, चाणक्य। उस ऋषिस्वरूप ब्राह्मण ने चन्द्रगुप्त के समान तेजस्वी शासक का निर्माण किया और महाबलशाली सिकन्दर अपना बोरिया-बँधना लेकर सिन्धु के तीर पर आसू बहाकर अपने देश लौट गया। दूसरा आघात हुआ प्रातःस्मरणीय गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक महाराज विक्रमादित्य के समय में। महाप्रतापी रणबाँकुरे शकों ने आर्यावर्त को आत्मसात् करने की ठानकर भारतभूमि की स्वतन्त्रता पर आक्रमण कर दिया था, परन्तु उस समय भी एक ब्राह्मण ने जनता की नस-नस में आग फूँककर वीर विक्रम के नाम में कलङ्क लगने नहीं दिया। उसका नाम था कालिदास। इस महाकवि ने अपनी दिव्य लेखनी के बल पर उस आदर्श का चित्रण किया, विक्रम में वह उत्साह फूँका कि शकों की एक भी न चली। वे अपने स्वप्नराज्य से सदा के लिए बहिष्कृत कर दिये गये। तीसरा आघात हुआ था मुसलमानों के द्वारा। उस समय भी एक सन्यासी ने इस भारतभूमि की रक्षा की थी। उस प्रातर्वन्दनीय परमत्यागी समर्थ स्वामी रामदास को कौन नहीं जानता? उस महान् आत्मा ने अपने उपदेशों से छत्रपति शिवाजी जैसे सच्चे प्रतापी वीर का निर्माण किया। क्षत्रियवंशावतंस छत्रपति ने फिर एक बार उस हत्यारी शक्ति को नाकों चने चबवाये। सचमुच ब्राह्मण राष्ट्र का सच्चा नेता होता था।

राज्यसञ्चालक होने पर भी ब्राह्मण में न गर्व का लेश था, न ऐश्वर्य से प्रेम। ब्राह्मण अमात्यों के निवास स्थान के कभी-कभी रोचक चित्र हम संस्कृत के नाटकों में उपलब्ध हो जाते हैं। आर्य चाणक्य के नाम से उस युग के राजा-महाराजा थर्रा उठते थे। वे ही चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर आरूढ़ करनेवाले साहसी पुरुष थे, परन्तु उनकी विभूति की बात क्या कही जाय? 'मुद्राराक्षस' में उनके निवास का रोचक वर्णन पढ़कर किस आलोचक का हृदय चाणक्य के प्रति श्रद्धा तथा आदर से भर नहीं जायगा? उनकी कुटिया के आँगन में छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े रखे गये थे, जिनसे गोमय को तोड़-तोड़कर छोटे-छोटे खण्ड बनाये जाते थे। कुटिया पर सूखने वाली समिधाओं के द्वारा छत झुक गयी थी।

दीवारें बिल्कुल जजर हो गयी थी। छात्रो के द्वारा लाय गये मुना का व्यूह रखा हुआ था जिसका उपयोग यज्ञ के अवसर पर होता था। कहां तो महामन्त्री चाणक्य का वह प्रभाव कि जिसके डर से सम्राट चन्द्रगुप्त थर्राता था और कहां उनका दीन हीन निवासस्थान !!! क्या आजकल के मन्त्रीलोग इस वर्णन से कुछ भी शिक्षा ग्रहण करने की कृपा करेंगे? दीन जनता के प्रतिनिधि होकर भी वे अपना भोगमय जीवन आलीशान महलो मे बिताते है। भला वे निधन प्रजा के दुखो के प्रति कभी भी चिन्ता करते होगे? महाभारत मे तो सभा के सभ्यो के लिए विशेषरूप से कहा गया है भारत कृषिप्रधान राष्ट है। अत व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वय अपन हाथो कृषि नही करता खेत नही जोतता उसे नेता बनकर राष्ट की समिति (आजकल की लोकसभा तथा विधानपरिषद्) म जाने का तनिक भी अधिकार नही है—

'न न स समितिं गच्छेत् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्"

—(उद्योग० ३६।३१)

महाभारत का यह कथन यथाथ ही है। किसानो का नता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ कुर्सीतोड बकबादी नेता भला किसानो का कोई मङ्गल क्या कर सकता है? ब्राह्मण मन्त्री साधारण जनता के समान ही अपने को समझता था। वह दीन हीन दशा मे अपना जीवन बिताया करता था अर्थात् दीन जनता के साथ सम्पर्क से वह कभी विरहित नही होता था। यह था ब्राह्मण अमात्यो का राजनैतिक महत्व। मुद्राराक्षस के रचयिता विशाख दत्त द्वारा चाणक्य का चित्रण करने वाला पद्य यही है —

"उपलशकलमेतद् भेदक गोमयाना
बटुभिरुपहृताना बर्हिषा स्तोम एष।
शरणमपि समिद्भि शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।"

—(मुद्राराक्षस ३।१५)।

ब्राह्मण राष्ट्र का प्रतीक माना जाता था। अतएव जो वस्तु ब्राह्मण के लाभ की मानी जाती थी वह पूरे राष्ट की कल्याणसाधिका होती थी। जो वस्तु ब्राह्मण के हित म अनिष्टकारक होती थी उससे जनता घृणा करती थी और उस दूर फेंकन म लिए तैयार रहती थी। ब्राह्मण का अपमान पूरे राष्ट का अपमान माना जाता था और ब्राह्मण का सम्मान पूरे राष्ट का सम्मान था। ब्राह्मण क इस राजनैतिक महत्त्व का परिचय अब्रह्मण्यम् शब्द भलीभाति आज भी द रहा है। ब्रह्मणे हितम् ब्रह्मण्यम्। न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम् अर्थात्

ब्राह्मण के लिए अनिष्टकारक पदार्थ। राजा का कोई भी कार्य यदि ब्राह्मणों के लिए हितकारक नहीं होता, तो प्रजा 'अब्रह्मण्यम्' का उद्‌घोष करती, जो राष्ट्र के महान् अनर्थ का प्रतीक माना जाता था और जिसे सुनकर राजा काँप उठता था। तथ्य यह है कि ब्राह्मण केवल अग्रजन्मा ही नहीं होता है, प्रत्युत वह राष्ट्र के परममङ्गलविधान का सम्पादक भी होता है। वह राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधित्व करता था और इस घटना से हम उसके महत्त्व को भलीभाँति आँक सकते हैं।

ब्राह्मण भारतीय राष्ट्र तथा संस्कृति के श्लाघनीय प्रसारक थे। बृहत्तर भारत में जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन, बाली आदि द्वीपसमूहों में भारतीय संस्कृति का प्रसार इस बात का साक्षात् पोषक है कि ब्राह्मण कूपमण्डूक न होकर देशभक्ति की उच्च भावना से प्रेरित होने वाले श्लाघनीय प्राणी थे। ब्राह्मणों ने भारत के बाहरी देशों में भारतीय संस्कृति का, भारतीय धर्म तथा दर्शन का, भारतीय आचार विचार का, प्रचुर प्रसार किया। सच तो यह है कि ब्राह्मण के इस अध्यवसाय के अभाव में ये पूर्वोक्त देश आज भी असभ्य, अशिष्ट तथा बर्बर बने रहते। इन देशों में जो राज्य पनपे तथा समृद्ध बने, उनकी मूल स्थापना में ब्राह्मणों का ही हाथ है। चम्पा राज्य की स्थापना का श्रेय 'कौण्डन्य' नामक ब्राह्मण को दिया जाता है। रामायण, महाभारत जैसे साहित्यग्रन्थों को उन देशों की भाषाओं में उन्हीं ने प्रचार किया। मनु की स्मृति के उदार नियमों का प्रसार वहाँ इन्हीं के प्रयास का सुन्दर परिणाम है।

एक बात और ध्यान देने की है कि ब्राह्मणों का संस्कृत भाषा के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध रहा है। राष्ट्र के अध्यापक होने के नाते संस्कृत भाषा तथा साहित्य की समृद्धि की ओर इनका ध्यान आरम्भ से ही रहा है। ब्राह्मणों ने सूखे चने चबाये, प्राणों को सङ्कट में डाला, परन्तु देवभाषा के उज्ज्वल रत्नों को विस्मृति के गर्त से सदा बचाया। हम उस युग की बातें नहीं करते, जब हिन्दू राजाओं की छत्रछाया उनके ऊपर कल्पतरु के समान विराजमान थी। भारतवर्ष के मध्ययुग का इतिहास साक्ष्य दे रहा है कि ब्राह्मणों के सत्प्रयत्नों, अध्यवसायों तथा प्रयासों के फलस्वरूप ही संस्कृत साहित्य के रत्न आज भी उपलब्ध हो रहे हैं। ब्राह्मण का यह औदार्य उसका स्वाभाविक गुण ही है। जहाँ भी ब्राह्मण है, उसमें यह गुण प्रचुरमात्रा में पाया जाता है। बाली द्वीप में आज भी ब्राह्मण पण्डित मिलते हैं, जो वहाँ 'पदण्ड' के नाम से विख्यात हैं। पदण्ड लोग संस्कृत भाषा का एक अक्षर भी नहीं जानते, परन्तु उनके मुख में आज भी सैकड़ों स्तोत्र तथा श्लोक विराजमान हैं, जिनका उपयोग वे कर्मकाण्ड कराने के अवसर पर करते हैं। पदण्ड लोग इन स्तोत्रों का एक अक्षर भी नहीं

समझते पर उन्होंने बड़े प्रेम तथा लगन के साथ इस विशाल साहित्य को अभी तक अपने प्रयासों से जीवित बना रखा है। भारत के बाहर वाले इन ब्राह्मणों के उत्साह धर्मप्रेम तथा साहित्यानुराग की प्रशंसा किन शब्दों म की जा सकती है? भारत म आज भी वेदों को जीवित तथा अक्षुण्णतया पवित्र बनाये रखने का श्रेय ब्राह्मणों को ही है।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्र को प्रतिष्ठित बनाने मे समाज को सुव्यवस्थित बनाने म तथा भारतीय संस्कृति का विदेशों मे प्रचार करने म ब्राह्मणों का महत्वपूर्ण काय रहा है। ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मण अपने किये गये अपराधों के दण्ड को स्वीकार करने मे कभी भी पश्चात्पद नहीं होता था। धर्मशास्त्र के लेखकों ने दण्डविधान का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। समाज के नेता होने के नाते ब्राह्मण को कतिपय सुविधायें भले ही प्राप्त हों, परन्तु दण्डविधान के नियम उसके लिए भी उसी प्रकार अकाट्य तथा अनिवार्य थे, जिस प्रकार अन्य वर्णों के लिए। ब्राह्मण इन दण्डों को सहर्ष स्वीकार करता था। शङ्ख तथा लिखित का आख्यान इसका स्पष्ट परिचायक है। शङ्ख ने अपने भाई लिखित के आश्रम म पके बेरों को बिना उनकी आज्ञा के ही तोड़कर अपनी भूख बुझायी। स्पष्टत यह काम चोरी का था। राजा से उन्होंने अपना अपराध स्वीकार किया तथा दण्डविधान की प्रार्थना की। राजा ने कांपते हुए स्वर म कहा — महर्षे! आप की ही स्मृति के अनुसार तो हम प्रजाओं का दण्डविधान करते हैं, अतः आप के लिए दण्डविधान क्या? महर्षि ने कहा— 'मेरे नियमों के अनुसार मुझे दण्ड दीजिये। आपत्काल म जानबूझ कर मुझे यह जघन्य कार्य करना पड़ा है। अपराध तो अपराध ही है, चाहे वह एक सामान्य जन का हो या किसी मान्य महर्षि का। राजा ने महर्षि का उचित दण्ड विधान कर दिया। चोरी करनेवाला हाथ काट डाला गया। उसी समय बाहुदा नदी में स्नान करते हुए महर्षि का कटा हुआ हाथ फिर जम आया'[1]। ब्राह्मण दण्डविधान से कभी पराङ्मुख नहीं होता था।

इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मे तथा सन्तुलित प्रतिष्ठा म राष्ट्र के जागरूक नेता के नाते तथा भारतीय संस्कृति के संरक्षक तथा प्रसारक की दृष्टि म ब्राह्मण का महत्व सर्वथा अक्षुण्ण रहा है।

वंश

पुराणों म जिन वंशों का वर्णन है उन सब का प्रारम्भ मनु से होता है। मनु की सन्तति होने से ही सब मनुष्य 'मानव' की संज्ञा से पुकारे जाते हैं। यों तो मनुओं की संख्या चौदह है (जिनका विवरण मन्वन्तर के प्रसंग मे

[1] द्रष्टव्य शान्ति पर्व अ० २३

पूर्व ही किया गया है), परन्तु वंश के प्रतिष्ठापक की दृष्टि से दो मनु विशेष महत्त्वशाली हैं—(१) स्वायम्भुव मनु (प्रथम मनु) तथा (२) वैवस्वत मनु (सप्तम तथा इस समय प्रचलित मनु)। स्वायम्भुव मनु ब्रह्मा के प्रथम पुत्र तथा पृथ्वी के प्रथम सम्राट् थे। मनुकी पत्नी शतरूपा थी, जिनसे उनके **उत्तानपाद** तथा **प्रियव्रत** नामक दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नामक तीन कन्यायें हुईं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को समस्त पृथ्वीमण्डल का शासन सौंप दिया। उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थी सुनीति तथा सुरुचि; जिनमें सुनीति के पुत्र थे ध्रुव तथा सुरुचि के पुत्र थे उत्तम। इन दोनों का शासनकाल कुछ ही दिनों तक था। प्रियव्रत की दो पत्नियाँ थीं—(१) प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती; (२) अज्ञातनामा पत्नी। भागवत के अनुसार बर्हिष्मती से १० पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम हैं–आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेतस्, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। प्रियव्रत ने रात्रि को भी दिन में परिणत करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय रथ पर बैठकर सूर्य के पीछे पीछे पृथ्वी की सात परिक्रमा की। उनके रथ के पहियों से जो लीकें पृथ्वी पर बनीं वे ही सात समुद्र के रूप में परिणत हुई और उनसे पृथ्वी में सात द्वीप हुए—(१) जम्बू, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५) क्रौञ्च, (६) शाक तथा (७) पुष्कर। इन्हीं सात द्वीपों के अधिपति प्रियव्रत के सातों पुत्र हुये (तीन पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे)। इस प्रकार मनु के इन पौत्रों ने समग्र पृथ्वी-मण्डल पर अपना राज्य स्थापित किया तथा उन द्वीपों पर विधिवत् शासन किया। प्रियव्रत की दूसरी रानी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए—उत्तम, तामस तथा रैवत और ये तीनों ही तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम मन्वन्तरों के क्रमशः अधिपति हुए।[1] मनु की तीनों कन्याओं से प्रजा का विशेष विस्तार सम्पन्न हुआ।

इस वंश का आविर्भाव बहुत ही प्राचीन काल में हुआ। इसमें अनेक यशशाली तथा कीर्तिसम्पन्न शासक हुए जिनकी गाथा आज भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे शासकों में प्रियव्रत, ऋषभ, नाभि, भरत (जिनके नाम पर पूर्व में 'अजनाभ' नाम से विश्रुत यह वर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ) ध्रुव, भद्राश्व, पृथु आदि शासकों का नाम नितान्त प्रख्यात तथा महत्त्व-सम्पन्न है।

वैवस्वत मनु के वंशजों का विवरण पौराणिक इतिहास का मेरुदण्ड है। आज प्रचलित मन्वन्तर के ये ही अधिपति हैं। मनु सूर्यवंश के प्रथम राजा थे। इन्हीं से चन्द्रवंश तथा सौद्युम्न वंश भी चला। मनु के नव[1] पुत्र थे तथा

---

१. मनु के इन पुत्रों के नाम पुराणों में विभिन्न रूप से भी मिलते हैं। भागवत (८।१३।१-२) ने मनुपुत्रों की संख्या दस बतलाई है। विष्णु

एक कन्या थी। इन पुत्रो के नाम हैं—(१) इक्ष्वाकु (२) नाभाग, (३) नृग, (४) धृष्ट, (५) शर्याति, (६) नरिष्यन्त, (७) प्रांशु, (८) नाभानेदिष्ट, (९) करूष, तथा (१०) पृषध्र। इन पुत्रो ने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे जाकर अपना शासन स्थापित किया।

(१) इनमे से ज्येष्ठ पुत्र **इक्ष्वाकु** मनु के उत्तराधिकारी होकर मध्यदेश के शासक हुए जिनसे प्रमुख सूर्यवश चला। राजधानी उनकी अयोध्या नगरी थी जो इस प्रकार आरम्भ से भारतीय सस्कृति तथा विद्या की केन्द्रस्थली थी।

(२) मनु के पुत्र **नाभानेदिष्ट** (संख्या ८) ने वैशाली (बसाढ, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) मे एक वंश की स्थापना की।

(३) मनु के पुत्र **कारूष** (संख्या ९) ने बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवा राज्य के पूर्व सोन नद के तट पर एक राज्य स्थापित किया जो रामायण-काल मे बिहार के शाहाबाद जिले को भी समाविष्ट करता था।

(४) मनु के पुत्र **धृष्ट** (संख्या ४) के वशजो ने पूरबी पजाब पर अपना अधिकार किया।

(५) मनु के पुत्र **नाभाग** (सख्या २) ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर एक राज्य की स्थापना की।

(६) मनुपुत्र **शर्याति** (सख्या ५) ने आनर्त दश (उत्तर सौराष्ट्र) मे अपना राज्य स्थापित किया। इन्होने अपनी पुत्री सुकन्या को च्यवन ऋषि से ब्याही थी जिन्होने अश्विनो की कृपा से एक विशिष्ट रसायन का (जो इन्ही के नाम पर पीछे 'च्यवनप्राश' के नाम से प्रख्यात हुआ) सेवन कर वार्धक्य से यौवन प्राप्त किया था।

(७) मनुपुत्र **नरिष्यन्त** (सख्या ६) के वशज भारतवर्ष के बाहर मध्य-एशिया तक चले गये और 'शक' नाम से प्रख्यात हुए।

(८) मनुपुत्र **पृषध्र** (सख्या ९) अपने गुरु च्यवन की गाय मारने के कारण शूद्र हो गये और उनसे कोई राजवंश नही चला। मनुपुत्र **प्रांशु** (सख्या ७) के विषय मे कुछ विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता।

मनुपुत्री इला का पौराणिक वृत्त बड़ा विलक्षण है। इस इला का विवाह सोम (चन्द्र) के पुत्र बुध से हुआ था। इससे **पुरुरवा** नामक पुत्र उत्पन्न हुआ

(३।१।३३-३४) ने भागवत मे पृथगूरूप से निर्दिष्ट नाभाग तथा दिष्ट को एक ही व्यक्ति (नाभागोदिष्ट) मानकर नव की सख्या अक्षुण्ण रखी है। इन नामों को मिलाइए भाग० (९।१।१२); ब्रह्माण्ड० (२।३८।३०-३२), वायु (६४।२९ तथा ८५।४)

जो इला से उत्पन्न होने के कारण 'ऐल' कहलाया तथा सोम से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रवंश का प्रवर्तक हुआ। पुराण की कथा है कि शिवजी के प्रसाद से इला पुनः पुरुष हो गई जिसका नाम पड़ा सुद्युम्न। मूल राजधानी प्रतिष्ठानपुर (= वर्तमान प्रयाग के पास झूसी) छोड़ कर यह मगध की ओर पूरब तरफ चला गया जिधर इसके तीनों पुत्रों ने अपने लिए शासन-क्षेत्र प्रस्तुत कर लिया। गय ने वर्तमान गया नगरी बसाई और मगधपर राज्य किया। उत्कल के नाम पर उत्कल प्रान्त का नाम करण हुआ जहाँ इसके वंशजों ने अपना राज्य कायम किया। हरिताश्व का राज्य पूर्व के प्रदेशों पर था जो कुरुओं के राज्य का सीमावर्ती राष्ट्र था। इन तीनों पुत्रों के वंशज सौद्युम्न नाम से विश्रुत हुये। फलतः एक ही मनु से तीनों राज्यवंश चले—(१) सूर्यवंश अयोध्या में, (२) चन्द्रवंश प्रतिष्ठानपुर में तथा (३) सौद्युम्नवंश भारत के पूरबी-दक्षिण प्रान्त में।

मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंशजों ने भारतवर्ष के भीतर तथा बाहर जाकर अपना राज्य स्थापित किया और आर्य संस्कृति का प्रचार किया। इनके समुल्लेख इस प्रकार हैं —

(१) इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने उत्तर-पूर्व विहार में विदेहकुल की स्थापना की। इसी वंश में एक राजा ने मिथिला की प्रतिष्ठा कर उसे अपनी राजधानी बनायी। यहाँ के सब राजा जनक नाम से अभिहित होते थे।

(२) इक्ष्वाकु के पुत्र दण्ड ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसन्धान किया जो उन्हीं के नाम से 'दण्डकारण्य' कहलाया।

(३) इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया तथा वसाति के ४८ वंशजों ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।

(४) इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के पन्द्रह वंशजों ने मेरु के उत्तर प्रदेश (आजकल का साइबेरिया) पर अधिकार किया तथा उन्हीं के अन्य एक सौ चौदह वंशजों ने मेरु के दक्षिण देश में उपनिवेश बनाया[१]।

भारतवर्ष के भीतर आर्यों के प्रसार का पूर्ण वृत्त पुराणों के आधार पर तैयार किया गया है जो अपनी ऐतिहासिकता तथा सत्यता के लिए वैदिक वृत्त से पूर्ण सामञ्जस्य रखता है[२]।

---

१ इन तथ्यों के पौराणिक आधार के लिए द्रष्टव्य—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, सं० २००६ पृष्ठ ६५—६७

२ द्रष्टव्य डा० पुसालकर का सुचिन्तित लेख—आरियन एक्सपैन्शन इन इण्डिया (पुराण बुलेटिन, रामनगर, वर्ष ६ संख्या २, पृष्ठ ३०७—३२२)

पार्जीटर की भ्रान्त धारणा

पौराणिक अनुश्रुति का स्पष्ट प्रामाण्य है कि भारतवर्ष की वंशावली मनु से ही प्रारम्भ होती है। मनु से ही तीनो राजवंशो का उदय हुआ—(१) सूर्यवंश का (राजधानी अयोध्या मे) (२) चन्द्रवंश का (राजधानी प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग के पास आधुनिक झूंसी मे), (३) सौद्युम्न वंश का जिसका शासनक्षेत्र भारत का पूरबी प्रान्त था। इन राजवंशो के विषय मे पार्जीटर साहब की धारणा है कि मानव वंश द्रविड था, चन्द्रवंश या ऐल वंश विशुद्ध आर्य था तथा सौद्युम्न वंश मुंडा-मान ख्मेर जाति का था। इस तथ्य की पुष्टि मे उन्होंने जो युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, वे नितान्त भ्रान्त, परम्परा-विरुद्ध तथा अशुद्ध है।

पार्जीटर ने ऐलो के विषय मे लिखा है कि परम्परानुसार ऐल या आर्य प्रतिष्ठानपुर से चलकर उत्तर-पश्चिम, पश्चिम ओर दक्षिण विजय कर वहाँ फैल गये और ययाति के समय तक उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे मध्यदेश कहते हैं। भारतीय अनुश्रुतियो मे अफगानिस्तान से भारत पर ऐलो या आर्यों के आक्रमण का तथा पूर्व की ओर उनके बढाव का कोई उल्लेख नही है, विपरीत इसके द्रुह्यु लोगो का (जो ऐलो की एक शाखा थे) भारत के बाहर जाने का उल्लेख पुराणो मे मिलता है। ऐलो के विषय मे पार्जीटर का पूर्वोक्त कथन यथार्थ है, इसमे सन्देह नही। परन्तु अन्य दोनो राजवंशो के विषय मे उनके निष्कर्ष नितान्त भ्रमोत्पादक तथा बिलकुल असत्य हैं। इसी प्रकार ऐलो का भारत के बाहर से आने की उनकी कल्पना भी भ्रान्त है[1]। इस विषय मे उनका स्पष्ट आधार है वे लोककथायें जो ऐलो के पूर्वज पुरूरवा का सम्बन्ध हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशो से जोडती है। इस तर्क मे विशेष बल नही है। बात यह है कि मनु की कन्या इला का मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश मे गिरिविहार के निमित्त जाना तथा सोमसूनु बुध के साथ उसकी भेंट होना, तो पुराणो के अनुकूल है, परन्तु सोम तथा बुध का न तो मध्यवर्ती हिमालय के ही मूल निवासी होने का यही संकेत है और न इनके भारत के कहीं बाहर से आने का निर्देश है। ये लोग विशुद्ध मध्यदेश मे ही निवासी आर्य जाति के थे। इनके मूलस्थान का भारत से बाहर खोज निकालने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ तथा भ्रान्त है।

इसी प्रकार मानवों (मनुवंशियो) को द्रविड मानने मे पार्जीटर[2] की युक्ति यह है कि मानवो का वर्णन ऐलो (या आर्यों) से भिन्न जाति के रूप मे

---

१. पार्जीटर: एन्शंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन पृष्ठ २९८।

२ वहीं पृष्ठ २८८

हुआ है तथा वे ऐलों से पूर्व ही यहाँ भारत में निवास करते थे। आर्यों से पूर्व निवास करने वाली जाति द्रविडों की थी। फलत: मानव द्रविड जाति के ही व्यक्ति हैं। यह युक्ति भी ठीक नहीं। पुराण मानवों को कभी भी आर्यों से भिन्न जाति का नहीं संकेत करता। प्रत्युत इन दोनों मे वैवाहिक सम्बन्ध होते थे, जो जाति-साम्य के ही सूचक हैं। जाति, भाषा और धर्म की दृष्टि से दोनों समान ही रहे गये हैं। द्रविड का मूल स्थान सुदूर दक्षिण मे ही सर्वदा से रहा है जहाँ वे आज भी प्रतिष्ठित हैं। उत्तर भारत के मध्य मे—आर्यावर्त के ठीक बीचोबीच अयोध्या मे—द्रविडो की स्थिति बतलाना इतिहास की एक विकट भ्रान्ति है। मनुवशी पुरुषो मे से अनेक ऋग्वेद के मन्त्रो के द्रष्टा हैं जो उनके आर्यत्व का स्पष्ट परिचायक है, न कि उनके ऊपर आरोपित द्रविडत्व का। फलत. मानव भी उसी प्रकार विशुद्ध आर्य थे, जिस प्रकार ऐल लोग।

सौद्युम्नो के विषय मे पार्जीटर का कहना है कि चूंकि वे दक्षिण-विहार तथा उडीसा मे शासन करते थे, फलत. वे मुडा-मानस्मेर जाति (जंगली मुण्डा जाति) के ही थे। यह भी कथन अनुचित है। पुराणो का साक्ष्य इसके विरुद्ध है। ये लोग मानवो के ही एक उपकुल के रूप मे वर्णित हैं जिनके साथ इनका वैवाहिक सम्बन्ध भी विद्यमान था। केवल शासन-क्षेत्र तथा स्थिति-प्रदेश की समता पर यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार पार्जीटर की मनुवशविषयक ये कल्पनायें सर्वथा पुराण-विरुद्ध हैं और अत एव भ्रान्त हैं।

इक्ष्वाकु की वंशावली

यह वंशावली बडी सुव्यवस्था के साथ पुराणो मे दी गई है। यह सूची वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरुड, विष्णुधर्मोत्तर, तथा देवी भागवत; ब्रह्म, हरिवश एव शिव, कूर्म तथा लिंग; मत्स्य, पद्म तथा अग्नि—इन पन्द्रह पुराणो-उपपुराणो मे मिलती है। (१) इनमे से 'वायु' सबसे प्राचीन है। ब्रह्माण्ड उसी का प्राय: अक्षरश: अनुसरण करता है। इन दोनों पुराणों मे इतना साम्य है कि ये एक ही मूल वायुपुराण की दो शाखायें जान पडते हैं। विष्णु तथा भागवत की सूची इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। अन्तर इतना है कि उन दोनो पुराणो से अर्वाचीन होने के कारण तथा प्रधानत: धार्मिक होने के हेतु इनमे ऐतिहासिक वृत्तों तथा सकेतों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। विष्णु का वर्णन गद्य मे है और भागवत का पद्य मे। भागवत मे ये श्लोक वायु पुराण से नहीं लिये गये हैं, प्रत्युत भागवतकार की निजी रचना है। गरुड की वशावली पुराणकार की निजी पद्यात्मक रचना है। विष्णु-

धर्मोत्तर और देवीभागवत म उपलब्ध सूची अधूरी है यद्यपि ये दोनो वायु का ही अनुसरण करते हैं तथापि श्लोक वायु के न होकर नवीन रचना है। महाभारत की वंशावली धुधुमार तक इसी परम्परा के अन्तर्भुक्त है। इस प्रकार इन आठो ग्रथो का एक विशिष्ट स म्भ मानना चाहिये जिसे वायु सन्दर्भ के नाम स पुकारना उचित होगा। इसका वैशिष्ट्य है कि इस में प्राय समस्त इक्ष्वाकुवंशीय शासकों की नामावली आ गई है और स्थान स्थान पर ऐतिहासिक चूर्णिकायें भी दी गई हैं।

(२) ब्रह्म पुराण हरिवंश और शिव पुराण मे उपलब्ध सूची म समानता है। ब्रह्म तथा हरिवंश के पाठ प्राय शब्दत एक हैं। शिवपुराण ने जहाँ तहाँ घटाया बढाया गया है। इसमे कई नामो की त्रुटि है। सम्भव है यह सूची किसी अन्य परम्परा क ऊपर आश्रित हो। इसे ब्रह्म सन्दभ के नाम से पुकारना चाहिए।

(३) **कूर्म सन्दभ**— तीसरी सूची कूम तथा लिंग पुराण मे उपलब्ध होती है जिसे कूम स दर्भ कहना चाहिए। यह सूची मनु से लेकर अहीनगु स० (७५) तक वायु सन्दभ का ही अनुसरण करती है परन्तु उसक बाद द्वापर के अन्त तक की सूची भिन्न हो गई है।

(४) **मत्स्य सन्दर्भ**—चौथी सूची मत्स्य पुराण पद्म पुराण तथा अग्नि पुराण म उपलब्ध होती है जिनमे पद्म मत्स्य का अक्षरश अनुसरण करता है। अग्नि भिन्न पडता है। इस सदभ की विशेषता है कि यहाँ अप्रधान राजाओ के नाम छोड दिये गये हैं तथा आरम्भ से लेकर अहीनगु (सख्या ७५) तक यह ब्रह्मसन्दभ के अनुसार है तथा उसके बाद द्वापर के अन्त तक कूम सन्दभ के अनुसार है। सम्भव है इस मत्स्यसन्दभ के पीछे इसस मूल स्रोत क रूप में कोई विभिन्न ही परम्परा हो जो पूर्वोक्त परम्पराओ से पृथक हो

इन चारो सन्दर्भों को दो भाग मे विभक्त किया जाता है। वायु सन्दभ तथा ब्रह्मसन्दभ म बहुत कुछ समानता है कूम-सन्दभ तथा मत्स्य-सन्दभ म बहुत कुछ सादृश्य है। अत तुलनात्मक दृष्टि स देखन पर जान पडता है कि प्राचीनकाल म दो ही प्रधान परम्परायें इस विषय की थी जिनका अनुसरण इन पुराणो ने किया है।

'इक्ष्वाकुवंश' नाम म वंश शब्द का तात्पय क्या है ? वंश शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न सन्दर्भों म भिन्न भिन्न अर्थो में होता है। वंश ब्राह्मण मे वंश शब्द गुरु शिष्यसम्बन्ध को द्योतित करता है। ऋषिवंश म वंश शब्द मूल ऋषि के वंश म होन वाले प्रवर ऋषियों की सूचना देता है परन्तु उनके क्रमागत स्थिति का संकेत नहीं करता। 'बुद्धवंश' पाली का एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसम बुद्धत्व

प्राप्त करने वाले प्रधान महामानवों की संख्या की गई है। 'इक्ष्वाकु वंश' में 'वंश' शब्द कुल-परम्परा के लिए प्रयुक्त नहीं है, प्रत्युत शासक-परम्परा के लिए ही व्यवहृत है। इस तथ्य के पोषक प्रमाणों को देखिये। (१) शतपथ ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र को वैधस (वेधा की सन्तान) कहा गया है, परन्तु वेधस् नाम किसी भी इक्ष्वाकु-वंशावली में नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि हरिश्चन्द्र किसी दूसरी शाखा के ऐक्ष्वाक थे और शासक होने के नाते इस परम्परा में अन्तर्भुक्त कर लिये गये। (२) अयोध्या-नरेश ऐक्ष्वाक ऋतुपर्ण को पञ्चविंश ब्राह्मण तथा महाभारत (वन पर्व ६-६७ अ०) में भृगाश्व का अपत्य कहा गया है, परन्तु भृङ्गाश्व का वर्तमान इक्ष्वाकु-परम्परा में कहीं उल्लेख नहीं है। प्रतीत होता है कि ये इक्ष्वाकु की किसी दूसरी शाखा में उत्पन्न हुए थे, परन्तु राज्य के उत्तराधिकारी होने के कारण वंशावली में परिगणित किये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वंशावली में शासक-परम्परा का ही उल्लेख है, कुल-परम्परा का नहीं। यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है[१]।

इक्ष्वाकु की वंशावली

मनु वैवस्वत
|
१ इक्ष्वाकु
|
२ विकुक्षि (= देवराट्, शशाद) तथा ९९ और पुत्र
|
३ पुरञ्जय (= ककुत्स्थ, इन्द्रवाह) तथा १४ अन्य पुत्र
|
४ सुयोधन
|
५ पृथु
|
६ विष्वगश्व (= दृषदश्व = विष्टराश्व)
|
७ आर्द्र (= इन्दु, चान्द्र, आन्ध्र)
|
८ युवनाश्व
|
९ श्रावस्त ('श्रावस्ती' नगरी का स्थापक)
|

---

१. इसके अन्य पोषक प्रमाणों के लिए देखिये राय कृष्णदास जी का सुचिन्तित लेख 'पुर.णों की इक्ष्वाकु वंशावली' (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ५६, सं० २००८) पृष्ठ २३४—२३८
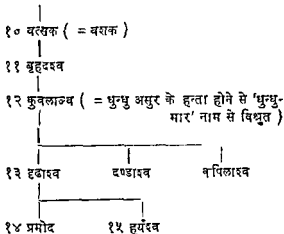
[मत्स्य तथा कूर्म सन्दर्भ के अनुसार दृढाश्व का पुत्र प्रमोद था तथा प्रमोद का पुत्र हर्यश्व था जो एक दूसरे के बाद राज्य करते थे। अग्निपुराण का कथन है कि प्रमोद तथा हर्यश्व सहोदर थे जिनमे प्रमोद कनिष्ठ था। मत्स्य कूर्म के सूचनानुसार ऊपर का क्रम नियत किया गया है]

२१ मान्धाता (पत्नी चैत्ररथी, बिन्दुमती)
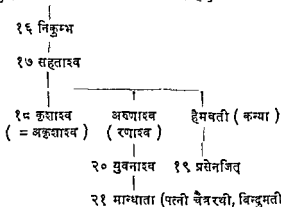
[मान्धाता के वंशजों के बारे मे पौराणिक विवरण बडा गोलमाल है। मत्स्य के अनुसार मान्धाता के पुत्र थे पुरुकुत्स, मुचुकुन्द और शत्रुजित् जिसमे पुरुकुत्स का पुत्र है वसुद-तत्पुत्र सभूति तथा तत्पुत्र सुधन्वा। दूसरे पुराणो के अनुसार पुत्रनाम नीचे दिया जाता है। इनमे से द्वितीय पुत्र अम्बरीष राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। तदनन्तर उसका पुत्र युवनाश्व जिसका उत्तराधिकारी था हरित जिसके वंशज हारीत क्षत्रोपेता ब्राह्मण कहे गये हैं। हरित के अनन्तर पुरुकुत्स शासक बतलाया गया है। इस परिवर्तन का कारण यह प्रतीत होता है कि अम्बरीष के वंशज ब्राह्मण बन गये थे, तब उस वंश मे शासन का कार्य समाप्त हो गया और राज्यसिंहासन पुरुकुत्स को प्राप्त हो गया जो अम्बरीष का ही जेठा भाई था]

२१ मान्धाता
- २४ पुरुकुत्स
  - २५ त्रसदस्यु
    - २६ सम्भूत
      - विष्णुवृद्ध
        - विष्णुवृद्ध ब्राह्मण
      - २७ अनरण्य
        - २८ त्रसदश्व (= पृषदश्व, बृहदश्व)
          - २९ हर्यश्व
          - ३० वसुमना (= वसुमान्)
          - ३१ त्रिधन्वन् (= त्रिवृषन्)
          - ३२ त्र्यारुण
          - ३३ सत्यव्रत (= त्रिशङ्कु—पत्नी सत्यरथा या सत्यव्रता)
          - ३४ हरिश्चन्द्र (पत्नी शैब्या)
          - ३५ रोहित (= रोहिताश्व)
          - ३६ हरित
          - ३७ चञ्चु
          - ३८ विजय
          - ३९ रुरुक
          - ४० वृक
- २२ अम्बरीष
  - २३ युवनाश्व
    - हारीत
      - हारीत ब्राह्मण
- मुचकुन्द

२४ पु० वि०
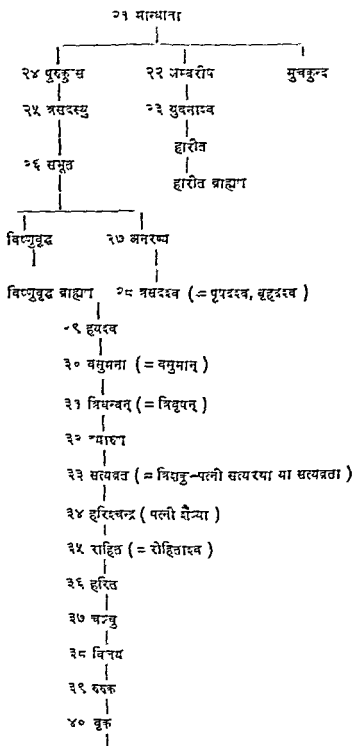
४१ बाहुक (= असित, पत्नी कालिन्दी यादवी)

४२ सगर (पत्नी कशिनी वैदर्भी तथा सुमति शैव्या)

४२क असमंजस

[असमंजस अपने बाल्यकाल मे ही बड़ा क्रूर तथा आततायी था और इसीलिए वह कोशल राज्य का उत्तराधिकारी नही बन सका, परन्तु उसका नाम वंशावली मे निर्दिष्ट है]

४३ अंशुमान्

४४ दिलीप प्रथम

[इस दिलीप को ब्रह्माण्डसन्दर्भ वाले पुराण 'खट्वांग' नाम देते हैं, परन्तु अन्य पुराण दिलीप द्वितीय को ही यह नाम प्रदान करते है दोनो के पार्थक्य को दिखलाने के लिए। महाभारत के षोडशराजिक सूची में दिलीप खट्वांग का पितृज नाम ऐडविडि' दिया गया है। यह दिलीप प्रथम के विषय में चरितार्थ न होकर दिलीप द्वितीय के विषय म भी सुसंगत है, क्योंकि 'इडविड' नामक राजा उसका तृतीय पूर्व पुरुष था]

४५ भगीरथ (गंगा को भूतल पर लाने वाले राजा)

४६ श्रुत (= विश्रुत, श्रुतवान्)

४७ नाभाग

४८ अम्बरीष द्वितीय

४९ सिन्धुद्वीप

५० अयुतायु (= अयुताजित)

५१ ऋतुपर्ण (= राजा नल का मित्र)

५२ सर्वकाम

५३ सुदास

५४ मित्रसह (= कल्माषपाद, पत्नी मदयन्ती)

[मित्रसह के अनन्तर छः शात राजाओं के विषय में वायु-कूर्म की सूची ब्रह्म-मत्स्य सन्दर्भ से नितान्त भिन्न है]

ब्रह्म मत्स्य सन्दर्भ	वायु-कूर्म सन्दर्भ
५५ सर्वकर्मा	अश्मक
५६ अनरण्य	मूलक
५७ निघ्न	शतरथ (= दशरथ)
५८ अनमित्र, ५९ रघु	इडविड
	वृद्धशर्मा
६० दुलिदुह	(६०) विश्वसह (या विश्वमहत्)
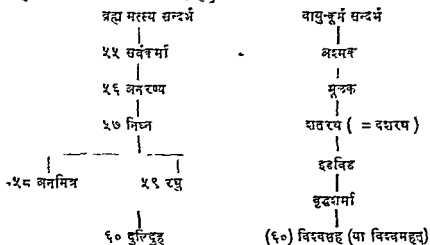
[इन दोनों सूचियो में सर्वकर्मा वाली सूची की प्रधानता है, क्योंकि सर्वकर्मा कल्मापपाद के ज्येष्ट पुत्र थे। पहिली सूची का दुलिदुह विश्वसह का ही अपर सकेत प्रतीत होता है। यहाँ से आगे अश्मक वाली सूची को प्रधान होने की मान्यता मिल गई, क्योंकि दिलीप खट्वाग ऐडविडि कहा गया है जिससे उसका दूसरी सूची से सम्बद्ध होना स्पष्टत प्रतीत होता है]

६१ दिलीप खट्वाग (= दिलीप द्वितीय, पत्नी सुदक्षिणा मागधी)

६२ रघु दीर्घबाहु (रघु प्रथम से विभेदक विशेषण)
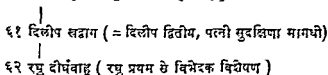
[वायु तथा कूर्म सन्दर्भों मे दिलीप और रघु के बीच मे दीर्घबाहु का नाम आता है, परन्तु ब्रह्मसन्दर्भ मे दीर्घबाहु रघु की ही उपाधि स्पष्टत. बतलाई गई है। कालिदास के द्वारा समादृत तथा उल्लिखित होने के कारण दिलीप तथा रघु का पितृ-पुत्रभाव सर्वथा प्रामाणिक तथा परिपुष्ट है।]

६३ अज (पत्नी इन्दुमती वैदर्भी)

६४ दशरथ (पत्नी कौशल्या)

६५ राम (पत्नी सीता वैदेही)

६६ कुश (पत्नी कुमुद्वती) — लव
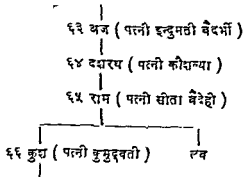
६७ अतिथि

६८ निषध

६९ नल

७० नभस

७१ पुण्डरीक

७२ क्षेमधन्वा

*७३ देवानीक

७४ अहीनगु

७५ सुधन्वा (रुरु)

७६ पारिपात्र (या पारियात्र)

७७ शिल (शिन)

७८ दल

७९ उन्नाभ

८० वज्रनाभ

८१ शङ्खन

८२ व्युषिताश्व ८३ विश्वसह (विधृति)

८४ हिरण्यनाभ

८५ पर कौसल्य (हैरण्यनाभ कौसल्य)

८६ ब्रह्मिष्ठ (वशिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ)

[पौराणिक सूची में हिरण्यनाभ = कौसल्य = ब्रह्मिष्ठ सभी एक ही नाम जान पड़ता है, परन्तु कालिदास में हिरण्यनाभ, कौसल्य तथा ब्रह्मिष्ठ

अनुक्रम से तीन राजा हैं। यहाँ कालिदास का ही पक्ष प्रबल होने से गृहीत हुआ है। शतपथ तथा शाख्यायन श्रौतसूत्र का प्रामाण्य कालिदास का समर्थक है]

८७ पुष्य (पुष्प)
|
८८ ध्रुवसन्धि (अर्थसिद्धि)
|
८९ सुदर्शन
|
९० अग्निवर्ण ('रघुवंश' में वर्णित अन्तिम शासक)
|
९१ शीघ्र (शीघ्रग)
|
९२ मरु (मनु)
|
९३ प्रसुश्रुत
|
९४ सुसन्धि
|
९५ अमर्षण (या अमर्ष)
|
९६ सहस्वान् (या महस्वान्)
|
९७ विश्रुतवान्
|
९८ बृहद्बल

[बृहद्बल इक्ष्वाकुवंश का महाभारतकालीन प्रशासक था। महाभारत-पूर्व के ऐक्ष्वाकुवंश के राजाओं में यही अन्तिम राजा था। यह महाभारत-युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारा गया। विष्णु० के अनुसार इसके पुत्र का नाम बृहत्क्षण था। भाग० के अनुसार बृहद्बल तक्षक का पुत्र तथा बृहद्रण का पिता था (भाग० ९।१२।८, विष्णु० ४।४।४८)[१]।

---

१. इक्ष्वाकु-वंशावली का निर्माण अनेक विद्वानों ने अपनी दृष्टि से किया है, परन्तु कलाभवन के अध्यक्ष राय कृष्णदास का पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन पर आश्रित वंशावली का निर्माण बड़ा ही वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक है। एतद्विषय में द्रष्टव्य उनका सुचिन्तित लेख—पुराणों की इक्ष्वाकु-वंशावली (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, भाग ५६, वर्ष २००८ पृष्ठ २२६–२५० । पुसालकर का लेख भी द्रष्टव्य है—पुराणम् (रामनगर, वाराणसी से प्रकाशित शोधपत्रिका) वर्ष १९६२, जिल्द ४, संख्या १, पृष्ठ २२–३३ ।

इक्ष्वाकु वश के प्रधान राजाओ का वृत्त—

(१) मान्धाता—युवनाश्व द्वितीय (सख्या २०) का पुत्र मान्धाता अपने समय मे एक अप्रतिरथ राजा था। वह चक्रवर्ती ही नही प्रत्युत सम्राट् था। इन दोनो राजकीय उपाधियो म पर्याप्त पार्थक्य है। केवल भारतवर्ष का विजेता राजा चक्रवर्ती कहलाता था पर तु सप्तद्वीपा वसुमती का विजेता सार्वभौम सम्राट की उपाधि से मण्डित होता था। यह अपने युग का एक महाविजेता था। महाभारत के द्रोण पर्व (अ० ६२) म तथा शान्तिपर्व (२८ अ०) मे मान्धाता के समकालीन अथ च विजित नरपतियो के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। युवनाश्व पुत्र मान्धाता ने अङ्गार मरुत्त असित, गय अङ्ग बृहद्रथ जनमेजय सुध वा तथा नृग नामक राजाओ को जीता।[१] इन विजयो के फलस्वरूप मान्धाता का राज्य बडा ही विस्तृत था। पुरानी गाथा इस विस्तार को इस प्रकार बतलाती है—

यावत् सूर्य उदयति यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातु क्षेत्रमुच्यते॥

—द्रोणपर्व ६२।११ विष्णु ४।२।६५ वायु ८८।६८

इसने अपना विवाह यादवकुल मे पराक्रमी नरेश शशबि दु की पुत्री बिन्दुमती के साथ किया था। यादवकुल चन्द्रवशी था। फलत सूर्यवशी इक्ष्वाकुओ तथा चन्द्रवशी यादवो में परस्पर विवाह सम्ब ध स्थापित होते थे।

(२) हरिश्चन्द्र—इनके पूर्ववर्ती शासक का नाम था सत्यव्रत। इसके पिता का नाम था त्र्यरुण जो ऋग्वेद ५।२७ और ९।११० सूक्तो का द्रष्टा है। सत्यव्रत इसी का पुत्र था। त्रिशकु नाम से यही राजा प्रख्यात हुआ। सत्यव्रत ने तीन सदाचार का उल्लघन किया था और इसी कारण वह त्रिशकु नाम से ख्यात हुआ[3]। वसिष्ठ जी के तिरस्कार करने पर विश्वामित्र ने इस यज्ञ कराकर सदेह

१ जनमेजय सुधन्वान गय पूरु बृहद्रथम्।
असित च नृग चैव मान्धाता मानवोऽजयत्॥

—द्रोणपर्व ६२।१०

२ इन राजाओं के विवरण के लिए द्रष्टव्य श्री भगवद्दत्त भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ६६—६८

३ पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रम॥ १०८॥
एव स त्रीणि शङ्कूनि दृष्ट्वा तस्य महातपा।
त्रिशङ्कुरिति होवाच त्रिशङ्कुस्तेन स स्मृत॥ १०९॥

—वायु० ८८ अध्याय

स्वर्ग मे भेजा था आदि अनेक कथायें लोकप्रिय होने से आवृत्ति नही चाहती। इसके विषय मे दो प्राचीन श्लोक वायु० ८८।११५, ११६ मे उद्धृत हैं। हरिश्चन्द्र इसी त्रिशङ्कु का पुत्र था। वायुपुराण इसे 'त्रैशङ्कव' (त्रिशङ्कुपुत्र) बतलाता है (८८।११८)। ऐतरेय ब्रा० (७।१३) तथा शाखायन श्रौतसूत्र (१५।१७) मे ये 'वैधस' कहे गये हैं जिससे ऐतिहासिकों का अनुमान है कि ये इक्ष्वाकुवंशीय किसी विभिन्न शाखा से सम्बद्ध थे। किसी प्राचीन टीकाकार ने 'वैधस' का अर्थ वेधा = 'प्रजापति का सम्बन्धी' अर्थ किया है। राजर्षि उशीनर की कन्या सत्यवती ने स्वयम्वर मे इन्हें वरण किया था। शिविराज्य नगरी से सम्बद्ध होने के सत्यवती शैब्या कहलाती थी। इन्होंने एक विशिष्ट राजसूय यज्ञ किया था जिसम इन्होंने ब्राह्मणों को मुँहमाँगे धन से पचगुना दान दिया था[१]। इन्होंने सप्तद्वीपा वसुमती का विजय कर सम्राट् की पदवी पाई थी। इन सब घटनाओं से बढ़कर है इनकी सत्यवादिता का आख्यान जिसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही।

(३) **सगर चक्रवर्ती**—इसी वंश मे आगे चलकर सगर नामक राजा हुआ। यह इक्ष्वाकुवंश मे एक महनाय चक्रवर्ती राजा हुआ। इसने अपने शत्रुओं को परास्त किया। इसने अयोध्या को ही तालजङ्घ हैहयों के पंजे से नहीं छुड़ाया प्रत्युत, हैहयों के अपने देश मे घुसकर उनकी शक्ति को दीर्घकाल के लिए विध्वस्त कर दिया। विदर्भ पर चढ़ाई की, तब वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री केशिनी उस ब्याह कर सन्धि स्थापित की। इस राजा ने और्व ऋषि के द्वारा योग की सिद्धि प्राप्त की (भाग० ९।८।८) तथा इसी के अश्वमेध घोड़े को इन्द्र ने चुरा लिया था जिसकी खोज मे इसके पुत्रो ने 'सागर' को उत्पन्न किया। इसी के प्रपौत्र भगीरथ को भागीरथी को भूतल पर लाने का गौरव प्राप्त है। ये भगीरथ दिलीप प्रथम के पुत्र थे।

(४) **राजा रघु**—इनके पिता थे दिलीप द्वितीय जो खट्वाग के नाम से प्रख्यात थे। ये भी चक्रवर्ती माने जाते हैं। राजा रघु के वंश का वर्णन कर कालिदास ने इसे अपने रघुवंश काव्य के द्वारा अमर बना दिया (भाग० ९।१० अ०) रघु के पुत्र हुए अज जिन्होंने वैदर्भी इन्दुमती को स्वयम्वर में पाया था। इन्ही के पुत्र थे दशरथ जिनके पुत्र चतुष्टय मे राम ही मूल राज्य के अधिकारी थे। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम होने का तथ्य विशेष भाष्य की अपेक्षा नही रखता। वाल्मीकीय रामायण के ये ही प्रधान नायक हैं। दक्षिण भारत मे भारतीय वैदिक संस्कृति के प्रचार करने का श्रेय रामचन्द्र को ही है। वैदिक साहित्य में इनका नाम भले ही न मिले, परन्तु इनकी ऐतिहासिकता मे सन्देह

१. द्रष्टव्य महाभारत—सभापर्व का १२ अ०।

करना (जैसा कतिपय पाश्चात्य विद्वान् करते थे) महान अनर्थ है। महाभारत के षोडश राजकीय में प्राचीन १६ चक्रवर्ती नरेशों में राम का समुल्लेख उनकी प्राचीनता तथा ऐतिहासिकता का पुष्ट प्रमाण है।

चन्द्रवंश का उदय

कहा गया है कि सूर्यवंश के समान चन्द्रवंश भी मनु से ही आरम्भ होता है। अन्तर इतना ही है कि सूर्यवंश ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु से चलता है और चन्द्रवंश पुत्री इला से चलता है। इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुध के साथ सम्पन्न हुआ और इसीलिए यह वंश चन्द्रवंश के नाम से प्रख्यात है। इस विवाह से उत्पन्न हुये राजा पुरूरवा जो चन्द्रवंश के संस्थापक के रूप में गृहीत किये गये हैं। **पुरूरवा** तथा अप्सरा उर्वशी की प्रणय-कथा ऋग्वेद (१०।९०) में उल्लिखित है तथा इस कथा को ही कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय का आधिकारिक वृत्त बनाया। पुरूरवा की राजधानी थी **प्रतिष्ठान** (आधुनिक प्रयागसमीपस्थ झूँसी) जहाँ चन्द्रवंश की प्रधान शाखा शासन करती रही। पुरूरवा का ज्येष्ठ पुत्र आयु तो प्रतिष्ठान में राज्य करता था और उनका भाई **अमावसु** ने पश्चिम में एक राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी पीछे चल कर कान्यकुब्ज नगर हुआ। आयु के ही पुत्रपञ्चक में ज्येष्ठ पुत्र था **नहुष** जो अपने हठ के लिए संकट पाने वाले व्यक्तियों के लिए उपमान माना जाता है (हठ बस सब सकट सहे, गालव नहुष नरेश)। आयु के द्वितीय पुत्र **क्षत्रवृद्ध** ने काशी में अपना राज्य स्थापित किया। नहुष के ही प्रधान पुत्र हुए **ययाति** जो अपने युग के एक महान् पराक्रमी चक्रवर्ती राजा माने गये हैं। इनके अग्रज यति ने मुनि होकर अपना राज्याधिकार छोड़ दिया, तब राज्य ययाति को प्राप्त हुआ। ययाति की दो रानियाँ थीं -

(१) देवयानी भार्गवी (शुक्राचार्य की पुत्री) जिसकी सन्तान हैं यदु तथा तुर्वसु।

(२) शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी (असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री) जिसके पुत्र हैं—द्रुह्यु, अनु तथा पुरु।

ययाति का आख्यान प्राचीन युग में इतना अधिक विश्रुत था कि इस आख्यान के अपेक्षा से नामकरण के लिए पाणिनि-सूत्रों में व्यवस्था है। ययाति के अनन्तर कनिष्ठ पुत्र पुरु ही पिता का नितान्त आज्ञाकारी तथा स्नेहभाजन होने से प्रतिष्ठान में राजसिंहासन पर बैठा। ययाति ने अपने पाँचों पुत्रों में अलग अलग शासन-क्षेत्र का विभाग कर दिया[1]। इन्हीं पाँचों पुत्रों से पाँच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का उदय हुआ :—

---

१. वायु० ९३।८३—९०।

(१) कनिष्ठ पुत्र पुरु प्रतिष्ठान में ययाति का उत्तराधिकारी हुआ।

(२) ज्येष्ठ पुत्र यदु को चर्मण्वती (चम्बल) वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) के तट का राज्य मिला।

(३) तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व का प्रदेश मिला। पीछे उसके वंशज उत्तर-पश्चिम को चल गये जहां से उन्होंने भारत-सीमा के बाहर जाकर यवन तथा शक राज्यों की स्थापना की।

(४) द्रुह्यु का यमुना के पश्चिम और चर्मण्वती के उत्तर का देश विभाजन में लिया। पीछे इनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर चले गये।

(५) अनु को गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भाग मिला।

इन पांचों वंशों में पुरु तथा यदु का वंश बड़ा प्रभावशाली हुआ। इसमें अनेक प्रतापी तथा प्रभावशील राजा हुए जिन्होंने भारतवर्ष के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थिति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यदु के पुत्रों में दो वंशकर्ता हुए जिनके दो वंश चले:—

(क) क्रोष्टुशाखा, (ख) सहस्रजित् = हैहय शाखा।

(क) क्रोष्टुशाखा (मत्स्य० ४४।३५) में आगे चलकर भीम सात्वत नामक राजा हुआ जिनके दो पुत्रों ने अन्धक तथा वृष्णि वंश को चलाया।

(१) अन्धकशाखा = सात्वत → अन्धक → कुकुर—वृष्णि-धृति—कपोत-रोमा—तैत्तिरि (= विलोमन) - नल (तैत्तिरि के दौहित्र)—अभिजित (= अभि-जात)—पुनर्वसु - आहुक (जिनकी भगिनी आहुकी अवन्तिनरेश को ब्याही थी)—उग्रसेन (मथुरा का राजा)—कंस (नव भ्राताओं में से अग्रज)[1]

(२) वृष्णि शाखा—सात्वत—वृष्णि (इनकी दो स्त्रियां थी गान्धारी तथा माद्री) इनमें से माद्री के पुत्रों में अन्यतम थे देवमीढुष जिनके पुत्र थे शूर—वसुदेव—बलराम तथा कृष्ण। गान्धारी नाम भार्या से वृष्णि को पुत्र हुआ सुमित्र या अनमित्र—निघ्न—प्रसेन तथा सत्राजित। इसी प्रसेन को सूर्य की तीव्र उपासना के फल से स्यमन्तक नामक मणिरत्न प्राप्त हुआ जिसकी विस्तृत कथा मत्स्य (४५, अ०) भागवत (१०।५६) विष्णु पुराण (४ अंश, १३ अ०) में विशदता के साथ दी गई है। सत्राजित की ही कन्या सत्यभामा थी जो श्रीकृष्णचन्द्र के प्रियाओं में श्रेष्ठ मानी जाती थी।

माद्री के पुत्रों में अन्यतम थे युधाजित् जिन के पुत्र थे पृश्नि—श्वफल्क—अक्रूर। इस प्रकार श्रीकृष्ण का सम्बन्ध वृष्णि-शाखा के साथ था और

---

१ अन्धक शाखा के पूरे विस्तृत विवरण के लिए देखिये मत्स्यपुराण ४४ अ० ५०—८३ श्लो०।

तदन्तर्भुक्त होने से अक्रूर भी श्रीकृष्ण के निकट दायाद लगते थे। सत्राजित की हत्या कर शतधन्वा के साथ अक्रूर ने भी स्यमन्तक छीन लिया था जिसका विस्तृत वर्णन विष्णु पुराण के गद्यभाग (अंश ४, अ० १३) मे बडी रोचकता के साथ किया गया है।

(ख) हैहयशाखा

यदु के पुत्र सहस्रजित्—शतजित्—हैहय—धर्मनेत्र—कुन्ति—सहत—महिष्मान्—रुद्रश्रेण्य—दुर्लभ—कनक—कृतवीर्य—अर्जुन (सहस्रबाहु, कार्तवीर्य)—जयध्वज—तालजङ्घ—(इनके सौ पुत्र जो 'तालजङ्घ' के नाम से विश्रुत थे)—वीतिहोत्र—आनर्त—दुर्जेय—सुप्रतीक (मत्स्य पुराण ४३ अध्याय तथा वायु ९४ अ०) इस हैहयशाखा मे कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन बडा ही पराक्रमशाली था और उसने हैहयो की क्षीण शक्ति को पुन उद्दीप्त किया। वह बहुत ही बडा विजेता था। उसने कर्कोटक नागो से माहिष्मती छीन ली तथा नर्मदा से लेकर हिमालय तक उसने सब प्रदेशो पर विजय किया। लङ्का के राजा रावण को जो उत्तर भारत पर चढ आया था, पकड कर माहिष्मती मे कई वर्षो तक कैद मे रखा। हैहयो का भार्गव पुरोहितो स बडा सघर्ष चलता था। कार्तवीर्य ने भी जमदग्नि की हत्या की जिसका पूरा बदला उनके पराक्रमी पुत्र परशुराम ने लिया। कार्तवीर्य विषयक अनेक गाथायें पुराणो मे सगृहीत हैं जिनम उसके अतुल पराक्रम तथा अलौकिक योगशक्ति का परिचय मिलता है। योगविद्या को महर्षि दत्तात्रेय ने इस सिखलाई थी। कालिदास ने इस राजा के विपुल प्रभाव का उल्लेख रघुवश के षष्ठ सर्ग मे किया है।

दो-तीन [1]गाथायें यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति क्षत्रियाः।
यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च विक्रमेण श्रुतेन च॥
स हि सप्तसु द्वीपेषु खड्गी चक्री शरासनी।
रथी द्वीपाननुचरन् योगी पश्यति तस्करान्॥

---

१. कार्तवीर्यविषयक ये गाथायें वायुपुराण के ९४ अध्याय मे अक्षरशः समान हैं। य पूर्वोक्त तीनो गाथायें वायु के इसी अध्याय मे श्लो०, २०, २१, तथा २४ मे क्रमश उपलब्ध हैं। अन्यत्र पुराणो मे भी य उद्धृत होगी ऐसा विश्वास है। तथ्य यह है कि य प्राचीन गाथायें हैं जो कालक्रम स प्राचीन समय स चली आई हैं और जिनका उल्लेख महाभारत तथा पुराणो मे बहुत मिलता है।

स एव पशुपालोऽभूत् क्षेत्रपाल स एव हि।
स एव वृष्ट्या पर्जन्यो योगित्वादर्जुनोऽभवत् ॥
—मत्स्य० ४३ अ०, २४ २५, २७, श्लो०

कार्तवीर्य के नाम से नष्ट वस्तु भी प्राप्त हो जाती थी—
कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहु-सहस्रवान् ।
तस्य स्मरणमात्रेण गतं नष्टं च लभ्यते ॥

(२) तुवसुवश – ययाति के अन्यतम पुत्र थे तुर्वसु जिससे यह वश थोडे ही दिनो तक चला क्याकि पिता क द्वारा अभिशप्त होन के कारण यह वश अचिरस्थायी रहा। इनक विषय म मत्स्यपुराण न एक विचित्र बात का उल्लेख किया है कि पाण्ड्य चोल करल तथा कूल्य लोग अपनी उत्पत्ति तुवसु वश स ही मानते हैं—

पाण्ड्यश्च केरलश्चैव चोल कर्ण ? (कूल्य) तथैव च।
तेषां जनपदा स्फीता पाण्ड्याश्चोला सकेरला ॥
—मत्स्य, ४८।५

इस पौराणिक उल्लेख का तात्पर्य बडा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। तुवसु लोग प्रथमत पश्चिम की ओर बढे और सिंधु की घाटी म अपन को प्रतिष्ठित किया। यहाँ म वे दक्षिण भारत म गय और द्रविड जाति क पूर्वज बन। यदि यह तथ्य अन्य पुराणो से भी सिद्ध हो जाय, तो द्रविडो का आर्यो के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

(३) द्रुह्युवश—य द्रुह्यु शर्मिष्ठा तथा ययाति क पुत्रो म अन्यतम थे। द्रुह्यु के वश म चौथी पीढी म गान्धार नामक राजा हुआ। इसी न अपन नाम पर गान्धार देश को बसाया जहा इसके पूर्वज पहिले से पश्चिमोत्तर प्रान्त म शासन कर रह थ। द्रुह्यु लोग बडे साहसी थ। इन्होंने भारतवर्ष के बाहर जाकर म्लेच्छ देशो म भी अपन राज्य स्थापित किय। फलत ययाति के पुत्रो म द्रुह्यु लोगो म विशेष साहस तथा पराक्रम दृष्टिगोचर होता है —

प्रचेतस. पुत्रशत राजान सर्व एव हि।
म्लेच्छराष्ट्राधिपा ह्युदीचीं दिशमाश्रिता ॥
— मत्स्य ४८।९

इसकी व्याख्या यह है। द्रुह्यु के दो पुत्रो म अन्यतम था सेतु—शरद्वान्—गधार—धर्म—घृत—प्रचेता। और इसी प्रचेता के पूर्व-श्लोक-सकेतित एक सौ पुत्रो ने म्लेच्छराष्ट्रो में शासन स्थापित किया। गधार विषय तो आजकल का अफगानिस्तान है जिसका एक प्रधान प्रान्त कदहार है। मत्स्य पुराण म लिखा है कि आरट्ट देश के घोडे सबसे बढ़िया नस्ल के होते हैं—

' गन्धारस्तस्य चात्मज ।
ख्यायते यस्य नाम्नासौ गन्धारविषयो महान् ।
आरट्टदेशजास्तस्य तुरगा वाजिनां वरा ॥

— मत्स्य ४८।७

यह आरट्ट देश पजाब का ही एक अवान्तर प्रान्त है जिसका उल्लेख कर्णपर्व अ० ४४ और ४५ म विस्तार से किया गया है ।

चन्द्रवंश की वशावली
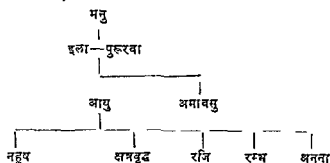
[इन पाँचो पुत्रो मे नहुष से तो प्रधान शाखा चली, क्षत्रवृद्ध ने प्रतिष्ठान से हट कर काशी मे अपना राज्य स्थापित किया । अन्य तीनो पुत्रों का वश थोडे ही पुश्तो तक चला और आगे उच्छिन्न हो गया (भाग० ९।१७।१०–१६) यहाँ मूल चन्द्रवश वर्णन सक्षेप मे दिया गया है ।]

नहुष

यति — ययाति — कृति — संयाति — आयति — वियति

ययाति

यदु — तुर्वसु (देवयानीभार्गवी से)

द्रुह्यु — अनु — पुरु (शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी से)
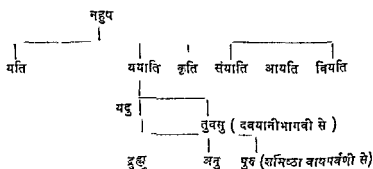
पौरव वश

पौरव वश की वशावली पुराणो मे विस्तार से दी गई है । प्रधान पुराणो का अनुशीलन कर तुलनात्मक दृष्टि से पौरव वशावली के यहा स्थानाभाव से देने का अवसर नही है । इस वश के कतिपय महत्त्वशाली राजाओ का कार्य-विवरण ही सक्षेप म यहा दिया जाता है ।

ययाति—अपने समय का एक चक्रवर्ती सम्राट् था। अपने श्वसुर शुक्राचार्य के द्वारा कारणवश अभिशप्त होने के कारण उसे असमय में ही वार्धक्य प्राप्त हो गया। उसके पाच पुत्रों मे से कनिष्ठ पुत्र पुरु ने ही अपने यौवन का विनिमय उसके वार्धक्य से किया। फलत ययाति ने अनेक वर्ष पुन राज्य-शासन किया, परन्तु भोगो से उसे तृप्ति प्राप्त नही हुई। तब उसने अपने दीर्घकालीन अनुभव को इस गाथा में अभिव्यक्त किया जो भोगमय जीवन की नि सारता पर एक तीव्र उपहास है'—

न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

— आदिपर्व, भाग० ९।१९।१४

दुष्यन्त—ययाति के अनन्तर पुरु ही मूल चन्द्रवश के राज्यसिंहासन पर बैठे। उसके आरम्भिक वशजो मे दुष्यन्त की कीर्ति को महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का नायक बना कर अमर बना दिया है। भागवत (७।२०।७) के अनुसार ये पुत्र थे रैभ्य के, वायु० के अनुसार 'मलिन' के तथा विष्णु० के अनुसार 'अनिल' के। इनकी प्रधान पत्नी शकुन्तला थी जो कण्व के द्वारा पोषित और वर्धित राजर्षि विश्वामित्र की दुहिता थी। कण्व का आश्रम हिमालय की तलैटी मे मालिनी नदी के तट पर था। यह क्षुद्र नदी है जो हिमालय से निकल कर उत्तर प्रदेश के बिजनोर जिले मे बहती है। वर्तमान नाम है—मालिन, जो वर्षाकाल के बाद गर्मी के दिनो मे सूख जाती है।

भरत दौष्यन्ति[1]—दुष्यन्त पुत्र भरत भारतवर्ष का एक विश्रुत चक्रवर्ती था। शकुन्तला का यह पुत्र था। ऐतरेय ब्रा० (८।३३) तथा शतपथ ब्रा० (१३।५।४।१२) मे अनेक प्राचीन ऐतिहासिक गाथायें उद्धृत हैं जो पुराणो में भी एतत्प्रसग मे दी गई हैं (भाग० ९।२०।२५-२९) जिनसे इसके विशिष्ट यज्ञो का परिचय मिलता है। भरत ने दीर्घतमा मामतेय ऋषि की अध्यक्षता में यमुना के तट पर ७८ अश्वमेध तथा गगा के तीर पर ५५ अश्वमेध यज्ञो (कुल मिलकर १३३ अश्वमेधा) का सम्पादन किया। यह विश्रुत घटना भरत के माहात्म्य की अभिव्यक्ति मे पर्याप्त मानी जा सकती है। ऐतरेय ब्राह्मणस्थ गाथा भरत को 'दौष्यन्ति' कहती है, परन्तु शतपथ मे उद्धृत वही गाथा उसे 'सौद्युम्नि' बतलाती है। तब दुष्यन्त तथा सुद्युम्न एक ही व्यक्ति हैं क्या? इसने अपने दिग्विजय के अन्तर्गत किरात, हूण, यवन, आन्ध्र, कक, खश, शक आदि जातियों को जीता। इसकी तीन स्त्रिया विदर्भ की राजकुमारियाँ थी।

१ द्रष्टव्य विष्णु ४।१९।१२-८, वायु० ९९।१३४-१५८, मत्स्य० ४९।११। ३३, भाग० ९।२०।२१-३२।

इनमे से किसी से सुयोग्य पुत्र के न होने पर भरत ने मरुतस्तोत्र यज्ञ किया जिससे इसे पुत्र की प्राप्ति हुई। द्रोणपर्व के षोडश राजकीय उपाख्यान म भरत का भी स्वतन्त्र आख्यान है (६८ अध्याय)।

रन्तिदेव—भरत के कई पीढियो के अनन्तर इस धर्मिष्ठ नरपति का जन्म हुआ। इसकी दानशीलता की कथा महाभारत (द्रोणपर्व ६७ अ०) तथा भागवत (९ स्कन्द, २१ अ०) मे बडे विस्तार से दी गई है। दीन-हीन आर्त-जनो की सेवा ही उसके जीवन का मुख्य व्रत था। इस विषय की इनकी अनेक उपादेय कथाओ का अनुशीलन रतिदेव के उदात्त चरित्र का स्पष्ट प्रकाशक है। इनके जीवन का आदर्श इस गौरवमयी गाथा मे सचित है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्[1]॥
—(महाभारत)

अपने पिता के नाम पर यह 'साकृत्य' या 'साकृति' कहलाता था।

हस्ती—रन्तिदेव की कई पीढियो के अनन्तर यह प्रख्यात पौरव राजा हुआ जिसने अपने नाम पर हस्तिनापुर' नामक प्रख्यात नगर बसाया जो आज भी इसी नाम से मेरठ जिले म गगा के तट पर वर्तमान है। भाग० (९।२१। २०) के अनुसार इसके पिता का नाम था बृहत् क्षत्र, परन्तु वायु (९९।१६५) *तथा विष्णु (४।१९।१०) के अनुसार सुहोत्र।*

कुरु—महाराज हस्ती के तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। इनमे से अजमीढ मूल पौरव सिंहासन पर बैठा, द्विमीढ का कुल आसपास पाञ्चाल मे राज्य करता था। पुरुमीढ का वर्णन नही मिलता। सम्भवत उसका कुल ब्राह्मण हो गया (क्षत्रोपेता द्विजातय)। ऋग्० ४।४३,४।४४ के पुरुमीढ तथा अजमीढ द्रष्टा ऋषि माने गये हैं। अजमीढ के अनन्तर पौरववश के राजाओ के नामो म बडी गडबडी दीखती है। अजमीढ का ही पुत्र ऋक्ष (सम्भवत ऋक्ष द्वितीय) हुआ जिसका पुत्र था सवरण। आदिपर्व के अनुसार किसी पाञ्चाल राजा[1] ने दश अक्षौहिणी सेना लेकर इस पर आक्रमण किया

---

१ इसी गाथा का समानार्थक श्लोक भागवत (९।२१।१२) मे उपलब्ध होता है जो रन्तिदेव की ही विशद उक्ति है —

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा
मष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्त स्थितो येन भवन्त्यदुःखा ॥

१. इस राजा की पहिचान के लिए द्रष्टव्य भगवद्दत्त भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ ११४ — मत्स्य ९०।२०

(आदिपर्व, ८९ अध्याय, ३२-३३ श्लो०)। संवरण अपने राज्य से भाग कर सिन्धु नद के निकुंजों में अनेक वर्षों तक रहा: फिर वशिष्ठ की कृपा से अपना राज्य पुनः पाने में समर्थ हुआ। सूर्यकन्या तपती से इसने शादी की जिसका पुत्र हुआ महान् वंशधर कुरु जिसने कुरुक्षेत्र के प्रदेश को कृषियोग्य बनाया। इसने प्रयाग को छोड़कर कुरुक्षेत्र को समृद्ध बनाया[२]। हस्तिनापुर तो राजा हस्ती के समय से ही पौरववंश की राजधानी थी। कुरुक्षेत्र यज्ञ-यागादिकों के सम्पादन से धर्मक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। कुरु के ही नाम पर कौरव-वंश का नामकरण हुआ। इन्हीं के वंशज होने से दुर्योधन आदि कौरव नाम से अभिहित होते हैं।

कुरु से जनमेजय तक वंशावली
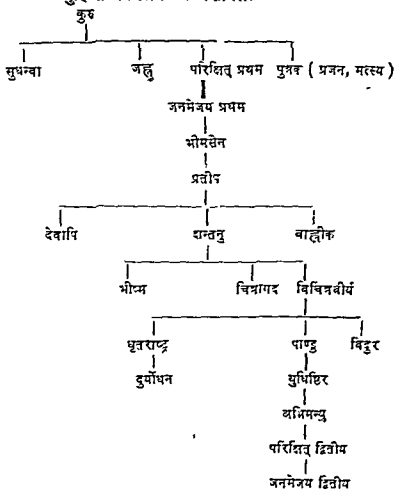
२. स प्रयागमतिक्रम्य कुरुक्षेत्रमकल्पयत्। —मत्स्य ५०।२०
स प्रयागं पराक्रम्य कुरुक्षेत्रं चकार ह॥ —वायु० ९९।२१५

कुरु से लेकर महाभारत युद्ध तक होने वाले कुरुवंशीय पुरुषों की यह वंशावली घटनाओं को समझने के लिए आवश्यक है। इसीलिए यहाँ ऊपर दी गई है।

कुरुसंवरण—ऋग्वेद के कई मन्त्रों में (१०।३२।९ १०।३३।४) में कुरुश्रवण नामक राजा की दानस्तुति वर्णित है। महाभारत तथा पुराणों में संवरण के पुत्र कुरु का वृत्तान्त वर्णित है। डा० पुसालकर ने एक लेख में वैदिक कुरुश्रवण तथा पौराणिक कुरुसंवरण की एकता के प्रतिपादक अनेक युक्तियाँ उपस्थित की हैं जो इन दोनों राजाओं के ऐक्य के प्रतिपादन में समर्थ मानी जा सकती हैं।[1] परन्तु अभी भी यह समीकरण सर्वमान्यता को नहीं प्राप्त कर सका है, परन्तु लेखक का विश्वास है कि ये दोनों एक ही राजा थे। नामकी समता के अतिरिक्त उनके व्यक्तिगत चरित तथा ऐतिहासिक स्थिति भी पोषक प्रमाण मानी जा सकती है।

शन्तनु—कुरु के वंशजों में शन्तनु एक प्रभावशाली महाराज थे। इनकी दो पत्नियाँ थीं—गंगा तथा सत्यवती। गंगा के गर्भ से देवव्रत का जन्म हुआ था। वे यौवराज्य पद के अधिकारी थे। परन्तु अपनी ढलती उम्र में शन्तनु ने दाशराज की पुत्री सत्यवती से विवाह किया। इस प्रसंग में देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा तथा पिता के हितार्थ पुत्र का असाधारण त्याग महाभारत के पृष्ठों में सुवर्णाक्षर से लिखित है। शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक अनावृष्टि रही। इसका कारण यास्क ने अपने निरुक्त (२।१०) में निर्दिष्ट किया है कि ज्येष्ठ भ्राता देवापि ने तपोनिरत होने के कारण अथवा किन्हीं स्रोतों से कुष्ठरोग से आक्रान्त होने के हेतु जब कुरु राज्य को अस्वीकार कर दिया तब शन्तनु ने गद्दी स्वीकार की। इस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता का परित्याग कर राजश्री ग्रहण के कारण वह परिवेत्ता बना। विद्वानों ने अनावृष्टि का कारण इसी घटना को बताया। बहुत आग्रह करने पर भी देवापि ने राज्य ग्रहण तो किया नहीं स्वयं पुरोहित बनकर शन्तनु का यज्ञ कराया जिससे महती वृष्टि हुई और राज्य में समृद्धि छा गई। सत्यवती के दो पुत्र हुए चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य। ये दोनों बालक अकाल ही जब राजयक्ष्मा से आक्रान्त होकर मर गये तब धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर की उत्पत्ति वेद व्यास जी के द्वारा हुई। उसके अनन्तर की कथा सर्वथा प्रसिद्ध है। उसके विशेष विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं।

---

१ डा० पुसालकर स्टडीज इन एपिक्स ऐण्ड पुराणाज आव इंडिया बम्बई १९५५ पृष्ठ ४२–४८

आर्यों का मूल स्थान

आर्यों के मूल स्थान के विषय में पुराणों के भीतर विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। उसका अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पुराण आर्यों का मूल निवास मध्यदेश में ही मानता है। इतना तो पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि वेद या पुराण कहीं पर भी आर्यों का भारतवर्ष में बाहर से आगमन का साक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत वह तो आर्यों का मूल स्थान मध्यदेश गंगा-यमुना के मध्यवर्ती भूभाग में स्पष्टतः संकेत करता है। पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत है :—

(१) आर्यों के दो प्रधान कुल थे—सूर्यवंशी क्षत्रियों की राजधानी थी अयोध्या तथा चन्द्रवंशियों का प्रतिष्ठान (प्रयाग)। इन्हीं दोनों नगरों के बीच में आर्यों का मूल निवास था। मध्य देश के भीतर स्थूल रूप से सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश, बिहार, सरस्वती नदी तक पूरबी पंजाब का भाग सम्मिलित मानना चाहिए। आर्यों के आदि कुलों की पूरबी शाखाओं को इस प्रदेश में बसने में अनार्यों से किसी प्रकार का युद्ध नहीं करना पड़ा था। अर्थात् इन क्षेत्रों में आर्यों का निवास पहिले से ही था।

(२) चन्द्र तथा सूर्यवंश की अवान्तर शाखाओं के फैलने का तथ्य ऊपर दिखलाया गया है। उससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ये लोग अपने मूल केन्द्र अयोध्या तथा प्रतिष्ठान से ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले। पश्चिमोत्तर से पूर्व की ओर आर्यों के फैलाव का प्रमाण कहीं नहीं मिलता, इसके विपरीत इक्ष्वाकु के निकट वंशजों से लेकर पाञ्चाल-राजा सुदास तक आर्यों का बढ़ाव मध्यदेश से ही पश्चिम-उत्तर की तरफ होता गया, इस तथ्य के प्रमाण ऊपर निर्दिष्ट हैं।

(३) आर्योंने कालक्रम से केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके सम्पूर्ण उत्तरापथ पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया, प्रत्युत वे भारत के बाहर भी पश्चिमोत्तर के गिरिमार्गों को पार कर अफगानिस्तान, मध्य एशिया, ईरान तथा भूमध्यसागरीय प्रदेश तक फैल गये। इस बढ़ाव की सूचना वैदिक मन्त्रों से भी मिलती है। पुराणों में भी विस्तार से जहाँ विवरण है, ऋग्वेद में वहाँ संकेतमात्र मिलता है। ऋग्वेद का १० मण्डल का ७५ वाँ सूक्त प्रख्यात नदीसूक्त है जिस में नदियों के नाम दिये गये हैं। इस सूक्त में आर्यों के क्रमशः गंगा, कुभा (काबुल नदी), गोमती (गोमल) और क्रमु (कुर्रम) नदियों को पार कर अपने घोड़ों और रथों के साथ पश्चिम की ओर बढ़ने का स्पष्ट निर्देश है। ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद में नदियाँ पूरब से पश्चिम की ओर गिनाई गई हैं जो आर्यों के विस्तार की दिशा का ही स्पष्ट द्योतक है। यदि

आर्यों का विस्तार इसकी उल्टी दिशा में पश्चिमोत्तर से पूरब की ओर रहता, तो नदियों का उसी प्रकार का संकेत ऋग्वेद में मिलना स्वाभाविक होता।

(४) पुराण की बातों का समर्थन वेद में भी उपलब्ध होता है। दोनों की जाति-विस्तार की सूचना में नितान्त साम्य है। पुराणों में चन्द्रवंशी राजा ययाति के पुत्रों तथा उनके वंशजों पुरु, यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वसु का इतिहास विस्तार से वर्णित है। वेदों में इन्हीं के वंशजों का उल्लेख मिलता है। पुराण में पाञ्चाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओं के बीच युद्ध का वर्णन है। वेदों में भी सुदास और पंजाब की दश जातियों के बीच होने वाले दाशराज्ञ युद्ध का उल्लेख मिलता है। फलतः पुराण तथा वेद में उल्लिखित घटनाओं की एकता तथा समानता स्पष्टतः अनुमानगम्य है। फलतः न पुराण आर्यों को बाहर से भारत में आने वाली जाति मानने के पक्ष में है, न वेद ही है[1]।

महाभारतोत्तर राजवंश

(कलिवंशवर्णन)

पुराणों की वंशावली इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। महाभारतोत्तर राजवंशों का विवरण महाभारत पूर्व वंशावली की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। छठी शती ई० पू० के लगभग का इतिहास जानने के लिए पुराणों का आधार लेना ही पड़ता है क्योंकि अन्य स्रोतों की अपेक्षा पुराणों का वृत्तान्त ही अधिक सही जान पड़ता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है और हम शैशुनागादि युगों को परवर्ती काल में प्रविष्ट होते हैं, पौराणिक वृत्तान्तों की ऐतिहासिकता निखरती सी गयी है। शुङ्गों, कण्वों, आन्ध्रों आदि के ऐतिहासिक ज्ञान का मुख्य आधार तो पुराण ही है। यदि पुराण न होते तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन महान राजवंशों के अन्य स्रोतों से केवल दो-चार नाम ही हमें (बहुधा संदिग्ध रूप में) ज्ञात हो पाते। इस युग का पुरावृत्त मुद्रा तथा अभिलेख तथा साहित्य से बहुविधि प्रमाणित है। कलिजन्य अराजकता का वृत्तान्त हूणों द्वारा की गयी देश की तबाही का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार बहुलांश पुराणों का राजवंश-विवरण प्रामाणिक है।

---

१. इस विषय में अन्य प्रमाणों के लिए द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय का एतद्विषयक लेख—नागरी प्रचारणी पत्रिका वर्ष ५४, सं० २००६, पृष्ठ ६३-७३। इसके विपरीत मेरुप्रदेश में आर्यों के मूलस्थान के समर्थन के निमित्त द्रष्टव्य डा० हर्ष का लेख माउण्ट मेरु : दी होमलैण्ड आव दी *आरियन्स* (होशियारपुर, १९६४)

पार्जिटर की धारणा है कि कलिनृपो के वृत्तान्त का सकलन सर्वप्रथम भविष्यपुराण म किया गया और उसके आधार पर फिर मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, गरुड और भागवत मे किया गया। गरुड और भागवत का कलिनृप-वर्णन सक्षिप्त है। मत्स्य ओर वायु तथा भविष्य का प्रामाणिक और अपेक्षाकृत पूर्ण है। पुराणा म राजवंशा के वृत्तान्त का सकलन चारण और भाँटो मे प्रचलित जनश्रुतियो के आधार पर किया गया है। सकलन मे प्राय उन्ही राजाओ पर ध्यान दिया गया है जो मगध के केन्द्र से देश को शासित करते थे या मगध की राजनीति से आबद्ध थ। पौरव और इक्ष्वाकु का वृत्तान्त अभी तक पूरी तरह इतिहास सम्मत न हो पाया है, क्योकि इनके विवरण मे अनैतिहासिक जनश्रुतियाँ अधिक हैं।

बार्हद्रथ, प्रद्योत और शैशुनागवंश

बृहद्रथ ने राज्यगृह मे मगध साम्राज्य का स्थापना की थी। यह जरासन्ध के पुत्र सहदेव के वश का था। पुराणा के अनुसार बार्हद्रथ वश के ३२ राजाओ ने मगध का शासन लगभग १००० वर्षो तक किया। मत्स्यपुराण का वचन है —

> द्वात्रिंशति नपा ह्येते भवितारो बृहद्रथाः।
> पूर्णं-वर्ष-सहस्रन्तु तेषां राज्यं भविष्यति॥
>
> —(मत्स्य० २७०।३०–३१)

इस वश का अन्तिम राजा रिपुजन्य था। इसकी हत्या पुलिक या पुलक नामक इसी के मत्री न की थी और उसने प्रद्योतवश की स्थापना की। पुराणा का यह वृत्तान्त अशुद्ध है। प्रद्योत अवन्ति का राजवश था जो भ्रमवश मगध शासन से सम्बद्ध कर दिया गया है। पुराणो के अनुसार प्रद्योत वश के पाँच राजा हुये जिन्होने १३८ वर्ष तक राज्य किया। पुराणो के अनुसार प्रद्योतवश का अन्त शिशुनाग द्वारा हुआ।

शिशुनाग वशीय राजाओं का क्रम और शासनकाल निम्नतालिका से समझा जा सकता है। यह तालिका मत्स्य पुराण (अ० २७१) के आधार पर प्रस्तुत की गयी है —

क्रम	राजा	वर्ष	योग
(१)	शिशुनाग	४० वर्ष	१२६ वर्ष
(२)	काकवर्ण	३६ „	
(३)	क्षेमधर्मन्	३६ „	
(४)	क्षेमजित्	२४ „	

(५)	बिम्बसार	२८	वर्ष
(६)	अजातशत्रु	२७	
(७)	दर्शक	२४	„
(८)	उदासीन या उदायी	३३	„
(९)	नन्दिवर्धन	४०	„
(१०)	महानन्दिन्	४३	„
		योग ३२१	वर्ष

किन्तु मत्स्यपुराण की यह वशावली महावश से नही मिलती है। महावश मे नन्दपूर्व मगधराजाओ की सूची इस क्रम से है —

(१) बिम्बसार (२) अजातशत्रु
(३) उदयभद्र (४) अनुरुद्ध
(५) मुण्ड (६) नागदासक
(७) शिशुनाग (८) कालाशोक या काकवर्ण
(९) कालाशोक के दस पुत्र

इतिहास-सम्मत तथ्य यह है कि रिपुजन्य के बाद बिम्बसार राजा हुआ। इस प्रकार बिम्बसार—अजातशत्रु—उदायी, अनुरुद्ध—मुण्ड—नागदशक के बाद शिशुनाग का राज्यारोहण हुआ। शिशुनाग के उत्तराधिकारी क्रमश काकवर्ण (कालाशोक ?) क्षेमधर्मन् और क्षेमजित् थे। पुराणसूची के नन्दिवर्धन और महानन्दिन् सम्भवत काकवर्ण के दस पुत्रो म से थे। शिशुनाग वश का अन्तिम राजा पुराणो के अनुसार महापद्मनन्द था। उसका नाम या उपनाम उग्रसेन भी था। उसके विषय मे पुराणकारो का यह वचन बडा ही प्रसिद्ध है —

'महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशज.।
उत्पत्स्यते महापद्म· सर्वक्षत्रान्तको नृप' ॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्या· शूद्रयोनयः।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥

—मत्स्य १७१।१७-१८

मत्स्यपुराण के अनुसार नन्दवंश का उन्मूलन चाणक्य के सहयोग से हुआ।

उद्धरिष्यति कौटिल्यः समैर्द्वादशभिः सुतान्।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्य्यान् गमिष्यति ॥

—मत्स्य. १७१. २१

मौर्यों का पौराणिक वृत्त

मौर्यवंश—

पुराणों से मौर्यों का वंश-क्रम जानने में बड़ी सहायता मिलती है। मौर्यों का वंशानुक्रम वायु (अ० ९९) मत्स्य (अ० २७२) ब्रह्माण्ड (अ० ३) विष्णु (अ० ४।२४) भविष्य (१२।१) में वर्णित है। विभिन्न पुराणों की वंशावलिका इस प्रकार है।

वायु और ब्रह्माण्ड पुराण :—
चन्द्रगुप्त
अशोक
कुणाल
बन्धुपालित
इन्द्रपालित
देववर्मा
शतधनुष
बृहद्रथ

पार्जिटर ने वायुपुराण के आधार पर एक अन्य सूची भी दी है जिसमें, चन्द्रगुप्त, अशोक, कुलाल या कुणाल, बन्धुपालित, दशोण, दशरथ, सम्प्रति, शालिशुक, देवधर्मन, शतधन्वन् और बृहद्रथ के नाम हैं।[1]

मत्स्य[2] की सूची में छ राजाओं के नाम हैं :—
चन्द्रगुप्त
अशोक

---

१ पार्जिटर पुराण टेक्स्ट आफ द डाइनेस्टीज आफ द कलि एज पृ० २८—२९.

२ कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्ये भविष्यति।
षट्त्रिंशत्तु समा राजा भविताशोक एव च॥
सप्तानां दशवर्षाणि तस्य नप्ता भविष्यति।
राजा दशरथोऽष्टौ तु तस्य पुत्रो भविष्यति।
भविता नववर्षाणि तस्य पुत्रश्च सम्प्रतिः॥
भविता शतधन्वा च तस्य पुत्रस्तु षट्समा।
बृहद्रथस्तु वर्षाणि तस्य पुत्रश्च सप्तति॥
इत्येते दश मौर्यास्तु ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यः शुङ्गान् गमिष्यति॥
—मत्स्य (आनन्दाश्रम) २७२। २३-२६

दशरथ
सम्प्रति
शतधन्वन्
बृहद्रथ

विष्णुपुराण की सूची की नामावली मत्स्य और वायु से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार मौर्यो का वंशक्रम इस प्रकार है —

चन्द्रगुप्त
अशोक
सुयश
दशरथ
सगत
शालिशुक
सोमवर्मन्
सम्प्रति
शतधन्वन्
बृहद्रथ

इस प्रकार विभिन्न पुराणो से मौर्य राजाओ की जो सूची हमे मिलती है वह समान नही है। राजाओ के नाम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। किन्तु इस तथ्य मे सभी पुराणो मे मतैक्य है कि मौर्यो का शासनकाल १३७ वर्ष (**सप्तत्रिंशच्छतं पूर्ण**) रहा, जिसमे चन्द्रगुप्त से अशोक की शासन अवधि ८५ वर्ष और शेष अशोक के उत्तराधिकारियो का शासनकाल है। यह आश्चर्य की बात है कि किसी भी पुराण मे चन्द्रगुप्त के पुत्र और अशोक के पिता बिन्दुसार का नाम नही है। अशोकोत्तर मौर्य राजाओ की सगति भी अन्य साक्ष्यो से आंशिक रूप से ही मिलती है। अशोक का उत्तराधिकार कुणाल को मिला अथवा दशरथ को ? इसमे बड़ा विवाद है। मत्स्यपुराण की सूची मे कुणाल का नाम नहीं है। अभिलेखीय प्रमाण[1] (नागार्जुनी, जिला गया, बिहार) से अनुमान होता है कि दशरथ का शासनकाल अशोक के बहुत ही सन्निकट था। मत्स्यपुराण के अनुसार अशोक का उत्तराधिकार दशरथ ही था। सम्भव है कि कुणाल ने मौर्य साम्राज्य के पश्चिमोत्तरीय अंश (गंधार, कश्मीर) पर अपना आधिपत्य स्थापित किया हो और उसका गृहराज्य से कोई सम्बन्ध न

उपर्युक्त पाठ के अनुसार दस राजाओं के नाम पूर्ण नहीं होते। मोर संस्करण का यह अंश बड़ा भ्रष्ट है।

१ इंडी एण्टिक्वा इण्डिका खण्ड० २० पृ० ३६४. यह ऐल बहूलर के मत से लगभग ई० पू० २३२ ई० पू० का है।

स्थापित हो सका हो। विद्वानों ने विष्णुपुराण की सूची के सुयश को कुणाल का उपनाम माना है।[1] सम्प्रति कुणाल और दशरथ दोनों की शासनावधि पुराणों के अनुसार आठ वर्ष थी। दोनों ही का उत्तराधिकार अनुमानतः सम्प्रति को मिला, जिसका शासन उज्जैनी पर भी था।[2] बन्धुपालित, इन्द्रपालित और दशोन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनके विषय में पुराणों में कुछ भी तथ्य नहीं है। इनके परस्पर सम्बन्धों पर भी पुराणों में मतैक्य नहीं है। सम्भवतः ये मौर्यों के सम्बन्धी थे और मौर्यों के अधीन कहीं शासन करते रहे होंगे।[3] सम्प्रति का उत्तराधिकारी शालिशुक प्रतीत होता है, जिसकी चर्चा मौर्य राजा के रूप में युगपुराण में भी है।[4] विष्णुपुराण के अनुसार शालिशुक का उत्तराधिकारी सोमवर्मन था। यह सोमवर्मन् और वायुपुराण का देववर्मन एक ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार शतधन्वन और शतधनुष भी एक ही प्रतीत होते हैं।[5] सभी पुराणों में इस बात का मतैक्य है कि मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था।

शुङ्गवंश—

शुङ्गों और कण्वों के ऐतिहासिक वृत्त का मुख्य आधार पुराण है। इनका इतिहास मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड और भविष्य पुराणों में मिलता है। इन सभी पुराणों में सामान्य अन्तर के साथ मत्स्यपुराण का ही वृत्तान्त दुहराया गया है, जो इस प्रकार है :—

> पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान्।
> कारयिष्यति वै राज्यं षट्त्रिंशति समा नृपः॥
> अग्निमित्रः सुतश्चाष्टौ भविष्यति समा नृपः[6]।
> भविताापि वसुज्येष्ठः सप्तवर्षाणि वै नृपः॥
> वसुमित्रस्तथा भाव्यो दशवर्षाणि वै ततः।
> ततोऽन्तकः समिद्धे तु तस्य पुत्रो भविष्यति॥
> भविष्यति समस्तस्मात्त्रीण्येव स पुलिन्दकः।

१ पूसौ, ल इण्डे औ टेम्प् दे मौर्यास पृ० १६४.
२ रोमिला थापर—अशोक एण्ड दि डिक्लाइन आफ दि मौर्यास् पृ० १९५.
३ थापर पृ० १९६
४ युगपुराण (मनकड संस्करण) पृ० ३०
५ थापर पृ० १९६.
६ यह पंक्ति केवल आनन्दाश्रम संस्करण में है।

राजाघोषसुतस्यापि वर्षाणि भविता त्रय[1] ॥
भविता वज्रमित्रस्तु समाराना पुनर्भव ।
द्वात्रिंशत्तु समाभाग समाभागात्ततो नृप ॥
भविष्यति सुतस्तस्य देवभूमि समा दश ।
दशैते क्षुद्रराजानो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम् ॥
शतपूर्ण शतान्दे च तत शुङ्गान् गमिष्यति ।

—मत्स्य २७२।२६—३१

इसके तथा अन्य पुराणो के आधार पर शुग राजाओं का क्रम और उनका शासन-काल इस प्रकार समझा जा सकता है —

राजा	शासनकाल
पुष्यमित्र	३६ अथवा ६० वर्ष
अग्निमित्र	८ वर्ष
वसुज्येष्ठ (सुजेष्ठ)[2]	७
वसुमित्र (सुमित्र[3])	१० ,,
ओद्रक (आन्ध्रक अथवा अतक)	२ अथवा ७ वर्ष
पुलिन्दक	३ वर्ष
घोष[5]	३ ,,
वज्रमित्र	९ अथवा ७ वर्ष
भाग (भागवत[6])	३२ वर्ष
क्षेमभूमि अथवा दवभूमि अथवा देवभूति[7]	१० ,,

मत्स्यपुराण म घोष का नाम नही दिया गया है किन्तु शुङ्ग राजाओ की दस सख्या को यहाँ भी स्वीकार किया गया है। (दशैते क्षुद्रराजान '')

---

१ यह पक्ति वायु पुराण में है मत्स्यपुराण के कुछ ही सस्करणो में उपलब्ध है। पार्जिटर पृ० ३२

२ सुजेष्ठ नाम वायुपुराण ९९।३३८ म आता है।

३ मत्स्यपुराण क कुछ सस्करणो म केवल सुमित्र पाठ है। पार्जिटर पृ० ३१

४ आन्ध्रक नाम वायुपुराण ९९, ३३९, म आता है। अतक नाम मत्स्य पुराण क मोर सस्करण म है जो भ्रष्ट है।

५ घोष पाठ वायुपुराण ९९ ३४० म स्पष्ट है। मत्स्यपुराण के प्रामाणिक संस्करणों म नहीं है।

६ वायुपुराण म भागवत नाम है और मत्स्य पुराण में भाग।

७ देवभूमि मत्स्य का पाठ है, क्षेमभूमि वायु का और देवभूति विष्णु पुराण का पाठ है।

पुष्यमित्र की ऐतिहासिकता बहुविधि प्रमाणित है इसकी तथा इसके दो उत्तराधिकारियो (अग्निमित्र और वसुमित्र) की चर्चा कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक (अक) म भी है। शुङ्ग वश के अन्य राजाओ का विवरण (भाग या भागवत को छोड कर) अन्य किसी साक्ष्य से सुलभ नही है। विदिशा के गरुड स्तम्भ मे हिलियोदोर का जो लेख है, वह किसी भागभद्र नामक राजा का उल्लेख करता है[1]। यह भागभद्र पुराण-तालिका के भाग या भागवत से तुलनीय है।

पुराणो मे शुङ्ग राजाओ का जो शासन-काल दिया है, उसका योग १२० वर्ष आता है। किन्तु इसकी सगति 'शत पूर्ण दश द्वे च तत शुङ्गान् गमिष्यति[2]' से नहीं मिलती।

कण्ववंश—

शुङ्गा का विनाश इस वश के अन्तिम राजा देवभूमि या देवभूति को मार कर इसके आमात्य वसुदेव द्वारा हुआ। हर्षचरित मे कहा गया है कि अतिस्त्रीव्यसन के परवश देवभूति को अमात्य वसुदेव ने रानी वेशधारिणी उसकी दासी-पुत्री द्वारा मरवा दिया[3]। विष्णुपुराण मे इस घटना का वर्णन इन शब्दों मे है —

> देवभूतिं तु शुङ्ग-राजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः
> कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं मोक्ष्यति ॥
>
> —विष्णुपुराण० ४. २४ ३९

मत्स्य पुराण मे कण्वों की वशावली इस प्रकार है .—

> अमात्यो वसुदेवस्तु प्रसह्य ह्यवनीं नृपम्।
> देवभूमिमथोत्साद्य शौङ्गस्तु भविता नृपः ॥
> भविष्यति समा राजा नव काण्वायनो नृपः।
> भूमिमित्रः सुतस्तस्य चतुर्दश भविष्यति ॥

---

१ फोगल आर्कलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट १९०८-९ पृ० १२६

२ इस महत्त्वपूर्ण पक्ति के कई भ्रष्ट पाठ पुराणा म मिलते हैं। प्रस्तुत सशोधित पाठ मत्स्य (मार सस्करण) २७२ ३१ और वायु (मोर सस्करण) ९९ ३४३ के आधार पर है।

३ अतिस्त्रीप्रसक्तमनङ्गपरवश शुङ्गममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत्।

—हर्षचरित (बम्बई संस्करण) अ० ६ पृ० १९९

नारायणः सुतस्तस्य भविता द्वादशैव तु।
सुशर्मा तत्सुतश्चापि भविष्यति दशैव तु॥
इत्येते शुङ्गभृत्यास्तु स्मृताः काण्वायना नृपा।
चत्वारिंशद् द्विजा ह्येते काण्वा भोक्ष्यन्ति वै महीम्॥
चत्वारिंशत्पञ्च चैव भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।
एते प्रणतसामन्ता भविष्या धार्मिकाश्च ये॥
येषां पर्यायकाले तु भूमिरान्ध्रान् गमिष्यति।

—मत्स्य २७१।३१—३६

इस आधार पर कण्व राजाओ की तालिका इस प्रकार होगी —

वसुदेव	९ वर्ष
भूमिमित्र	१४ ,,
नारायण	१२ ,,
सुशर्मन्	१० ,,
योग -	४५ वर्ष

आधुनिक इतिहासकार कण्व-वश की स्थापना लगभग ७२ ई० पू० मानते हैं। इनका शासन-काल ४५ वर्ष था। इस प्रकार इनका आन्ध्रो द्वारा अन्त लग भग २९ ई० पू० मे ठहरता है। कण्व राजाओ की उपलब्धियो के विषय मे पुराण मौन है।

सातवाहनो को पुराणो मे आन्ध्र या आन्ध्रजातीय कहा गया है। इससे लगता है कि इनका मूलस्थान गोदावरी और कृष्णा नदियो की घाटी मे था। यह आश्चर्य है कि सातवाहन नृप अपने अभिलेखो मे अपने को आन्ध्र नही कहते। इनका उदय-काल भी बडा ही विवादास्पद है। मत्स्यपुराण के अनुसार इनका शासनकाल ४५० वर्ष और वायुपुराण के अनुसार ३०० वर्ष था। इस वश का सस्थापक सिमुक था।

मत्स्यपुराण ही मे आन्ध्रो का वृत्तान्त अच्छा मिलता है[१]। वायु (९९। ३४८-३५८) ब्रह्माण्ड (३।७४।१६०-१७०) विष्णु (४।२४।१२-१३) और भविष्य (१२।१।२२-२८) म आन्ध्रो का अपूर्ण विवरण है। वायु ब्रह्माण्ड, विष्णु और भागवत के अनुसार आन्ध्र राजाओ की सख्या ३० थी। किन्तु किसी भी उपर्युक्त पुराणो मे इन तीसो राजाओ का नाम उपलब्ध नही है। वायु की विभिन्न प्रतियों मे आन्ध्र राजाओ की सख्या १७, १८, १९ या ३०, ब्रह्माण्ड मे १७ और भागवत मे २३ तक ही राजाओं की नामावली दी गयी

१. मत्यपुराण (मोर०) २७२।१-१७

है। मत्स्य के विभिन्न संस्करणों के आधार पर पार्जिटर ने ३० राजाओं की नामावली प्रस्तुत की है।[1] आन्ध्र राजाओं के नाम और उनका क्रम इस प्रकार है :—

१ शिमुक	१६. अरिष्टकर्ण
२ कृष्ण	१७. हाल
३. श्री सातकर्णि	१८. मन्तलक
४ पूर्णोत्संग	१९. पुरीन्द्रसेन
५ स्कन्दस्तम्भि	२०. सुन्दर शातकर्णि
६ शातकर्णि	२१. चकोर
७. लम्बोदर	२२. शिवस्वाति
८. आपीलक (दिविलक)	२३ गौतमीपुत्र
९. मेघस्वाति	२४. पुलोमा
१०. स्वाति	२५ शातकर्णि[2]
११ स्कन्दस्वाति	२६. शिवश्री
१२ मृगेन्द्र	२७ शिवस्कन्ध
१३ कुन्तल	२८. यज्ञश्री
१४. स्वातिवर्ण	२९ चण्डश्री
१५ पुलोमावि (पदुमान्)	३०. पुलोमावि

इन राजाओं मे बहुतो की ऐतिहासिकता अन्य साक्ष्यों से भी प्रमाणित हो चुकी है। प्रथम तीन सातवाहन राजाओं के नाम नानाघाट अभिलेख मे भी आते हैं। मुद्रा तथा अभिलेखों के आधार पर गौतमीपुत्र, पुलोमा या पुलमावि और यज्ञश्री की भी ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है। पुराणों मे श्री शातकर्णि के दो उत्तराधिकारियों के नाम पूर्णोत्संग और स्कन्धस्तम्भि कहे गये हैं। नागनिका के नानाघाट अभिलेख मे, इनके नाम नहीं हैं किन्तु इनके स्थान पर वेदिश्री और शक्तिश्री आते हैं। आपीलक की एक ताम्र मुद्रा मिली है। 'गाथा-सप्तशती' का लेखक हाल तो प्रसिद्ध ही है। गौतमीपुत्र और पुलमावि से सम्बद्ध लेख नासिक और कार्ला मे मिले हैं। इनके सिक्के भी उपलब्ध हुये हैं। अभिलेखो मे पुलमावि अपने को वाशिष्ठीपुत्र भी कहता है। इसके पुत्र शातकर्णी

---

१. पार्जिटर पृ० ३६।

२. पुराणतालिका मे सम्भवत: भ्रमवश शातकर्णि दुहरा कर आया है। यदि पुलोमापुत्र शातकर्णि को मान्यता न दें, तो आन्ध्र राजाओं की सूची केवल २९ राजाओं तक ही सीमित रह जायगी।

का सम्बन्ध प्रसिद्ध शकनृप रुद्रदामन् से था। पुराण-तालिका के शिव श्री पुलोम और शिवस्कन्ध (शिवस्कन्द) की भी ऐतिहासिकता उनकी मुद्राओ से प्रमाणित है। शिवस्कन्द के पुत्र यज्ञश्री शातकर्णि के अभिलेख उपलब्ध हुये हैं। यज्ञश्री का उत्तराधिकारी विजय था जिसकी ऐतिहासिकता पुराण और मुद्रा, दोनो ही से सिद्ध है। पुराण-तालिका का अन्तिम राजा पुलमावि मुद्रा तथा अभिलेखीय प्रमाण से भी सुज्ञात है।

इस प्रकार आन्ध्र राजाओ का पौराणिक वृत्त बहुलाश मे प्रामाणिक सिद्ध होता है।

सातवाहनों के परवर्त्ती राजवंश—पुराणो मे राजवशावली का सकलन मुख्यतया सातवाहनो के शासनकाल मे (यज्ञश्री के शासनकाल मे) लगभग पूरा हो चुका था। अतएव परवर्ती राजवशो का अत्यन्त सक्षिप्त और अल्प विवरण ही पुराणो मे उपलब्ध है। क्षेत्रीय राजवशो मे जिनकी चर्चा पुराणों मे प्रमुख रूप से है गर्दभिन् या गर्दभिल, शक, तुषार मरुण्ड, हूण आभीर, श्री पर्वतीय आदि हैं[1]। इनके अतिरिक्त वाकाटक, मग और नैषध राजवशों की विशेष चर्चा वायु और ब्रह्माण्ड पुराण मे है।[2] गुप्तो के मूलस्थान या प्रारम्भिक शासन क्षेत्र के विषय मे वायुपुराण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है —

अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधान्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

—वायु० ९९।३८३

गुप्त साम्राज्य की यह स्थिति सम्भवत चन्द्रगुप्त प्रथम के समय मे थी। इसके बाद के गुप्तो का विवरण पुराणो में उपलब्ध नही। पूर्वगुप्तो के समकालीन कुछ राजवश जैसे चम्पावती के नाग, मथुरा के नाग, मणिधान्य के राजा (जिनके आधिपत्य मे नैषध, यदुक, शैशीत, कालतोयक थे) देवरक्षित,

---

१ आन्ध्राणा सस्थिता राज्ये तेषा भृत्यान्वये नृपा।
सप्तैवान्ध्रा भविष्यन्ति दशाभीरास्तथा नृपा॥
सप्त गर्दभिलाश्चापि शकाश्चाष्टादशैव तु।
यवनाष्टौ भविष्यन्ति तुषाराश्च चतुर्दश॥
त्रयोदश मुरुण्डाश्च हूणो ह्येकोनविंशति।
× × ×
आन्ध्रा श्रीपार्श्वतीयाश्च ते पञ्चाशतं समा॥

—मत्स्य० २७२।१७-२१

२ वायु० अ० ९९, ब्रह्माण्ड ३।७४।

(जो कोगर आभिर और पौण्ड का स्वामी था) ताम्रलिप्त, गुह कलिंग महिष, महेन्द्र सौराष्ट्र अवन्ती आदि के राजवंश की भी चर्चा है। इससे समुद्रगुप्त के दिग्विजय पूर्व की राजनीतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इन सभी राजाओं के प्रति पुराणकारों की आस्था नहीं थी और इन्हें अधार्मिक कहा गया है।[1] इसके बाद कलि के दोषों का वर्णन करके पुराणों में राजवंशावली का विवरण समाप्त कर दिया गया है।

१ वायु० अ० ९९।३८७-८८।

२ वायु० अ० ९९।३८८-४१२। तथा —मत्स्य० २७३।२५-३४

नवम परिच्छेद

पौराणिक धर्म

पुराण के मूल विषयो का प्रतिपादन इत -पूर्व एक स्वतन्त्र परिच्छेद मे किया गया है। सामान्य जनता को वैदिक तत्वो तथा क्रिया-कलापो का लोक दृष्ट्या प्रतिपादन करना पुराण का अपना तात्पर्य था। इस तात्पर्य के अनुकूल परिवर्तित अवस्थाओ मे, नये नये विषयो का भी सन्निवेश कालान्तर म पुराणो मे किये गये। यह लोक मर्यादा के निर्वाह की व्यापक दृष्टि से किया गया। स्कन्द पुराण के कुमारिका खण्ड मे (४०।१९८) मे इसी तथ्य का द्योतक यह सारवान् कथन उपलब्ध होता है—

इतिहास-पुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात् ।

लोक गौरव से इतिहास तथा पुराण भिन्न होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नूतन विषयो का सन्निवेश पुराणो मे किया जाने लगा। इन विषयो की सूचना वायुपुराण १०४।११-१७ मे बडी सुन्दरता से मिलती है।[1] नवीन विषय ये हैं—भुवनकोश (भूगोल तथा खगोल) वर्णाश्रम का धर्म षोडश सस्कार (मुख्यत श्राद्ध) व्रतोपासना, दान पूजादीक्षा राजधर्म तीर्थमाहात्म्य वैदिक साहित्य का विवरण शैव वैष्णव शाक्त धारा के दार्शनिक तथा उपासना तत्त्व, आयुर्वेद तथा रत्न परीक्षा। इनका समावेश प्रतिपुराण मे नही है, परन्तु आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार पुराण के कर्ताओ ने तत्तत् पुराण मे

---

१ पुराणेष्वपु वहवो धर्मास्ते विनिरूपिता ॥
रागिणा च विरागाणां यतीना ब्रह्मचारिणाम् ।
गृहस्थाना वनस्थाना स्त्रीशूद्राणा विशेषत १२ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशा ये च सन्करजातय ।
गङ्गाद्या या महानद्यो यज्ञव्रततपासि च ॥
अनकविधदानानि यमाश्च नियमै सह ।
योगधर्मा वहुविधा साख्या भागवतास्तथा ॥
भक्तिमार्गा ज्ञानमार्गा वैराग्यानिलनीरजा ।
उपासनविधिश्चोत्त कर्मशुद्धिचेतसाम् ॥
ब्राह्म शैव वैष्णव च सौर शाक्त तथाऽर्हतम् ।
षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियतानि च ॥ १६ ॥

—वायुपुराण अध्याय १०४

यहाँ 'व्यासार्थे' पद अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। तब 'वेदव्यास' के पुराणकर्ता होने का कारण क्या ? पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है कि व्यास किसी व्यक्ति का नाम न होकर पदाधिकारी की सज्ञा है। मूलत वेदव्यास ने प्रथम पुराण सहिता का प्रणयन किया था। उन्होने दोनों सहिताओ की रचना प्राय एक ही काल मे की थी इतिहास विषय म—जयसहिता (महाभारत सहिता का मूलरूप) तथा पुराण विषय म पुराण सहिता। तदन तर उनके शिष्य लोमहर्षण ने तथा उनके शिष्यत्रय (अकृतव्रण, सावर्णि तथा शासपायन) ने मिलकर चार पुराण-सहिताओ का सकलन किया था और इन्ही पुराणसहिताओं का विस्तार तथा विकास अष्टादश पुराणो के रूप म किया गया। इस काय मे मूल प्रेरणा वेदव्यास की ही है। उन्ही की पुराण सहिता के ही ये अष्टादश पुराण विस्तृत सस्करण हैं—इस सिद्धान्त के मानने मे कोई भी ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति नही है। तात्पर्य के ऐक्य तथा प्रेरणा के ऐक्य के कारण वेदव्यास को ही सब पुराणों के प्रणेता (अथवा सस्कर्ता) मानने मे किसी प्रकार का दोष उपस्थित नही होता। ऋषियो के स्वरूप-विषय मे ब्रह्माण्ड पुराण का यह कथन इस प्रसग मे मननीय है।[1]

पुराणो के कारण ही धार्मिक सहिष्णुता का साम्राज्य भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित हुआ। वैष्णवपुराण शिव की निन्दा नही करता, प्रत्युत शिव को भी वह हरि के रूप मे ही ग्रहण करता है। ब्रह्मा से इन दोनो देवो का एकत्व पुराणो मे अभीष्ट है। विष्णुभक्ति के मुख्यतया प्रतिपादक होने पर भी नारदीय पुराण ने स्पष्टत शिव विष्णु तथा ब्रह्मा का एकत्व प्रतिपादन किया है —

> **हरिशंकरयोर्मध्ये ब्रह्मणश्चापि यो नर।**
> **भेदं करोति सोऽभ्येति नरकं भृशदारुणम्॥**

---

१ धर्मशास्त्रप्रणेतारो महिम्ना सवगाश्च वै॥ ३१॥
तप प्रकष सुमहान्येषा ते ऋषय स्मृता।
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च व्यास सारस्वतस्तथा॥ ३२॥
व्यासा शास्त्रप्रणयनाद् वेदव्यास इति स्मृता।
यस्मादवरजा सत पूर्वेभ्यो मेधयाधिका॥ ३३॥
ऐश्वर्येण च सपन्नास्ततस्ते ऋषय स्मृता।
यस्मिन्काले न च वय प्रमाणमृविभावने॥ ३४॥
दृश्यते हि पुमान्कश्चित्कश्चिज्ज्येष्ठतमो धिया।
यस्माद् बुद्ध्या च वर्षीयान्बलोऽपि श्रुतवानृषि॥

—ब्रह्माण्ड, अ० ३३

हरं हरिं विधातारं यः पश्यत्येकरूपिणम् ।
स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निश्चयः ॥

—नारदीय ६।४८, ४९ ।

महापुराण के वर्णनो की यही दिशा है। उपपुराण की रचना किसी विशिष्ट धार्मिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए की गई है। इसलिए उपपुराण किसी विशिष्ट देवता के पूजानुष्ठान को लक्ष्य कर निर्मित हुए हैं। ऐसी दशा में अन्य देवों के साथ संघर्ष की सम्भावना हो सकती है, परन्तु मूलतः पुराणों में धार्मिक असहिष्णुता की चर्चा बहुत कम है। धार्मिक औदार्य पुराणों का लक्ष्य है। श्रीमद्भागवत मुख्यतया विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों की लीला का वर्णन करने वाला पुराण है। यहाँ शिव अपने पूर्ण उदात्तरूप में चित्रित किये गये हैं। दक्षप्रजापति ने शिवजी को जो शाप दिया है वह शैवमत के निम्नस्तरीय तथ्यों की ओर संकेत करता है। शिव विष्णु के विरोधी तथा विद्रोही के रूप में चित्रित नहीं किये गये हैं।

पुराणों मे धर्मशास्त्रीय विषयो का समावेश कब किया गया ? इस प्रश्न के उत्तर मे विद्वानो मे मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्मशास्त्रीय विषय पुराणसंहिता के मौलिक वर्ण्य विषयों में से अन्यतम था। पूर्व परिच्छेद मे सप्रमाण दिखलाया गया है कि जयमंगला (कौटिल्य अर्थशास्त्र (१-५) की व्याख्या) मे पुराण के पञ्चलक्षण मे सृष्टि, प्रवृत्ति, संहार तथा मोक्ष के संग मे धर्म को भी अन्यतम लक्षण मानती है जिसका प्रतिपादन पुराणकर्ताओ को सर्वथा अभीष्ट था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचन भी इसी तथ्य के पोषक हैं। आधुनिक विद्वानो की दृष्टि इससे भिन्न हैं। वे धर्मशास्त्रीय विषय—जैसे दान, तीर्थयात्रा, आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त आदि—को पुराण का अविभाज्य अंग नही मानते। जनता के भीतर वैदिक सिद्धान्त के प्रचार के निमित्त ही अवान्तर शताब्दियो मे इन विषयों को पुराण मे सम्मिलित कर लिया। इस विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा नारदस्मृति का नाम मूलस्रोत के रूप मे गृहीत किया जा सकता है। मनुस्मृति का रचनाकाल २०० ई० पू०—१०० ई० तक, याज्ञवल्क्य का रचनाकाल १०० ई०—३०० ई० तक तथा नारद स्मृति का रचनाकाल १०० ई०—४०० ई० तक काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास मे स्वीकार किया है। फलतः षष्ठ-सप्तमशती से पहिले यह विषय पुराणो में सम्मिलित नहीं किया गया। अष्टम—नवम शती से इन विषयों का पुराण में समावेश करने का काल मानना सर्वथा न्याय्य तथा उचित प्रतीत होता है।

पौराणिक धर्म का वैशिष्ट्य

पौराणिक धर्म कोई नवीन उत्पन्न होनेवाला धर्म नही है जो वेद प्रतिपादित मौलिक धर्म से विभेद रखता है। मूलतत्व समस्त वैदिक ही हैं। केवल परिवर्तित स्थिति की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए कतिपय प्राचीन विषयो का परिहार किया गया है और कतिपय नवीन विषयो का ग्रहण। वैदिक युग म कर्मकाण्ड पर विशेष आग्रह था, पौराणिक युग मे भक्ति के ऊपर विशेष महत्त्व दिया गया। इस प्रकार के सामान्य अतर को देखकर क्या यह धम एक नवीन धारा का प्रतिपादक माना जा सकता है? अवश्य ही वैदिक देवो मे अधिकाश को पुराणो ने अपन क्षेत्र से हटा दिया। केवल पाँच देवो को ही उसने महत्त्व देकर ग्रहण कर दिया। ये देव हैं—ब्रह्मा, विष्णु महेश गणेश तथा सूर्य। भगवान् के हृदय से आविर्भूत होकर वेद पहिले ऋषि, मुनि, ज्ञानी कर्मी तथा भक्त लोगो के मानस मे विचरण करने लगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो के अतिरिक्त अन्यान्य साधारण मनुष्यो को उनमे दीक्षित होकर जीवन की सार्थकता सम्पादन करने का अधिकार नही था। वेद की भाषा समझने की तथा वैदिक मन्त्रो के तात्पर्य को हृदयङ्गम करने की योग्यता मानव समाज मे थोडे ही लोगो मे थी। दीक्षा तथा उपनयन से विरहित होने के कारण समाज के निम्न स्तर के लोग अपने जीवन को वेदमय बनान से वचित रह गये। इस कमी की पूर्ति महर्षि वेदव्यास तथा उनके शिष्य और प्रशिष्यो ने वेदरूपिणी सरस्वती को जनता के कल्याण के लिये मानव समाज के ऊर्ध्वलोक से निम्नस्तर मे लाने के लिये अपने को नियुक्त किया। इसीका सुभग परिणाम हुआ पुराणा की रचना। वेद और पुराण वस्तुत अभिन्न हैं। किन्तु वेद द्विज-समुदाय म प्रतिष्ठित हैं और पुराण सभी श्रेणियो के नर-नारियो मे विचित्र वेश भूषा और विचित्र गतिभगी से विचरने वाले हैं। पुराण का उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जनसाधारण तक पहुँचाना है। इसकी सिद्धि के लिए उसने सरल सस्कृत वाणी को अपना माध्यम बनाया है। केवल भारत के प्रान्तो मे ही नहीं प्रत्युत भारत के बाहर अनेक द्वीप-द्वीपान्तर और देश देशान्तरो म भी पुराणों ने भारतीय सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया है। पुराणों की कृपा से सनातन वेदों ने सभी श्रेणियो के नर नारियों क जीवन को नियन्त्रित करके परम कल्याण, विमल प्रेम तथा विशुद्ध आनन्द के मार्ग में प्रवृत्त करने का अधिकार प्राप्त किया है।

पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वद ने जिस परम तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसको सर्वसाधारण क इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है।

वेदो के सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ने पुराणो म सौन्दर्यमूर्ति तथा पतित-पावन भगवान् के रूप मे अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है कि ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावो से परे हैं। पुराण कहते हैं कि ब्रह्म सर्वनामी, सर्वरूपी और सर्वभावमय है। वेद कहते हैं —एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं —एक सत् प्रेम्णा बहुधा भवति। भगवान् की अनन्त विभूतियो के मधुर रूपो का दर्शन हमे पुराणो मे मिलता है। पुराणों ने यह उद्घाटित किया है कि एक ही परम तत्त्व भगवान् विभिन्न रूप और नामो मे विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य को प्रकट कर सम्पूर्ण ससार मे लीला विलास कर रहे हैं तथा प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय किसी-न किसी रूप मे उसी भगवान् की ही उपासना करके कृतार्थता प्राप्त करता है। इसी कारण भारत के समग्र धार्मिक-सम्प्रदाय एकत्व के सूत्र मे बंधे हुए हैं। इस प्रकार पुराणो ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच मे लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को तथा भगवत्ता की अनुभूति को जागरित कर दिया है। पुराणों मे मानव-जाति का इतिहास और विशेषत. भारत के प्राचीन इतिहास का वर्णन है, पर साथ ही साथ पुराणो का प्रधान लक्ष्य यह दिखलाना है कि यह सब ससार भगवान् की लीला का विलास है। इस प्रकार पुराणो मे वैदिक तत्त्वो को रोचक रूप से जन-साधारण के सामने रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन्ही पुराणो को प्राप्त है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित होने वाले विद्वान् ही वैदिक और पौराणिक इन दो विभिन्न धर्मो की चर्चा करते हैं। जो व्यक्ति वेद मे श्रद्धा रखते हुए पुराणो मे आस्था नही रखता, वह हिन्दू-धर्म के मौलिक सिद्धान्तो से नितान्त अनभिज्ञ है। वेद और पुराण एक ही अभिन्न सनातन-धर्म के भिन्न काल मे आविर्भूत होनेवाले विशिष्ट ग्रन्थ हैं। वैदिक सहिताओं मे कर्मकाण्ड का विशेष प्राबल्य हमे मिलता है। परन्तु उन्हें ज्ञान तथा भक्ति से शून्य बतलाना भी नितान्त उपहास्यास्पद है। तथ्य बात यह है कि सहिताओ मे बीज रूप से निहित सिद्धान्तों का ही पल्लवीकरण हमें पिछले साहित्य में उपलब्ध होता है। भक्ति की चर्चा केवल पुराणों ही में है, उपनिषदों में नहीं, यह कथन दु साहसपूर्ण है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि बिना ईश्वर की कृपा के ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्या और बुद्धि उसकी प्राप्ति मे नितान्त व्यर्थ हैं। भगवत्कृपा का यह तत्त्व कितने सुन्दर रूप म अभिव्यक्त किया गया है —

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
—(कठ० उप० १।२।२३)

केनोपनिषद् मे कहा है कि ईश्वर भजनीय हैं, इस दृष्टि से उनकी उपासना करनी चाहिये —

"तद्वनमिति उपासितव्यम्" (केन० उप०)

वरुण सूक्तों मे भक्तो को भावना जिस मधुर रूप मे व्यक्त की गई है वह विद्वानो से अपरिचित नही है। इन प्रमाणो के रहते हुए भक्ति को पुराण काल की नई उपज मानना भ्रान्ति की चरम सीमा नही तो क्या है ?

(१)

पौराणिक हिन्दूधर्म का स्वरूप

१. हिन्दूधर्म स्वतन्त्रता-पोषक धर्म है

प्रत्येक सत्यान्वेषीको यह स्पष्टतया विदित है कि हिंदू धर्म का स्वरूप ईश्वर, आत्मा, सृष्टि एवं मानव-जीवन के ध्येय के सम्बन्ध में किसी वादविशेष को स्वीकार करना, किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं का अनुष्ठान तथा बाह्य आचारों का पालन एवं उपासना की विशिष्ट पद्धतियों का अनुसरण अथवा किसी खास पैगंबर अथवा ईश्वरीय दूत को बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना नहीं है। इन सब प्रश्नों के विषय में हिन्दूधर्म मानवीय बुद्धि एवं हृदय दोनों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। ईश्वर को जगत् का कर्ता एवं नियन्ता न मानना, आत्मा को नित्य एवं चेतन तत्त्व स्वीकार न करना तथा मुक्ति को आत्मा की शाश्वत आनन्दमयी स्थिति अङ्गीकार न करना भी हिन्दूधर्म की दृष्टि में कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना गया है। हिन्दूधर्म ने ऐसे लोगों को भी अवतार अथवा ऋषि मानने में आगा-पीछा नहीं किया, जिन्होंने ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, किन्तु जो वैसे महान् आध्यात्मिक पुरुष थे। हिन्दूधर्म का कभी यह आग्रह नहीं रहा कि मानवीय विचार, भावना तथा इच्छा-शक्ति पर अनुचित रोक-टोक लगायी जाय।

इसके विपरीत हिन्दूधर्म ने सदा इस बात को डंके की चोट कहा है कि मनुष्य स्वरूपतः सभी बन्धनों से मुक्त है और अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ के बल से पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करना ही उसके जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। हिन्दूधर्म की यह मान्यता है कि यद्यपि स्वतन्त्रता पर मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर भी इस जगत् में बाह्य एवं आन्तरिक—शारीरिक एवं मानसिक—परिस्थितियाँ दुर्भाग्यवश उसकी इस स्वतन्त्रता को कम कर देती हैं, अतः प्रत्येक मनुष्य का ध्येय यह होना चाहिये कि जितनी स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, उसका वह पूर्ण स्वतन्त्रता—सब प्रकार के बन्धनों एवं उपाधियों से मुक्ति—पाने के लिये उपयोग करे। इसीलिये हिन्दूधर्म मानवीय आत्मा के निर्बाध विकास पर किसी प्रकार का निग्रहपूर्ण नियन्त्रण नहीं लगा सकता, बल्कि वह प्रत्येक पुरुष, स्त्री एवं बच्चे की बुद्धि को अन्धकार से मुक्त करने की चेष्टा करता है, जिससे वह आदर्श स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये अपनी अधिकृत स्वतन्त्रता का समुचित उपयोग कर सके। इसलिये हिन्दूधर्म किसी को किन्हीं विशिष्ट मतवादों, उपासना

के प्रकारो अथवा वाह्य आचारो को ग्रहण करने के लिये बाध्य नही करता। इसके फलस्वरूप हिन्दूधर्म की सीमा के अन्दर हम असख्य सम्प्रदाय देखने को मिल्ते हैं जिनके परात्पर-तत्त्व एव परमोपास्य के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न मत हैं तथा जिनमे साधना के भिन्न भिन्न प्रकार तथा भिन्न भिन्न क्रियाकलाप आचार एव रीति रिवाज पाये जाते हैं। परन्तु क्या इसका अथ यह है कि हिन्दूधम *इतने सम्प्रदायो का एक निर्जीव समुदायमात्र है, उसमे एकता अथवा स्वतन्त्र* जीवन है ही नही ? नही, ऐसी बात कदापि नही है। हिन्दूधम का एक शरीर और एक ही आत्मा है। वह एक अमर प्राणी है जिसके शरीर मे ये सब भेद सघटित एव समन्वित रहते हैं और जिसकी आत्मा उन सबको अनुप्राणित एव आलोकित करती रहती है। अवयव अवयवी से सम्बद्ध रह कर विकसित एव नवीन होते रहते हैं। अवयवी उन्हे सम्बद्ध रखता है और व उसका महत्त्व बढाते रहते हैं।

२. हिन्दूधर्म का शरीर

हिन्दूधम के शरीर की ओर दृष्टि डालन पर हम कुछ ऐसे विशेष लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जो हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायो मे समान रूप से पाय जाते हैं और जो उन्हे एक सूत्र मे बाधे रखते हैं। हिन्दूधम की आत्मा ने इन बाहरी सामान्य लक्षणो म तथा उनके भीतर से अपने को प्रकट कर रखा है।

(क) भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर भाव

भूमिकाओं में भारत-माता के अन्दर जो कुछ उत्तम से उत्तम बातें थीं, उन्हें निःसङ्कोच स्वीकार करना।

परन्तु भारतीय प्रतिभा के इन प्राचीनतम कार्यों के प्रति स्वाभाविक आदरभाव ही हिन्दुओं की एकता का एकमात्र कारण नहीं है। रामायण, महाभारत, स्मृतिग्रन्थ, तन्त्र, पुराण एवं दर्शनों के प्रति, जो देश के परवर्ती प्रबुद्धतम मस्तिष्कों की कृतियाँ हैं, हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का महान् आदर है। भारतीय जीवन और संस्कृति के सभी विभागों में विचारों एवं आदर्शों को लेकर जो भी उन्नति हुई है—धार्मिक कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड तथा पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में भारतीय आत्मा का जो क्रमिक विकास हुआ है, ये सब ग्रन्थ उसी के प्रतीक हैं। हिन्दूजाति अतीत के गौरव को तथा अपने प्रति उसकी देन को कभी अस्वीकार नहीं करती। दूसरी ओर उसने प्राचीन शास्त्रों के वाचिक अर्थ के प्रति अथवा प्राचीन आचारों के बाह्यरूप के प्रति अनुचित पक्षपात कभी नहीं दिखलाया, किन्तु अपने को परिवर्तित स्थिति के अनुकूल बनाकर सदा ही सनातनधर्म का सचाई के साथ अनुगमन करने की चेष्टा की है। हिन्दू लोग अतीत के गौरव को सिर झुकाते हुए भी वर्तमान काल में विचार एवं क्रिया के स्वातन्त्र्य की कदापि उपेक्षा नहीं करते तथा अपनी धारणा के अनुसार समुज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढ़ने से भी नहीं चूकते। हिन्दुओं की शास्त्रों में श्रद्धा का स्वरूप क्या है? अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर भारतीय इतिहास के अत्यन्त अर्वाचीन सृजनोन्मुख काल तक भारत ने ऊँचे से ऊँचे तथा उत्तम से उत्तम जो कुछ भी काम कर दिखाया है, उसके प्रति ठोस आदर का भाव एवं उसे बिना ननु-नच किये प्रमाण मानना।

(घ) राष्ट्र के संत-महात्माओं एवं वीरों के प्रति श्रद्धा

महान् हिन्दू-समाज के सभी वर्गों में एकता के उपर्युक्त बलवान् सूत्र के अतिरिक्त उनमें भारत के राष्ट्रीय सन्त महात्माओं एवं वीरों के प्रति—उन यशस्वी ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति, जिन्होंने भारतीय प्रगति की किसी भी भूमिका में उसके धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक जीवन पर किसी भी प्रकार का स्थायी प्रभाव डाला है—ठोस व्यक्तिगत आदर भाव भी है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, मनु और याज्ञवल्क्य, नारद और कपिल, पराशर और व्यास आदि प्राचीन भारतीय महर्षियों ने, बुद्ध और शङ्कर, पारसनाथ और गोरखनाथ, चैतन्य और नानक, रामानुज और रामानन्द, कबीर और तुलसीदास प्रभृति महान् सन्तों एवं युगप्रवर्तकों ने, भगवान् कृष्ण, जनक और हरिश्चन्द्र, भीष्म और अर्जुन, ध्रुव और प्रह्लाद आदि विख्यात राष्ट्रीय वीरों

धानियाँ थीं और राजनीतिक महत्त्व को खो देने के बाद भी इतनी शताब्दियों से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के महान् केन्द्रों के रूप में अपने गौरव को बनाये हुए हैं और भारतीय जीवन की विभिन्न दिशाओं पर स्थायी ढंग का जोरदार प्रभाव डाले हुए हैं। दूसरे प्रकार के तीर्थ भारत की मुख्य तीन नदियाँ हैं, जो भिन्न भिन्न प्रान्तों में बटी हुई हैं एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं तथा जो सभी वर्गों के लोगों के लिए सुख-समृद्धि, पवित्रता एवं बल का कारण बनी हुई हैं। गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—इन सात पवित्र नदियों का प्रत्येक हिंदू को प्रतिदिन अपने स्नान अथवा पीने के जल में आवाहन करना सिखाया जाता है। देश के किसी भी नगण्य कोने में स्थित किसी भी छोटे से गाँव में वह क्यों न रहता हो, उसे यह बात याद रखनी होती है कि मैं महान् और पवित्र भारत देश का निवासी हूँ और जिस जल में स्नान करता हूँ या जिसे मैं पीता हूँ अथवा भगवान् को चढाता हूँ या जिससे मैं अपने पितरों का तर्पण करता हूँ, वह मातृभूमि की सम्पूर्ण नदियों का सम्मिलित जल है। इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरि इत्यादि महान् पर्वत, जो उसे अपनी महान् जन्मभूमि के सौन्दर्य, भव्यता एवं गौरव का स्मरण दिलाते हैं, वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान् वन, जिनमें प्राचीन तपोवन एवं वनस्थित विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरों के साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव-देवियों की आनन्ददायिनी क्रीडाओं की स्मृतियाँ निहित हैं, द्वैपायन, पुष्कर, मानस, पम्पा, नारायण आदि महान् सरोवर, जो अनेकों राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्यों की स्मृति से पूत हैं—प्रत्येक हिंदू इन सबका तीर्थों के रूप में स्मरण करता है, जहाँ का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से सराबोर रहता है।

जो-जो स्थान विशेष भारत के पूज्य संत महात्माओं की तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधना से पवित्र हो चुके हैं अथवा महान् राष्ट्रीय वीरों अथवा ऋषिकल्प विद्वानों की उदार कृतियों से गौरव को प्राप्त कर चुके हैं अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाली महती घटनाओं के कारण चिरस्मरणीय हो गये हैं अथवा

अनेक प्रकारों का निर्देश पुराणों में है, यथा पितृतीर्थ गणना (मत्स्य, अ० २२), देवीपीठ गणना (मत्स्य १३ अ०), ब्रह्मतीर्थ गणना (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। सामान्य तीर्थों के सूचनार्थ द्रष्टव्य ब्रह्म २५ अ०, अग्नि० १०९ अ०। काशी के उद्यानों का साहित्यिक वर्णन मत्स्य १७९ अ० ०१-४८ श्लो०, वाराणसी तथा प्रयाग का वर्णन कूर्म १।३१-३५ तथा ३६-३९। इन तीर्थों के विषय में विशेष रूप से द्रष्टव्य काणे कृत हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४ पृ० ५५२-८२७।

एव राजर्षियो ने तथा भगवती सीता और सावित्री, जगज्जननी सती और उमा, मैत्रेयी और गार्गी प्रभृति भारत की आदर्श महिलाओ ने अपने को हिन्दू कहलाने वाले सभी पुरुषो एव स्त्रियो के हृदय पर अटल नैतिक एव आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। सिद्धान्तो एव जीवनचर्या म बहुविध अन्तर होने पर भी सामान्यत हिंदूमात्र प्रेरणा के इन शाश्वत सर्वसुलभ स्रोतो से प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं और अपने को इन्ही के कुटुम्बी रूप मे अनुभव करते हैं। इस प्रकार के सभी आदर्श पुरुषो एव देवियो की स्मृति—जो दिन प्रतिदिन, *मास* प्रतिमास और वर्ष प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकार के उत्सवो एव धार्मिक अनुष्ठानो तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले पौराणिक आख्यानो एव ऐतिहासिक घटनाओ की कथाओ, यात्राओ, अभिनयो एव अन्य उल्लासपूर्ण खेल तमाशो के द्वारा जाग्रत ही नही अपितु अधिक जाज्वल्यमान एव ताजी रखी जाती है,—सभी युगो मे तथा देश के सभी भागो मे हिंदू समाज एव धर्म के सभी अवयवो मे *सास्कृतिक एव आध्यात्मिक एकता बनाये रखती है तथा उसे और भी सुदृढ़* बनाती है। इतना ही नही, वह उनमे इस भाव को भी जाग्रत् करती है कि *सृष्टि के आरम्भ से ही उनमे अमर जीवन की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित* हो रही है। हिंदू जाति *उन यशस्वी व्यक्तियो को जिन्होने सनातन तथ्यो को अपने जीवन मे उतारा है उन तथ्यो के सम्बन्ध मे कोरे वादो एव कल्पनाओ* की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है।

(ग) राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों का आदर

हिंदुओ के सभी सम्प्रदायो मे एकता बनाये रखनेवाला तीसरा सूत्र भारत के राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानो के प्रति पवित्रता की बुद्धि है। ये स्थान, जो इस महान् देश के सभी भागो मे—नगरो एव वनो म, नदियों तथा सरोवरो मे, *पर्वतो एव उपत्यकाओ म, बिखरे पडे हैं, तीर्थ मान जाते हैं।* प्रत्येक हिंदू, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा जातिका क्यो न हो अपन एव अन्त करण की शुद्धि के लिये अपनी स्थिति के अनुसार इनमे स अधिक से-अधिक तीर्थों की यात्रा करने मे हिंदू लोग शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध अथवा जैन तीर्थों मे कोई भेदबुद्धि नहीं करते। वे सभी भारतमाता के प्रत्येक बच्चे की दृष्टि मे पवित्र हैं।

म तीर्थ[1] क्या हैं? अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारकापुरी, उज्जयिनी आदि किसी-न-किसी समय भारत के कुछ महान् प्रतापशाली राज्यो की प्रसिद्ध राज

१ तीर्थों का विषय पुराणो म बडे विस्तार स दिया गया है। तीर्थ की संस्था अत्यन्त प्राचीनकाल म भारत मे प्रचलित थी। महाभारत के वनपर्व (अ० ८५) म इसका सर्वप्राचीन रूप दृष्टिगोचर होता। तीर्थों के

धानियाँ थीं और राजनीतिक महत्त्व को खो देने के बाद भी इतनी शताब्दियों से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के महान् केन्द्रों के रूप मे अपने गौरव को बनाये हुए हैं और भारतीय जीवन की विभिन्न दिशाओं पर स्थायी ढंग का जोरदार प्रभाव डाले हुए हैं। दूसरे प्रकार के तीर्थ भारत की मुख्य तीन नदियां हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बंटी हुई हैं एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं तथा जो सभी वर्गों के लोगों के लिए सुख-समृद्धि, पवित्रता एवं बल का कारण बनी हुई हैं। गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—इन सात पवित्र नदियों का प्रत्येक हिंदू को प्रतिदिन अपने स्नान अथवा पीने के जल में आवाहन करना सिखाया जाता है। देश के किसी भी नगण्य कोने में स्थित किसी भी छोटे से गांव में वह क्यों न रहता हो, उसे यह बात याद रखनी होती है कि मैं महान् और पवित्र भारत देश का निवासी हूँ और जिस जल में स्नान करता हूँ या जिसे मैं पीता हूँ अथवा भगवान् को चढ़ाता हूँ या जिससे मैं अपने पितरों का तर्पण करता हूँ, वह मातृभूमि की सम्पूर्ण नदियों का सम्मिलित जल है। इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरि इत्यादि महान् पर्वत, जो उसे अपनी महान् जन्मभूमि के सौन्दर्य, भव्यता एवं गौरव का स्मरण दिलाते हैं; वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान् वन, जिनमें प्राचीन तपोवन एवं वनस्थित विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरों के साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव-देवियों की आनन्ददायिनी क्रीड़ाओं की स्मृतियां निहित हैं; द्वैपायन, पुष्कर, मानस, पम्पा, नारायण आदि महान् सरोवर, जो अनेकों राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्यों की स्मृति से पूत हैं—प्रत्येक हिंदू इन सबका तीर्थों के रूप में स्मरण करता है, जहां का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से सराबोर रहता है।

जो-जो स्थान विशेष भारत के पूज्य संत महात्माओं की तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधना से पवित्र हो चुके हैं अथवा महान् राष्ट्रीय वीरों अथवा ऋषिकल्प विद्वानों की उदार कृतियों से गौरव को प्राप्त कर चुके हैं अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाली महती घटनाओं के कारण चिरस्मरणीय हो गये हैं अथवा

अनेक प्रकारों का निर्देश पुराणों में है, यथा पितृतीर्थ गणना (मत्स्य, अ० २२), देवीपीठ गणना (मत्स्य १३ अ०), ब्रह्मतीर्थ गणना (प्रभासक्षेत्र १०५ अ०)। सामान्य तीर्थों के सूचनार्थ द्रष्टव्य ब्रह्म २५ अ०, अग्नि० १०९ अ०। काशी के उद्यानों का साहित्यिक वर्णन मत्स्य १७९ अ० २१-४४ श्लो०, वाराणसी तथा प्रयाग का वर्णन कूर्म १।३१-३५ तथा ३६-३९। इन तीर्थों के विषय में विशेष रूप से द्रष्टव्य काणे कृत हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग ४ पृ० ५५२-८२७।

जिन्होने अपने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक सौन्दर्य एव भव्यता से लोगो का ध्यान आकर्षित किया है, वे सामान्यतः सभी हिंदुओं के लिये तीर्थ रूप हैं, चाहे उनके धार्मिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक रीति-रिवाज अथवा आचरण सम्बन्धी नियम कैसे भी क्यो न हो। इस प्रकार अपने सारे प्राकृतिक एवं अर्जित गौरव तथा अपने अतीत, वर्तमान एव भविष्य को लिए हुए समग्र भारतवर्ष का प्रत्येक हिंदू की दृष्टि मे एक आध्यात्मिक अर्थ है। प्रत्येक हिंदू बच्चा करीब-करीब अनजान मे ही भारतवर्ष को आदर-पूर्वक एक सुन्दर एवं महान् *सजीव व्यक्ति—अपनी सन्तानो के प्रति वात्सल्य एवं* करुणा से पूर्ण तथा उनकी सब प्रकार के अनिष्टो से रक्षा करने की शक्ति एवं साधनो से सम्पन्न भगवती जगदम्बा के रूप मे स्मरण करना सीख जाता है। *भारत के समस्त सम्प्रदायो एव जातियो को हिंदूधर्म की सर्वसंग्राहक भुजाओ* के भीतर एक सूत्र मे पिरोने तथा उनके जीवन एव सस्कृति को एक विशेष रूप देने मे यह भाव कितना प्रबल सहायक है—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

३. हिंदूधर्म और भारतवर्ष

इस प्रकार भारतमाता के प्रति इस सजीव बुद्धि को हिंदूधर्म का शाश्वत एव नित्य नूतन शरीर कहा जा सकता है। हिंदूधर्म का व्यापक रूप जो सभी सम्प्रदायो के हिंदुओ की बुद्धि मे उतरा हुआ है और जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तो, सामाजिक प्रथाओ एव दार्शनिक मतवादो से कोई सम्बन्ध नही है, उसका स्वरूप है—भारत की नैतिक, बौद्धिक, ललित कला सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक सम्पत्ति मे जो कुछ भी अच्छा और महान् है, उदात्त और सुन्दर है तथा महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, उसे पवित्र मानना एवं आध्यात्मिक रूप देना। जो कोई भी भारतमाता को अपने जीवन की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे स्वीकार करता है, वह हिंदू कहलाने का न्यायत अधिकारी है। हिंदूधर्म अपने कलेवर के अन्दर इस देश की तथा बाहर की *सभी सभ्य एवं जंगली जातियो तथा सभी धार्मिक सम्प्रदायो एवं सामाजिक* सघटनो को उनके धार्मिक सिद्धान्तों, भावनाओ एव आचारो की तथा उनके सामाजिक विचारों, रीतियों और रिवाजो की विशेषताओ को मिटाये बिना ही हजम कर जाने की शक्ति रखता है और उसने अतीत काल मे ऐसा किया भी है। शर्त यही है कि वे भारत के गौरव पर गर्व करना सीख जायँ, उनकी दृष्टि वस्तुत' भारतीय हो जाय और वे भारत की आत्मा से अनुप्राणित हों, जो नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक साधना के विभिन्न रूपों द्वारा अति प्राचीन काल से अपने को चरितार्थ कर रही है।

हिंदुओं का अस्तित्व ही भारत की एकता के भाव—भारत एक सजीव आध्यात्मिक सत्ता है, इस भाव के साथ—सम्बद्ध है। हिन्दू एक दूसरे के साथ एक ही माता के बच्चों के रूप में सम्बद्ध हैं, जो उनके लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को उदात्त एवं पूर्ण बनाने के लिए उन्हें भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक—सभी प्रकार का भोजन देती है। भारतमाता की पूजा एवं सम्मान तो अपने-अपने ढंग से हिंदूधर्म के अन्तर्गत सारे धार्मिक सम्प्रदाय करते हैं और अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए वे उसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक हिन्दू का आध्यात्मिक ध्येय है—अपनी व्यष्टि आत्मा का भारत की आत्मा के साथ ऐक्यबोध करना, क्योंकि उसकी दृष्टि में भारत की आत्मा विश्वात्मा की अत्यन्त तेजस्वी अभिव्यक्ति है। हिन्दुओं की दृष्टि में भारत निरा भौतिक देश—भौतिक जगत् का एक टुकड़ा—ही नहीं है, अपि तु विश्वात्मा का एक विशिष्ट शरीर है और इस रूप में वह आध्यात्मिकता का सनातन स्रोत है। इसी देश में भगवान् प्रत्येक युग-पर्यंत में भ्रान्त एवं मूढ़ जगत् को दिव्य आलोक देने तथा उसे शान्ति, सामञ्जस्य, एकता एवं आनन्द का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए विशेषरूप से प्रकट होते हैं।

४. हिंदूधर्म की आत्मा

अब हिंदूधर्म की आत्मा के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहूँगा। यह स्पष्ट है कि हिंदूधर्म की आत्मा का मनुष्य की अपूर्ण भाषा में पूर्णतया निर्देश नहीं किया जा सकता। बौद्धिक ज्ञान, सामाजिक प्रथा, धार्मिक सिद्धान्त आदि में महान् अन्तर रहते हुए भी हम एक ही आत्मा को सभी सम्प्रदायों के हिंदुओं की दृष्टि तथा व्यापार को अनुप्राणित एवं आलोकित करते हुए अनुभव कर सकते हैं, परन्तु इन सभी भेदों में तथा उनके भीतर से अपने को अभिव्यक्त करनेवाली इस अमर आत्मा की तर्कशास्त्रानुमोदित परिभाषा नहीं की जा सकती। अन्य साम्प्रदायिक मजहबों की भाँति हिंदूधर्म भी यदि विशिष्ट पैगम्बरों के नपे-तुले उपदेशों से आविर्भूत होता, यदि विशिष्ट आचार्य-परम्परा के द्वारा उपदिष्ट निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर ही इसकी स्थापना हुई होती तो इसकी आत्मा का उन उपदेशों अथवा सिद्धान्तों की भाषा में निर्देश किया जा सकता था। परन्तु हिंदूधर्म में ऐसी कोई मान्यताएँ नहीं हैं, जिन्हें उसका प्राण कहा जा सके। उसकी आत्मा किन्हीं ईश्वर के भेजे हुए दिव्य मानव के द्वारा सदा के लिये निर्धारित किन्हीं सिद्धान्तों, किन्हीं नियमों एवं कानूनों, किन्हीं विचारों, भावनाओं तथा क्रिया-कलापों के अंदर बद्ध नहीं है। हिंदूधर्म की आत्मा स्वयं विकसित हो रही है। युग-युग में मनुष्यों की बाहरी परिस्थिति में तथा उनकी शारीरिक एवं

मानसिक योग्यता मे जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके अनुकूल हिन्दूधर्म की आत्मा अपनी एकता तथा विशेषता को बिना खोये हुए विचारों, भावनाओं एवं क्रियाकलापों की समयोचित धाराओं के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती आ रही है। यदि हम उसका किन्हीं ऐसे दार्शनिक अथवा धार्मिक सम्प्रदायों, नैतिक नियमों अथवा सामाजिक प्रथाओं की भाषा मे निर्देश करना चाहें, जो उससे निकले हैं और जो उसके द्वारा अनुप्राणित एवं आलोकित हैं, तो हमारी वह परिभाषा निश्चय ही एकदेशीय, अपूर्ण एवं बाह्य होगी। आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति हो सकती है, परन्तु उसका किसी माध्यम के द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता। हाँ, उसकी अभिव्यक्ति के सार्वभौम प्रकारों का विमर्श करने से हम सबको मानसिक कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

(क) जीवन एवं जगत् के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि

हिंदूधर्म के आत्मा की जो सबसे प्रधान एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति मालूम होती है, वह है जीवन एवं जगत् के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि। हिंदुओं का जीवन मुख्यतया आध्यात्मिक जीवन है। हिंदुओं की दृष्टि में मनुष्य विवेक बुद्धि, नैतिक भावना अथवा आध्यात्मिक भावना से युक्त प्राणी नहीं है वह तो सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलदेहधारी चेतन आत्मा है। आध्यात्मिक स्वरूप ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप माना जाता है, आधिभौतिक स्वरूप मनोमय स्वरूप, बौद्धिक स्वरूप तथा नैतिक स्वरूप भी उसके अधीन माने जाते हैं। वे उसकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र, इस वैचित्र्यमय जगत् मे उसकी स्वानुभूति एवं चरितार्थता के उपकरण हैं उसके अंतर्निहित परम आदर्श के अनुवर्ती हैं। बन्धन और अपूर्णता, राग और द्वेष, शोक और चिन्ता, जन्म और मृत्यु सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलशरीर के पीछे लगे हुए हैं। परन्तु आत्मा, जो इस शरीर का स्वामी है और जो इसके अंदर तथा इसके द्वारा स्वरूप लाभ करता है, शाश्वत एवं अमर है, वह स्वरूपतः शुद्ध, सुन्दर एवं आनन्दमय तथा सब प्रकार के बन्धनों एवं सीमाओं से परे है। आत्मा इस शरीर को अपना स्वरूप मान बैठा है, इसी से वह दुःख पाता है। इस सूक्ष्मविशिष्ट स्थूलशरीर की माँगों को यदि हम जीवन मे प्रधानता देने लग जायँ, तो दुःख अवश्यम्भावी है। आत्मा का ध्येय होना चाहिये—इन माँगों को संयत करना तथा उदात्त बनाना, जीवन की सब माँगों को आध्यात्मिक आदर्श के अनुकूल बनाना तथा क्रमशः इस सम्पूर्ण शरीर को चिन्मय बनाना। शरीर, मन एवं इन्द्रियों का उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रों में आत्मा के द्वारा शासन होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक जीवन में अंतर्हित आदर्श की सिद्धि इसी जगत् में हो सके।

इसीलिए हिंदू-संस्कृति के समस्त विभागों का धर्म द्वारा शासन एवं समन्वय होता है। धर्म का वास्तविक अर्थ है—इस शरीर में आत्मा के नित्य शुद्ध, सुन्दर, आनन्दमय एवं चेतनस्वरूप का क्रमशः अनुभव करना। कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र, पारिवारिक एवं सामाजिक संघटन, कानून और रिवाज, सम्पत्ति तथा शारीरिक सुविधाओं के उत्पादन एवं विभाजन की विधियां—हिंदू इन सबको सामान्यतः मानवजाति की आध्यात्मिक साधना की विभिन्न शाखायें मानता है और हिन्दुओं के जीवन में इन सबका सार्वभौम आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा नियन्त्रण होता है। एक सच्चे हिन्दू-परिवार में पति-पत्नी का, माता पिता और सन्तान का तथा भाइयों और बहिनों का परस्पर सम्बन्ध एक आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है और उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से ही एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना सिखाया जाता है। सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में भी समाज एवं राज्य के अङ्गों का परस्पर सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक अङ्ग को अपने सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करना होता है। अभिमानशून्य हृदय से समाज एवं राष्ट्र के हित-साधन में योग देने से, समाजरूपी महान् शरीर की सेवा में लौकिक स्वार्थों की बलि देने से ही मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की योग्यता प्राप्त करता है—ऐसा माना जाता है।

जड प्रकृति की अपेक्षा चेतन आत्मा की, भौतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की प्रधानता में हिंदुओं का जो यह सार्वभौम विश्वास है, वही हिंदू-समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था की आधार-शिला है। हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों एवं सन्यासियों के शीर्षस्थानीय होने का यही अर्थ है कि सभी वर्गों के हिंदू भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को स्वेच्छा से ऊंचा मानते हैं। देश की राजनीतिक, नैतिक, सैनिक एवं आर्थिक सत्तायें स्वेच्छा से स्वीकार की हुई अकिञ्चनता तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष की गौरवमयी महिमा के आगे नतमस्तक होकर उसकी सेवा में लग जाती हैं।

हिंदुओं की बुद्धि विभिन्न श्रेणियों के चराचर प्राणियों से युक्त इस सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक दृष्टि से देखती है। यह जगत् चिन्मय है, यह भगवान् का विराट् देह है। जगत् की सारी वस्तुएं और घटनायें भगवान् की ही अभिव्यक्तियां मानी जाती हैं। भगवान् के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों एवं संतों में मतभेद हो सकता है। परन्तु जनसाधारण का हार्दिक विश्वास तो यह है कि जगत् का स्वरूप केवल वही नहीं है जो इंद्रियों के अनुभव में आता है, किन्तु उसके पीछे एक चिन्मय आधार

है, प्रतीयमान जगत् के प्रत्येक पदार्थ का एक आध्यात्मिक अर्थ है और जगत् मे काम करनेवाली सम्पूर्ण शक्तियाँ एक आध्यात्मिक उद्देश्य के द्वारा नियन्त्रित हैं और एक चिन्मय इच्छा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। सभी हिन्दू जगत् को अजर-अमर माता के रूप म नमन करते हैं जो सम्पूर्ण जीवों को उत्पन्न करके उनका प्रेम एव आनन्द के साथ पोषण करती है। यह प्रतीयमान विश्व, जो देखने म असख्य प्रकार की वस्तुओ एव घटनाओ से बना हुआ है, हिन्दुओ की दृष्टि मे एक सजीव व्यक्ति है, जो असख्य रूपों मे अभिव्यक्त एक ही आत्मा, एक ही उद्देश्य, एक ही नियम मे अनुप्राणित एव ओतप्रोत है। हिन्दू अपने हृदय मे विश्व की महत्ता एव सौन्दर्य का अनुभव करते हैं तथा उसे माता के रूप मे पूजते हैं। विश्व के चिन्मय स्वरूप की पूर्ण अनुभूति ही उनके चिन्मय स्वरूप की पूर्णता है। जीवन एव जगत् के प्रति यह आध्यात्मिक दृष्टि हिन्दूधर्म के आत्मा की अभिव्यक्ति है।

(ख) जगत् के नैतिक शासन में विश्वास

हिन्दूधर्म के आत्मा की दूसरी महान् अभिव्यक्ति हिन्दुओ का यह विश्वास है कि जगत् के आभ्यन्तर शासन मे नैतिक विधान की प्रधानता है। हिंदूमात्र इस नैसर्गिक विश्वास से अनुप्राणित है कि एक न्याय-पूर्ण विधान जगत् के जीवो मे सुख दुख सम्पत्ति और दरिद्रता, बल और निर्बलता, विवेक और मूढता, उच्चाकाक्षाओ और नीच प्रवृत्तियो, उदात्त भावनाओ एव नीच मनोविकारो तथा अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियो का विभाजन करता है। जीव जगत् में भौतिक कार्य-कारणभाव नैतिक कार्य-कारणभाव के सर्वथा अधीन एव उसी के द्वारा नियन्त्रित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मा का अनिवार्य फल भोगता है। अत अपने कर्तव्य का मार्ग निश्चित करने मे हिंदू इसी बात का विचार करते हैं कि वह शुभ है अथवा अशुभ, उसका नैतिक परिणाम शुभ होगा या अशुभ, वह शास्त्रोक्त नैतिक नियमों के अनुकूल है या नही, वे केवल अथवा मुख्यतया इस बात का विचार नही करते कि भौतिक दृष्टि से तथा भौतिक कार्य कारणभाव के विचार से उस कर्म से तात्कालिक लाभ होगा या हानि। उनके कर्मों का नियन्त्रण अधिकतर नैतिक विचार से होता है, लौकिक लाभ की दृष्टि से नहीं। नैतिक कार्य कारण भाव या कर्म के विधान मे विश्वास हिंदू धर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है। इस विश्वास का अर्थ यह है कि मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता है, अकेला वही अपने सुख दुख के लिये, अपनी मनोवृत्तियों के लिये तथा अपने जीवन म आनेवाले अनुकूल अवसरो तथा विघ्न-बाधाओं के लिये जिम्मेवार है। यह विश्वास उसे यह सिखलाता है कि किसी दूसरे के

प्रति जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो तथा जो अधिक आराम भोगता हो, अथवा जिसे अधिक पद प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ईर्ष्या, द्वेष या वैर का भाव मत रखो, क्योंकि यह उसके पिछले कर्मों का फल है। वह उसे अपनी स्थिति को सुधारने के लिये दूसरों के साथ कटुतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा करने से रोकता है, क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हैं, यदि वह उनका समुचित उपयोग करे और अपने चरित्र को उन्नत बनाये तो उसे नैतिक विधान के अनुसार ठीक समय पर अपने शुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। जगत् के नैतिक शासन मे विश्वास के साथ-साथ तथा उसी से पूरा-पूरा मेल खाता हुआ हिंदुओ का दूसरा विश्वास पूर्वजन्म के सिद्धान्त में है। मनुष्य का जीवन उसके वर्तमान भौतिक शरीर के जन्म से नहीं प्रारम्भ होता और न उस शरीर की मृत्यु के साथ उसका अन्त होता है। कर्म का विधान ही प्रत्येक जीवन का नियन्त्रण करता है। वर्तमान जीवन मे उसे जो योनि, जैसी योग्यता और जो अनुकूलताएँ प्राप्त हैं, वे सब उसके प्राक्तन कर्मों के नैतिक फल हैं। उसके जो कर्म वर्तमान् जीवन मे फलीभूत नहीं होते, वे भावी जन्मो मे फलीभूत होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास एव आत्मा की पूर्णता के लिये बार-बार अवसर दिये जाते हैं। यह विश्वास प्रत्येक हिंदू को पूर्णता एव आनन्द की आशा से भर देता है और उसे वर्तमान जीवन की विपत्तियो को सहन करने की शक्ति प्रदान करता है।

(ग) मुक्ति का सिद्धान्त

हिंदूधर्म की आत्मा एक दूसरे उच्च सिद्धान्त के रूप मे अपने को अभिव्यक्त करती है। वह यह है कि मानवीय आत्मा की चरम आकांक्षा इतनी ऊँची है कि वह इस परिवर्तनशील जगत् के सीमित भोगो से पूर्ण नहीं हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्मबन्धन से, प्रतीयमान जगत् के सुख दुखों से तथा सब प्रकार की सीमाओं एव उपाधियो से सर्वथा छूटने मे ही है। हिंदुओ के विश्वास के अनुसार सब प्रकार की सीमाओ को लाँघ जाना, जगत् के नैतिक शासन से और उसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु एव आपेक्षिक सुख-दुखो के चक्र से भी छूटकर ईश्वरीय पूर्णता—निरतिशय आनन्द की नित्यस्थिति—प्राप्त करना मानवीय आत्मा का नैसर्गिक अधिकार है। अपनी ससारयात्रा का अन्त करने के लिये तथा अपने सांसारिक जीवन के परम उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपने को अज्ञान और अहङ्कार से, इच्छाओं एव वासनाओ से, सासारिक प्रतिष्ठा एव समृद्धि की आसक्ति मे, भौतिक दृष्टि एव दूसरो के साथ प्रतिस्पर्द्धा भाव से मुक्त करे तथा निरतिशय ज्ञान, नि स्वार्थ प्रेम, अविचल शांति, कल्मषहीन

पवित्रता तथा समस्त भूतो के साथ अभेदबुद्धि सम्पादन करे और इस प्रकार भगवान् के साथ अभेद स्थापित करे। प्रत्येक हिन्दू की सर्वोच्च आकांक्षा यही होती है।

(घ) भगवान् का सर्वग्राही स्वरूप

अन्ततोगत्वा मैं हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप बतला देना चाहता हूँ, जिसके कारण धर्मोन्माद या धर्मान्धता हिन्दुओ की बुद्धि मे गहरी जड नहीं जमा सकती। ईश्वर एव मुक्ति के सम्बन्ध मे हिन्दुओ की ऐसी मान्यता है कि जिसमे सभी मतो का समावेश हो जाता है। हिन्दूधर्म अधिकारपूर्वक यह कभी नहीं कहता कि ईश्वर का स्वरूप बस, यही है—इससे भिन्न नही, वह इस बात की घोषणा नही करता कि अमुक सत अथवा पैगबर की अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञा ने परात्पर वस्तु के स्वरूप का पूर्णरूप से आकलन किया है। वह यह भी नही कहता कि परमोपास्यरूप से साकार भगवान् की सत्ता में *विश्वास करना मानवीय आत्मा की आध्यात्मिक पूर्णता के लिये अनिवार्य है।*

अवश्य ही ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं जो हिंदू सस्कृति के प्रभाव मे जन्मे एव पले हुए प्रत्येक पुरुष एव स्त्री के हृदय मे—चाहे वह विद्वान् हो या अनपढ—काम करते हैं। पहली मान्यता है निर्विशेष ब्रह्मपरक। इस रूप मे वे ही सब कुछ—एकमात्र तत्त्व माने जाते है। एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा परमात्मा नहीं है। केवल इतनी ही बात नही, अपितु एक परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नही है। सारी सोपाधिक सत्ताएँ उस एक निरुपाधिक स्वत सिद्ध सत्ता के आभासमात्र हैं। भीतर-बाहर—सर्वत्र जो कुछ प्रतीत होता है, उसमे एकमात्र उन्हींको देखना—यही सच्चा ज्ञान है। वे निर्गुण हैं, क्योकि गुणो के साथ सम्बन्धो का होना अनिवार्य है और जहाँ सम्बन्ध हैं, वहा उनसे सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ भी होनी ही चाहिये। जो एक एव अद्वितीय है, वह निर्गुण, नित्य, अपरिच्छिन्न एव निर्विशेष तो होगा ही। सभी प्रातिभासिक सत्ताएँ स्वरूपत उनमे अभिन्न हैं।

दूसरी मान्यता है परमेश्वर के विषय मे। इस रूप मे वे समस्त जीवों *एव इन्द्रियगोचर पदार्थों के तथा अनन्त भेदो से युक्त अखिल विश्व के* अधीश्वर हैं। इस सापेक्ष रूप मे वे जगत् की सम्पूर्ण परिच्छिन्न एव अनित्य वस्तुओ के उत्पादक, नियन्ता एव सहारक हैं। वे अनन्त शक्ति, ज्ञान एवं सौम्यता तथा अनन्त प्रकार के उत्तम गुणो से सदा सपन्न हैं, जिनके कारण सभी सत्पुरुष गाढ़ भक्ति एव श्रद्धा से उनकी वन्दना करते हैं। परन्तु उनका कोई निश्चित नाम अथवा रूप नहीं है। वे समस्त नाम-रूपात्मक हैं। चूँकि

नाम और रूप की सहायता के बिना मनुष्य के लिये चिन्तन सम्भव नहीं है, अतः उनका चिन्तन एवं उपासना करने के लिये मनुष्य किसी भी नाम अथवा रूप का उपयोग कर सकता है। किसी भी नाम या रूप को, जो मनुष्य के चित्त मे जगदीश्वर भगवान् के सर्वैश्वर्यपूर्ण स्वरूप की स्फूर्ति कर सकता हो, हिन्दू भगवन्नाम अथवा भगवद्-रूप मान लेता है। प्रत्येक हिन्दू का विश्वास है कि ऐसे सभी रूप अतीन्द्रिय भगवान् के इन्द्रियगोचर रूप हैं। भगवान् के विषय में कौन सी मान्यता कहा तक पूर्ण है, यह स्वाभाविक ही इस बात पर निर्भर करता है कि उपासक का बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास कहाँ तक हुआ है।

तीसरे, सभी हिंदुओ का यह नैसर्गिक विश्वास है कि एक ही परमेश्वर इस जगत् में अनेक देवताओं के रूप मे अपने को अभिव्यक्त किये रहते हैं। इनमे से प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि साक्षात् परमेश्वर ही एक विशिष्ट शरीर धारण करके उस रूप में प्रकट हैं और उसी शरीर में उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, सौम्यता, श्री, सौन्दर्य एवं तेज की विशिष्ट कलाएँ प्रकट रहती हैं। इन देवताओं के विभिन्न नाम, और विभिन्न रूप हो सकते हैं और इनके द्वारा विभिन्न शक्तियों एवं गुणों का प्रकाश हो सकता है। परन्तु स्वरूपतः वे एक दूसरे से अभिन्न हैं; क्योंकि उन सब मे एक ही परमात्मा का निवास है तथा एक ही परमात्मा उनमे तथा उनके द्वारा भिन्न-भिन्न लीलायें करते हैं। हिंदुओं की दृष्टि में भगवान् के ये सभी रूप विज्ञानमय एवं चिन्मय जगत् में परिच्छिन्न जीव एवं इन्द्रियगोचर पदार्थ सत्य हैं। अतः कोई व्यक्ति अथवा समुदाय अथवा जाति चाहे किन्हीं भी देवताओं की उपासना करे, अथवा जगदीश्वर की किसी भी नाम-रूप से आराधना की जाय, हिन्दू इस प्रकार की उपासना अथवा इस प्रकार के किसी भी उपासक के प्रति द्वेष का भाव नहीं रख सकते। इसलिये धर्मोन्माद, जो बहुधा नीचातिनीच पाशविक विकारो की अपेक्षा अधिक गिरानेवाला एव भयावह होता है, हिंदुओं के चित्त में कभी जड नहीं पकड सकता।

इस प्रकार हिन्दू धर्म की आत्मा अपने-आपको सार्वभौम धार्मिक दृष्टि के रूप मे तथा ईश्वर-सम्बन्धी सभी विवेकपूर्ण मान्यताओ तथा सब प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओ के समादर के रूप मे अभिव्यक्त करती है। अतः हिंदू धर्म ही विश्व धर्म का सच्चा नमूना है। वर्तमान हिन्दू धर्म का यही स्वरूप है। यह स्वरूप पुराणों के ऊपर ही आश्रित है। अतः इसे पौराणिक धर्म का रूप मानना सर्वथा उचित है।

(२)

महाभारत में धर्म का स्वरूप

महाभारत की प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों में अनुपम है; यह एक उपजीव्य महाप्रबन्धात्मक काव्य होने पर भी मूलतः इतिहास[1] संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके रचयिता महर्षि व्यासदेव ने स्वयम् इसे इतिहासोत्तम बतलाया है जिसका आश्रय लेकर कवि की प्रतिभा नए-नए काव्यों की-गीतिकाव्यों तथा महाकाव्यों की—और नए नए रूपकों की संघटना में कृतकार्य हुई है। इतना ही नहीं, यह एक साथ एककालावच्छेदेन अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, तथा मोक्षशास्त्र है जिसकी तुलना इस वैविध्य के कारण किसी भी अन्य ग्रन्थ से हो ही नहीं सकती। फलतः यह अपनी विशिष्टता की दृष्टि से एकदम बेजोड़ है, अंततः अनुपमेय है—

> अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
> कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥
>
> —आदिपर्व, २।३८३।

फलतः महाभारत का धर्मशास्त्रीय स्वरूप आख्यानादिकों के साथ आजकल जो उपलब्ध हो रहा है, वह भी नूतन निर्माण नहीं है। यह तो निश्चित है कि यह स्वरूप महाभारत के आदिम रूप में—'जय' नामक पाण्डवों की विजयगाथा के मूलतः वर्णनात्मक ग्रन्थ में—वर्तमान नहीं था, क्योंकि शतसाहस्री संहिता में ही आख्यानों का अस्तित्व विद्यमान है, इसका प्रमाण महाभारत में अनेकत्र मिलता है।[2] महाभारत में आख्यानों की प्राचीनता का प्रमाण हमें कात्यायन के वार्तिक तथा पतंजलि के महाभाष्य से भलीभाँति मिलता है। 'आख्या-

---

१ इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥

—महाभारत, आदिपर्व, २।३८५।

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥

—वही, श्लोक ३८९।

२. इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ॥

—वही, १।१०१।

नाख्यायिकेतिहास पुराणेभ्यश्च' (पाणिनि सूत्र ४।२।६० पर कात्यायन वार्तिक) के ऊपर अपने महाभाष्य में पतञ्जलि ने 'यवक्रीत', 'प्रियगु' तथा 'ययाति' के आख्यानो का उल्लेख किया है। इनमे से 'यवक्रीत', तथा 'ययाति' का आख्यान महाभारत मे क्रमश वनपर्व मे (१३५-१३८) तथा आदिपर्व (अ० ७६-८५) मे आज उपलब्ध होता है। फलत इन आख्यानो से सवलित महाभारत का प्रणयन पतञ्जलि से (द्वितीय शती ई० पू०) पूर्वकाल में निष्पन्न हो चुका था। इतना ही नहीं, आश्वलायन गृह्यसूत्र (ईस्वीपूर्व पचम षष्ठ शती लगभग) में तर्पण के अवसर पर भारत तथा महाभारत दोनो ग्रन्थों के धर्माचार्यों का पृथक् पृथक् तर्पण विधान का निर्देश किया गया है (सुमन्तु जैमिनि वैशम्पायन-पैल-सूत्र भाष्य भारत-महाभारत धर्माचार्या ˙ ˙˙ तृप्यन्तु)। फलत महाभारत का धर्मशास्त्रीय रूप काफी पुराना है। ई० पू० पचम या षष्ठ शती मे इसका अथवा इसके मुख्य अश का प्रणयन माना जाय, तो कथमपि असमजस न होगा।

महाभारत मे 'धर्म' की बडी ही व्यापक तथा विशद कल्पना अङ्गीकृत की गई है। इस विशाल विश्व के नाना विभिन्न अवयवो को एक सूत्र में, एक शृङ्खला मे बाँधनेवाला जो सार्वभौम तत्त्व है वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र मे धारण करनेवाला तत्त्व दूसरा नहीं है। यदि धर्म का अस्तित्व इस जगत् म न होता, तो यह जगत् कब का विशृङ्खल होकर छिन्न भिन्न हो गया रहता। युधिष्ठिर के धर्मविषयक प्रश्न के उत्तर मे भीष्म पितामह का यह सर्वप्रथम कथन धर्म की महनीयता तथा व्यापकता का स्पष्ट सकेत प्रदान करता है—

> सर्वत्र विहितो धर्म• सत्यप्रेत्य तप फलम्।
> वहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥
>
> —शातिपर्व, १७४।२।

यह श्लोक बडे महत्त्व का है। इसका आशय है कि सब आश्रमो मे वेद के द्वारा धर्म का विधान किया गया है जो वस्तुत अदृष्ट फल देनवाला होता है। सद्वस्तु के आलोचन (तप) का फल मरण से पूर्व ही प्राणी को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान दृष्ट-फल होता है। धर्म के द्वार बहुत से हैं जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती—धर्म का कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता। अत धर्म का आचरण सर्वदा तथा सर्वथा श्लाघनीय है।

परतु ससार की स्थिति श्रद्धालु जनों के हृदय मे भी श्रद्धा का उन्मूलन करती है। वनवास में युधिष्ठिर को अपनी दुरवस्था पर, अपनी हीन-दीन दशा पर, बडा ही क्षोभ उत्पन्न हुआ था। अपनी स्थिति का परिचय देकर

वे लोमश ऋषि से धर्म की जिज्ञासा करते हुए दीख पड़ते हैं। वे पूछते हैं—भगवन्, मेरा जीवन अधार्मिक नहीं कहा जा सकता, तथापि मैं निरंतर दुखों से प्रताडित होता रहा हूँ। धर्म करने पर भी इतना दुख का उदय! उधर अधर्म का सेवन करनेवाले सुख समृद्धि के भाजन हैं। इसका क्या कारण है? इसके उत्तर मे धर्म की महत्ता प्रतिपादित करनेवाले लोमश ऋषि के ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

—वनपर्व, ९४।४

अधर्म के आचरण से मनुष्य की वृद्धि जो दीख पडती है वह स्थायी न होकर क्षणिक ही होती है। मनुष्य अधर्म से बढ़ता है, उसके बाद कल्याण को देखता तथा पाता है। इतना ही नही, वह शत्रुओ को भी जीतता है, परतु अत मे वह समूल नष्ट हो जाता है। अधर्म का आचरण-कर्ता अकेले ही नाश नही प्राप्त करता, प्रत्युत अपने पुत्र पौत्रादिको के साथ ही वह सदा सर्वदा के लिए नष्ट हो जाता है।

मानव जीवन का स्वारस्य धर्म के आचरण मे है—जो सकाम भाव से सपादित होने पर ऐहिक फलो को देता है और निष्काम भाव से आहृत होने पर आमुष्मिक फल—मोक्ष की उपलब्धि कराता है। फलत महान् फल को भी देनेवाले, परतु धर्म से विहीन, कर्म का सपादन मेधावी पुरुष कभी न करे। क्योकि ऐसा आचरण कथमपि हितकारक (तद्धित) नही माना जा सकता—

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते॥

—शातिपर्व, अ० २९३।८

इस धर्म का साम्राज्य बडा ही विस्तृत, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। इसके द्वार अनेकत्र परिदृष्ट होते हैं। यदि किसी सभा में न्याय के लिए व्यक्ति *उपस्थित हो और उस सभा के सभासदगण उसके वचनो की उपेक्षा कर न्याय* करने के लिये उद्यत नही होते, तो उस समय व्यासजी की दृष्टि मे धर्म को महान् पीडा पहुँचती है, ऐसे दो प्रसग महाभारत मे बडे ही महत्त्व के तथा आकर्षक हैं—सभापर्व (अ० ६८) म द्रौपदी के चीरहरण के अवसर पर विदुर का वचन तथा उद्योगपर्व (अ० ९५ मे कौरवसभा मे दौत्य के अवसर पर श्रीकृष्णका वचन। विदुर जी का यह वचन कितना मार्मिक है—

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति त्वनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्न सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते॥

—सभापर्व, ६८।५९

किसी राजसभा मे आर्त व्यक्ति, जो दु खो से प्रताडित होकर न्याय मॉगने के लिये जाता है, जलते हुये आग के समान होता है। उस समय सभासदो का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वे सत्य धर्म के द्वारा उस प्रज्वलित अग्नि को शात करें। यदि अधर्म से विद्ध होकर धर्म सभा मे उपस्थित हो, तो सभासदो का यह धर्म होता है कि वे उस कॉटे को काटकर निकाल बाहर करें। यदि वे ऐसा नही करते, तो उस सभा के वे सदस्य स्वयम् ही अधर्म से विद्ध हो जाते हैं। ऐसे समय के पाप का विभाजन भी महाभारत की सूक्ष्म धार्मिक भावना का पर्याप्त अभिव्यजक है। महाभारत का कथन है कि जिस सभा मे निंदित व्यक्ति निन्दित नहीं किया जाता, वहा उस सभा का श्रेष्ठ पुरुष आधे पाप को स्वयम् लेता है, करनेवाले को चौथाई पाप मिलता है और चौथाई पाप सभासदो को प्राप्त होते हैं। न्यायान्याय की इतनी सूक्ष्म विवेचना अन्यत्र शायद ही कही मिले। इस प्रसग म महाभारत के मूल श्लोक ध्यान देने योग्य हैं, क्योकि वे सूत्ररूप मे ही पूरे मन्तव्य का प्रकाशन करते हैं, नपे-तुले शब्दो मे, साफ-सुथरे सक्षिप्त वचनो मे—

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्या. प्रशमयन्त्युत ॥ ६० ॥
× × ×
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ७७ ॥
अर्धं हरति वै श्रेष्ठ. पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥ ७८ ॥

—सभापर्व, अ० ६८

यही विवेचन उद्योगपर्व म भी दृष्टिगोचर होता है जब श्री कृष्णचन्द्र धृतराष्ट्र की सभा मे सधि कराने के उद्देश्य से स्वयम् दौत्य कर्म स्वीकारते हैं। 'विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण' वाला श्लोक वहा भी उद्धृत किया गया है (अ० ९५, श्लोक ५०)।

इस श्लोक के पीछे तथा आगे भी दो श्लोक नितान्त मार्मिक तथा तथ्य प्रतिपादक हैं जिनमे से प्रथम श्लोक का तात्पर्य यह है कि जहा सभासदों के देखते हुए भी धर्म अधर्म के द्वारा और सत्य अनृत द्वारा मारा जाता है (हन्यते), वहाँ सभासदो की हत्या जाननी चाहिए—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥

—उद्योगपर्व, ९५।४९।

तथा द्वितीय श्लोक का आशय इसीसे मिलता-जुलता है कि जो सभासद अधर्म को देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहते हैं और उस अन्याय या अधर्म का प्रतिकार नहीं करते, उन्हें वह धर्म उसी भाँति तोड डालता है जिस प्रकार नदी किनारे पर उगनेवाले पेडों को अपने वेग से तोड कर गिरा डालती है—

धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान्।
येऽधर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ॥

—वही, ९५।५१।

विराट पर्व में भी ऐसा ही प्रसग तब उपस्थित होता है जब द्रौपदी के साथ किए कीचक के दुष्कृत्यों पर राजा विराट ध्यान नहीं देता तथा उसे अन्याय के रास्ते से रोकने का प्रयत्न नहीं करता। सैरंध्री नाम से महारानी की परिचर्या करनेवाली अपमानिता द्रौपदी भरी सभा में राजा विराट को ललकार कर चुनौती देती है और कहती है—

न राजा राजवत् किञ्चित् समाचरति कीचके।
दस्यूनामिव धर्मस्ते नहि संसदि शोभते ॥

—विराटपर्व, १६।३१

राजा का धर्म अन्यायी को दड देना है, परन्तु तुम राजा होकर भी कीचक के प्रति राजवत्—राजा के समान—कुछ भी नहीं करते हो। यह तो डाकुओं का धर्म है। सभा में यह तुम्हें कथमपि नहीं शोभता। कितनी उग्र है यह भर्त्सना !!! कीचक परस्त्री के साथ जघन्य अन्याय करने पर तैयार है। ऐसी दशा में राजा द्रुपद को (जिसकी सेना का वह आधिपत्य करता है) उसे उचित दड देना सर्वथा न्याय्य है। इस न्याय से पराङ्मुख होने वाले राजा का धर्म डाकुओं का धर्म है—निरंतर अन्याय तथा अत्याचार करना।

यह तो हुई सभाधर्म की चर्चा। महाभारत का समय बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म के उत्कट तथा घनघोर संघर्ष का युग था। बौद्ध धर्म अपने नास्तिक विचारों के कारण जन-साधारण का प्रिय पात्र बना हुआ था। उस युग में ऐसे व्यक्ति जिन्हें अभी तक मूँछ भी नहीं जमी थी[1] घर द्वार से नाता

---

१. केचित् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाता प्रवव्रजुः ॥
धर्मोऽयमिति मन्वाना समृद्धा ब्रह्मचारिणः।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥

—शान्तिपर्व, ११।२-३।

तोड, माता-पिता तथा गुरु-बंधुजनो से अपना सबध विच्छेद कर सन्यासी का बाना पहन कर जगल मे तपस्या करने लगे थे। महाभारत के प्रणेता के सामने यह समाज-ध्वस की अनिष्टकारिणी प्रथा अपना कराल मुख खोलकर खडी थी। विकट समस्या थी समाज को इन नाशकारी प्रवृत्तियो से बचाने की। शातिपर्व के आरम्भ मे इस सघर्ष की भीषणता का पूर्ण परिचय हमे प्राप्त होता है। युधिष्ठिर यहाँ वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना कर निवृत्ति-मार्ग के पथिक के रूप मे चित्रित किए गए हैं। वे अरण्य-निवास के प्राकृतिक सौख्य, सुषमा तथा स्वच्छंदता का वर्णन बडी मार्मिकता तथा युक्ति के सहारे करते है। इस प्रसग मे उनके वचन मजुल तथा हृदयावर्जक हैं (शातिपर्व अध्याय ९)। मेरी दृष्टि मे महाभारत युद्ध मे भूयसी नरहत्या से विषण्णचित्त युधिष्ठिर मानव के शाश्वत मूल्यो की अवहेलना कर सन्यास-जीवन के प्रति अत्यासक्ति के कारण बौद्ध भिक्षु का प्रतिनिधित्व करते हैं और यदि उन्हे अपने चारो अनुजो के, श्रीकृष्ण तथा व्यासदेव के स्वस्थ उपदेश-वर्णाश्रम धर्म के समुचित पालन के विषय मे—उचित समय पर नही मिलते, तो वे भी वही कार्य कर बैठते जो उनके शताब्दियो पीछे कलिंग-विजय मे सम्पन्न नरहत्या से ऊबकर सम्राट् अशोकवर्धन ने किया था। मनुस्मृति मे भी इस सघर्ष तथा विरोध की फीकी झलक हमे हठात् इन शब्दो मे मिलती है—

> अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य सुतानपि।
> अनिष्ट्वा शक्तितो यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् पतत्यध ॥
>
> —मनुस्मृति।

ऋणत्रय की कल्पना वैदिक आचार का पीठस्थानीय है। अपने ऋषियो, पितरो तथा देवो के ऋणो का वेदाध्यापन, पुत्रोत्पादन तथा यज्ञविधान के द्वारा बिना निष्क्रय-सपादन किए सन्यास का ग्रहण विडबना है, धर्म से नितात प्रतिकूल है। इसीलिए महाभारत का आदर्श मानव जीवन के लिए है वर्णाश्रम धर्म का विधिवत् पालन। अन्य तीन आश्रमो का निर्वाह करने के कारण गृहस्थाश्रम ही हमारा परम ध्येय है। इसका उपदेश महाभारत मे नाना प्रकारो से, नाना प्रसङ्गो मे किया है जिनमे से एक दो प्रसङ्ग ही यहाँ सक्षेप मे सकेतित किए जाते हैं। इन विशिष्ट धर्मो के अतिरिक्त महाभारत में सामान्य धर्म का सर्वस्व इस प्रख्यात पद्य मे निर्दिष्ट है—

> श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम्।
> आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अपने लिए जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए कभी न करनी चाहिए—धर्म का यह मौलिक तत्त्व महाभारत की दृष्टि में धर्म का

'सर्वस्व' (समस्त धन) है और इसे ऐसा होना भी चाहिए। कारण यह कि इस जगत् के बीच सबसे प्रिय वस्तु तो आत्मा ही ठहरा। उसी आत्मा की कामना से ही जगत् की वस्तुएँ प्यारी लगती हैं—स्वत उन वस्तुओं का अपना कुछ भी मूल्य नही है, 'आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति'। इस आत्मतत्त्व की कसौटी पर कसने से इस उपदेश से बढकर धर्म का अन्य उपदेश क्या कोई हो सकता है? इस लक्षण का निर्देश निषेधमुखेन किया जाना भी अपना महत्त्व रखता है। अपने प्रतिकूल वस्तुओं का आचरण तो दूसरो के साथ कथमपि तथा कदापि होना ही नही चाहिए। बाइबिल मे क्राइस्ट का उपदेश भी इन्ही शब्दो म है। इसी तथ्य का प्रतिपादन महाभारत म अन्य शब्दो मे भी उपलब्ध होता है—

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नर.।
यो ह्यसूयुस्तथा युक्त सोऽवहासं नियच्छति ॥

—पराशर गीता, शाति अ० २९०।

दूसरे व्यक्तियो के जिस कार्य की हम निंदा किया करते है उसे हमे कभी स्वयम् न करना चाहिए। इस कथन के भीतर जन-जीवन को उदात्त पन्थ पर ले चलने का बडा ही गम्भीर तत्त्व अन्तर्निहित है। समाज के प्राणी धर्म के इन सामान्य नियमो का जितना ही आदर अपने जीवन मे करते हैं, उतना ही महत्त्वशाली होता है वह समाज—इस विषय मे दो मतो की गुजाइश नही है।

शातिपर्व के ११ वे अध्याय म अर्जुन से प्राचीन इतिहास के रूप म तापस शक्र के जिस सवाद का उल्लेख किया है वह इस प्रसङ्ग मे नून अवधार्य है। अजातश्मश्रु बाल सन्यासियो की टोली के सामने शक्र ने 'विघसाशी' की भूरि प्रशसा की है। 'विघसाशी' का फलितार्थ है गृहस्थ। जो सायम् प्रात अपने कुटुम्बियों को अन्न का विभाजन करता है, अतिथि, देव, पितृ तथा स्वजन को देने के बाद अवशिष्ट अन्न को स्वयम् खाता है वही 'विघसाशी' के महत्त्वपूर्ण अभिधान से वाच्य होता है (विघस = पञ्चमहायज्ञो का अवशिष्ट अन्न, आशी = भोक्ता)—

सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि।
दत्त्वाऽतिथिभ्यो देवेभ्य. पितृभ्य स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिन· ॥

—शातिपर्व, ११।२३-२४।

फलत पञ्चमहायज्ञो का विधिवत् अनुष्ठाता गृहस्थ ही सब आश्रमो म श्रेष्ठ माना गया है। अकाण्डिक वैराग्य से उद्विग्नचित्त युधिष्ठिर भी नकुल

न गृहस्थाश्रम को छोड असमय म निवृत्ति माग क पथिक होन के कारण गहरी भर्त्सना की है। उनके य वाक्य बडे ही महत्त्व क हैं—ह प्रभुवर युधिष्ठिर, महायज्ञा का बिना सपादन किए, पितरा का श्राद्ध यथार्थत बिना किए तथा तीर्थों म बिना स्नान किए यदि प्रव्रज्या लेना चाहते हैं तो आप उस मघखण्ड क समान नाश प्राप्त कर लेंग जो वायु के झोंके स प्रेरित किया जाता है। वह व्यक्ति तो इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट के अनुसार दोना लोका स भ्रष्ट होकर अन्तराल में ही झूला करता है, फलत पूर्वोक्त कर्मों का अनुष्ठान किए बिना सन्यास का सवन महानिन्दनीय कम है—

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम् ।
तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो ॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम् ।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थित ॥

—वही १२।३३ ३४।

गृहस्थाश्रम की भूयसी प्रतिष्ठा का हतु यह तथ्य है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम क ऊपर ही आश्रित तथा अवलम्बित हैं। अजुन न इस आश्रम की स्तुति म अनेक महत्त्वपूण तथ्या का उद्घाटन किया है (अध्याय १८)। उनका कथन है कि यदि याचमान भिक्षुक को गृहस्थ राजा दान नहीं देता तो वह अग्नि के समान स्वत ही उपशान्त हो जावगा अर्थात् इन्धन न डालने से अग्नि जिस प्रकार निर्वाण को प्राप्त कर लेती है, वही दशा दान से वञ्चित भिक्षुक की होती है—उपशान्ति अर्थात् मृत्यु। अन्न के दान स ही भिक्षुओं का जीवन निर्वाह होता है और इसलिए राजा का (तथा सामान्यत गृहस्थ का) अन्न दान देना एक नित्यविहित आचरण है। अन्न स ही गृहस्थ होता है और गृहस्थ स ही भिक्षुओं का अस्तित्व है। अन्न स ही प्राण बनता है और इसलिए अन्नदाता प्राणदाता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्य तो यह है कि भिक्षु गृहस्थ से निर्मुक्त होन पर भी गृहस्थों पर ही आश्रित रहता है। फलत दान्त लोग गृहस्था स ही अपना प्रभव (उदय) तथा प्रतिष्ठा (स्थिति) प्राप्त कर निश्चिन्तता स अपना जीवन यापन करते हैं। फलत गृहस्थ आश्रम ही भारतीय समाज का मेरुदण्ड है। वही हमारे समाज की रीढ है जो समाज के शरीर को उन्नत तथा स्वस्थ बनाए रहती है। मनु के भी तद्विषयक सिद्धान्त महाभारत के इन मौलिक तथ्यों स नातिभिन्न हैं—

न चेद् राजा भवेद् दाता कुत स्युर्मोक्षकाङ्क्षिण ।
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च ।
अन्नात् प्राण प्रभवति अन्नद प्राणदो भवेत् ॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिता ।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते ॥

—वही १८।२७-२९।

महाभारत के अनुसार गृहस्थ जीवन के लिये हिंसा का ऐकान्तिक परित्याग न तो किया जा सकता है, और न यह कथमपि गर्हणीय ही है। मानव जीवन हिंसा के ऊपर आधारित है। बडे पशु छोटे पशुओं की हिंसा करके ही अपना जीवन निर्वाह करते है और अपना प्राण धारण करते हैं (शांतिपर्व, १५।२०-२५)। महाभारत हिंसा के उज्ज्वल पक्ष को हमारे सामने रखता है जब वह कहता है कि दूसरो के मर्म को बिना छेदे हुए, दुष्कर काय को बिना किए और अपने शत्रु को बिना मारे क्या मनुष्य कभी महती लक्ष्मी को पा सकता है ?

नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥

—वही १५।१४।

इतना ही नही अपने शत्रु को जिसने नही मारा क्या उसे कभी कीर्ति मिलती है तथा धन और प्रजा को क्या कभी वह पाता है ? नही कभी नही। इन्द्र ने वृत्रवध के कारण ही महेन्द्रत्व प्राप्त किया। लोक उन्ही देवो की अर्चा पूजा करता है जिन्होंने शत्रु को मारकर अपना पद प्रतिष्ठित बनाया। रुद्र स्कन्द शक्र अग्नि, वरुण आदि वे ही देव हमारी उपासना के प्रिय विषय हैं जिन्होने अपने शत्रुओं को मार डाला तथा अपनी प्रतिष्ठा निरवछिन्न बना रखी। निष्कर्ष यह है कि इस लोक मे कोई भी जीवित प्राणी अहिंसा से कभी जीवित नही रहता—उसे अपने जीवन निर्वाह के निमित्त हिंसा का आश्रय लेना ही पडता है-यह लोकजीवन का ध्रुव सत्य है —

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया ।

—वही श्लोक ९०।

यहा बौद्ध तथा जैन धर्म के अहिंसावाद की खरी आलोचना की गई है। हिंसा का आश्रय कर दड का विधिवत् आश्रयण राजा का मुख्य अनिवार्य कर्तव्य होता है। इस १५ वें अध्याय मे अर्जुन ने दड की भूयिष्ठ स्तुति प्रस्तुत की है जो समाज के मगल-साधन का एक प्रधान अग है। आज भारतवर्ष को इस तत्त्व को समझने तथा मनन करने की नितांत आवश्यकता है। महात्मा गाधी के 'अहिंसा-सिद्धांत का अन्यथा तात्पर्य लगाकर जो अधिकारी वर्ग आज भी अपने विरोधी राष्ट्रो के आक्रमणो का प्रतिकार करने से हिचकते हैं उन्हें महाभारत का यह अध्याय (शांतिपर्व, अध्याय १५) गभीरता से मनन तथा

अनुशीलन करना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि अपने शत्रुओं से विरोध करना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है, विशेषत. किसी भी देश तथा राष्ट्र के शासक का। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उशना नामक दडनीति के प्राचीन आचार्य के अनुसार यह पृथ्वी उसे उसी प्रकार निगल जावेगी जिस प्रकार साप बिलशायी चूहों को निगल जाता है—

द्वावेव ग्रसते भूमि. सर्पो, बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥[1]

हिंसा को गृहस्थ-जीवन के लिए महाभारत एक नितात आवश्यक तथा अनिवार्य साधन मानता है। यह युक्ति से तथा व्यवहार से दोनों दृष्टियो से एक निर्भ्रांत सत्य है।

महाभारतयुगीन धार्मिक सघर्ष का एक सामान्य वर्णचित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है। वही सघर्ष मनुस्मृति के काल मे भी पूर्णतया लक्षित होता है और यह होना स्वाभाविक ही है। मनुस्मृति ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के निमित्त आवश्यक धार्मिक अनुष्ठानो की विवृति देनेवाली एक महनीय स्मृति है। इसका रचनाकाल विक्रम पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है ब्राह्मणवशी शुङ्गो के राज्यकाल मे, जब सम्राट् अशोक के वैदिक-मार्ग-द्वेषी धर्म तथा राजनीति के विपुल प्रभाव के विध्वसन के निमित्त मौर्य के ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य नरेश को मार कर ब्राह्मणवश की स्थापना की थी। इसीलिए मनुस्मृति मे गृहस्थ धर्म की विपुल प्रतिष्ठा का आदर्श बहुश आख्यात हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के समय मे भी इसी प्रकार का एक तुमुल सघर्ष लक्षित होता है— वर्णाश्रमाश्रयी हिन्दू समाज मे तथा निवृत्ति को ही एकमात्र आदर्श मानने वाले निर्गुणी सतो तथा योगियो मे। गोरखनाथ तथा उनके अनुयायियो ने समाज के आदर्श को केवल निवृत्ति मे प्रतिष्ठित कर उसे वैदिक रूप से अधश्च्युत कर रखा था। इन निर्गुनिया सन्तो के विशेष प्रभाव के कारण भारतीय समाज आदर्शहीन होकर भ्रात तथा विक्षिप्त बन गया था। उस आदर्श से भारतीय समाज को हटाकर वर्णाश्रम धर्म मे प्रतिष्ठित करना गोस्वामीजी के महनीय प्रबन्ध-काव्य 'मानस' के प्रणयन का मुख्य हेतु मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नहीं है।

---

१. यह श्लोक महाभारत मे अनेक स्थानों पर उद्धृत किया गया है। शान्तिपर्व के ५७ वें अध्याय मे राजनीति के तथ्यो का सक्षिप्त विवरण प्राचीन श्लोको के उद्धरण के साथ-साथ बडी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह श्लोक 'उशना' के द्वारा प्रतिपादित बताया गया है।

—द्रष्टव्य शान्ति० अ० ५७, श्लोक २-३।

गोसाईंजी ने इसीलिए गृहस्थाश्रम को इतनी प्रतिष्ठा प्रदान की और अपने इष्टदेव मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र को शील, सौन्दर्य तथा शक्ति के सामञ्जस्य रूप मे पूर्णत प्रतिष्ठित किया। मेरी दृष्टि म तुलसीदास के सामने महाभारत मे व्याख्यात धर्म की पूर्ण कल्पना सर्वदा जागरूक रही और परिवर्तित परिस्थिति को लक्ष्य कर उन्होने उसी आदर्श को इस नये युग के लिए भी उपादेय माना तथा उसकी विस्पष्ट व्याख्या कर प्राचीन आदर्श का ही अपने नवीन ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के द्वारा उपबृंहण किया।

निष्कर्ष यह है कि महाभारत की दृष्टि म धर्म ही मानव-कल्याण का परम साधक तत्त्व है। त्रिवर्ग का सार धर्म ही है। इसीलिए व्यासजी ने भारत-सावित्री मे इस शतसाहस्री संहिता का सार इस छोटे से श्लोक म कितनी विशदता से प्रतिपादित किया है कि 'मैं अपनी भुजा उठाकर उच्च स्वर से पुकार रहा हूँ। परन्तु कोई भी मेरी बात नही सुनता। धर्म से ही अर्थ उत्पन्न होता है और धर्म से ही काम उत्पन्न होता है। अर्थ तथा काम का मूल निश्चित रूप से धर्म ही है। तब उस धर्म की उपासना क्यो नही करते ?'

> ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे।
> धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारत का युद्ध भी धर्म तथा अधर्म के बीच उग्र सघर्ष का काल्पनिक प्रतीक न होकर वास्तविकता का स्पष्ट निर्देश ही है। इसे समझने के लिए महाभारत मे प्रभूत सामग्री भरी पडी है। दुर्योधन तथा उसके सहायक मन्युमय वृक्ष हैं तथा युधिष्ठिर और उनके सहयोगी धर्ममय वृक्ष हैं। कौरवो के युद्ध मे पाडवो की विजय अधर्म के ऊपर धर्म के विजय का भव्य निदर्शन है ? इस कल्पना को ध्यान से पढिए—

> दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुम' स्कन्ध॰ कर्ण शकुनिस्तस्य शाखा।
> दु शासन' पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रो मनीषी॥
> युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुम स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा।
> माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥
>
> —आदिपर्व, १।११०-१११।

महाभारतीय कथानक का अभिधेयार्थ इसी धर्म विजय की अभिव्यजना मे है। कहने का तात्पर्य है कि महाभारत धर्म का केवल शाब्दिक प्रतिपादन नही करता, प्रत्युत वह अपने कार्यों से, नाना घटनाओ से, पाडवो के विषम स्थिति मे निष्पादित कार्य-समूहो से, धर्म का व्यावहारिक प्रतिपादन भी निरन्तर करता है, इसके विषय मे मत-द्वैविध्य हो नही सकता। इसीलिए यह ग्रन्थरत्न

अपनी सुभग शिक्षा धर्म के चयन के निमित्त देता है, क्योंकि धर्म ही परलोक जाने वाले प्राणी का एकमात्र बंधु है। अर्थ तथा भार्या बंधु के रूप में सामान्यत प्रतिष्ठित माने जाते हैं, परन्तु निपुण व्यक्तियों के द्वारा सेवित होने पर भी ये दोनों न तो आप्तभाव–मित्र भाव को ही प्राप्त करते हैं, और न स्थिरता ही धारण करते हैं। विपरीत इनके, धर्म निश्चयेन हमारा आप्त पुरुष है तथा सर्वदा स्थायी नित्य तत्त्व है। फलत धर्म की उपासना ही कल्याणकारी मानव का एकमात्र कर्तव्य होना चाहिए, महाभारत का यही निर्भ्रान्त और अनिवार्य उपदेश है :—

> धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
> स ह्येक एव परलोक गतस्य बन्धुः।
> अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
> नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥
>
> —आदिपर्व, २।३९१।

(३)

पौराणिक भक्ति का वैदिक उद्गम

भारतवर्ष भक्तिरस से स्निग्ध है। भक्ति की मधुर धारा से उसका प्रत्येक प्रान्त आप्यायित है। इस भारतवर्ष मे भक्ति का उद्गम कब और कहाँ हुआ ? इसका अब विचार किया जायगा। इस प्रश्न की चर्चा रहस्य से शून्य नहीं है। जब से पश्चिमी विद्वानो ने भारतीय साहित्य तथा धर्म से परिचय पाया, तब से उनमे से बहुतो का आग्रह रहा है कि भारत मे भक्ति की कल्पना ईसाई धर्म की देन है। पाश्चात्य जगत् मे कर्मप्रधान यहूदी धर्म की तुलना मे ईसाई धर्म में मे प्रेम की प्रचुरता अवश्यमेव एक ध्यानगम्य वस्तु है। ईसाई मत का मूल सिद्धान्त है—भगवान् का अटूट प्रेम या भगवान् की भक्ति। पाश्चात्य विद्वानो का कहना है कि ससार के इतिहास मे ईसाई मत मे ही सर्वप्रथम भक्ति का उदय हुआ और वही से यह भारतवर्ष मे भी प्रविष्ट होकर सर्वत्र प्रचारित हुई। भारत भक्ति की कल्पना के लिए ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परन्तु इस प्रश्न की समीक्षा करने पर यह पाश्चात्य मत नितान्त निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य के गाढ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम स्थान है। इस अवसर पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। धर्म के सिद्धान्तों के इतिहास की पर्यालोचना करने पर प्राय देखा जाता है कि किसी युग मे किसी सिद्धान्त-विशेष की उपोद्बोधक सामग्री विद्यमान रहती है, यद्यपि उस सिद्धान्त का प्रतिपादक शब्द उपलब्ध नही होता। ऐसी दशा मे अभिधान के अभाव मे हम तत् तत् सामग्री की भी उपेक्षा कर बैठते हैं। यह सत्य है कि सहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथो मे अनुरागसूचक 'भक्ति' शब्द का सर्वथा अभाव है, परन्तु यह मानना सत्य नही है कि इस अभाव के कारण उस युग मे भक्ति की कल्पना अभी तक प्रसुत ही नही हुई थी। सहिताओ मे कर्मकाण्ड का प्राबल्य था, परन्तु इसका अर्थ नहीं है कि उस समय ज्ञान तथा भक्ति की कल्पना का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। मन्त्रों में विशिष्ट देवताओ की स्तुति की गई है, परन्तु यह स्तुति इतनी मार्मिकता से की गई है कि इसमें स्तोता के हृदय मे अनुराग का अभाव मानना नितान्त उपहास्यास्पद है। हमारा तो कथन है कि बिना भक्ति-स्निग्ध हृदय के इस प्रकार की कोमल तथा भावुक स्तुतियों का उदय ही नहीं हो सकता। शुष्क हृदय में न तो इतनी कोमलता आ सकती है

और न इतनी भावुकता। देवताओ की स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्ध बन्धु आदि नितान्त मनोरम हृदयगम सम्बन्ध स्थापित करता है। और यह स्पष्ट प्रमाण है कि स्तोता के हृदय मे देवताओ के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।

कतिपय देवताओ की स्तुतियो का अध्ययन कर हम अपना सिद्धान्त दृढ करना चाहते हैं। सर्वप्रथम अग्नि की ही परीक्षा कीजिए। अग्नि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिनिधि दवता ठहरे, उन्ही के सद्भाव से यज्ञयागो का सम्पादन सिद्ध होता है। अत शुष्क कर्मकाण्ड के प्रमुख देवता की स्तुति म अनुरागात्मिका भावना का अभाव सहज मे ही अनुमेय है, परन्तु बात ऐसी नही है। वे विपत्तियो के पार ले जाने वाले त्राता के तटस्थ रूप मे ही चित्रित नही किये गय हैं, प्रत्युत पिता तथा माता जैसे रागात्मक सम्बन्धों के आधार भी स्वीकृत किये गये हैं। ऋग्वेद का यह मन्त्र अग्नि को मनुष्यो का पिता तथा माता बतला रहा है —

त्वां वर्धन्ति क्षितय. पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भू॰ पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥

—(ऋग् ६।१।५)

यह आश्चर्य की ही घटना होगी यदि अग्नि को पिता तथा माता बतलाने वाले उपासक के हृदय मे अनुराग की रेखा का उदय न हो, भक्ति की भावना का अवतार न हो।

वैदिक देवताओ मे इन्द्र शौर्य के प्रतीक माने जाते हैं तथा दस्युओ पर आर्यों के विजय प्रदान करने के कारण वे उनके प्रधान उपास्य देव समझे जाते हैं। बात है भी बिल्कुल ठीक। इन्द्र की अनुकम्पा से आर्यगण अपने शत्रुओं की किलाबन्दी ध्वस्त करने म सर्वथा समर्थ होते हैं। ऐसे शौर्य-प्रधान दवता की स्तुति म कोमल रागात्मक सबध की स्थापना का अभाव सभाव्य प्रतीत होता है, परन्तु उपासको ने इन्द्र के साथ बहुत ही स्निग्ध अतरग सबध स्थापित किया है। इन्द्र केवल पिता ही नहीं, प्रत्युत माता भी माने गये हैं—

त्वं हि न पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे।

(ऋग्वेद ८।९८।११)

इन्द्र उपासका के सखा या पिता ही नहीं हैं, प्रत्युत पितरों म सर्वश्रेष्ठ भी हैं—

सखा पिता पितृतम पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधा.।

—(वही, ४।१७।१७)

वामदेव गौतम ऋषि की अनुभूति है कि इन्द्र मे मित्रता, सहृदयता तथा भ्रातृभाव का इतना मनोरम आभास है कि कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इन्द्र के इन गुणो की स्पृहा न रखेगा ? ऋग्वेद के सुन्दर शब्द हैं—

को नानाम वचसा सोम्याय
मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं
को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥
—(वही, ४।२५।२)

इन मन्त्रो मे भक्ति के समान रागात्मक सम्बन्ध स्थापना की सूचना क्या नही है ?

किन्ही किन्ही सूक्तो मे इतना अधिक अनुराग प्रदर्शित किया गया है कि वह शृङ्गार कोटि को भी स्पर्श कर रहा है। इन सूक्तो मे शृङ्गारिक रहस्यवाद की कमनीय चारुता आलोचको का चित्त हठात् चमत्कृत कर रही है। एक मन्त्र मे कृष्ण आङ्गिरस ऋषि कह रहे हैं कि जिस प्रकार जाया पति को आलिङ्गन करती है उसी प्रकार हमारी मति इन्द्र को आलिङ्गन करती है—

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विद
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥
—ऋ० सं० १०।४३।१

दूसरे मन्त्र मे काक्षीवती घोषा अश्विनी कुमारों से पूछ रही है—हे अश्विनौ ! आप लोग रात को कहा निवास करते हैं ? किसने आप को अपने प्रेम मे बाँध अपनी ओर खीच रखा है जिस प्रकार विधवा अपने देवर को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतु ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
—ऋ० सं० १०।४०।२

इन मन्त्रो के अध्ययन से क्या किसी को संदेह रह सकता है कि स्तोता का हृदय भक्तिभाव से स्निग्ध तथा सिक्त था ?

भक्ति की भावना हम सब से अधिक मिलती है वरुण के सूक्तो मे। वैदिक देवताओं मे वरुण का स्थान सर्वतोभावेन मूर्धन्य है। वह विश्वतश्चक्षु है,

अर्थात सब ओर दृष्टि रखने वाला है। वह धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादक) तथा सम्राट है। वह सर्वज्ञ है—वह अंतरिक्ष में उड़नेवाली पक्षियों का मार्ग उसी प्रकार जानता है जिस प्रकार वह समुद्र पर चलनेवाली नावों का। स्तोता वरुण को दया तथा करुणा गुणों का निकेतन मानता है। वरुण सर्वज्ञ होने से मनुष्यों के अन्तःकरण में होने वाले पापों को भली भांति जानता है और इस लिए वह अपराधियों को दंड देता है तथा अपना अपराध स्वीकार कर प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्तियों को वह क्षमा प्रदान करता है। वह ऋत—मांगलिक व्यवस्था—का निर्माता तथा नियन्ता है। स्तोता का हृदय अपराध की भावना से द्रवीभूत हो जाता है और उनसे प्रार्थना करता है—

> य आपिर्नित्यं वरुण प्रियः सन्
> त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।
> मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम
> यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥
>
> —ऋ० सं० ७।८८।६

[इस मन्त्र का आशय है कि तुम्हारा नित्य आप्त प्रियजन हूँ। मैंने आपके प्रति अनेक पाप किये हैं। इन पापों को क्षमा कर मुझे अपनी मित्रता दीजिए। हे यक्षिन्! हे अद्भुत कर्मों के कर्ता, हमारे पापों को दूर कर दो जिससे अपराधी बन कर हम अपना भोजन न करें। तुम बुद्धिमान् हो, इस स्तुतिकर्ता को अनिष्ट निवारक वरणीय वस्तु प्रदान करो] इस स्तुति के भीतर स्तोता की रागात्मिका वृत्ति स्वतः प्रवाहित हो रही है। इस मंत्र को भक्त हृदय का मधुर उद्गार मानना क्या कथमपि अनुचित कहा जा सकता है? यह सख्य भक्ति का सुन्दर दृष्टांत माना जा सकता है।

यह हुई मंत्रों में तटस्थरूप से भक्ति की सत्ता। परंतु प्राचीन आचार्यों की सम्मति में वेद के मन्त्रों में साक्षात् रूप से भक्ति तत्त्व का समर्थन उपलब्ध होता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है—भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः (१।२।९) = भक्ति श्रुति से साक्षात् रूप से जानी जा सकती है। इसकी व्याख्या में नारायणतीर्थ ने भक्ति तथा उसके नवधा प्रकारों के प्रदर्शक मंत्रों का सव्याख्यान उद्धरण दिया है[2]। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

---

१ वेदा वीना पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः। —ऋ० सं० १।२५।७

२ द्रष्टव्य भक्तिचंद्रिका पृ० ७७-८२ (सरस्वती भवन ग्रंथमाला, संख्या ९, काशी १९२४)

नमु स्तोतार पूर्व्य यथा विद
ऋतस्य गभ जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥

—ऋ० स० १।१५६।३

[इस मन्त्र का आशय है—इस ससार क कारण रूप (पूर्व्य) उस विष्णु को अपनी मति के अनुरूप स्तुति करो। वह वेदात वाक्यो (ऋत) का प्रतिपाद्य है। उसकी स्तुति करने से जन्म की प्राप्ति नही होती। स्तुति असभव होने पर उस विष्णु के नाम का ही कथन करो (अर्थात् नाम स्मरण करो)। हम लोग विष्णु के तेज तथा सवसाक्षी गुणातीत रूप की प्रेमलक्षण सेवा करते हैं] इस मन्त्र मे भगवान् की स्तुति तथा नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

य पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमज्जानये विष्णवे ददाशति।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्
सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्॥

—ऋ० १।१५६।२

[अर्थात् जो पुरुष सबसे प्राचीन तथा नित्यनूतन, जगत् के स्रष्टा (वेधसे) स्वय उत्पन्न होनेवाले अथवा समस्त संसार मे मद उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी के पति (सुमज्जानये[1]) विष्णु के लिए अपने द्रव्य को तथा स्वय अपने आपको समर्पण करता है, जो महनीय (महत) विष्णु के पूजनीय (महि) जन्म तथा उपलक्षणात् कम को कहता है—कीर्तन करता है वह दाता तथा स्तोता कीर्ति अथवा अन्न (श्रवोभि) से सपन्न होकर सब से गन्तव्य परमपद को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है]

यह श्रुति भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा भगवदर्पण का स्पष्ट प्रतिपादन करती है।

ब्राह्मणयुग म भक्ति की भावना उपासना क्षेत्र म नितात दृढ रूप से उपलब्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थो म कर्म काण्ड की प्रधानता होते हुए भी भक्ति की भावना न्यून होती नहीं दीख पडती, प्रत्युत श्रद्धा की भावना से सपुटित होने पर हृदय की अनुरागात्मक प्रवृत्ति बढती पर दृष्टिगोचर होती है। आरण्यकों

---

१ सुमज्जानये स्वयमवोत्पन्नाय। सुमत् स्वयमिति यास्क (निरुक्त ६।२२) यद्वा सुष्ठु माद्यतीति सुमत्। तादृशी जाया यस्य स सुमज्जानिः। तस्मै सव जन्मादनशील-श्रीपतय इत्यर्थः।

—सायणभाष्य

में बहिर्याग की अपेक्षा अंतर्याग को विशेष महत्त्व दिया गया है। चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग के विपुल प्रचार का यह युग है। इन दोनों से पुष्ट होकर भक्ति की प्रबलता की ओर साधकों का ध्यान स्वतः आकृष्ट हुआ। उपनिषद् ज्ञान-कांड के सब से श्रेष्ठ माननीय ग्रन्थ हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं, परंतु उनमें भी भक्ति की गरिमा स्थान-स्थान पर अंगीकृत की गई है।

कठोपनिषद् का अनुशीलन भक्ति के सिद्धांतों का स्पष्ट निदर्शन है। आत्म-प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते समय यह उपनिषद् बतला रहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

—कठ १।२।२३

[यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति से और न अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है, उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है] इस मंत्र का तात्पर्य है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्रार्थना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है। इस मंत्र में आत्मा के अनुग्रह की ओर गूढ़ संकेत है, परंतु दूसरे मंत्र में 'प्रसाद' अर्थात् अनुग्रह का सिद्धांत स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको।
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः[1] ॥

—कठ १।२।२०

अर्थात् निष्काम पुरुष जगत्कर्ता के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है।

वैष्णव धर्म में 'प्रसाद' (दया, अनुग्रह) का यह सिद्धांत नितांत महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त की कामना-वल्लरी पुष्पित तथा फलित होती है[2]। श्रीमद्भागवत में इस 'पोषण' (पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।

---

[1] यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।२०) तथा महानारायण उपनिषद् में भी आया है। यहाँ शांकर भाष्य के अनुसार 'धातुः प्रसादात्' पाठ है, परंतु इन उपनिषदों में 'धातुः प्रसादात्' ही स्पष्ट पाठ है।

[2] सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः ॥

४) सिद्धात कहते हैं और श्री वल्लभाचार्य का वैष्णव मत इसीलिए 'पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। श्वेताश्वतर के अन्य मन्त्र मे तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है (६।२१) इस उपनिषद् म भक्ति शब्द का सवप्रथम प्रतिपादन किया गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन ॥

—श्वेता० ६।२३

'जिस पुरुष को देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु मे भी जिसकी भक्ति होती है उसी महात्मा को ये कहे गये अथ स्वत प्रकाशित होते हैं। उपनिषद् साहित्य मे '**भक्ति**' *शब्द का यह प्रथम प्रयोग माना जाता* है। अवातर वैष्णव-दर्शन मे गुरु की जो महिमा विशेष रूप से अगीकृत की गई है उसी की सूचना इस मत्र मे दी गई है। वैष्णव मत मे भक्ति की अपेक्षा **प्रपत्ति** का गौरव अधिक माना जाता है। प्रपत्ति मे भगवान् ही उपेय हैं तथा उपाय भी वे ही हैं। भक्त को केवल उनके शरण मे जाने को आवश्यकता मात्र रहती है। शरणापन्न होते ही भगवान् अपनी निमल दया के प्रभाव से उसका उद्धार सपन्न कर देते हैं। भक्त के लिए *तदतिरिक्त कोई काम नही* रहता। इस प्रपत्ति का सिद्धात भी श्वेताश्वतर मे स्पष्ट शब्दो मे अकित किया गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व
यो वेदॉश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—श्वेता० ६।१८

इस मंत्र मे ब्रह्मा के भी निर्माण करने वाले तथा उनके निमित्त वेदो का *आविर्भाव करनेवाले अपनी बुद्धि म प्रकाशित होनवाले दीप्यमान भगवान्* के शरण म जाने का नि सन्देह वणन है। श्रीमद्भगवद्गीता वैष्णव धम का नितांत माननीय ग्रन्थ है जिसम भक्ति के तत्त्व का विशदीकरण किया गया है। भगवद्गीता इस विषय में कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदो के प्रति नितांत

स्वय विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधान निजपादपल्लवम् ॥

—भागवत ५।१९।२७

ऋणी है अथवा कहना चाहिए कि इन उपनिषदों के तथ्यों का संकलन गीता मे किया गया है। इस समीक्षा मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति का सिद्धात वैदिक है—वैदिक सहिता तथा उपनिषद् मे उसके रहस्य का प्रतिपादन है। ब्रह्म सर्वकाम, सत्यसकल्प है। उसके 'प्रसाद' से ही साधक इस लोक के क्लेशो से अपना उद्धार पा सकता है। वैष्णव धर्म की यह मूल पीठिका वेद पर अवलबित है, इसमें तनिक भी संदेह नही।

इस विषय की ओर प्राचीन आचार्यों का भी ध्यान अवश्यमेव आकृष्ट हुआ था। महाभारत के टीकाकार नीलकठ ने 'मन्त्र रामायण' तथा 'मंत्र भागवत' लिखकर वेद मे रामाण तथा भागवत के आख्यानो की सत्ता वैदिक मंत्रों के द्वारा प्रमाणित की हैं। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८७ अध्याय में वेद-स्तुति या श्रुति गीता का भी यही तात्पर्य है। वेदस्तुति का यही तात्पर्य है कि कर्म तथा ज्ञान के समान भक्ति का प्रतिपादन भी श्रुतियो को अभीष्ट है। इस पाडित्यपूर्ण स्तुति मे अनेक मत्रो का अभिप्राय भक्ति के विशद विवरण मे दर्शाया गया है। अत पुराणो के कर्ता वेदव्यास को भी यह अर्थ अभिलषित प्रतीत होता है। होना उचित ही है। वेद मंत्रद्रष्टा ऋषियो के द्वारा आर्ष दृष्टि से प्रत्यक्षीकृत सत्यो का अलौकिक भडार है। वह भारतवर्ष के अवातर काल मे विकसित होनेवाले दार्शनिक मतों तथा धार्मिक सप्रदायों का बीज प्रस्तुत करता है। अत श्रुति को कर्म तथा ज्ञान की उद्गम-भूमि होने के अतिरिक्त भक्ति की उद्गमस्थली होना सर्वथा उचित ही है। मन को वश मे करने से भगवद्भक्ति का उदय होता है और मन का वशीकार गुरु की कृपा से ही होता है। इस विषय मे उपनिषद् की नाना श्रुतियो[1] का तात्पर्य वेदस्तुति के इस कमनीय श्लोक मे है—

> विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
> य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिद: ।
> व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
> वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥
>
> —भाग० १०।८७।३३

---

१. गुरुतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियाँ—

(क) आचार्यवान् पुरुषो वेद। —छान्दोग्य ६।१४।२

(ख) नैषा तर्केण मतिरापनेया।
प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥ —कठ १।२९

(ग) तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ —मुण्डक १।२।१२

[हे अज जिन्होने गुरु के चरण को छोडकर अपने इन्द्रिय और प्राणों को वश मे कर लिया है, वे भी वश मे न होनेवाले अति चचल मनरूपी घोडे को वश मे करने का यत्न करते हैं। वे उन उपायो से दु ख पाते हैं और इस ससार समुद्र मे ही पडे हुए सैकडो दु खो से वैसे ही व्याकुल रहते हैं जैसे जहाज से व्यापार करनेवाले लोग नदी समुद्र आदि म मल्लाह के बिना दु ख पाते हैं] इस प्रकार वैदिक साहित्य की समीक्षा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भक्ति का सिद्धात वैदिक है तथा भारतीय सस्कृति के प्राचीनतम काल से इस भारतभूमि पर प्रचलित तथा प्रसृत है।

भक्ति के नव प्रकार

श्रीमद्भागवत मे भक्तितत्त्व की मीमासा बडे वैशद्य से की गई है। **नवलक्षणा भक्ति** के रूप ये[1] हैं—(१) श्रवण (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन। इन सब प्रकारो का वर्णन तथा परस्पर सूक्ष्म विभेद का विवरण भागवत में सुन्दरता से किया गया है। इस क्रम म एक मनोवैज्ञानिक आरोहण है भक्ति आरम्भ होती है भगवान के श्रवण से भगवान् के नाम तथा गुणों के श्रोत्र से ग्रहण भक्ति की आरम्भिक सीढी है जो कीर्तन स्मरण आदि सोपानो से चढकर साधक को 'आत्मनिवेदन के द्वारा भगवत् प्रासाद मे पहुँचा देती है। आत्मसमर्पण इस शृखला की अन्तिम कडी है। इनम से केवल भगवन्नाम के विषय मे स्वल्प विवरण पुराणो के विशेषत श्रीमद्भागवत के, आधार पर भक्तितत्त्व के सर्वसुलभ साधन की अभिव्यक्ति के निमित्त यहाँ दिया गया है।

---

१ भागवत ७।५।२३,२४ (प्रह्लाद की उक्ति)

(४)

भगवन्नाम—निरुक्ति और प्रभाव

भगवनाम की महिमा का वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि जिस प्रकार भगवान् अनन्त हैं उनके नाम भी अनन्त हैं तथा उन नामों की महिमा भी अनन्त है। जिस प्रकार भगवान् के स्वरूप तथा गुण का वर्णन करना असम्भव है, उसी प्रकार उनके नामों का भी वर्णन असम्भव ही है। आवश्यकता है दृढ़ विश्वास की अपनी अभिरुचि के अनुसार अनन्त के अनन्त नामों में से किसी एक नाम को चुन लेना चाहिए। और उसी नाम का स्मरण तथा मनन यथाशक्ति निरन्तर करते रहने की आवश्यकता है। इसी भगवन्नाम के विषय में कतिपय तथ्य यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

भगवान् के नामों के प्रकार का वर्णन या विवेचन भी एक प्रकार से असम्भव ही है, परन्तु सामान्यरूप से हम उन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते हैं (१) गुणनाम तथा (२) कर्मनाम। कुछ नाम तो भगवान् के गुणों के आधार पर निश्चित किये गये हैं—जैसे भक्तवत्सल नाम। भगवान् के भक्तों के प्रेमी होने के कारण यह नाम उन्हें दिया गया है। कर्मनाम भगवान् के किसी विशिष्ट कर्म को लक्षित कर निर्दिष्ट हैं—जैसे 'हरि' तथा 'कंसनिषूदन' आदि नाम। पापों के हरणकर्ता होने के कारण भगवान् का नाम 'हरि' है, तो पापाचारी कंस को मारने के कारण उन्हें 'कंसनिषूदन' नाम प्राप्त हुआ है। प्रधानरूप से इन्हीं गुण तथा कर्म के आधार के ऊपर भगवान् के नाम वेद-शास्त्रों में निर्धारित किये गये हैं। प्रमाण में भगवान् का यह वचन है (शान्ति नारायणीयपर्व अ० २४१)

> गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानिचित्
> ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्व सामसु
> बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभि ॥

महाभारत के इन वचनों के आधार पर श्रीमद्भागवत के इस प्रसिद्ध श्लोक में 'गुणकर्मनाम्नाम्' का यही तात्पर्य है कि भगवान् के नाम दो प्रकार के होते हैं—गुणनाम और कर्मनाम। इस लिए इस शब्द का उचित विग्रह होगा—गुणाश्च कर्माणि चेति गुणकर्माणि तेषां नामानि तेषाम्। समग्र पद को द्वन्द्व समास मानना ठीक नहीं। फलतः 'गुणाश्च कर्माणि च

नामानि च तेषाम्' विग्रह स्वारस्य नहीं रखता। श्लोक यहाँ दिया जाता है—

> एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
> संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
> विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
> नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥
>
> —भाग० ६।३।२४

भगवान् के कतिपय नामों का निर्वचन

(१) वासुदेव—इस शब्द का प्रथम अश 'वासु' शब्द वस् आच्छादने (ढकना) तथा वस् निवास (रहना) इन दो धातुओ से निष्पन्न होता है, (क) वासयति आच्छादयति विश्वमिति वासु.। (ख) वसत्यस्मिन् विश्वमिति वासु। वासुश्चैव देवश्चेति वासुदेव'। जिस प्रकार सूर्य अपने किरणो से समस्त जगत् को आच्छादित करता है, उसी प्रकार इस विश्व को आच्छादित करने के कारण भगवान् 'वासुदेव' नाम से अभिहित किये जाते हैं। सब जगत् उन्हीं मे निवास करता है—रहता है, इस कारण भी वे इस नाम से अभिहित होते हैं। इस प्रकार 'वासुदेव' शब्द के भीतर **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** तथा **'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवास'** दोनो श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य समाविष्ट है। इस निर्वचन का प्रमाण महाभारत तथा विष्णुपुराण के ये वचन हैं —

> छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
> सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्॥ ४१॥
>
> —शान्तिपर्व, अ० ३४१।

> सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः
> ततः स वासुदेवेति विद्वद्भि' परिपठ्यते॥
>
> —विष्णु १।२।१२

(२) केशव—इस नाम की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकारो से दी गई है। (क) महाभारत के अनुसार—सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा के किरण जो प्रकाशित होते हैं, वे ही भगवान् के केश-पद-वाच्य है और उनके धारण करने के कारण ही भगवान् केशव पुकारे जाते हैं·—

> सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत
> अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः
> सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः॥
>
> —शान्ति ३४१।४८

इस पद की नीरुक्ती व्याख्या—केशैः केशवत् सूक्ष्मैः सूर्यादिरश्मिभिस्तद्रूपेण वा याति गच्छति इति केशव। इसी अर्थ को लक्ष्य कर गीता का वचन है—

> यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्
> यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

केशव' नाम के जपने का सद्य फल है नेत्र की प्राप्ति। इस प्रसंग में अन्धे 'दीर्घतमा' ऋषि के चक्षुष्मान् बनने की वैदिक कथा का निर्देश शान्तिपर्व अ० २४१।४९-५७ में विस्तार से किया गया है।

(ख) 'विष्णुसहस्रनाम' के भाष्य में शंकराचार्य ने इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारों से की है—

(i) 'अभिरूपा केशा यस्य'—अत्यन्त सुन्दर केशों से सम्पन्न होने से 'केशव'।

(ii) केशी के वध करने के कारण केशव—

> यस्मात् त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन।
> तस्मात् केशव नाम्ना त्वं लोके ख्यातो भविष्यति ॥
>
> —विष्णु० ५।१६।२३

यहां केशीवधक' शब्द से पृषोदरादित्वात् सिद्धि मानी गई है।

(iii) क (= ब्रह्मा) + अ (विष्णु) + ईश (शिव) = केश अर्थात् ब्रह्मा विष्णु शिव रूप त्रिमूर्ति। ये तीनों जिसके वश में रह कर अपने निर्दिष्ट कार्यों का सम्पादन करते हैं वह 'परमात्मा' है—केशव।

(३) पृश्निगर्भ—पृश्नि जिसका गर्भ या गर्भस्थानीय हो उसे पृश्निगर्भ कहते हैं। पृश्नि के अर्थ हैं—अन्न, वेद, जल तथा अमृत। ये भगवान् में सर्वथा गर्भरूप से रहते हैं अर्थात् निवास करते हैं, इसलिए वे पृश्निगर्भ नाम से सकेतित किये जाते हैं।

> पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा
> ममैतानि सदा गर्भे पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥
>
> —शान्ति २४१।४५

इस नाम के जपने का फल भी निर्दिष्ट है। 'त्रित' नामक ऋषि को उनके एकत और द्वित नामक भ्राताओं ने ईर्ष्यावश कूप में गिरा दिया था। वहां से वे प्रार्थना करते थे भगवान् का यही विशिष्ट नाम लेकर—'पृश्नि गर्भ' त्रित पाहि'। इस नाम के कीर्तन का सद्य फल उन्हें प्राप्त हुआ और व उस

अन्ध कूप से बाहर निकल आने मे समर्थ हुए। यह वैदिक कथा ऋग्वेद मे अनेक मन्त्रो मे निर्दिष्ट है।

(४) हरि—भगवान् का यह सुप्रसिद्ध नाम है। इसकी व्युत्पत्ति नारायणीयपर्व (अ० ३४२।६८) मे इस प्रकार है :—

> इडोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम्।
> वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद् हरिरहं स्मृतः॥

'हरि' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गई है-(क) इडोपहूता सह दिवा' मन्त्र के द्वारा आहूत भगवान् यज्ञो मे स्वनिर्दिष्ट हविर्भाग को ग्रहण करते हैं तथा (ख) उनका वर्ण (रङ्ग) हरित् है-हरिन्मणि (नीलमणि) के समान उनका रूप नितान्त सुन्दर तथा रमणीय है। विष्णुसहस्रनाम मे ३५९ वॉं नाम हविर्हरि' है जिसकी व्याख्या मे शकराचार्य ने पूर्वोक्त श्लोक को उद्धृत कर भगवान् को यज्ञीय हविष् का ग्रहण कर्ता माना है। यह व्याख्या 'यज्ञो वै विष्णु' के वैदिक आधार के ऊपर आधृत है।

(५) कृष्ण-'कृष्ण' शब्द की महाभारतीय व्याख्या विलक्षण है। भगवान् ने इस शब्द की निरुक्ति के प्रसङ्ग मे स्वय कहा है—

> कृष्णामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान्।
> कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् कृष्णोऽहमर्जुन॥

—तत्रैव, श्लोक ७९।

मैं काले लोहे की बड़ी कील बनकर पृथ्वी का कर्षण करता हूँ और मेरा वर्ण भी कृष्ण है—काला है। इसीलिए मे 'कृष्ण' नाम से पुकारा जाता हूँ। अन्य ग्रन्थो मे इस शब्द की निरुक्ति भिन्न प्रकार से की जाती है

भगवन्नामो मे से कतिपय नामो की निरुक्ति दिखलाने का यही तात्पर्य है कि गुणकर्म के अनुसार विभिन्न निरुक्तियाँ महाभारत तथा पुराणो मे प्रदर्शित की गई हैं। भगवान् मे गुणो की न इयत्ता है, न कर्मों की। फलत इन निरुक्तियों मे वैभिन्न होने पर भी कोई आश्चर्य नहीं होता। वक्ता की अभिरुचि के अनुसार ही इनमे भेद की कल्पना की जानी उचित है।

एक और भी तथ्य ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार विभिन्न मन्त्रो की उपासना का फल शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न बतलाया गया है, भगवान् के नामो के जप का फल भी उसी प्रकार समझना चाहिए। तन्त्रशास्त्र मे मन्त्रो का चुनाव उद्देश्य की सिद्धि के लिए भिन्न प्रकार का मन्त्रशास्त्र मे बतलाया गया है। भगवान् के नामों के विषय मे भी यही बात है। पूर्वोक्त निरुक्तियाँ को दिखलाते समय नारायणीयपर्व ने नाम-जप के विभिन्न उद्देश्यो की ओर भी

संकेत किया है, यथा 'केशव' के जपने का फल है—अन्धे मनुष्य को चक्षु का लाभ तथा 'पृश्निगर्भ' नाम के जपने का फल है—जल में पड़े हुए या डूबते हुए मनुष्य का उस आपत्ति से उद्धार। नाम-जप के सार्वभौम प्रभाव का यह सर्वोचीकरण नहीं है, प्रत्युत नाम-निरुक्ति की उपयोगिता दिखलाने के लिए शास्त्र की एक विशिष्ट सूझ है। इन नामों की एक दीर्घकालीन परम्परा है अर्थात् वेद में भी ये नाम परमतत्त्व के द्योतनार्थ प्रयुक्त किये जाते थे और उसी वैदिक परम्परा के अन्तर्गत पुराणों की परम्परा समन्वित होती है। जो आलोचक वेद और पुराण के तात्पर्यों में भेददृष्टि अपनाने के पक्षपाती हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए महाभारत का यह सुपुष्ट मत—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास तथा पुराण के द्वारा वेद का समुपबृंहण करना चाहिए। शैली का भेद भले ही हो, परन्तु पुराण वेद के द्वारा प्रतिपादित सत्य तथा तदर्थ का विस्तार करते हैं।

भगवन्नाम का प्रभाव

भगवान् के नामों के जपने का फल पुराणों में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। नाम-जप के माहात्म्य का वर्णन करना असम्भव ही है। नाम के ग्रहण करते ही नामी का रूप साधक के मानस नेत्र के सामने स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो उठता है। नामी के समान नाम भी चिन्मयवपु होता है। नाम के दिव्यरूप होने से उसमें एक अद्भुत शक्ति होती है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्र के द्वारा महर्षि पतञ्जलि का साधकों को यह उपदेश है कि नाम का जप करते समय उसके द्वारा द्योतित अर्थ की भावना अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि नाम और नामी का, शब्द और अर्थ का एक अविभाज्य नित्य सम्बन्ध सर्वदा स्थापित रहता है। नाम की प्रभविष्णुता के ऊपर अनुभवसम्पन्न सन्तों और साधकों का आग्रह होना नितान्त नैसर्गिक है। गोस्वामी जी ने तो नाम को राम से भी बढ़कर सिद्ध कर दिया है तथा बालकाण्ड के आरम्भ में ही उनका 'नाम-रामायण' अपनी अलौकिक नूतनता के हेतु साधकों में पर्याप्तरूपेण प्रख्यात है। 'नाम' को गोस्वामीजी ने 'चतुर दुभाषी' कहकर साधनाजगत् के एक महनीय तथ्य की अभिव्यक्ति की है। दुभाषी का कार्य होता है विभिन्न भाषा बोलने वाले व्यक्तियों के बीच सुबोध माध्यम का कार्य निष्पन्न करना। नाम का भी यही स्वरूप है। भक्त भगवान् के स्वरूप को जानने में यदि समर्थ नहीं है, तो 'नाम' उसे बतलाने में सर्वथा कृतकार्य होता है। 'नाम' के द्वारा भक्त भगवान्

के सामने पहुँचने मे तथा उनका रसास्वादन करने मे सर्वथा समर्थ होता है। इसलिए 'नाम' की महिमा से पुराण तथा भक्ति-साहित्य भरा पडा है।

पाप दूर करने का महौषध है—नाम स्मरण। प्रायश्चित्त पाप दूर करने का सुगम उपाय माना जाता है अवश्य, परन्तु उसमे उतना प्रभाव तथा व्यापकत्व नही होता। इस विषय मे विष्णुपुराण का यह वचन कितना प्रमाणभूत है—

> यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने
> विघ्नो, यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः।
> मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः
> किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते॥

—विष्णु ६।८।५७

आशय है कि जिसमे चित्त लगाने वाला नरकगामी नही होता, जिसके चिन्तन मे स्वर्गलोक भी विघ्नरूप है, जिसमे चित्त लग जाने पर ब्रह्मलोक भी तुच्छ प्रतीत होता है, और जो अविनाशी प्रभु शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषो के हृदय मे स्थित होकर उन्हे मुक्ति प्रदान करते हैं, उस अच्युत का चिन्तन करने से यदि पाप विलीन हो जाते हैं तो इसमे आश्चर्य ही क्या है?

नाम के द्वारा पाप राशि उसी प्रकार जल जाती है, जिस प्रकार आग से रूई का ढेर—

> सकृत् स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
> पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः॥

नामस्मरण करते ही भगवान् ज्यो ही साधक के हृदय मे विराजते हैं, त्यो ही उसके समस्त दोषो को नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार ऊँची ऊँची लपट वाला अग्नि वायु के साथ मिलकर सूखी घास के ढेर को जला डालता है—

> यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः।
> तथा चित्त-स्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्॥

—विष्णु० ६।७।७४

अजामिल का उपाख्यान नामस्मरण के विषय मे नितान्त विश्रुत है। मरते समय धोखे से भी यदि भगवान् का नाम उच्चारित हो जाय, तो शुभ फल होने मे तनिक भी विलम्ब नहीं होता। पुत्र को बुलाने की अभिलाषा से उच्चारित 'नारायण' नाम न हो कर 'नामाभास' ही तो है, परन्तु इसके सार्वभौम प्रभाव मे प्रत्येक भक्त परिचित है। नाम के शोधन के विषय में श्रीमद्भागवत का प्रख्यात पद्य है—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि
स्तथा विशुध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोक गुणोपलम्भकम् ॥

—भाग० ६।२।११

नाम के उच्चारणमात्र से ही पवित्रकीर्ति भगवान् के गुणों का सद्यः ज्ञान हो जाता है जिससे साधक का चित्त उसमें रमने लगता है। नामस्मरण का यही परम उद्देश्य है भगवान् के निश्छिद्र गुणों में अपने आपको लगा देना और तदुत्पन्न आनन्द-रस का आस्वादन देना। अन्य फल गौण हैं, यही तो मुख्य फल है। भगवान् में, उनके गुण, लीला और स्वरूप में रम जाने का एकमात्र सुलभ साधन है—नामसंस्मरण

नाम-व्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः।

भगवान् के नाम का स्मरण प्रतिक्षण होना चाहिए। एक क्षण के लिए भी उसकी विस्मृति होना महान् अपराध है। नाम ही ऐसी वस्तु है जो भगवान् की रसमयी मूर्ति हमारे नेत्रों के सामने सर्वदा उपस्थित कर देती है। अन्य साधनों से यह कार्य सुचारुरूप से नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्र का वचन है—

एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते
दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम्।

—विष्णुसहस्रनामभाष्य में उद्धृत।

लुटेरों ने किसी सम्पत्तिशाली धनाढ्य को लूट लिया हो, तो चिल्लाना ही स्वाभाविक होता है। उसी प्रकार यदि मानव का एक भी क्षण भगवान् के ध्यान के बिना बीत जाय, तो उसे अत्यन्त विलाप करना चाहिये। और यह ध्यान भगवान् के नाम द्वारा ही अनायास सिद्ध हो सकता है।

कलियुग की महिमा

नाम स्मरण की उपादेयता इस कलिकाल में विशेषरूप से मानी गई है। विष्णुपुराण (अंश ६, अ० २) में इसका विवरण बड़े ही नाटकीय ढंग से दिया गया मिलता है। अल्प आयास से महत् फल की प्राप्ति पाने की जिज्ञासा मुनियों को वेदव्यासजी के पास ले गई। वे गंगाजी में उस समय स्नान कर रहे थे। पानी से ऊपर आते ही वे जोरों से चिल्लाने लगे—

शूद्र साधुः कलिः साधुः ········ ··· ।
योषितः साधुधन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ? ॥

मुनि लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ इस नवीन तथ्य के द्योतक वाक्यपुञ्ज पर। स्नान से निवृत्त होने पर मुनियों ने जब अपने सन्देह का निराकरण चाहा, तब वेदव्यास ने इन तीनो की धन्यता के विषय में अपना निश्चित मत प्रकट किया। फल की सिद्धि का चतुर्युगीय अनुपात इस प्रकार व्यासजी ने बतलाया—१० वर्ष (सत्ययुग) १ वर्ष (त्रेता) १ मास (द्वापर): १ दिनरात (कलि)। तात्पर्य यह है कि सत्ययुग मे तप, ब्रह्मचर्य तथा जपादि की सिद्धि के लिए ३६०० दिन (तीन हजार छ सौ दिन) लगते हैं, वहाँ कलियुग मे एक अहोरात्र ही पर्याप्त है। इतना ही नहीं, साधन की लघुता की दृष्टि से भी कलियुग धन्य है—

ध्यायन् कृते, यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति, तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

—विष्णु ६।२।१७

कृतयुग मे (चचल चित्त से दुःसाध्य) ध्यान से, त्रेता मे (दीर्घव्यय-साध्य) यज्ञ से, द्वापर मे (महनीय साधनो की सहायता से) अर्चना से जो फल प्राप्त होता है, वही कलि मे केशव के (अल्प आयास से साध्य) सकीर्तन से होता है। इसी तथ्य को इसी अध्याय मे पराशर जी ने पुन दुहराया है—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

—तत्रैव, श्लोक ३९

वेदव्यास की दृष्टि मे कलि की धन्यता का यही कारण है। श्रीमद्-भागवत मे तथा अन्य पुराणो मे भी यह मान्यता दुहराई गई है। (द्रष्टव्य भाग० १२।३।५२)। 'हरये नमः' मन्त्र की सार्वकालिक व्यवस्था इसे सर्व-पातको के क्षालन की क्षमता प्रदान करती है (भाग० १२।१२।४६)। सूर्य अन्धकार को तथा प्रचण्ड बवडर मेघ को समग्ररूप से दूर कर देता है, उसी प्रकार भगवान् का सकीर्तन प्राणियो के व्यसन तथा विपत्ति को दूर कर फेंक देता है (तत्रैव, श्लोक ४७)। इसीलिए कलियुग के मानवों का परम कर्तव्य है कि वे भगवान् के अनन्त नामो मे से किसी नाम को चुन लें और उसीका यथाशक्ति निरन्तर कीर्तन किया करें। यह कीर्तन उभय लोको मे अभीष्ट फल का प्रदाता होता है। इस लोक मे ऐहिक भौतिक कल्याण तथा परत्र पार-लौकिक नि श्रेयस (मुक्ति) की सद्य प्राप्ति भगवन्नाम के जप से तुरन्त होती है। इसलिए इस मार्ग का आश्रयण प्रत्येक मानव का कर्तव्य होना चाहिये। ब्रह्मा जी का नामस्मरण विषयक यह पद्य साधक को सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए—

यस्यावतार गुण-कर्म-विडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥

—भाग० ३।९।१५

नाम-जप के प्रधान आचार्य, अपनी वीणा पर भगवन्नाम के कीर्तनकार श्री नारद जी की यह उक्ति साधकों के लिए संबल का काम करती है—इसे कौन भूल सकता है ?

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोक-गुणानुवर्णनम् ॥

—भाग० १।५।२२

पुण्यकीर्ति भगवान् के गुणों का कीर्तन मनुष्यों की तपस्या का, वेदाध्ययन का, स्वनुष्ठित यज्ञ का, सुन्दर कथन का, ज्ञान तथा दान का अस्खलित फल बतलाया गया है। फलतः भगवान् की अनुकम्पा से ही उनके नाम के स्मरण में चित्त लगता है। पुराण के भक्तिविषयक सिद्धान्तों का यही निष्कर्ष है।

पौराणिकधर्म पर तान्त्रिक प्रभाव

तन्त्रों के विषय में घोर अज्ञान साधारण जनता में तथा विज्ञ पण्डितजनों में भी व्याप्त है। उसकी उपासना-पद्धति के गुह्य तथा रहस्यात्मक होने के कारण अज्ञान या अल्पज्ञान का होना कुछ अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। तनु *विस्तारे* धातु से *औणादिक ष्ट्रन्* (सर्वधातुभ्य ष्ट्रन्-उणादि सूत्र ६०८) प्रत्यय के योग से निष्पन्न तन्त्र शब्द शास्त्र, सिद्धान्त, विज्ञान तथा विज्ञान-विषयक ग्रन्थ का बोधक[1] है। शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन को भी 'तन्त्र' नाम से अभिहित किया है। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिये 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है[2]। परन्तु 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही अधिकतर किया जाता है। यन्त्र मन्त्र आदि से समन्वित एवं गुप्त साधन मार्ग के उपदेशक धार्मिक ग्रन्थों के लिए ही संकुचित अर्थ में *'तन्त्र'* शब्द प्रयुक्त किया जाता है। *'तन्त्र'* की ही अपर संज्ञा *'आगम'* है। *देवता के स्वरूप, गुण-कर्म आदि का चिन्तन करने वाले मन्त्रों का जहाँ उद्धार* किया जाता है तथा इन मन्त्रों को यज्ञ में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के **पाँचों** अंग—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र व्यवस्थित रूप से दिखलाये जाते हैं, उन ग्रन्थों की ही संज्ञा तन्त्र है। वाराही तन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) तथा ध्यानयोग—इन *सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थ को आगम या तन्त्र कहते हैं*[3]। 'तन्त्र' का वैशिष्ट्य

---

१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्र-समन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

— कामिक आगम का वचन

२ स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता ।

—शाङ्करभाष्य २।१।१

'न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः' ।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः ॥

— महाभारत

३ सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तम् आगमं तद् विदुर्बुधाः ॥

— वाराहीतन्त्र का वचन

'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक अथवा विधानात्मक आचार तन्त्र का मुख्य विशिष्ट विषय है। ध्यातव्य है कि भारतीय संस्कृति निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति निगम (= वेद) पर अवलम्बित है उसी प्रकार वह आगम (तन्त्र) पर भी आश्रित है। निगम और आगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम पहेली है— नितान्त दुष्कर तथा दुर्ज्ञेय, परन्तु तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुशीलन के आधार पर यह सुलझाया जा सकता है। तथ्य यही है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कुल्लूकभट्ट ने 'श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तान्त्रिकी च' कह कर वेदानुकूल सिद्धान्तों के प्रकाशक तन्त्रों की ओर किया गया है और उन्हें सर्वथा श्रुत्यनुकूल स्वीकृत किया है। वैष्णव आगम (पाञ्चरात्र तथा वैखानस) तथा शैव आगम (पाशुपत, शैवसिद्धान्त आदि के मूल ग्रन्थ) के अनेक सिद्धान्त वेदानुकूल ही हैं *यद्यपि किन्हीं अवैदिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन* के कारण इन्हें अनेकत्र 'वेदबाह्य' कहा गया है। महिम्नस्तोत्र में इनकी गणना 'त्रयी के बाहर ही की गई है'[1]। शङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त चतुर्व्यूहवाद को वेद विरुद्ध माना[2] है, यद्यपि उपासना विषयक अनेक तथ्यों को वे वेदानुकूल ही मानते हैं। शैवागम को इसी प्रकार अप्पय दीक्षित वेदबाह्य कभी अंगीकार नहीं करते। तन्त्रों के वेद में बाह्य तथा विपरीत होने तथा जनसमाज में निन्दित होने का कारण भी खोजा जा सकता है।

शाक्ततन्त्र के सप्तविध आचारों[3] में वामाचार अन्यतम आचार है। शाक्तमत में पञ्चमकारोपासना एक नितान्त अन्तरंग तथा गूढ़ साधना है। इसके अन्तर्गत पाँच मकारादि शब्द आते हैं—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा तथा मैथुन। समयाचार के अनुसार ये अन्तर्याग के लिए उपयुक्त साधन हैं।[4] इन्हें सामान्य भौतिक अर्थ में न लेकर अलौकिक प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करना ही शास्त्र-मर्यादा है। परन्तु इस मर्यादा का उल्लंघन कर इन्हें स्थूल भौतिक अर्थ में लेकर

---

१ त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ॥
—महिम्न स्तोत्र, श्लोक संख्या ७

२ द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य ब्रह्मसूत्र २।२।४२-४५।
वेदप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्र-मधीतवान् इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसङ्गतैषा कल्पनेति सिद्धम्। २।२।४५ के भाष्य का अन्तिम निर्णय।

३ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, षष्ठ सं० (१९६०)

४ वही पृष्ठ ७८३-७८५।

उनका वैसा ही प्रयोग करना वामाचार की प्रतिष्ठित उपासनाविधि है। इस उपासनाविधि का केन्द्र है आसाम मे स्थित प्रख्यात (या कुख्यात ?) शक्तिपीठ कामाख्या, जहाँ तिब्बती पूजा पद्धति का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ना स्वयं तन्त्र ग्रन्थो को मान्य है। रुद्रयामल तन्त्र की उक्ति है कि वसिष्ठ ऋषि ने इस उपासना को महाचीन (भोट देश = तिब्बत) मे स्वयं सीखकर भारतवर्ष मे प्रचार किया। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि तिब्बत मे बोन नामक एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय था जिसकी नितान्त स्थूल भौतिकवादी उपासना का प्रचार पूरबी सीमान्त प्रदेशो से होकर आसाम तथा बगाल मे दशमी शती के आसपास हुआ। यह निश्चयेन विदेशी तथा अवैदिक थी। इसे भी शास्त्र की मर्यादा के भीतर अन्तर्भुक्त करने तथा वैदिकत्व का पूरा आवरण डालने की दृष्टि से ही वैदिक मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ के द्वारा इसके प्रचार की कल्पना गढ ली गई होगी—ऐसी कल्पना करना निराधार नही कही जा सकती। इस प्रकार वामाचार के घृणित जघन्य पूजा विधि देखकर ही तन्त्रो के विषय मे विद्वानो मे हेय दृष्टि का उदय हुआ। परन्तु सब बछडो को एक ही डडे से हाकना ठीक नही होता।

तन्त्र के अधिकाश सिद्धान्त तथा उपासना प्रकार भी नितान्त वेदानुकूल हैं। वेद तथा तन्त्र का भेद अधिकारी भेद तथा युगभेद से माना गया है। वेद के क्रियाकलापो मे त्रिवर्ण (ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य) का ही अधिकार है वहा तन्त्र ने अपने क्रियाकलाप के लिए अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए शूद्र तथा स्त्रीजनो के लिए भी उन्मुक्त कर रखा है। इसमे किसी का भी प्रवेश निषिद्ध नही है। निगम जहा मुख्यतया ज्ञानप्रधान है, वहा आगम मुख्यतया क्रियाप्रधान है यह तो हुआ अधिकारी भेद से पार्थक्य। युगभेद से भी पार्थक्य माना गया है। महानिर्वाण तन्त्र कहता है कि आगम मार्ग के बिना कलियुग मे उद्धार का कोई मार्ग नहीं है वहा कुलार्णवतन्त्र युगधर्म के विषय मे कह रहा है—सत्ययुग मे वेद तथा वैदिक उपासना का विधान है त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का द्वापर में पुराण तथा पौराणिक उपासना का और कलियुग में तन्त्र तथा तान्त्रिक उपासना का —

विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ॥

—महानिर्वाणतन्त्र

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः ॥

—कुलार्णवतन्त्र

निष्कर्ष यह है कि तान्त्रिकी उपासना विद्वज्जन से लेकर पामरजन तक तथा ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक यथायोग्य रूप से, अविच्छिन्न रूप से सब के लिए विहित है।

विशेषतः उस कलियुग के लिए वह अनिवार्य अनुष्ठान है, जिसमें हम-आप इस समय निवास करते हैं। फलतः समयोपयोगी तथा विश्वोपयोगी होने से तान्त्रिक अनुष्ठान का आजकल बोलबाला सर्वोपरि है।

तन्त्र और पुराण

तन्त्र तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों के विषय में पुराणों में अनेक और परस्पर-विपरीत मत उपलब्ध होते हैं। देवीभागवत तथा वराहपुराण में इस विषय का विवेचन विशेष रूप से मिलता है।

(क) लोगों के मोहन के निमित्त ही शंकर ने तन्त्रों की रचना की—समस्त तन्त्रों की। शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त तथा गाणपत्य आगमों का निर्माण भगवान् शंकर ने ही किया। यह उन ब्राह्मणों के उद्धारार्थ है जो वेदमार्ग से बहिष्कृत हैं[1]। तन्त्रों के विषय में पुराण की यही सार्वभौम दृष्टि है।

(ख) तन्त्र में कुछ ऐसे भी अंश हैं जो वेद से विरुद्ध नहीं हैं। फलतः ऐसे अंशों के ग्रहण में वैदिकों को किसी प्रकार के दोष की उद्भावना न करनी चाहिए। परन्तु वेद से भिन्न अर्थ वाले तान्त्रिक अनुष्ठान में द्विज कभी अधिकारी नहीं होता। वहां तो उन्हीं जनों का अधिकार होता है जो वेद से बहिर्भूत होते हैं :—

> तत्र वेदाविरुद्धोऽशोऽप्युक्त एव क्वचित् क्वचित्।
> वैदिकैस्तद्-ग्रहे दोषो न भवत्येव कर्हिचित्॥ ३१॥
> सर्वथा वेद-भिन्नार्थे नाधिकारी द्विजो भवेत्।
> वेदाधिकारहीनस्तु भवेत् तत्राधिकारवान्॥ ३२॥
>
> —देवीभाग० ७ स्कन्ध, ३९ अ०।

वेदानुष्ठान को ही विहित माननेवाले पुराणकर्ताओं का यह दृष्टिकोण सर्वथा नैसर्गिक है। उस युग में भी तन्त्र सर्वथा वेदबाह्य नहीं माने जाते थे, प्रत्युत उनमें वेद से अविरुद्ध सिद्धान्तों की भी सत्ता अवश्यमेव वर्तमान थी जिसका अनुष्ठान सर्वथा ग्राह्य और आदरणीय माना जाता था।

(ग) युगभेद से भी उपासनाभेद को किन्हीं पुराणों ने अंगीकार किया है। चारों युगों में क्रमशः वेद, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र का प्राबल्य था। फलतः कलियुगी जीवों के कल्याणार्थ तन्त्र का प्राबल्य वर्तमान युग में मानना अनेक पुराणों में उल्लिखित है[2]।

---

१ देवीभागवत ७.३९।१८

२ वराह० ७०.१२८-२५, पद्म ६।४५।३।८-४; ६।४५।२६-२७

(घ) देवीभागवत के समय में वैखानस आगम के अनुयायी तप्त मुद्रा धारण करते थे और इस पुराण की दृष्टि में वे वेदमार्ग से बहिष्कृत माने जाते थे। – (देवी भाग० ९।१।३१)।

(ङ) देवीभागवत के भी वचन ऊपर के सिद्धान्तो के प्रतिपादक है। यह वेद को ही धर्म का एकमात्र प्रमाण मानता है। इसलिए वेदानुकूल होने से ही स्मृति तथा पुराण भी प्रमाणकोटि मे माने गये है। रही तन्त्र की प्रामाणिकता की बात। यहा भी वही सिद्धान्त लगाया गया। वेद से अविरोधी तन्त्र तो ग्राह्य होता है और वेद से विरोधी तन्त्र कथमपि मान्य नही होता। इससे स्पष्ट है कि देवीभागवत के काल में तन्त्र का समावेश पुराणों मे हो गया था तथा दोनो प्रकार के उसके रूप थे—वेदविरोधी तथा वेदाविरोधी। इनमे द्वितीय रूप ही प्रमाण कोटि के भीतर माना जाता था। **वेदविरोधी तन्त्र की मान्यता कथमपि ग्राह्य नहीं थी**। देवीभागवत के ये तथ्य बडे ही सारवान् तथा महत्त्वशाली है[१]।

पुराणों मे तान्त्रिक विषयो के अनुप्रवश के समय विषय मे विद्वानो मे ऐकमत्य उपलब्ध नही होता। डा० हाजरा ने इस विषय का अपने ग्रन्थ मे बहुत विचार कर कुछ निष्कर्षों को निकाला है[२]—अष्टम शती से प्राचीनतर पुराणाशो मे तान्त्रिक पूजा का लेश भी विद्यमान नही है। प्रथमत पुराणो मे किसी देवविशेष के मुद्रान्यास आदि का ही वर्णन किया गया और तदनन्तर समग्र तान्त्रिक विधियो का उपन्यास स्मार्त कर्मों के संग में ही बिना किसी वैमत्य के पुराणो ने प्रस्तुत किया। दशम तथा एकादश शती में पुराणो में तन्त्रो ने अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा तथा प्रामाण्य प्राप्त कर लिया गरुड और अग्निपुराण में उपलब्ध तान्त्रिक विधान इसके प्रमाण है।

---

१ श्रुतिस्मृति उभे नेत्रे पुराण हृदय स्मृतम्।
एतत्-त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥ २१ ॥
× × ×
पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्रदृष्ट यथातथम्।
धर्म वदन्ति त धर्म गृह्णीयान्न कदाचन ॥ २४ ॥
वेदाविरोधि चेत् तन्त्र तत् प्रमाण न सशय।
प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्ध यत् तत् प्रमाण भवन्न च ॥ २५ ॥
— देवीभागवत ११ स्कन्ध १ अध्याय

२ *Puranic Records on Hindu Rites and Customs* नामक ग्रन्थ के पञ्चम परिच्छेद म इसका विस्तार देखिए।

अग्निपुराण का पूजाविधान पाञ्चरात्र विधि के अनुसार है, यह अन्तरंग अनुशीलन से स्पष्ट होता है। पाञ्चरात्रों से वर्तमान अग्निपुराण अत्यन्त प्रभावित है। इस पर शैव तथा शाक्त तन्त्र का कुछ भी प्रभाव लक्षित नहीं होता। इसने २५ पाञ्चरात्र संहिताओं का नामतः उल्लेख किया है[1]। इस पुराण ने २१ अ० से लेकर १०६ अ० तक तान्त्रिक कर्मों तथा विधानों का ही विस्तृत अथ च विशद विवरण दिया है। आगे-पीछे देखने से यह स्पष्टतः किसी अर्वाचीन युग में जोड़ा गया अंश है। यहाँ पाञ्चरात्र विधियों का इतना साङ्गोपाङ्ग विवेचन है कि प्रकाशित पाञ्चरात्र संहिताओं के साथ इनकी तुलना कर इनके मूलस्थान का भी पता लगाया जा सकता है।

उदाहरणार्थ तान्त्रिकी दीक्षा का विवेचन बड़े वैशद्य के साथ किया गया है। साथ ही साथ त्रिविध पशुओं (विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल पशु) के निमित्त विभिन्न प्रकार की दीक्षा विवेचित है। समय दीक्षा (८१ अ०), संस्कार दीक्षा (८२ अ०) निर्वाण दीक्षा (८३ अ०) का विवरण अपने पूर्ण तान्त्रिक वैभव तथा विस्तार के साथ यहाँ इतनी सूक्ष्मता से है कि ग्रन्थकार किसी तान्त्रिक ग्रन्थ का यहाँ संक्षेप प्रस्तुत करता प्रतीत होता है जो उसकी संग्राहिका शैली के नितान्त अनुरूप है। इस प्रकरण में तान्त्रिक मन्त्रों का भी यथास्थान प्रयोग मिलता है। षट्कर्मों—शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेष, उच्चाटन तथा मारण—का विवरण अ० १३८–१४४ अ० तक विस्तार के साथ है[2]। गरुड पुराण में भी तान्त्रिक विधिविधानों की वर्तमान उपलब्धि (अ० ७–११; २१–२३, ३५–२७, ३८ आदि) उसके आविर्भावकाल को नवम-दशम शती में नियन्त्रित कर रही है।

तन्त्र का सन्निवेश प्राचीन पुराण जैसे वायु, भागवत, विष्णु, मार्कण्डेय आदि में बिल्कुल नहीं है। भागवत में वैदिकी पूजा के संग में तान्त्रिकी तथा मिश्र पूजा का संकेतमात्र है, कहीं भी विस्तार नहीं किया गया। उपपुराणों के निर्माण की प्रेरणा, लेखक की दृष्टि में, तन्त्रों के व्यापक प्रभाव का परिणत फल मानी जा सकती है। उपपुराण किसी एक देवता के पूजा विधान के विव-

---

१ अग्नि ३१ अ० २–५ श्लो०। इन नामों की डा० श्रादेर कृत An Introduction to the Pancharatra and the Ahirbudhnya Samhita (Adyar Madras) में दिये गये नामों से तुलना करनी चाहिये जिससे अग्निपुराण के आविर्भावकाल का भी पता चल सकता है।

२ शान्तिवश्यस्तम्भनादि-विद्वेषोच्चाटने तथा ।
मारणान्तानि शंसन्ति षट् कर्माणि मनीषिणः ॥

रण के निमित्त ही निर्मित हुआ है। फलत उपपुराणों के युग मे तान्त्रिक पूजा का विधान पुराणो मे स्वतन्त्र रूप से किया गया उपलब्ध होता है। महापुराणों मे तो वैदिक मन्त्रो के सग मे ही तान्त्रिक मन्त्रों का समावेश कहो कहीं वर्तमान है। यह घटना दशम-एकादशी शती म प्रचुरतया से उपलब्ध होती है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए दवीभागवत का एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा।

देवीभागवत की महापुराणता का खण्डन ऊपर सप्रमाण किया गया है। यह नि सन्देह एक उपपुराण ही है परन्तु शाक्त लोगो के लिए यह किसी भी महापुराण से कम महत्त्व नही रखता। इसमे पराशक्ति के स्वरूप का जहाँ दार्शनिक विवेचन है, वहाँ उनके पूजा विधि का गम्भीर तान्त्रिक प्रतिपादन है। समग्र पुराण का वातावरण ही तन्त्रमय है। नाना रूपो म शक्ति का प्राधान्य बतलाना पुराण-कर्ता को अभीष्ट है। विभिन्न स्थानो मे विशिष्ट दवी के नाम का उल्लेख एक पूरे अध्याय (७।३८) मे मिलता है जिसमे कोलापुर की महालक्ष्मी, तुलजापुर की देवी, हिंगुला, ज्वालामुखी, शाकम्भरी, भ्रामरी आदि के स्थानो का उल्लेख कर विन्ध्याचल-निवासिनी विन्ध्यादेवी सर्वोत्तमोत्तम बतलाई गई है। इससे पूर्व ही एक अध्याय (७।३५) मे षट्चक्र के निरूपण में पूर्ण तान्त्रिकता की अभिव्यक्ति है। शारद तथा चैत्र—उभय नवरात्रो के व्रत भगवती की प्रसन्नता के कारण होते हैं तथा ७।३९ मे देवी का पूजा-विधान वैदिक तथा तान्त्रिक उभय मन्त्रो की सहायता से निष्पन्न माना गया है। ७।४० में बाह्यपूजा का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे पूर्व तृतीय स्कन्ध के २६ तथा अन्य अध्यायो म कुमारी-पूजन जैसे विशुद्ध तान्त्रिक अनुष्ठान की विधि बतलाई गयी है तथा इस कार्य म निषिद्ध कुमारियो का भी विवरण विषय की पूर्ति के लिए किया गया है। नवम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे सरस्वती का स्तोत्र, पूजा, कवच आदि तान्त्रिक अनुष्ठान के अनिवार्य अगो का विवरण देकर ग्रथकार लोकप्रचलित षष्ठी मगल चण्डी तथा मनसा (नाग) देवी के पूजन तथा उससे जायमान फल को आख्यानमुखेन वर्णन करता है (९।४६, ४७ तथा ४८ क्रमश)। इन देवियो क पूजाक्षेत्र बगाल मे होने से इस पुराण के निर्माण का भौगोलिक क्षेत्र भी यही पूर्वी प्रान्त माना जाना चाहिए। यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि बँगला साहित्य के मध्य युग मे इन देवियो के आख्यानो का वर्णन अलकृत शैली मे काव्य रूप मे उपलब्ध होता है जिन्हें मगल काव्य के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार देवीभागवत शाक्ति की तान्त्रिक आराधना का प्रतिपादक एक महनीय उपपुराण है जो विषय की गम्भीरता, प्रतिपादन की विविधता और दार्शनिक तत्त्वो के उन्मीलन मे किसी भी महापुराण से घट कर नहीं है।

श्री सत्यनारायण व्रत-कथा

यद्यपि भारत के कोने कोने में प्रत्येक शुभ अवसर पर श्री सत्यनारायण व्रत-कथा का समादर किया जाता है तथापि प्रचलित कथा की पुष्पिका में दिया गया 'स्कन्द-पुराणे रेवा खण्डे' पण्डितों में सदैव विवाद का विषय रहा है, क्योंकि स्कन्द पुराण की इस समय उपलब्ध प्रतिलिपियों के रेवा-खण्ड में यह कथा नहीं है। किंवदन्तियों से यह अनुश्रुत है कि जो वस्तु सर्वेतित संस्कृत की पुस्तकों में उपलब्ध न हो सके, उसके बारे में समझना चाहिये कि या तो वह ब्रह्मलोक में है या कालकवलित हो चुकी है, फिर भी आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता को यह सहसा मान्य नहीं। साथ ही स्कन्दपुराणीय रेवाखण्ड की कथावस्तु का विष्णुव्रत-कथाओं से साक्षात् कोई लगाव भी नहीं है। तो क्या यह परम्परा निर्मूल है ? इस कौतूहल को लेकर इसकी मौलिकता के अन्वेषण में प्राय समुपलब्ध सभी पुराणों का अध्ययन करने पर यह कथा भविष्यपुराण, खण्ड २ के प्रतिसर्ग पर्व के २४-२९ अध्यायों में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, पुस्तकाकार की पृष्ठसंख्या ४५०-५८, सं० १९६७ और पत्राकार पृ० सं० २७४-७९) मिली है। कथा कुल ६ अध्यायों में है। प्रचलित पुस्तक से बहुधा साम्य रखते हुए भी चन्द्रचूड आदि राजाओं की कथाएं विशेष रूप में वर्णित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसे पुस्तक का रूप देते समय स्थल-विभ्रम के कारण स्कन्द-पुराणे आदि कह दिया गया और कथा को पूर्ण बनाने के लिए कुछ श्लोक भी गढ लिये गये।

श्री सत्यनारायण व्रत-कथा के विषय में इस कथा के ऊपर तीन आक्षेप किये गये हैं जिनका उत्तर यहाँ क्रमश दिया जा रहा है :—

(१) स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में यह कथा उपलब्ध होती है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई तथा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित रेवाखण्ड में इस कथा का अभाव अवश्य है, परन्तु बंगवासी प्रेस, कलकत्ता के संस्करण में यह उपलब्ध होती है, हाल में ही (१९६२) गुरुमण्डलग्रन्थमाला (कलकत्ता) के विशपुराण क्रम में प्रकाशित रेवाखण्ड में यह कथा चार अध्यायों में (अ० २३३-२३६) तथा पृ० ११२३-११३५ में उपलब्ध है। प्रचलित कथा से अन्तर केवल अध्यायों का ही है, मूल रेवाखण्ड का तृतीय अध्याय (२३५ वाँ अध्याय) लम्बा होने से दो अध्यायों में विभक्त कर दिया है जिससे आज इसमें पाँच अध्याय हैं।

(२) लेखक का दूसरा आक्षेप है—'स्कन्दपुराणीय रेवाखण्ड की कथा-वस्तु का विष्णुव्रत कथाओं से साक्षात् कोई लगाव भी नहीं है"। यह आक्षेप निराधार है। रेवाखण्ड में नर्मदा के तीरस्थ शिवलिङ्गों का विशेष विवरण

अवश्य मिलता है परन्तु साथ ही साथ विष्णु नारायण के पूजन अर्चन का बाहुल्य भले ही न हो, अभाव तो कथमपि नहीं है। लिखा है कि रेवा (नर्मदा) के दक्षिण तीर पर शैव मन्दिरों की प्रतिष्ठा है, तो वाम तीर पर विष्णु मन्दिरों की सत्ता है। अध्याय १९३, १९४ तथा १९५ इन तीन अध्यायों में विष्णु की महिमा तथा लक्ष्मीनारायण के विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार विष्णु की मान्यता रेवाखण्ड में स्वीकृत होने से तत्सम्बद्ध कथा की प्राप्ति उसके भीतर होना नितान्त स्वाभाविक है। फलतः रेवाखण्ड से विष्णुव्रत-कथा का सम्बन्ध स्वाभाविक है।

(३) भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व के २४-२९ अध्यायों में यह कथा अवश्य मिलती है। रेवाखण्डीय कथा से इसकी तुलना करने पर यहाँ की सत्यनारायण कथा विस्तृत रूप में दी गई है। कतिपय नामों के अन्तर से कथा वही ज्यों की त्यों है। परन्तु रेवाखण्डीय साधु बनिया की कथा में सत्य की उपेक्षा का जो दुष्परिणाम दिखलाया गया है, वह इतना स्वाभाविक तथा क्रमबद्ध है कि आलोचक को उसे ही मूल कथा मानने को बाध्य होना पड़ता है। कुछ उपबृंहण करके ही चार अध्यायों वाली कथा ६ अध्यायों में बढ़ा कर दी गई है। पुराणों में कथाओं का सन्निवेश कई स्थलों पर कतिपय सामान्य पार्थक्य के साथ मिलता ही है। इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं। इस कथा का भौगोलिक क्षेत्र नर्मदा-तीर बतलाया गया है, जो स्पष्टतः अपने मूल, रेवा (नर्मदा) खण्ड, का अविस्मरणीय संकेत है।

(४) सत्यनारायण के व्रत तथा कथा का प्रचलन केवल उत्तरी भारत में ही नहीं है, प्रत्युत महाराष्ट्र में भी तथा आन्ध्र प्रान्त में भी यह कथा सर्वतोभावेन प्रचलित है। और सर्वत्र **इसका मूल स्थान रेवाखण्ड ही माना गया है।** फलतः इतनी दीर्घकालीन तथा दीर्घदैशिक परम्परा का अतिक्रमण करना कथमपि उचित नहीं है। यह कथा निःसन्देह रेवाखण्ड की ही है, इसमें सन्देह करने की कोई भी गुञ्जाइश नहीं।

दशम परिच्छेद

पौराणिक देवता

वैदिक देवता पुराणकाल तक आते आते अपनी पूर्ण विभूति को धारण नहीं रख सके। इनमें से कुछ के स्वरूप का लोप ही हो गया और कतिपय अपने उदात्तरूप से च्युत होकर सामान्य स्तर पर विचरण करने लगे। वरुण का पौराणिक रूप इस तथ्य का उज्ज्वल दृष्टान्त है। वैदिक काल में वरुण अत्यन्त उदात्त स्तर पर कल्पित देव थे—नितान्त न्यायप्रिय, विश्व के प्रत्येक पदार्थ के ज्ञाता तथा कर्मानुसार प्राणियों के कर्मफल के वितरण करने वाले ऐश्वर्य सम्पन्न देव, परन्तु पुराणकाल में उनमें एकदम ह्रास हो गया। कहां उनका उदात्त वैदिक रूप और कहां जलदेवता के रूप में सीमित उनका पौराणिक विग्रह !!! वैदिक देवों में विष्णु तथा रुद्र का प्रामुख्य इस युग में निर्विवाद रहा। कुछ लोग गणेश को पुराणकाल की नई उपज मानते हैं जिसमें आर्य से भिन्न पूजानुष्ठान का प्रचुर प्रभाव अङ्गीकार करते हैं, परन्तु यह सर्वमान्य मत नहीं है। अधिकांश मनीषी गणपति को वैदिक देव मानते हैं जिनकी स्तुति 'ब्रह्मणस्पति' के रूप में वैदिक संहिताओं में उपलब्ध है।[1] इस काल में कतिपय प्राचीन वैदिक देवों के विषय में नवीन कल्पना जाग्रत हुई—सूर्य इसके विशिष्ट निदर्शन हैं। शक-कुषाणों के आगमन से प्रथम शती में उनके उपास्य देव सूर्य का भी तान्त्रिक अनुष्ठान भारत में प्रचलित हुआ। इस नवीन कल्पना को पुराणों ने, विशेषत भविष्यपुराण ने, स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। भारतवर्ष में सूर्य के उपासकों के अभाव होने के कारण शाकद्वीप से सूर्योपासक ब्राह्मणों (मग, भोजक या शाकद्वीपी) को विष्णुवाहन गरुड ने स्वयं लाकर उस उपासना में महान् योगदान दिया—इसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकारने वाले पुराण पर अप्रिय वार्ता के दबाने का दोष कभी आरोपित नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल से आने वाली सूर्यपूजा के साथ इस नवीन तान्त्रिक सूर्यपूजा का समन्वय स्थापित कर

१ बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति के स्वरूप के विषय में द्रष्टव्य डा० मैकडानल · वैदिक माइथौलोजी (हिन्दी रूपान्तर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१) पृष्ठ १९१-१९७।

पुराणो ने अपनी उदार सग्राहक वृत्ति का परिचय दिया है। हनुमान भी इस प्रकार एक नवीन देव के रूप मे गृहीत किये गये हैं। रामचन्द्र की उपासना के सग में उनके अनन्य सेवक हनुमान् की उपासना का लोकप्रिय प्रसार सर्वथा नैसर्गिक है। हनुमत्पूजा का प्रचार १० म शती मे आरम्भ हो चुका था, क्यो कि ९२२ ईस्वी मे निर्मित मन्दिर मे हनुमान् की मूर्ति स्थापित की गई है।

देवो के स्वभाव-स्वरूप में भी कुछ अन्तर अवश्य आ गया। पौराणिक देवता का रूप सगुण-साकार था। फलत वे मानवो के विशेष सन्निकट तथा सान्निध्य मे उपनीत हुए। वे मानव सुख दु ख के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध मे आबद्ध हो गये। ससार के नाना दु खो से सन्तप्त मानव अपनी दु खद गाथा सुनाने के लिए किसी सहानुभूतिपूर्ण देवता की खोज मे था जो उसे सुने, उसे दूर करने का अमृत औषध प्रदान करे तथा विचलित मानव मानस को स्वस्थ बनाकर शान्ति प्रदान करे। ऐसे देव की कल्पना पुराणो ने की। पौराणिक देवता कही आकाश मे विचरणशील, जगत् के कार्यो से उदासीन व्यक्ति न थे, प्रत्युत भूतलचारी मानवो के दु ख सुख में हाथ बटाने वाले थे। इस प्रकार वैदिक देवो की अपेक्षा ये व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण भक्तो के बिलकुल पास थे। वे अधिक मात्रा मे वैयक्तिक हो गये। वे निर्विशेष न होकर सविशेष रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

पुराण मे **समन्वय साधन** के बीज ही नही प्रत्युत पल्लवित तरु की कल्पना साकार रूप से वर्तमान है। प्राचीन युग से आने वाली, लोक समाज में प्रचलित होने वाली इतस्तत विकीर्ण रूप से उपलब्ध होने वाली उपासना पद्धतियो, आचार-विचारो, कल्पना-मान्यताओ—सब का एक विराट समन्वय उपस्थित कर जो साहित्यिक रचना इनमे उपलब्ध है वह वैविध्य धारण करने पर भी सुसमजस है अनेकता से मण्डित होन पर भी ऐक्य भावापन्न है, लोकप्रिय जन-विश्वासो का आगार होने पर भी शास्त्रीय विश्वासो से सम्पन्न है। इसी समन्वय भावना के कारण अवतारवाद का जन्म हुआ जिसके साथ भक्ति का सार्वभौम राज्य पुराणो में विराजने लगा। कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की दुरूहता के कारण वे जनप्रिय नही हो सके। फलत मानवहृदय को विकसित करने वाली भक्ति ही एकमात्र प्रधान उपासना-मार्ग के रूप में गृहीत हुई। इसी प्रकार धर्म तथा मानव स्वभाव के सवगात्मक पक्ष पर आग्रह कर पुराण ने मानव मन की परिष्कृति के नवीन मार्ग की उद्भावना की। धर्म तथा साहित्य में इस भक्ति-मार्ग के योग से जो मधुरिमा, जो कोमलता आई है वह पुराणयुग की एक विशिष्ट देन है।

(क)

पञ्चदेव

विष्णु

ऋग्वेद के अनुसार विष्णु सौर देवता हैं अर्थात् सूर्य के ही अन्यतम रूप हैं। 'विष्णु' नाम की निरुक्ति इसी तथ्य की द्योतिका है। यास्क का कथन है कि रश्मियों द्वारा व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों के द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के हेतु सूर्य 'विष्णु' नाम से अभिहित किये जाते हैं। विष्णु के साथ त्रिविक्रम (अर्थात् तीन डगों की रचना) नाम का अनिवार्य सम्बन्ध है। विष्णु ने अपने तीन डगों—पाद विक्षेपों—के द्वारा समग्र विश्व को माप रखा है। विष्णु के इस वैशिष्ट्य का प्रतिपादक यह मन्त्र प्रत्यक्ष संहिता में उपलब्ध होता है —

> इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
> समूढमस्य पांसुरे॥
>
> —(ऋग्० १।२२।१७)

इसीलिए 'उरुगाय' (विस्तीर्ण गतिवाला और) उरुक्रम (विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेप करने वाला) विशेषण विष्णु के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध हैं। ये तीन क्रम क्या हैं? इसकी द्विविध व्याख्या उपलब्ध होती है। यास्क ने इस विषय में शाकपूणि तथा और्णवाभ नामक आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। शाकपूणि के अनुसार (तथा अर्वाचीन संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुरूप) विष्णु के तीन क्रम का सम्बन्ध जगत् के तीन लोकों—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में हैं जो धीरे धीरे नीचे से ऊपर की ओर हैं। और्णवाभ के मतानुसार इन तीन डगों का सम्बन्ध सूर्य की दैनन्दिन परिक्रमा के तीन स्थानों उदयस्थान, मध्य बिन्दु तथा अस्तस्थान से है। परन्तु यह व्याख्या वैदिक मन्त्रों से विरुद्ध होने के कारण आदरास्पद नहीं प्रतीत होती है। विष्णु का तृतीय क्रम सबसे ऊँचा स्थान बतलाया गया है जहाँ से वह नीचे के लोक के ऊपर चमकता रहता है (परम पदमव भाति भूरि, ऋ० १।१५४।६)। यही उनका

अथ यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा
—निरुक्त १२।१९

यदा रश्मिभिरतिशयेनाय व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभिरय सर्वं, तदा विष्णुरादित्यो भवति॥

—दुर्गाचार्य २।१

प्रिय लोक है जिसकी प्राप्ति के लिए साधक की कामना सतत जागरूक रहती है। यहाँ उनके भक्त लोग आनन्द मनाया करते हैं। वह सबका सच्चा बन्धु है। उसके परमपद मे मधु का झरना (उत्स) वर्तमान है जिससे उसके भक्त आप्यायित रहते हैं। ऋग्वेद का कहना है विष्णु के परमपद को विद्वान् लोग सदा आकाश मे वितत सूर्य के समान देखते हैं—

> **तद् विष्णो. परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय'।**
> **दिवीव चक्षुराततम् ॥**

—(ऋग् १।२२।२०)

इस मत्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि विष्णु का तृतीय पद या परमपद आकाश मे ऊँचे पर स्थित है। जिस प्रकार आकाश मे रश्मियो को चारो ओर फैलानेवाला सूर्य चमकता है, उसी प्रकार यह परमपद भी उस ऊँचाई से चारों ओर चमकता है। ऋग्वेद का यह मत्र ही स्वत औणवाभ की कल्पना की पुष्टि न करके शाकपूणि के सिद्धात को सिद्ध तथा प्रामाणिक बतला रहा है।

विष्णु वद मे एक बलरहित निर्बल दवता के रूप मे चित्रित नही किये गये है। इन्द्र के साथ उनकी गाढ मित्रता तथा सहवास से भी यह बात अनुमेय है कि वे भी इन्द्र के समान ही वीर्यशाली तथा बलसपन्न देवता हैं। इसके अतिरिक्त दीघतमा औचथ्य ऋषि न विष्णु के तीन वीर्यपूर्ण कार्यो का उल्लेख किया है—(१) उन्होन पृथिवी के ऊपर विद्यमान लोको का निर्माण किया है, (२) ऊर्ध्वलोक मे विद्यमान आकाश को दृढ बनाया है। किसी युग मे वह हिलता डुलता अस्थिरता का दृष्टात बना हुआ था। विष्णु के प्रभाव से ही वह अपने स्थान पर दृढ तथा स्थिर बना हुआ है। (३) तीसरा पराक्रम है तीन डग रखना जिसका उल्लेख पहिले ही किया गया है। भयकर पवत पर रहनवाला (गिरिष्ठा), स्वतन्त्रता से विचरण करनेवाला (कुचर) सिंह जिस प्रकार प्राणियो मे अपने पराक्रम से प्रख्यात है, उसी प्रकार विष्णु भी अपने पराक्रम के कारण ही मनुष्यो की स्तुति के पात्र हैं—

> **प्र तद् विष्णु. स्तवते वीर्येण**
> **मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा ॥**

—(ऋग् १।१५४।२)

वेद मे विष्णु का सबध गायों के साथ विशेषरूप से दीख पडता है और यह परपरा वैष्णव धर्म के इतिहास मे सर्वत्र लक्षित है। काण्व मेधातिथि ऋषि की आध्यात्मिक अनुभूति है—विष्णुर्गोपा अदाभ्य. (ऋग्वेद १।२२।१८)

अर्थात् विष्णु अजेय गोप हैं—ऐसे रक्षक हैं जिनका दमन या पराजय कथमपि नहीं किया जा सकता। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि की अनुभूति और भी स्पष्टतर है। उनका कथन है कि विष्णु के परमपद में या उच्चतम लोक में गायों का निवास है जो भूरिश्रृङ्गा—अनेक शृङ्गों को धारण करने वाली तथा 'अयास'—नितांत चंचल हैं —

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ॥

—(ऋग् १।१५४।६)

भौतिक जगत् में 'भूरिशृङ्गा अयासः' गायें सूर्य की चंचल किरणें हैं जो आकाश में नाना दिशाओं को उद्भासित करती दीख पड़ती हैं। इन्हीं मन्त्रों के आधार पर अवान्तर-कालीन वैष्णव मत के अनेक सिद्धान्त अवलम्बित हैं। विष्णु का सर्वोच्च पद 'गोलोक' कहलाता है जिसका वैष्णव ग्रन्थों में बड़ा ही सांगोपांग वर्णन मिलता है।[1] गोपवेषधारी विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ के विचित्र सौंदर्य की कल्पना के अवसर पर इस गोप-वेषधारी विष्णु का स्मरण किया है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥

—मेघ १।१५

विष्णु का सम्बन्ध इन्द्र के साथ बड़ा घनिष्ठ है। अनेक मन्त्रों में वे दोनों एक साथ ही प्रशंसित किये गये हैं। वृत्र के मारने के अवसर पर इन्द्र विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने विक्रम को और भी अधिक बढ़ा दें। संहिता काल में ही विष्णु का पद देव मंडली में कम महत्त्वपूर्ण न था, इसका परिचय हमें एक अन्य घटना से भी मिलता है। एक मन्त्र में वे गर्भ के रक्षक बतलाये गये हैं तथा अन्य देवों के साथ गर्भ की स्थिति तथा पुष्टि के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। मानव-जीवन के संरक्षण में जो देवता नितांत समर्थ तथा कृतकार्य है वह सोमयाग में विशेष महत्त्वपूर्ण न होने पर भी साधारण जीवन के लिए उपयोगी, गौरवशाली तथा लोकप्रिय अवश्य हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

---

१ द्रष्टव्य ब्रह्मसंहिता ३ २

ब्राह्मण-युग में विष्णु

ब्राह्मण-युग मे यज्ञसंस्था का विपुल विकास संपन्न हुआ और इसके साथ ही साथ देवमण्डली मे विष्णु का महत्त्व भी पूर्वापेक्षया अधिकतर हो गया। विष्णु की एकता यज्ञ के साथ की गई—यज्ञो वै विष्णुः। और इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ऋत्विजो की दृष्टि मे विष्णु समस्त देवताओं मे श्रेष्ठ तथा पवित्रतम माने जाने लगे, क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार यज्ञ से बढ़कर पवित्र तथा श्रेयस्कर वस्तु अन्य होती ही नही। ऐतरेय ब्राह्मण[1] के आरम्भ मे ही अग्नि हीन (अवम) देवता माने गये हैं तथा विष्णु (परम) श्रेष्ठ देव स्वीकार किये गये हैं। इस युग मे विष्णु के तीनो डगो का संबन्ध स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से स्थापित किया गया और इनका अनुकरण यज्ञ मे यजमान के द्वारा भी किया जाने लगा। यज्ञ मे यजमान 'विष्णु-क्रम' का अनुकरण कर तीन पगो को वेदी पर रखता है। इस प्रकार यज्ञात्मक विष्णु के साथ यजमान का ऐक्य-स्थापन ब्राह्मण ग्रन्थ का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ मे असुर से युद्ध के अवसर पर विष्णु के तीन क्रम रखने की कथा का उल्लेख है। विष्णु ने असुरो से पृथ्वी छीन कर इन्द्र को दी। असुरो तथा इन्द्र-विष्णु मे लोको के विभाजन के विषय में झगड़ा हुआ। असुरो ने कहा कि जितनी पृथ्वी विष्णु अपने तीन पगो के द्वारा ले सकते हैं, उतनी पृथ्वी इद्र को मिलेगी। तब विष्णु ने अपने पगो से समग्र लोक, वेद तथा वाणी इन तीनो को माप कर स्वायत्त कर लिया।[2] शतपथ ब्राह्मण का भी कथन इसी से मिलता-जुलता है। इस ब्राह्मण के अनुसार विष्णु ने अपने पैरो के रखने से देवताओ के लिए वह सर्वशक्तिमत्ता अर्जन कर दी जिसे वे धारण किये हुए हैं। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थो में विष्णु असुरो से पृथ्वी तथा सर्वशक्तिमत्ता छीननेवाले गौरवशाली देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

इस विशाल ब्रह्माड के भीतर विष्णु की अ म्य शक्तिमत्ता, अलौकिक प्रभाव तथा उपयोगिता समझने के लिए उनके वास्तव स्वरूप की समीक्षा

---

१ अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परम, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता— ऐतरेय ब्राह्मण १।१

२ इन्द्रश्च विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। त, ह जित्वोचतु कल्यामहा इति। ते ह तथेत्यसुरा ऊचु। सोऽब्रवीदिन्द्रो यावदेवाय विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माक युष्मायमितरद् इति। स इमान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान् अथो वाचम्।

—ऐतरेय ब्राह्मण ६।३।१५

३ शतपथ ब्राह्मण १।९।३।९

नितांत आवश्यक है। विश्व में दो शक्तियाँ हैं—पोषक शक्ति तथा शोषक शक्ति, धनात्मक शक्ति तथा ऋणात्मक शक्ति। इस की वैदिक परिभाषा है—अग्निषोम, प्राण तथा रयि। जगत् के मूल में ही दोनों शक्तियाँ जागरूक रहती हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों के नाना प्रभाव तथा उपबृंहण का सम्मिलित परिणाम वह वस्तु है जिसे हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। इनमें से एक शक्ति पोषण करती है और दूसरी शक्ति शोषण करती है। इस अग्निषोमात्मक विश्व में अग्नि तत्त्व के प्रतिनिधि हैं रुद्र, तो सोमतत्त्व के प्रतीक हैं विष्णु।

भगवान् रुद्र का भौतिक आधार वस्तुतः अग्नि ही हैं। अग्नि के तथ्य तथा भौतिक आधार के ऊपर रुद्र की कल्पना वेद में की गई है। दोनों का साम्य बिल्कुल स्पष्ट तथा विशुद्ध है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है, अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिंग की कल्पना युक्तियुक्त रूप से की गई है। शिव की जलधारी अग्निवेदी का प्रतीक है। जिस प्रकार अग्नि वेदी पर जलते हैं, उसी प्रकार शिव-लिंग जलधारी के मध्य में रखा जाता है। अग्नि में घृत की आहुति के समान शिव का अभिषेक जल के द्वारा किया जाता है। शिव-भक्तों के भस्म धारण करने की प्रथा का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। भस्म अग्नि से उत्पन्न होता है और इस भस्म को शिव के अनुयायी उपासक अपने उत्तमांग पर धारण करते हैं। अतः साक्षात् रूप से दोनों रूपों की तुलना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुद्र ही अग्नि के प्रतिनिधि हैं। इस विषय में वैदिक प्रमाणों का अभाव नहीं है। ऋग्वेद (२।१।६) का 'त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः' मंत्र डंके की चोट इस एकीकरण की ओर संकेत कर रहा है। अथर्व का मंत्र 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (अथर्व ७।८३) इसी ओर इंगित कर रहा है। शतपथ ब्राह्मण रुद्र की आठों मूर्तियों को आठ भौतिक पदार्थों का प्रतिनिधि बतला रहा है जिनमें रुद्र अग्नि के साक्षात् प्रतिनिधि हैं—

> **अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः। पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्य अशान्तान्येवेतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततमम्।**
>
> —शतपथ १।७।८

इस प्रकार रुद्र अग्नि के प्रतीक ठहरते हैं।

विष्णु सोम के प्रतिनिधि हैं। जगत् का पोषक तत्त्व है सोम। **सोम ही इस नील गगन के प्रांगण में** विचरणशील चन्द्रमा है। सोमही **ओषधियों का शिरोमणि** है पृथ्वी के प्रांगण में। सोम का रस निकाल कर अग्नि में हवन किया जाता है। ऋत्विग तथा यजमान यज्ञ के प्रसाद रूप से इसी सोमरस का

पान कर अलौकिक तृप्ति तथा संतोष का अनुभव करते हैं। सोमरस के पान का फल है अमृतत्व की प्राप्ति, ज्योति की उपलब्धि तथा देवत्व का ज्ञान। प्रगाथ काण्व ऋषि इस प्रख्यात मन्त्र के द्वारा अपनी अनुभूति को वर्णमय विग्रह पहना रहे हैं—

अपाम सोममसृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

—(ऋग् ८।४८।३)

सोम ही अमृत के सूक्ष्म बिंदुओं की वर्षा कर ओषधियों को पुष्ट करता है। सोम ही सुधा के द्वारा देव तथा पितर दोनों समुदायों का आप्यायन करता है। इसीलिए वैदिक ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है तथा सखा मित्र के लिए मैत्रीभाव प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे ऊपर करुणा तथा मैत्री की वर्षा कीजिए और हमारे जीवन के निमित्त हमारी आयु का विस्तार कीजिए—

शंभो भव हृद आपीत इन्दो
पितेव सोम सूनवे सुशेव ।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः
प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥

—(ऋग् ८।४८।४)

इस प्रकार इस विश्व में पोषक तत्त्व है सोम। भगवान् विष्णु इसी सोम का प्रतिनिधित्व करते हैं। पोषक तत्त्व मात्रा में सर्वदा स्वल्पकाय होता है। वह बढ़ते बढ़ते समग्र शरीर को व्याप्त कर लेता है जिससे उसकी सत्ता का अनुभव उस शरीर के प्रत्येक अंग में, प्रत्येक अवयव में अनुभवकर्ता को भली भाँति लग सकता है। स्वल्पता के गुरुता में परिणत होने में विलम्ब नहीं लगता। उपयुक्त पात्र में आहित होने पर इस तत्त्व की आकस्मिक वृद्धि तथा विकास में तनिक भी देर नहीं लगती। इसी सिद्धांत का प्रतिपादक है विष्णु का वामन रूप। वामनो वै विष्णुरास—इस ब्राह्मण वाक्य का आध्यात्मिक अर्थ यही है कि जो स्वल्पकाय है वही बृहत्तर काय में परिणत हो जाता है। जगत् का पोषक तत्त्व मात्रा में कितना भी छोटा क्यों न हो, वह अपनी वृद्धि के अवसर पर समग्र विश्व को व्याप्त कर लेता है। अपने पराक्रम में अनुस्यूत होकर अपने रूप का विस्तार कर लेता है। विष्णु के मोहिनी रूप धारण करने का भी रहस्य इसी तथ्य में अंतर्निहित है। देवताओं को अमृत पिलाने में विष्णु का ही हाथ था। उनके अभाव में तो वह असुरों की

सम्पत्ति बन गया रहता। विष्णु की सुधापान कराने की कथा का संकेत सोम के द्वारा अमृत पान करने की ओर है। तन्त्रसाधना मे परिचित विद्वान् भली भाँति जानते हैं कि राम ही तारा के रूप में परिणत होते हैं तथा कृष्ण काली का रूप धारण करते हैं। ये सब प्रमाण विष्णु के पोषक तत्त्व अथवा सोमतत्त्व के प्रतीक होने के सिद्धात के प्रबल पोषक है।

सोमसबद्ध देवता की सौर देवता के रूप में परिणति पाने का कारण उतना दुरूह नहीं है। सोम का प्रकाश सूर्य की किरणों के प्रसरण का परिणाम है। इसीलिए सोम सूर्य-मडल का निवासी भी कहा जाता है। महाकवि कालिदास का कथन है—

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान् पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते॥

—विक्रमोर्वशीय ३।७

इस प्रकार सोमतत्त्व के प्रतीकभूत विष्णु को सौर देवता के रूप में ग्रहण करना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवताओं में विष्णु को जगत् का पालक माननेवाले पुराण भी इसी वैदिक सिद्धात की पर्याप्त मात्रा में पुष्टि करते हैं।

विष्णु का पौराणिक स्वरूप

पुराणों ने इस जगत् के मूल मे वर्तमान, नित्य, अजन्मा, अक्षय अव्यय, एकरस तथा हेय के अभाव से निर्मल परब्रह्म को ही विष्णु सज्ञा दी है। वह प्रकृति से भी श्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ अन्तरात्मा मे स्थित परमात्मा, रूप, वर्ण, नाम आदि विशेषणो से विरहित तथा षट् विकारों—जन्म, वृद्धि, स्थिति, परिणाम, क्षय तथा विनाश—से सर्वथा शून्य रहता है। उसके विषय मे केवल इतना ही कहा जाता है कि वह सर्वदा 'है'—

शक्यते वक्तुं य. सदास्तीति केवलम्

—(विष्णु १।२।११

जिस समय महाप्रलय उपस्थित है, तब न तो दिन था, न रात्रि, न आकाश था और न पृथ्वी थी, न तो अन्धकार था और न प्रकाश ही था, न इनके अतिरिक्त ही और कुछ था। उस समय श्रोत्र आदि इन्द्रियों का तथा बुद्धि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म और पुरुष था (विष्णु १।२।२३)। तात्पर्य यह है कि नासदीय सूक्त मे तदेकं की सत्ता से जिस ब्रह्म का कीर्तन किया है वही विष्णु है। इस विष्णु के दो रूप होते हैं :—

(क) उपाधिरहित ब्रह्म के प्रथम रूप हैं—प्रधान और पुरुष।

(ख) दूसरा रूप है—काल। यही दोनो सृष्टि तथा प्रलय को अथवा प्रकृति और पुरुष को संयुक्त तथा वियुक्त करता है। यह कालरूप भगवान् अनादि हैं तथा अनन्त हैं। इसीलिए संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय भी कभी नही रुकते। अर्थात् नित्य काल के प्रभाव से जगत् के उदयादि प्रवाह-रूप से निरन्तर होते रहते है। कभी रुकते ही नही।

प्रधान तथा पुरुष दोनो अलग अलग स्थित रहते हैं, परन्तु सर्गकाल उपस्थित होने पर वही सर्वव्यापी परमेश्वर अपनी इच्छा से विकारी प्रकृति और अविकारी पुरुष म प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित करता है। तभी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। उस ब्रह्म या विष्णु का प्रथम रूप पुरुष है। प्रधान तथा व्यक्त (महदादि) उसके दूसरे रूप है तथा सबको क्षोभित करने वाला काल उसका परम रूप है। इस प्रकार पुरुष, प्रधान, व्यक्त तथा काल उसके रूप अवश्य हैं, परन्तु वह इन चारो से भी परे है। भगवान् विष्णु के परम विशुद्ध पद को सूरि लोग ही देखते हैं। तात्पर्य यह है कि विष्णु योगी जनो की ही दृष्टि से अपने हृदयाकाश मे उदित सूर्य के समान साक्षात् किया जाता है अन्यथा नहीं —

> प्रधान पुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।
> पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद् विष्णोः परमं पदम् ॥
>
> — विष्णु १।२।१६

विष्णु सर्वव्यापी है और यह विश्व उन्ही मे बसा हुआ है। इसीलिए वे 'वासुदेव' नाम से विश्रुत है। वासुदेव शब्द की यह विष्णुपुराणीय निरुक्ति महाभारतीय निरुक्ति से सवथा साम्य रखती है।[1]

विष्णु के इस व्यापक रूप का संकेत उनके मूर्त रूप के आयुधो और आभूषणो से भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है —

(१) कौस्तुभमणि—जगत् के निर्लेप, निर्गुण तथा निर्मल क्षेत्रज्ञ स्वरूप का प्रतीक।

---

१ सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

—(विष्णु १।२।१२)

तुलना कीजिये—

वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूत निवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तुते ॥

—महाभारत

(२) श्रीवत्स - प्रधान, या मूल प्रकृति ।

(३) गदा - बुद्धि

(४) शंख = पञ्च महाभूतों का उदय कारण तामस अहंकार ।

(५) शार्ङ्ग (धनुष्) = इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाला राजस अहंकार ।

(६) सुदर्शन चक्र = सात्त्विक अहंकार ।

(७) वैजयन्ती माला - पञ्चतन्मात्रा तथा पञ्चमहाभूतों का संघात । वैजयन्तीमाला मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील तथा हीरा—इन पाँचों रत्नों से बनी हुई रहती है और इसीलिए वह संख्या में पाँच तन्मात्र तथा महाभूतों का प्रतीक है ।

(८) बाण = ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय ।

(९) खड्ग = विद्यामय ज्ञान (जो अज्ञानमय कोश से आच्छादित रहता है)

तात्पर्य यह है कि 'भगवान् विष्णु से ही तो पचीस तत्त्व (सांख्य दर्शनाभिमत) उत्पन्न होते हैं । इन्हें प्रतीक रूप से अपने शरीर पर वे आयुधों और आभूषणों के रूप में धारण करते हैं ।'[1] अर्थात् विद्या, अविद्या, सत्, असत् तथा अव्यय जो कुछ भी विश्व में है, यह सब भगवान् विष्णु ही हैं । वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण, वेदाङ्ग, काव्य चर्चा तथा समस्त राग रागिनी आदि अर्थात् विश्व में शास्त्र तथा ललित कला जो कुछ भी विद्यमान है वह सब शब्दमूर्तिधारी विष्णु का ही शरीर है ।

> काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च ।
> शब्दमूर्तिधरस्यैतद् वपुर्विष्णोर्महात्मन: ॥
>
> — विष्णु १।२२।८५

आशय यह है कि भगवान् विष्णु ही जगत् के एकमात्र व्यापक तत्त्व हैं । इनकी ज्ञानात्मिका भक्ति से जीव संसार के बन्धनों से निश्चित रूपेण मुक्त हो जाता है ।

१. द्रष्टव्य विष्णु पुराण १।२२।६८-७५ ।

(२)

रुद्रशिव

शिव की महत्ता के उदय होने का इतिहास बड़ा मनोरम है। पौराणिक काल मे तथा आजकल रुद्र को जितना महत्त्व तथा प्राधान्य प्राप्त है उतना वैदिक काल मे न था। आजकल विष्णु के साथ शिव ही हम हिन्दुओं के प्रधान देवता हैं, परन्तु इस प्रधानता का क्रमिक विकास धीरे-धीरे शताब्दियो मे सम्पन्न हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थो के अध्ययन करने से रुद्र के विषय मे अनेक ज्ञातव्य बातो का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद मे केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, २ मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६वाँ सूक्त—रुद्र देवता के विषय मे उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओ के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद मे रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओ की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद मे रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-सवलित है। यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति मे प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक सहिताओ मे थोडे बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय सहिता का १६वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात है। अथर्ववेद के ११ काण्ड के द्वितीय सूक्त मे रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद मे रुद्र का स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है: रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।०)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ट है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्र) उनके मस्तक पर बालो का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।१४।१)। उनका रग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करनेवाले हैं (पुरुरूप.) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकनेवाले सोने के गहनो से विभूषित है। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय मे तथा अथर्व के रुद्रसूक्त मे उनके स्वरूप का इससे कहीं अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा, तथा दाँतो का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्ष)। उनकी गर्दन का रग नीला है (नीलग्रीव), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रग का है (शितिकण्ठः)[1] उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी-कभी वे मुण्डित केश

---

१. नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८

(व्युप्तकेश य० यु० १६।२९) भी कहे गए हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेश)। वे माथे पर पगड़ी पहननेवाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्रुश १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष तथा बाण हैं। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१)। उनका धनुष सोने का बना हुआ, हजारों आदमियों को मारनेवाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्यं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् —अ० ११।२।१२) बाणों के रखने के लिये वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो सख्या में सौ है। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिये उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं। वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिये वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी शु० य० १६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था[1]। कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अँगरखा' के ढंग का कोई पहनावा था। वर्म खासा लोहे का बना हुआ जिरहबख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना जाता था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्ति वसान —शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़ कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण में शत्रुओं के संहार के लिये जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहनकर रथ पर आसन मार धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने भक्तों के वैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण हमेशा चढ़ाए रहते हैं। इसलिए उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

> विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
> अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधि॥
>
> —शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सबसे श्रेष्ठ

---

[1] पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमयं शरीररक्षकं वर्म।
—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

वृषभ है वे तरुण हैं उनका तारुण्य सदा टिकने वाला है। वे शूरो के अधिपति है और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतो मे टिकी हुई नदियो मे बल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न मानने वाले मनुष्यो को वे अवश्य अपने बाणो से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यो के लिये वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसलिए वे 'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियो का परिचय मन्त्रो के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतो के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रो मे मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतो के 'रुद्रिय' सज्ञा पाने का यही रहस्य है। रुद्र के मरुतो के पिता होने के विषय मे षड्गुरु-शिष्य ने 'सर्वानुक्रमणी' की वदार्थदीपिका' मे रोचक आख्यान दिया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर द्या द्विवद ने नीतिमञ्जरी' म यह उपदेश निकाला है—

दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
दितेर्गर्भव्यथां दृष्ट्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता॥

पिछले ग्रन्थो मे रुद्र के लिये 'त्र्यम्बक' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। इस 'त्र्यम्बक का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र मे किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० म०) मे भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है।—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

—ऋ० ७।५३।१४

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारो ने 'तीन नेत्र वाला' किया है परन्तु पाश्चात्य विद्वानो को इस अर्थ मे आस्था नही है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्द को जननी वाचक मानकर रुद्र को तीन मातावाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टत प्रतीत नही होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थी। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी सहिता (३।५७) मे आता है परन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है— एष ते रुद्र भाग सह स्वस्राऽम्बिकया, त जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशु (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थो मे मिलते है। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक म और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् मे प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली म रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य सहिताओं म इनका महत्त्व बढ़ता सा दीख पडता

है। शतरुद्रीयाध्याय में रुद्र के लिये भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग ही नहीं मिलता, प्रत्युत हर एक दशा में वर्तमान प्राणियों के ऊपर इनका अधिकार जागरूक रहता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहां भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१) पशुपति का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है —

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता।
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥

—अ० ११।२।९

इस प्रकार 'पशु' के तात्त्विक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। जिसमें समग्र भुवन निवास करते हैं वह नाना वस्तुओं को धारण करनेवाला विस्तृत ब्रह्माण्डरूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। रुद्र का निवास अग्नि में, जल में, ओषधियों तथा लताओं में ही नहीं है, बल्कि उन्होंने इन समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त-
र्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

—अथर्व ७।८७

यह सुन्दर मन्त्र रुद्र की महिमा स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर रहा है। यह तो हुई यजुः और अथर्व संहिताओं की बात। ब्राह्मण काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसंग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है। वहां गौरव के ख्याल से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कहकर समानार्थक शब्द ही व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद के एक विनियोग वाक्य में रुद्र का नाम प्रयुक्त किया गया है, वहां ऐतरेय की यह व्यवस्था है कि इस नाम को गौरव की दृष्टि से छोड़ देना चाहिए।

उपनिषदो मे रुद्र की प्रधानता का परिचय हमे भली भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।०), नृसिंहतापनी (१।२), श्वेताश्वतर (३।०,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर मे रुद्र की एकता, जगन्निर्माण मे निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षित्व तथा देवताओ के उत्पादक तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा मे किया गया है। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु' (३।२),

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' ॥ (३।४)

—आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय मे प्रमाणरूप से उद्धृत किए जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदो मे अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अत अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदो के नामोल्लेखमात्र से हमे यहाँ सन्तोष करना पडता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस रुद्र को ऋग्वेद तथा पिछली सहिताएँ 'उग्र' नाम से पुकारती हैं उस रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या था? प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की सज्ञा प्रदान की गई है? 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति से इस समस्या के हल होने की तनिक भी सूचना नही मिलती। प्राचीन वैदिक ग्रन्थो मे सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) मे रुद्र की उत्पत्ति की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जनमते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्र) बृहदारण्यक (३।९।४) मे इसी प्रकार दशो इन्द्रियो तथा मन को एकादश रुद्र के रूप मे ग्रहण किया गया है। इन्हे 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोडकर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ

१ 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियो के लिये देखिए ऋ० १।११४।१ का सायण भाष्य।

रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्र इति।) पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्र के प्राकृतिक आधार को ढूँढ निकालने का विशेष परिश्रम किया है (इन सब मतों के लिये डा० ए० बी० कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ् वेद' पृ० १४६-७ देखिए।) डा० वेबर रुद्र को तूफ़ान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० श्रादेर के विचार मे मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनबर्ग इस मत मे आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा हैमवती कही जाती हैं। अत. इस मत के लिये भी कुछ आधार है। परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है। रुद्र के पूर्ववर्णित स्वरूप का पूरा सामञ्जस्य इन कथनों मे कथमपि नहीं बैठता। इस विषय मे प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध सामग्री रुद्र के मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालती है।

वस्तुत. रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर जलते हैं। इसी कारण शिव जलधारी के बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिव-भक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त के मानने से भलीभाँति हो जाता है। इस सिद्धान्त के पोषक वैदिक प्रमाणों पर अब ध्यान दीजिए। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र मे इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ (३।१।३) ब्राह्मण का प्रमाण नितान्त स्पष्ट है। *'अग्निर्वै रुद्र' अत्यन्त स्पष्ट भाषा मे दोनों की एकता* का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है; 'शर्व' जलरूप है; 'पशुपति' ओषधि हैं, 'उग्र' वायु है; 'अशनि' विद्युत् है; 'भव' पर्जन्य है; 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्य लोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा वाहीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं :—

अग्निर्वै स देव । तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते । भव इति यथा वाह्लीका, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम् ।

—शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) मे अग्नि, अशनि, पशुपति भव, शर्व, ईशान, महादेव उग्र—ये सब एक ही देवता के पृथक् पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार अशनि का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं आकाश मे काले मेघो के बीच से चमकने वाली विद्युत् के रूप म वे ही प्रकट हाते हैं। अत रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठातृ देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। अथववेद मे एक स्थान पर (११।२।१७) रुद्र के ससार को लीऽने के लिये जीभ लपलपाने क' वणन मिलता है। मुझे जान पड़ता है कि 'जिह्वया ईयमानम् शब्दो के द्वारा काले बलाहका के बीच मे कौंधनेवाली क्षण क्षण मे चमकनेवाली बिजुली की ओर स्पष्ट सकेत है। इसी को पुष्ट करनेवाली अथववेदीय प्राथना है कि हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हम ससक्त न कीजिए। यह जो बिजुरी दौल रही है उसे मेरे शिर पर न गिराकर कही अन्यत्र गिराइए—

मा न सं स्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम् ।

—अ० ११।२।२६

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के शिवत्व को भली भाति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भाति उग्र तथा भयद अवश्य है परन्तु साथ वह अपने भक्तो को विपत्तियो से बचाता है तथा उनका मगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारा औषधें हैं जिनके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यो म वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक्‌तम त्वा भिषजां शृणोमि—ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग म रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठडक पहुँचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठढी दवाओ को रखनेवाला)।

क स्य ते रुद्र मृडयाकु-
र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष । —(ऋ० २।३३।७)

वस्तुत अग्नि के दो रूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह ससार व सहार करन म समर्थ होता है परन्तु अघोर रूप

में वही संसार के पालन में भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का संचार रह सकता है? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जलवृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जीवित रहने में मुख्य हेतु का रूप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के बीज निहित रहते हैं और संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। महाकवि कालिदास को अग्नि की संहारकारिणी शक्ति में भी उपादेयता दीख पड़ती है—

> कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
> बीज-प्ररोह-जननीं ज्वलनः करोति।

—(रघु० ९।८०)

अतः उग्ररूप के हेतु से जो देव 'रुद्र' हैं, वे ही जगत् के मंगल साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता अवान्तर वैदिक ग्रन्थों में सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गई है, परन्तु इस अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७) ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हम लोगों को स्पर्श न कर दूर से ही छूट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे सम्बन्धियों के ऊपर उस शान्तरूप की दया सदा बनी रहे :—

> परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
> परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
> अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
> मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ॥

—(ऋ० २।३३।१४)

शिव का पौराणिक रूप

शिव के दो रूप होते है—(१) अगुण तथा (२) सगुण। इनमे से अगुण रूप तो निर्विकारी, सच्चिदानन्द स्वरूप तथा परब्रह्म कहलाता है और सगुण रूप जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है और इस कार्य मे शिव एक होते हुए भी त्रिधा भिन्न माने जाते हैं। विष्णु रूप से वह विश्व के रक्षक हैं ब्रह्मा रूप से उत्पादक और हर रूप से वे सहारकर्ता हैं। शिवपुराण का कथन है कि शिव तथा विष्णु मे किसी प्रकार का अन्तर तथा पार्थक्य नही है। शिव तथा रुद्र भी इसी प्रकार एक ही भिन्नतारहित रूप के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए शिवपुराण ने प्रसिद्ध वेदान्तसम्मत दृष्टान्तो को अपनाकर इस तत्त्व की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। सुवर्ण तो नाना अलकारो के लिए प्रयुज्यमान होकर भी एक ही होता है—आकार की भिन्नता होने पर भी वस्तुतत्त्व की भिन्नता नही होती। मृत्तिका की भी यही दशा है। पार्थिव द्रव्यो की नानाता होने पर भी मृत्तिका मे एकता ही सदा वर्तमान रहती है शिवतत्त्व का एकत्व भी इसी प्रकार का है—

> सुवर्णस्य तथैकस्य वस्तुत्वं नैव गच्छति।
> अलंकृति-कृते देव नामभेदो न वस्तुत ॥
> यथैकस्या मृदो भेदे नानापात्रे न वस्तुत।
> कारणस्यैव कार्यस्य सन्निधानं निदर्शनम्॥
>
> —शिवपुराण, रुद्रसहिता ९।३५-३६

समस्त दृश्य शिवरूप ही है अर्थात् यह दृश्यजगत् शिव से कथमपि भिन्न नही है। शिव ही सत्य, ज्ञान तथा अनन्तरूप है और सबका मूल है। शिव जब सत्त्व, रज तथा तम आदि गुणो से युक्त होकर सृष्ट्यादि कार्यों का निष्पादक होता है तभी वह ब्रह्मादिक नामो के द्वारा अभिहित किया जाता है। शिव के वाम अङ्ग से हरि की उत्पत्ति होती है और दक्षिण अङ्ग से ब्रह्मा की तथा हृदय से रुद्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तीनो के उदय का मूल आधार शिव ही है।

ब्रह्म अर्थात् शिव अद्वय, नित्य, अनन्त पूर्ण तथा निरञ्जन (कालुष्य रहित) होता है। विष्णु म तमोगुण की सत्ता भीतर रहती है और सत्त्व की बाहर इसस ठीक विपरीत स्थिति है हर की, जो अन्त सत्त्व तथा तमोबाह्य होता है—भीतर सत्त्व और बाहर तम। ब्रह्मा अन्त तथा बाह्य उभयत्र रजोविशिष्ट

होता है। इस प्रकार गुणों के साथ सम्बद्ध होने पर ब्रह्मा, विष्णु तथा हर की स्थिति है, परन्तु शिव तो गुणों से सर्वथा भिन्न ही रहता है—उनके साथ उसका रंचकमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता।

एवं गुणास्त्रिदेवेषु गुणभिन्नः शिवः स्मृतः।

(तत्रैव श्लोक ६१)। पुराणों की निन्दा करने वालों का यह आरोप है कि शिवपुराण शिव की ही महिमा का प्रतिपादक होने के साथ ही साथ वह विष्णु का निन्दक भी है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। शिव की यह उक्ति कितनी तात्त्विक है[1]—

ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम॥

—तत्रैव, श्लोक ५५।

हरिहरयोः प्रकृतिरेका प्रत्ययभेदेन रूपभेदोऽयम्।
एकस्यैव नटस्यानेकविधा भूमिका-भेदात्॥

पुराण ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में अभिन्नता मानता है। हरि और हर की प्रकृति तो एक है, प्रत्यय भेद से ही रूपभेद दोनों में पाया जाता है। यही गम्भीर तत्त्व है। यह दोनों प्रकार से सिद्धान्त है अध्यात्मदृष्टया और व्युत्पत्ति दृष्ट्या। हरि तथा हर-दोनों शब्द एक ही हृ धातु से निष्पन्न हैं, केवल प्रत्ययों की भिन्नता के कारण दोनों का रूप भिन्न-भिन्न है। अध्यात्म दृष्टि से ये दोनों देव एक ही ब्रह्मस्वरूप शिव के विभिन्न कार्यों के निष्पादन के कारण भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। नट के दृष्टान्त से यह तत्त्व भली भाँति समझ में आता है।

शिव तथा विष्णु के ऐक्य का प्रतिपादक शिवपुराणीय श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है। इसी की पुष्टि विष्णुपुराण के इस पद्य से होती है—

स एवाहं महादेवः स एवाहं जनार्दनः।
उभयोरन्तरं नास्ति घटस्थजलयोरिव॥

—विष्णुपुराण

परात्पर ब्रह्म ही सब देव और देवियों का मूल स्थान है। जिस प्रकार हरि, विष्णु तथा हर उससे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शक्ति की भी उत्पत्ति वहीं से होती है—

---

१. इसी प्रकार राम और शिव का ऐक्य पद्मपुराण प्रतिपादित करता है :-
ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदयेत्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढ़ाः पश्यन्ति दुर्धियः॥ पाताल खण्ड २८।२१

तस्मान्महेश्वरश्चैव प्रकृतिः पुरुषस्तथा।
सदा शिवो भवो विष्णुर्ब्रह्मा सर्वं शिवात्मकम् ॥

—शिवपुराण, वायवीय, पूर्वभाग १०।६

इसी प्रकार शिव तथा शक्ति में भी अभिन्नता है। शक्ति शिव में छिपकर कभी निष्क्रिय रहती है और प्रकट होकर सक्रिय होती है। दोनों का अविनाशी सम्बन्ध है —

एवं परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतोः स्थिता।
न शिवेन विना शक्तिर्न च शक्त्या विना शिवः ॥

—शिव० वाय० उ० ख०

फलत पुराणों की देवता विषयक दृष्टि पर्याप्तरूपेण उदार और विशद है।

इस प्रकार शिव अनेकत्व से विरहित हैं तथा सासारिक रूपों से भिन्न हैं। वह पूर्ण आनन्द, परम आनन्द के निधान तथा सर्वश्रेष्ठ आत्मा है। वह भोक्ता (अनुभवकर्ता जीव), भोग्य (अनुभूयमान पदार्थ) तथा भोग (अनुभव)—इन तीनों में पृथक् होता है। सत्ता की दृष्टि से वही एकात्मक सत्तात्मकरूप हैं। परन्तु माया के कारण भिन्न भिन्न दृष्टिगोचर होता है।

नील-लोहित रूप रुद्र का पुराणों में जो वर्णित है वह वेदानुकूल ही है। शिव की आठ मूर्तियों का तथा उनके विभिन्न अभिधानों का विवरण वायुपुराण में विस्तार से दिया गया है (२७ अध्याय)। विष्णु ने शिव की एक विशिष्ट स्तुति की है जो प्राय वैदिक मन्त्रों में दिये गये नामों के द्वारा ही सम्पन्न हुई है[1]। इस शिवस्तव (वायु० २४ अ०) का तात्पर्य शिव की व्यापकता दिखलाना है। रुद्राध्याय के समान ही शिव यहाँ भी सब पदार्थों के पति बतलाये गये हैं—

पितॄणां पतये चैव पशूनां पतये नमः।
वाग्-वृषाय नमस्तुभ्यं पुराणवृषभाय च ॥ १०१ ॥
सुचारु चारुकेशाय ऊर्ध्वचक्षुः शिराय च।
नमः पशूनां पतये गोवृषेन्द्रध्वजाय च ॥ १०६ ॥

—वायु० २४ अ०

साख्य मतानुयायी शिव को प्रकृति से परे मानते हैं। योग-मतानुयायी ध्यानयोग के द्वारा शिव को प्राप्त कर मृत्यु के प्रपच से बच जाते हैं। शिव

१ यह सकेत मूल में ही दिया गया है—

नामभिश्छान्दसैश्चैव इद स्तोत्रमुदीरयत्।

—वायु २४।९०

अर्थात् इस स्तोत्र के नाम छन्दस अथवा वैदिक ही है।

तथा विष्णु में किसी प्रकार का द्वैविध्य नहीं है (वायु० २५ अ०)। इस प्रकार शैवपुराण शिव की महिमा तथा व्यापकता का विशद वर्णन करते हैं।

पुराणों में शिव की आठ मूर्तियों का विशद उल्लेख अनेकत्र मिलता है। लिङ्गपुराण (उत्तरार्ध, १२ तथा १३ अध्याय) में इन मूर्तियों के अधिकारी देवों के नाम नीचे दिये जाते हैं[1]।

ध्यातव्य यह है कि ये नाम वैदिक हैं। शिव के नाम तो वेदों से ही लिया गये हैं, परन्तु उनका भिन्न-भिन्न मूर्तियों के साथ अभिधान रूप से सम्बद्ध बतलाना पुराण का काम है। प्रत्येक मूर्ति की भार्या तथा एक पुत्र की कल्पना उस मूर्ति के साथ सम्बद्ध मानी जाती है।

१ पृथ्वी-आत्मक शिव का नाम है—	शर्व
२ जलात्मक	—भव
३ अग्नि	—पशुपति
४ वायु	—ईशान
५ आकाश	—भीम
६ सूर्यात्मा	—रुद्र
७ सोमात्मा	—महादेव
८ यजमानमूर्ति	—उग्र

पत्नी	पुत्र
१ विकेशी	अङ्गारक
२ उमा	शुक्र
३ स्वाहा	षण्मुख
४ शिवा	मनोजव
५ दिशायें	सर्ग
६ सुवर्चला	शनैश्चर
७ रोहिणी	बुध
८ दीक्षा	सन्तान

---

१ इन मूर्तियों के विशिष्ट वर्णन के लिए द्रष्टव्य वायुपुराण: २७वाँ अध्याय। अन्य पुराणों में भी शिव की इन मूर्तियों के नाम का वर्णन मिलता है लिङ्ग-पुराण ५१ अ० ५१-५६ श्लो०

शिवभक्ति

शिवभक्ति के अनेक प्रकार पुराणो ने बतलाये हैं। मुख्यतया वह तीन प्रकार की होती है—कायिक, वाचिक तथा मानसिक जो काम, वाक् तथा मन से क्रमशः सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार लौकिकी, वैदिकी तथा आध्यात्मिकी-ये तीन भेद भी किये गये हैं।

लौकिकी भक्ति—नाना प्रकार के लौकिक साधनो से सिद्ध होती है जो गो घृत, रत्नादिको के उपहार, तथा नृत्य आदि के प्रयोग से सम्पन्न होती है।

वैदिकी भक्ति—वेद के मन्त्रो द्वारा हविष्य आदि की आहुति से जो क्रिया सम्पन्न की जाती है वह वैदिकी भक्ति के नाम से पुकारी जाती है।

आध्यात्मिकी भक्ति—इसमे ज्ञान का भी प्रमुख सहयोग किया जाता है। दो प्रकार की होती है—(क) साख्या तथा (ख) यौगिकी। साख्या भक्ति मे रुद्र के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यौगिकी भक्ति मे भगवान रुद्र का ध्यान ही पराभक्ति कहलाता है।

शिव की उपासना मे तन्त्रो के साधनो का भी प्रयोग बतलाया जाता है। कील, कवच अर्गला, सहस्रनाम आदि की विशिष्टता से समन्वित तान्त्रिकी पूजा का विधान मध्ययुगीय पुराणो का निजी वैशिष्ट्य है। ऊपर दिखलाया गया कि वायु जैसे प्राचीन शैवपुराण मे वैदिकी पद्धति ही पूर्णतया ग्राह्य है। मध्ययुगो मे तान्त्रिक पूजा का प्रचलन प्रचुर मात्रा मे होने लगा जिसका प्रभाव पुराणप्रोक्त पूजा विधान पर भी विशेष रूप से उपलब्ध होता है।

(३)

गणपति

१. आध्यात्मिक रहस्य

गणपतितत्त्व निरूपण करने के पहले ही गणेश के वैदिकत्व के विषय में सामान्य चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से विकास सिद्धान्त के अनुसार प्रायः सब पौराणिक देवताओं का मूलरूप वेद में मिलता है। धीरे-धीरे ये विकास को प्राप्त होकर कुछ नवीन रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इनका नाम वेदों में गणेश न होकर 'ब्रह्मणस्पति' है। जो वेद में 'ब्रह्मणस्पति' के नाम से अनेक सूक्तों में अभिहित किये गये हैं, उन्हीं देवता का नाम पीछे पुराणों में 'गणेश' मिलता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का यह सुप्रसिद्ध मन्त्र गणपति की ही स्तुति में है—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ
नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥"

इसमें आप 'ब्रह्मणस्पति' कहे गये हैं। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वाक्—वाणी—है। अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ वाक्पति—वाचस्पति—वाणी का स्वामी हुआ। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में ब्रह्मणस्पति का यही अर्थ प्रदर्शित किया गया है—

"एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः।
वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः॥"

है। अतः गणेशजी को ब्रह्मणस्पति के रूप में वैदिक देवता होने में तनिक भी सन्देह नही। और भी एक बात है—गणेश के जिस विशिष्ट रूप का वर्णन पुराणो मे उपलब्ध होता है उसका आभास वैदिक ऋचाओं में स्पष्ट रीति से मिलता है। निम्नलिखित मन्त्रों में गणपति को 'महाहस्ती', 'एकदन्त', 'वक्रतुण्ड' तथा 'दन्ती' कहा गया है—

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्रामं संगृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥
एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो 'दन्ती' प्रचोदयात् ॥

'गणपतितत्त्वरत्नम्' मे गणपति के वैदिक स्वरूप का अच्छा वर्णन मिलता है।

गणपति शब्द का अर्थ है—'गणो का पति।' इसी अर्थ मे गणो के ईश होने से इन्हे गणेश भी कहते हैं। यहा 'गण' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। 'गण् समूहे' इस समूहवाचक गण् धातु से 'गण' शब्द बना है। अत इसका सामान्यार्थ समूह-समुदाय होता है। परन्तु, यहा पर इसका अर्थ देवताओ का गण, महत्तत्त्व अहकारादि तत्त्वो का समुदाय तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्मगण है। अत गणपति शब्द से यह सूचित होता है कि आप समस्त देवता वृन्द के रक्षक हैं, महत्तत्त्व आदि जितने सृष्टि-तत्त्व हैं उनके भी आप स्वामी हैं अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति इन्ही से हुई है। सगुण-निर्गुण ब्रह्मसमुदाय के पति होने से गणपति ही इस जगत् मे सबसे श्रेष्ठ तथा माननीय देवाधिदेव है। 'गण' की दूसरी व्याख्या से आपका जगत्कर्तृत्व और भी अधिक रूप से स्पष्ट प्रतीत होता है। मनोवाणीमय सकल दृश्यादृश्य विश्व का वाचक 'ग' अक्षर है तथा मनोवाणीविहीन रूप का ज्ञान 'ण' अक्षर कराता है। इस प्रकार 'गण' शब्द के द्वारा जितना मनोवाणीसमन्वित तथा तद्विरहित जगत् है सबका ज्ञान हमे होता है। उसके पति—ईश होने के कारण हमारे आराध्य गणेश सर्वोमहान् देव हैं। 'गण' शब्द की यह व्याख्या 'मौद्गल पुराण' मे इस प्रकार कथित है—

"मनोवाणीमयं सर्वं दृश्यादृश्यस्वरूपकम्।
गकारात्मकमेवं तत् तत्र ब्रह्म गकारकः ॥
मनोवाणीविहीनं च संयोगायोगसंस्थितम्।
णकारात्मकरूपं तत् णकारस्तत्र संस्थित ॥"

गणपति का मुख हाथी के आकार का बतलाया जाता है। इसी से उन्हे गजानन, गजास्य, सिन्धुरानन आदि नामो से अभिहित किया जाता है। इस

विचित्र रूप के लिए पुराण में समुचित कथानक भी वर्णित है। परन्तु, इस रूप के द्वारा जिस अव्यक्त भावना को व्यक्त रूप दिया गया है वह नितान्त मनोरम है। गणपति के अन्तर्निहित गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व को जिस ढंग से इस रूप के द्वारा सर्वजनसंवेद्य बनाने की कल्पना की गयी है वह वास्तव में अत्यन्त सुन्दर है। गणपति के बाह्यरूप को समझना क्या है उनके आभ्यन्तर गुहास्थित सत्य रूप की पहचान करना है। उनके रहस्य जानने के लिए यह बड़ी भारी मूल्य-वाली कुञ्जी है।

गणेशजी का सकल अंग एक प्रकार का नहीं है। मुख है गज का, परन्तु कण्ठ के नीचे का भाग है मनुष्य का। इनके देह में नर तथा गज का अनुपम सम्मिश्रण है। गज किसे कहते हैं? 'गज' कहते हैं साक्षात् ब्रह्म को। समाधि के द्वारा योगीजन जिसके पास जाते हैं—जिसे प्राप्त करते हैं वह हुआ 'ग' (समाधिना योगिनो यत्र गच्छन्तीति ग) तथा जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है वह हुआ 'ज' (यस्माद् बिम्बप्रतिबिम्बतया प्रणवात्मकं जगत् जायते इति ज) विश्वकारण होने से वह ब्रह्म 'गज' कहलाता है। गणेश का ऊपरी भाग गजाकृति है अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म है। ऊपरी भाग श्रेष्ठ भी होता है—मस्तक देह का राजा है। अतः गणपति का यह अंश भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह निरुपाधि-उपाधिरहित—मायानवच्छिन्न ब्रह्म का संकेतक है। नर से अभिप्राय मनुष्य—जीव—सोपाधि ब्रह्म से है। अधोभाग ऊपरी भाग की अपेक्षा निकृष्ट होता है। अतः सोपाधि अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य—जीव—का रूप होने से अधोभाग निकृष्ट है। अथवा 'तत्त्वमसि' महावाक्य की दृष्टि से हम कहेंगे कि गणेशजी का मस्तक 'तत्' पदार्थ का तथा अधोभाग 'त्वं' पदार्थ का निर्देश करता है। 'तत्' पद मायानवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य निरुपाधि ब्रह्म का वाचक है अतः उसके द्योतन के लिए गजानन का ऊर्ध्वभाग नितान्त उचित है। 'त्वं' पद उपाधिविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् जीव का संकेतक है। अतः गजानन का नराकार अधोभाग उसकी अभिव्यक्ति करने में समुचित ही है। इन दोनों पदार्थों का अभेद—पदप्रतिपाद्य समन्वय ('तत् त्वमसि' इस महावाक्य में) गणपति में प्रत्यक्षरूप से दिखायी पड़ता है। जिस 'तत् त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का परिशीलन करते समाधिनिष्ठ योगीजन अनेक उपायों से किया करते हैं, जिसकी प्राप्ति अनेक जन्मसाध्य सत्कर्मों का चरम परिणाम है उसी की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हमारे जैसे सर्वसाधारण उदरम्भरि पामर जन के लिए हैं श्री गजाननजी महाराज की मङ्गलमूर्ति। 'गाणपत्याथर्वशीर्ष' की आदिम श्रुति—'त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि' में 'प्रत्यक्ष' पद का सकलविद्वज्जनमनोरम अभिप्राय वही है जो ऊपर अभिव्यक्त किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि 'गणेशपुराण'

के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'गणपतिसहस्रनाम' के द्वारा होती है। वहाँ गणराजी के सहस्रनामो मे एक नाम है—तत्त्वपदनिरूपित। यथा—

"तत्त्वाना परमं तत्त्वं तत्त्वंपदनिरूपित।
तारकान्तरसंस्थानस्तारकस्तारकान्तक ॥ २६ ॥"

इस अभिधान के द्वारा गणपति स्वरूप का जो जीव ब्रह्मैक्यप्रतिपादनपरक श्रुतिसम्मत तात्पर्य निरूपण किया गया है उनकी सुचारु रूप से प्रतिपत्ति होती है।

गणेश के नामों की व्याख्या

गणपति की मनोज्ञ मूर्ति की आध्यात्मिकता पर जितना विचार किया जाता है उतनी ही उनके साक्षात् परब्रह्म होने की वास्तविकता प्रकट होने लगती है। गणेशजी 'एकदन्त' कहे जाते हैं। उनका दाहिना ही दाँत विद्यमान है। पुराणो मे उनके बाएँ दाँत के भग्न होने की कथा मिलती है। अत उन्हे 'भग्नवामरद' कहा गया है। इस नाम के यथार्थज्ञान से उनके सत्यरूप का हमे पता चलता है। 'एक' शब्द यहाँ माया का बोधक है तथा 'दन्त' शब्द सत्ताधारक मायाचालक ब्रह्म का द्योतक है। अत इस नाम से प्रकट है कि गणपति साक्षात् सृष्टि के लिए माया की प्रेरणा करनेवाले जगदाधार समस्त सत्ता के आधारभूत परम ब्रह्म के ही अभिव्यक्त रूप है। मौद्गलपुराण से इसकी पुष्टि होती है—

"एकशब्दात्मिका माया तस्या सर्व समुद्भवम्।
भ्रान्तिद मोहद पूर्ण नानाखेलात्मकं किल।
दन्त सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते
बिम्बेन मोहयुक्तश्च स्वय स्वानन्दगो भवेत्॥
माया भ्रान्तिमती प्रोक्ता सत्ता चालक उच्यते।
तयोर्योगे गणेशोऽयमेकदन्त प्रकीर्तित ॥"

गणेश का एक दूसरा नाम 'वक्रतुण्ड' है। इससे भी ऊपर के सिद्धान्त की सिद्धि होती है। यह मनोवाणीमय जगत् सर्वजन साधारण है। सब के लिए यह सम भाव से अनुभवगम्य है। परन्तु आत्मा इस जगत् से—सतत गमनशील वस्तु से—सर्वथा भिन्न है—पृथक् है—टेढ़ा है। अतएव यहाँ 'वक्र' शब्द से मनोवाणीहीन अविनश्वर अपरिवर्तनशील चैतन्यात्मक आत्मा का बोध होता है। वही आत्मा गणेशजी का मुख है—मस्तक है। तत्त्वमसि के साक्षात् स्वरूपधारी गजानन के कण्ठ के नीचे का भाग जगत् है और ऊपर का अश आत्मा है। अत उन्हें वक्रतुण्ड कहना नितान्त उपयुक्त है—

"कण्ठाधो मायया युक्तो मस्तक ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तत्र विघ्नेशो तेनाय वक्रतुण्डक ॥"

भगवान् गणेश की चार भुजाओं में चार हाथ हैं। इन भुजाओं के द्वारा आप भिन्न भिन्न लोकों के जीवों की रक्षा अभयदान देकर किया करते हैं। एक भुजा स्वर्ग के देवताओं की रक्षा करती है तो दूसरी इस पृथ्वी तल के मानवों की, तीसरी असुरों की तथा चौथी नागों की। इन भुजाओं में आपने भक्तों के कल्याण के लिए चार चीजें धारण कर रखी हैं—पाश, अङ्कुश रद और वर। पाश मोहमय है। उसे आपने भक्तों के मोह हटाने के लिए ले रखा है। अङ्कुश का काम नियन्त्रण करना है। अतः वह उस व्यापार के लिए उपयुक्त है। दन्त दुष्टनाशकारक है। अतः वह सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। वर भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले ब्रह्म का रूप है। अतः गणेशजी ने सकल मानवों के कल्याणसाधन तथा विघ्नविनाशन के लिए अपने चारों हाथों में इन विभिन्न वस्तुओं को धारण कर रखा है। आदि में जगत् के स्रष्टा तथा अन्तकाल में सब विश्व को अपने उदर में वास कराने—प्रतिष्ठित कराने—वाले जगन्नियन्ता गणेश का 'लम्बोदर' होना उपयुक्त ही है।

गणेश **'शूर्पकर्ण'** हैं—उनके कान सूप की तरह हैं। इस नाम से भी आपके उच्च परमात्मस्वरूप का परिचय हमें होता है। जब तक धान भूसे के साथ मिला रहता है वह बेकाम होता है, मैला बना रहता है। सूप से फटकते ही असली रूप का पता चलता है धान भूसे से अलग होकर चमकने लगता है—शुद्ध रूप को पा लेता है। उसी प्रकार ब्रह्म जीवरूप में माया के साथ मिलकर मलावरण से इतना आच्छन्न हो गया है कि उसका असली प्रकाशमय रूप बिल्कुल विस्मृत हो गया है—मालिन्य या तम का पटल इतना मोटा हो गया है कि चैतन्य का आभास भी नहीं हो रहा है। ऐसी अवस्था में सद्गुरु के मुख से निकला हुआ गणेश नाम मनुष्यों के कर्णकुहर में प्रवेश कर हृद्गत होकर सूप की तरह पाप-पुण्य को अलग कर देता है—शूर्पकर्ण की उपासना माया को बिल्कुल हटाकर चैतन्यात्मक ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। अतः आपके 'शूर्पकर्ण' नाम की सार्थकता स्पष्टरूप से प्रतिपादित होती है—

> "शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम्।
> ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः॥"

गणेशजी **'मूषकवाहन'**—'मूषकध्वज' हैं उनका वाहन मूषक है। मूषक किस तत्त्व को द्योतित करता है, इस विषय में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। मूषक का काम वस्तु को कुतर डालना है। जो वस्तु सामने रखी जाय उसके अंग प्रत्यंग का वह विश्लेषण कर देता है। इस कार्य से वह मीमांसा करने के उपयुक्त वस्तुतत्त्वविश्लेषणकारिणी बुद्धि का प्रतिनिधि प्रतीत हो रहा है। गणेशजी बुद्धि के देवता हैं। अतः जिस सात्त्विक बुद्धि के द्वारा वस्तुतत्त्व का

परिचय प्राप्त किया जाता है तथा उसके सार तथा असार अंश का पृथक्करण किया जाता है, जिसके द्वारा वस्तु के अन्तस्तल तक प्रवेश किया जाता है उसका गजानन का वाहन बनना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। दूसरी दिशा से विचार करने पर 'मूषक' ईश्वर तत्त्व का द्योतक भासमान होता है। ईश्वर अन्तर्यामी है, सब प्राणियो के हृदय मे निवास करता है। सब प्राणियो के द्वारा प्रस्तुत किये गये भोगो का वह भोग करता है परन्तु अहकार के कारण मोहयुक्त प्राणी इसे नहीं जानता। वह तो अपने ही को भोक्ता समझता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्राणियो का प्रेरक अन्तर्यामी हृदयपद्म मे निवास करनेवाला ईश्वर ही वास्तव मे सब भोगो का भोक्ता है। इस अवस्था म मूषक की कार्यपद्धति उस पर खूब घटती है। मूषक भी घर के भीतर पैठ कर चीजें मूषा करता है परन्तु घर के मालिक को इसकी तनिक भी खबर नहीं होती। इसलिए मूषक के रूप मे ईश्वर की ओर सकेत है। पुराणो मे गणेश की सेवा करने के लिए ईश्वर का मूषकरूप बन जाने की कथा भी मिलती है। उस परब्रह्म के सेवार्थ ईश्वर के वाहनरूप स्वीकार करने की कथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी उपयुक्त है—

> "ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः।
> तदेवं मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः।
> मायया गूढरूपः स भोगान् भुङ्क्ते हि चोरवत् ॥"

अत गणपति चिन्मय हैं, आनन्दमय हैं, ब्रह्ममय हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं। उन्हीं से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, उन्ही के कारण इसकी स्थिति है और अन्त मे उन्ही मे इस विश्व का लय हो जाता है। ऐसे परमात्मा का सकल कार्य के आरम्भ मे स्मरण तथा पूजन करना अनुरूप ही है। एक बात और भी। गणेश की मूर्ति साक्षात् 'ॐ' सी प्रतीत होती है। मूर्ति पर दृष्टिपात करने से भी इसकी प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत शास्त्रो मे भी गणेशजी ॐकारात्मक माने गये हैं। लिखा है कि शिव पार्वती दोनो चित्रलिखित प्रणव (ॐ) पर ध्यान से अपनी दृष्टि लगाकर देख रहे थे। अकस्मात् ॐकार की भित्ति को तोड़कर साक्षात् गजानन प्रकट हो गये। इसे देख शिव-पार्वती अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस पौराणिक कथा की सूचना—

> "प्र त इन्द्र पूर्व्याणि प्रनूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि।
> सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् ॥"

मन्त्र में बतलायी गयी है। प्रणव सब श्रुतियो के आदि मे आविर्भूत माना जाता है। 'प्रणवश्छन्दसामिव।' अत ॐकारात्मक होने के कारण गणपति का सब देवताओं से पहले पूजा जाना उचित ही है। गणेश के शिवपुत्र होने के

विषय में भी एक पौराणिक कथा मिलती है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने शङ्कर की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके घर अवतार लिया था; ऐसी कथा मिलती है। अतः गणपति के परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप होने में तनिक भी सन्देह नहीं है।

२. भौतिक रूप

गणपति के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन ऊपर किया गया है। अब उनके आधिभौतिक स्वरूप का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। गणपति के विषय में अनेक पुराणों में उल्लेख पाये जाते हैं। पुराणेतर सामग्री भी कम नहीं है। इन सब साधनों के आधार पर गणपति के भौतिक रूप का वर्णन भलीभाँति किया जा सकता है। एक पाश्चात्य महिला श्रीमती ए० गेट्टी ने गणेश पर एक बड़ी सुन्दर तथा रोचक पुस्तक लिखी है, जो सन् १९३६ में 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस' से प्रकाशित हुई है। भारतीय दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं पर तब भी यह पुस्तक पठनीय है। गणेश की पूजा का प्रचार भारत के कोने कोने में तो है ही, साथ ही साथ बृहत्तर भारत जावा, सुमात्रा बाली, चीन, जापान आदि देशों—में भी इसके प्रचलित होने के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते हैं। स्थान की भिन्नता के कारण गणेश की मूर्तियों में भी भिन्नता मिलती है। भारत में गणेश का एक ही सिर मिलता है, पर नेपाल में हेरम्ब गणपति की मूर्तियों में पाँच सिर पाये जाते हैं, भारत में भी ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं, पर बहुत कम। गणेश एकदन्त हैं, पर दन्त की स्थिति में भी भिन्नता दीख पड़ती है। विशेषकर बाएँ ओर दन्त वाली मूर्तियों की बहुलता पायी जाती है पर दाहिनी ओर तथा दोनों ओर दन्तवाली मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं। गणेश के साधारणतया दो ही नेत्र दिखलाये जाते हैं, पर तान्त्रिक पूजा में उनके तीन नेत्र पाये जाते हैं। गणेश की मूर्तियों में साधारणतया तिलक का विशेष विधान नहीं है, पर कहीं कहीं चन्द्रमा इसका काम करता है। हाथों की संख्या भी साधारण रीति से दो होती है, परन्तु तान्त्रिक पूजा में व्यवहृत होनेवाली मूर्तियों में भुजाओं की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। इन हाथों में धारण की हुई वस्तुओं के विषय में भी मतभेद है।

यों तो गणेश का पूजन प्रत्येक आर्य सन्तान का करणीय विषय है, पर प्राचीन काल में गणपति का उपासक एक विशिष्ट सम्प्रदाय था जो 'गाणपत्य' के नाम से पुकारा जाता था। गाणपत्य लोग गणपति के उपासक थे। इस कारण आजकल भी महाराष्ट्र में गणपति की प्रचुर उपासना पायी जाती है। 'गाणपत्य' सम्प्रदाय तान्त्रिक था, जिसमें भिन्न-भिन्न गणपति की उपासना, पक्ष की भिन्नता के कारण, भिन्न-भिन्न रूप में की जाती थी। गाणपत्यों में भी ६ भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे, जिनकी उपासना-पद्धति में भिन्नता तथा विशिष्टता थी। वे भिन्न भिन्न गणपतियों की पूजा किया करते थे।

'महागणपति' का अंग लाल तथा भुजाएं दस होती हैं। 'ऊर्ध्व गणपति' तथा 'पिङ्गल गणपति' का रंग पीला तथा भुजाएँ ६ होती हैं। 'लक्ष्मी गणपति' का रंग श्वेत होता है भुजाएं चार या आठ। 'हरिद्रा गणपति' का रंग हल्दी जैसा पीला, भुजाएं चार तथा नेत्र तीन होते हैं। 'उच्छिष्ट गणपति' का रंग लाल तथा भुजाएँ चार होती हैं। गाणपत्यों का पूजा-प्रकार रहस्यमय होता था, उसमे तान्त्रिक प्रकार की प्रधानता होती थी। उपर उल्लिखित सम्प्रदायो मे महागणपति, हरिद्रा गणपति तथा उच्छिष्ट गणपति का प्रचार विशेष रूप से व्यापक बतलाया जाता है। इनमे उच्छिष्ट गणपति की पूजा शाक्तो के वामाचार के ढग की होती थी तथा स्वभावत भयानक होती थी। आजकल इन सम्प्रदायो का एक प्रकार से अभाव सा हो गया है। पर आज भी स्थान-स्थान पर गाणपत्य लोग मिलते हैं। इनका कहना है कि 'गणपति' ही सर्वप्रधान देवता हैं। उन्ही से जगत् के सर्गादि कार्य सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन त्रिदेवो की उत्पत्ति गणपति से ही होती है। अत सर्वमान्य देवता गणपति ही हैं।

समस्त विघ्नो के सर्वथा नाश कर देने की शक्ति विनायकरूपी गणेश मे विशेष रूप से विद्यमान है। इसीलिए गृहप्रवेश करते समय घर के दरवाजे पर विनायक की मूर्ति स्थापित की जाती है। किसी नगर की रक्षा का भार भी विनायक की कृपा पर छोड दिया जाता था। इस विषय मे हमारी पवित्र पुरी काशी की रक्षा का प्रधान कार्य विनायक के सुपुर्द किया गया मिलता है। 'काशीखण्ड' के अनुसार पचक्रोशी सहित समस्त काशी सात वृत्तो में बाँटी गयी है, जिनका नाम है 'आवरण'। सबसे बडा प्रथम आवरण वर्तमान पचकोशी में पडता है तथा अन्तिम आवरण विश्वनाथजी के मन्दिर की परिधि में सीमित है। प्रत्येक आवरण में रक्षक रूप से ८ विनायकों को स्थान दिया गया है। इस प्रकार समस्त आवरणो की रक्षा के निमित्त ५६ विनायको की स्थिति मानी गयी है। प्रथम आवरण के आठ विनायक हैं अर्क विनायक (लोलार्क कुण्ड के पास) दुर्ग विनायक भीमचण्ड विनायक देहली विनायक, उद्दण्ड विनायक, पाशपाणि विनायक खर्वविनायक तथा सिद्धि विनायक (मणिकर्णिका घाट पर)। अर्थात् लोलार्क कुण्ड के पास के गगा तट से लेकर समस्त पचकोशी को होते हुए मणिकर्णिका घाट तक काशी का प्रथम आवरण है। अंतिम आवरण विश्वनाथ मन्दिर के आसपास है जिसमें मोद, प्रमोद सुमुख दुर्मुख, गणनाथ ज्ञान, द्वार तथा अविमुक्त विनायक हैं। काशी के चारो ओर इन आवरणो की कल्पना नितात महत्त्वपूर्ण है। पर इन विनायको के अतिरिक्त अन्य गणपतियो की भी स्थिति तथा मान्यता है—यथा दुग्ध, दधि शर्करा, मधु तथा घृत विनायक (पंचगंगा के पास दूधविनायक महल्ले मे) साक्षी विनायक तथा वक्रतुण्ड विनायक

(जो बडे गणेश के नाम से विख्यात हैं)। हमारा विश्वास है कि इस विश्वनाथ-नगरी मे जितने विनायकों की स्थिति है उतनी अन्य नगरी में नहीं है। इन छप्पन विनायकों के नाम तथा स्थान के वर्णन के लिए 'वाराणसी आदर्श' तथा 'काशीयात्रा' का अवलोकन करना चाहिए।

बौद्धधर्म में गणेश

वैदिक धर्म में गणपति का माहात्म्य तो है ही, पर बौद्धधर्म में भी इनकी महिमा कम नही है। महायान के तान्त्रिक सम्प्रदायो ने विनायक की कल्पना को ग्रहण कर उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। बुद्ध का एक नाम विनायक' भी है। पिछली शताब्दियो मे बुद्ध की कल्पना विनायक रूप से मिलती है तथा 'वज्रधातु' और 'गर्भधातु' के रूप मे भी विनायक की पूजा का विपुल प्रचार दृष्टिगत होता है। नेपाल म बौद्धधर्म के साथ-साथ गणपति की पूजा भी चलती है। वहाँ से खोतान, चीनी तुर्किस्तान तथा तिब्बत मे भी गणेश की उपासना का प्रचार हुआ। इन देशो म विनायक की नृत्यशालिनी मूर्ति (नृत्य गणपति) का प्रचुर प्रचार है। हेरम्ब विनायक के नाम से भी इनकी स्थिति नेपाल म है। हेरम्ब की बडी विशेषता यह है कि उनके पाँच मुख होते हैं तथा मूषक के स्थान पर सिंह ही उनका वाहन है। इन पाँच मुखो का क्रम भी बड़ा विलक्षण रहता है। कभी चारो दिशाओं मे चार मुख होते हैं और ऊपर बीच म एक मुख। कभी तीन ही मुख एक पंक्ति में और एक के ऊपर एक रूप मे दो मुख होते हैं। तिब्बत में प्रत्येक मठ के अधिरक्षक देवता के रूप में गणपति की पूजा आज भी प्रचलित है। हिन्दू लोगों ने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश बनाये थे, इसका पता इतिहास दे रहा है। जहाँ ये लोग धर्मप्रचारक के रूप म या व्यापारी के रूप मे बस गये, वहाँ ये अपने साथ भारत से अपनी सभ्यता भी लेते गये, अपने देवता तथा उनकी भारतीय पद्धति को अपने साथ ले जाना नहीं भूले। फलत गणपति की मूर्ति विघ्नराज के रूप म बृहत्तर भारत के समग्र देशों में आज भी पायी जाती है। इन देशो म गणपति के नाम भी भिन्न भिन्न हैं। गेट्टी ने इन नामो की तालिका अपने ग्रन्थ म दी है। गणपति का तमिल मे नाम है 'पिल्लैयर', भोट भाषा में 'सोद्द-दाग', बर्मी में 'महा पियेन्ने', मंगोलियन में 'त्वोनखारन खागान', कम्बोडियन म प्राह कनोज', चीनी भाषा म 'कुआन शी तिएन', जापानी म 'काङ्गी-तेन'। भारत के समीपस्थ उपनिवेश बर्मा तथा स्याम म गणपति का प्रवेश बहुत पहले हुआ। इन देशों म गणेश की काम की बनी मूर्तियाँ बडी लोकप्रिय हैं। कम्बोडिया (कम्बोज—हिन्दचीन) मे गणपति की मूर्तियो में स्थानीय ख्मेर कला के कारण विशेष परिवर्तन पाया जाता है। चतुर्मुख मूर्तियाँ यहाँ मिलती हैं और अधिकतर ये खडे होने की मुद्रा मे दिखलायी जाती हैं। जावा में हिन्दू-

धर्म का प्रवेश प्राचीनकाल मे ही हो गया था। पचम शताब्दी मे चीनी यात्री फाहियान को जावा मे ब्राह्मण तथा बौद्ध श्रमण मिले थे। जावा मे गणपति के स्वतन्त्र मन्दिर नही मिलते, पर शिवमन्दिर मे ही इनकी मूर्तियाँ पायी जाती है। इन मूर्तियो की एक विशेषता है कि शिव के समान गणेश को भी मुण्डमाल पहनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया है। बोर्निओ तथा बालीद्वीप मे भी गणपति का विशेष प्रचार है।

चीन तथा जापान मे गणेश का प्रवेश पाना आपाततः आश्चर्यजनक माना जा सकता है, पर विचार करने पर यह प्रवेश स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। महायान बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ गणपति ने भी इन देशो मे प्रवेश पा लिया। चीन मे गणेश का प्रवेश या तो चीनी तुर्किस्तान या नेपाल—तिब्बत के रास्ते से हुआ होगा। चीन मे गणेश की मूर्ति दो नाम तथा दो रूप से विख्यात है—'विनायक' (बौद्धसम्मत मूर्ति) तथा 'काङ्गी-तेन' (गणेश की युगल मूर्ति)। काङ्गी-तेन मूर्ति बडी विलक्षण है। वह इन पूरबी प्रदेशो की अपनी खास कल्पना का परिणाम है। चीन देश के तान्त्रिक बौद्धधर्म ने विनायक का ग्रहण बडी जल्दी कर लिया तथा अपने देवताओ मे इन्हे बडा आसन दिया। विनायक बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के ही प्रतिरूप माने जाते है। वज्र धातु की कल्पना मे विनायक का विशेष प्रभाव है। नवमी शताब्दी के बाद जापान मे गजानन जी विराजने लगे। कोबो-दाइशी नामक विद्वान् ने चीनदेशीय बौद्धाचार्यो से दीक्षा लेकर विनायक का जापान मे प्रवेश कराया और स्थानीय प्रसिद्ध शिगोन सम्प्रदाय ने इन्हे अपना लिया। शिगोन मत तान्त्रिक मत है। अतः उसने रहस्यमयी कांगी-तेन मूर्तियो का विशेष प्रचार किया। यह गजानन की युगल मूर्ति है, जिसमे दोना मूर्तियो की पीठ एक साथ लगी हुई तथा मुँह दो दिशाओ की ओर है। जापानी बौद्ध इन मूर्तियो को रहस्यमय तथा शक्ति और शक्तिमान की एकता का प्रतिपादक बतलाते हैं। सुदूर अमरीका मे भी लम्बोदर की मूर्ति मिली है। आकृति वही लम्बा तुन्दिल शरीर, ऊपर हाथी का, इधर-उधर दोलायमान शुण्डादण्ड। इन मूर्तियो का दिवान चम्मनलाल ने 'हिन्दू अमरीका' नामक अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया है। इन मूर्तियो की कल्पना से प्रतीत होता है कि भारतीयो ने कभी अमरीका मे भी अपने उपनिवेश बसाये थे।

इस प्रकार गणेशजी की पूजा उत्तरी मगोलिया से लेकर दक्षिणी बाली तक तथा भारत से लेकर अमरीका तक कम या अधिक अंश मे भिन्न भिन्न शताब्दियो मे प्रचलित थी। मगल के अवसर पर गणपति की पूजा करनेवाले कितने हिन्दू इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित हैं तथा भारतीय सभ्यता के प्रचार मे गणपति-पूजा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं?

त्रिदेवों की मूर्तियां

पुराणों का प्रभाव मूर्तिशास्त्र पर विशेष रूप से पड़ा है। तथ्य तो यह है कि देवी-देवताओं की मूर्तियां पुराणों के आधार पर ही निर्मित की जाती हैं। मूर्तिकल्पना में स्वच्छन्दता का राज्य नहीं है, प्रत्युत अमूर्त भावना को व्यक्त रूप देने के लिए ही मूर्तियों की कल्पना की गई है। वैदिक काल में मूर्ति के अस्तित्व के विषय में अनेक विद्वान् सशयालु हैं। अधिकांश विद्वान् पौराणिक काल में—पुराणों की अभ्युन्नति के समय में—मूर्तियों का उदय मानते हैं। यहां केवल पञ्चदेवों की मूर्तियों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इस देवपञ्चक में विष्णु, शिव, गणेश, ब्रह्मा तथा सूर्य की गणना की जाती है।

विष्णु

पञ्चदेव के रूप में ही नहीं, अपि तु त्रिदेव के रूप में भी विष्णु महत्त्वपूर्ण हैं। त्रिविक्रम के रूप में विष्णु की मान्यता वैदिक है। किन्तु सम्प्रदाय विशेष के देवता रूप में विष्णु पूजा का विशेष प्रचार ईसवी सन् के कुछ पूर्व से ही है।

विष्णु की व्युत्पत्ति और महत्त्व की विवेचना विष्णुपुराण में इस प्रकार की गयी है—

> यस्माद्विष्टमिदं विश्वं यस्य शक्त्या महात्मनः ।
> तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥
>
> —विष्णु पु० ३।१।४८

विष्णु पुराण में विष्णु को सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण भी कहा गया है —

> सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवात्मिकाम् ।
> स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥
> स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णु पाल्यं च पाति च ।
> उपसंह्रियेत चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभु ॥
>
> —विष्णु पु० १।२।६६-६७

विष्णु के अनेक नाम और गुण हैं। विष्णु तथा उनके विविध रूपों के विकास का आधार इच्छा, भूति, क्रिया तथा षड्गुण (ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस्) हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर चौबीस विष्णुओं की कल्पना

की गयी। विविध पुराणों में चौबीस विष्णुओं का क्रम और आयुध विधान भिन्न भिन्न कहा गया है। अग्नि पुराण (अ० ४८) की तालिका अपेक्षाकृत शुद्ध है। इसमे चौबीस विष्णुओ की नामावली इस प्रकार है —

१ वासुदेव २ केशव ३ नारायण ४ माधव ५. पुरुषोत्तम ६ अधोक्षज ७ सङ्कर्षण ८ गोविन्द ९ विष्णु १० मधुसूदन ११ अच्युत १२ उपेन्द्र १३ प्रद्युम्न १४ त्रिविक्रम १५ नरसिंह १६ जनार्दन १७ वामन १८ श्रीधर १९ अनिरुद्ध २० हृषीकेश २१ पद्मनाभ २२ दामोदर २३ हरि २४ कृष्ण। इन चतुर्विशति विष्णुओं के विभाजन का आधार विष्णु के आयुधों (शख चक्र गदा पद्म) के विभिन्न क्रम हैं।[1]

कुषाण काल से ही विष्णु के अवतारो स्वरूप का दर्शन होने लगता है। दशावतार की मूर्तिया बगाल मे विष्णुपट्ट पर बनती थी तथा दशावतार का अङ्कन सयुक्त रूप मे विष्णु मदिरों के द्वार पर ही प्रदर्शित होता रहा है। पृथक पृथक अवतारों के आधार पर पृथक् पृथक् मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध मूर्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दशावतारो में वराह वामन और नृसिंह की प्रतिमाए बहु प्रचलित रही। उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति बडी ही विशिष्ट है। यह प्रतिमा गुप्तकालीन है।

सामान्यतया अवतारो की सख्या दस ही हैं जिनमें मत्स्य कूर्म, नृसिंह, वराह वामन, भार्गवराम राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि की गणना होती है। ग्रन्थ भेद से पुराणो की सख्या बढती घटती भी रही है। परिणामत कभी कभी अवतारो की सख्या १६ २२ या २३ तथा ३९ तक गिनायी गयी है।[2]

विष्णु के स्थिर मूर्तियो को वैखानस आगम तथा पन्चरात्र संहिताओ मे ध्रुव वेट' कहा गया है। ध्रुव मूर्तियो की कोटि में ३६ विष्णुओ की गणना होती है। इनको चार विभागो में बाँटा गया है जिन्हे योग भोग वीर और आभिचारिक कहा गया है। इस वर्गीकरण का आधार उपासना की विशिष्ट भावना और इच्छा है। पुन इनका विभाजन स्थानक आसन और शयन मूर्तियो के आधार पर भी किया गया है। इनमें बारह बारह मूर्तियो की गणना होती है। कइ आगमो में विष्णु मूर्तियो का विभाजन उत्तम मध्यम और अधम वर्गीकरण के आधार पर भी किया गया है। शयन मूर्ति की कोटि में भी शेषशायी विष्णु की प्रतिमा विशिष्ट हैं। विष्णु के इस रूप का प्रदर्शन देवगढ में बडा ही विशिष्ट है। भुजाओ और मुखो की सख्या के आधार पर मध्यकाल में चार विशिष्ट विष्णु मूर्तियो की कल्पना की गयी। इन मूर्तियो को चतुर्मुख विष्णु कह सकते

१ रूपमण्डन (स० बलराम श्रीवास्तव) पृ० ५०-५३

२ बनर्जी—डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू इकानोग्राफी पृ ३९०-९३

हैं। भुजाओं की संख्या में अन्तर होता है। इस प्रकार चतुर्मुख विष्णु के चार विशिष्ट प्रतिमाएं वैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन और विश्वरूप के नाम से जानी जाती हैं जिनके भुजाओं की संख्या क्रमशः ८, १२, १६ और २० होती है। विष्णु के चार मुख नर, नारसिंह, स्त्रीमुख और वराह मुख होते हैं। अग्नि पुराण (अ० ४९) में इन विशिष्ट रूपों की अच्छी चर्चा है।

शिव

पूजा तथा देवालयों में स्थापित करने की दृष्टि से शिवलिंगों को जो महत्ता प्राप्त है वह शिव मूर्तियों को नहीं। शिवाख्यानों के आधार पर कल्पित अनेक अनुग्रह, संहार और दक्षिणा मूर्तियों की कल्पना पुराणकारों द्वारा हुई हैं। इनमें अधिकांश शैव मंदिरों के भित्ति पर अलंकरण के रूप में या स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में प्रदर्शित मिले हैं।

शिवलिंगों में गुडडीमल्ल का मुखलिंग इतिहास और कला की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पुराणों में विशेषकर अग्नि और मत्स्य में विविध प्रकार के शिवलिंगों की अच्छी विवेचना है। शिवलिंगों के शिरोविधान तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव भागों की विभाजन प्रक्रिया लिंगपुराण (अ० ९९) और मत्स्यपुराण (अ० २६२।१-१२) में अच्छी प्रकार बतायी गयी है। मत्स्यपुराण में लिङ्ग-पीठिका का भी विधान बताया गया है (मत्स्यपुराण २६१।१८-१९)

शिव की एकादश मूर्तियाँ (एकादश रुद्र के रूप में) बड़ी प्रसिद्ध हैं। रूपमण्डन जैसे मध्यकालीन शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में एकादश रुद्र के आधार पर द्वादश शिव की कल्पना की गयी है जिनमें सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईश, मृत्युञ्जय, किरणाक्ष, श्रीकण्ठ, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, बहुरूपी, सदाशिव और त्र्यम्बक के नाम आते हैं। इनमें हाथों की संख्या तथा आयुधों का बड़ा विभेद है[1]। एकादश रुद्र या द्वादश शिव का आधार पञ्चमुख शिव प्रतीत होता है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार शिव के पांच मुख सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान हैं।

> सद्योजातं वामदेवमघोरं च महाभुजम्।
> तथा तत्पुरुषं ज्ञेयमीशानं पञ्चमं मुखम्॥
>
> —विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।४८।१

इन पांच मुखों का रूपस्वरूप भी विष्णुधर्मोत्तर पुराण (४।४८।३।३) में स्पष्ट है।[2]

---

१ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य रूपमण्डन पृ ६१-६३

२ वही पृ ६१

पुराणो म शिव-मूर्तियो का जो प्रसग है, उसके आधार पर यह प्रतीत है कि शिव की मूर्तियो का दो प्रसिद्ध वर्ग था। एक घोर और दूसरा अघोर। अघोर या शान्त शिव मूर्तियो मे चन्द्रशेखर, उमासहित, आलिङ्गन-चन्द्रशेखर, वृषवाहन, सुखासन, उमामहेश्वर, सोमस्कन्द आदि की गणना की जा सकती है। इनमे प्राय शिव के ऐसे ही रूप है जिनके मूल मे कोई पौराणिक कथा नही है। ऐसी ही कुछ मूर्तियाँ घोर वर्ग की है। भैरव, अघोर, रुद्र पशुपति, वीरभद्र, विरूपाक्ष और कंकाल शिव के घोर रूप है किन्तु, इनके मूल में कोई पौराणिक ख्यात नही है। ये मूर्तिया शिव के सहारक तत्वो की व्याख्या मात्र करती हैं। किन्तु घोर या उग्र वर्ग मे गजासुर वध, त्रिपुरासुरवध अन्धकासुर वध, जालन्धर वध, आदि की पौराणिक ख्यातो का प्रदर्शन करने वाली मूर्तियाँ आती हैं। इसी वर्ग मे यमरि, कालारि, शरभेश मूर्ति आदि भी आती हैं। इलौरा और एलिफन्टा की गुफाओ मे त्रिपुरान्तक और अन्धकासुर वध का अच्छा प्रदर्शन है। गजासुर सहार की एक अच्छी प्रतिमा दरसुरम में मिली है।

शिव की कुछ युग्म मूर्तियाँ जैसे अर्धनारीश्वर और हरिहर की बडी ही लोकप्रिय रही हैं। इन मूर्तियो के माध्यम से दर्शन के गूढतम तथ्यो की सरल विवेचना की गयी है। नारदपुराण (अ० ६।४४-४५) म हरिहर रूप की अच्छी विवेचना है। हरिहर का सबसे अच्छा मूर्तिकरण बादामी में तथा अर्द्ध-नारीश्वर का सबसे सुन्दर अङ्कन इलौरा में किया गया है।

गणेश

भारतीय धर्म और उपासना में गणेश की बडी महत्ता है। आयुध भेद से गणेश के कई नाम और रूप पुराणा में वर्णित हैं। पचमहादेवा में गणेश का सम्मान है तथा गाणपत्य सम्प्रदाय के लिए तो ये आदिदेव के रूप में मान्य हैं। आर० जी० भण्डारकर महोदय के अनुसार गणपत्य सम्प्रदाय और गणेश की पूजा परम्परा बहुत प्राचीन नहीं हैं। ये गणेश की परम्परा गुप्तोत्तरकालीन मानते हैं। किन्तु तथ्य एसा नही है। विनायक पूजा की परम्परा महाभारत, से भी प्रमाणित है (रत्नोपाख्यान, वनपर्व) उस समय सार्थवाहो द्वारा विनायक की पूजा विघ्न विनाशन के रूप में होती थी, और वे सिद्धि के प्रदाता माने जाते थे। श्री गोपीनाथ राव महोदय ने गणेशोत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक ख्यातों का अच्छा सकलन किया है[1]। गणपति मूर्तिशास्त्रीय विवरण के अनुसार यह परम्परा से विशेष सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। आरम्भ में गणेश की द्विभुज

---

1. एलिमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी भाग १ खण्ड १ पृ० ३५ ५२.

प्रतिमाओं का ही प्रचलन था। बृहत्संहिता में गणेश की प्रतिमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्ति मिलती है —

प्रमथाधिपो गजमुखः प्रलम्बजठरः कुठारधारी स्यात्।
एकविषाणो बिभ्रन्मूलककंदं ... ... ॥[1]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में गणेश के मूर्ति-विधानीय तत्व ये हैं —

१. गजमुख
२ प्रलम्ब जठर
३ एकदंत
४ द्विभुज (एक हाथ में दांत और दूसरे में मूलक)

प्राप्त मूर्तियों में अमरावती से प्राप्त गणेश की प्रतिमा सबसे प्राचीन (दूसरी शती ईसवी) प्रतीत होती है। इसीसे ही कुछ समय के बाद की बनी मथुरा में भी एक गणेश की मूर्ति मिली है। यह प्रतिमा तथा भूमरा से मिली गणेश की प्रतिमाएँ द्विभुज हैं। गणेश की चतुर्भुज प्रतिमा सबसे पहले भूमरा (गुप्तकालीन) से मिली है। पुराणों में गणेश की प्रतिमा का जो विधान है, उसमें चतुर्भुज गणेश की ही चर्चा है। उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण में गणेश का वर्णन इस प्रकार है — ।

स्वदन्तं दक्षिणकरे उत्पलं च तथापरे।
लड्डुकं परशुं चैव वामतः परिकल्पयेत्॥

—मत्स्य २५९।५३

गुप्तकाल तक की किसी भी उपलब्ध प्रतिमा में गणेश का वाहन मूषक नहीं दिखाया गया है। न इसकी चर्चा किसी पौराणिक मूर्ति-विधान ही में है। पूर्व मध्यकालीन और मध्यकालीन प्रतिमाओं में मूषक भी प्रदर्शित है। इस प्रकार मूषकयुक्त गणेश की प्रथम प्राप्त प्रतिमा उड़ीसा में मिली है। इसी प्रकार उड़ीसा से ही गणेश के कुछ अष्टभुज प्रतिमाएँ भी मिली हैं। गणेश के मूर्ति विधान के अन्य तत्वों के रूप में त्रिनेत्र, व्याल-यज्ञोपवीत भी महत्वपूर्ण हैं। गणेश की कतिपय मूर्ति नृत्यमुद्राओं में भी हैं।

---

१ बृहत्संहिता की यह पंक्ति क्षेपक प्रतीत होती है। बैनर्जी—डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ ३५७

ब्रह्मा या ब्रह्मदेव

पुराण मे जिस देव को हम ब्रह्मा या ब्रह्मदेव के नाम से पुकारते हैं वह वेदो म 'प्रजापति' के नाम से अभिहित किये गये हैं। प्रजनन तथा जीवित प्राणियो के रक्षक रूप मे प्रजापति का अथर्ववेद म प्राय आवाहन किया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१२१) मे प्रजापति की प्रख्याति आकाश और पृथ्वी जल तथा समस्त जीवित प्राणियो के स्रष्टा के रूप मे की गई है। इनका 'प्रजापति' नाम सार्थक है अर्थात् उत्पन्न होने वाले समग्र जीवो के वे पति माने गये है। यह सब गतिशील तथा श्वास लेने वाले प्राणियो के राजा ह, देवो म श्रेष्ठ है। इनके विधानो का पालन समग्र प्राणी ही नही प्रत्युत देवगण भी करते हें। इन्होने ही आकाश और पृथ्वी को स्थापित किया, येही अन्तरिक्ष के सब स्थानों मे व्याप्त ह, ये समस्त विश्व और समस्त प्राणियो को अपनी भुजाओ से आलिङ्गन करत हें। ऋग्वेद के इस वणन से प्रजापति की देवो म प्रमुखता की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, ऋग्वेद म प्रजापति का प्रामुख्यद्योतक निर्देश एक ही बार हुआ है परन्तु अथर्व और वाजसनेयी सहिता मे साधारणत और ब्राह्मणो में नियमत ये ही सर्वप्रमुख देव के रूप मे स्वीकृत किये गये ह। यह देवो के पिता ह (शतपथ ११।१।६।१४) इसी ब्राह्मण के कथनानुसार सृष्टि के आरम्भ मे अकेले इन्ही का अस्तित्व था (शतपथ २।२।४।१)। प्रजापति का यही वदप्रतिपाद्य स्वरूप है।

मैत्रायणी सहिता (४।२।१२) मे प्रजापति को अपनी पुत्री उषस् पर आसक्त होने की कथा मिलती है जो ब्राह्मणो मे अनक स्थानो पर दुहराई गई है (ऐतरेय ब्रा० ३।३३, शतपथ १।७।४।१, पञ्चविश ब्रा० ८।२।१०)। इस कथा का सकेत तो ऋग्वेद के मत्रो में भी माना जाता है। ऋग्वेद (१०।१२१) के इस सूक्त के प्रथम नव मन्त्रो मे किसी अज्ञात देवता के विषय मे प्रश्नवाचक क शब्द का प्रयोग किया गया है (कस्मै देवाय हविषा विधेम)। दसवें म त्र मे इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर दिया गया है कि 'प्रजापति' ही इन सब निर्दिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है। इस मन्त्र का पश्चाद्वर्ती साहित्य पर इतना प्रभाव पडा कि 'प्रजापति' की 'क' एक उपाधि ही हो गई और 'क' सर्वोच्च देवता का वाचक बना दिया। 'हिरण्यगर्भ' नाम से भी यही सकेतित होता है—

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे
भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

'प्रजापति' को ही पुराणों मे ब्रह्मा' के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रजापति के सम्बन्ध की समस्त गाथायें ब्रह्मा के ऊपर आरोपित की गई हैं। फलत प्रजापति और उनकी दुहिता की कथा पुराणों मे ब्रह्मा के विषय मे उल्लिखित की गई हैं। क्षीरसागर मे शेषशायी नारायण के नाभिकमल के ऊपर ब्रह्मा का जन्म स्वत होता है। इसलिए वे 'स्वयभु' नाम से अभिहित किये गये हैं। आकाशवाणी के द्वारा प्रेरित किये जाने पर उन्होंने उग्र तपस्या हजारो वर्षों तक की जिसके फलस्वरूप उन्होंने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। सृष्टि का कार्य ब्रह्मदेव का अपना विशिष्ट कार्य है। सरस्वती उनकी पत्नी हैं तथा हस उनका वाहन है। हिरण्यकशिपु ने अपने वरदान के अवसर पर ब्रह्माजी की जो प्रशस्त स्तुति की है (७।३।२६-३४) उसमे ब्रह्माजी का स्वरूप नारायण के सदृश ही चित्रित किया गया है। वे ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अजन्मा, महान् और सम्पूर्ण जीवों के जीवनदाता अन्तरात्मा माने गये हैं (७।३।३१)। कार्य-कारण, चल और अचल ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो ब्रह्मा से भिन्न हो। समस्त विद्या और कलायें आपके रूप हैं। आप त्रिगुणमयी माया से अतीत स्वयं ब्रह्म है। यह स्वर्णमय ब्रह्माण्ड आपके गर्भ मे स्थित रहता है। आप इसे अपने में से प्रकट करते हैं—

> त्वत्तः परं नापरमप्यनेजद्
> एजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति।
> विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
> हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः॥ —भाग० ७।३।३२

इस पद्य से ब्रह्मा के स्वरूप का यत् किञ्चित् परिचय प्राप्त होता है।

ब्रह्मा की प्रतिमा

त्रिदेव मे ब्रह्मा प्रथम है। किन्तु 'पञ्चदेव' की कल्पना मे ब्रह्मा का महत्त्व और स्थान विष्णु, सूर्य, शिव और गणेश की अपेक्षा गौण है। इनकी महत्ता गणेश से भी कम है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रभाव इनकी उपासना पर भी पड़ा। इस देव के आधार पर भारत मे कोई सम्प्रदाय खड़ा न हो सका। वैसे पौराणिक मान्यता मे भी ब्रह्मा सृष्टि के स्रष्टा बने रहे। ब्रह्मा के मन्दिर भी कम ही बने और अकेले ब्रह्मा की पूजा केवल वैदिक ब्राह्मणों (विप्रान् विदुर ब्राह्मणै) के द्वारा ही विधिसम्मत कहा गया[1]। ब्रह्मा की यह दुर्दशा पुराणो के अनुसार (जिनम 'लिङ्गोद्भव' प्रसग आया है) इनकी विष्णु की प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुई। विविध पुराणों में ब्रह्मा को गौण पद दिया है तथा विष्णु की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए उन्हें विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर आसीन

१. बनर्जी पृ० ५१२-५१३।

दिखाया गया है। इस कथानक से यह मान्यता प्रमाणित होती है कि ब्रह्मा स्वयं विष्णु से उत्पन्न हैं। मार्कण्डेयपुराण में मधु कैटभ का जो प्रसंग है, वह मुख्यतया विष्णु की महत्ता और ब्रह्मा की विपन्नता सिद्ध करने के लिए ही है।

ब्रह्मा के स्वरूप पर विचार बृहत्संहिता (५७।४१) में किया गया है। पुराणों में ब्रह्मा के प्रतिमास्वरूप की चर्चा है। मत्स्यपुराण का विवरण इस प्रकार है —

ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्तव्यः स चतुर्मुखः।
हंसारूढ क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासन.॥
वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहु· शुभेक्षण.।
कमण्डलुं वामकरे स्रुवं हस्ते तु दक्षिणे॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुचञ्चापि प्रदर्शयेत्।
मुनिभिर्देवगन्धर्वै· स्तूयमान समन्ततः॥
कुर्वाणमिव लोकांस्त्रीन् शुक्लाम्बरधरं विभुम्।
मृगचर्मधरञ्चापि दिव्ययज्ञोपवीतिनम्॥
आज्यस्थालीं न्यसेत्पार्श्वे वेदांश्च चतुर पुन·।
वामपार्श्वेऽस्य सावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीं॥
अग्रे च ऋषयस्तद्वत्कार्याः पैतामहेपदे।

—मत्स्य० २५९।४०-४४

ब्रह्मा की सबसे प्राचीन मूर्ति गन्धार की बौद्ध-कला में मिलती है। यह ब्रह्मा का अंकन बुद्ध के जन्म प्रसंग में है। जैन मूर्तिविधान में ब्रह्मा का प्रदर्शन जैन तीर्थकर शीतलनाथ क रूप में या दिक्पाल के रूप में होता है। प्रारम्भ में ब्रह्मा की द्विमुख और द्विबाहु प्रतिमा बनती थी। श्मश्रु भी नहीं प्रदर्शित किया जाता था। चतुर्मुख और चतुर्बाहु की परम्परा मूर्तिविधान में बाद में चली। मथुरा से मिली चतुर्मुख ब्रह्मा की एक प्रतिमा विचित्र है। इस प्रतिमा में ब्रह्मा के तीन मुख एक पंक्ति में और चौथा मुख बीच वाले मुख के ऊपर है।[1] यह प्रतिमा कुषाणकालीन है। यहीं से गुप्तकालीन ब्रह्मा की एक प्रतिमा मिली है जो स्थानक है। इस प्रतिमा में केवल तीन ही मुख और दो भुजायें है। बीच वाले मुख में श्मश्रु भी प्रदर्शित है। मध्यकाल में ब्रह्मा की प्रतिमायें, जो सामान्यतया मत्स्यपुराण की मूर्ति-विधानीय परम्परा का पालन करती हैं आवरणदेवता के रूप में बहुधा प्रचलित रहीं। मध्यकालीन ब्रह्मा की प्रतिमाओं में ब्रह्मा या तो 'ललितासन' में दिखाये गये हैं या विश्वपद्म पर 'ललिताक्षेप' ढंग में बैठे प्रदर्शित किये गये हैं।

---

१ बनर्जी पृ० ५१७

(६)

सूर्य

सूर्य हिन्दुओं के पंचदेवों में एक हैं।[1] ऋग्वेद में सूर्य को जगत् की आत्मा कहा गया है :—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

—ऋक् १।११५।१

वैदिक साहित्य में सूर्य का विशद वर्णन है और वैदिक स्रोतों के आधार पर ही पुराणों में विशेषकर भविष्य, अग्नि और मत्स्य में सूर्य-संबंधी परम्पराओं का विकास हुआ है। सूर्योपनिषत् में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का ही रूप माना गया है :

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः।

—सूर्योपनिषत्[2] पृ० ५५

वैसे तो द्वादशादित्य की गणना शतपथ ब्राह्मण में भी है किन्तु पुराणों में द्वादशादित्य की संख्या और नामावली अपेक्षाकृत सुनिश्चित हो गयी थी।[3] इनके नाम क्रमशः धातृ, मित्र, अर्यमन्, रुद्र, वरुण, सूर्य, भाग, विवस्वन्, पूषन्, सविता, त्वष्टा और विष्णु मिलते हैं। मित्र, अर्यमन् के नाम से सूर्य की पूजा ईरानियों में भी प्रचलित थी।

सूर्य-सम्बन्धी कई पौराणिक आख्यानों का मूल वैदिक है। सूर्य की उपासना का इतिहास भी वैदिक है। उत्तर-वैदिक साहित्य और रामायण-महाभारत में भी सूर्य की उपासना की बहुत चर्चा है। गुप्तकाल के पूर्व से ही सूर्य के उपासकों का एक सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ था, जो सौर नाम से प्रसिद्ध था। सौर सम्प्रदाय के उपासक उपास्य देव के प्रति अनन्य आस्था के कारण सूर्य को आदि-देव के रूप में मानने लगे। भौगोलिक दृष्टि से भी भारत में सूर्योपासना व्यापक रही। मुलतान, मथुरा, कोणार्क, कश्मीर, उज्जयिनी, मोधेर (गुजरात में) आदि सूर्योपासकों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। राजवंशों में भी कतिपय राजा सूर्य-भक्त थे। मैत्रक राजवंश, और पुष्पभूति वंश के कई राजा 'परम आदित्य भक्त' के रूप में जाने जाते थे।

---

१ भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १६२.

२ सूर्योपनिषद् अभी अप्रकाशित है, प्रतीक विद्या १६३.

३. डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकेनाग्राफी, पृ० ४२८—२९.

दिखाया गया है। इस कथानक से यह मान्यता प्रमाणित होती है कि ब्रह्मा र
विष्णु से उत्पन्न है। मार्कण्डेयपुराण मे मधु, कैटभ का जो प्रसंग है,
मुख्यतया विष्णु की महत्ता और ब्रह्मा की विपन्नता सिद्ध करने के लिए ही

ब्रह्मा के स्वरूप पर विचार बृहत्संहिता (५७।४१) में किया गया
पुराणो मे ब्रह्मा के प्रतिभास्वरूप की चर्चा है। मत्स्यपुराण का विवरण
प्रकार है :—

ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्तव्यः स चतुर्मुखः।
हंसारूढः क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासनः॥
वर्णतः पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
कमण्डलुं वामकरे स्रुवं हस्ते तु दक्षिणे॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुवञ्चापि प्रदर्शयेत्।
मुनिभिर्देवगन्धर्वैः स्तूयमानं समन्ततः॥
कुर्वाणमिव लोकांस्त्रीन् शुक्लाम्बरधरं विभुम्।
मृगचर्मधरञ्चापि दिव्ययज्ञोपवीतिनम्॥
आज्यस्थालीं न्यसेत्पार्श्वे वेदांश्च चतुरः पुनः।
वामपार्श्वेऽस्य सावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीम्॥
अग्रे च ऋषयस्तद्वत्कार्याः पैतामहे पदे।

—मत्स्य० २५९।४०-

ब्रह्मा की सबसे प्राचीन मूर्ति गन्धार की बौद्ध-कला मे मिलती है।
ब्रह्मा का अंकन बुद्ध के जन्म-प्रसंग मे है। जैन मूर्तिविधान मे ब्रह्मा का प्र
जैन तीर्थंकर शीतलनाथ क रूप मे या दिक्पाल के रूप में होता है। प्रा
में ब्रह्मा की द्विमुख और द्विबाहु प्रतिमा बनती थी। श्मश्रु भी नही प्रद
किया जाता था। चतुर्मुख और चतुर्बाहु की परम्परा मूर्तिविधान में बा
चली। मथुरा से मिली चतुर्मुख ब्रह्मा की एक प्रतिमा विचित्र है। इस प्र
मे ब्रह्मा के तीन मुख एक पंक्ति मे और चौथा मुख बीच वाले मुख के
है।[1] यह प्रतिमा कुषाणकालीन है। यही से गुप्तकालीन ब्रह्मा की एक प्र
मिली है जो स्थानक है। इस प्रतिमा में केवल तीन ही मुख और दो भु
है। बीच वाले मुख में श्मश्रु भी प्रदर्शित है। मध्यकाल में ब्रह्मा की प्रति
जो सामान्यतया मत्स्यपुराण की मूर्ति-विधानीय परम्परा का पालन करत
आवरणदेवता के रूप में बहुधा प्रचलित रहीं। मध्यकालीन ब्रह्मा की प्रति
में ब्रह्मा या तो 'ललितासन' में दिखाये गये हैं या विश्वपद्म पर 'ललित
ढंग में बैठे प्रदर्शित किये गये हैं।

---

१. बनर्जी पृ० ५१७

(६)

सूर्य

सूर्य हिन्दुओं के पचदेवो मे एक हैं।[1] ऋग्वेद मे सूर्य को जगत् की आत्मा कहा गया है —

> सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
>
> —ऋक् १।११५।१

वैदिक साहित्य मे सूर्य का विशद वर्णन है और वैदिक स्यातों के आधार पर ही पुराणों मे विशेषकर भविष्य, अग्नि और मत्स्य मे सूर्य-सबधी परम्पराओं का विकास हुआ है। सूर्योपनिषद् में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का ही रूप माना गया है .

> एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः ।
>
> —सूर्योपनिषद्[2] पृ० ५५

वैसे तो द्वादशादित्य की गणना शतपथ ब्राह्मण मे भी है किन्तु पुराणों मे द्वादशादित्य की सख्या और नामावली अपेक्षाकृत सुनिश्चित हो गयी थी।[3] इनके नाम क्रमशः धातृ, मित्र, अर्यमन् , रुद्र, वरुण, सूर्य, भाग, विवस्वन् पूषन्, सविता, त्वष्टा और विष्णु मिलते हैं। मित्र, अर्यमन् के नाम से सूर्य की पूजा ईरानियो मे भी प्रचलित थी।

सूर्य-सम्बन्धी कई पौराणिक आख्यानो का मूल वैदिक है। सूर्य की उपासना का इतिहास भी वैदिक है। उत्तर-वैदिक साहित्य और रामायण-महाभारत मे भी सूर्य की उपासना की बहुत चर्चा है। गुप्तकाल के पूर्व से ही सूर्य के उपासकों का एक सम्प्रदाय उठ खडा हुआ था, जो सौर नाम से प्रसिद्ध था। सौर सम्प्रदाय के उपासक उपास्य देव के प्रति अनन्य आस्था के कारण सूर्य को आदि-देव के रूप मे मानने लगे। भौगोलिक दृष्टि से भी भारत मे सूर्योपासना व्यापक रही। मुल्तान, मथुरा, कोणार्क, कश्मीर, उज्जयिनी, मोधेर (गुजरात मे) आदि सूर्योपासकों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। राजवशो मे भी कतिपय राजा सूर्य-भक्त थे। मैत्रक राजवश, और पुष्यभूति वश के कई राजा 'परम आदित्य भक्त' के रूप मे जाने जाते थे।

---

१ भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १६२.

२ सूर्योपनिषद् अभी अप्रकाशित है, प्रतीक विद्या १६३.

३. डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू आइकेनाग्राफी, पृ० ४२८–२९.

सूर्योपासना का आरम्भिक स्वरूप प्रतीकात्मक था। सूर्य का प्रतीकत्व चक्र, कमल आदि से व्यक्त किया जाता था। इन प्रतीकों को विधिवत् मूर्ति की ही तरह प्रतिष्ठित किया जाता था, जैसा कि पञ्चाल के मित्र राजाओं के सिक्कों से पता चलता है। मूर्त रूप में सूर्य की प्रतिमा का प्रथम प्रमाण बोध गया की कला में है। यहाँ सूर्य एक-चक्ररथ पर आरूढ़ है। इस रथ में चार अश्व जुते हैं। उषा और प्रत्यूषा सूर्य के दोनों बगल में खड़ी हैं। अंधकाररूपी दैत्य भी प्रदर्शित है। बौद्धों में भी सूर्योपासना होती थी। भाजा की बौद्ध गुफा में सूर्य की प्रतिमा बोध-गया की परम्परा में ही बनी है। इन दोनों प्रतिमाओं का काल ईसा पूर्व की प्रथम शती है। बौद्धों की ही तरह जैन गुफा में भी सूर्य की प्रतिमा मिली है। खंडगिरि (उड़ीसा) के अनन्त गुफा में सूर्य की जो प्रतिमा है (दूसरी शती ईसवी) वह भी भाजा और बोधगया की ही परम्परा में है। चार अश्वों से युक्त एकचक्र रथारूढ सूर्य की प्रतिमा मिली है। गंधार से प्राप्त सूर्य प्रतिमा की एक विशेषता यह भी है कि सूर्य के चरण को जूतों से युक्त बनाया गया है। इस परम्परा का परिपालन मथुरा की सूर्य मूर्तियों में भी किया गया। मथुरा में बनी सूर्य प्रतिमाओं को उदीच्यवेश में बनाया गया है। बृहत्संहिता में उदीच्य वेश या शैली में सूर्य प्रतिमा के निर्माण का विधान इस प्रकार है :—

नासा ललाट जङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः।
कुर्यादुदीच्यवेशं गूढं पादादुरो यावत् ॥
बिभ्राणः स्वकररुहे बाहुभ्यां पङ्कजे मुकुटधारी।
कुण्डलभूषितवदनः प्रलम्बहारो वियद्गवृतः ॥
कमलोदरद्युतिमुखः कञ्चुकगुप्तः स्मितप्रसन्नमुख.।
रत्नोज्ज्वलप्रभामण्डलश्च कर्तुः शुभकरोऽर्कः ॥

—बृहत्संहिता ५७।४६-४८

पुराणों में सूर्य की प्रतिमा का जो विधान वर्णित है उसमें रथ की भी चर्चा है। उदीच्य-वेश में रथारूढ सूर्य की प्रतिमा का विधान मत्स्यपुराण में इस प्रकार है :—

रथस्थं कारयेद्देवं पद्महस्तं सुलोचनम्।
सप्ताश्वञ्चैकचक्रञ्च रथं तस्य प्रकल्पयेत् ॥
मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भ-समप्रभम्।
नानाभरणभूषाभ्यां भुजाभ्यां धृतपुष्करम् ॥
स्कन्धस्थे पुष्करे ते तु लीलयैव धृते सदा।
चोलकच्छन्नवपुषं क्वचिच्चित्रेषु दर्शयेत्।
चरणयुग्मसमोपेतं चरणौ तेजसा वृतौ ॥—मत्स्य २६०।१-४

ऊपर निर्दिष्ट श्लोकों में से अन्तिम श्लोक उदीच्यवेश का पूरा परिचायक है। यह उदीच्यवेश शकों के द्वारा समादृत सूर्य का परिधान होने से इस नाम से पुकारा जाता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि शकों के उपास्य देव सूर्य भगवान् थे—इसका परिचय पुराणों ने शकद्वीप में उपास्य देवता के प्रसंग में बतलाया है। उत्तरदेश के निवासियों के द्वारा गृहीत होने के कारण ही यह वेष 'उदीच्य' कहलाता है। इस वेष का परिचायक पद्य मत्स्य का पूर्वोक्त अन्तिम पद्य है। सूर्य की यह प्रतिमा अधिकतर खड़ी दिखलाई जाती है, उपस्य यह प्रतिमा मात्रा में कम मिलती है। उसके ऊपर रहता है चोगा (चोल) जो पूरे शरीर को ढके रहता है। पैर में बूट दिखलाये जाते हैं। कहीं-कहीं बूट न दिखलाकर तेजःपुञ्ज के कारण नीचे का पैर दिखलाया नहीं जाता। शरीर के ऊपर जनेऊ दिखलाया जाता है जो कभी खड्ग का भ्रम उत्पन्न करता है। यह वेश शकराजाओं का विशिष्ट राजसी वेष था जिसका विशद निदर्शन मथुरा संग्रहालय के कनिष्क की मूर्ति है।

गुप्तपूर्वकालीन सूर्य प्रतिमाएँ थोड़ी हैं। मथुरा केन्द्र में ही प्रमुख रूप से सूर्य की प्रतिमाएं बनती थीं। यहां सूर्य प्रायः स्थानक प्रदर्शित हुए हैं। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में ईरानी प्रभाव कम था, बिल्कुल ही नहीं है। निदायतपुर, कुमारपुर (राजशाही बंगाल) और भूमरा की गुप्तकालीन सूर्य प्रतिमायें शैली, भावविन्यास और आकृति में भारतीय हैं। भूमरा की प्रतिमा में सूर्य नहीं प्रदर्शित है। किन्तु यह वेश तथा अन्य विशेषताओं में कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिपरम्परा को प्रदर्शित करती है। दण्डी और पिंगल भी दिखाए गये हैं जो ईरानी वेश में हैं। सूर्य के मुख्य आयुध कमल (दोनों हाथों में) ही विशेषतया प्रदर्शित हैं। कभी-कभी सूर्य दोनों हाथों से अपने गले में पहनी माला को ही पकड़े रहते हैं।

मध्यकालीन सूर्य की उपलब्ध प्रतिमायें दो प्रकार की हैं। एक तो स्थानक सूर्य की प्रतिमायें और दूसरी पद्मस्थ प्रतिमायें। मिचिङ्ग से मिली सूर्य की एक प्रतिमा ऊषा और प्रत्यूषा के अतिरिक्त अन्य अनेक सूर्यपत्नियों से युक्त है यथा राज्ञी, निक्षुभा, छाया, सुवर्चसा और महाश्वेता। बङ्गाल, बिहार से मिली अनेक सूर्यप्रतिमायें किरीट और प्रभावली से भी युक्त हैं।

पश्चिम भारत और दक्षिण भारत से मिली सूर्य-प्रतिमाओं में 'उदीच्य-वेशीय' प्रभाव नहीं परिलक्षित होता। सूर्य के पैरों में न तो पदत्राण या बूट ही होता है और न सप्त अश्व या सारथी अरुण ही प्रदर्शित हुये हैं। कोट भी नहीं धारण करते और न उनके साथ उनके प्रतिहार ही दिखाये जाते हैं।

(ख)

पुराणों का दार्शनिक तत्त्व

पुराणो के दार्शनिक तत्त्वो का विवेचन भी बडी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। भारतीय सस्कृति मे आचार तथा विचार का बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार के द्वारा कार्यरूप म परिणत किये बिना विचार का कुछ भी महत्त्व नही है और इसी प्रकार विचार की भित्ति और आधार के अभाव मे आचार की स्थापना भी निराधार और निरवलम्ब होती है। पुराण मे जनता के लिए अनुकरणीय और प्रतिदिन जीवन में सग्रहणीय सदाचार का विशद विवरण है। वह अपने आधार के रूप म विचार को चाहता है। इसलिए पुराणो ने विचार का भी विश्लेषण अपनी दृष्टि से किया है। पुराणगत दार्शनिक तथ्यो के विवरण के निमित्त तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता है, परन्तु यहा स्थानाभाव से सामान्य बातें ही दी जावेंगी।

पुराण नाना रूपो मे भासमान जगत् के मूल मे एक सर्वशक्तिसम्पन्न तत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है जिसकी सत्ता से यह विश्व स्थिति सम्पन्न है। उस परमतत्त्व के विभिन्न *नाम* है। वही है विष्णु (*विष्णुपुराण तथा नारदीय में*) वही है शिव (वायु, कूर्म तथा शिवपुराण में) वही है शक्ति (देवीभागवत तथा देवीपुराण में) और वही है श्रीकृष्ण (श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में)। इन पुराणो ने अपने परमोपास्य तत्त्व के स्वरूप का विवेचन बडी *रुचिरता* तथा वैशद्य के साथ किया है। वह दोनो रूपो में वर्तमान रहता है—निर्गुण *तथा सगुणरूप में। परन्तु सामान्य मानव के लिए उसका सगुणरूप ही* विशेषत उपादेय तथा ग्रहणीय माना गया है। मूलतत्त्व के नाम में भिन्नता होने पर उसके मौलिक स्वरूप में पार्थक्य नहीं है। पुराण ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-इन तीनों मार्गो का वर्णन करता है परन्तु कलियुग के प्राणियो के लिए उसका विशिष्ट आग्रह भक्ति पर ही है। उसी भक्ति का आश्रयण मानवो को अनायास दुःखबहुल ससार के निस्तार तथा आनन्दपूर्ण स्थिति में पहुँचने के लिए एक-मात्र सुगम साधन बतलाया गया है। इस तत्त्व का प्रतिपादन प्रति-पुराण में प्राय समान है, परन्तु श्रीमद्भागवत ने जो पुराणो में मूर्धन्य स्थान धारण करता है इस *भक्तितत्त्व का बडा* ही सर्वाङ्गीण विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो सब पुराणो में सर्वथा मान्य है। भागवत का एकादश स्कन्ध का अपर नाम उद्धवगीता है जहां भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को भागवत तत्त्वो का उपदेश बडी ही सुन्दर शैली में दिया है। *भक्ति के साथ योग का भी सामञ्जस्य*

पुराणों में अभीप्सित है। शैवपुराणों में वह पाशुपतयोग के नाम से अभिहित है, तो वैष्णवपुराणों में वह भागवतयोग की संज्ञा से प्रतिपादित है।

यहाँ श्रीमद्भागवत के आधार पर दार्शनिक तत्त्वों का एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुराण-साहित्य में 'श्रीमद्भागवत' अपनी दार्शनिकता तथा व्यापक धार्मिकता के कारण नितांत प्रख्यात है। दशम स्कन्ध तो इसका हृदय माना जाता है, क्योंकि इस स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण के कमनीय चरित्र का सुचारु चित्रण है। इस स्कन्ध के उत्तरार्ध के ८७वें अध्याय में श्रुतियों के द्वारा श्रीकृष्ण की प्रशस्त स्तुति का वर्णन है, जो वेदस्तुति के नाम से अभिहित किया जाता है। इस स्तुति के अनुशीलन से हम भागवत के दार्शनिक दृष्टि-बिन्दु को समझने में कृतकार्य हो सकते हैं। इतना ही नहीं, हम यह भी जान सकते हैं कि आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व श्रुतियों के तात्पर्य की दिशा किस ओर थी। उनके मन्त्रों के भीतर किस आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि मानी जाती थी। वेदार्थ का चिन्तन भारतीय मनीषियों के आध्यात्मिक मनन का एक विशेष विषय रहा है। भागवत के रचयिता के विचार से वेद का दार्शनिक तत्त्व क्या था, इस भी भली भाँति समझने में हमें इस स्तुति के स्वाध्याय से पूर्ण सहायता मिल सकती है। इसी महत्त्व से प्रेरित होकर इस सारगर्भित स्तुति के सिद्धान्तों का एक सामान्य दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

भागवत एक गम्भीर विचार का पुराण है। उसके तत्त्वज्ञान की मीमांसा एक दुरूह व्यापार है। इसीलिए, यहाँ 'वेदस्तुति' के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक विचारों का वर्णन किया जा रहा है, जो भागवत के अनुसार जीवन-दर्शन कहा जा सकता है। विद्यावतां भागवते परीक्षा—यह लोकोक्ति भागवत के रहस्यमय रूप को प्रकट करती है।

साध्य तत्त्व

साध्य तत्त्व के अन्तर्गत ब्रह्म का विचार प्रस्तुत किया गया है। भगवान अकरण हैं। वे चिन्तन, कर्म आदि के साधनभूत मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि करणों से सर्वथा रहित हैं। फिर भी, समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणों की शक्तियों से सर्वदा सम्पन्न हैं (अखिलकारकशक्तिधर)। वे स्वयं प्रकाश हैं और इसीलिए कोई काम करने के लिए उन्हें इन्द्रियों की सहायता की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। वे इस विशाल ब्रह्माण्ड के अधिपति-स्थानीय हैं, जिनके आदेशों का पालन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, महत् आदि देव अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (श्लोक २८)। भगवान् नित्यमुक्त स्वभाववाले हैं। वे माया से अतीत हैं, परन्तु जब वे ईक्षण-मात्र से अर्थात् संकल्पमात्र से माया के

साथ क्रीडा किया करते है, तब जीवो के सूक्ष्म शरीर तथा उनके सुप्त कर्म-सस्कार जग जाते है और जीवो की सृष्टि होती है। उनमे समत्व गुण की विशिष्टता है, फलत उनके लिए न कोई अपना है और न कोई पराया। कार्य कारण-रूप प्रपच के अभाव होने से वे बाह्य दृष्टि से शून्य के समान प्रतीत होते हैं (वियत इवापदस्य शून्यतुला दधत), परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण वे परम सत्यरूप हैं (श्लोक २९)। भगवान् इस विश्व के नियामक है। नियमन करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्ही के नियमन मे सचालित यह विश्व अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता हुआ अबाध गति से आगे चलता जाता है। वे समदर्शी है। उनके उपासको की दो श्रेणियाँ हैं। कुछ परिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके व्यक्त रूप की उपासना मे आसक्त रहते हैं, तो अपरिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके निराकार, एकरस रूप के चिन्तन मे लीन रहते हैं। इन दोनों मे वे किसी प्रकार का अन्तर अथवा भेद-भाव नही मानते, प्रत्युत समान दृष्टि से उनकी सेवा तथा उपासना को चरितार्थ करते हैं। अपने प्राण, मन तथा इन्द्रियो को वश मे रखकर दृढ योगाभ्यास के द्वारा अपने हृदय मे उपासना करनेवाले योगियो को जो गति प्राप्त होती है, वही गति मिलती है उन प्राणियो को भी, जो उनसे सर्वदा वैरभाव रखते है। इन दोनो के ऊपर भगवान् सदा-सर्वदा एक प्रकार ही अपनी दया की वृष्टि किया करते हैं (श्लोक २३)।

इस जगत् की सृष्टि बतलानेवाले अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय अपने मत की शिक्षा देते हैं। कोई असत् से जगत् की उत्पत्ति मानते है (वैशेषिक), कोई सत्-रूप दु खो के नाश को मोक्ष मानते हैं (नैयायिक = सतो मृतिम्), कुछ लोग जीवो मे भेद बतलाते हैं (साख्य = आत्मनि ये च भिदाम्) तो कुछ लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोक रूप व्यवहार को सत्य मानते है (मीमासक = विपणमृतम्)। परन्तु, ये सब बातें भ्रममूलक हैं तथा आरोप के द्वारा ही ऐसा मत प्रचलित है। भगवान् 'अवबोध रस', अर्थात् ज्ञान-स्वरूप हैं। फलत, उनमे किसी प्रकार भेद-भाव की कल्पना न्याय्य नहीं है (श्लोक २५)।

भगवान् का शासन अखण्ड रूप म इस विश्व के सब प्राणियो पर, देवता-दानव तथा पशु-मानव के ऊपर समभाव से वर्त्तमान है। भगवान् स्वय इन्द्रियो से रहित हैं, परन्तु समस्त जीवों की इन्द्रियो के वे ही प्रवर्त्तक हैं। मनुष्य अपने कल्याण के लिए देवताओं को बलि दिया करते हैं और उपासना के समय नाना प्रकार के पदार्थ समर्पित करते हैं, परन्तु देवता लोग उस बलि को भगवान् को ही समर्पित कर देते हैं। इस विषय में भागवत चक्र-

वर्त्ती तथा सामन्त नरेश की उपमा देता है। जिस प्रकार सामन्त नरेश प्रजाओं के द्वारा प्राप्त बलि (मालगुजारी) को चक्रवर्त्ती राजा को समर्पित कर देते हैं, उसी प्रकार देवता लोग भी मनुष्यों द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को भगवान् को समर्पित करते हैं। सारांश यह है कि भगवान् ही इस विश्व का परम ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् हैं, जिनके शासन मे रहकर देव और मानव अपने कार्यों के सम्पादन मे लगे हुए हैं (श्लोक २८)। भगवान् अनन्त हैं, उनके अन्त का पता नही। जिस प्रकार वायु मे धूल के नन्हें-नन्हे कण उडते रहते हैं, उसी प्रकार उत्तरोत्तर दशगुण अधिक पृथिवी आदि सात आवरणो के साथ समस्त ब्रह्माण्ड-समूह कालचक्र के संग एक साथ घूमता रहता है। सब श्रुतियाँ तात्पर्य-वृत्ति से भगवान् के वर्णन मे ही चरितार्थ होती हैं, अर्थात् श्रुतियो के द्वारा गम्य तथा बोध्य भगवान् ही हैं। इसी का तात्पर्य गीता के इस पद्यांश मे है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।

जगत्

जगत् के विषय में वेदस्तुति का स्पष्ट मत है कि त्रिगुणात्मक जगत् मन की कल्पनामात्र है। वस्तुतः सत्य नही है। केवल यही नही, प्रत्युत परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पना-मात्र है। सत्य अधिष्ठान पर आश्रित रहने के कारण ही यह जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है। यह जगत् आत्मा मे ही कल्पित है (स्वकृत) तथा आत्मा से ही व्याप्त है (अनुप्रविष्ट) और इसीलिए आत्मज्ञानी लोग इसे आत्मरूप मानते हैं तथा उसी रूप से (सुवर्ण की तरह) इसका व्यवहार करते हैं। सुवर्ण से बने हुए गहने भी तो अन्ततोगत्वा सोना ही हैं। अतएव, इस रूप को जाननेवाले पुरुष इस छोडते नही जगत् का भी ठीक यही दशा है (श्लोक २६)।

जगत् की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य हेतु का उपन्यास किया गया है। यह जगत् उत्पत्ति से पहले नही था और प्रलय के बाद भी नही रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मध्य मे भी यह असत् रूप ही है। श्रुतियो मे दिये गये उदाहरण इस तथ्यहीनता को स्पष्ट बतला रहे हैं। जिस प्रकार मिट्टी मे घडा, लोहे मे शस्त्र और सोने मे कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तव मे तो मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं; उसी प्रकार परमात्मा मे वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या तथा मन की कल्पना है। मूर्ख ही इसे सत्य मानता है, ज्ञानी नही। अधिष्ठान की सत्यता से ही आधेय की सत्यता प्रतीत होती है, वस्तुत. नहीं—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनात्
अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।

अत उपमीयते द्रविण-जाति-विकल्पपथै-
वितथमनो-विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

—श्लोक ३७

भगवान् के ईक्षण-मात्र से माया क्षुब्ध होती है और वह विचित्र कर्मों के फल देने के लिए जगत् की सृष्टि करती है। फलत, सृष्टि मे जो विचित्रता तथा विषमता दृष्टिगोचर होती है, वह कर्मों की विषमता के कारण ही है। जीव नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है और उन कर्मफलो को भोगने के लिए उसे इस सृष्टि के भीतर आना पडता है। फलत, जगत् के जीवो की वर्त्तमान दशा उन्ही के पूर्व कर्मों के फल से जन्य है। सृष्टि-वैषम्य कर्म वैषम्य-जन्य है। भगवान् तो परम कारुणिक, एकरस और समदृक् है। उसमे किसी प्रकार के वैषम्य की कल्पना एकदम निराधार तथा अप्रामाणिक है (श्लोक २९)।

प्रलय

जिस समय भगवान् सब सृष्टि को समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई भी साधन नहा रह जाता, जिससे उनके साथ सोया हुआ जीव उन्हे जान सके। प्रलय-काल म सत् नही रहता, अर्थात् आकाश आदि स्थूल जगत् का अभाव होता है और न असत् ही रहता है, अर्थात् महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्व भी उस समय नहीं रहता। इन दोनो के योग से बने हुए न शरीर ही ह ते हैं और न प्राण, मुहूर्त्त आदि काल के अङ्ग ही रहते हैं। उस दशा मे कुछ भी नहीं रहता। फलत उस दशा मे वर्त्तमान भगवान् के रूप को जानने के साधन का अभाव होने से हम उन्हें किसी प्रकार भी नहीं जान सकते (श्लोक २४)।

जीव

जीव के स्वरूप के विषय मे भी यहाँ खूब विवेचन किया गया मिलता है। भगवान् शासक है तथा जीव उनके द्वारा शासित। भगवान् नियामक हैं और जीव उनके द्वारा नियम्य। यह तभी सम्भव है, जब जीव भगवान् से उत्पन्न तथा भगवान् की अपेक्षा न्यून हो। जीव भगवान् से उत्पन्न होता है। इस कथन का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् परिणाम के द्वारा जीव बनाते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा है। प्रकृति में पुरुष और पुरुष मे प्रकृति के संयोग के कारण ही जीवों मे नाना रूप तथा गुण रख दिए जाते हैं—जल बुद्बुद के समान। जल (उपादान) तथा वायु (निमित्त कारण) के संयोग से जिस प्रकार 'बुद्बुद' नामक पदार्थ बनता है, जो स्वयं

कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष के अध्यास से जीवों का नानात्व गुण तथा रूप कल्पित किया गया है। अन्त में जिस प्रकार समुद्र में नदियाँ समा जाती हैं तथा मधु में समस्त फूलों के रस समा जाते हैं उसी प्रकार सब जीव उपाधि-रहित होकर भगवान् में समा जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व भगवान के द्वारा नियन्त्रित है। जीव को पृथक्, स्वतन्त्र और वास्तविक मानना अज्ञान के ही कारण है। जीव के स्वरूप का प्रतिपादक यह महत्वपूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

> **न घटत उद्‌भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो**
> **रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्‌बुदवत्।**
> **त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे**
> **सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः॥**
>
> —(श्लोक ३१)

जीव तथा ईश में वस्तुतः ऐक्य ही वर्तमान है परन्तु संसार-दशा में दोनों में भेद है। जीव मायाबद्ध है अर्थात् माया के पाश में सर्वदा बद्ध रहता है। इसके विपरीत ईश मायामुक्त होते हैं। जीव होता है अपतभग, ऐश्वर्य से हीन परन्तु ईश होते हैं आत्तभग, ऐश्वर्य से सम्पन्न। जीव माया से अविद्यायुक्त होता है, इसलिए देह और इन्द्रिय आदि का सेवन करता है, उन्हीं को अपना स्वरूप मानता है और आनन्दादि गुणों से तिरोहित होने पर संसार को प्राप्त करता है। अतः, जीव के लिए कर्मकाण्ड की आवश्यकता होती है, परन्तु भगवान् माया को उसी प्रकार छोड़ देते हैं तथा उसका अभिमान नहीं करते, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुल को छोड़ देता है और उसका अभिमान नहीं रखता। भगवान् नित्यसिद्ध ज्ञान तथा अनन्त ऐश्वर्य से युक्त, अणिमा आदि आठों सिद्धियों से सम्पन्न होने के कारण पूजित है। इस प्रकार वस्तुतः अद्वैत होने पर भी संसारदशा में द्वैत भासता है (श्लोक ३८)। जीव असत्य, परन्तु नित्य नहीं हैं। वे भगवान् के द्वारा शासित होते हैं। भगवान् शासक तथा नियामक हैं, जीव शासित तथा नियम्य। मति और बुद्धि से परे होने से उसका रूप अत्यन्त कठिन है (श्लोक ३०)।

साधन-मार्ग

भागवत के अनुसार साध्य की प्राप्ति का सरल उपाय कौन-सा है? भागवत के अनुसार भगवान् की सेवा ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। भगवान् से विमुख करनेवाली सबसे बड़ी वस्तु है—काम। यह मानव-हृदय को जटा के समान नाना रस्सियों से बाँधे रहती है। काम की वासना को

दूर करना परम आवश्यक है। फलत, जिन यतियो ने मन, इन्द्रिय तथा प्राणो को अपने वश म कर रखा है, परन्तु काम के हटाने मे समर्थ नहीं है, वे अपने हृदय मे स्थित भगवान् को नही जान सकते। उनकी दशा, भूलने की आदत रखनेवाले उस मनुष्य की तरह होती है, जो अपने ही गले मे लटकनेवाली मणिमाला को एकदम भूलकर बाहर खोजता चलता है। अत, साधको के लिए काम की वासना का उन्मूलन नितान्त आवश्यक है। इस शुभ कार्य मे भागवत गुरु की उपादेयता पर जोर देता है। जिस प्रकार विना मल्लाह के नाव तूफान मे पडकर डूब जाती है, उसी तरह विना गुरु का साधक लक्ष्य की प्राप्ति न कर बीच मे ही डूब जाता है। भागवत, भक्ति की ही सुगम साधन बतलाता है। भगवान् की आनन्दमयी उपलब्धि के लिए ज्ञानमार्गी तो केवल भूसा कूटनेवाले जैसे होते हैं, जिन्हें उसमे से एक दाना भी नही मिलता। अतः भागवत की दृष्टि मे श्रेय साधन करनेवाली भक्ति ही चरम साधन है—

> श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यत्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

श्री मद्भागवत : भक्तिशास्त्र का सर्वस्व

श्री मद्भागवत सस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्वो का वर्णन व्यास ने समाधि दशा मे अनुभूत करके किया है। भागवत का प्रभाव वल्लभ सप्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पडा है।

साध्यतत्त्व

श्री मद्भागवत अद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दो में करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्त्व के विषय मे ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है :—

> अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
> पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

"सृष्टि के पूर्व मे ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था।

यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय मे सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा"। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीवजगत सब वही है। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वही सब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अविच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकार रूप में रहते हैं—तब निर्गुण कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर सगुण कहलाते हैं। परमार्थभूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव के शब्दों द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को विष्णु कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को ब्रह्मा, तमोमिश्रित सत्त्वावछिन्न चैतन्य को रुद्र और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावछिन्न चैतन्य को पुरुष कहते हैं। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं, पुरुष उपादान कारण होता है। ये चारो ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अत. भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतार पुरुष परस्य। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, माया सम्बन्ध-रहित हुए भी माया से युक्त रहता है सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है, उसे पुरुष कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदि देव ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं। भक्ति की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बताया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत् न प्रतीयेत् चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तम. ॥

वास्तव के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा मे किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश मे एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्र मण्डल मे दीख नहीं पड़ता) वही 'माया' है। भगवान्-अचिन्त्य-शक्ति समन्वित हैं। वे एक समय मे एक होकर भी अनेक हैं। नारद जी ने द्वारकापुरी मे एक समय मे ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियो के महलो मे विद्यमान भिन्न कार्यों मे संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन तत्त्व

इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम मार्ग बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन ही भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोप-बृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य पुत्रो मे प्राण का ही संचार नहीं हुआ प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अत भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

परम भक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दो मे किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान तप आदि से प्रसन्न नही होते, वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के सिवाय अन्य साधन उपहास-मात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति-प्राप्ति मे प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से सार्थक होते हैं, अत परम्परया साधक है साक्षा-द्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने म है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारो का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके विषदन्त तोड़ना है। श्रेय की मूलस्रोतस्विनी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति

के लिए उद्योगशील मानवो का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालो का यत्न। अत भक्ति की उपादेयता मुक्ति विषय मे श्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति, साध्यरूपा भक्ति। साधन भक्ति नौ प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत मे सत् सङ्गति की महिमा का वर्णन बडे सुन्दर शब्दोमे किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत् पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियो को कौन कहे, मोक्ष को भी नही चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन मे ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरण-चञ्चरीक भक्त शुष्क, नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियो के पखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछडे दूध के लिए तथा प्रिय के विरह मे व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थी जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने रासपञ्चाध्यायी मे किया है। इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनो के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोको म एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अत. भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओ के धार्मिक साहित्य मे अनुपम है। सर्ववेदान्तसार भागवत का कथन यथार्थ है —

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

भागवती साधना

भागवत मे किस साधनापद्धति का किस प्रकार से उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवत के पारदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूप मे कर सकते हैं, परन्तु फिर भी इस विषय का एक छोटा-सा वर्णन पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है।

हमारे देखने मे भागवती साधना का कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ मे तथा तृतीय स्कन्ध के कपिलगीता वाले अध्यायो मे किया गया मिलता है। कपिल की माता देवहूति के सामने भी यही प्रश्न था कि भगवान के पाने का सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्न को उन्होने अपने पुत्र कपिलजी से किया जिसके उत्तर मे उन्होने अपनी माता को कल्याण-बुद्धि से प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षित को। उन्होने ब्राह्मण का अपमान किया था। सातवें दिन उन्हे अपना भौतिक पिण्ड छोडना था। बस, इतने ही स्वल्पकाल मे उन्हें अपना कल्याण-साधन करना था। बेचारे बडे विकल थे, बिल्कुल बेचैन थे। उनके भाग्य से उन्हे उपदेष्टा मिल गये शुकदेव जैसे ब्रह्मज्ञानी। अत उनसे उन्होंने यही प्रश्न किया—हे महराज, इतने कम समय मे क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधक की खोज मे थे। उन्हें ऐसे साधक के मिलने पर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेव जी ने परीक्षित से कहा कि भगवान् से परोक्ष रह कर बहुत स वर्षों से क्या लाभ है? भगवान् से विमुख रह कर दीर्घ जीवन पाने से भला कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान् के स्वरूप को जानकर उनकी सन्निधि म एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवन का उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुण-कीर्तन मे है। यदि न हो सके तो पृथ्वीतल पर दीर्घ जीवन भी भारभूत है। खट्वाङ्गनामक राजर्षि ने इस जीवन की असारता को जानकर अपने सर्वस्व को छोडकर समस्त भयो को दूर करने वाले अभय हरि को प्राप्त किया। तुम्हे तो अभी सात दिन जीना है। इतने काल मे तो बहुत कुछ कल्याणसाधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वपीठिका के अनन्तर शुकदेवजी ने भगवती भागीरथी के तीर पर सर्वस्व छोडकर बैठने वाले राजा परीक्षित से भागवती साधना का विस्तृत वर्णन किया। अष्टाग योग की आवश्यकता प्राय प्रत्येक मार्ग मे है। इस भक्तिमार्ग म भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होने कहा कि साधक को चाहिये कि किसी एक आसन मे बैठने का अभ्यास करे उस आसन पर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणो का पूरा आयमन करे। ससार के किसी भी पदार्थ म आसक्ति न रखे। अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना हो

जाने पर साधक का मन उस अवस्था में पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अपने मन को जिस स्थान पर लगावेगा, उस स्थान पर वह निश्चयरूप से टिक सकेगा। अभी भगवान् के स्थूल रूप का ध्यान करना चाहिये। भगवान् के विराट् रूप का ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान् का रूप है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनु'। इस जगत् के चौदहों लोकों मे भगवान् की स्थिति है। पाताल भगवान् का पादमूल है, रसातल पैर का पिछला भाग है, महातल पैर की एडी है, तलातल दोनो जघायें हैं, सुतल जानुप्रदेश है और दोनो उरु वितल तथा अतल लोक हैं। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीर के अधोभाग के रूप मे हैं। भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपर के भाग हैं। सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान् का मस्तक है इस जगह पर भागवतकार ने भगवान् के विराट् रूप का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। जगत् की जितनी चीजें हैं, वे सब भगवान् का कोई-न कोई अग या अश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान् का ही रूप ठहरा, तब उसके भिन्न-भिन्न अगों का भगवान् के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है। यह हुआ भगवान् का स्थविष्ठ—स्थूलतम स्वरूप। साधक को चाहिये कि इस रूप मे इस प्रकार अपना मन लगावे, वह अपने स्थान मे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जब तक भगवान् मे भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तब तक इस स्थूल रूप का ध्यान नियत रूप से साधक को अपनी नित्यक्रियाओं के अन्त मे करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधना को श्रेष्ठ समझ कर इसी का उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाश मे भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे उसी का उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राण पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधक को चाहिये कि अपने हृदय म भगवान् के स्वरूप का ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान् के पाद से और अन्त करे भगवान् के मृदुल मधुर मुसकान से। 'पादादि यावद्धसित गदाभृत' का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचे से आरम्भ कर ऊपर के अङ्गों तक जाय और एक अङ्ग का ध्यान निश्चित हो जाय, तब अगले अङ्ग की ओर बढे। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूप का ध्यान दृढ रूप से सिद्ध हो जाता है। इस तरह के ध्यान का विशद वर्णन तृतीय स्कन्ध के २८ वें अध्याय में किया गया है। पहले-पहल रस रसिकशिरोमणि के पैर से ध्यान करना आरम्भ करे। भगवान् के चरण कमल कितने सुन्दर हैं। उनमें वज्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमल के चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त है कि उनकी प्रभा से मनुष्यों के हृदय का अन्धकार आप-से आप दूर हो जाता है।

श्रीभागीरथी का उद्गम इन्ही से हुआ है। ऐसे चरणो मे चित्त को पहले लगावे। जब वह वहाँ स्थिररूप से स्थित होने लगे, तब दोनो जानुओ के ध्यान मे चित्त को रमावे। तदनन्तर ललित पीताम्बर से शोभित होने वाले, ओज के निधान भगवान् की जंघाओं पर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजी के उत्पत्तिस्थानभूत कमल की उत्पत्ति जिससे हुई, उस नाभि का ध्यान करे। इसी प्रकार वक्ष-स्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदि का ध्यान करता हुआ भगवान् के मुखारविन्द तक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तल से परिवेष्टित, उन्नत भ्रू से सुशोभित, मीन की भाति चपल नयनो पर अपनी चित्त वृत्ति लगावे। मनुष्यों के कल्याण के लिये अवतार धारण करनेवाले भगवान् के कृपा-रस स सिक्त, तापत्रय-नाशिनी चितवन को अपने ध्यान का विषय बनावे। अन्त मे भगवान् के होठो पर विकसित होने वाली मन्द मुसुकान मे अपना चित्त लगा कर बस, वहीं दृढ धारणा से टिक जाय। वहाँ से टले नही। वही अन्तिम स्थान ध्यान हुआ। पर इस स्थान पर निश्चित रूप से स्थित होने का प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जब तक हृदय मे भगवान् के प्रति भक्ति का सञ्चार न होगा, तब तक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होगे। अष्टाग योग भी तो बिना भक्ति के छूछा ही है– नीरस ही है। भक्ति होने पर ही तो भक्त का प्रत्येक कार्य भगवान् की पूजा का अग हो जाता है, अत इस भक्ति का पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकार को पूर्वोक्त प्रकार की ही साधना अभीष्ट है, क्योकि ध्रुव आदि भक्तों के चरित में इसी प्रकार की साधना का उपयोग किया गया मिलता है। श्रीकृष्ण के चरित से भी इस भागवती साधना का तत्त्व समझा जा सकता है।

(४) श्रीकृष्ण और सुदामा

त्रिभुवन कमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

आनन्दकन्द वृन्दावन-चन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण का पवित्र चरित्र सब भावो मे परिपूर्ण है। जिस दृष्टि से उसे देखा जाय उसी से वह पूरा दीखता है, जिस कसौटी पर उसे कसा जाय वह पूरा उतरता है। वह वृन्दावन-विहारी मुरलीधारी बनवारी किस रस का आश्रय नही है, किस भाव का पात्र नही है? वह स्नेहमूर्ति कन्हैया प्रेम का अगाध समुद्र है, सख्य का अनन्त सागर है।

भगवान् की अनन्त लीलाओं मे सुदामा का प्रसङ्ग भी अपनी एक विचित्र मोहकता धारण किये हुए है। पुराने सहपाठी सुदामा को दरिद्र-दीन-दशा मे देख भगवान् के हृदय मे करुण रस का जो प्रवाह उमड पडा, दया की जो

दरिया बहने लगी, भगवान् कृष्णचन्द्र के रहस्यमय चरित्र मे वह भक्तो के लिये परम पावन वस्तु है—दु खी आत्माओं को शान्ति देनेवाली यह एक अति अनुपम कथा है।

सुदामा की कथा

सुदामा एक अत्यन्त दीन ब्राह्मण थे। बालकपन में उसी गुरु के पास विद्याध्ययन करने गये थे जहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने जेठे भाई बलरामजी के साथ शिक्षा ग्रहण करने के लिये गये थे। वहाँ श्री कृष्णचन्द्र के साथ इनका खूब सङ्ग रहा। इन्होंने गुरुजी की बडी सेवा की। गुरुपत्नी की आज्ञा से एक बार सुदामा कृष्णचन्द्र के साथ जगल से लकडी लाने गये। जगल मे जाना था कि आँधी-पानी आगया। अन्धकार इतना सघन छा गया कि अपना हाथ अपनी आँखों नही दीखता था। रात भर ये लोग उस अन्धेरी रात मे बन म भटकते रहे परन्तु रास्ता मिला ही नही। प्रात काल सदय-हृदय सान्दीपनि गुरु इन्ह खोजने जगल म आय और घर लिवा ले गय।

गुरुगृह से लौटने पर सुदामा ने एक सती ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। सुदामा की पत्नी थी बडी पतिव्रता-अनुपम साध्वी। उसे किसी बात का कष्ट न था, चिन्ता न थी। यदि थी तो केवल अपने पतिदेव की दरिद्रता की। वह जानती थी भगवान् श्री कृष्ण उसके पति के प्राचीन सखा हैं—गुरुकुल के सहाध्यायी है। वह सुदामा जी को इसकी समय-समय पर चेतावनी भी दिया करती थी, परन्तु सुदामा जी इसे तनिक भी कान नहीं करते—कभी ध्यान नहीं देते थे। एक बार उस पतिव्रता ने सुदामा जी से बडा आग्रह किया आप द्वारकाजी मे श्रीकृष्ण जी से मिलिये, उन्हें अपना दुख सुनाइय। भगवान् दयासागर हैं, हमारा दुख अवश्य दूर करेंगे। जरा हमारी इस दीन-हीन दशा की खबर अपने प्यारे सखा कृष्ण को तो देना—'या घरते न गयो कबहूँ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती'। सुदामा जी केवल भाग्य को भर पेट कोसा करते थ—केवल कहा करते थे कि—

पावैं कहाँ ते अटारी अटा जिनको है लिखी विधि टूटिय छानी।
जो पै दरिद्र ललाट लिखो कहु को त्यहि मेटि सकैगो अयानी॥

परन्तु इस बार उस साध्वी के सच्चे हृदय से निकली प्रार्थना काम कर गयी। सुदामा जी द्वारकाधीश के पास जान के लिये तैयार हो गय। उपायन के तौर पर इधर-उधर से माँग कर पत्नी ने चावल की पोटली पतिदव के हवाले की। सुदामा जी पोटली को बगल में दबाये द्वारका के लिये रवाना हुए परन्तु बडे अचम्भे की बात यह हुई कि जो द्वारका सुदामा की कुटिया से कोसो

दूर थी वह सामने दीखने लगी—उसके सुवर्ण-जटित प्रासाद आँखों को चकाचौंध करने लगे। झट से सुदामा जी द्वारका पहुँच गये।

पूछते-पूछते भगवान् के द्वारे पहुँचे। द्वारपाल को अपना परिचय दिया। भगवान् के दरबार मे भला दीन-दुखी को कौन रोक सकता है? द्वारपाल झट से श्रीकृष्ण के पास सुदामा जी के आगमन की सूचना नरोत्तमदासजी के शब्दों में यों देने गया—

शीश पगा न झँगा तन में प्रभु जाने को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूँछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

भगवान् ने अपने पुराने मित्र को पहचान लिया। वे स्वय आकर महल मे लिवा ले गये। रत्नजटित सिंहासन पर बैठाया, अपने हाथों से उनका पाँव पखारा, प्राचीन विद्यार्थी-जीवन की स्मृति दिलायी और भक्ति के साथ लाये हुए भाभी के द्वारा अर्पित चावलो की एक मुट्ठी अपने मुँह मे डाली, दूसरी मुट्ठी के समय रुक्मिणी ने उन्हे रोक दिया। सुदामा भगवान् के महल में कई दिनो तक सुख पूर्वक रहे, श्रीकृष्ण ने बडे प्रेम से उन्हे विदा किया। सुदामा रास्ते मे चले जाते थे और मन-ही-मन कृष्ण की बद्धमुष्टिता पर खीझ ते थे। जब अपने घर पहुँचे तो उन्हें अपनी टूटी मड़ैया नही दीख पडी। उसके स्थान पर एक विशालकाय प्रासाद खडा पाया। पत्नी ने पति को पहचाना जब वे महल के भीतर गये तब अपना ऐश्वर्य देख मुग्ध हो गये और भगवान् की दानशीलता और भक्तवत्सलता का अवलोकन कर अवाक हो रहे। बहुत दिनो तक अपनी साध्वी पत्नी के साथ सुखपूर्वक दिन बिता अन्त मे भगवान् के चिरन्तन सुखमय लोक मे चले गये।

सुदामा की भक्त मनोहारिणी कथा सक्षेप मे यही है जो ऊपर दी गयी है। भगवान् की दयालुता का यह परम सुन्दर निदर्शन है। यह कथा वास्तव मे सच्ची है। साथ-ही-साथ यह एक आध्यात्मिक रहस्य की ओर सकेत कर रही है जो विचारशील पाठको के ध्यान मे थोडे-से मनन से स्वय आ सकता है।

आध्यात्मिक रहस्य

अब पाठक जरा विचारिये कि यह सुदामा कौन हैं? उनकी पत्नी कौन हैं? वे तन्दुल कौन-से हैं? इत्यादि। यदि अन्तःप्रविष्ट होकर देखा जाय तो सुदामा की कथा मे एक आध्यात्मिक रूपक है—भक्त और भगवान् के परस्पर मिलन की एक मधुर कहानी है। इसी रहस्य का किंचित् उद्घाटन थोडे मे किया जायगा।

'दामन' शब्द का अर्थ है—रस्सी, बाँधने की रस्सी। यशोदा मैया के द्वारा बाँधे जाने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण का एक नाम है—दामोदर। इस प्रकार 'सुदामा' शब्द का अर्थ हुआ रस्सियो के द्वारा अच्छी तरह बाँधा गया पुरुष अर्थात् बद्धजीव, जो सासारिक मायापाश मे आकर ऐसा बँध गया है कि उसे अन्य किसी भी वस्तु की चिन्ता ही नही। सुदामा सन्दीपनि-मुनि के पास कृष्ण का सहाध्यायी है। जीव भी आत्मतत्व को प्रकाशित करने वाले ज्ञान के सङ्ग होने पर उस जगदाधार परब्रह्म का चिरन्तन मित्र है—सखा है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।' ज्ञान का आश्रय जब तक जीव को प्राप्त है, तब तक वह अपने असली रूप मे है, वह श्रीकृष्ण का—परब्रह्म का—सखा बना हुआ है, परन्तु ज्यो ही दोनो का गुरुकुलवास छूट जाता है—वियोग हो जाता है, जीव ससारी बन जाता है, वह माया के बन्धन मे आकर सुदामा बन जाता है। वह अपने सखा को बिल्कुल भूल जाता है। सुदामा की पत्नी बडी साध्वी है—जीव भी सात्विकी बुद्धि के सग चिरसुखी रहता है। सात्विकी बुद्धि जीव को बारम्बार उसके सच्चे मित्र की स्मृति दिलाया करती है। जीव ससार मे पड कर सब को—अपने सच्चे रूप को—भूल ही जाया करता है, केवल सत्वमयी बुद्धि का जब-जब विकास हुआ करता है, वह जीव को अपने प्राचीन स्थान की ओर लौट जाने के लिए—उसे चिरन्तन मित्र परब्रह्म की सन्निधि पाकर अपने समस्त बन्धनो को छुडा देने के लिये—बारम्बार याद दिलाया करती है। सुदामा जी सदा अपने कुटिल भाग्य को कोसा करते थे। जीव भी भाग्य को उलाहना देकर किसी प्रकार अपने को सन्तुष्ट किया करता है।

आखिर सुदामा जी पत्नी के द्वारा सगृहीत चावल को लेकर द्वारका चले। चावल सफेद हुआ करता है। चावल से अभिप्राय यहाँ पुण्य से है। पुण्य का सञ्चय भी सात्विकी बुद्धि किया करती है। जीव जब जगदीश से मिलने के लिये जाता है, तब उसे चाहिए उपायन। उपायन भी किसका ? सुकर्मो का—पुण्य का। सुकर्म ही सुदामा जी के तण्डुल हैं। जीव जब तक उदासीन बैठा हुआ है—अकर्मण्य बना हुआ है, उस जगदीश की द्वारका काले कोसो दूर है, परन्तु ज्यो ही वह पुण्य की पोटली बगल में दबाये सुबुद्धि की प्रेरणा से सच्चे भाव से उसकी खोज मे चलता है वह द्वारका सामने दीखने लगती है। भला, वह भगवान् दूर थोडे ही हैं ? दूर हैं वह अवश्य, यदि भक्त मे सच्ची लगन न हो, परन्तु यदि हम सच्चे स्नेह से अपने अन्तरात्मा को शुद्ध बना कर उसकी खोज में निकलते हैं तो वह क्या दूर हैं ? गरदन झुकाई नहीं कि वह दीखने लगे। 'दिल के आइने में है तसबीरे यार। जब कभी गरदन झुकाई देख ली।।' बाबा तुलसीदास जी भी कह गये हैं—

सनमुख होय जीव मोहि जबहीं । कोटि जन्म अघ नासों तबहीं ॥

जो मनुष्य किसी वस्तु से विमुख है, समीप मे होने पर भी वह चीज दूर है, परन्तु सम्मुख होते ही वह वस्तु सामने झलकने लगती है। भक्तजन को चाहिये कि सुकर्मो की पोटली लेकर भगवान् के सम्मुख हो, भगवान् दूर नही हैं।

सुदामा जी द्वारका मे पहुँच गये, द्वारपाल से कहला भिजवाया, श्रीकृष्ण स्वय पुरानी पहचान याद कर दौडे हुए आये। जीव तो भगवदश ही है, वह तो उसके साथ सदा विहार करनेवाला है। उसके अन्तर्मुख होते ही भगवान स्वय उसे लिवा ले जाते है। हिन्दी-कवियो ने लिखा है सुदामा की दीन-दशा देख श्रीकृष्ण बहुत रोये—मनो आसू बहाया। 'देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोये'। परन्तु भागवत म लिखा है—

सख्यु प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृत ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्या पुष्करेक्षण ॥

अपने प्यारे सखा को इतने दिनो के बाद मिलने से श्रीकृष्ण अत्यन्त आह्लादित हुए—सुदामा जी के अङ्ग स्पर्श से भगवान् आनन्दमग्न हो गये, उनकी आखो से आसू बहन लगे। जिस प्रकार भगवान् को पाकर भक्तजन परम निर्वृति को पाते है, उसी प्रकार भक्त के सग से भी उस आनन्दमय जगदीश के हृदय में आनन्द की लहरी उठने लगती है। क्या भक्त और भगवान् भिन्न-भिन्न हैं? 'तस्मिन् तज्जन भेदाभावात्' (नारदसूत्र)।

सुदामाजी से श्रीकृष्ण पूछते है—कुछ उपायन लाय हो? भक्तजनो के द्वारा अर्पित की गयी थोडी भी चीज जो भगवान् बहुत बडी समझते है—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्यैव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ॥

सुदामा जी लज्जित होते हैं कि श्रीपति को भला ये चावल क्या दूं? परन्तु भगवान् लज्जाशील सुदामा की काँख से पोटली निकाल चावल खाने लगते हैं। जीव भी बडा लज्जित होता है कि उस जगदीश क सामने अपने सुकर्मों को क्या दिखलाऊँ, परन्तु भगवच्चरण मे अर्पित थोडा भी कर्म बडा महत्व रखता है। भगवान् उसके कियदश से ही भक्तजन के मनोरथ परिपूर्ण करने मे समर्थ हैं—सर्वस्व को स्वीकार कर समग्र त्रैलोक्य का आधिपत्य—स्वीय पद भी देन के लिये तैयार हो जाते हैं, परन्तु श्री—भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति-ऐसा करने नहीं देती। अस्तु, सुदामा को चाहिये क्या? वह तो इतन से कृतकृत्य हो

गया और उसने भगवल्लोक को प्राप्त कर लिया। भक्त को भी चाहिये क्या ? भगवान् की सन्निधि मे आकर अपने सञ्चित कर्मों को—'पत्र पुष्प' को—उन्हें अर्पण कर दिया। सुदामा की भाँति जीव कुछ देर तक सशय मे रहता है कि अर्पित वस्तु को जगदीश ने स्वीकार किया या नही, परन्तु जब जीव अपनी कुटिया—भौतिक शरीर को देखता है, तब उसे सर्वत्र चमकती हुई पाता है, जन्म-जन्म की मलिनता धुल जाती है, वह पवित्र भवन बन जाता है, जिसमे वह अपनी सुबुद्धि के साथ निवास करता हुआ विषयो से विरक्त रह परम सौख्य का अनुभव करता है। भगवान् की अनुकम्पा का फल देर से थोडे ही मिलता है! भक्तजन इसी शरीर मे उनका साक्षात् अनुभव करते है।

साधना करने वालो को सुदामा बनना चाहिये। हम अपने-अपने तण्डुल लेकर भगवान् के सामने चलें, वह करुणावरुणालय उसे अवश्य करेंगे, हमारा दुःख दूर कर देंगे, मायापाश से हमे अवश्य छुडा देंगे, परन्तु हम यदि सच्चे भाव से अपनी प्रत्येक इन्द्रिय को उसी की सेवा मे लगा दें। भागवत के इन पद्यरत्नो को स्मरण कीजिये—

> सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
> स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥
> शिरस्तु तस्योभयलिंगमानमेत् तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
> अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥

भगवान् के प्रति सर्वथा समर्पण मे ही जीव का परम कल्याण है। साधको की समस्त इन्द्रिया यदि उस मगल मूर्ति की आराधना म लगा दी जाँय, तो निःसन्देह ही उनका कल्याण होगा। पुराणों के दार्शनिक सिद्धान्तो का इसी मे पर्यवसान है।

(५) श्रीमद्भागवत में योगचर्या

भागवत का योग पौराणिक योग का एक अशमात्र है तथा योगशास्त्र के इतिहास को दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल योग के मध्य के काल मे आता है। भागवत मे भक्ति के साथ-साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया मिलता है। कई स्थलो पर योग-साधन की क्रियाओ का अप्रत्यक्ष रूप से सकेत मात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलो पर योग का प्रत्यक्षरूप से विशद विवेचन किया गया है। योग के अप्रत्यक्ष सकेत प्राय दो प्रसङ्गो मे किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्ति की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का सकेत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के छोडने का जहा

वर्णन है वहा भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का सक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषो के तपश्चरण तथा शरीर-त्याग के दोनो अवसरो पर विशेषरूप से योग की ओर सकेत किया गया मिलता है।

पहले योग-विषय में अप्रत्यक्ष निर्देशो की बात कही जायगी। ऐसे प्रसग भागवत के प्रथम स्कन्ध मे कई बार आये हैं[1]। नारदजी ने अपने जीवन-चरित से एक ऐसे प्रसङ्ग का उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियो के ससर्ग मे रहन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लडकपन मे ही उनकी माता का देहपात हो गया, तब नारदजी ने उत्तर दिशा म जाकर मुनियो के मुख से सुने गये भगवान् का साक्षात्कार करने का निश्चय किया। तब निजन स्थान मे उन्होने भगवान् के चरणकमलो मे अपना मन लगा कर ध्यान धरा जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्ग मे 'मन प्रणिधान'[2] जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है।

(२) नारदजी के उपदेश से व्यासजी ने भगवान् की विविध लीलाओ के वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्होने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम मे आसन मार कर भगवान् मे अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढग से समाहित हुआ कि उन्होन भगवान् का साक्षात्कार कर लिया[3]। आसन तथा मन प्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यासजी ने ऋषि मुनियो के अतिरिक्त पाण्डवो के साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का भी उस स्थान पर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने को आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की तथा अन्त समय मे भगवान् मे मन, वचन, दृष्टि की वृत्तियो से अपनी आत्मा को लगा कर अन्त श्वास लिया तथा शान्त हो गये।[4] इस प्रसङ्ग मे भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से छोडा, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खीच कर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण-त्याग करना योग की महत्त्व पूर्ण क्रिया समझी जाती है।

---

१ श्रीमद्भागवत १।६।१६,१७

२ श्रीमद्भागवत १।६।२०

३ श्रीमद्भागवत १।७।३४

४ श्रीमद्भागवत १।९।४२

(४) देवहूति साख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनि की पूजनीया माता थी। बहुत आग्रह करने पर कपिल ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होने अपना देहत्याग समाधि के द्वारा किया।[1]

(५) चतुर्थ स्कन्ध मे सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिवजी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को जला दिया था। गोसाईजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि मे सती के भस्म होने की बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजी ने एक श्लोक मे उसकी समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है।[2] इस पद्य की शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत चन्द्रिका-व्याख्या मे बडी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सती ने पहले आसनजय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्ग-सञ्चालन बिलकुल बन्द हो गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) मे रखा। अनन्तर नाभिचक्र से उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) मे ले आयी, निश्चय बुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) मे ले आयी। उदान को वही टिकाकर सती ने अपने अङ्गो मे वायु तथा अग्नि की धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णन में शरीर के विभिन्न चक्रो तथा तद्द्वारा वायु को ऊपर ले जाने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजी ने ध्रुव को आसन मार प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर कर समाहित मन से भगवान् के ध्यान करने का उपदेश दिया था।[3] ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया तथा अल्प समय मे ही वह भगवान् का साक्षात्कार करने मे समर्थ हुआ।[4] ध्रुव को नारद ने अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्य की भागवत-चन्द्रिका के देखने से लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' में यम-नियम का 'कल्पितासन.' मे आसन का, 'मल व्युदस्य' मे प्राणायाम तथा प्रत्याहार का, 'ध्यायेत्' मे ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण तथा ध्यान का विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोग का उपदेश है।

---

१ श्रीमद्भागवत ३।३३।२७
२. " ४।४।२५, २६
३ " ४।८।४४
४. " ४।८।७७

(७) दधीचि ऋषि से देवताओ ने वज्र बनाने के लिए उनकी हड्डियाँ माँगी तब लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को अंगीकार किया तथा इन्द्रिय प्राण मन और बुद्धि का नियमन कर परम योग का आश्रय लिया। उस समय उन्हे खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया।[1]

(८) वृत्र ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरण कमलो में मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राण छोड़े।[2]

(९) अदिति ने पयोव्रत नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यप को इस अद्भुत घटना का ज्ञान समाधियोग से बिना किसी के जनाये ही हो गया।[3]

(१०) श्रीकृष्ण के जीवनचरित मे अनेक प्रसङ्ग भागवत के दशम स्कन्ध मे वर्णित है जिनमे योग का आश्रय लेकर उन्होने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओ को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार ठहरे कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। अत अलौकिक घटनाओ को उत्पन्न करना उनकी शक्ति के एक कण का कार्य है परन्तु इन सब अद्भुत कार्यों की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से की थी इसका उल्लेख बारम्बार मिलता है। वह अनेक बार योगी तथा योगियो मे श्रेष्ठ योगेश्वरेश्वर बतलाये गये हैं। ब्रह्मा ने ग्वालो तथा गौओ को जब पर्वत की कन्दरा मे चुराकर रख छोड़ा था तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपो तथा गौओ मे परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था[4] वह योग की कायव्यूह सिद्धि का उज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण ने प्रबल दावाग्नि से गोपो की जो रक्षा की थी उसमे उनका योगवीर्य ही प्रधान कारण था।[5] रासलीला के समय मे वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायी उनमे उनका योगमाया का आश्रय लेना भी एक कारण था।[6] जब यादवो के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने भार विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक मे जाने का विचार किया उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम

१ श्रीमद्भागवत ६।१०।१२
२ ६।११।२१
३ ८।१७।२२
४ १०।१३।१९
५ १०।१९।१४
६ १०।२९।१

रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से बिना जलाये ज्यों के-त्यो अपने शरीर के साथ अपने लोक मे चले गये[1]। 'साधारण योगी अग्नि धारण से अपने शरीर को भस्म कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीर को बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाम मे चले गये[2]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जीवन चरित को आदि से अन्त तक व्यासजी ने योगसिद्धियो से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

योग का प्रत्यक्ष वर्णन

भागवत के तीन स्कन्धों मे योग का विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्ध के अध्याय १ तथा २ मे, तीसरे स्कन्ध के २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमे कपिलजी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश, और फिर एकादश स्कन्ध के अध्याय १३ म सनकादिकों को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोग का विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियो का वर्णन, अ० १९ मे यमनियमादि का वर्णन, अ० २८-२९ म यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग का।

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमे यम तथा नियम का सक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्ध के अध्याय १९ म यत्किंचित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रो म तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकार के ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवत में उनम से प्रत्येक के बारह भेद माने गये हैं।

यम के द्वादश भेद[3]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४)

---

१ सयोज्यात्मनि चात्मान पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥
लोकाभिरामा स्वतनु धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥

—(श्रीमद्भागवत ११।३१।५-६)

२. उक्त श्लोक की व्याख्या मे मान्य टीकाकारों म भी मतभेद दिखायी पडता है। श्रीधर स्वामी के 'अदग्ध्वा' पदच्छेद को मानकर वीर-राघव, विजयध्वज, जीव गोस्वामी आदि सब टीकाकारो ने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेव ने अपने सिद्धान्त-प्रदीप मे 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाग्निना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत् क अदृश्य होने की तरह भगवत्तनु के अन्तर्धान होने की बात लिखी है।

३. श्रीमद्भागवत ११।१९।३३

असङ्ग, (५) ह्री, (६) असचय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय ।

नियम के द्वादश भेद[१]—(१) शौच—बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन ।

इन यमो मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का छठाँ 'असचय') पातञ्जल दर्शन मे भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमो मे उसी भाति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवत का आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जल दर्शन मे भी है, शेष नये हैं।

आसन—यह योग का तीसरा अग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकात स्थान में आसन लगाना चाहिये। जहा कही हल्ला नही हो, निर्जनता के कारण शान्ति विराजती हो वैसा ही स्थान आसन लगाने के लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान-स्थान पर सकेत है। योग मे अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन से बैठे तथा उस समय अपने शरीर को बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

> गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।
> शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने ॥
>
> —(श्रीमद्भाग० २।१।१६)

'घर से निकाला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थों के जल मे स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान मे विधिपूर्वक बिछाये हुए आसन पर आसीन हो।'

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
> तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥
>
> —(३।२८।८)

'शुचि देश मे आसन लगा कर आसन को जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगा कर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोक मे श्रीधरस्वामी के अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारो ने 'स्वस्ति समासीन' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन से सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अत. भागवत मे किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थान पर टीकाकारो ने सकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनो की ओर निर्देश जान पड़ता है।

---

१. श्रीमद्भागवत ११।१९।३४

प्राणायाम—प्राणो का आयाम योग का चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।

—(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमे जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार, प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाम मे जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये। इन दोनो मे सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणो ने उसीके करने का उपदेश दिया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तर खण्ड के अध्याय सैंतीस मे इन दोनों के भेद तथा उपयोग का अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणयामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥ ३३ ॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकार का कहा गया है, जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिन प्राणसंयमम् ॥ ३४ ॥

'अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण सौगुना है। इस लिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराण मे अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम कहा गया है'। श्रीमद्भागवत मे भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही साथ अ-उ-म् से ग्रथित गुरु पर ॐकार की मन मे आवृत्ति करता जाय। ॐकार को बिना भुलाये अपने श्वास को जीते'—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल-रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार आग मे तपाये लोहे से मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥
—(३।२८।१०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवत के एकादश स्कन्ध मे 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रिय' (१४। ३३) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३। २८। ९) कह कर इससे उलटे क्रम से प्राणायाम करने की भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहा 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बाद को कुम्भक और अन्त मे पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्त कुम्भक तथा बहि कुम्भक। भागवत मे इन दोनो का वर्णन है तथा दोनो मे किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडी से पूरक करे तथा दाहिनी से रेचक करे अथवा इसका उल्टा दक्षिण नाडी से वायु भर कर वाम से रेचक करे। दोनो ही अर्थ योगाभ्यासियो को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनो काल मे—प्रात, मध्याह्न तथा साय—करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियम से प्राणायाम किया जाय तो एक मास के पूर्व ही साधक पवन को वश मे कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥
—(श्रीमद्भा० ११।१४।३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को जीत कर साधक अपनी इन्द्रियो को उनके तत्तद्विषयो से खींचे। इस कार्य मे सहायता देगा निश्चय बुद्धि वाला मन। मन के द्वारा निश्चय बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयो से खींच कर उन्हें एक स्थान पर रखने का यत्न करे। यह हुआ प्रत्याहार।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।
—(श्रीमद्भाग० २।१।१८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मयः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥
—(श्रीमद्भाग० ११।१४।४२)

धारणा—मन को एक वस्तु में टिकाने का नाम हुआ धारणा। भागवत म दो प्रकार की धारणा बतलायी गयी है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणों में भी नामभेद से बतलायी गयी हैं। भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हीं को विष्णुपुराण में (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है।[1] भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों का धारणा तथा ध्यान करने चाहिये। अत भागवतविहितधारणा के दो भेद हुए—

(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा।

सबसे पहले भगवान् के स्थूल रूप में ही धारणा तथा ध्यान लगावे। २ स्कन्ध के पहले ही अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का सुन्दर तथा साग वर्णन किया गया है। स्थूल होने के कारण मूर्त रूप म मन आसानी से लगाया जा सकता है। इस धारणा का नाम हुआ **वैराजधारणा**। जब यह धारणा साधक के हाथ मे आ जाय, तब अमूर्त रूप की धारणा करनी चाहिये। इस दूसरी धारणा—**अन्तर्यामि-धारणा** का अतीव सुन्दर वर्णन भागवत के अनेक स्थलो पर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्ध का दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्ध का अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्ध का चौदहवाँ अध्याय। इन वर्णनों का आशय[2] है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल वाले अधोमुख हृत्पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदल वाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे। कर्णिका म क्रमश सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मण्डल को रक्खे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालाधारी की मनमोहिनी मूरति का ध्यान धरे। भगवान् के इस सुहावने रूप का जैसा वर्णन भागवत मे मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

किसी वस्तु विशेष मे अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करे। प्रत्यय की एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवत म ध्यान क विषय मे बहुत कुछ कहा गया है। साराश यही है कि जब हृत्कर्णिका मे भगवान् के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्यक अग का ध्यान करना चाहिये। अगों का क्रम 'पादादि यावत् हसित गदाभृत' (चरणो से लेकर हँसते हुए मुख तक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अठाईसवें अध्याय मे देखने ही योग्य है। भगवान् के पैर के ध्यान स आरम्भ कर ऊपर बढता जाय और अन्त में मुख की मन्द मुसुकान के ऊपर अपना ध्यान जमा द—

---

१ विष्णुपुराण अ० ६ अ० ७।

२. श्रीमद्भागवत ११।१४।३६-३७

सञ्चिन्तयेत् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

—(३।२८।२१)

'उत्तम प्रकार से भगवान् के उस चरण-कमल का ध्यान करे जो चरण-कमल वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त है, तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्स्ना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को दूर किया है।'

× × ×

समाधि— ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है। उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमाचित होकर, उत्कण्ठा से आँसुओं की धारा मे नहाने वाला भगवान् का भक्त अपने चित्त को ध्येय पदार्थ से उसी भाँति अलग कर देता है, जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है—

'चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते'।

इस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् मे लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकार मे परिणत हो जाता है (भाग० ३।२८। ३४-३८)।

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरि मे जिसका पूर्ण प्रेम-भाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो बारबार उत्कण्ठा से उत्पन्न हुई अश्रुधारा मे नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकडने के काँटे) को भी धीरे-धीरे छोड देता है। ससार का आश्रय जिसने छोड दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन बत्ती जल जाने पर दीपशिखा के महज्ज्योति मे मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त होता है। निर्गुण का प्रवाह जिससे हट गया, ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नही देखता हुआ अखण्ड आत्म स्वरूप को प्राप्त होता है। वह पुरुष मन की इस चरम-निवृत्ति से सुख दुःख के बाहर उस महिमा मे लीन हुआ करता है और आत्म-स्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ ऐसा पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नही मानता तथापि सुख दुःख का जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।'

—(भाग० ३।२८।३४)

इस योग की यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लाव्यमान हृदय वाला परम भागवत है। बिना भक्ति के योगविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यास जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि योग का उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है— शरीर को केवल दृढ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान् में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥
—(श्रीमद्भागवत ११।२८।४१-४३)

श्रीमद्भागवत का योग के विषय में यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियों के लिये जगदाधार भगवान् में भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्म-सिद्धये॥
—(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

'अखिल आत्म-स्वरूप भगवान् में लगी हुई भक्ति के समान शिवः पन्था' कल्याणकारी मार्ग, योगियों के लिये ब्रह्म प्राप्ति में और कोई नहीं है।'

एकादश परिच्छेद

पुराणों का देश और काल

पुराणों का निर्माण किस स्थल पर हुआ और कब हुआ ? यह समस्या पौराणिक वैदुषी के लिए एक जीती जागती चुनौती है। साम्प्रदायिक मान्यता तो यह है कि महर्षि वेदव्यास ने प्राची सरस्वती के तीरस्थ अपने आश्रम में बैठकर ध्यानस्थ होकर समग्र पुराणों का प्रणयन किया—फलतः पुराणों के देश में ऐक्य के समान उनके काल में भी ऐक्य है। परन्तु ऐतिहासिक पद्धति के विद्वानों को यह सिद्धान्त कथमपि रुचिकर नहीं है। पुराणों ने इदमित्थं रूप से अपने निर्माण-क्षेत्र या प्रणयनस्थल का निःसन्दिग्ध रूप से निर्देश नहीं किया है, केवल विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र पर विभिन्न पुराणों की आस्था है, उसे ही वे भारतवर्ष में प्रकृष्ट क्षेत्र या तीर्थ मानते हैं। इस प्रकार की आस्था गाढ परिचयमूलक ही हो सकती है। पुराण का वह रचयिता उस तीर्थविशेष से या प्रान्त-विशेष से विशेष परिचय रखता है और इसीलिए वह उस स्थान पर इतना आग्रह दिखलाता है तथा इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करता है। इसी पद्धति से पुराण के देश का कुछ संकेत किया जा सकता है। नितान्त निर्णय तो एकदम असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव तो अवश्य है। इसी प्रकार की सूचनायें एकत्र कर पुराण के देश का यहाँ निर्देश प्रस्तुत किया जा रहा है।

काल का भी निर्णय एक विषम पहेली है। पुराणों की रचना का कालनिर्णय एक विषम समस्या है जिसका समाधान नितान्त कठिन है। इसका कारण अवान्तर शताब्दियों में पुराणों का संस्कार तथा प्रतिसंस्कार माना जाना चाहिये। मूलभूत पुराणों में कालान्तर में यत्र तत्र स्फुट श्लोक ही नहीं जोड़े गये, प्रत्युत अध्याय का अध्याय जोड़ा गया है। अनेक पुराणों में प्रतिसंस्कार की मात्रा ने मूलस्वरूप को सर्वात्मना आच्छादित कर लिया है। उनके मूलरूप की खोज निकालना बहुत अधिक गम्भीर अनुशीलन चाहता है। किन्हीं पुराणों में तो मूलरूप की आविष्कृति सम्भावना से परे की बात हो गई है। ऐसी स्थिति में पुराणों के मूलस्वरूप का समय निर्धारण नितान्त असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य है। सच तो यह है कि पुराणों के अध्यायों का ही नहीं, प्रत्युत उनमें निर्दिष्ट श्लोकों का भी अलग अलग समय का निरूपण किया जाना चाहिये। अतएव पुराणों के निर्माणकाल के विषय में इदमित्थं रूप से कहना कठिन है। केवल तारतम्य

परीक्षा के द्वारा दो पुराणों के बीच में किसी को इतर पुराणापेक्षया अर्वाचीन अथवा प्राचीन माना जा सकता है।

वस्तुस्थिति ऐसी ही है। तथापि कतिपय सिद्धान्त का संक्षिप्त निर्देश यहाँ किया जा रहा है जो इस विवाद-विषय का कथञ्चित् समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

कालनिर्णय के कतिपय नियामक साधन

(क) आवृत्त अंश वाले पुराण अनावृत्त अंश वाले पुराणों की अपेक्षा नूनं प्राचीनतर हैं। इस तथ्य का कारण भी अनिर्देश्य नहीं है। पहिले दिखलाया गया है कि पुराण-संहिता का मूल परिमाण केवल चार सहस्र श्लोक ही है। इसका विकास कालान्तर में अष्टादश पुराणों के रूप में सम्पन्न हुआ। फलतः कुछ प्राचीनतम सामग्री (श्लोकात्मक ही नहीं, अपितु अध्यायात्मक भी) कई पुराणों में आवृत्त होती गई है। इसके विपरीत अनेक पुराण किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की मान्यता को अग्रसर करने के उद्देश्य से निर्मित हुए हैं। फलतः ये अभिनव रचनायें हैं जिनका क्षेत्र नितान्त सीमित है। इसलिए उनके श्लोक अथवा अध्याय कहीं भी आवृत्त नहीं हुए। इस कसौटी पर कसने से विष्णु पुराण श्रीमद्भागवत की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है। विष्णु पुराण के अनेक अध्याय या तदंश मार्कण्डेय पुराण में तथा हरिवंश में एकाकार हैं। प्राकृत-वैकृतरूप नवसर्गों के वर्णन वाले श्लोक दोनों में एक ही हैं। विष्णु पुराण प्रथम अंश पञ्चम अध्याय चतुर्थ श्लोक से आरम्भ कर २६ श्लोक तक का अंश मार्कण्डेय अ० ४७ के १४ श्लो० से लेकर ३७ तक एक ही है। इसी प्रकार विष्णु० के इसी अध्याय के २८ श्लोक से आरम्भ कर अध्यायान्त भाग मार्कण्डेय का ४८ वाँ अध्याय है जिसमें देवादि स्थावरान्त सृष्टि का विवरण है। इसके विपरीत, श्रीमद्भागवत का कोई भी विशिष्ट अंश किसी भी पुराण में आवृत्त नहीं हुआ है। इसका एक छोटा अपवाद अवश्य है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध तृतीय अध्याय के २१ श्लोक (६–२६ तक) गरुड के पूर्वार्ध के प्रथम अध्याय में आवृत्त या उद्धृत हैं (गरुड १।१४—१।३४) यह अंश विष्णु के अवतारों का क्रमशः वर्णन करता है। परन्तु इससे हमारे मूल सिद्धान्त का विपर्यास नहीं होता कि विष्णु पुराण की अपेक्षा श्रीमद्भागवत अर्वाचीन है। इस तथ्य का पोषक एक अन्य प्रमाण भी अनुसन्धेय है। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट पुराण है जिसमें तत्सम्प्रदाय के मान्य तथ्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किये गये हैं। विष्णु पुराण किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त न होकर सामान्यतः विष्णु-माहात्म्य का प्रति-

एक महत्त्वपूर्ण पुराण है। इसीलिए मध्ययुगीय समग्र वैष्णव सम्प्रदायों का यह उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। जिस प्रकार श्रीवैष्णवो तथा माध्वो ने इससे स्वकीय अनेक सिद्धान्तो का ग्रहण तथा सपोषण किया उसी प्रकार गौडीय वैष्णवो ने भी अपने अनेक दार्शनिक तत्त्वो का आधार इसे ही बनाया। फलत इन दोनो साक्ष्य पर दोनो पुराणो के कालनिर्णय का तारतम्य भली-भाँति मिलाया जा सकता है। आवृत्त अध्यायो की अधिकता होन के कारण ही वायु तथा ब्रह्माण्ड प्राचीन पुराणो मे गिने जाते हैं।

(२) कभी कभी किसी विशिष्ट शब्द के विकृत परिवर्तन के हेतु भी पुराणो का कालतारतम्य निर्णीत किया जा सकता है। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसे समझना चाहिए। आभीर जाति का वर्णन महाभारत तथा पुराणो म अनेकत्र उपलब्ध होता है। महाभारत के मौशलपर्व मे ७ तथा ८ अ० इस विषय मे विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं। आभीरों का हथियार कोई धातुज शस्त्र न होकर लाठी तथा ढेला ही था। वे ग्राम मे ही रहते थे पञ्चनद (पजाब) वे धन्य-धान्यपूर्ण क्षेत्र म। गोपालन आभीरो का प्रधान व्यवसाय था। इनकी सख्या बहुत ही अधिक थी। फलत श्रीकृष्ण की स्त्रियो को उसी मार्ग से लौटाते समय आभीरो के हाथो से अर्जुन को पराजित होना पडा था। वेदव्यासजी के आश्रम पहुँचन पर उन्होने अर्जुन से हतप्रभ होने के कारण की जिज्ञासा की। इसी प्रसङ्ग म एक गूढार्थ श्लोक आता है—

नखकेश दशा कुम्भ वारिणा किं समुक्षित ।
आवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया।
युद्धे पराजितो यासि गतश्रीरिव लक्ष्यते ॥

— मौशल पर्व ८।५—६

किसी भी व्यक्ति को हतश्री बनाने वाले ऊपर निर्दिष्ट सात कारणो मे से 'आवीरजानुगमन अन्यतम कारण है। 'आवीरजा' का अर्थ नीलकण्ठ ने 'रज-स्वला' देकर छुट्टी ले ली। इस शब्द की पूरी व्याख्या इस प्रकार होगी—आविर् (भूत) रज यस्या सा आवीरजा[1] तस्या अनुगमन मैथुनम्। रजस्वला से तीन दिनों से पूर्व अनुगमन करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है। उसका आचरण-कर्ता नियमेन हतश्री होता है, इसम तनिक भी सन्देह नहीं।

विष्णुपुराण के पंचम अंश (३८ अध्याय) में यही प्रसग इसी रूप मे आया है जहां मौशलपर्व क श्लोकों की छाया है तथा कहीं-कहीं व्याख्या भी की गई है। ऊपर निर्दिष्ट श्लोक का रूप यहा इस प्रकार है—

---

१ 'आविर् + रज ' इत्यत्र 'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोप पूर्वस्य दीर्घोऽण ' इति सूत्रेण लोपपूर्वस्य इकारस्य दीर्घे आवीरजेति सिध्यति।

अवीरजोऽनुगमनं ब्रह्महत्या कृताऽथवा
दृढाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ।
—विष्णु ५।३८।३७

दोनों श्लोकों को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण के समय 'आवीरजा' शब्द अप्रसिद्ध होने से विस्मृतप्राय हो गया। फलत महाभारत का वह शब्द 'अवीरजोऽनुगमन' के रूप में आया जहाँ इसका अर्थ होता है— भेड़ों की धूलि का अनुगमन जो किसी प्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध भले ही हो, परन्तु मूलशब्द का विकृतरूप अवश्यमेव है। ब्रह्मपुराण के २१२ अ० में ठीक यही वर्णन विष्णुपुराण के समान श्लोकों में ही है, परन्तु उक्त श्लोक का परिवर्तित रूप इस प्रकार है —

अजारजोऽनुगमनं ब्रह्महत्याऽथवा कृता
जयाशाभङ्गदुःखीव भ्रष्टच्छायोऽसि साम्प्रतम् ॥
—ब्रह्म० २१२।३७

विष्णुपुराण का 'अवीरजोऽनुगमन' शब्द यहां लेखक को खटका और उसने झट से उसे बोधगम्यरूप में परिवर्तित कर दिया—अजारजोऽनुगमनम्।

निष्कर्ष—इस विशिष्ट शब्द के अर्थानुसन्धान करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कठिन मूल शब्द से बोधगम्य अर्थ निकालने के प्रयास में लेखकों ने उसे पूरे तौर पर बदल ही डाला है। जिन अंशों में यह श्लोक उपलब्ध होता है उनके काल के विषय में हम कह सकते हैं कि मौशलपर्व सबसे प्राचीन है। विष्णुपुराण उससे कालक्रम में हट कर है तथा ब्रह्मपुराण तो विष्णु से भी अवान्तरकालीन है।

(ग) पुराणों में निर्दिष्ट चरित्रों का तुलनात्मक समीक्षण भी उनके काल-निर्णय का एक साधन माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित की ही मीमांसा इस विषय में दृष्टान्तरूप से ली जा सकती है। यह चरित मूल में तो एकाकार ही है, परन्तु घटनाओं के विन्यास से इसका क्रमविकास भी अनुसन्धेय है। जितना कम विस्तार होगा किसी पुराण में, वह उतना ही प्राचीन होगा। मान्यता यह है कि प्राचीनपुराणों में कृष्णचरित की स्थूल कतिपय घटनायें हीं उल्लिखित हैं और अवान्तरकाल में श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा आकर्षण की अभिवृद्धि होने से उस चरित में नयी-नयी घटनायें जोड़कर उसे परिपुष्ट किया गया है। इस मान्यता को ध्यान में रखने पर उस कथा के वर्णनपरक पुराणों का कालनिर्णय भलीभाँति किया जा सकता है। उदाहरणार्थ विष्णुपुराण के पञ्चम अंश में श्रीकृष्ण का चरित केवल ३८ अध्यायों में

वर्णित है। इसमे किसी प्रकार के अलङ्कृत परिवृहण का उद्योग ग्रन्थकार की ओर से नही किया गया। रासलीला का प्रसग भी सक्षिप्त शब्दो म ही यहा दिया गया है (५।१३।१३–६४)। अब हरिवश म दिये गये श्रीकृष्ण चरित की इससे तुलना कीजिये। हरिवश नयी-नयी घटनाओ को जोडकर उसे परि बृहित करता है। हल्लीसक नृत्य का वणन अभिनव है। फलत यहा उस चरित का विकास स्पष्टत लक्षित होता है। श्रीमदभागवत प उस चरित म और भी नयी नयी बातो का समावेश लक्षित होता है। विशेषत गोपियो का प्रसग, उद्धव द्वारा सदेश भेजने तथा गोपियो के समझान का प्रसग यह सब श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण वणन का प्राण है। तथ्य यह है कि भागवत ने उस चरित में विलक्षण माधुरी तथा सौन्दय की सृष्टि की है। विष्णुपुराण में वह केवल ऐतिहासिक चरित के समान ही केवल घटना प्रध न नीरस है। भागवत मे वह चरित घटना प्रधान न होकर रस प्रधान हो गया है। यही उसक विकास की दिशा है। इन तीनो ग्रन्थो में अभी राधा के चरित की सूक्ष्म सूचना होन पर भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नही है। यह अभिव्यक्ति ब्रह्मवैवत में स्फुटतर हो जाती है। यहा राधा का प्रमुत्व तथा माहात्म्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा भी अधिक सारवान् प्रतीत होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण चरित के विकास क्रम को लक्ष्य कर इन चार पुराणो का काल क्रम सिद्ध होता है—विष्णुपुराण (सब से प्राचीन)—हरिवश—श्रीमदभागवत—ब्रह्मवैवत (अवरोह क्रम से) फलत विष्णुपुराण इस पुराण-चतुष्टयी में प्राचीनतम है तथा ब्रह्मवैवत नवीनतम। अन्य प्रख्यात चरितो के भी विकासक्रम का समीक्षण इसी प्रकार उपादेय और उपयोगी माना जा सकता है।

(घ) पुराणो का अ तरङ्ग परीक्षण भी उनके समय निर्माण के लिए विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। अनेक पुराणो ने विशषत विश्वकोश की समता वाले पुराणा न अपनी विविध सामग्री का सकलन विभिन्न प्रामाणिक तत्तत् शास्त्रीय ग्रन्थो स किया है कही बिना नामोल्लेख किय ही और कहा पर नामोल्लेख के साथ। फलत इन मूलग्रन्थो के साक्ष्य पर इन पुराणो का काल निर्देश सुचारु रूप से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—अग्नि० का काव्य विवेचन (३३७ अ०, ३४६–३४७ अ०) दण्डी के काव्यादर्श पर अधिकतर आश्रित है। फलत उस अश की दण्डी से उत्तरकालीन होना निश्चित है। गरुडपुराण न कितने ही अध्यायो (९३-१०६ अ०) में याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर धर्मशास्त्रीय विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है। फलत यह भाग द्वितीय-तृतीय शती के अनन्तर का है जब याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण हुआ। इसी प्रकार शिवपुराण में दो शिवसूत्रो का तथा उनके ऊपर

निर्मित वार्तिक ग्रन्थ का नाम्ना निर्देश किया है। फलत शिवपुराण की रचना शिवसूत्रों के तथा वार्तिक की रचना के अनन्तर हुई। शिवसूत्रों के रचयिता वसुगुप्त का समय ८००–८२५ ई० तथा उनके वार्तिककार भास्कर का समय ८५० ई० है। इन ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख से शिवपुराण नवम शती से प्राचीन नहीं हो सकता। उधर अलवरूनी (१०३० ई०) ने पुराणों की सूची में शिवपुराण को उसमें अन्यतम स्थान दिया है। इन दोनों के बीच में आविर्भूत होने से शिवपुराण का समय दशम शती का अन्त मानना सर्वथा न्याय्य प्रतीत होता है।

(ङ) बहिरंग साक्ष्य के ऊपर भी पुराणों का काल निरूपण किया जा सकता है। महाभारत ने 'वायुप्रोक्त पुराण' का स्पष्ट निर्देश किया है (वनपर्व १९१ अ०, १६ श्लो०) तथा उसे अतीतानागत विषयों का प्रतिपादक भी स्वीकृत किया है। यह स्पष्टत आजकल प्रचलित वायुपुराण का संकेत करता है जिसमें अतीत काल की घटनाओं के वर्णन के संग अनागत = भविष्य काल के राजादिकों के वृत्त भी वर्णित हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में वायुपुराण के स्वरूप का तथा लोक प्रचलित प्रवचन का भी उल्लेख किया है। इसमें स्पष्टत हर्षचरित (सप्तमशती का पूर्वार्ध) तथा महाभारत (लगभग द्वितीय शती) से प्राक्कालीन होने के कारण वायुपुराण का समय द्वितीय शती से पूर्व ही मानना चाहिए। सप्तमशती से तो वह कथमपि पीछे नहीं लाया जा सकता[1]।

धर्मशास्त्रीय निबन्धों में पुराणों के वचन उद्धृत किये गये हैं तत्तत् विषय की पुष्टि में प्रमाण देने के लिए। इससे भी उनके समय का निरूपण किया जा सकता है। अरब यात्री अलवरूनी ने अपने समय में (११ शती का पूर्वार्ध) उपलब्ध पुराणों की सूची दी है जिसमें उन पुराणों की प्राक्कालीनता स्वयं ही अनुमेय है। इन निबन्धकारों में जयचन्द्र (१२ शती का उत्तरार्ध) के सभापण्डित लक्ष्मीधर भट्ट का अनेक खण्डों में विभक्त 'कृत्यकल्पतरु' प्राचीन निबन्ध माना जाता है – द्वादशशती की रचना। इसमें उद्धृत होने वाले पुराणों की इससे पूर्वकालीनता स्वत सिद्ध हो जाती है। इतना ही नहीं, इन निबन्धकारों ने पुराणों के विषयों में बड़े सुन्दर विवेचन भी किये हैं जिनसे उस युग की प्रवृत्ति का पूरा परिचय लगता है।

बल्लालसेन ने अपने प्रख्यात निबन्ध दानसागर में पुराणों के विषय में बड़ी मार्मिक समीक्षा की है। इससे भी उनके रूप का, श्लोक परिमाण का तथा

---

१ इस विषय में विशेष द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १०१–१०३ जहाँ वायु० के समय का निरूपण विस्तार से किया गया है।

रचनाकाल का परिचय आलोचको को मिल ही जाता है। बल्लालसेन के द्वारा स्पष्ट सकेतित होने से ही अष्टादश पुराणो मे श्रीमद्भागवत को ही पुराण मानना पडता है तथा देवीभागवत को उपपुराण। बल्लालसेन की समीक्षा से पुराणो का स्वरूप का तथा उनके प्रामाण्य-अप्रामाण्य का पूरा परिचय परीक्षक को मिल जाता[1] है।

(च) कलिराजाओ के वृत्तवर्णन के आधार पर भी पुराणो का काल निर्देश किया जा सकता है। पार्जीटर ने इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन कर भविष्य पुराण के कलिराजाओ के वृत्त को मूलभूत तथा प्राचीनतम माना है। इसी का उपबृंहण कालान्तर मे मत्स्य वायु तथा ब्रह्माण्ड के भविष्य वर्णन म अर्थात् कलियुग के शासको के विषय में उपलब्ध होता है। विष्णु तथा श्रीमद्भागवत में उपलब्ध यह विवरण भविष्य के ही आधार पर है परन्तु अवान्तरकालीन सक्षिप्त विवरण है।

भविष्य मे इस ऐतिहासिक वृत्त का सकलन आन्ध्र नरेश यज्ञश्री के समय म द्वितीयशती के अत म किया गया। यह विवरण कालान्तर मे अन्य पुराणो मे गृहीत हुआ, तब उसे परिबृंहित करने तथा अपने काल तक लाने का प्रयास किया गया। जब भविष्य-पुराणीय विवरण मत्स्यपुराण म गृहीत हुआ तब उसम २६० ईस्वी तक का वृत्त आन्ध्र वश के अन्त तक का निश्चित रूपण जोड दिया। आगे बढकर वायु तथा ब्रह्माण्ड म ग्रहण के अवसर पर वही विवरण गुप्त साम्राज्य के आरम्भिक उदय तक अर्थात् ३२५ ईस्वी तक बढ़ा दिया तथा सक्षिप्त रूप प्रस्तुत होने पर विष्णु तथा भागवत म यही विवरण गृहीत हुआ। पुराणो म कलिराजाओ के ऐतिहासिक वृत्त के स्वीकरण की यही सामान्य रूपरेखा है। इसे विशेष रूप से समझा जा सकता है।

मत्स्य पुराण (२७३।१७-२६) म आन्ध्र गर्दभिल्ल शक मुरुण्ड यवन म्लेच्छ, आभीर तथा किलकिलो का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष म इन विदेशीय जातियों का शासन कुषाण राज्य के ध्वस होने पर द्वितीय तृतीय शती के बाद हुआ—यह तो इतिहासविदो को ज्ञात ही है। आन्ध्र राज्य की समाप्ति २३६ ईस्वी म हुई—तब तक आन्ध्र नरेशो का पूरा वृत्त मत्स्यपुराण म गृहीत हुआ है। मत्स्य इसके आगे नहीं बढ़ता। आन्ध्रनरेश का विश्वसनीय इतिहास प्रस्तुत करना मत्स्यपुराण की अपनी विशिष्टता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड विस्तार से तथा विष्णु और भागवत सक्षेप म ही गुप्तो के

---

1 इसका परिचय पूर्णरूप से इसी ग्रन्थ के अध्याय तीन म तथा पृष्ठ १२० १२४ पर दिया गया है।

शासनक्षेत्र का वर्णन करते हैं जब वह वश प्रयाग, साकेत (अयोध्या), तथा मगध के ऊपर शासन कर रहा था। गुप्तवंश के महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम (समय, ३२० ई०—३२६ ई०) के राज्य विस्तार का यह सकेत करता है। प्रयाग की प्रशस्ति म समुद्र गुप्त के दिग्विजय का विस्तृत विवरण है। भारतवर्ष के समग्र प्रान्त गुप्तराज्य के अन्तर्गत इस समय तक आ गये थे—इसका परिचय यहाँ मिलता है। यदि पुराण समुद्रगुप्त के इस दिग्विजय से परिचित होन, तो व प्रयाग—अयोध्या—मगध तक ही गुप्तराज्य को सीमित बतलाने की धृष्टता नहीं करन। फलत यह वर्णन ३३० इस्वी से प्रथम, समुद्र गुप्त के दिग्विजय से पूर्व ही गुप्तो का सकेत करता है।

इस एतिहासिक वृत्त के वणन से समय का निर्देश किया जा सकता है—(क) भविष्य का रचना काल द्वितीय शती का अन्त है, (ख) मत्स्यपुराण का निर्माण तृतीय शती के आरम्भ अथवा २३६ ईस्वी तक हो चुका था, (ग) वायु तथा ब्रह्माण्ड गुप्तराज्य के आरम्भ काल तक समाप्त हो चुका था, (घ) विष्णु पुराण का कलिवृत्त प्रकरण भी इसी युग का सकेत करता है (ङ) श्रीमद्भागवत भी, जैसा अन्य पोषक प्रमाण से सिद्ध होता है, गुप्तकाल की ही रचना है। कुछ भाग पीछे के भले हों, परन्तु षष्ठशती स पूर्व यह समाप्त हो चुका था।

इन निर्णायक साधकों के द्वारा पुराणो का कालक्रम से विभाजन हो सकता है। जब हम कहते हैं कि अमुक पुराण प्राचीन है, तब हम किसी पुराण की अपक्षा ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं। पुराणो की तीन श्रेणियाँ हैं—(क) प्राचीन प्रथम शती से लेकर ४०० ईस्वी तक। इसके अन्तर्गत हम वायु, ब्रह्माण्ड मार्कण्डेय, मत्स्य तथा विष्णु को रखते हैं। (ख) मध्यकालीय—इस श्रेणी म हम श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द, पद्मपुराण को रखते हैं (५०० ई०—९०० ई०) तथा (ग) अर्वाचीन—इस श्रेणी मे हम ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, लिङ्ग आदि (९०० ई०—१००० ई०) को रखते हैं। यह तो हुई सामान्य विवेचना। अब हम प्रत्येक पुराण के देशकाल का निर्णय करने का आगे प्रयत्न कर रहे हैं। वायु तथा विष्णु को लेकर सर्वपुराणो मे प्राचीनतम मानने क पक्ष म हैं। इस विषय म विशिष्ट प्रमाण आगे उपन्यस्त किये गये हैं।

(१) ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण ही अष्टादश पुराणों म अग्रिम तथा प्रथम माना गया है। इसके देश के विचार प्रसग मे यह ध्यातव्य है कि यह पुराण पृथ्वीतल मे सर्वश्रेष्ठ देश भारतवर्ष को मानता है तथा उस भारत म भी सर्वश्रेष्ठ तीर्थ दण्डकारण्य है। दण्डकारण्य के भीतर ही होकर गौतमी या गोदावरी नदी प्रवाहित होती है जो

नदियो में मुख्य है। इस नदी के तीरस्थ तीर्थों का ही सूक्ष्म विवरण पूरे १०६ अध्यायो मे (प्र० ६९ अ०-१७५ अ०) ब्रह्मपुराण करता है। इस विवरण से पुराणकार का दण्डकारण्य तथा विशेषत. गोदावरी-प्रदेश पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। अत इन अध्यायो का रचना-देश निश्चित रूप से गौतमी (या गोदावरी) प्रदेश ही प्रतीन होता है। एतद्-विषयक दो तीन श्लोक प्रमाण मे उद्धृत किये जाते हैं —

पृथिव्यां भारतं वर्षं दण्डकं तत्र पुण्यदम्।
तस्मिन् क्षेत्रे कृतं कर्म भुक्ति-मुक्तिप्रदं नृणाम् ॥ १८ ॥
तीर्थानां गौतमी गङ्गा श्रेष्ठा मुक्तिप्रदा नृणाम्।
तत्र यज्ञेन दानेन भोगान् मुक्तिमवाप्स्यति ॥ १९ ॥

—८८ अ०

यह गौतमी नदी दण्डकारण्य की नदियो मे सर्वश्रेष्ठ है—

श्रूयते दण्डकारण्ये सरित् श्रेष्ठास्ति गौतमी।
अशेषाघप्रशमनी सर्वाभीष्टप्रदायिनी ॥ ६२ ॥

—१२९ अ०

उड़िया शब्द के प्रयोग से ग्रन्थकार का इस प्रदेश से गाढ़ परिचय रखना स्वत सिद्ध होता है। फलत लेखक की दृष्टि मे ब्रह्मपुराण के आरम्भिक अश की रचना का देश उत्कल माना जा सकता है।

इस पुराण में २४५ अध्याय हैं तथा १३७८३ श्लोक (आनन्दाश्रम सस्करण मे) हैं। इस पुराण मे तीर्थों का माहात्म्य बड़े विस्तार से वर्णित है और माहात्म्य प्रसग मे ही तीर्थ-सम्बन्धिनी प्राचीन कथा का भी समुल्लेख रुचिरता स किया गया है। डा० हाजरा का कथन है कि जीमूतवाहन, बल्लालसेन तथा देवण्णभट्ट द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराणीय श्लोक प्रचलित ब्रह्मपुराण मे उपलब्ध नही होते। इस पुराण ने महाभारत के ही नहीं, प्रत्युत विष्णु, वायु तथा मार्कण्डेय के अनेक अध्यायो को अक्षरश अपने म सम्मिलित कर दिया है। इसलिए यह ब्रह्मपुराण मूलपुराण न होकर कालान्तर मे विरचित प्रक्षेप-विशिष्ट पुराण है। इन प्रक्षेपो की छानबीन की जा सकती है। यह पुराण मूल रूप से १७५ अ० मे ही समाप्त हो जाता है जहाँ गौतमी गङ्गा का विशद माहात्म्य अपने पर्यवसान पर पहुँच जाता है। उसी अध्याय के अन्त मे (८८–९० श्लोक) इस पुराण के श्रवण तथा दान का माहात्म्य वर्णित है जो निश्चित रूप से पुराण के अन्त में ही किया जाता है। फलतः १७६ अ० से लेकर अन्तिम २४५ अ० पीछे से जोड़ा हुआ अश है। निबन्धकारों में इसकी लोकप्रियता पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। कल्पतरु ने कम से कम पन्द्रह सौ श्लोक इसके उद्धृत किये हैं जिनमें से केवल नव श्लोकों का पता उसके सम्पादक को लग सका है। श्राद्ध के विषय में सैकड़ो श्लोक यहाँ उद्धृत हैं। कल्पतरु में इसी पुराण से सर्वापेक्षा अधिकतम श्लोक उद्धृत हैं। वायु तथा मत्स्य का नम्बर तो इसके बाद आता है। परन्तु इन श्लोकों की प्रचलित पुराण में उपलब्धि न होने से इसके वर्तमान रूपको अधिकतर प्रक्षेप-विशिष्ट मानना कथमपि अन्याय्य नहीं है। प्रचलित ब्रह्मपुराण के अनेक तीर्थ-विषयक श्लोक (४६ अ० से आगे वाले अश के) तीर्थचिन्तामणि में उद्धृत हैं। इसके लेखक वाचस्पति का समय १४२५ ई०–१४९० ई० अर्थात् १५वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। फलत प्रचलित ब्रह्म की रचना का काल इससे पूर्व १३ शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(२) पद्मपुराण

इसकी दो वाचनायें विद्यमान हैं (१) उत्तर भारतीय वाचना, (२) दक्षिण भारतीय वाचना। प्रथम के अनुसार यह पाच खण्डों मे विभक्त है और दूसरी वाचना

भाषा का न होकर कोलभीलों की भाषा का कोई स्थानीय शब्द है। जगन्नाथ जी का वर्तमान मन्दिर १५ वीं शती से प्राचीन भले ही न हो, परन्तु उनकी पूजा तो बहुत प्राचीन है।

के अनुसार, जो आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज में तथा वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित है, छ खण्डो मे विभक्त हैं—जिनके नाम हैं—आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। यह निश्चयेन उत्तरकालीन वाचना है। पूर्वकालीन वाचना बगीय हस्तलेखो के आधार पर पाँच खण्डो मे विभक्त है—सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल तथा उत्तर[1]खण्ड। मत्स्य तथा पद्म के सैकडो श्लोक दोनो मे समान रूप से पाये जाते हैं। हेमाद्रि ने पद्म से लम्बे उद्धरण इन श्लोको का अपने ग्रन्थ मे दिया है, जब दूसरे निबन्धकारो ने इन्ही श्लोको को मत्स्य पुराण का वचन मान कर उद्धृत किया है। इन दोनो मे से कौन किसका अधमर्ण है? मत्स्य में धर्मशास्त्रीय विषयो का प्राचुर्य है तथा निबन्धो मे उसके उद्धरणो का आधिक्य है। फलत काणे महोदय की सम्मति मे पद्म ही मत्स्य के श्लोकों को अपने मे उद्धृत करने वाला अधमर्ण प्रतीत होता है। आनन्दाश्रम से प्रकाशित पद्मपुराण मे अध्यायो की सख्या ६२८ हैं तथा श्लोको की ४८,४५२ जो नारद पुराण मे निर्दिष्ट सख्या से बहुत घट कर न्यून है। निबन्ध मे कल्पतरु ने पद्मपुराण से नाना विषयो के श्लोक प्रामाण्य मे उद्धृत किया है। इस भारी भरकम पुराण का मूलरूप क्या था? इस प्रश्न का उत्तर देना नितान्त कठिन है। विद्वानो ने इसकी अन्तर्गत कथाओ का समीक्षण कर उनमे अनेक को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है। डाक्टर लूडर्स का कथन है कि पद्मपुराणान्तर्गत (पातालखण्ड मे) ऋष्य शृग की कथा महाभारत मे उपलब्ध वन पर्व (११० अ०—११२ अ०) मे वर्णित उस कथा से प्राचीनतर है। अन्य विद्वान् पद्म पुराण मे वर्णित तीर्थयात्रा प्रकरण को महाभारत (वन पर्व) मे वर्णित तीर्थयात्रा प्रसग से प्राचीनतर मानते हैं।

पद्मपुराण तथा कालिदास मे परस्पर सम्बन्ध क्या था? वगीय हस्तलेखो मे उपलब्ध वाचना के अनुसार पद्मपुराण के स्वर्ग खण्ड (तृतीय खण्ड) मे शकुन्तला का उपाख्यान वर्णित है जो महाभारतीय उपाख्यान से न मिल कर कालिदास के 'अभिज्ञान शकुन्तल' नाटक से अपूर्व समता रखता है। डा० विन्टरनित्स तथा डा० हरदत्त शर्मा इस प्रसग मे कालिदास को पद्मपुराण का अधमर्ण स्वीकार करते हैं[2] अर्थात् कालिदास ने यह कथावस्तु पद्मपुराण मे गृहीत

---

१. इन खण्डों के विषय का सक्षेप देखिए—
ज्वालाप्रसाद मिश्र · अष्टादश पुराण दर्पण पृ० ७५-९६ डा० विन्टरनित्स हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर।　　—प्रथम भाग पृष्ठ ५३६—५४४।

२ द्रष्टव्य डा० हरदत्त शर्मा · पद्मपुराण एण्ड कालिदास, कलकत्ता १९२५ (कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज, स० १७)
डा० विन्टरनित्स : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर पृ० ५४०।

की है—यही तथ्य मानते हैं। इस विषय में लेखक का मन्तव्य है कि किसी भी पौराणिक कथानक में नायिका के साथ उसकी सगिनी के रूप में एक ही सखी का होना पर्याप्त है, दो सखियों की आवश्यकता क्यों? अत दो सखियो का यहा होना सर्वथा अस्वाभाविक है, पुराण की शैली से सर्वथा विरुद्ध तथा असगत। अत पद्मपुराण को ही इस विषय में कालिदास का अधमर्ण मानना सर्वथा न्याय्य तथा समुचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कालिदास के अभिज्ञान शकुन्तल पर आश्रित होने से स्वर्गखण्ड का तथा सम्पूर्ण पद्मपुराण की रचना का काल पञ्चम शती मे अर्वाचीन ही मानना उचित है। यह प्रचलित पद्मपुराण का निर्माण काल है। मूल पद्मपुराण को इससे प्राचीन होना चाहिये।

नागरी मे मुद्रित उत्तरखण्ड[1] तथा वगीय हस्तलेखो में प्राप्त अमुद्रित वगीय वाचनानुसार उत्तरखण्ड मे महान् पार्थक्य है। यह पार्थक्य परिमाण के सग-साथ मे निर्माणकाल के विषय मे भी है। मुद्रित उत्तरखण्ड मे २८२ अध्याय हैं और वगीय हस्तलेखो मे केवल १७२ अध्याय हैं। 'उत्तरखण्ड' स्वय इस तथ्य का द्योतक है कि यह खण्ड मूलपुराण में पीछे से जोडा गया है, परन्तु कितना पीछे? इसका उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। वगीय कोश वाला उत्तरखण्ड तो मुद्रित उत्तरखण्ड से भी अवान्तरकालीन है। यह श्रीमद्भागवत का तथा राधा का ही उल्लेख नहीं करता, प्रत्युत रामानुज मत का भी उल्लेख करता है। अत यह श्री रामानुज से प्राचीन नहीं हो सकता। इस खण्ड मे द्रविड देश के एक वैष्णव राजा की कथा दी गई है जिसने पाषण्डियों अर्थात् शैवो के मिथ्या उपदेशो के प्रभाव मे आकर अपने राज्य से विष्णु मूर्तियों को फेंक दिया, वैष्णव मन्दिरों को बन्द कर दिया और प्रजा को शैव होने के लिए बाध्य किया। श्री अशोक चैटर्जी का कथन है कि यह कुलोत्तुङ्ग द्वितीय का सकेत करता है जो शैवो के प्रभाव से उग्र शैव बन गया था। उसे राज्यसिंहासन पाने का समय ११३३ ईस्वी है जिससे इस खण्ड को उत्तरकालीन होना चाहिये। हित-हरिवश के द्वारा १५८५ ई० मे प्रतिष्ठित राधावल्लभी सम्प्रदाय मे राधा का ही प्रामुख्य है जिसका प्रभाव उक्त लेखक इस खण्ड पर मानते हैं। फलत उनकी दृष्टि मे यह उत्तरखण्ड १६ वीं शती के पश्चात् की रचना है।[2]

---

१ 'उत्तरखण्ड' के स्वरूप तथा विषयों के लिए द्रष्टव्य पुराणम् (भाग तृतीय, १९६१) पृष्ठ ४३-६०।

२ द्रष्टव्य Some observations on the Date of the Bengali Recension of the Uttara Khanda of the Padma Purana—Purana Bulletin (All India Kashiraja Trust) —भाग ५ पृष्ठ १२२-१२६

(३) विष्णुपुराण

पुराण साहित्य मे विष्णुपुराण का गौरव सातिशय महनीय है। नारदीय पुराण मे इसका विस्तार २४ सहस्र श्लोको का बतलाया गया है, बल्लालसेन ने भी इसके २३ हजार श्लोकों वाले सम्प्रदाय का उल्लेख किया है; विभिन्न टीकाकारो ने भी इसके विभिन्न श्लोक-परिमाणो का स्पष्ट संकेत किया है, परन्तु यह आजकल छ सहस्र श्लोको का ही उपलब्ध होता है। और इसी संस्करण के ऊपर तीनो व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं—श्रीधर स्वामी की, विष्णुचित्त की (विष्णुचित्तीय) तथा रत्नगर्भ भट्टाचार्य की (वैष्णवाकूतचन्द्रिका)। इन व्याख्याओं की सम्पत्ति से ही इसका माहात्म्य नही प्रकट होता, प्रत्युत वैष्णव मत के समधिक दार्शनिक तथ्यों से मण्डित होने से भी इसका गौरव है। छोटा होने पर भी विषयप्रतिपादन मे महनीय है, क्योकि इसमे पुराण के पाचो लक्षण बडी सुन्दरता से उपन्यस्त हैं। इसके वक्ता पराशरजी हैं जिन्होने मैत्रेय का इस पुराण का प्रवचन किया।

ब्रह्माण्ड के सात श्लोको (३।६८।९७-१०३) मे से पाँच श्लोक (ययाति के तृष्णा-विषयक वचन) विष्णु (४।१०।२३-२७) मे भी वे ही हैं जो ब्रह्मपुराण (१२।४०-४६) मे भी मिलते हैं। इन सबो का मूल स्थान सभवत महाभारत का आदि पर्व है (७५।४४)। याज्ञवल्क्य (३।६) पर मिताक्षरा विष्णु० से लगभग १४ श्लोक नारायण बलि के विषय में उद्धृत करती है। कल्पतरु, अपरार्क तथा स्मृति चन्द्रिका ने कई सौ श्लोको को उद्धृत किया है। काव्यप्रकाश मे विष्णुपुराण के दो श्लोक[1] उद्धृत है जिसमे किसी गोपकन्यका द्वारा श्रीकृष्ण की गाढ अनुरक्ति के कारण मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। विष्णुपुराण मध्ययुगीय वैष्णव सम्प्रदायो का समभावन उपजीव्य ग्रन्थ है। श्रीरामानुज, श्री मध्वाचार्य तथा श्री चैतन्य ने अपने अनेक विशिष्ट मतो का आधार विष्णुपुराण में निर्दिष्ट तथ्यो को बनाया है।

विष्णुपुराण का समय

विष्णुपुराण के आविर्भाव-काल के विषय मे विद्वानो मे विभिन्न मत है, परन्तु कुछ ऐसे नियामक साधन हैं जिनका अवलम्बन करने से हम समय का निर्देश भली-भांति कर सकते हैं—

(क) कृष्णकथा की दृष्टि से—भागवत तथा विष्णु की तुलना का परिणाम इस परिच्छेद के आरम्भ में ही दे दिया गया है। दोनो मे

---

१ तद् प्राप्ति तथा चिन्तयन्ती० विष्णु के ५।१३।२१-२२ श्लोक है जो काव्यप्रकाश के चतुर्थ में रसध्वनि के उदाहरण हैं।

पार्थक्य यह है कि विष्णु जहाँ ध्रुव, वेन, पृथु प्रह्लाद, जडभरत के चरित को सक्षेप मे ही विवृत करता है, वहाँ भागवत उनका विस्तार दिखलाता है। कृष्ण लीला के विषय मे ही यही वैशिष्ट्य लक्ष्य है। फलत. विष्णु भागवत से प्राचीन है।

(ख) ज्योतिष विषयक तथ्यों के आधार पर भी विष्णु का समय निर्णीत है। विष्णु (२।९।१६) मे नक्षत्रों का आरम्भ कृत्तिका से करता है[1] और वराह मिहिर (लगभग ५५० ई०) के साक्ष्य पर हम जानते हैं कि उनसे प्राचीन-काल में नक्षत्रों का जो आरम्भ कृत्तिका से होता था वह उनके समय में अश्विनी मे हो गया। फलत कृत्तिकादि ऋक्ष का प्रतिपादक विष्णु नियमेन ५०० ईस्वी से प्राचीन है। इसी प्रकार राशि का भी उल्लेख विष्णु मे अनेकत्र है (२।८।२८[2], २।८।३०, २।८।४१–४२, २।८।६२ ६३)। ज्योतिर्विदो की मान्यता है कि सर्वप्रथम सस्कृत ग्रन्थो में याज्ञवल्क्य स्मृति मे राशियो का समुल्लेख उपलब्ध है और इस ग्रन्थ का रचना काल है द्वितीय शती। फलत विष्णु पुराण द्वितीय शती से प्राचीन नही हो सकता[3]।

(ग) वाचस्पतिमिश्र (८४१ ई०) ने योगभाष्य की अपनी टीका तत्त्व-वैशारदी मे २।३२, २।५२, ३।५४ मे विष्णु पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है तथा १।१९, १।२५, ४।१३ मे वायुपुराण के वचन उद्धृत किये हैं। 'स्वाध्यायाद् योगमासीत' इस भाष्य की टीका मे वे लिखते हैं—अत्रैव वैयासिकी गाथामुदाहरति अर्थात् वाचस्पति की दृष्टि मे व्यासभाष्य मे उद्धृत 'स्वाध्यायाद् योगमासीत्' व्यास का वचन है। और यही श्लोक विष्णु पुराण के षष्ठ अश ६ अ० के द्वितीय श्लोक के रूप मे मिलता है। योगभाष्य का एक-वचन (३।१३–तदेतद् त्रैलोक्य आदि) न्यायभाष्य मे उपलब्ध है (१।२।६) जिससे योगभाष्य का समय वात्स्यायन के न्यायभाष्य के समय (द्वितीय-तृतीय शती) से प्राचीनतर होना चाहिए। योगभाष्य में वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर उद्धृत होने के कारण विष्णु पुराण को प्रथमशती से पूर्व मानना सर्वथा

१. कृत्तिकादिषु ऋक्षेषु विषमेषु च यद्दिवः
दृष्टार्कं पतित ज्ञेय तद् गाङ्ग दिग्गजोज्झितम्।

— विष्णु २।९।१६.

२ अयनस्योत्तरस्यादौ मकर याति भास्करः
ततः कुम्भं च मीन च राशे राश्यन्तरं द्विज ॥

—विष्णु २।८।२८

३ द्रष्टव्य Dr Hazara का लेख 'The date of Vishnu purana (भण्डारकर पत्रिका भाग १८ (१९३६ ३७ में)

उचित प्रतीत होता है। ऊपर कलियुग के राजाओं के वर्णन-प्रसङ्ग में विष्णु गुप्तों के आरम्भिक इतिहास से परिचय रखता है जब वे साकेत (अयोध्या), प्रयाग तथा मगध पर राज्य करते थे। यह निर्देश चन्द्रगुप्त प्रथम (३२० ई०-३२६ ई०) के राज्यकाल में गुप्त राज्य की सीमा का द्योतक माना जाता है। फलतः विष्णु पुराण का समय १०० ई०—३०० ई० तक मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

(घ) विष्णुपुराण की प्राचीनता के विषय मे तमिल साहित्य के एक विशिष्ट काव्यग्रन्थ से बडा ही दिव्य प्रकाश पडता है। ग्रन्थ का नाम है—*मणिमेखलै* जिसमे मणिमेखला नामक समुद्री देवी के द्वारा समुद्र मे आपद्ग्रस्त नाविकों तथा पोताधिरोहियों के रक्षण की कथा बडी ही रुचिरता के साथ दी गई है। ग्रन्थ का रचनाकाल ईस्वी की द्वितीय शती माना जाता है। इसमे एक उल्लेख विष्णुपुराण के विषय मे निश्चयरूपेण वर्तमान है। वेंजी की सभा मे विभिन्न धर्मानुयायी आचार्यों के द्वारा प्रवचन तथा शास्त्रार्थ का उल्लेख यह ग्रन्थ करता है जिनमे वेदान्ती, शैववादी, ब्रह्मवादी विष्णुवादी, आजीवक, निर्ग्रन्थ, सांख्य, सांख्य आचार्य, वैशेषिक व्याख्याता, और अन्त मे भूतवादी के द्वारा मणिमेखला के सबोधित किये जाने का उल्लेख है। इसी सन्दर्भ में तमिल में एक पंक्ति आती है—**कळलवण्णं पुराणमोदियन्** जिसका अर्थ है—विष्णुपुराण में पाण्डित्य रखने वाला व्यक्ति। इस प्रसग में ध्यान देने की बात यह है कि सगम युग मे 'विष्णु' शब्द का प्रयोग नही मिलता। उस देवता के निर्देश के लिए तिरुमाल तथा कललवण विशेषण रूप से प्रयुक्त होते है। फलत. इस पंक्ति मे विष्णुपुराण का ही स्पष्ट संकेत है, भागवत, नारदीय तथा गरुड जैसे वैष्णवपुराणों का नही। यह सम्मान्य मत है इस विषय के पण्डित डा० रामचन्द्र दीक्षितर् का, जिन्होंने तमिल साहित्य तथा इतिहास का गभीर अनुशीलन अपने एतद्विषयक ग्रन्थ—स्टडीज इन तमिल लिटरेचर ऐण्ड हिस्टरी—मे किया है। मणिमेखलै के इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तमिल देश मे उस समय पुराणों का प्रवचन तथा पाठ जनता के सामने उसके चरित के उत्थान के निमित्त किया जाता था। यह दशा द्वितीय शती ईस्वी की थी। इस समय विष्णुपुराण विशेषरूपेण महत्त्वशाली और गौरवपूर्ण होने के कारण इस कार्य के लिए चुना गया था। यह इसकी लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत है। द्वितीय शती में प्रवचन के निमित्त चुने जाने वाले पुराण का समय उस युग से कम से कम एक शताब्दी पूर्व तो होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कम से कम प्रथम शती में विष्णुपुराण की, अथवा उसके अधिकांश भाग की, निश्चयेन रचना हो चुकी थी। न्याय-भाष्य के साक्ष्य पर निर्धारित समय की पुष्टि इस उल्लेख से आश्चर्यजनक रूप में हो रही है। फलतः विष्णुपुराण का समय निश्चित रूप से ईस्वी के आरम्भिक

काल कम से कम है। लेखक की दृष्टि में इस पुराण का रचना काल ईस्वी पूर्व में होना चाहिए—द्वितीय शती ईस्वी पूर्व[1]।

(४) वायुपुराण

इस पुराण में ११२ अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या १०,९९१ है। ब्रह्माण्ड के समान ही यह चार पादों में विभक्त है। ब्रह्माण्ड तथा वायु के सम्बन्ध का विवेचन पीछे किया गया है तथा इसके मूलरूप तथा पीछे से जोड़े गए अध्यायों का पूरा विवरण ग्रन्थ के पृष्ठ—पर सप्रमाण दिया गया। मत्स्य के समान ही इसमें धर्मशास्त्रीय विषयों की विपुलता है। कल्पतरु ने वायुपुराण के लगभग १६० उद्धरण श्राद्ध पर दिये हैं, लगभग २५ मोक्ष के विषय में, २२ तीर्थ पर, ७ दान, ५ ब्रह्मचारी तथा ५ गृहस्थ के विषय में। अपरार्क ने लगभग ७५ उद्धरण श्राद्ध के विषय में दिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने भी श्राद्ध के विषय में लगभग २५ उद्धरण दिये हैं। इन उद्धरणों से वायुपुराण का धार्मिक विषयों पर प्रामाण्य प्रकट होता है[2]।

वायु ने गुप्तराज्य के आदिम काल की राज्य सीमा का उल्लेख किया है[3]। यह पांच वर्षों के युग को जानता है (५०।१८३)। मेष, तुला (५०।१९६), मकर तथा सिंह (८२।४१–४२) को जानता है। इन उल्लेखों से इसके समय का निरूपण यथार्थ रूप से किया जा सकता है। बाणभट्ट ने अपने गद्यकाव्यों में—हर्षचरित तथा कादम्बरी में—वायुपुराण का उल्लेख किया है। गुप्त राज्य का वायुपुराण कृत उल्लेख समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्वकालीन है। फलतः ३५० ई० से लेकर ५५० ई० के बीच में ही इसका रचना काल है—लगभग ४०० ईस्वी। सप्तमशती के पुराणों में यह अग्रगण्य माना जाता था, जैसा शंकराचार्य के उल्लेख द्वारा स्पष्टतः प्रतीत होता है। प्राचीन पुराणों में अन्यतम, पञ्च—लक्षण का स्पष्ट परिचायक यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ७, कलकत्ता १९३१, पृष्ठ २७०–२७१ में 'दी एज आव दी विष्णुपुराण' शीर्षक टिप्पणी।

२. अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।
—वायु ९९।३८३

३. वायुपुराण तथा निबन्ध ग्रन्थों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में द्रष्टव्य Dr Hazara-The Vayu purana in the Indian Histor cal Quarterly Vol 14 (1938) pp 331-339.

(५) श्रीमद्भागवत

'भागवत' नाम से प्रख्यात दोनो पुराणो की तुलनात्मक समीक्षा पूर्व ही की गई है *जिसका निष्कर्ष यही है कि श्रीमद्भागवत ही अष्टादश पुराणों मे अन्यतम* है तथा देवी भागवत केवल उपपुराण है जो श्रीमद्भागवत से पूर्ण परिचय ही नही रखता, प्रत्युत अनेक तथ्यो के प्रतिपादन मे उसका अधमर्ण भी है। भागवत पचलक्षण के बृहद्रूप दश लक्षणो से समन्वित एक महनीय आध्यात्मिक पुराण है, जिसमे भूगोल तथा खगोल, वश और वशानुचरित का भी विवरण सक्षेप मे उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण को भगवान् रूप मे चित्रित करने तथा *उनकी ललित लीलाओ का विवरण देने मे भागवत अद्वितीय पुराण है।* परन्तु प्राचीन निबन्ध ग्रन्थो मे भागवत से उदाहरण नही मिलते। काणे महोदय का कथन है कि मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु तथा स्मृतिचन्द्रिका जैसे प्राक्कालीन निबन्धों ने भागवत से उद्धरण नही दिया। बल्लालसेन भागवत को पूर्णत जानते हैं, परन्तु दानविषयक श्लोका के अभाव मे 'दानसागर' मे उसे उद्धृत नहीं करते। यह आश्चर्य की बात है कि कल्पतरु मोक्षकाण्ड मे भी इसका उद्धरण नहीं देता, जब वह विष्णुपुराण से तीन सौ के आसपास श्लोको को उद्धृत करता है। इसीलिए काणे महोदय इसे नवम शती से प्राचीन मानने के लिए उद्यत नहीं है।

देश—श्रीमद्भागवत के रचना-क्षेत्र के विषय म भी पर्याप्त मतभेद है। भागवत दक्षिण भारत के भौगोलिक स्थानो तथा तीर्थो से उत्तरभारतीय तीर्थों की अपेक्षा विशेष परिचय रखता है। भागवत ११ स्कन्ध में (५।३८ ४०) द्रविड देश की पवित्र नदियो का—पयस्विनी, कृतमाला, ताम्रपर्णी, कावेरी तथा महानदी का—नामोल्लेख करते हुए कहता है कि कलियुग मे नारायण-परायण-जन तो कहीं-कहीं ही होंगे, परन्तु द्रविड देश मे वे बहुलता से होंगे (द्रविडेपु च भूरिश) और पूर्वोक्त नदियो का जल पीने वाले मनुज प्राय करके वासुदेव के भक्त होंगे। विद्वानों की धारणा है कि यह द्रविड देश के आड्वारो का गूढ निर्देश है। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध म पुरजन विदर्भनरेश की कन्या अगले जन्म में हुआ तब उसका विवाह पाड्यनरेश मलयध्वज के साथ हुआ तथा उससे सात पुत्र द्रविड राजा हुये (४।२८।२९-३०)। ऋषभदेव की जीवन-लीला का पर्यवसान कर्नाटक देश म हुआ जहाँ का राजा उनका भक्त हो गया। उनके सात पुत्रों म से अन्यतम 'द्रुमिल' द्रविड का प्राचीन रूप माना गया है। द्रविड देश के राजा सत्यव्रत जब कृतमाला (द्रविड-देशीय नदी) म स्नान कर रहे थ, तब उनकी अजुलि में मत्स्य का प्रादुर्भाव हुआ (भाग ८।२४।१२-१३)। जाम्बवती क पुत्रों में 'द्रविड' नामक पुत्र का उल्लेख केवल भागवत म ही है

(१०।६१।१२), हरिवंश में नहीं। बलराम जी की तीर्थयात्रा में दक्षिणभारत के तीर्थों का विशेष उल्लेख मिलता है (भाग० १०।७९।१३)। इन सब भौगोलिक उल्लेखों के साक्ष्य पर इतना तो स्पष्ट है कि भागवतकार दक्षिण भारत से सामान्यतः और उसमें भी तमिल प्रान्त से विशेषतः अधिक परिचय रखते हैं। गोपीगीत में तमिल छन्द से साम्य की बात कही जाती है, परन्तु वही तथ्य राजस्थानी भाषा की कविता में भी व्यापक होने से पूर्व कथन पर श्रद्धा नहीं रखी जा सकती[1]।

काल—श्रीमद्भागवत का भी कालनिर्देश इसी बहिरङ्ग साक्ष्य पर निर्णीत है। हेमाद्रि यादव नरेश महादेव (१२६० ई०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१ ई०–१३०९ ई०) के धर्मामात्य तथा बोपदेव के आश्रयदाता थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में भागवत के 'स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूना' वाला श्लोक उद्धृत किया है।

द्वैतमत के संस्थापक आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य, जन्म ११९९ ई०) ने 'भागवततात्पर्य निर्णय' में श्रीमद्भागवत के मूल तात्पर्य का निर्देश किया है तथा इसे पंचम वेद माना है। आचार्य रामानुज (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्ततत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (१०।८७) से तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे भागवत का तत्पूर्ववर्तित्व सिद्ध है। श्रीशंकराचार्य ने 'प्रबोधसुधाकर' में अनेक पद्य भागवत की छाया पर निबद्ध किया है। इनके गुरु गोविन्द भगवत्पाद के गुरु गौडपादाचार्य ने अपने 'पञ्चीकरण-व्याख्यान' में भागवत से 'जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग० १।३।१) श्लोक उद्धृत किया है। 'उत्तरगीता के भाष्य में उन्होंने 'भागवत' का नाम निर्देश करके यह प्रख्यात पद्य उद्धृत किया है—

तदुक्तं भागवते—

> श्रेयः स्रुतिंभक्तिमुदस्यते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्याद्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

---

१. द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली सन् १९३२ अष्टम भाग तथा १९५१ के अंक, कलकत्ता से प्रकाशित।

२ स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

—भागवत १।४

यह श्लोक दशम स्कन्ध के प्रख्यात प्रसिद्ध स्तुति १४ अ० का चतुर्थ पद्य है।

इस प्रकार बाह्य साक्ष्य के आधार पर श्रीमद्भागवत गौडपाद से प्राचीनतर होना चाहिए। आचार्य शंकर का आविर्भाव काल सप्तम शती के अन्तिम भाग में लेखक ने विशिष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है[1]*। उनके दादा गुरु गौडपाद का समय सप्तम शतक के आरम्भ में युक्तियुक्त है। अत एव भागवत षष्ठ शतक से कथमपि अर्वाचीन नहीं माना जा सकता*[2]।

(६) नारदीयपुराण

पुराणसाहित्य में नारदीय पुराण तो प्रख्यात है ही, उसीके साथ 'बृहन्नारदीय' नामक भी एक पुराण ३८ अध्यायों मे विभक्त लगभग ३६०० श्लोकों से सम्पन्न कलकत्ता से प्रकाशित है (एशिएटिक सोसाइटी)। यह पुराणस्थ पंच लक्षणों से सर्वथा विरहित है और वैष्णव मत का प्रचारक एक साम्प्रदायिक पुराण है जिसे उपपुराण मानना न्यायसंगत है। मत्स्यपुराण (५३।२३) में वर्णित नारदीय प्रचलित नारदीय से कोई भिन्न ही पुराण प्रतीत होता है। यह नि सन्देह वैष्णव धर्म का विशिष्ट प्रचारक ग्रन्थ है। इसमे वैष्णवागम का ही *उल्लेख नहीं है (३७।४), प्रत्युत पाञ्चरात्र अनुष्ठान का भी पूर्ण संकेत उपलब्ध* है (५।३।९)। बौद्धों की बडी निन्दा की गई है। एकादशी व्रत के अनुष्ठान का माहात्म्य बड़े विस्तार से प्रभावक शब्दों मे यह पुराण वर्णन करता है। यहां परम वैष्णव रुक्मांगद राजा का उल्लेख है जिन्होंने अपने राज्य मे आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष वय वाले व्यक्तियों के लिए आदेश जारी कर रखा था कि इनमे जो एकादशी का व्रत नहीं करेगा तो वह वध्य माना जायगा। स्मृतिचन्द्रिका (१२००–१२२५ ई०) ने एकादशी व्रत के माहात्म्य-सूचक अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिसमे पूर्वोक्त श्लोक[3] भी है। अपरार्क ने भी इसी माहात्म्य के दो श्लोक दिये है।

---

१ बलदेव उपाध्याय आचार्य शंकर (प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग द्वितीय सं०, १९६३)

२. द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय भागवत सम्प्रदाय (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृष्ठ १५१ १५३)

३ यह श्लोक इस प्रकार है—

अष्ट वर्षाधिको मर्त्यं अशीति नाह पूर्यते ?।
यो भुङ्क्ते मामके राष्ट्रे विष्णोरहनि पापकृत्।
स मे वध्यश्च दण्ड्यश्च निर्वास्यो विषयाद् बहि ॥

बौद्धो के प्रति यह आलोचना का भाव सप्तमशती के धार्मिक वातावरण का स्पष्ट द्योतक है जब कुमारिलभट्ट ने अपने मीमांसा ग्रन्थों के द्वारा बौद्धो के मत का प्रबल खण्डन कर उनकी तीव्र निन्दा की। लेखक की दृष्टि मे यह पुराण इस प्रकार भारवि (षष्ठ शती) तथा कुमारिल (सप्तम शती) से अवान्तरकालीन होना चाहिये। फलत ७०० ई०—९०० ई० के बीच मे इसका रचना काल मानना सर्वथा उपयुक्त होगा।

(७) मार्कण्डेयपुराण

पुराणो मे मार्कण्डेयपुराण अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका प्रधान कारण है कि इसके भीतर १३ अध्यायो मे (८१अ०-९२अ०) मे देवी माहात्म्य का प्रतिपादक बडा ही महनीय अश है जिसमे देवी के त्रिविध रूप—महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती के चरित का वर्णन बडे विस्तार से किया गया है। इस विश्रुत आख्यान के अतिरिक्त मन्वन्तरो का विस्तृत विवरण इस पुराण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। औत्तम मनु का वर्णन ६९ अ०-७३ अ०, तामस का ७४ अ०, रैवत का ७५ अ०, चाक्षुष का ७६ अ०, वैवस्वत का ७७ अ० ७९ अ० तथा सावर्णि का ८० अ०—९३ अ० तक है और देवी माहात्म्य या सप्तशती सावर्णि मन्वन्तर के वर्णनावसर पर प्रकट किया गया है। इसमे पुराण के पञ्चलक्षण का विवरण प्राय उपलब्ध होता है। पीछे दिखलाया गया है कि मार्कण्डेय (४७ अ०) सृष्टि वर्णन के लिए विष्णुपुराण का अधमर्ण है। इस पुराण मे वैदिक इष्टियो के महत्व की भी विशिष्ट सूचना है। उत्तम ने मित्राविन्दा नामक इष्टि द्वारा अपनी परित्यक्ता पत्नी को पाताल लोक से प्राप्त किया तथा सारस्वती इष्टि के द्वारा उस नाग कन्या के गूगेपन को दूर किया जो इनकी पत्नी के साथ रहने से पिता-द्वारा अभिश त होने से गूगी बन गई थी। सारस्वत सूक्तो के जप होने के कारण से यह इष्टि इस नाम से पुकारी जाती है। मार्कण्डेयपुराण का आरम्भ तो महाभारत-सम्बन्धी चार प्रश्नो के समाधान के लिए होता है। मार्क० मे व्रत, तीर्थ या शान्ति के विषय में श्लोक नही हैं, परन्तु आश्रमधर्म, राजधर्म, श्राद्ध, नरक, कर्मविपाक, सदाचार, योग (दत्तात्रेय द्वारा अलर्क को उपदिष्ट) के विवरण देने में विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है। इस पुराण मे विद्वानो ने विश्लेषण मे तीन स्तरो को खोज निकाला है—(१) अध्याय १-४२ जहाँ पक्षी वक्ता के रूप म कहे गये हैं, (२) ४३ अ० से लेकर अन्त तक जिसमे मार्कण्डेय और उनके शिष्य क्रौष्टुकि का सवाद वर्णित है, (३) सप्तशती (अ० ८१-९३ अ०) इसी खण्ड के

बौद्धा· पाखण्डिन प्रोक्ता यतो वेदविनिन्दका ॥

—नारदीय पूर्वार्ध, १५।५०-५२

भीतर एक स्वतन्त्र अश मानी जाती है। ये तीनों आपस मे असम्बद्ध होने पर भी एकत्र सन्निविष्ट हैं।

निबन्धकारो ने इस पुराण से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। कल्पतरु ने मोक्ष के प्रसग में इस पुराण से लगभग १२० श्लोक योग-विषय मे उद्धृत किये हैं जो प्रचलित पुराण में मिलते हैं। अपरार्क ने ८५ उद्धरण दिये हैं जिनमे से ४२ योग के विषय मे तथा अन्य दानादि के विषय मे हैं। मार्क० का ५४ अ० में (ब्रह्माण्ड के समान ही) कथन है कि सह्य पर्वत के उत्तर भाग मे गोदावरी के समीप का देश जगत् मे सर्वाधिक मनोरम है—लेखक की दृष्टि मे इस पुराण के उद्गम स्थल के विषय मे यह सकेत माना जा सकता है। यह पुराण प्राचीन पुराणों मे अन्यतम माना जाता है और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त रूप से नवीन तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसे गुप्त काल की रचना मानने मे किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं है। जोधपुर से उपलब्ध दधिमती माता के शिलालेख मे 'सर्वमगलमाङ्गल्ये' (सप्तशती का प्रख्यात श्लोक) श्लोक उद्धृत है। इसका समय २८९ दिया गया है जिसे भडारकर गुप्त सवत् मानते हैं (=६०८ ई०), परन्तु मिराशी इसे हि तद्भिन्न भाटिक सवत् का निर्देश मान कर इसका समय ८१३ ई० मानते हैं[1]। जो कुछ भी हो, यह पुराण ६०० ई० से प्राचीनतर है और ४००-५०० ई० के बीच माना जाना चाहिए। देवी के तीन चरितो का वर्णन देवी भागवत मे भी आता है (५ स्कन्ध, ३२ अ०)। इन दोनो की तुलनात्मक समीक्षा से यही प्रतीत होता है कि मार्क० का देवी-माहात्म्य (सप्तशती) देवी-भागवत के एतद् विषयक विवरण से निःसन्देह प्राचीन है । देवी भागवत का विवरण सप्तशती के ऊपर विशेषरूपेण आधृत है[2]।

(८) अग्निपुराण

वर्तमान 'अग्निपुराण' विभिन्न शताब्दियों में प्राचीन ग्रन्थों से सार सगृहीत कर निर्मित हुआ है और यही कारण है कि निबन्ध ग्रन्थों मे उद्धृत इसके वचन यहाँ उपलब्ध नहीं होते। डा० हाजरा के पास 'वह्निपुराण' का हस्तलेख विद्यमान है जिसमे निबन्धकारो के अग्निपुराणीय वचन शतश उपलब्ध होते हैं और इसी कारण वे उसे ही प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं। प्रचलित

---

१ द्रष्टव्य मिराशी का लेख A lower limit for the date of the Devi mahatmya (Purana Vol I. no 4 pp 181–186)

२. इन दोनो की तुलना के निमित्त देखिये—पुराणम् (भाग ५, स० १, जनवरी १९६३) पृ० ९०—११३।

अग्निपाञ्चरात्रो के द्वारा प्रतिसंस्कृत, वैष्णव पूजार्चा का माहात्म्यबोधक पुराण है जो विशेष प्राचीन तथा मौलिक पुराण नहीं है।

इस पुराण के विषय मे ज्ञातव्य है कि यह *लोक शिक्षण के लिए उपयोगी विद्याओ का संग्रह प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है जिसे हम आजकल की भाषा* मे 'पौराणिक विश्वकोष' के अभिधान से पुकार सकते हैं। उद्देश्य यही है समस्त विद्याओ का संग्रह प्रस्तुत करना। इस उद्देश्य मे ग्रन्थ पूर्णतया सफल हुआ है क्योकि उसने तत्तत् शास्त्रविषयक प्रौढ ग्रन्थो से सामग्री सकलित कर सचमुच इसे विशेष उपयोगी बनाया गया है। धर्मशास्त्रीय विषयो के सकलन के साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयो का संग्रह भी बडा मार्मिक है। ऐसे विषयो म हैं—आयुर्वेद अश्वायुर्वेद गजायुर्वेद वृक्षायुर्वेद (२८२ अ०) गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा (२४६ अ०) धनुर्विद्या (२४९ अ० २५२ अ०) वास्तुविद्या (४० अ०, ९३–९४ अ०, १०५–१०६ अ०) प्रतिमालक्षण (४९–५५ अ०) राजधर्म, काव्यविवेचन (३३७ अ०, ३४३–३४७ अ०) आदि आदि। इन्ही विद्याओ के विवरण से अग्नि पुराण के निर्माण काल का परिचय दिया जा सकता है। अग्निपुराण भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। फलत इसे *एकादश शती से प्राचीन होना चाहिए। उधर अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ है दण्डी का काव्यादर्श (सप्तम शती)*। फलत सप्तम शती से प्राक्कालीनता इस पुराण की स्वीकार नही की जा सकती। अत अग्नि पुराण का रचनाकाल सप्तम-नवम शती के मध्य मे कभी मानना सर्वथा समीचीन होगा।

मूल अग्निपुराण वह्निपुराण नाम से भी प्रख्यात था। स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड का कथन है कि अग्नि की महिमा का प्रतिपादन अग्निपुराण का लक्ष्य है—यह वैशिष्ट्य प्रचलित अग्निपुराणो मे न मिलकर वह्निपुराण मे ही उपलब्ध होता है जिससे इसकी मौलिकता सिद्ध होती है। यह प्राचीन पुराण है जिसकी रचना का काल चतुर्थशती से अर्वाचीन नही माना जाता। अग्निपुराण म विहित तान्त्रिक अनुष्ठानो मे कतिपय विशिष्ट *अनुष्ठान बङ्गाल म ही उपलब्ध तथा प्रचलित है। इसलिए इसका उद्भव* स्थान बङ्गाल का पश्चिमी भाग प्रतीत होता है[1]।

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० हाजरा के निबन्ध—

(क) Discovery of the genuine Agneya Purana (G O I University of Baroda, Vol V, No, 4)

(ख) Studies of the Genuine Agneya Purana alias *Vahni Purana (Our Heritage Vol I–II)*

(९) भविष्यपुराण

भविष्यपुराण का रूप इतना बदलता रहा तथा इतने नये-नये अंश उसमें जुटते रहे कि उसका मूल स्वरूप आज इन प्रतिसंस्कारों के कारण बिलकुल अज्ञेय है। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसके चार विभिन्न हस्तलेखों का निर्देश किया है जो आपस में नितान्त भिन्न हैं। वेंकटेश्वर से प्रकाशित भविष्य में इतनी नवीन बातें जोड़ी गई हैं कि इन प्रक्षेपों की इयत्ता नहीं। इसकी अनुक्रमणी नारदीय (१।१०० अ०) में, मत्स्य (५३।३०—३१) में तथा अग्नि (२७२।१०) में उपलब्ध होती है जो प्रचलित पुराणस्थ विषयों से मेल नहीं खाती। तथ्य तो यह है कि आपस्तम्भ के द्वारा उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता निःसन्दिग्ध है, परन्तु इसके नाम के द्वारा प्रलोभित होकर लेखकों ने अपनी कल्पना का उपयोग कर इसका परिबृंहण खूब ही किया है। इसके चार पर्व हैं—ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। वायुपुराण भविष्य का निर्देश करता है।

> यान् सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्।
> तेभ्यः परेत्र ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षितः॥
>
> —(९९।२६७)

परन्तु, यह निर्देश प्राचीन भविष्य के विषय में है, प्रचलित भविष्य के विषय में नहीं। वराहपुराण ने भी भविष्य का दो बार उल्लेख किया है जिसमें साम्ब के द्वारा इसके प्रतिसंस्कार की, तथा सूर्य देव की मूर्ति स्थापना की चर्चा है। बल्लाल सेन ने भविष्योत्तर को प्रामाणिक न होने से बिलकुल ही तिरस्कृत कर दिया है। अपरार्क लगभग १६० पद्य इससे उद्धृत करते हैं। अल-बरूनी के द्वारा उद्धृत होने से प्रचलित भविष्य का समय १०म शती मानना कथमपि असङ्गत न होगा।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण

प्रचलित ब्रह्मवैवर्त को हम प्राचीन पुराण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इसका एक विशिष्ट कारण है।

(क) मत्स्य के अनुसार यह राजस पुराण है जिसमें ब्रह्मा की स्तुति की गई है।[1] स्कन्दपुराणीय 'शिवरहस्य' खण्ड के अनुसार यह पुराण सविता

(ग) डा० रामशंकर भट्टाचार्य—अग्निपुराणस्थ विषयानुक्रमणी (काशी, १९६७) भूमिका भाग।

1 पद्मपुराण ब्रह्म० वै० को निश्चित रूप से 'राजस' मानता है—

> ब्रह्माण्ड ब्रह्मवैवर्त मार्कण्डेय तथैव च।
> भविष्य वामन ब्राह्म राजसानि निबोध मे॥
>
> —(आनन्दा० सं० उत्तरकाण्ड २६४।८४)

(सूय) का प्रतिपादक माना जाता था। मत्स्य के अनुसार इस पुराण का दानकर्ता ब्रह्मलोक म निवास करता है। इस प्रकार ब्रह्मलोक को ब्रह्मा के प्रतिपादक पुराण द्वारा उच्चतम माना जाना स्वाभाविक ही है।[1]

परन्तु प्रचलित ब्र० वै० कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानता है और उनका निजी लोक गोलोक है जिसकी उपलब्धि वैष्णव भक्तों की एक परमाराध्य अभिलाषा है। इतना ही नहीं इसमे ब्रह्मा की निन्दा भी यत्रतत्र पाई जाती है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पश्चात्पद नहीं होते कि किसी समय म ब्रह्मा प्रतिपादक पुराण को वैष्णव लोगो ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर उसे सर्वत वैष्णव पुराण बना डाला है। राधासवलित श्रीकृष्ण ही परमात्मरूप मे यहाँ स्वीकृत है।

(ख) इसमे तान्त्रिक सामग्री की विपुलता पाई जाती है विशेषत प्रकृति तथा गणेश खण्ड मे। तान्त्रिक अनुष्ठान का पुराण म सकलन अर्वाचीन काल की घटना है—नवम-दशम शती की। और यह वशिष्ट्य मूलपुराण मे न होकर उसके अवान्तरकालीन प्रतिसस्कार म ही निविष्ट किया गया प्रतीत होता है।

(ग) स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि का चतुर्वर्ग चिन्तामणि, रघुनन्दन का स्मृति तत्त्व आदि निबन्धो मे तत्तत् लेखको ने ब्र० वै० से विपुल वचनो को उद्धृत किया है। वचनो की सख्या १५०० पक्तियो के आसपास हैं परन्तु प्रचलित ब्र० वै० मे केवल ३० पक्तियाँ ही इनमे से प्राप्य है—यह स्पष्टत सूचित करता है कि प्रचलित ब्र० वै० मूल पुराण नहीं है।

---

१ मत्स्य के अनुसार राजस पुराण मे ब्रह्मा की ही स्तुति प्राधान्येन निविष्ट रहती है—'राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदु' (मत्स्य ५३। ८)। इन्ही दोनो वाक्यो की एकवाक्यता करने पर ब्र० वै० ब्रह्मा का प्रतिपादक पुराण मूलत प्रतीत होता है। इस तथ्य का समर्थन इस बात से भी होता है कि ब्र० वै० पुराण का दाता ब्रह्मलोक मे पूजित होता है—

पुराण ब्रह्मवैवर्त यो दद्यान्माघमासि च।
पौर्णमास्या शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते॥

—(मत्स्य ५३।३५)

स्कन्दपुराण (७।१।२।५३) मे भी यही श्लोक उपलब्ध है। फलत पुराणो की दृष्टि के मूल ब्र० वै० ब्रह्मदेव की स्तुति तथा माहात्म्य का प्रतिपादक पुराण निश्चित होता है। परन्तु प्रचलित ब्र० वै० म यह वैशिष्ट्य उपलब्ध नहीं होता।

(घ) कलकत्ते के एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में देवनागरी में लिखित दो हस्तलेख (सं० ३८२० तथा ३८२१) हैं जो पुष्पिका में 'आदि ब्रह्मवैवर्तपुराण' नाम से निर्दिष्ट हैं। इनकी एक विशिष्टता तो यह है कि यह खण्डों में विभक्त नहीं है, प्रत्युत समग्र ग्रन्थ एक ही सूत्र में निबद्ध है। दूसरे इसमें श्लोकों की संख्याएँ प्रचलित ब्र० वैव० से न्यून हैं। यह आदि ब्र० वै० प्रचलित एतत्पुराण से निश्चयरूपेण प्राचीनतर है तथा उस नारदीयपुराण के अनुक्रमणी-प्रतिपादक अंश से भी प्राचीन है, क्योंकि नारदीय चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्र० वै० से ही परिचय रखता है। नारदीय के अनुसार यहां श्लोकों की संख्या १८ सहस्र होनी चाहिए, जब आज इसमें २२ हजार (बंगवासी सं०) तथा २८ हजार (वेंकटेश्वर सं०) उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि नारदीय की अनुक्रमणी-रचना से अनन्तर भी इसमें तीन हजार से लेकर पांच हजार तक श्लोक जोड़े गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि चार खण्डों में विभक्त प्रचलित ब्र० वै० मूल प्राचीन पुराण नहीं है, प्रत्युत अवान्तर विषयों तथा श्लोकों से समन्वित मध्ययुगीय पुराण है। ब्रह्मा की महिमा प्रतिपादक मूल ब्र० वै० का यह प्रतिसंस्कृत वैष्णव रूप है जहाँ कृष्ण की अपेक्षा राधा की ही महिमा सर्वातिशायिनी है।

इस पुराण के उद्गमस्थल का निर्देश ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से किया जा सकता है। यह पुराण बंगाल के रीति-रस्मों, विश्वासों तथा आचार-व्यवहारों से विशेष रूपेण परिचय रखता है तथा उनका वर्णन करता है। ब्रह्मखण्ड के दशम अध्याय में संकर जातियों की उत्पत्ति का विशिष्ट प्रसंग आता है। यहां म्लेच्छ जाति का निर्देश है (१०।१२०) जो मुसलमानों को ही निर्देश करता है। उसके अनन्तर यह श्लोक भी अपने उद्गम प्रदेश की स्पष्ट सूचना देता है—

म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह। (१०।१२१)

जोला ('जुलाहा' शब्द का बंगीय रूप) म्लेच्छ (अर्थात् मुसलमान) से कुविन्द (बुनकार) की कन्या में उत्पन्न हुआ अर्थात् वह मुसलमान ही जात्या है। यह बङ्गाल की स्पष्ट मान्यता तथा दृढ विश्वास है। अश्विनीकुमार के वीर्य से विप्रकन्या में 'वैद्य' की उत्पत्ति होती है (१०।१२३)—यह भी बंगाल की ही मान्यता है जहाँ वैद्य जाति इसीलिए ब्राह्मणों से कुछ न्यून सामाजिक प्रतिष्ठा में मानी जाती है। इतना ही नहीं बंगाल के लोक प्रचलित देवी देवता की यहाँ पूजा-अर्चा का विशेष विधान है। ऐसी देवियों में षष्ठी, मंगलचण्डी तथा मनसा देवी का विशिष्ट स्थान है। षष्ठी देवी की उत्पत्ति प्रकृति-खण्ड के ४३ अध्याय में, मंगलचण्डी की ४४ अ० में, तथा मनसा (= ना

देवी) की उत्पत्ति ४८ अ० म तथा उनका पूजाविधान ४६ अ० म है। इन तीनो देवियो की पूजा अर्चा का भौगोलिक क्षेत्र काशी स पूरब का प्रदेश (भोजपुर) भी है[1] यद्यपि बगाल म इनकी ख्याति अधिक है और मध्ययुग क अनेक बँगला काव्यो मे—जिन्हे मंगल काव्य की आख्या से पुकारते हैं—इनसे सम्बद्ध कथायें विस्तार से वर्णित हैं। इन प्रमाणो से सिद्ध होता है कि ब्रह्म वैवत की अपनी विशिष्ट उद्गमभूमि वङ्गाल ही है।

इसका समय निरूपण भी इन्ही वर्णनो के आधार पर किया जा सकता है। राधा की विशद पूजा तथा अनुष्ठान का विस्तृत वणन इस पुराण का समय नवम दशम शती से प्राचीन सिद्ध नही होन देता। राधावल्लभी सम्प्रदाय का प्रभाव इस राधोपासनापरक पुराण के ऊपर मान कर बहुत से विद्वान् तो इसे १५ वी शती स पूववर्ती नही मानते। म्लेच्छो का निर्देश करने वाला अश तो मुसलमानों के आगमन के समय तक इस पुराण को खीच लाता है। यह समय निर्देश प्रचलित ब्र० वै० के विषय मे है। आदि ब्र० वै० तो निःसदेह एक प्राचीन रचना है[2]।

(११) लिङ्गपुराण

लिङ्गपुराण की श्लोक सख्या इसी पुराण (२।५) मे दी गयी है एकादश सहस्र श्लोक (अत्रैकादश साहस्रै कथितो लिङ्गसम्भव) तथा नारदीयपुराण (१०२ अ०) के अनुसार भी यही सख्या निर्दिष्ट है। पूर्वार्ध (१०८ अ०) तथा उत्तरार्ध (५५ अ०) मे विभक्त शिवपूजा का प्रधान प्रतिपादक यह लिङ्गपुराण निबन्धकारो म पर्याप्तरूपेण प्रसिद्ध रहा है। ९२ अध्याय में काशी तथा उससे सम्बद्ध नाना तीर्थों का विस्तृत विवरण काशी की भौगोलिक स्थिति की जानकारी के लिए भी उपादेय है। इस अध्याय मे काशी के उद्यानो का बडा ही चमत्कारी साहित्यिक वणन नाना छन्दो मे दिया गया है (१२ ३९ श्लोक)। उस युग मे यह पाशुपतो का केन्द्र बतलाया गया है। अविमुक्त लिंग का ही प्राधान्य था जिस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी गई है। कल्पतरु न काशी सम्बन्धी इन श्लोको म से अधिकाश को तीर्थखण्ड मे उद्धृत किया है। अपरार्क न छ श्लोको को उद्धृत किया है शिवपूजा तथा ग्रहण के

---

१ षष्ठी देवी भोजपुर प्रान्त म छठी माता के नाम से पूजी जाती हैं और उनका काम बालको की रक्षा करना है जैसा यह पुराण बतलाता है।

२ विशेष द्रष्टव्य पुराणम् (खण्ड ३ भाग १ जनवरी १९६१) मे एतद्विषयक लेख (पृष्ठ ९२-१०१)। पृ० १०० १०१ की टिप्पणी अवलोकनीय है जिसमें आदि ब्र० वै० की प्राचीनता के प्रमाण दिये गये हैं।

अवसर पर स्नान के विषय में। दानसागर के अनुसार (पृ० ७, ६४ श्लो०) ६ हजार श्लोकों वाला' एक दूसरा भी लिंगपुराण था जिसका उपयोग वल्लालसेन ने नहीं किया। सम्भवत उस युग में दो लिंगपुराण थे—एक बड़ा ११ हजार श्लोकों वाला तथा दूसरा ६ हजार श्लोकों वाला।

यह पुराण शैव व्रत तथा अनुष्ठानों की जानकारी देने में बड़ा ही उपयोगी है। उत्तरार्ध के कई अध्याय गद्य में हैं तथा तान्त्रिक प्रभाव के सत्य प्रतीक हैं। शैवदर्शन के भी अनेक तथ्य बिखरे पड़े हैं। उत्तरार्ध के १३ वें अध्याय में शिव की प्रसिद्ध अष्ट मूर्तियों के वैदिक नाम दिये गये हैं। जैसे पृथिव्यात्मक शिव मूर्ति का नाम है शर्व, जलीय मूर्ति है = भव, अग्नि मूर्ति = पशुपति, वायुमूर्ति = ईशान, आकाशमूर्ति = भीम, सूर्यमूर्ति = रुद्र, सोममूर्ति = महादेव, यजमान-मूर्ति - उग्र। प्रत्येक मूर्ति की पत्नी और एक पुत्र का भी नाम यहाँ दिया गया है। ९६ अ० (पूर्वार्ध) में शरभरूपधारी शिव का नरसिंह के साथ वार्तालाप वर्णन है (तुलना कीजिये शिवपुराण की तृतीय संहिता का १२ अ०)। ९८ अ० में विष्णुकृत 'शिवसहस्रनाम' है जिसमें शिव के नाम तो महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु वैदिक नामों का संग्रह यहाँ न्यून ही दृष्टिगोचर होता है। पाशुपत व्रत के स्वरूप तथा महिमा का विस्तरेण स्थापन सिद्ध कर रहा है कि लिङ्ग-पुराण का विस्तार पाशुपत शैवों के सम्प्रदाय में हुआ। इस सम्प्रदाय का उदय तो द्वितीय-तृतीय शती में ही गया था, परन्तु विशेष अभ्युदय सप्तम अष्टम शतियों में सम्पन्न हुआ। और लिङ्गपुराण के आविर्भाव काल का भी यही युग है।

इस तथ्य के पोषक कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं। इस पुराण में अश्विनी से ही आरम्भ होने वाले नक्षत्रों का, मेषादि राशियों तथा सूर्यादि ग्रहों का उल्लेख मिलता है। अवतारों में बुद्ध तथा कल्कि के नाम निर्दिष्ट हैं जिससे इसकी रचना सप्तमशती से प्राक्कालीन सिद्ध नहीं होती। अलबरूनी ने ही (१०३० ई०) लिङ्ग का निर्देश नहीं किया, प्रत्युत उससे परवर्ती लक्ष्मीधर भट्ट ने भी अपने 'कल्पतरु' में लिङ्गपुराण का बहुश उद्धरण दिया है। लिङ्गपुराण के नवम अध्याय में योगान्तरायों का समग्र वर्णन व्यासभाष्य से अक्षरश साम्य रखता है जिससे इस संग्रहकारी पुराण ने इस अंश को व्यासभाष्य से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। व्यासभाष्य का समय षष्ठ शतक से कथमपि घट कर नहीं है। पुराण ने संग्रहबुद्धि से योग के अन्तराय विषयों का संकलन अक्षरश योगभाष्य से किया है—व्याधि, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि का लिंगपुराण में प्रदत्त लक्षण योगभाष्य से सर्वात्मना लिया गया है'। फलत यह

---

१ द्रष्टव्य पुराणम् द्वितीय भाग (१९६०) पृष्ठ ७६-८१, लिङ्गपुराणस्य कालनिर्णय' शीर्षक संस्कृत लेख।

पुराण योगभाष्य से भले प्रकार से परिचय रखता है। लिङ्गपुराण का समय इस प्रकार अष्टम-नवम शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(१२) वराहपुराण

यह समग्रतया वैष्णव पुराण है। इसमे २१७ अध्याय और ९, ६५४ श्लोक हैं, यद्यपि कतिपय अध्यायो मे पूरा गद्य (८१–८३ अ०, ८६–८७ अ० तथा ७४ अ०) ही है। कतिपय अध्यायो मे गद्य-पद्य का मिश्रण है। धर्मशास्त्र के विपुल विषयो का विवरण यहाँ प्रस्तुत है जैसे व्रत, तीर्थ, दान, प्रतिमा तथा तत्पूजा, आशौच, श्राद्ध आदि। कल्पतरु ने इस पुराण से बडी सख्या मे श्लोकों को उद्धृत किया है। १५० श्लोक व्रत के विषय में तथा ४० श्लोक श्राद्ध के विषय मे उद्धृत हैं। ब्रह्मपुराण (२२०।४४–४७) ने 'वाराहवचन' कहकर इस पुराण के दो श्लोको को उद्धृत किया है। वराहपुराण से भविष्य-पुराण निश्चयरूप से प्राचीन है, क्योकि वराह (१७७ अ० ३४ श्लोक तथा ५१ श्लोक) ने भविष्य से दो वचनो को उद्धृत किया है जिसमे दूसरा सकेत बडा महत्व रखता है—

भविष्यत्-पुराण मिति ख्यातं कृत्वा पुनर्नवम्।
साम्ब सूर्य-प्रतिष्ठां च कारयमास तत्त्ववित्॥

जिसमे साम्ब के द्वारा सूर्य के नवीन मन्दिर की स्थापना का उल्लेख मिलता है। वराहपुराण मे तीन विशिष्ट स्थानो पर सूर्य मन्दिर की स्थिति निर्दिष्ट है—यमुना के दक्षिण मे, बीच मे कालप्रिय मे (कालपी, उत्तर प्रदेश मे कानपुर के पास) तथा पश्चिम मे मूलस्थान (मुल्तान) मे। भविष्य मे भी इसी प्रकार के सूर्य के तीन विशिष्ट मन्दिरो का उल्लेख मिलता है। वराह-पुराण म नचिकेता की कथा विस्तार से दी गयी है जिसका वर्णन पूर्व ही किया गया है (द्रष्टव्य पृष्ठ)

वराहपुराण वैष्णवता से आमूल आप्लुत है—इसका परिचय रामानुजीय श्रीवैष्णवमत के तथ्यो का विशद प्रतिपादन वैशद्य से प्रदान करता है। नारायण की आदिदेव रूप में प्रतिष्ठा, ज्ञान-कर्म का समुच्चय, सृष्टि प्रकार, भुवनकोश का प्रकार, श्रद्धानुष्ठान प्रक्रिया, श्राद्ध-वर्ज्य पदार्थ, प्रति द्वादशी को विष्णु पूजन की प्रक्रिया, नाना धातुओ से भागवत प्रतिमा का निर्माण तथा उनके प्रतिष्ठापन—आराधन के प्रकार, पाञ्चरात्र का प्रामाण्य—वराहपुराण में वर्णित य समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय मे स्वीकृत किये गये हैं। दोनो के सिद्धान्तों मे विपुल साम्य का सद्भाव निश्चयेन आदर्शजनक है।[1]

---

१. इस समता के लिए द्रष्टव्य 'श्री वराहपुराण श्री रामानुजसम्प्रदायश्च' शीर्षक सुचिन्तित संस्कृत लेख—पुराणम्, चतुर्थवर्ष (१९६२) पृष्ठ ३६०–३८३।

इस पुराण की रचना का काल नवम-दशम शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

(१३) स्कन्दपुराण

यह पुराणों में सब से बृहत्काय पुराण है। श्लोकों की सख्या ८१ हजार मानी गई है। दो प्रकार के संस्करण हैं—खण्डात्मक तथा संहितात्मक, जिनका उल्लेख पूर्व किया गया है। यद्यपि यह पुराण 'स्कन्द' नाम से प्रख्यात है, परन्तु स्कन्द का विशिष्ट सम्बन्ध इसके साथ नहीं मिलता। पद्मपुराण ५।८९।२ म स्कन्दपुराण का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण के प्रथम खण्ड में किरात के श्लोक की छाया मिलती है (सहसा विदधीत न क्रियाम् श्लोक की)। काशीखण्ड के २४ अ० से बाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए बड़ी सुन्दर परिसंख्या तथा श्लेष दिये गये हैं। दो-तीन उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

> विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्
> नद्यः कुटिल-गामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः ॥ ९ ॥
> बाणेषु गुणविश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा
> स्नेहत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने ॥ १९ ॥
> यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिणः
> प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः ॥ २० ॥

भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तृत तथा विशद विवरण प्रस्तुत करना स्कन्द के विविध खण्डों का वैशिष्ट्य है इसके चतुर्थ खण्ड—काशीखण्ड—में काशीस्थ शिवलिङ्गों का दिशाओं के निर्देशपूर्वक विवरण पढ़ने से आज भी उन लिङ्गों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवन्तीखण्ड में नर्मदा नदी के तीरस्थ तीर्थों का एक विराट विवरण धार्मिक और भौगोलिक उभय प्रकार का महत्त्व रखता है। इसी खण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड म सत्यनारायण की प्रख्यात कथा है जिसके स्वरूप का विवेचन ऊपर किया गया है।

प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों मे स्कन्द के वचन उद्धृत मिलते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० स्मृति ३।२९०) ने वेश्या के पद के विषय में इस पुराण को उद्धृत किया है। कृत्यकल्पतरु ने इस पुराण के बहुसंख्यक वचन उद्धृत किया है। काणे महोदय का कथन है कि कल्पतरु ने व्रत के विषय म तो केवल १५ श्लोक उद्धृत किये हैं, परन्तु तीर्थ के विषय में ९०, दान के विषय म ४४, नियतकाल क विषय म ६३, राजधर्म के बारे में १८ श्लोक उद्धृत किये हैं। दानसागर ने दान के विषय म ४८ श्लोक दिये हैं। स्कन्द के विशाल रूप पर ध्यान देने स कहना पड़ता है कि धर्मशास्त्रीय निबन्धों म इससे उद्धरण परिमाण

में कम ही हैं। इस पुराण म वेदसम्बन्धी सामग्री[1] पर्याप्तरूपेण विस्तृत है जो इसके रचयिता के अलौकिक वैदिक वैदुष्य का सकेत करती है।

यह इतना विस्तृत तथा विशाल है कि इसमें प्रक्षिप्त अशा को जोडने के लिए पर्याप्त अवसर है। अत समय का यथाथ निरूपण असम्भव ही है। डा० हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल दरबार लाइब्रेरी में इस पुराण का एक हस्तलेख मिला है जिसका लेखन सप्तम शती की शैली में किया गया है।[2] सब प्रमाणों को एकत्र कर यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी रचना सप्तम शती के पूर्वकालीन और नवम शती से उत्तरकालीन नहीं हो सकती। दोनो के बीच में सम्भवत यह प्रणीत हुआ।

(१४) वामनपुराण

यह स्वल्पाकार वाले पुराणो में अन्यतम है। इसमें ९५ अध्याय हैं। इसने अपने १२ वें अध्याय में भिन्न पदार्थों में श्रेष्ठ वस्तुओ की जो वणना की है उससे इस पुराण के उदय-स्थान का परिचय मिलता है। यह कुरुक्षेत्र मण्डल में उत्पन्न हुआ था—ऐसा मानना सवथा उचित है। क्योंकि क्षेत्रो तथा तीर्थों में यह क्रमश कुरु जाङ्गल तथा पृथूदक को सवश्रेष्ठ मानता है और दोनो वस्तुयें कुरुक्षेत्र मे विद्यमान हैं—

> क्षेत्रेषु यद्वत् कुरु-जाङ्गल वरं।
> तीर्थेषु तद्वत् प्रवरं पृथूदकम्॥
>
> —१२।४८

वामन अवतार के प्रतिपादक होने के कारण यह मूलरूप में वैष्णवपुराण है परन्तु किसी समय में यह शैवरूप में परिणत कर दिया और आज इसका यही प्रचलित रूप है। फलत शिवपावती का चरित्र यहा विस्तृतरूप से वर्णित है। पावती की घोर तपश्चर्या वटुरूपधारी शिव से वार्तालाप शिव से विवाह-आदि विषय यहाँ अलकृत शैली में वर्णित हैं। वामन अपने वणनो में आलकारिक चमत्कृति से मण्डित है और इसके ऊपर कालिदास का विशेषत विषयसाम्य के कारण कुमारसम्भव का प्रभाव विशदरूप से अभिव्यक्त होता है। राजा वही जो प्रकृति का रजन करता है कालिदास के राजा प्रकृति

---

१ इसके सक्षिप्त प्रतिपादन के निमित्त द्रष्टव्य डा० रामशकर भट्टाचाय इतिहास-पुराण का अनुशीलन (पृष्ठ २३८–२४६)

२ Catalogue of Nepal Palm leaf Mss पृष्ठ ५२।

रञ्जनात्' का ही भाव रखता है।[1] 'उमा' का नामकरण इसीलिए हुआ कि उनकी माता ने उन्हें तपस्या करने से निषेध किया (उ + मा)—यह भी कालिदास की प्रख्यात उक्ति का ही सकेत है।[2]

कालिदास के कुमारसम्भव का वामनपुराण के ऊपर प्रभाव बडा ही विस्तृत, गम्भीर तथा मौलिक है। पार्वती तथा वटु का सम्वाद वामनपुराण में कुमार-सम्भव में उपस्थित सम्वाद से अक्षरश: मेल खाता है—अर्थ मे ही नहीं, प्रत्युत शब्द मे भी। अनेकत्र छन्द भी समान ही प्रयुक्त हैं।[3] एक दो दृष्टान्त पर्याप्त होगा—

वामन	कुमारसम्भव
कथ कर पल्लवकोमलस्ते । समेष्यते शार्वकर ससर्पम् ॥ —५१।६३	अवस्तुनिर्बन्धपरे कथ नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुक । करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत् प्रथमावलम्बनम् ॥ —५।६६
पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणा । गति धर्मस्य वै विदु ॥ —५२।१३	प्रायेणैवविधे कार्ये । पुरन्ध्रीणा प्रगल्भता ॥ —६।३२
जामित्रगुणसयुक्ता । तिथि पुण्या सुमङ्गलाम् ॥ —५२।६०	तिथौ तु जमित्रगुणान्वितायाम् ॥ —७।१

१ ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्या रञ्जनादभूत् । —वामन ४७।२४

तुलना कीजिय—

राजा प्रकृतिरञ्जनात् । —रघु० ४।१२,

राजा प्रजारञ्जन-लब्ध-वर्ण ।
परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥ —रघु० ६।२१

२ तपसो वारयामास उमेत्यवाब्रवीच्च सा । —वामन ४७।२४

तुलना कीजिये—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा ।
पश्चादुमाख्या सुमुखी जगाम ॥ —कुमार० १।२६

३ विशेष साम्य के दृष्टान्तो के लिए द्रष्टव्य ।
पुराणम् (रामनगर दुर्ग वाराणसी) वर्ष ४, पृष्ठ १८९–१९२

शैव होने पर भी वैष्णव मत के साथ किसी प्रकार के विरोध या संघर्ष की भावना नहीं है। वर्णन सर्वत्र उदार व्यापक तथा मौलिक हैं। कालिदास के काव्य द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचना का काल कालिदासोत्तर युग है अर्थात् ६०० ई०—९०० ई० बीच वामनपुराण का आविर्भाव मानना उचित है।

वामनपुराण के अध्यायों के विषय मे हस्तलेखों का साक्ष्य बड़ी विभिन्नता प्रस्तुत करता है। नारदपुराण ( ) म वर्णित विषयानुक्रमणी के आधार पर वामन के दो खण्ड बतलाये गये है—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। वेंकटेश्वर से प्रकाशित स० में पूर्वार्ध का विषय तो यथार्थत मिल जाता है, परन्तु उसमें उत्तरार्ध का सर्वथा अभाव है। उत्तरार्ध में माहेश्वरी, भगवती गौरी तथा गाणेश्वरी—नामक चार संहिताओं का चार सहस्र श्लोकों में अस्तित्व न तो मुद्रित प्रति में है और न उसके नाना हस्तलेखों में ही। मुद्रित प्रति ६ सहस्र श्लोको की है (वास्तव संख्या ५८१५ श्लो०) जो ९५ अध्यायों मे विभक्त है।

काशीराज निधि के निर्देश मे सम्पादित हस्तलेखों का परीक्षण चार प्रकारो का द्योतक है—(१) देवनागरी हस्तलेखों के साक्ष्य पर ८३ तथा ८४ अध्यायों को सम्मिलित करने पर ९४ अ० है (२) तेलुगु हस्तलेखों में केवल ८९ अ० ही हैं। पाँच अध्याय (जिनमें कतिपय तीर्थ तथा चार विष्णुस्तोत्र हैं) बिल्कुल छोड दिये गये हैं, (३) शारदा हस्तलेख में ८५ अ० केवल वर्तमान है, (४) अड्यार तथा शृंगेरी के हस्तलेखों में अध्यायों की संख्या सबसे कम केवल ६७ ही है। इस प्रकार अध्यायों की बडी विभिन्नता होने से वामन के मूलरूप का निर्णय करना कठिन है। नारदीय के अनुसार दश सहस्र श्लोकों का परिमाण तो कथमपि सम्पन्न नहीं होता[1] (त्रिविक्रमचरित्राढ्य दशसाहस्रसंख्यकम्) न मुद्रित प्रति में और न हस्तलेखों में भी।

(१५) कूर्मपुराण

इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्ध (५३ अध्याय) तथा उत्तरार्ध (४६ अध्याय)। आजकल यह पाशुपत मत का विशेषरूप से वर्णन करता है, परन्तु डा० हाजरा की मान्यता है कि यह प्रथमत पाञ्चरात्र मत का प्रतिपादक पुराण था। ईश्वर के विषय में इसका कथन है कि वह एक है (उत्तरार्ध ११।११२।१५) परन्तु उसने अपने को विभक्त किया दो रूपों में नारायण और ब्रह्मा रूप में (११९।४०) अथवा विष्णु और शिवरूप मे (११२।९५) अथवा तीन

१ द्रष्टव्य श्री आनन्दस्वरूप गुप्त का लेख On the adhyayas of the Vamana Purana—Purana (Vol V 1963, pp 360—366)

रूप मे (१।१०।७७) ब्रह्मा, विष्णु और हर के रूप मे। महेश्वर की शक्ति का भी विशिष्ट वर्णन मिलता है (पूर्वार्ध १२ अ०)। यह शक्ति चार प्रकार की मानी गई है—शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। ये ही तन्त्रशास्त्र मे 'कला' के नाम से सकेतित की जाती हैं। इन्ही के कारण परमेश्वर 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है—ठीक पाञ्चरात्रो के समान (पूर्वार्ध १२।१२)। इसी अध्याय मे हिमालय-कृत देवी का सहस्रनाम भी वर्णित है। इसके उत्तरार्ध मे दो गीतायें हैं—ईश्वरगीता (अ० १-११) इसमें शैवदर्शन-विषयक तत्त्वो का विवेचन है जिसमें (११ अ० में) पाशुपत योग का विशद और महत्वपूर्ण विवरण है। व्यासगीता (१२ अ०-३४ अ०) में वर्णाश्रम के धर्मों का तथा सदाचार का विशद प्रतिपादन है। भोजन के प्रकार का वर्णन आधुनिकता से सवलित है। कूर्म पुराण की ब्राह्मी सहिता के ही स्वरूप का यह विवेचन है, अन्य सहितायें तो आज उपलब्ध नही होतीं। परन्तु नारदीय पुराण में इन तीनो—भागवती, सौरी और वैष्णवी-सहिताओ के भी विषय का सक्षेप दिया गया है जिससे उनका स्वरूप भली भाँति समझा जा सकता है।

निबन्धग्रन्थो मे कूर्म के उद्धरण अधिक नही मिलते। पद्मपुराण के पाताल खण्ड में (१०२।४१-४२) मे कूर्म पुराण का नाम उल्लिखित है तथा एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है—

> कौर्मं समस्तपापानां नाशनं शिवभक्तिदम्।
> इदं पद्यं च शुश्राव पुराणज्ञेन भाषितम्॥
> ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
> कौर्मं पुराणं श्रुत्वैव मुच्यते पातकात्ततः॥

कल्पतरु ने श्राद्ध के विषय मे दो श्लोको को उद्धृत किया है (पृ ११९) तथा अपरार्क ने कूर्म के तीन पद्य दिये हैं और ये तीनों उपवास के विषय मे है। स्मृतिचन्द्रिका ने एक सौ वचन कूर्म से उद्धृत किया है जिनमे से लगभग ९४ श्लोक आह्निक के विषय में है।

पाशुपत मत का प्राधान्य होने से यह पुराण षष्ठ-सप्तक शती की रचना है जब पाशुपत मत का उत्तर भारत मे, विशेषत राजपूताना और मथुरा मण्डल मे, प्राधान्य था।

(१६) मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण पुराण-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है प्राचीनता की दृष्टि से तथा वर्ण्य विषय की व्यापकता की दृष्टि से इसीलिए वामनपुराण

मत्स्य को पुराणो में सवश्रेष्ठ अगीकार करता है (पुराणेषु तथैव मात्स्यम्)। इसके देश तथा काल के निर्णय में अनेक मत है। प्रथमत मत्स्य के उत्पत्ति-स्थल का विचार कीजिये।

(१) देशविचार

सब से विचित्र मत है पार्जीटर का जो आन्ध्रप्रदेश को इसका उदय स्थल मानते हैं। उनकी धारणा है कि मत्स्य मे कल्कि का वर्णन आन्ध्रनरेश यज्ञश्री के राज्यकाल में द्वितीयशती के अत में जोडा गया। परन्तु ग्रथ की अन्तरङ्ग परीक्षा इस मत की सपुष्टि नही करती। मत्स्य पुराण के अनुशीलन से नर्मदा नदी की असामान्य प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की गाथा अभिव्यक्त होती है —

(क) प्रलय के समय नाश न होन वाले वस्तुओं में नमदानदी यहाँ अयतम मानी गई है—

> एक स्थास्यसि देवेषु दग्धेष्वपि परन्तप।
> सोमसूर्यावह ब्रह्मा चतुर्लोकसमन्वित ॥
> नर्मदा च नदी पुण्या मार्कण्डेया महामुनि ।
> भवो वेदा पुराणाश्च विद्याभि सर्वतो वृतम् ॥

—मत्स्य २।१२-१४

मत्स्य का यह वचन मनु से देवा को दग्ध हो जान पर बचने वाले पदार्थों की सूची देता है जिसमें पुण्यनदी नर्मदा का उल्लेख है। सामान्यत गगा पुण्यतमा नदी होने से प्रलयकाल में अपनी स्थिति अक्षुण्ण बनाये रहती है—यह वणन आश्चर्य नही प्रकट करता परन्तु नर्मदा नदी को प्रलय में लुप्त न होने का सकेत ग्रथकार का विशेष पक्षपात इस नदी को ओर प्रकट कर रहा है।

(ख) नमदा का माहात्म्य ९ अध्यायो म (१८६-१९५ अ०) बडे विस्तार से दिया गया है। मत्स्यपुराण का लेखक नमदा नदी के तीरस्थ छोटे छोटे स्थानों से भी अपना परिचय अभिव्यक्त करता है जो किसी दूरस्थ तथा उस स्थान से अपरिचित लेखक के लिए नितान्त असम्भव होता। एक पूरे अध्याय (१८८ अ०) म नमदा और कावेरी का सगम वर्णित है। यह कावेरी दक्षिण भारत की वह प्रसिद्ध नदी नही है प्रत्युत मध्य भारत मे ओंकारेश्वर के समीप नमदा से सगत होन वाली एक क्षुद्र नदी है। यह सगम गङ्गा-यमुना के समान अत्यन्त पवित्र तथा सद्य स्वर्गप्रापक बतलाया

गया है।[1] नर्मदा तटवर्ती छोटे छोटे स्थानों से भी यह पुराण परिचित है। यथा **'दशाश्वमेध'** *का उल्लेख (१९२।२१) मिलता है, जो भडोच में एक पवित्र* घाट है; **भारभूति** (१९३।१८) एक छोटा तीर्थ है जो नर्मदा के उत्तरी तट पर भडोच से आठ मील दूर 'भाडभूत' के नाम से आज विख्यात है। इसी प्रकार **कोटितीर्थ** की स्थिति इसी नाम से है। इन छोटे छोटे तीर्थों का वर्णन ग्रन्थकार के नर्मदा प्रदेश से एकदम गाढ तथा घनिष्ठ परिचय का द्योतक है

इन प्रमाणों के आधार पर मत्स्य पुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा प्रदेश *मानना नितान्त उपयुक्त तथा प्रामाणिक है।*[2]

(२) कालविचार

मत्स्यपुराण में धर्मशास्त्रीय विषयों का बाहुल्य है। इस पुराण ने मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति से भी अनेक श्लोकों को आत्मसात् कर लिया है। शिव तथा विष्णु—इन दोनों देवों के बीच मत्स्य सतुलित वर्णन करता है। विष्णु तथा शिव दोनों के अवतारों का वर्णन समान भाव से बहुसख्यक श्लोकों में करता है। काणे महोदय ने निबन्धों में उद्धृत मत्स्य के श्लोकों का विवरण दिया है (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, ५ खण्ड, २ भाग, पृ० ८९९)। मत्स्यपुराण का एक संक्षेप भी **स्वल्प मत्स्य पुराण** के नाम से विख्यात है जिसका कुछ नमूना 'पुराणम्' में प्रकाशित (खण्ड ४, १९६३) है। मत्स्यपुराण में प्राचीन वैदिक तथा सस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों का निर्देश मिलता है जिनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।[3] कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक तथा मत्स्य के उर्वशी उपाख्यान (२४ अध्याय) में आश्चर्यजनक साम्य है। दोनों में घटनाचक्र की समानता सचमुच आश्चर्यकारिणी है। यह निर्णय करना कठिन है कि कौन किसका अधमर्ण है ? कालिदास मत्स्य का अथवा मत्स्य कालिदास का ? मत्स्य प्राचीन पुराणों में अन्यतम

---

१ गङ्गायमुनयोर्मध्ये यत् फल प्राप्नुयान्नर ।
कावेरीसङ्गमे स्नात्वा तत् फल तस्य जायते ॥

—१८८।१९

२. विशेष के लिए द्रष्टव्य S G Kantawala : Home of the Matsya Purana in Purāna (Vol III, no. 1 Jan 1961) pp. 115—119.

३. द्रष्टव्य Dr. Raghawan . Gleanings from the Matsya purana (Purana, Vol I pp 80–88)

है। प्रक्षेपविहीन सर्वथा सुरक्षित पुराणों म स मत्स्य का स्थान निःसन्देह उन्नत है—यह लेखक की दृढ़ मान्यता है। इसका आविर्भावकाल २०० ई० से लेकर ४०० ई० के बीच मानना चाहिए। उक्त अधमर्णता का निर्णय कालिदास के आविर्भावकाल के ऊपर आश्रित है। यदि कालिदास गुप्त युग म उत्पन्न हुए तो निश्चित रूप से उन्होंने मत्स्यपुराण से अपने उक्त नाटक की कथावस्तु को सगृहीत किया। अत मत्स्य पु० के व ही अधमर्ण हैं। वतमान लेखक इससे विपरीत मत रखता है।

(१७) गरुडपुराण

गरुडपुराण अग्निपुराण के समान ही समस्त उपादेय विद्याओ का सग्रह प्रस्तुत करता है और इसलिए इसे हम पौराणिक विश्वकोष की सज्ञा स पुकार सकते हैं। इस पुराण के दो खण्ड है (१) पूर्वखण्ड (२२९ अध्याय) तथा (२) उत्तर खण्ड मे (३५ अ०)। पूरे ग्रन्थ को अध्याय सख्या २६४ है। उत्तर खण्ड प्रेतकल्प के नाम से प्रख्यात है और मरणोत्तर प्रेत की गति विधि कमजन्य स्थानप्राप्ति आदि यावत् प्रेतसम्बन्धी विषयो का यहाँ सकलन है। पूर्वखण्ड मे नाना विद्यासम्बन्धी विवरण कही सक्षेप मे और कही विस्तार मे दिये गये है। अपने स्वरूप के अनुसार यह पुराण महाभारत रामायण तथा हरिवंश आदि मान्य ग्रन्थो का सार प्रस्तुत करता है।

धर्मशास्त्रीय विषयो का यहाँ विवरण यथेच्छ मात्रा मे है। यहाँ वर्णधर्म का विवरण (९३ अ०–१०६ अ० पर्यन्त) याज्ञवल्क्यस्मृति पर आधृत है। इसमे याज्ञ० के राजधर्म और व्यवहार प्रकरण सकलित नही है। स्मृति के अनेक वचन ईषत् पाठान्तर के साथ यहाँ सकलित किये गये हैं। कलियुग मे विशेष उपादेय (कलौ पाराशरस्मृति) पराशर स्मृति का भी सार १०७ अ० मे दिया गया है केवल ३८१ श्लोको म। नारद पुराण की सूची मे यह अश कथित नही हुआ ह जिससे प्रतीत होता है कि यह अश पीछे जोडा गया है। गरुड पुराण १४६ अ० १६७ अ०) ज्वर रक्तपित्त अतिसार आदि रोगो के निदान का वर्णन करता है तथा १६८ अ०–१७८ अ० तक चिकित्सा का भी विवरण देता है।

विचारणीय है कि गरुड किस आयुर्वेद ग्रन्थ का सारसकलन कर रहा है? वाग्भट की अष्टाङ्गहृदयसंहिता से ही गरुडपुराण ने पूर्वोक्त अध्यायो की सामग्री सकलित की है। दोनो मे इतनी अधिक अक्षरश समता है कि गरुड की अधमर्णता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। गरुड ने इतना ही

किया है कि कहीं-कहीं मूलग्रन्थ के एक अध्याय को दो या तीन अध्यायों में विभक्त कर दिया है। उदाहरणार्थ—

गरुड—परिच्छेद		वाग्भट
१५२ १५३	=	अध्याय ३
१५४ १५५	=	,, ४
१५६ १५७ १५८	=	,, ५
१५९	=	,, ६

तिब्बती में 'अष्टाङ्गहृदय संहिता' का अनुवाद मिलता है जिससे वाग्भट द्वितीय का समय अष्टम तथा नवमशती के मध्य मे माना जाता है। इसका अनुसरण करने वाले गरुडपुराण का भी यही समय होना चाहिए। अतः यह नवम शती से पूर्वकालीन नहो हो सकता। गरुडपुराण का उल्लेख 'तार्क्ष्य-पुराण' के नाम से बल्लालसेन ने 'दानसागर' मे किया है। अलबरुनी ने इसका नामोल्लेख किया है तथा भोजराज ने अपने 'युक्तिकल्पतरु' मे गरुड० से श्लोक उद्धृत किये हैं। फलतः यह पुराण १००० ईस्वी के उत्तरकालीन नहीं हो सकता। अष्टम—नवम शती में गरुड का निर्माण मानना अप्रासङ्गिक नहीं होगा[1]।

गरुडपुराण से १०८ अ० से लेकर ११५ अ० तक सामान्य व्यावहारिक नीति और विशिष्ट राजनीति के विषय में श्लोक संगृहीत किये गये हैं। यह अश कहीं 'नीतिसार' के नाम से और कहीं 'बृहस्पति संहिता' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इस अश के मूल का अन्वेषण डा० लुर्डविक स्टर्नवाख नामक अमेरिकन विद्वान् ने बडे परिश्रम और अनुसन्धान से किया है। उनके अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि यह बृहस्पति संहिता 'चाणक्यराजनीति-शास्त्र' नामक ग्रन्थ मे समुल्लिखित चाणक्यनीतिवाक्यों के साथ एकाकार है। संहिता के श्लोको की संख्या ३९० है। इनमे से ३३४ श्लोक चाणक्यराजनीति-शास्त्र के श्लोकों के साथ समता रखते हैं; ११ श्लोक चाणक्य के द्वारा

---

१. द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वाटरली, कलकत्ता, जिल्द ६, १९३०, पृ० ५५३-५६०

प्रणीत अन्य ग्रन्थो मे मिलते है और ५ श्लोक अन्य संस्कृत ग्रन्थो में उपलब्ध है। इस प्रकार 'बृहस्पतिसंहिता' के केवल ३९ श्लोक ही ऐसे हैं जिन्हे हम गरुडपुराणकार की निजी रचना मान सकते हैं। एक बात और भी ध्यातव्य है। इनमें से ३१ श्लोक ऐसे भी है जो चाणक्य के ग्रन्थो मे तथा इतर पुराणो मे भी उपलब्ध होते है। 'चाणक्यराजनीतिशास्त्र' चन्द्रगुप्तमौर्य के विश्रुत मन्त्री चाणक्य की ही नि सन्दिग्ध रचना है—यह कथन विश्वास-योग्य नही है। तथ्य यह है कि इधर-उधर विकीर्ण नीतिविषयक श्लोक राजनीति मे अलौकिक पाटव के कारण सम्मान्य चाणक्य की रचना के रूप मे कल्पित कर लिये गये हैं और ऐसे ही श्लोकों का संग्रह ग्रन्थ है चाणक्यराजनीतिशास्त्र।

हम निश्चितरूपेण जानते है कि यह चाणक्यराजनीतिशास्त्र तिब्बती तञ्जूर मे तिब्बती भिक्षु 'रिन-चेन-जोन-पो' के द्वारा अनूदित कर संगृहीत किया गया है। इस भिक्षु का जन्म ९५५ ई० मे हुआ था जिससे इस तथ्य पर हम पहुँच सकते हैं कि कम से कम १०म शती मे यह ग्रन्थ संगृहीत हुआ था। उस युग मे यह नितान्त प्रख्यात था तथा समादृत था। इसीलिए 'गरुडपुराण' मे इसे संगृहीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। चाणक्य के नाम से प्रख्यात अनेक नीतिवाक्य केवल पुराणों मे ही उपलब्ध नही होते, प्रत्युत बृहत्तर भारत के साहित्य मे भी—जावा, बरमा, तिब्बत, सिंहल आदि देशो के पाली साहित्य मे भी—यह सुरक्षित मिलता है। यह चाणक्यनीति की व्यावहारिकता, अनुभवप्रवणता तथा सार्वभौम प्रभाव का विस्पष्ट निदर्शन है। फलत. गरुडपुराण की इस 'बृहस्पतिसंहिता' की रचना नवमशती से भी प्राचीन माननी चाहिये। तिब्बत मे जाने तथा वहां अनूदित किये जाने के लिए यदि एक शताब्दी का समय हम मानें, तो 'चाणक्यराजनीति शास्त्र का संकलन-काल अष्टम शती में माना जा सकता है। और गरुडपुराण मे उसका संग्रह उस युग से थोडा हटकर होना चाहिये—नवमी शती के आसपास[1]। डा० हाजरा ने गरुडपुराण के उद्भव स्थान को मिथिला में माना है[2]।

---

१ डा० स्टेर्नबाख ने 'बृहस्पतिसंहिता' के समस्त श्लोको की तारतम्य परीक्षा 'चाणक्यराजनीतिशास्त्र' की मुद्रित और हस्तलिखित प्रतियो के पद्यो के साथ बडे परिश्रम से की है। इसके लिये द्रष्टव्य उक्त लेखक का एतद्विषयक निबन्ध 'Canakya's Aphorisms In puranas'...पुराणम् (खण्ड ६, सं० १ जनवरी, १९६४) पृष्ट ११३—१४६।

२ पुराण (चतुर्थ खण्ड) पृ. ३५४-३५५

(१८) ब्रह्माण्ड पुराण

पुराणों में यही अन्तिम पुराण है। वायु के समान इसके चार विभाग हैं जो तत्समान ही नाम धारण करते हैं। इनमें सबसे बडा भाग है तृतीय पाद जिसके आरम्भ मे श्राद्ध का विषय बडे ही साङ्गोपाङ्ग के रूप में, मुख्य तथा अवान्तर प्रभेदों के साथ वर्णित है (९-२० अ० तथा ८७९ श्लोकों पे)। इसके अनन्तर परशुराम की कथा भी बडे वैशद्य के साथ यहाँ प्रतिपादित है (२१-४७ अ० तथा १५५० श्लोकों मे। पुराण कार परशुराम तथा कार्तवीर्य हैहय के सघर्ष को बडा महत्त्व देता है और उसने इस कथा के विस्तार के निमित्त लगभग डेढ हजार श्लोकों का उपयोग किया है। तदनन्तर राजा सगर की तथा राजा भगीरथ द्वारा गगा के आनयन की कथा दी गई है (४८-५७ अ०)। सूर्य तथा चन्द्रवश के राजाओ का विवरण ५९ अ० मे दिया गया है। निबन्ध-ग्रन्थो मे ब्रह्माण्ड के श्लोक मिलते हैं। मिताक्षरा मे केवल एक श्लोक मिलता है, अपरार्क में ७५ (जिनमे से ४६ श्राद्ध के विषय में है), स्मृतिचन्द्रिका में ५०, परन्तु कल्पतरु में इनकी अपेक्षा कम श्लोक ही उद्धृत हैं—१६ श्राद्ध के विषय में और १६ मोक्ष के विषय में। यह पुराण शब्दो की निरुक्तियाँ देने में बडी अभिरुचि रखता है। एक दो निरुक्तियाँ यहाँ नीचे दी जाती हैं।

देश—[1]सह्य पर्वत के उत्तर मे प्रवाहित होने वाले गोदावरी नदी वाला प्रदेश भारतवर्ष मे समधिक रमणीय तथा मनोरम बतलाया गया है जिससे अनुमान होता है कि ब्राह्मण के निर्माण का यही विशिष्ट देश था।

ब्रह्माण्ड निश्चयेन परशुराम की महिमा तथा गौरव का प्रतिपादन असाधारण ढग से करता है। परशुराम का सम्बन्ध भारतवर्ष के पश्चिमी तटवर्ती सह्याद्रि प्रदेश से हैं। परशुराम जी प्रथमत महेन्द्र पर्वत (गजम जिले मे पूरबी घाट की आरम्भिक पहाडी) पर तपश्चर्या करते थे। समग्र पृथ्वी को दान मे दे डालने पर उन्हे अपने लिए भूमि खोजने की जरूरत पडी। उन्होंने समुद्र से वह भूमि माँगी जो सह्याद्रि तथा अरब सागर के

---

१. सह्यस्य चोत्तरान्तेषु यत्र गोदावरी नदी।
पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरम.॥
तत्र गोवर्धनं नाम पुरं रामेण निर्मितम्।

—ब्रह्माण्ड २।१६।४३-४४

गोवर्धन के लिए द्रष्टव्य काणे हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, भाग ४
पृ० ७१०, टि० १६१८

मध्य मे सँकरी जमीन है। वही कोकण है जो चित्पावन ब्राह्मणो का मूल स्थल है। इस प्रकार परशुराम से विशेषभावेन सम्बद्ध होने से ब्रह्माण्ड पुराण का उदय-स्थल सह्यादि तथा गोदावरी प्रदेश मे होना सर्वथा सुसगत है।

काल—वायु के साथ ब्रह्माण्ड की समधिक समता दोनो के किसी एक मूल की कल्पना को अग्रसर करती है। डा० किरफेल ने अपने ग्रन्थ की भूमिका मे इन दोनो पुराणो के साम्य रखने वाले अध्यायो का विशेषरूप से विश्लेषण किया है। इन दोनो पुराणो के पार्थक्य का युग चतुर्थ शती के आसपास माना गया है। अर्थात् अनुमानत. ४०० ईस्वी के आसपास ब्रह्माण्ड ने अपना यह विशिष्ट वैयक्तिक रूप ग्रहण किया। प्रचलित पुराण का समय अन्तरंग परीक्षण के आधार पर निश्चित किया गया है। परशुराम का चरित्र यहाँ २८ अध्यायो मे बडे मनोरजक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है जिसकी तुलना महाभारत मे निर्दिष्ट तच्चरित से की जा सकती है। वह परिबृहण निश्चित रूप से महाभारत (३०० ईस्वी आसपास) से उत्तरकालीन है। ब्रह्माण्ड राजनीतिसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो का विशेष प्रयोग करता है जिसमे 'महाराजाधिराज' पदवी महत्त्व की है। पर्वतो मे सर्वश्रेष्ठ हिमालय की उपमा 'महाराजाधिराज' के साथ दी गई है (दृष्ट्वा जनैरासाद्यो महाराजाधिराजवत्-ब्रह्माण्ड ३।२२।२८) इस शब्द का प्रयोग उपाधि के रूप मे गुप्त नरेशो ने किया जिनके करद राजा सामन्त नाम से गुप्तो के अभिलेखो मे व्यवहृत हैं। यह पुराण कान्य-कुब्ज के भूप का निर्देश करता है (३।४१।२२) जो निश्चय रूप से गुप्त नरेशों के उत्तरकालीन मौखरिराजा का सूचक माना जा सकता है। कालिदास के काव्यो का तथा उनकी वैदर्भीरीति का प्रभाव इस पुराण के वर्णनो पर हैं। इन सब उपकरणो का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना गुप्तोत्तर युग मे अर्थात् ६०० ईस्वी मे मानना कथमपि इतिहास-विरुद्ध नही है। ६०० ई०—९०० ई० तक तीन शताब्दियो मे इसके प्रतिसस्कार का समय न्यायतः माना जा सकता है[1]।

भागवत की टीकायें

टीकासंपत्ति की दृष्टि से भी भागवत पुराण-साहित्य मे अग्रगण्य है। भागवत इतना सारगर्भित तथा प्रमेय-बहुल है कि व्याख्याओं के प्रसाद से ही

---

१. द्रष्टव्य Date of the Brahmanda Purana by S. N. Roy (Purana, Vol V no 2, guly 1963) pp —305—319

उसके गभीर अर्थ में मनुष्य प्रवेश पा सकता है। 'विद्यावता भागवते परीक्षा' कोई निराधार आभाणक नहीं है। समस्त वेद का सारभूत, ब्रह्म तथा आत्मा की एकता-रूप अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है और यह उसी में प्रतिष्ठित है। कैवल्य-मुक्ति-ही इसमें निर्माण का एकमात्र प्रयोजन है। इसी के गभीर अर्थ को सुबोध बनाने के निमित्त अत्यत प्राचीन काल से इसके ऊपर टीकाग्रन्थों की रचना होती चली आ रही है। इनमे से मुख्य टीकाओ का ही विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न वैष्णव सप्रदाय के आचार्यो ने अपने मत के अनुकूल इस पर प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं और अपने मत को भागवत-मूलक दिखलाने का उद्योग किया है।

(१) श्रीधर स्वामी—भावार्थदीपिका

श्रीधरस्वामी की टीका उपलब्ध टीकाओ म सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्राचीन प्रतीत होती हैं। टीका के मंगल श्लोक से जान पडता है कि ये नृसिह भगवान् के उपासक थे। इनकी टीका के विषय मे यह प्रसिद्ध है—

> व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
> श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह-प्रसादतः।

भागवत का मर्म व्यास जी तथा उनके पुत्र शुकदव जी जानते हैं। राजा परीक्षित के ज्ञान मे सदेह है कि वे जानते है कि नही। परन्तु ऐसे गभीर अर्थ को भी श्रीधर स्वामी भगवान् नृसिंह की कृपा से भली भाँति जानते हैं। चैतन्य को श्रीधर टीका मे इतनी आस्था थी कि व कहा करते थे कि जिस प्रकार स्वामी की प्रतिकूल भार्या पतिव्रता नही हो सकती, उसी प्रकार स्वामी का प्रतिकूल व्यक्ति भागवत का मर्म समझ ही नहीं सकता। श्रीधर शकराचार्य के अद्वैतानुयायी हैं, परन्तु भिन्न मत होने पर भी चैतन्य सप्रदाय का आदर इसके महत्त्व तथा प्रामाण्य का पर्याप्त परिचायक है। इसीलिए यह टीका सर्वापेक्षा अधिक लोकप्रिय है। इस टीका की उत्कृष्टता के विषय मे नाभादास जी ने अपने भक्तमाल में एक प्राचीन आख्यान का निर्देश किया है। श्रीधर के गुरु का नाम परमानद था जिनकी आज्ञा से काशी मे रह कर ही इन्हो ने भागवत की टीका लिखी। टीका की परीक्षा के निमित्त यह ग्रन्थ बिन्दुमाधव जी की मूर्ति के सामने रख दिया गया। एक प्रहर के बाद पट खोलने पर लोगो ने आश्चर्यभरे लोचनो से देखा कि माधव जी ने इस व्याख्या-ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थो के ऊपर रखकर उत्कृष्टता सूचक अपनी मुहर लगा दी थी। तब से इसकी ख्याति समस्त भारतवर्ष मे हो गई। नाभादास जी के शब्दों मे—

> तीन काण्ड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।
> कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत।

'परमहंससंहिता' विदित टीका विसतारयौ।
षट शास्त्रनि अविरुद्ध वेद-सम्मतहिं विचारयौ।
'परमानंद' प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियौ।
श्रीधर श्री भागौत मैं परम धरम निरनै कियौ ॥
—(छप्पय ४४०)

श्रीधर ने इस ग्रन्थ मे वेदात के प्रसिद्ध आचार्य चित्सुखाचार्य की टीका का निर्देश किया है। राधारमणदास गोस्वामी ने दीपनी नामक व्याख्या श्रीधरी पर लिख कर उसे सुबोध बनाया है।

श्रीधर स्वामी के समय का यथार्थ निरूपण भागवत के टीकाकारो के पौर्वापर्य जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(क) श्रीधर ने चित्सुखाचार्य के द्वारा विरचित भागवतव्याख्या का अनुसरण अपनी टीका मे किया है। चित्सुख का समय १२२० ई०–१२८४ ई० बीच स्वीकृत किया जाता है। फलतः १२०० ई० इनके काल की पूर्व अवधि मानी जा सकती है।

(ख) श्रीधर ने बोपदेव का सकेत तथा उल्लेख अपनी भागवत टीका मे किया है और इनके भागवतप्रणेतृत्व का खण्डन भी किया है। फलतः ये १३०० ई० से पूर्ववर्ती नही हो सकते।

(ग) श्रीधर के कतिपय पद्यो को नामनिर्देशपुरःसर श्रीरूपगोस्वामी ने अपने सूक्तिसग्रह 'पद्यावली' मे उद्धृत किया है। फलतः 'श्रीधर १६ वी शती से पूर्ववर्ती हैं।

(घ) श्रीधर ने विष्णुपुराण पर जो 'स्वप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी है, उसके उपलब्ध हस्तलेखो मे प्राचीनतम हस्तलेख का समय १५११ ईस्वी है। फलतः १५०० ई० श्रीधर के समय की उत्तर अवधि है।

(ङ) विष्णुपुरी ने अपनी 'भक्तिरत्नावली' की स्वरचित व्याख्या 'कान्तिमाला' मे श्रीधर स्वामी के भागवत तात्पर्य को पूर्णतया स्वीकृत किया है। इसका उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में उन्होने स्वय किया है[1]। इस ग्रन्थ का प्रणयन काल १५५५ शाक संवत् (=१६३३ ई०) है[2]। फलतः श्रीधर का समय १६०० ई० से पूर्ववर्ती होना चाहिये।

---

१ अत्र श्रीधरसत्तमोक्तिलिखने न्यूनाधिक यद्भवभूत्।
तत् क्षन्तुं सुधियोऽर्हंत स्वरचनाउद्धरस मे चापलम् ॥
—भक्तिरत्नावली १३।१४

२. ग्रन्थ के अन्त में (१३।१६) यह तिथि दी गई है:—
महायज्ञ-शर-प्राण-शशाङ्कगणिते शाके।
फाल्गुने शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां शुभंगले ॥

इस प्रकार श्रीधर स्वामी का समय वोपदेव तथा विष्णुपुरी के बीच में कहीं होना चाहिये। पूर्वोक्त निःसंदिग्ध प्रमाणों के साक्ष्य पर इनका आविर्भाव-काल १३००-१३५० ई० अर्थात् १४ वीं शती का मध्यभाग मानना सर्वथा उचित है।

विशिष्टाद्वैत-टीकायें

(२) सुदर्शन सूरि—शुकपक्षीया

श्रीरामानुज के श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' के रचयिता सुदर्शन सूरि विशिष्टाद्वैत मत के विशिष्ट आचार्य हैं। इनका समय १४ श० ईस्वी था। सुनते हैं कि दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के सेनापति ने जब १३६७ ई० में श्रीरंगम् पर आक्रमण किया था तब उस युद्ध में ये मारे गये थे। इनकी टीका परिमाण में स्वल्प होने पर भी भावप्रकाशन में गंभीर है।

(३) वीरराघव—भागवत चंद्रिका

वीरराघव की यह टीका पूर्व टीका की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। ये सुदर्शन सूरि के ही अनुयायी हैं। समय १४ शतक माना जाता है। रामानुज के मतानुसार भागवत के रहस्यों की जानकारी के लिए यह टीका अनुपम है। ये वत्सगोत्री श्रीशैलगुरु के पुत्र थे, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है।

द्वैतमत टीका

(४) विजयध्वज—पदरत्नावली

द्वैत मत के प्रतिष्ठापक श्रीमध्वाचार्य ने भागवत के रहस्यों के उद्घाटनार्थ, 'भागवततात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा था, परंतु यह वस्तुतः व्याख्या नहीं है। इस मत के अनुकूल प्रसिद्ध टीकाकार हैं विजयध्वज, जिन्होंने अपनी 'पदरत्नावली' में भागवत की द्वैतपरक व्याख्या लिखी है। अपनी टीका के आरंभ में इन्होंने आनंदतीर्थ (मध्वाचार्य) तथा विजयतीर्थ के ग्रन्थ के आधार पर अपने टीकानिर्माण की बात लिखी है[1]। आनंदतीर्थ का तो पूर्वोक्त ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है, परन्तु विजयतीर्थ के भागवत-विषयक ग्रन्थ का पता नहीं चलता। पदरत्नावली सुबोध तथा प्रामाणिक है।

वल्लभमत टीका

(५) वल्लभाचार्य—सुबोधिनी

आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत के अनुसार अपनी प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी लिखी है। यह समग्र भागवत के ऊपर उपलब्ध नहीं होती। आरंभ के कतिपय

---

१ आनन्दतीर्थ-विजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करि-वर-वर्यौ।
तयो कृति स्फुटमुपजीव्य प्रवच्मि भागवतपुराणम् ॥ —टीका का आरंभ

स्कन्धो के अतिरिक्त यह सपूर्ण दशम स्कध के ऊपर है। सुबोधिनी यहा ही गभीर तथा विवेचनात्मक व्याख्या है। वल्लभाचार्य ने भागवत के स्कधो का नई दृष्टि से विभाग कर उसमे नये अर्थ ढूढ निकाला है। वे कहते हैं कि भगवान् विष्णु के स्पष्ट आदेश पाकर ही उन्होने इस टीका का निर्माण किया। इनके सप्रदाय मे गिरिधर महाराज ने भी भागवत पर टीका लिखी है जिसमे स्कधों के ही विषय का नही, प्रत्युत उनके अध्यायो के विषय का भी बडा ही सूक्ष्म विभाजन प्रस्तुत किया गया है। भागवत के आध्यात्मिक अर्थ समझने में इससे बडी सहायता मिलती है। अन्य टीकायें भी छोटी-मोटी यहा उपलब्ध होती हैं।

निम्बार्क मत टीका

(६) शुकदेवाचार्य–सिद्धांतप्रदीप

आचार्य निम्बार्क की लिखी भागवत की कोई व्याख्या नही मिलती। उनके मतानुयायी शुकदेवाचार्य ने भागवत की यह नई टीका लिखकर अपने सिद्धान्तो का प्रकाशन किया है। टीका के आरभ मे इन्होने अपने प्राचीन आचार्य श्रीहंस भगवान्, सनत्कुमार, देवर्षि नारद तथा निंबार्काचार्य को नमस्कार किया है। यह टीका तो पूरी भागवत पर है, परन्तु इस मत के अन्य आचार्यों ने भी दशम स्कध के रासलीला आदि प्रसंगो की बडी सरस व्याख्या प्रस्तुत की है।

चैतन्य संप्रदाय—

(७) सनातन गोस्वामी–बृहद् वैष्णवतोषिणी

श्रीचैतन्य श्रीधर स्वामी की टीका को अपने मत के लिए भी प्रामाणिक मानते थे, परन्तु उनके अनुयायी गोस्वामियो ने भागवत पर अनेक टीकाओ का निर्माण किया है जिनमे सनातन गोस्वामी की यह टीका प्राचीनतर तथा अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। यह केवल दशम स्कध पर ही है।

(८) जीव गोस्वामी–क्रमसंदर्भ

जीव गोस्वामी की यह टीका समस्त भागवत के उपर है। व्याख्यान की दृष्टि से बडी ही प्रामाणिक तथा तलस्पर्शिनी है। जीव गोस्वामी भागवत के अनुपम मार्मिक विद्वान् थे और इस पुराण के गूढ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने षट् सदर्भ नामक ६ संदर्भों की पृथक् रचना की है। यह क्रमसंदर्भ एक प्रकार उनका सप्तम संदर्भ है। अपने पितृव्य रूप और सनातन की आज्ञा से निर्मित होने के कारण ये इस ग्रन्थ को 'रूपसनातनानुशासनभारतीगर्भ'कहा है'[1]।

---

1. क्रमसदर्भ की पुष्पिका इस प्रकार है—श्रीरूपसनातनानुशासनभारतीगर्भे सप्तसन्दर्भात्मक-श्रीभागवत-सन्दर्भे प्रथमस्कन्धस्य क्रमसन्दर्भः समाप्त'।

(९) विश्वनाथ चक्रवर्ती—सारार्थदर्शिनी

विश्वनाथ चक्रवर्ती चैतन्य संप्रदाय के मान्य आचार्य थे। उन्होंने ही भागवत की यह सुबोध टीका निबद्ध की है जो श्रीधर स्वामी, प्रभुचैतन्य तथा इनके गुरु के व्याख्यानों का सार संकलन करने के कारण 'सारार्थदर्शिनी' नाम से विख्यात है।[1] यह टीका है तो स्वल्पाक्षर परन्तु श्लोकों के मर्म समझने में नितांत उपकार्य है।

इन टीकाकारों के अतिरिक्त भागवत को अन्य मान्य व्याख्याताओं ने भी अपने व्याख्यान-ग्रन्थों से सज्जित किया है। जीव गोस्वामी ने अपने 'तत्त्व-संदर्भ' (पृष्ठ ६७) में हनुमद्भाष्य, वासनाभाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, तत्त्वदीपिका, भावार्थदीपिका, परमहंसप्रिया तथा शुकहृदय नामक व्याख्याग्रन्थों का स्पष्ट निर्देश किया है जिनमें भावार्थदीपिका के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ अप्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त श्री गङ्गासहाय विद्यावाचस्पति की 'अन्वितार्थप्रकाशिका', 'वंशीधरी', 'चूर्णिका', आदि दूसरी टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

श्रीहरि—हरिभक्तिरसायन

श्रीहरि एक महनीय कवि तथा भक्त हो गये। ये गोदावरी तट निवासी सदाचारी काश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। इस टीका का रचना काल है १७५९ शक। यह दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध पर ही है और है स्वयं पद्यात्मक टीका। कुल ४९ अध्याय हैं और विविध छन्दों में लगभग ५ हजार श्लोक हैं। श्रीहरि का कहना है कि भगवान् का प्रसाद ग्रहण कर ही वे इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुए। यह साक्षात् टीका न होकर प्रभावशाली मौलिक ग्रन्थ है जिनमें भागवती लीला का कोमल पदावली में ललित विन्यास है। इनकी प्रतिभा के प्रकाशक ये पद्य पर्याप्त[2] होंगे :—

---

१. श्रीधरस्वामिना श्रीमत्प्रभुणा श्रीमुखाद् गुरोः।
व्याख्यासु सारग्रहणादियं सारार्थदर्शिनी।

—टीका की पुष्पिका।

२ पूर्वोक्त टीकाओं में बृहद् वैष्णव तोषिणी को छोड़ कर अन्य आठ टीकाओं का एकत्र प्रकाशन श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृन्दावन से सं १९५८ में किया था। भागवत का यह सुन्दर संस्करण अब नितान्त दुर्लभ है। हरिभक्ति-रसायन काशी से कभी निकला था। आज यह भी दुर्लभ है। अन्य टीकायें व्यंकटेश्वर प्रेस में छपी हैं और प्राप्य हैं।

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलि-
र्ममाग्रे विधेयेति शङ्का प्रमाष्टुम्।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना
क्वचित् कण्ठदघ्ना च सा किं तदासीत्॥

बालकृष्ण भक्तो के चरणरज को मुख मे डालकर भक्तवत्सलता प्रकट कर रहे हैं—

मय्येव सर्वार्पित भावना ये
मान्या हि ते मे त्विति क्ष्मिन्नु वाचयम्।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्या-
दित्यच्युतोऽधात् स्फुटमात्तरेणु॥

(२)

देवी-भागवत की टीका

देवी भागवत के टीकाकार नीलकण्ठ अपने को शैव बतलाते हैं। इस टीका के अन्तिम श्लोको मे उन्होने अपना परिचय सामान्य रूपसे दिया है। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है —

मयूरेश्वर (जिन्होने शिव की विशेष उपासना के द्वारा अपने कुल के लिए
| 'शैव' उपाधि प्राप्त की)
नीलकण्ठ
|
रङ्गनाथ (स्त्रीनाम-लक्ष्मी, इनकी उपाधि कविराजराजिमुकुट उल्लि-
| खित है)
नीलकण्ठ

नीलकण्ठ ने अपने दो गुरुओं का उल्लेख किया है जिनके नाम काशीनाथ तथा श्रीधर थे। रत्नजी नामक किसी व्यक्ति का भी इन्होने निर्देश किया है जिसकी प्रेरणा से इन्होने देवी भागवत की यह व्याख्या लिखी। ये महाराष्ट्र देश के निवासी थे, क्योंकि अपनी टीका (८ स्क०, २४ अ०, २४ २७, श्लो०) मे इन्होने मराठी भाषा के अनेक शब्दो का निर्देश किया है। अपने समय का स्पष्ट निर्देश तो इन्होंने नहीं किया है, परन्तु उल्लिखित ग्रंथ तथा ग्रंथकारों के आधार पर इनके समय का पता मिल जाता है। देवी भागवत मे उल्लिखित है— (१) मन्त्र महोदधि (महीधर की, र० का० १५८९ ई०) (२) गुप्तवती टीका (भास्करराय की, र० का० १७४१ ई०) तथा नागोजी भट्ट (१७-१८ शती) इन ग्रन्थों के साक्ष्य पर नीलकण्ठ का समय १८ शती के मध्यभाग से पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

ये शैव नीलकण्ठ महाभारत के टीकाकार विश्रुत नीलकण्ठ चतुर्धर से नितान्त भिन्न हैं। दोनों का कुल ही भिन्न न था, प्रत्युत आविर्भाव काल भी पृथक् था। महाभारत के टीकाकार का समय १७ शती का उत्तरार्ध है[1] (१६५० ई०—१७०० ई० के आसपास) और इस शैव नीलकण्ठ का समय इससे लगभग पचास साठ साल पीछे है। ब्रह्मसूत्रों पर श्रीकण्ठभाष्य के प्रणेता नीलकण्ठ भी शैवमतानुयायी थे, क्योंकि उन्होंने उस भाष्य में शैव सम्प्रदाय के अनुसार ही भाष्य रचना की है। फलतः ये शैव नीलकण्ठ उनके नामधारी इन दोनों व्यक्तियों से भिन्न पृथक् व्यक्ति हैं।

देवी भागवत की टीका इनका विशद ग्रंथ है। इसमें इनके अन्य ग्रंथ का संकेत मिलता है :—

(१) सप्तशत्यङ्गषट्क व्याख्यान जिसमें सप्तशती के सहायक अंगभूत षट् ग्रन्थों का व्याख्यान है।

(२) शक्तितत्त्वविमर्शिनी।

(३) केनोपनिषद् की टीका चन्द्रिका नामक।

(४) कामकला-रहस्य की व्याख्या।

(५) देवीगीता की टीका।

(६) देवी भागवत-स्थिति अथवा केवल भागवत-स्थिति जिसमें देवी भागवत के प्रामाण्य तथा पुराणत्व का विवेचन किया गया है। नीलकण्ठ ने यहां श्रीमद्भागवत की अपेक्षा देवी भागवत को ही भागवत पुराण सिद्ध किया है।

(७) कात्यायनीतन्त्र की 'मन्त्र व्याख्यान प्रकाशिका' नामक टीका।

(८) बृहदारण्यक उप० की टीका।

(९) देवीभागवत टीका (तिलकनाम्नी) यह ग्रन्थ दो संस्करणों में प्रकाशित है—बम्बई से १८६३ ई० में तथा कलकत्ते में तीन खण्डों में १८८७ ई० में। यही टीका नीलकण्ठ के प्रौढ पाण्डित्य की द्योतिका व्याख्या है। यही टीका अब तक प्रकाशित है तथा यही उनकी अन्तिम रचना प्रतीत होती है जिसमें उनके इतर ग्रन्थों का संकेत उपलब्ध होता है।

टीका का महत्त्व—नीलकण्ठ तन्त्रशास्त्र के प्रौढ़ पण्डित तथा श्रद्धालु अनुयायी हैं। इस टीका में उन्होंने शक्ति को ब्रह्मरूपिणी सिद्ध किया है। अनेक तान्त्रिक विधिविधानों का भी निर्देश तथा उनके प्रामाण्य पर विचार किया है। विभिन्न तन्त्रों के विशिष्ट मतों का स्थान-स्थान पर निर्देश मिलता है। टीका-

---

१ द्रष्टव्य मेरा इतिहास ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (सप्तम सं०, १९६५, काशी) पृष्ठ ९१।

कार की दृष्टि से नीलकण्ठ मे विवेकशक्ति वर्तमान है। उनका कथन है कि देवी-भागवत के द्राविड तथा गौड सम्प्रदाय से दो पाठ मिलते हैं जिनमे उन्होने गौड सम्प्रदाय को स्वीकार कर टीका लिखी है। इसीलिये उन्होने तृतीय स्कन्ध के द्वितीय अ० के आदिम १० श्लोको की व्याख्या नही लिखी है, यद्यपि ये श्लोक द्राविड सम्प्रदाय मे मिलते हैं। इसी प्रकार वैष्णवतन्त्रस्थ आठ अध्यायो (१२।६-१२।१४) को प्रक्षिप्त मानकर टीका नही लिखी। नीलकण्ठ अपने को देवी-भागवत के प्रथम टीकाकार मानते हैं। इसकी दो टीकाओ का उल्लेख हस्तलेखो मे मिलता है, यद्यपि उनके समय का पता नही चलता।[1]

(३)

विष्णुपुराण की टीकायें

टीका सम्पत्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत के अनन्तर विष्णु पुराण का ही महत्त्व है। इसकी भी अनेक टीकायें उल्लिखित तथा उपलब्ध हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) चित्सुख मुनि की टीका (जिसका निर्देश श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका मे किया है)
(२) जगन्नाथ पाठक—स्वभावार्थदीपिका।
(३) नृसिंहभट्ट कृता व्याख्या।
(४) रत्नगर्भ—वैष्णवाकूतचन्द्रिका (प्रकाशित)
(५) विष्णुचित्त कृता व्याख्या विष्णुचित्ती (प्र०)
(६) श्रीधर स्वामी—आत्मप्रकाश या स्वप्रकाश नामक व्याख्यान (प्र०)
(७) सूर्यकर मिश्र रचित व्याख्या (?, रत्नगर्भ द्वारा उद्धृत)

इन टीकाओ म से सबसे अधिक प्रख्यात है (१) श्रीधर स्वामी का व्याख्यान। श्रीधर स्वामी के भागवत टीका का विवरण पहिले दिया गया है। उनका समय ११००-१३५० ई० प्रमाणो के आधार पर ऊपर निर्णीत है। श्रीधर के समय विष्णु पुराण की टीकायें दोषपूर्ण थीं, कुछ तो अत्यन्त संक्षिप्त थीं और कुछ अत्यन्त विस्तृत थीं। फलत श्रीधर ने मध्यमार्ग का अनुसरण अपनी व्याख्या में किया है, जो इसी कारण 'मध्यमा' कही गई है—

> श्रीमद्विष्णुपुराणस्य व्याख्या स्वल्पातिविस्तराम्।
> प्राचामालोक्य तद्व्याख्या मध्यमेयं विधीयते ॥
>
> —आरम्भ का तृतीय श्लोक।

---

१. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली भाग० १६ (१९४०) पृ० ४७४-४७९।

श्रीधर इस पद्य में किसी टीका की ओर सङ्केत कर रहे हैं, यह कहना कठिन है। चित्सुख योगी की व्याख्या का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है और उसे ही अपनी व्याख्या का मार्गप्रदर्शक भी माना है (आरम्भ का प्रथम श्लोक)। उन्हों ने अपनी टीका को 'विष्णुपुराण सारविवृति' कहा है जिस से टीका के स्वरूप का पर्याप्त निदर्शन हो जाता है। ये भगवान् नृसिंह के उपासक थे। इनके गुरु का नाम परानन्द या परमानन्द था (सश्रितश्रीपरमानन्दनृहरि श्रीधरो यति)। भागवत की श्रीधरी के समान यह टीका भी यहीं काशी में बिन्दुमाधव जी के मन्दिर के समीप ही कहीं लिखी गई, इसका सङ्केत टीका के आरम्भिक पद्य में उपलब्ध है—

श्रीबिन्दुमाधवं वन्दे परमानन्दविग्रहम्।
वाचं विश्वेश्वरं गङ्गां पराशरमुखान् मुनीन् ॥

(२) विष्णुचित्त—श्री वैष्णवमतानुयायी प्रतीत होते हैं। इनकी व्याख्या श्रीधरी के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में प्रकाशित है।

(३) रत्नगर्भ—वैष्णवाकूतचन्द्रिका—

इस टीका का प्रकाशन गोपाल नारायण ने मुम्बई से १८२४ शक में पत्रात्मक रूप में किया है। ग्रन्थ के अन्त में दिये गये पद्यों से इनके विषय में सामान्य बातों का ही पता चलता है। इनके गुरु कोई विद्यावाचस्पति थे जिनके वचनों की दीपावली से सन्देह रूपी अन्धकार के दूर करने की घटना का उल्लेख इन्होंने किया है। चन्द्राकर मिश्र के पुत्र रविनाथ मिश्र किसी राजा के सलाहकार थे (क्षोणीन्द्रमन्त्रिइन्द्र)। इन्हीं के पुत्र सूर्यकर मिश्र (जो राजा के मन्त्री थे) की प्रार्थना पर इन्हों ने इस व्याख्या की रचना की है। यह व्याख्या श्रीधरी से अधिक विस्तृत तथा बह्वर्थप्रकाशिका है। इस टीका का अनुशीलन वैष्णव तत्वों का भी निःसन्देह प्रकाशक होगा—ऐसी आशा इस व्याख्या के अभिधान से भी की जा सकती है। डा० आफ्रेक्ट ने सूर्याकर मिश्र को भी व्याख्याकार माना है, परन्तु तथ्य इससे विपरीत है। सूर्याकर की प्रार्थना पर ही इस व्याख्या का प्रणयन हुआ (सूर्याकरेण नृपमन्त्रिवरेण यत्नात् सम्प्रार्थितो विहितवानहमस्य टीकाम्)।

उदात्ततर वस्तु है, क्योंकि काव्य प्रकट करता है सार्वभौम और सार्वजनीन को, इतिहास प्रकाश करता है विशेष तथा एककालिक को[1]।

पुराण केवल इतिहास न होकर उससे अधिक वस्तु है। तथापि इतिहास के विषय में ऊपर जो मत प्रकट किया गया है, वह पुराण के विषय में भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ समझना चाहिए। इस प्रकार काव्य से पार्थक्य रखने के कारण पुराण की वर्णन शैली और भाषा में काव्यगत शैली और भाषा से विभिन्नता होना स्वाभाविक है।

पुराण का विशिष्टरूप किसी वस्तु के वर्णनमात्र से सिद्ध होता है। प्राचीन कथानकों का वर्णन करना तथा उनके माध्यम से श्रोताओं के चित्त को पापात्मक प्रवृत्ति से हटा कर पुण्यात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना पुराण का मुख्य तात्पर्य है। पुराण का लक्ष्य जन-साधारण के चित्त का आवर्जन कर धर्म की ओर प्रवृत्त कराना है। पुराण इसीलिए सरल-सुबोध भाषा का प्रयोग अपनाता है। पुराण की संस्कृत भाषा सुबोध, व्यावहारिक, चुस्त तथा अल्पाक्षरों में स्वतात्पर्य का प्रकट करती है। वह विशेष पल्लवन का आश्रयण नहीं करती है, अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही उसका सब शब्द-व्यापार प्रवृत्त होता है। पुराण के साहित्यिक रूप के वैशिष्ट्य आंकते समय इस मूलभूत तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता कि पुराण अनुरञ्जन के साथ शिक्षण करता है। वह पाप-पुण्य में विशिष्ट फल को दिखलाकर एक से वर्जन और दूसरे के ग्रहण के लिए उपदेश देता है, परन्तु वेद के समान वह आदेश नहीं देता।

इसी के अनुरूप उसकी भाषा होती है। पुराणों की भाषा व्यावहारिक होती है। परन्तु वह पाणिनीय व्याकरण के बन्धन को अक्षरशः स्वीकार नहीं करती। पुराण-भाषा की तुलना उस पुण्यसलिला भागीरथी के साथ की जा सकती है जो अपने मूल प्रवाह पर आग्रह रखती हुई भी इतस्ततः आने वाली जल-धाराओं का तिरस्कार नहीं करती, प्रत्युत वह उन्हें भी अपने में सम्मिलित कर गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देती है। पौराणिक देववाणी की भी यही विशिष्टता

१. The poet and the historian differ not by writing in verse or prose, the true difference is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry is therefore a more philosophical and a higher thing than history, for poetry tends to express the universal, history the particular.
—Poetics IX. 2. 3.

है। वह अपने को पाणिनीय व्याकरण की गाढ श्रृंखला में बांधना पसन्द नहीं करती, प्रत्युत कुछ उन्मुक्त होकर तद् भिन्न शब्दों तथा शब्द रूपों को भी ग्रहण करने में संकोच नहीं करती। इसलिए पुराण की भाषा में अपाणिनीय प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होते हैं। इन्हें *आर्ष प्रयोग मानने का टीकाकारों का आग्रह* है। महर्षि पाणिनि ने 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा० १।१।१६) आदि सूत्रों में 'अनार्ष' शब्द का प्रयोग वेद से भिन्न ग्रन्थों के लिए किया है। फलत 'आर्ष' पद का प्रयोग वेद की भाषा के निमित्त मानना ही पाणिनि की सम्मति प्रतीत होती है। पुराण में आर्ष प्रयोगों की भी सत्ता है जो वैदिक व्याकरण के सर्वथा अनुकूल हैं। यथा भागवत में 'भस्मनि हुतम्' के स्थान पर 'भस्मन् हुतम्' (१।१५।२१), *'प्रतिहर्तुम्' के स्थान पर 'प्रतिहर्तवे'* (३।५।४७) *तथा* 'धीमहि' (१।१।१) और 'अभिधीमहि' (८।३।२) आदि प्रयोग निश्चयरूपेण वैदिक प्रक्रिया से सुसंगत आर्ष प्रयोग हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से प्रयोग पाली तथा प्राकृत से मिलते हैं।

पुराणों में बहुत से अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जो छन्द के अनुरोध से ही उस रूप में प्रयुक्त हैं। पाणिनीय व्याकरण सम्मत प्रयोग किये जाने पर छन्द का सर्वथा भंग तथा परिहार हो जाता है। काव्यशिक्षा का तो कथन है कि 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्'। फलत इस शिक्षा के पूर्ण निर्वाह करने के लिए ही पुराणों ने अपने को छन्दोभंग से बचाने के लिए ऐसे पदों का प्रयोग किया है। एक और तथ्य भी ध्यातव्य है। पुराणों की रचना का उद्देश्य ही है जन-सामान्य के हृदय तक धर्मशास्त्रीय विषयों को पहुँचाना। उनके समझने लायक भाषा का ही प्रयोग पुराणों में न्याय्य है। जन-साधारण की भाषा पिछले युगों में लोकभाषा—पाली तथा प्राकृत थी। फलत उस भाषा का प्रभाव पुराणों की भाषा पर पड़ना सुतरां नैसर्गिक है। डा० पार्जीटर ने ऐसे ही प्रयोगों को देख कर कहा है कि पुराण मूलत प्राकृत में ही लिखे गये थे जिनका संस्कृतीकरण ब्राह्मणों ने पीछे कर दिया, परन्तु स्थान-स्थान पर मूल प्राकृत रूपों का सर्वथा परिहार नहीं हो सका। इस मत का बहुत प्रामाणिक खण्डन हो चुका है जिसे यहां दुहराने की जरूरत नहीं।[1]

---

१ पार्जीटर के मत के लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ 'ऐन्शियण्ट इण्डियन हिस्टा-रिकल ट्रैडीशन' पृ० ५—१४। इसके खण्डन के निमित्त द्रष्टव्य जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन, १९१४ पृ० १०२८-३० पर डा० कीथ तथा डा० याकोबी के मत। डा० पुसाल्कर ने भी इसका खण्डन किया है—'स्टडीज इन दी एपिक्स एण्ड दी पुराणज' पृ० २५-३०।

सन्धिसम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

(अ) विवृत्ति

[पाणिनि ने प्रगृह्य-सञ्ज्ञक स्थलो मे तथा लोप स्थानों मे सन्धि का अभाव स्वीकार किया है। पुराणो मे छन्दोभगभिया अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग हैं जिन्हे लिपिकारो ने च, तु हि आदि निपातो का प्रयोग कर या पाठभेद से सशोधित कर दिया है।]

(१) पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्ये समाहितः।

—भाग० १०।१।२०

(२) पूर्ववद् गुरुस्तुतिगृह्य । —(मत्स्य ९०।६)

(३) पुरता यदुसिंहस्य अमोघस्य। —(वामन० के कोशो में)

पुरतो यदुसिंहस्य ह्यमोघस्य॥

—(वामन, ९५।४८)

रूप में सशोधित किया गया है।

(४) कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि अहत्वा। —(ब्रह्म० १९९।९)

(५) पुष्करे तु अजं दृष्ट्वा। —(पद्म ५।२९।२४१)

(आ) द्विः सन्धि

(एक सन्धि हो जाने पर पुन शास्त्रीय निषेध होने पर भी सन्धि करना पुराणो मे बहुशः उपलब्ध होता है। यह छन्दोभग-भिया ही है)।

(१) विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।

—(भाग० १२।१२।६४)

(राजन्यः + उदधि = राजन्य + उदधि = राजन्योदधि)

(२) तस्याग्रतो नृपः स्नायात्।

—(अग्नि १८५।१३)

(तस्याग्रत = तस्या. (देव्या) अग्रत । विसर्ग लोप होने पर पुन सन्धि)

(३) सर्वानन्तफला प्रोक्ता।

—(मत्स्य ७४।४)

(सर्वा अनन्तफला = सर्वा + अनन्त = सर्वानन्त)

सुबन्त में अपाणिनीय प्रयोग

(१) पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतय.। —(सप्तशती)

(इन अन्तिम पदो को 'पश्य' का कर्म होना चाहिए। ये द्वितीया मे न होकर प्रथमा मे प्रयुक्त हैं। इन पर प्राकृत की छाया है)

(२) गावो बहुगुणा दद्रुः ।

—(भाग० ३।३।२६)

(यहाँ 'दद्रु' के लिए 'गा' का प्रयोग द्वितीया मे होना चाहिए)।

(३) निःशेषान् शुद्रराज्ञस्तु तदा स तु करिष्यति ।

—(मत्स्य ४७।२४७)

('राजाह सखिभ्यष्टच' से समासान्त म टच् प्रत्यय होने पर 'शूद्रराजान्' होना चाहिए)।

(४) आयान्तं चण्डिका दृष्ट्वा तत् सैन्यमतिभीषणम् ।

—(सप्तशती ८।८)

('सैन्य' नपुसक है। फलत विशेषण को पुलिंग मे न होकर 'आयत्' नपुसक लिंग मे होना चाहिए)।

(५) भर्तव्या रक्षितव्या च भार्या हि पतिना सदा ।

—(मार्क० २१।६८)

('पत्या' के स्थान पर पतिना 'हरिणा' के समान। 'पति समास एव' सूत्र का व्यत्यय यहाँ है। पुराणो म 'पति' का रूप 'हरि' के ही समान प्रयुक्त होता है)।

(६) तथैव भर्तारमृते भार्या धर्मादिसाधने ।

—(मार्क० २१।७१)

(ऋते योगे पचमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग)

(७) चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति ।

—(भाग० ८।१४।३८)

('दार' शब्द नित्य बहुवचन होता है। अत एव 'दारेषु' होना चाहिए।)

पदव्यत्यय

पदो का व्यत्यय बहुत दृष्टिगोचर होता पुराणो मे। पाणिनि के द्वारा परस्मैपद म निर्दिष्ट धातुओं का आत्मनेपद हो जाता है, तो कही आत्मनेपद का परस्मैपद होता है।

(१) न याचतोऽदात् समयेन दायम् ।

(भाग० ३।१।८)

याच् धातु प्रयोग मे आत्मनेपदी है। अत 'याचमानस्य' उचित है। भागवत मे याच् का विशुद्ध प्रयोग भी मिलता है—

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदाद् प्रभुः ।

—(भाग० १।१७।३९)

(२) तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः।

—(भाग० ३।१।११)

तितिक्षतः = तितिक्षमाणस्य। गुप्-'तिज् किद्भ्यः सन्' से नित्य सन् और आत्मनेपद।

(३) तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्।

—(भाग० ३।१०।२)

('वद्' परस्मैपदी धातु है। अतः 'वदस्व' नहीं)

(४) तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत्।

—(भाग० ३।७।७)

(नुद् आत्मनेपदी धातु है जिसका यथार्थ प्रयोग भाग० ३।७।१८ में = तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे)।

(५) एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा।

—(भाग० ३।१२।५१)

'अवेक्षते' आत्मनेपदी है। अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टक-जालमेव (विक्रमाङ्कचरित)। यहाँ आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग)।

(६) तदा वैकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः।

—(भाग० ३।१६।३४)

('निपततोः' परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद)।

(७) अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कंटकः।

—(भाग० ३।१८।२२)

(आत्मनेपद 'अन्वेषमाणः' के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग)।

(८) कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः।

—(भाग० ५।१९।५)

(रम धातु नित्य आत्मनेपदी है अतः 'रममाणस्य' होगा शानच् से; शतृ से नहीं)।

तिङन्त–कृदन्त सम्बन्धी अपाणिनीय प्रयोग

[पाणिनि के अनुसार भूतकाल सूचक लिङ् तथा लङ् लकार बनाने के लिये स्वरादि धातुओं से पहिले 'आट्' का तथा व्यञ्जनादि धातुओं से पूर्व 'अट्' का आगम होता है। इस सर्वमान्य प्रसिद्ध नियम का व्यत्यय पुराणों में बहुशः मिलता है। इसी प्रकार पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए मुख्य प्रत्यय 'क्त्वा' ही है, परन्तु उपसर्गपूर्वक धातु के लिए ल्यप् प्रत्यय होता है 'समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (पा० ७।१।३७) सूत्र के अनुसार। परन्तु पुराणों ने इस नियम

का भी व्यत्यय किया है जिसमे कहीं केवल धातु से ल्यप प्रत्यय और कहीं सोप-सर्गक धातु से भी क्त्वा प्रत्यय ही उपलब्ध होता है। सम्भव है यहां वैदिक व्याकरण का अनुगमन किया गया है, परन्तु पाणिनि का व्यत्यय तो स्पष्ट ही है।]

(१) घण्टास्वनेन तन्नादमम्बिका चोपबृंहयत्।
—(सप्तशती ८।९)

(यहाँ 'उपबृहयत्' मे भूतकालिक 'अड्' प्रत्यय का अभाव है।)

जनमेजयादीन् चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान्।
—(भाग० २।१६।२)

यहा 'उत्पादयत्' म अडागम का अभाव है। उदपादयत् यथार्थत होना चाहिए।

(२) स्तोत्रमुदीरयत्।
—(वामन पु०)

('उदीरयत्' मे आडागम का अभाव है)

(३) प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया।
—(भाग० ३।२३।४३)

('प्रेक्ष्य' के स्थान पर क्त्वा का प्रयोग)

(४) वंशं कुरोर्वंशदवाग्नि निर्हृतं।
संरोहयित्वा भव-भावनो हरि ॥
—(भाग० १।१०।२)

(सोपसर्गक धातु से ल्यप् के स्थान पर क्त्वा का प्रयोग।)

(५) निवेशयित्वा निज-राज्य ईश्वरो।
युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥
—(भाग० १।१०।२)

(निवश्य' के स्थान पर निवशयित्वा का प्रयोग। दोनो का प्रयोग एकत्र इसकी लोकप्रियता का सूचक है।)

(६) एवं संचिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम्।
—(भाग० ३।३।१६)

('स्थापयति' निरुपसर्गक धातु होने से उससे ल्यप् का प्रयोग अवाञ्छनीय है। 'स्थापयित्वा' ही पाणिनि सम्मत निर्दुष्ट प्रयोग है।)

(७) तत' शुक्लाम्बरै शूर्प वेष्टय संपूजयेत् फले ॥
—(मत्स्य ८१।१८)

(८) तदोङ्कारमयं गृह्य प्रतोदं।
—(मत्स्य १३३।५७)

(९) पूज्य देवं चतुर्मुखं ।

—(वामन ४९।३७)

(१०) सेव्य पांशुं प्रयत्नेन ।

—(वामन ४५।२२)

(इन पद्यांशों में छन्दोभंग की भीति से निरुपसर्गक धातुओं से ल्यप् का प्रयोग किया गया है जो सर्वथा अपाणिनीय है। जहां यह भीति विद्यमान नहीं है, वहां 'त्वा' का ही समुचित प्रयोग किया गया है।)

निष्कर्ष—ऊपर कतिपय अपाणिनीय[1] प्रयोगों के उदाहरण भागवत से ही विशेषतः दिये गये हैं। ऐसे पदों का प्रयोग केवल पद्यों में ही किया गया है जहां छन्द के रूप की अभीष्ट रक्षा करना ही प्रधान कारण है। पुराणों के गद्य भाग में वे ही पद पाणिनीय रूप में उपन्यस्त हैं। यथा 'उत्साद्यित्वा क्षत्रं तु' (वायु ३।३८०) पद्य में प्रयुक्त 'उत्सादित्वा' 'उत्साद्याखिल क्षत्रजातिम्' (विष्णु० ४।२४।६२) के गद्यभाग में 'उत्साद्य' रूप में प्रयुक्त है जो विशुद्ध पाणिनीय है। कहीं-कहीं प्राकृत व्याकरण का भी प्रभाव लक्षित होता है। लिपिकारों तथा संशोधकों ने कहीं-कहीं इन प्रयोगों को पाणिनीया शुद्ध कर दिया है जिसकी कोई आवश्यकता न थी। व्यावहारिक संस्कृत के प्रयोग करने वाले पुराणों के लिए इन अपाणिनीय प्रयोगों की सत्ता भूषण ही है दूषण नहीं।

व्यावहारिकं शब्दविधानं पुराणानि प्रयुञ्जते ।
अपाणिनीयप्रयोगास्तु भूषणं न तु दूषणम् ॥

(ख) पुराणों की शैली

पुराण की भाषा बड़ी ही सुबोध तथा शैली अत्यन्त हृदयग्राहिणी है। पुराण का मुख्य उद्देश्य जनता के हृदय तक वैदिक तत्त्वों का पहुँचाना है। वेद के दुरधिगम होने के हेतु ही पुराण का प्रणयन किया गया था। फलतः पुराण को सुखाधिगम होना—सुखपूर्वक अपने अर्थ के प्रतिपादन करने की योग्यता रखना—नितान्त आवश्यक है। पुराण में अलंकारों का विन्यास भी इसी मूल तात्पर्य को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है। यहां अलंकार काव्यगत शब्द के शोभाधायक न होकर काव्यगत अर्थ के ही भूषणाधायक हैं। लेखक का अभिप्राय इतना ही है कि इसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ बड़ी सरलता से, अनायास रूप में पाठकों के हृदय तक पहुँच जाय। इसके लिए आवश्यक है कि उपमायें घरेलू हों अर्थात् लोक-सामान्य में बहुत अनुभूत वस्तु के ऊपर ही वे आधारित हों। जिस प्रकार काव्य की उपमा शास्त्रीय विषयों पर प्रायः अव-

१ अन्य अपाणिनीय प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य पुराण पत्रिका।

—(भाग ४, वर्ष १९६२, पृष्ठ २३३-२९१)

लम्बित होने मे ही अपना गौरव बोध करती है, उस प्रकार की अवस्था पौराणिक उपमा की नही है। पुराण का लेखक अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में, अपने आसपास के क्षेत्र मे जो कुछ अपनी इन्द्रियो से अनुभव करता है, उसी को पौराणिक तथ्यो के विशदीकारण के लिए प्रयुक्त करता है। इसका फल निःसन्देह बडा ही मनोरम होता है। पुराण के श्रोता तथा पाठक होते हैं सामान्य जन—वह जन जिन्हे हम पामर जन, अशिक्षित जन, असभ्य जन भी कह सकते हैं। उनके ज्ञान का क्षेत्र बडा ही सकीर्ण और सीमित होता है। वे उन्ही उपमाओ तथा दृष्टान्तो को समझ सकते हैं जो उनके दैनन्दिन के अनुभव के दायरे के भीतर आती हो। यही कारण है कि पुराण अपने मूल स्वरूप के अनुसार ही इन्ही उपमाओ और दृष्टान्तों को प्रयोग मे लाता है जो सामान्य जनजीवन से सम्बन्ध रखती हैं, जो नित्यप्रति जीवन के अनुभव के भीतर आती हैं तथा जिन्हे समझने मे सामान्य जन को विशेष क्लेश उठाना नही पडता। इन तथ्यो को हृदयगम करने के लिए कतिपय उदाहरण यहा दिये जा रहे है—

(१ ससार अनित्य है। प्राणी यहा जनमते हैं, कुछ दिनो तक अपना कार्य करते है और फिर मर कर चले जाते हैं। फलत एक प्राणी का दूसरे प्राणी के साथ मिलन क्षणिक है—अस्थायी है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए पद्मपुराण बटोही का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मार्ग पर चलने वाला बटोही पेड़ की छाया मे कुछ देर तक विश्राम करता है और पश्चात् उसे छोड़ कर आगे बढ जाता है। उस पेड की छाया का ख्याल ही उसके दिमाग से हट जाता है। यह उपमा कितनी हृदयगम तथा मर्मस्पर्शी है। दैनन्दिन की सच्ची घटना के ऊपर आश्रित है —

यथा हि पथिक कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेद् तद्वद् भूत-समागमः॥

—पद्म ५।१८।३३८

एक दूसरी उपमा बडी मोहिनी है जो इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती है। वर्षाकाल का दृश्य है। नदी के वेग से बालू एक स्थान पर इकट्ठा हो जाता है और फिर उस वेग की गति बदल जाने पर वही बालू वहा से हट जाता है। नदी तट का यह दृश्य प्रतिदिन हमारे सामने उपस्थित होकर इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि काल से ही प्राणी सयुक्त होते हैं और काल से ही वियुक्त होते है। काल ही कारण है इन समग्र व्यापारो का—

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥

—भाग० ६।१५।३

(२) धर्म मे विलम्ब करना घोरतर अपराध है। जीवन के स्थायी होने पर विलम्ब धर्म के आचरण मे किया भी जा सकता है। परन्तु उसके अस्थायी होने से तो विलम्ब करना महान् अपराध है। जीवन निर्भर है श्वास के ऊपर और वह सास भी एक क्षण के भीतर सैकडो वार आती है और सैकडो वार जाती है। ऐसी चपल वस्तु के ऊपर आश्रित जीवन की चपलता की बात है क्या ? श्वास का यह दृष्टान्त कितना समीपस्थ तथा आवर्जक है। विषय की पुष्टि मे इससे अधिक आवर्जक दृष्टान्त कौन हो सकता है :—

> श्वास एव चपलः क्षणमध्ये
> यो गतागत-शतानि विधत्ते।
> जीवितेऽपि तदधीन-चेतना
> कः समाचरति धर्मं विलम्बम् ॥

—पद्म ४।९ ।४९

(३) संसार में वास्तविक सुख कहा ? यहा तो दुखो की ही परम्परा सन्तत प्रवाहित होती है, परन्तु एक दुःख के बीतते जब दूसरा दुःख आता है जो मात्रा मे पूर्व दुःख मे किसी प्रकार न्यून नही होता, तब मनुष्य सुख का अनुभव करता है। इस विषय मे उदाहरण है बोझा ढोने वाले का। वह एक कन्धे से अपने बोझ को हटा कर जब दूसरे कन्धे पर रखता है, तब वह समझता है कि मुझे विश्राम मिला, परन्तु वस्तुत कोई अतर नही हुआ दोनो स्थितियों मे। सासारिक सुख का बोझ ढोने वाले मानवो की भी ठीक यही दशा है। कितना हृदयग्राही है यह उदाहरण एक दुःख दूसरे दुःख मे शान्त होता है इसे सिद्ध करने में —

> स्कन्धात् स्कन्धे नयन् भारं विश्रामं मन्यते यथा।
> तद्वत् सर्वमिदं लोके दुःखं दुःखेन शाम्यति।

(४), धर्म के फल को समझाने के लिए, किसान से बढ़कर कौन अच्छा उदाहरण हो सकता है। कृषि-प्रधान भारतवर्ष में कृषक हमारा चिर परिचित बन्धु है। जो वह बोता है वही वह काटता है। धर्म का सिद्धान्त इसी घरेलू तथ्य पर आश्रित है :—

> कृषिकारो यथा देवि ! क्षेत्रे बीजं सुसंस्थितः।
> यादृशं तु वपत्येव तादृशं फलमश्नुते ॥

—पद्म २।७।१९

(५), नीच के व्यवहार के लिए पद्मपुराण की यह उपमा कितनी सुसंगत है। यह नीच, प्रायः दुःसह होता है जो किसी दूसरे से धन पाकर गर्व बन

जाता है। धन की ही तो वास्तविक गर्मी होती है। निर्धन तो हमेशा सुस्त, ठंढा और जड होता है। इस तथ्य पर आपको विश्वास न हो, तो सूरज और बालू के परस्पर व्यवहार को तो देखिये। सूर्य की गर्मी मे तपने से ही शीतल वालू मे गर्मी आ जाती है। परन्तु ऐसे सन्तप्त बालू का ताप सूर्य के ताप से कहीं बढकर होता है। कितना सच्चा है यह तथ्य और कितना हृदयंगम है यह दृष्टान्त। सूर्य की गर्मी तो सही जा सकती है, परन्तु बालू की गर्मी तो राही को तडपा डालती है :—

अन्यस्मात् लब्धोष्मा नीचः प्रायेण दुःसहो भवति।
रविरपि न तपति तादृग् यादृशं तपति बालुकानिकरः॥

—पद्म ६।८।१४

(६) अपना ही निजी घनिष्ठ मित्र जब कष्ट पहुँचाता है, तो इस की शिकायत किससे की जाय? पति का व्यवहार पत्नी के लिए असह्य हो जाय अथवा विपरीत इसके पत्नी का आचरण पति के लिए क्लेशमय संकट उत्पन्न कर दे, तो इसकी शिकायत कौन किसके पास करे? इस घरेलू बात को समझाने के लिए श्रीमद्भागवत ने जीभ और दाँतो का उदाहरण दिया है। अपनी ही जीभ—सदा साथ रहने वाली जीभ—जब दाँतो से अपने को काट खाती है, उस समय उत्पन्न वेदना के लिए किस पर क्रोध किया जाय? जीभ भी अपनी और दाँत भी अपने। फिर शिकायत किसकी की जाय? बडा ही सुन्दर दृष्टान्त है :—

जिह्वां यदा स्वं दशति स्वदद्भिः
तद्वेदनायै कतमाय कुप्येत्॥

(६) किसी का चित्त किसी अन्य के प्रति प्रथमतः असूया (दूसरो के गुणो में दोष का आविष्करण) से आविष्ट था। अब यदि सम्पत्ति का आगमन उसके पास हो जाय, तो उसकी चित्तवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके लिए नारदीयपुराण में एक बडी समीचीन उपमा प्रयुक्त की गई है—भूसे की आग को हवा का मिलना। जिस प्रकार हवा के चलने से भूसे की आग जो पहिले धीरे-धीरे सुलग रही थी अचानक धधक उठती है उसी प्रकार उस मनुष्य की घृणा भी पहिले से अधिक उद्दीप्त हो जाती है। गाँव का रहने वाला इस उपमा के औचित्य को बडी जल्दी समझ सकता है। इसके लिए अन्य उपमा उतनी क्रियाशील नहीं हो सकती :—

असूयाविष्टे मनसि यदि सम्पत् प्रवर्तते।
तुषाग्नि वायुसंयोगमिव जानीहि सुव्रत॥

, —नारदीयपुराण १।७।१७

(७) काय की अनित्यता के विषय म पुराणा म एक युक्ति दी गई है जो नितान्त हृदयगम है। वह युक्ति यह है कि प्रात काल सस्कृत अन्न (तैयार भोजन) सायकाल होते-होते नष्ट हो जाता है—सड जाता है और खराब हो जाता है। उसी अन्न से तो यह शरीर पुष्ट हुआ है। तब इस शरीर म नित्यता कैसी ? जिस उपकरण से यह पुष्ट होकर बढता है वही इस प्रकार नाशशील है—एक दिन भी टिकन वाला नही, तब इस शरीर के विषय म नित्यता की आशा करना दुराशा नही, तो और क्या है ?

> यत् प्रात. सस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
> तदीयरस सम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥
>
> —भागवत माहात्म्य, ५।६१

(८) लौकिक निरीक्षण का दृष्टान्त पुराणो म बडा ही सुदर मिलता है। ससार के विषयो की जितनी गम्भीर अनुभूति होती है उसका परिणाम भी उतना ही सावभौम तथा सावकालिक होता है। ज्ञान दृढ होने पर ही सफल होता है। शिथिल ज्ञान को मुदा ही समझना चाहिए। श्रुत शास्त्र क श्रवण की सफलता उसके सावधानता स कायरूप म परिणत करन स होती है। प्रमाद स युक्त होन से श्रुत नष्ट हो जाता है। वही दशा होती है मन्त्र की और जप की। सन्देहयुक्त होन से कोई भी मन्त्र फल नहीं दता और चित्त क व्यग्र होन पर जप स कोई लाभ नही होता। इस वणन की यथायता का प्रत्येक विज्ञ पुरुष साक्षी है —

> अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्।
> सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जप ॥
>
> —तत्रैव, ७३ श्लोक।

आध्यात्मिक उपमायें

विष्णुपुराण तथा उसी का अनुकरण कर भागवत न वर्षा तथा शरद् के वणन म आध्यात्मिक उपमाओ का प्रयोग किया है जो अपने साहित्यिक सौन्दय तथा गम्भीर दाशनिक चिन्तन के निमित्त सस्कृत साहित्य म अनूठी हैं—अनुपम हैं। वस्तु-तत्त्व को हृदयगम कराने के उद्देश्य से पुराण ने ऐसी कमनीय उपमायें प्रयुक्त की हैं। विष्णुपुराण के पचम अश के षष्ठ अध्याय म ३६ श्लो०—४१ श्लो० तक वर्षा के वर्णन म ये उपमायें पाई जाती हैं। इसी प्रकार इसी अश के दशम अध्याय के आदिम १५ श्लोकों में शरद्-वर्णन के अवसर पर इनका प्रयोग तथा आकर्षण दर्शनीय है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय मे वर्षा तथा शरद् का एकत्र वर्णन विष्णु० की अपेक्षा परि

बृहित्तरूप से उपलब्ध होता है जहाँ भागवतकार ने विष्णुपुराण से स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर ऐसी आध्यात्मिक उपमायें विन्यस्त की है। भागवत का ही अनुसरण कर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस[1] के किष्किन्धा काण्ड में इन्ही का अक्षरश अनुवाद कही प्रस्तुत किया है और कही कुछ नवीनता भी प्रदर्शित की है। कतिपय उदाहरण इस विषय के प्रस्तुत किये जाते है :—

(१) न ववन्धाम्बरे स्थैर्य विद्युदत्यन्तचञ्चला ।
मैत्रीव प्रवरे पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता ॥

—विष्णु ५।६।४२

दामिनि दमक रह न घन मांही
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं—रामचरितमानस

भागवत मे बिजुली की क्षणिक चमकने को उपमा क्षणिक चित्त कामिनियो के पुरुषोंके प्रति किये जाने वाले व्यवहार से दी गई है—

लोकवन्धुपु मेघेपु विद्युतश्चलसौहृदाः ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेपु गुणिष्विव ॥

—भाग० १०।२०।१७

(२) वर्षाकाल मे नदियो का जल पूरा भर जाने से उ-मार्ग से होकर बहने लगता है जैसे नई लक्ष्मी को पाकर दुष्ट पुरुषो का चित्त उच्छृ खल हो उठता है —

ऊहुरुन्मार्ग-वाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वत. ।
मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव ॥

—विष्णु ५।६।३८

छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु घन खल इतराई ॥

—रा० मा० पृ २९९

(३) जोरों से पानी पडने से जल की प्रबल धारा से सेतु टुट गये हैं जैसे पाखण्डियों के असद्वाद से—बौद्धो और नास्तिको के निन्दा वचनो से—कलियुग म वेदमार्ग टूट जाते हैं .—

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्पतीश्वरे ।
पाखण्डिनामसद्-वादैर्वेदमार्गा. कलौ यथा ॥

—भाग० १०।२०।२३

---

१. द्रष्टव्य रामचरितमानस (काशीराज स०) किष्किन्धाकाण्ड १४-१७ दोहा तक, पृष्ठ २९९-३०१

(४) वर्षा मे घास मनमाने तौर मे बढ कर रास्ता रोक देती है, यात्रियो को जिसमे मार्गों की सत्ता के विषयमे सन्देह उत्पन्न होता है। इसके लिए उपमान दिया है जैसे द्विजो के द्वारा अभ्यास न की गई कालहत श्रुतियाँ .—

मार्गा बभूवु. सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना असंस्कृताः।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥

—भाग० १०।२०।१६

तुलसीदासने पूर्वोक्त श्लोको का भाव लेकर यह दोहा लिखा है—

हरितभूमि तृन संकुल समुझि परहि-नहि पंथ।
जिमि पाखंडवाद तें गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ॥

(५) अब शरत् काल के वर्णन की ओर ध्यान दीजिये।

शनकैः शनकेस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः।
ममत्वं क्षेत्र-पुत्रादि रूढमुच्चैर्यथा बुधाः॥

(जिस प्रकार क्षेत्र और पुत्रादिको मे बढी हुई ममता को विवेकी जन धनै धनै त्याग देते है, वैसे ही जलाशयो का जल धीरे-धीरे अपने तटो को छोडने लगा)

(६) जल को वरसा देने पर उज्ज्वल मूर्ति धारण करने वाले मेघो की तुलना उन विज्ञानी जनो के साथ की गई है जो ममता छोड कर अपने घर का त्याग कर देते हैं :—

उत्सृज्य जल-सर्वस्वं विमलाः सितमूर्तय.।
तत्यजुश्चाम्बरं मेघा गृहं विज्ञानिनो यथा॥

—विष्णु० ५।१०।४

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्त-किल्विषाः॥

—भाग० १०।२०।३८

(७) पानी सूखने पर मछली अत्यन्त पीडित हो उठती है। इसकी उपमा दी गई है उन गृहस्थ पुरुषो से जो पुत्र-क्षेत्र आदि म लगी ममता से सन्ताप पाते है—

अवापुस्तापमत्यर्थं शफर्यः पल्वलोदके।
पुत्रक्षेत्रादि सक्तेन ममत्वेन यथा गृही॥

—विष्णु ५।१०।२

गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥

—भाग० १०।२०।३८

जलसंकोच विकल भइ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥

— *रामचरितमानस*

रूपकाश्रित वर्णन

पुराणो मे रूपक अलकार का आश्रय लेकर बडा ही साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है किसी विशिष्ट वस्तु का। यह वर्णन इतना विस्तृत तथा विशद है कि वह विशिष्ट पदार्थ वर्णन के समकाल ही मानसनेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है। ऐसे प्रसग मे 'ससार' के स्वरूप का वर्णन बडे विस्तार से किया गया है। कभी वह समुद्र के साथ और कभी वह अटवी के साथ रूपक-विधया सतुलित कर वर्णित है। भवसागर का यह रूप ब्रह्मपुराण मे (२६।१९-२१) बडी स्पष्टता से वर्णित है —

कष्टेऽस्मिन् दु:खबहुले निःसारे भवसागरे।
रागग्राहाकुले रौद्रे विषयोदक-संप्लवे॥
इन्द्रियावर्तकलिले दृष्टोर्मिशत-संकुले।
मोहपङ्काविले दुर्गे लोभगम्भीरदुस्तरे॥
निमज्जज्जगदालोक्य निरालम्बमचेतनम्।

— ब्रह्म० २६।१९-२१

भवाटवी का बडा विशद वर्णन भागवत के पचमस्कन्ध के १३ तथा १४ अध्यायो मे दिया गया है। १३वें अध्याय मे अटवी का आरोप ससार के ऊपर परम्परित रूपक के द्वारा किया गया है और इस रूपक की विशद व्याख्या, जिसमे रूपक के अग-प्रत्यग का स्पष्टीकरण किया गया है, अगले १४ अ० मे दी गई है। ये दोनो अध्याय काव्य की दृष्टि से भी नितान्त मञ्जुल-मनोहर हैं। दृष्टान्त की दृष्टि से एक दो श्लोक यहा उद्धृत किये जाते हैं—

अदृश्य झिल्लीस्वन कर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा।
अपुण्य-वृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित्॥ ५॥
द्रुमेषु रंस्यन् सुतदार वत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने
क्वचित् प्रमादाद् गिरि कन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः॥ १८॥

—भाग० ५।१३

वाग्धेनु का रूपक भी इसी प्रकार पुराणों में उपन्यस्त है। वाग् अर्थात् वेदत्रयी का धेनु रूप में उपन्यास बृहदारण्यक (५।८) में सूत्रत: किया गया है। इसीका उपबृंहण मार्कण्डेयपुराण (२१।६-११) में और स्कन्दपुराण के धर्मारण्य खण्ड (६।५-१०) में किया गया है। दोनों स्थानों में एक ही कल्पना है। अवश्य ही उपबृंहण के अवसर पर कई नई बातों का उपन्यास धर्मारण्य वाले रूपक में किया गया है।[1]

यज्ञवराह के वर्णन में इस रूपकमयी शैली का प्रयोग पुराणकार ने विभिन्न पुराणों में किया है। वराह अवतार धारण कर नारायण ने वेदों का उद्धार किया, पृथिवी को पाताल से उठाकर स्वस्थान पर प्रतिष्ठित किया जिससे मानवों की लोकयात्रा का साधन सपन्न हुआ। इस अवसर पर वराह यज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह वर्णन मत्स्य (२४८।६७-७४), वायु (६।१६-२३), ब्रह्माण्ड (प्रक्रिया पाद ५।९-२३), ब्रह्म पुराण (२१३।३३-३७), पद्म (सृष्टि खण्ड १६। ५-६१) में सात समान श्लोकों में पाया जाता है जो हरिवंश में भी उपलब्ध होते हैं (१।४१।२९-३५ ३।३४।३४-४१)। इन श्लोकों को विष्णु सहस्र-नाम के शाङ्करभाष्य में 'यज्ञाङ्ग' शब्द की व्याख्या के अवसर (श्लोक ११७) पर उद्धृत किया गया है। विष्णुपुराण (प्रथम अंश, ४।३२-३५) तथा भागवत (३।१३।३५-३८) में भी यह रूपक उपलब्ध होता है, परन्तु पूर्वोक्त श्लोकों की परम्परा से इन श्लोकों की परम्परा भिन्न है। इन श्लोकों में यज्ञ वराह का बड़ा ही विशद तथा गम्भीरार्थ प्रतिपादक स्वरूप अभिव्यक्ति पा रहा है।[2]

इसी प्रकार अधर्मद्रुम का बड़ा ही परम्परित रूपक उपलब्ध होता है पद्म-पुराण में (२।११।१६-२२)।

पुराणों में कालिदास तथा बाणभट्ट की रचनाओं का भी प्रभाव प्रभूत मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। पद्मपुराण में अभिज्ञानशाकुन्तल के कथानक का प्रभाव सर्गानिबद्ध शाकुन्तलोपाख्यान पर विशेषरूप से पड़ा है, इसका उल्लेख पूर्व परिच्छेद में किया गया है। कुमारसम्भव का प्रभाव शिव-पार्वती के कथानक के पौराणिक वर्णनों पर जो पञ्चम शती के अनन्तर की रचनायें हैं निःसन्दिग्ध

---

१. दोनों की तुलना के लिए द्रष्टव्य श्री रामशंकर भट्टाचार्य-इतिहास पुराण का अनुशीलन पृष्ठ ४६-४८।

२ इस रूपक की विशद व्याख्या के लिए द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का एतद्विषयक विस्तृत निबन्ध (पुराण, खण्ड ५ अं० २, जुलाई १९६३) पृष्ठ १९९-२३६।)

रूप से पडा है। शिवपुराण (८००–९०० ईस्वी) मे वर्णित तत्कथानक के ऊपर कुमारसम्भव के श्लोको की स्पष्ट प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है।

रुद्रसहिता के पार्वती खण्ड के २२ अ० से लेकर ३३ अ० तक पार्वती की तपस्या, जटिल के साथ सवाद, सप्तर्षि का आगमन तथा उनके उद्योग से शिव द्वारा विवाह की स्वीकृति आदि विषय बडे विस्तार तथा वैशद्य से वर्णित है। इन अध्यायो के श्लोको पर कुमारसम्भव का शब्दत और अर्थत दोनो प्रकार का प्रभाव स्पष्टत अङ्कित है। दोनो स्थानो के तुलनात्मक अध्ययन से इस प्रभाव की अभिव्यक्ति स्पष्ट शब्दो मे होने लगती है। कालिदास की चुभती उक्तियाँ यहाँ नि सन्देह गृहीत कर ली गई हैं। इस विषय के प्रमापक कतिपय दृष्टान्त ही पर्याप्त होगे।

उमा का नामकरण—

तपोनिषिद्धा तपसे वनं गन्तुं च मेनया।
हेतुना तेन सोमेति नाम प्राप शिवा तदा॥

—रुद्रसहिता, पार्वती खण्ड, २२।२५

अपर्णा का नामहेतु —

आहारे त्यक्तपर्णाऽभूत् यस्माद् हिमवतः सुता।
तेन देवैरपर्णेति कथितो नामतः शिवा॥

—वही, श्लोक ४९।

सखी का उत्तर —

हित्वेन्द्र-प्रमुखान् देवान् हरिं ब्रह्माणमेव च।
पतिं पिनाकपाणिं वै प्राप्तुमिच्छति पार्वती॥ ३७॥
इयं सखी मदीया वै वृक्षानारोपयत् पुरा।
तेषु सर्वेषु संजातं फलपुष्पादिकं द्विज॥ ३८॥
× × ×
मनोरथः कुतस्तस्या न फलिष्यति तापस॥ ४०॥

—वही, २६ अ०

ब्रह्मचारी द्वारा दोनो को वैषम्य का प्रकाश —

वेणी शिरसि ते देव्या सर्पिणीव विभासिता।
जटाजूटं शिवस्यैव प्रसिद्धं परिचक्षते॥ २६॥
चन्दनं च त्वदीयाङ्गे चिताभस्म शिवस्य च।
क दुकूलं त्वदीयं वै शाङ्करं क गजाजिनम्॥ २७॥

बाणभट्ट अपनी परिसख्याओ के लिए सस्कृत काव्य जगत् मे नितान्त विश्रुत है। श्लेषविहीन परिसख्या मे भी चमत्काराधान कम नही होता, परन्तु श्लेष का पुट पाकर परिसख्या चमक उठती है। काशीखण्ड के राज्य वर्णन के अवसर पर २४ अध्याय मे बडी सुन्दर परिसख्यायें प्रयुक्त हैं ठीक बाणभट्ट की शैली पर, जिनके ऊपर कादम्बरी की प्रख्यात परिसख्याओ की अमिट छाप पडी है। इस विषय के दो-चार उदाहरण ही पूर्वोक्त तथ्य की पुष्टि के निमित्त यहा दिये जाते हैं :—

> विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित् ।
> नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजा ॥ ९ ॥
> तमो-युक्ता क्षपा यत्र बहुलेषु, न मानवाः ।
> रजोजुषः स्त्रियो यत्र, न धर्मबहुला नराः ॥ १० ॥

[यहा प्रथम पद्य मे विभ्रम (विलास तथा विशेष भ्रम) तथा 'कुटिल' (टेढा-मेढा भौतिक अर्थ मे तथा कुमार्ग अन्यत्र) शब्द श्लिष्ट हैं। दूसरे पद्य मे भी तमस् तथा रजस् शब्द श्लिष्ट हैं जिसके दोनो अर्थ सरल है। बहुलेषु तथा धर्मबहुला पदो मे 'बहुल' दो विभिन्न अर्थो का प्रतिपादक है—(क) कृष्ण पक्षो मे तथा (ख) धर्म के आधिक्य से सम्पन्न।]

> धनैरनन्धो यत्रास्ति मनो, नैव च भोजनम् ।
> अनयः स्यन्दनं यत्र न च वै राजपूरुषः ॥ ११ ॥

[आशय है—जहा मन धनो के पाने पर भी अन्धा नही है। गर्व मानव को अन्धा बना देता है, परन्तु वहा धन प्राप्ति होने पर भी किसी का मन अभिमान से अन्धा नही था। अनन्धता मन मे ही थी भोजन मे नही। इस पक्ष मे शब्द का अर्थ होगा—भात से रहित अर्थात् भोजन मे भात विद्यमान था। जहा रथ ही 'अनयस्' (अन् + अयस् = लोहा) लोहा से विहीन था, वहा के राजकर्मचारी 'अनय' (नीतिविहीन) नही थे। इस छोटे से अनुष्टुप् में कितना गम्भीर तात्पर्य भरा हुआ है। श्लेष प्रसन्न-गम्भीर है। परन्तु काव्यगत दोष भी सूक्ष्मेक्षिकया दृष्टिगोचर होता है। भोजन के साथ 'अनन्धः' का प्रयोग 'अन्धस्' शब्द के सकारान्त होने के कारण नितान्त उचित है, परन्तु मनः के साथ सम्बद्ध होने के लिए 'अनन्ध' होना चाहिये 'अन्ध' शब्द के अकारान्त होने के कारण। अतः 'अनन्ध' शब्द का प्रयोग अनुचित है व्याकरणरीत्या]

> इभा एव प्रमत्ता वै युद्धं वीचिष्वेव जलाशये ।
> दान-हानिर्गजेष्वेव द्रुमेष्वेव हि कण्टकाः ॥ १७ ॥
> जनेष्वेव हि विहारा हि न कस्यचिदुरःस्थली ।
> बाणेषु गुण-विश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा ॥ १८ ॥

यत्र क्षपणका यत्र दृश्यन्ते मल धारिणः।
प्रायो मधुव्रता यत्र यत्र चञ्चलवृत्तयः ॥ २१ ॥

—वही २४ अ०

श्लेष की प्रसन्न-गम्भीरता दर्शनीय है। सभंग श्लेष मे ही प्राय काठिन्य का प्रादुर्भाव होता है, अभग श्लेष मे काठिन्य स्वल्प रहता है। ऊपर के पद्य मे अभंग श्लेष की ही शोभा विलसित होती है। फलत ये पद्य काव्यदृष्ट्या अत्यन्त, रुचिर तथा आवर्जक हैं।

वर्णन मे पुराणकार की प्रतिभा खिलती है। कथा के विवरण देने मे सुबोध शैली अपनाई गई है। कथा के विविध विस्तार क्रम से प्रवाहित होते रहते हैं। पुराणो मे पदार्थों के वर्णन भी बडे सुन्दर आलङ्कारिक तथा चमत्कारी हैं। काशी के उद्यान का वर्णन इस विषय में दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है। काशी के उद्यान अपनी सुषमा के लिए चिरकाल से प्राचीनों मे विख्यात थे। ऐसा होना उचित ही है। काशी का नाम ही जो आनन्द-कानन ठहरा। फलत आनन्द-कानन के उद्यानो की चारुता पुराणों की प्रतिभा का विषय है। २१ श्लोकों मे निबद्ध यह उद्यानशोभा-वर्णन मत्स्य-पुराण मे (१७९ अ० २३-४४ श्लो०) तथा लिङ्गपुराण में (पूर्वार्ध ९२। १२-३३) एक ही रूप में उपलब्ध होता है। विषय के अनुरूप छन्दो का भी यहाँ चुनाव किया गया है। महत्त्वपूर्ण होने से यह पद्यावली परिच्छेद के अन्त मे परिशिष्ट रूप से उद्धृत है। यहा दो-चार दृष्टान्त ही पर्याप्त होंगे :—

क्वचिच्च चक्राह्वयोपनादितं
क्वचिच्च कादम्बकदम्बकैर्युतम्।
क्वचिच्च कारण्डव-नाद-नादितं
क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम् ॥ २७ ॥
निबिड निचुलनीलं नीलकण्ठाभिरामं।
मदमुदित-विहङ्गव्रात-नादाभिरामम् ॥
कुसुमित-तरुशाखा-लीनमत्तद्विरेफं।
नव किसलय शोभा शोभित प्रान्त शाखम् ॥ ३१ ॥

शब्दो के तोड़-जोड़ के कारण यह वर्णन नितान्त सुभग तथा चित्रोत्पादक है। इसे पढते समय प्रतीत होता है कि यह किसी कमनीय काव्य का रसमय अंश है। इसे पुराण के अंश होने का आभास भी नहीं होता, परन्तु है यह पुराण का ही अंश।

पौराणिक सूक्तियां

पुराण मे सुभाषितो तथा सूक्तियो का विशद अस्तित्व है। इन सूक्तियो मे दीर्घकाल के अनुभव से जायमान परिणत उपदेश दिये गये है, जो नीतिशास्त्र के समान नीरस न होकर सरस सुबोध हैं और इसीलिए वे श्रोता के हृदय पर गहरी चोट करते हैं और उसे रुचिरता से प्रभावित करते हैं। इस विषय में कतिपय सुभाषित यहा दिये जाते हैं :—

(क) आशा

(१) आशायाश्चैव ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥

—नारदीय, पूर्वार्ध, ११।१५१

आशा भङ्गकरी पुंसामजेयाराति-सन्निभा
तस्मादाशां त्यजेत् प्राज्ञो यदीच्छेच्छाश्वतं सुखम् ॥

—वही ३५।२४

आशाभिभूता ये मर्त्या महामोहा मदोद्धताः ।
अवमानादिकं दुःखं न जानन्ति कदाप्यहो ॥

—वही ३५।२७

(ख) सुजन

(२) जडोऽपि याति पूज्यत्वं सत्सङ्गाज्जगतीतले ।
कलामात्रोऽपि शीतांशुः शम्भुना स्वीकृतो यथा ॥

—वही ८।८

सुजनो न याति वैरं परहितबुद्धिर्विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥

—वही ३७।३५

सत्सङ्गः परमो ब्रह्मन् लभ्येताकृतात्मनाम् ।
यदि लभ्येत, विज्ञेयं पुण्यं जन्मान्तरार्जितम् ॥

—वही ४।३५

संगमः खलु साधूनामुभयेषां च संमतः ।
यत्-संभाषण संप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥

—भाग० ४।२२।१९

(३) संरोहतीषुणा विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥

—वामनपुराण ५४।७

(४) धनक्षये न मुह्यन्ति न हृष्यन्ति धनागमे।
धीराः कार्येषु च तदा भवन्ति पुरुषोत्तमाः॥
—वही ७७।५०

(५) आपद्भुजगदष्टस्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा।
वृद्धवाक्यौषधान्येव कुर्वन्ति किल निर्विषम्॥
—वही ९५।७९

(६) आपज्जल-निमग्नानां ह्रियतां व्यसनोर्मिभिः।
वृद्धवाक्यैर्विना नूनं नैवोत्तारः कथञ्चन॥
—वही ९५।८३

(७) पण्डिते वापि मूर्खे वा दरिद्रे वा श्रियान्विते।
दुर्वृत्ते वा सुवृत्ते वा मृत्योः सर्वत्र तुल्यता॥
—नारदीय १।७।५९

(८) जीवतः पितरौ यस्य मातुरङ्कगतो यथा।
षष्टिहायन वर्षोऽपि द्विहायनवच्चरेत्॥
—शान्ति

(९) यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया।
उत्तरोत्तरवादास्या सा जरा न जरा जरा॥
—गरुड १०८।२३

(१०) अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा।
असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा॥
—वही १०८।२४

(११) यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत्॥
—भागवत ४।२६।१५

(१२) मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः॥
—वही १।१६।९

(१३) किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥
—वही २।१।१२

(१४) शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि॥
—वही २।८।४

(१५) यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यन्यन्तरितो जनः ॥ १५ ॥

—वही ३।७।१७

(१६) गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरनुभूयते ॥

—वही ४।८।३४

(१७) यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—वही ७।१४।८

(१८) असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥

—वही ११

(१९) यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै
आशासानो न वै भृत्य स्वामिन्याशिष
न स्वामी भृत्यत. स्वाम्यमिच्छन्

(२०) अदत्तं च हत ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो

श्रीमद्भागवत का वैशिष्ट्य

श्रीमद्भागवत का पुराण साहित्य मे अपना
का एकमात्र समुज्ज्वल प्रतिनिधि यही श्रीमद्भागवत
पुराण के नाम लेते ही भागवत की ही भव्य मूर्ति
के सामने झूलने लगती है। संस्कृत के वाङ्मय का
रसमय प्रतिनिधि है, वाङ्मय के विविध प्रकारों—वेद,
का श्रीमद्भागवत अकेले ही बोधन कराता है अर्थात्
समान आज्ञा देता है, अर्थप्रधान पुराण के समान हित
तथा रसप्रधान काव्य के समान यह रसामृत से
मुग्ध बना देता है। अत एक होने पर भी यह त्रिवृत्
है। मुक्तापल की यह भागवतस्तुति[1] अर्थवाद नहीं है,

१ श्री जीव गोस्वामी ने अपने कथन के प्रमाण
भागवत सन्दर्भ के अन्तर्गत 'तत्त्वसन्दर्भ' में उद्धृत ।
सन्दर्भ पृष्ठ ७४, कलकत्ता, चैतन्य सं० ४१२ में

वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च।
बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद् भागवतं पुनः॥

इस परिच्छेद में हम भागवत के काव्य स्वरूप से अपने पाठकों को परिचित कराना चाहते हैं। रसमय काव्य के सकल लक्षण भागवत में सपिण्डित होकर एकत्र विद्यमान हैं। इसके पद्यों में श्रोताओं के हृदयावर्जन की लोकातीत क्षमता है। त्रिविध रूप की सत्ता इसके काठिन्य का भी कारण है, परन्तु इसके स्तुति-अंशों में तथा वर्णन-अंश में विचित्र प्रतिभा का विलास है तथा अमृतमय शब्दों का भव्य विन्यास है।

श्रीमद्भागवत का काव्य सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होने वाले, मानव हृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है। इसमें हृदय-पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कला-पक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा तथा द्वारिका का वर्णन जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर ने अश्व का विकरालरूप धारण कर श्रीकृष्ण को अपने कौशल का परिचय दिया है, वह वर्णन (१०।३७) यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है। इसी प्रकार मगध-नरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयङ्कर गदायुद्ध का सातिशय रोमाञ्चकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है (१०।७२)। द्वारिका-पुरी के वर्णन प्रसङ्ग में झरोखों से निकलने वाले अगुरु धूप को देख कर श्याम मेघ की भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है :—

रत्नप्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः॥

—भाग० १०।६९।१२

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी में कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृंगारभूषा को बिना समाप्त किये ही झरोखों से

(१५) यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यन्त्यन्तरितो जनः ॥ १५ ॥
—वही ३।७।१७

(१६) गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥
—वही ४।८।३४

(१७) यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
—वही ७।१४।८

(१८) असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥
—वही ७।१५।१९

(१९) यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ।
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥
—वही ७।१०।४-५

(२०) अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
संदिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ॥
—भागवत माहात्म्य ५।७३

श्रीमद्भागवत का वैशिष्ट्य

श्रीमद्भागवत का पुराण साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान है। पुराण का एकमात्र समुज्ज्वल प्रतिनिधि यही श्रीमद्भागवत माना जाता है। इसीलिए पुराण के नाम लेते ही भागवत की ही भव्य मूर्ति श्रोताओं के मानस-पटल में सामने झूलने लगती है। संस्कृत के वाङ्मय का भागवत एक अलौकिक रसमय प्रतिनिधि है, वाङ्मय के विविध प्रकारों—वेद, पुराण तथा काव्य—का श्रीमद्भागवत अकेले ही बोधन कराता है अर्थात् यह शब्दप्रधान वेद के समान आज्ञा देता है, अर्थप्रधान पुराण के समान हित का उपदेश करता है तथा रसप्रधान काव्य के समान यह रसामृत से पाठकों तथा श्रोताओं को मुग्ध बना देता है। अतः एक होने पर भी यह त्रिवृत् है—त्रिगुणों से सम्पन्न है। मुक्ताफल की यह भागवतस्तुति[1] अर्थवाद नहीं है, तथ्यवाद है —

१ श्री जीव गोस्वामी ने अपने कथन के प्रमाण रूप में इस पद्य को भी भागवत सन्दर्भ के अन्तर्गत 'तत्त्वसन्दर्भ' में उद्धृत किया है। द्रष्टव्य तत्त्व-सन्दर्भ पृष्ठ ७४, कलकत्ता, चैतन्य सं० ४३३ में प्रकाशित।

वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च।
बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद् भागवतं पुनः॥

इस परिच्छेद मे हम भागवत के काव्य स्वरूप से अपने पाठको को परिचित कराना चाहते हैं। रसमय काव्य के सकल लक्षण भागवत मे सपिण्डित होकर एकत्र विद्यमान हैं। इसके पद्यो मे श्रोताओं के हृदयावर्जन की लोकातीत क्षमता है। त्रिविध रूप की सत्ता इसक काठिन्य का भी कारण है, परन्तु इसक स्तुति-अशों मे तथा वर्णन-अश में विचित्र प्रतिभा का विलास है तथा अमृतमय शब्दा का भव्य विन्यास है।

श्रीमद्भागवत का काव्य सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता मे अद्भुत चमत्कार है जो सैकडा वर्षो से सहृदय पाठको को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण म किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितिया के परिवर्तन से उत्पन्न होन वाल, मानव हृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण म भागवत अद्वितीय काव्य है। इसम हृदय-पक्ष का प्राधान्य होने पर भी क-ा-पक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा तथा द्वारिका का वर्णन जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धा का चित्रण। केशी नामक असुर ने अश्व का विकरालरूप धारण कर श्रीकृष्ण को अपने कौशल का परिचय दिया है, वह वर्णन (१०।३७) यथार्थता के कारण पाठको के सामने मूलत लगता है। इसी प्रकार मगध-नरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयङ्कर गदायुद्ध का सातिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत मे फडकती भाषा म किया गया है (१०।७२)। द्वारिका-पुरी के वर्णन प्रसङ्ग मे झरोखो से निकलने वाले अगुरु धूप को देख कर श्याम मघ की भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है —

रत्नप्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त-
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै-
र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्त.॥

—भा० १०।६९।१०

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी म कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर रवावली मे अपनी शृगारभूषा को बिना समाप्त किय ही झरोखों से

झाँकने वाली ललित ललनाओं का लखाम वर्णन। आलोचकों की दृष्टि में भागवत का ऋतु वर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है। दशम स्कन्ध के एक समग्र अध्याय में प्रावृट् तथा शरद ऋतु का यह आध्यात्मिकता मण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताडित होने पर भी किंचिन्मात्र न व्यथित होने वाले पर्वतों की समता उन भगवन्निष्ठ भक्तजनों के साथ दी गई है जो विपत्तियों के द्वारा ताडित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते। पवन से ऊँची उठती हुई तरङ्गमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के संपर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाँकी पृथ्वी पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है, जिस प्रकार शब्द ब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है —

खमशोभत निर्मेघं शरद् विमल-तारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथाचित्तं शब्दब्रह्मार्थ-दर्शनम्॥

गोसाइ तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है इसे विशेषरूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश है गोपियों की श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करने वाली भगवन्निष्ठ प्रेमिकायें ठहरीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसङ्ग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु गीत, गोपी गीत, युगल गीत, महिषी गीत, आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसङ्ग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की वृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवतरस' के महनीय नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी-जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा मर्मस्पर्शी है —

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चित् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहासोदार-लीलेक्षितेन ॥

—१०।९०।१८

हे कुररि! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं। परन्तु तुझे नींद नहीं? सखी, कमलनयन भगवान के मधुर हास्य और लीला भरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है?

वेणुगीत (भागवत १०।२१) में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जङ्गम प्राणियों के ही ऊपर नहीं है, प्रत्युत स्थावर जगत में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्षण कर यह आचरण जितना मधुर है, उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त-लक्षित-मनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥

—भाग० १०।२१।१५

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरों के द्वारा अपने हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकाङ्क्षा प्रकट कर रही हैं। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरङ्गों के हाथों से उनका चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं। और उनका आलिङ्गन कर रही हैं मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

रास पंचाध्यायी—भागवत का हृदय है जिस में व्यास जी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व जितना अधिक है साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने कृष्ण के अन्तर्धान होने पर अपने भावों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की है वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपीगीत का यह पद्य कितना सरस तथा सरल है —

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि, गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

—१०।३१।९

अर्थात आपकी कथा अमृत है क्योकि वह सतप्त प्राणियो को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियो ने भी देव भोग्य अमृत को तुच्छ समझ कर उसकी प्रशसा की है। वह सब पापो को हरने वाली है अर्थात् काम्यकर्म का निरास करने वाली है। श्रवणमात्र से मगलकारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होने पूर्व जन्म मे बहुत दान किये है। व बडे पुण्यात्मा है। /

भ्रमर गीत (भाग० १०।४७।१२–२१) भागवत का एक मार्मिक *हृदयावजक गीति काव्य है जिसकी प्रेरणा प्राप्त कर सैकडो भ्रमर गीत तथा* उद्धवदूत हिन्दी तथा संस्कृत भाषा मे निबद्ध होकर रसिको का आज भी हृदयावजन करते हैं। भ्रमरगीत मे केवल १० ही श्लोक है परन्तु इनके भीतर गम्भीर रस का परिपाक काव्यरसिको के चित्त को बलात् आकृष्ट करता है। इसमे उपालम्भ की भावना ही प्रामुख्येन अभिव्यक्त की गई है तथा *श्रीकृष्ण के ऊपर अकृतज्ञ तथा क्षणभिन्न-सौहृद होने का गम्भीर आरोप* लगाया गया है। भ्रमरगीत की गम्भीर मीमासा साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भागवत के टीकाकारो ने बडी मार्मिकता के साथ की है। श्रीकृष्ण क ऊपर गम्भीर आरोप के प्रसग मे गोपियां कहती हैं —

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजित कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयत् ध्वांक्षवद् य
तदलमसितसख्यै· दुस्त्यजस्तत्कथार्थ ॥

—भाग० १०।४७।१७

[*व्याधा के धर्म का अनुसरण करनेवाले* राम ने व्याधा के समान कपिराज वाली को मार डाला, अपनी पत्नी सीता के वश में होकर राम ने काम से आसक्त शूपणखा की नाक काट कर कुरूप बना दिया। बलि का सवस्व ग्रहण करके भी उसे पाताल म भेज दिया जिस प्रकार कौआ बलि खाकर बलि देने वाले को अपने साथियो के साथ घेर कर परेशान किया करता है बस, हमको कृष्ण स भी क्या ? हमे तो समस्त काली वस्तुओ के साथ मित्रता म कोई भी प्रयोजन नही है। तब कृष्ण के प्रति अनुरक्त तुम लोग क्यो हो ? इसका उत्तर है कि जिसे एक बार भी चसका लग गया है, उसके लिए उसकी चर्चा छोडना बडा ही कठिन है।]

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददन-विधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टा ।

सपदि गृह-कुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥
—(भाग० १०।४७।१८)

[श्रीकृष्ण कथा की दुस्त्यजता का भाष्य इस रुचिर पद्य में किया गया है। उनके लीलामृत का एक बूँद भी जिन्होंने अपने कानों से सेवन किया है, उनके राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों का सर्वथा नाश हो जाता है और वे अपने दीन गृह-कुटुम्ब को छोड़ कर स्वयं अकिञ्चन हो जाते हैं। चुन चुन कर चारा चुँगनेवाली चिड़ियों की तरह वे भी भीख माँग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वे दीन दुनिया में जाने रहते हैं, परन्तु फिर भी कृष्ण की लीलाकथा नहीं छोड़ते। हमारी भी ऐसी ही दशा है। दुनिया से नाता छोड़ देना हमारे लिए सहज है, परन्तु उस श्याम सुन्दर से प्रेम का नाता हम छोड़ नहीं सकतीं। ठीक ही है—दुस्त्यजस्तत्कथार्थः।]

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा देता हुआ चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घटकर नहीं है।

कृष्णभक्ति कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलायें। फलतः उसकी दृष्टि श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्णभक्त कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णवधर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य, सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है, जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है, जीवनसरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करने वाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के मार्मिचत्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस स्निग्ध है, उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है। भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से इन कृष्ण-काव्यों की रचना का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिए।

परिशिष्ट

काशी–उद्यान वर्णन

प्रोत्फुल्ल नानाविध गुल्मशोभितं लताप्रतानावनतं मनोहरम् ।
विरूढ पुष्पैः परितः प्रियङ्गुभिः सुपुष्पितैः कण्टकितैश्च केतकैः ॥२४॥
तमालगुल्मैर्निचितं सुगन्धिभिः सकर्णिकारैर्बकुलैश्च सर्वशः ।
अशोक पुन्नागवरैः सुपुष्पितैर्द्विरेफमालाकुल पुष्पसञ्चयैः ॥२५॥
क्वचित् प्रफुल्लाम्बुजरेणुरूषितैर्विहङ्गमैश्चारुकलप्रणादिभिः ।
विनादितं सारसमण्डनादिभिः प्रमत्तदात्यूहरुतैश्च वल्गुभिः ॥२६॥
क्वचिच्च चक्राह्वरवोपनादितं क्वचिच्च कादम्बकदम्बकैर्युतम् ।
क्वचिच्च कारण्डव नादनादितं क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम् ॥२७॥
मदाकुलाभिस्त्वमराङ्गनाभिर्निषेवितञ्चारु सुगन्धि पुष्पम् ।
क्वचित् सुपुष्पैः सहकारवृक्षैर्लतोपगूढैस्तिलकद्रुमैश्च ॥ २८ ॥
प्रगीत विद्याधर सिद्धचारणं प्रवृत्तनृत्याप्सरसाङ्गणाकुलम् ।
प्रहृष्ट–नानाविध–पक्षि सेवितं प्रमत्त हारीत कुलोपनादितम् ॥ २९ ॥
मृगेन्द्रनादाकुल सत्वमानसैः क्वचित् क्वचित् द्वन्द्व कदम्बकैर्मृगैः ।
प्रफुल्ल नानाविध चारुपङ्कजैः सरस्तटाकैरुपशोभितं क्वचित् ॥ ३० ॥

निबिडनिचुलनीलं नीलकण्ठाभिरामं
मदमुदित विहङ्गव्रातनादाभिरामम् ।
कुसुमित तरुशाखा लीनमत्त द्विरेफं
नवकिसलय शोभाशोभित प्रान्तशाखम् ॥ ३१ ॥

क्वचिच्च दन्तिक्षत चारु वीरुधं क्वचिल्लतालिङ्गित चारुवृक्षकम् ।
क्वचिद्विलासालसगामि बर्हिणं निषेवितं किं पुरुषव्रजैः क्वचित् ॥३२॥
पारावतध्वनि विकूजित चारुशृङ्गैरभ्रङ्कषैः सितमनोहर चारुरूपैः ।
आकीर्णपुष्प निकुरम्ब विमुक्तहासैर्विभ्राजितं त्रिदशदेवकुलैरनेकैः ॥३३॥

फुल्लोत्पलागुरुसहस्र वितानयुक्तै-
स्तोयाशयैस्तमनुशोभितदेवमार्गम् ।
मार्गान्तरागलितपुष्प विचित्रभक्ति-
सम्बद्धगुल्म विटपैर्विहगैरुपेतम् ॥ ३४ ॥

तुङ्गाग्रैर्नीलपुष्पस्तबकभरनतप्रान्तशाखैरशोकै-
र्मत्तालिव्रात गीतश्रुतिसुखजननैर्भासितान्तर्मनोज्ञैः ।
रात्रौ चन्द्रस्य भासा कुसुमित–तिलकैरेकतां सम्प्रयातं
च्छाया सुप्त प्रबुद्ध स्थितहरिण कुलालुप्तदर्भाङ्कुराग्रम् ॥ ३५ ॥
हंसानां पक्षपात प्रचलित कमल स्वच्छ विस्तीर्णतोयम् ।

तोयानां तीरजात प्रविकच कदलीवाट नृत्यन्मयूरम् ।
मायूरैः पक्षचन्द्रैः क्वचिदपि पतितै रञ्जितक्ष्माप्रदेशम्
देशे देशे विकीर्णप्रमुदित विलसन्मत्तहारीत वृक्षम् ॥ ३६ ॥

सारङ्गैः क्वचिदपि सेवित-प्रदेशं
संच्छन्नं कुसुमचयैः क्वचिद्विचित्रैः ।
हृष्टाभिः क्वचिदपि किन्नराङ्गनाभिः
क्षीवाभिः समधुरगीत वृक्षखण्डम् ॥ ३७ ॥

संसृष्टैः क्वचिदुपलिप्त कीर्णपुष्पै-
रावासैः परिवृत पादपं मुनीनाम् ।
आमूलात् फलनिचितैः क्वचिद्विशालै-
रुत्तुङ्गैः पनसमहीरुहैरुपेतम् ॥ ३८ ॥

फुल्लातिमुक्तकलतागृह सिद्धलीलं
सिद्धाङ्गना कनक नूपुर नादरम्यम् ।
रम्यप्रियङ्गु तरुमञ्जरि सिक्त भृङ्गं
भृङ्गावलीषु स्खलिताम्बु कदम्बपुष्पम् ॥ ३९ ॥

पुष्पोत्करानिल विघूर्णित पादपाग्र-
मग्रेसरो भुवि निपातित वंशगुल्मम् ।
गुल्मान्तर प्रभृति लीन मृगीसमूहं
संमुह्यतां तनुभृतामपवर्गदातृ ॥ ४० ॥

चन्द्रांशुजालधवलैस्तिलकैर्मनोज्ञैः
सिन्दूर कुङ्कुम कुसुम्भनिभैरशोकैः ।
चामीकराभ निचयैरथ कर्णिकारैः
फुल्लारविन्दरचितं सुविशालशाखैः ॥ ४१ ॥

क्वचित् रजत पर्णाभैः क्वचिद्विद्रुमसन्निभैः
क्वचित् काञ्चन सङ्काशैः पुष्पैराचितभूतलम् ॥ ४२ ॥
पुन्नागेषु द्विजगण-विरुतं रक्ताशोकस्तवकभरनमितम् ।
रम्योपान्तं श्रमहरपवनं फुल्लाब्जेषु भ्रमर विलसितम् ॥ ४३ ॥

सकलभुवनभर्ता लोकनाथस्तदानीं-
न्तुहिन शिखरिपुत्र्याः सार्द्धमिष्टैर्गणेशैः ।
विविधतरु विशालं मत्तहृष्टान्यपुष्ट-
मुपवन तरुरम्यं दर्शयामास देव्याः ॥ ४४ ॥

(ये श्लोक मत्स्यपुराण अ० १७९ के हैं और ये ही लिङ्गपुराण में भी उद्धृत हैं। '—पूर्वार्ध, ९२ अ०, १२-३२१ श्लोक)

उपसंहार

भारतीय संस्कृति तथा धर्म के विकास में पुराण का कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। पुराण का गौरव अनेक दृष्टियों से मननीय तथा माननीय है जिनमें धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि प्रमुख है। भारतीय धर्म का आधार ग्रन्थ तो वेद ही है, परन्तु सामान्य मानवों के लिए वेद को समझना नितान्त दुष्कर कार्य है। एक तो वेद की भाषा ही प्राचीनतम होने से दुरूह है और दूसरे उसमें प्रतिपादित तत्त्व भी कहीं रूपक शैली में और कहीं प्रतीकात्मक शैली में निबद्ध होने के कारण दुर्बोध हैं। अत एव धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के लिए तथा जनहृदय तक उन्हें पहुँचाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो गम्भीरार्थप्रतिपादक होते हुए भी रोचक हो, जो वेदार्थ का निरूपक होते हुए भी सरल-सुबोध हो। इसी आवश्यकता की पूर्ति पुराण करता है। भाषा है इसकी व्यावहारिक, सरल तथा सहज बोधगम्य। शैली है रोचक *आख्यानमयी। इसी भाषा की सुबोधता तथा शैली की रुचिरता पर पुराणों की लोकप्रियता आश्रित है। इस प्रकार वेदार्थ के समझने के लिए तथा वेदप्रतिपादित* तात्पर्य के यथार्थ निरूपण के लिए पुराण का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। इसीलिए नारदीयपुराण की यह उक्ति सुसंगत ठहरती है—

> वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
> वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः[1]॥

- नारदीय २।२४।१७

वेदार्थ से पुराणार्थ की महनीयता के तीन कारण जीव गोस्वामी ने अपने 'तत्त्व सन्दर्भ' के आरम्भ में प्रदर्शित किये हैं।[2] वैदिक साहित्य की विशालता, वेदार्थ की दुरधिगमता, तथा वेदार्थ के निर्णय में मुनियों का भी परस्पर विरोध

---

१ इतिहास पुराण विचार एव श्रेयान् इदानीन्तनानाम्।
वेदानां दुरूहतया मन्दबुद्धीनां कलियुगीयलोकाना
यथार्थावधारणस्य वदतोऽशा वयत्वादित्येवकारसंगति।

—तत्त्वसन्दर्भ की टीका पृ० ३९

२ तत्र च वेद शब्दस्य सम्प्रति दुष्पारत्वात् दुरधिगमार्थत्वाच्च तदर्थनिर्णायकानां मुनीनामपि परस्पर-विरोधाद् वेदरूपो वेदार्थनिर्णायकश्च इतिहास-पुराणात्मकः शब्द एव विचारणीयः॥

—तत्त्व सन्दर्भ पृ० १६। (कलकत्ता संस्करण)

होने के कारण वेदार्थ के निर्णय के लिए पुराणों का महत्त्व स्वीकृत किया गया है। पुराण की वाणी में वेद ही बोलता है, पुराण के अर्थ-निर्णय में वेदार्थ का ही निर्णय स्फुटित होता है। इसीलिए पुराण का धार्मिक महत्त्व आज हमारे लिए बहुत ही विशिष्ट है। वेद ने ईश्वर की कल्पना को प्रतिनिष्ठित रूप दिया परन्तु पुराण ने उस ईश्वर को जनता के हृदय तक पहुँचाया। वैदिक संहिता कर्मकाण्ड का प्रधान गढ़ है, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का प्रमुख प्रतिपादक है। इसके विपरीत, पुराण भक्ति का प्रतिपादक शास्त्र है। फलतः जनता के कल्याण के लिए पुराण की महिमा सर्वतोभावेन ग्रहणीय है। वेद के अर्थ का उपबृंहण पुराण करता है—इस तथ्य की पुष्टि नाना दृष्टियों से ऊपर की गई है। स्कन्द पुराण वेद तथा स्मृति से भी पुराण को नवीनार्थ प्रतिपादक होने से अधिक महत्त्व देता है—

> यन्न दृष्टं हि वेदेषु न दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
> उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते॥
>
> —(प्रभास खण्ड २।९२)

इस प्रकार पुराण का ज्ञान विचक्षणता की कसौटी है। चारों वेदों को, षड् वेदांगों को तथा उपनिषदों को जानने वाला व्यक्ति कभी विचक्षण नहीं माना जा सकता, यदि वह पुराण से अभिज्ञ नहीं होता—

> यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः।
> पुराणं नैव जानाति न च स स्याद् विचक्षणः॥
>
> — ब्रह्माण्ड, प्रक्रि० १।१७०

पुराण की रचना भारतीय दृष्टि से इतिहास की भावना को स्पष्टतः प्रतिपादित करती है। साधारणतः घटनाओं का वर्णन ही इतिहास का मुख्य विषय माना जाता है, पुराण की दृष्टि इससे भिन्न है। पुराण के पञ्च लक्षण का महत्त्व इस विषय में गम्भीरतया मननीय है। पुराण ही हमारे लिए सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जा सकता है, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक मानवों की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जायगी, तब तक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। पुराण आरम्भ होता है सृष्टि से और अन्त होता है प्रलय से। और इन दोनों छोरों के बीच में उत्पन्न होने राजाओं के वंशों तथा उनमें प्रधानभूत राजाओं के चरित्र का वर्णन भी करता है। इस प्रकार पुराण का रूप ही भारतीय दृष्टि से इतिहास का सच्चा रूप है। आधुनिक विद्वानों ने इतिहासलेखन की शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी, परन्तु हर्ष का विषय है कि इङ्गलैण्ड के

सुप्रसिद्ध विचारक एच० जी० वेल्स ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'आउटलाइन आफ हिस्ट्री' मे इसी पौराणिक प्रणाली का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहासग्रन्थ मे मानवसमाज के इतिहास लिखने से पूर्व सृष्टि के आरम्भ से जीव विकास का इतिहास लिखा है। मानव-योनि प्राप्त होने से पूर्व जीव को कौन सा रूप धारण करना पडा था तथा उसका क्रमिक विकाश कैसे सम्पन्न हुआ—इसका बडा ही सुन्दर वर्णन उन्होने किया है। सृष्टि के आरम्भकाल से मानव के विकास का विवरण देने से ही उनका इतिहास का वर्णन पूर्ण तथा प्रामाणिक माना गया है। समग्र इतिहास लिखने की यही पौराणिक सच्ची प्रणाली है जिसके लिए हम पुराणो के चिर ऋणी रहेंगे।

वर्णाश्रमधर्म का पालन भारतीय सस्कृति के सवर्धन का एकमात्र उपाय है। यह भारतीय धर्म से ही चिरकाल से अनुस्यूत नही है, प्रत्युत पूर्णतया वैज्ञानिक भी है। पुराणों ने इस धर्म का बडा ही विशद तथा स्वच्छ रूप अंकित किया है। इस विषय मे वे मनुस्मृति तथा महाभारत का पूर्णतया अनुसरण करते हैं। महाभारत में धर्म के सूक्ष्म विवेचन से भी वे प्रभावित हैं। कलिधर्म के वर्णनावसर पर वे हीन तथा कदर्य आचार का वर्णन प्रस्तुत करते हैं तथा तद्-विपरित सदाचार का शुभ्र स्वरूप हमारे सामने रखते हैं। पुराण के अनेक सिद्धान्तो मे इतनी आधुनिकता दृष्टिगोचर होती है कि उनके लेखक की दिव्य दृष्टि की श्लाघा करते हम तृप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ साम्यवाद का विवेचन यहाँ रखते हैं। भागवत ने साम्यवाद का जो गूढ मन्तव्य एक श्लोक मे सूत्र-रूप से रख दिया है, आजकल के प्रगतिवादियों का विशाल साहित्य उसका एक विस्तृत भाष्यमात्र ही है। भागवत का वह महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है'—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

—७।१४।८

स्वत्व की मीमांसा इस पद्य मे की गई है। जितने से उदर भर जाता है, बस उतने ही धन पर तो प्राणियो का स्वत्व है—अपना अधिकार है। उससे अधिक को जो अपना मानता है, वह चोर है और समाज के सामने दण्ड का भागी है। तात्पर्य यह है कि अपनी कमाई के समस्त राशि पर प्राणी का अधिकार मानना सरासर भूल है। जितने से वह अपनी देह की पुष्टि कर जीवित रहता है, उतना ही तो उसका धन है उससे अधिक तो पराया धन है। भागवत का यह श्लोक अधिकार की सच्ची मीमांसा करता है जो मध्य दृष्टि में भी भव्य प्रतीत होती है। पुराण सदाचार के सेवन के लिए आग्रह करता है। सदाचार—सज्जनों के द्वारा आचरित व्यवहार—धर्म का एक साक्षात् लक्षण

माना गया है। सदाचार ही तो धर्म के व्यवहारिक रूप को समझने के लिए प्रधान कुञ्जी है (मनु २।१२)। मत्स्यपुराण के ययाति-अष्टक संवाद मे इस विषय का बडा सारगर्भित तथा प्राणवान् विवेचन किया गया है (अ० ३६, श्लो० ६-१२)। कुवाच्य बोलने की कितनी भर्त्सना की गई है इस श्लोक मे :—

> वाक् सायका वदनान्निष्पतन्ति
> यै राहतः शोचति राव्र्यहानि ॥
> परस्य नो मर्मसु ते पतन्ति
> तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥
>
> —मत्स्य ३६।११

फलतः समाजिक आदर्श के प्रतिष्ठापन मे पुराणो का बडा ही महत्त्वशाली योगदान है।

पुराणो के आख्यान प्रतीकात्मक हैं। उन आख्यानो मे किसी ऐतिहासिक वृत्त का भी सकेत है, परन्तु एतावन्मात्र से आख्यानो का तात्पर्य गतार्थ नहीं होता। वे एक गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य की भी अभिव्यक्ति करते हैं—तत्त्व है नितान्त निगूढ, परन्तु अभिव्यक्ति का प्रकार है नितान्त बोधगम्य। फलतः पौराणिक आख्यानो की गहराई मे जाकर उन्हे समझने की आवश्यकता है। एक-दो दृष्टान्तो से पूर्वोक्त कथन का समर्थन तथा पुष्टि की जाती है। दक्ष प्रजापति के यज्ञ का ध्वस शिवगणो के द्वारा एक प्रख्यात पौराणिक आख्यान है (भाग० ४।२-७)। दक्ष प्रजापति ने अपने विशाल यज्ञ मे शत्रुता से प्रेरित होकर शिव को कोई भाग नही दिया जिससे क्रुद्ध होकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को उस यज्ञ मे हवन कर दिया। इसी का दण्ड था यज्ञ-विध्वंस तथा दक्ष का शिरश्छेद। इस साधारण आख्यान के भीतर एक गूढ आध्यात्मिक तत्त्व का महनीय सकेत है। दक्ष जगत् मे नवीन रचना चातुरी का प्रतीक है। विज्ञान के द्वारा जो नवीन निर्माण हो रहे हैं मानव के आपातत: सौख्य के लिए, दक्ष (=दक्षता) उसी का प्रतीक है। दूसरे शब्दो में दक्ष भौतिकवाद का प्रतिनिधि है। नयी-नयी सृष्टि के उत्पादक होने के कारण यह प्रजापति है। उधर शिव विश्व के समस्त सामूहिक कल्याण तथा मगल का प्रतीक है। इसी शिव से दक्ष का विरोध है। भौतिकवाद आध्यात्मिक कल्याण की उपेक्षा कर स्वत स्वतन्त्र रूप से अभ्युदय चाहता है। शिव का आग्रह है कि दक्ष को उसके सामने नत मस्तक होना चाहिये—आध्यात्मिक समष्टि-कल्याण के सामने भौतिकवाद को झुकना चाहिये। जगत् मे यह सघर्ष महान् अनर्थ का कारण होता है। शिव से विरोध कर दक्ष रह नहीं सकता—

समष्टि-कल्याण की उपेक्षा कर भौतिकवाद जगत् की सुख-समृद्धि का उत्पादक कभी हो नहीं सकता। जामाता होने से शिव का पद उदात्त है और श्वशुर होने से दक्ष का पद उससे न्यून है। इस मौलिक तथ्य के विरुद्ध दक्ष विद्रोह करता है और इस घोर अपराध के कारण उसका सिर काटा जाता है और उसके यज्ञ का (जिससे वह संसार का कल्याण करना चाहता है) सद्यः विध्वंस किया जाता है। जब समष्टि-कल्याण के साथ भौतिकवाद का सामञ्जस्य स्थापित होता है, तभी विश्व का कल्याण है। निष्कर्ष है कि अनियन्त्रित भौतिकवाद अध्यात्मिकता को उदरस्थ करने मे किसी प्रकार रुक नही सकता, यदि उसका मस्तक उड़ा न दिया जाय। विश्व के संतुलन मे शिव का प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नही। विश्व को कल्याण के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने मे शिव का सामर्थ्य है, दक्ष का नही। शिव का वाहन है वृषभ, जो साकेतिकता की दृष्टि से धर्म का ही प्रतीक है। शिव वृषभ पर चढ कर चलते हैं—इसका तात्त्विक तात्पर्य है कि कल्याण धर्म का आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित होता है। धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय कभी नही हो सकता। इसलिए भौतिक सुख से सम्पन्न होने पर भी धर्मविहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि मे नितान्त निराधार है—सर्वथा अनुपादेय है। पौराणिक कथा का यही रहस्य है।

भारत के आध्यात्मचिन्तक हमारे मनीषी डके की चोट प्रमाणित करते आ रहे हैं कि अर्थ की उपासना मानव-समाज को परम सौख्य की ओर कथमपि कदापि अग्रसर नही कर सकती—धन से भोगविलास से उत्पन्न क्षणिक आराम की प्राप्ति अवश्य होती है, परन्तु वास्तविक सौख्य की नही। आराम और सुख मे अन्तर होता है। पहिला है ऊपरी, तो दूसरा है भीतरी। पहिला है क्षणिक तो दूसरा है। चिरस्थायी। इस तथ्य का प्रतिपादन **प्रह्लाद का पौराणिक चरित** वैशद्येन करता है। हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप मे प्रह्लाद का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है। कथानक के अन्तरंग पर ध्यान दीजिये। 'कशिपु' वैदिक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है कोमल 'शय्या' या मुलायम सेज। **'सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः'**—भागवत (२।२।४) की इस प्रख्यात सूक्ति मे कशिपु का तात्पर्य शय्या से ही है। अतः 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है सोने की सेज वाली प्राणी, भोगविलास मे आसक्त मानव, आधुनिक परिभाषा मे पूँजीपति-कैपिटलिस्ट। 'प्रह्लाद' का स्पष्ट अर्थ है—प्रकृष्ट आह्लाद, सातिशय आनन्द। धनी के घर मे ही प्रह्लाद जनमता है। 'हिरण्यकशिपु' के घर प्रह्लाद नही जनमेगा, तो क्या वह दीन-हीन टूटी खाट पर सोने वाले दरिद्र के घर पैदा होगा? नही, कभी नहीं। पर्वत से प्रह्लाद गिराया जाता है, परन्तु वह मरता नही। पहाड़ों पर घूमने से विलासी धन कुबेर का आनन्द कभी कम नही होता, प्रत्युत वह बढ़ता है। जल

में डुबाने से प्रह्लाद मरता नहीं। आज भी समुद्र की सैर सुख उपजाती है। परन्तु हिरण्यकशिपु तथा प्रह्लाद का संघर्ष अवश्यभावी है। भोग की भित्ति पर, धन के आधार पर, वास्तव आनन्द टिक नहीं सकता। त्याग के संग में ही आनन्द चिरस्थायी होता है। जगत् के मूलभूत तत्त्व शक्तिमान् परमेश्वर अथवा निखिल सामर्थ्यमयी शक्ति की उपेक्षा करने से चरम सौख्य की प्राप्ति कथमपि नहीं होती—

> बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह !
> नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ॥
> तप्तस्य तत्-प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
> स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥
> —(भाग० ७।९।१९)

भगवान् से उपेक्षित प्राणियों के लिए किसी भी रोग का प्रतीकार अकिञ्चित्-कर ही होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ विश्व में धार्मिक सन्तुलन के प्रतिष्ठापक भगवान् नरसिंह हिरण्यकशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर मार डालते हैं और प्रह्लाद की रक्षा करते हैं। इस पौराणिक आख्यान का (जो सच्चा इतिहास भी है) तात्पर्य यही है कि प्रह्लाद का अस्तित्व भगवान् की सत्ता में—श्रद्धा मानने में और आध्यात्मिक जीवन-यापन में ही है, अन्यथा नहीं।

पुराण भुक्ति-मुक्ति का आदर्श मानता है। जीवन में भुक्ति तथा जीवनोपरान्त मुक्ति—दोनों की प्रतिष्ठा मानव के कल्याणार्थ पुराण का सिद्धान्त है। जीवन-यापन का संतुलित मार्ग पुराण बतलाता है। भागवतकार ने आध्यात्मिक मार्ग की कुंजी इस छोटे से पद्य में बतलाई है जो पुराणों का निजी जीवन दर्शन है।

> तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
> भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ॥
> हृद्-वाग्-वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
> जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥
> —भाग० १०।१४।८

इस रुचिर श्लोक में मानव की आचरण संहिता के लिए तीन सोपान बतलाये गये हैं.—(क) कर्मों के फल को आसक्तिविहीन होकर भोगना, (ख) भगवान् की अनुकम्पा की प्रतिक्षण प्रतीक्षा, (ग) हृदय से भगवान् का चिन्तन, वाणी द्वारा गुणकीर्तन तथा शरीर द्वारा वन्दन। इन तीनों सोपानों के अभ्यास से प्राणी को उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होती हैं, जैसे पिता की सम्पत्ति पुत्र को दायभाग में स्वतः प्राप्त हो जाती है। आशय यह है कि ऐसे जीवन बिताने

वाले को मुक्ति भगवान् से दायभाग मे प्राप्त होती है अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त होती है। पुराणों की यह चरम शिक्षा है—भगवान् मे विश्वास करते हुए निष्काम कर्म का सम्पादन। पुराण व्यावहारिक दर्शन का उपदेश देता है। विचार तथा आचार, चिन्तन तथा व्यवहार—इन दोनों का सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन बिताना प्राणी का कर्तव्य है। भक्ति के साथ ज्ञान तथा कर्म की समरसता उत्पन्न कर अपने जीवन मे उसे उतारने पर हमारा जीवन नितान्त सुखमय होगा—इसमे तनिक भी सन्देह नही। यही है पुराण के भुक्ति-मुक्ति का आदर्श और इसी मे है पौराणिकी शिक्षा का चरम अवसान।

विशेषतः कलौ व्यास पुराणश्रवणादृते।
परो धर्मो न पुंसां हि मुक्तिध्यानपरः स्मृतः ॥ ३१ ॥
या गतिः पुण्यशीलानां यज्विनां च तपस्विनाम्।
सा गतिः सहसा तात! पुराणश्रवणात् खलु ॥ ३५ ॥
पापं संक्षीयते नित्यं धर्मश्चैव विवर्धते।
पुराणश्रवणाज्ज्ञानी न संसारं प्रपद्यते ॥ ३७ ॥
अन्यो न दृष्टः सुखदो हि मार्गः
पुराणमार्गो हि सदा वरिष्ठः ॥
शास्त्रं विना सर्वमिदं न भाति
सूर्येण हीना इव जीवलोकाः ॥ ४१ ॥
—शिवपुराण (उमा संहिता १३ अध्याय)

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

तथास्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पुराण-विमर्श

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

पुराणों का विषय-विवेचन

[पुराणों के विषयों का विवेचन दो पुराणों में विशेष रूप से उपलब्ध होता है—मत्स्य में तथा नारदीय में। इसमें मत्स्य का विवेचन संक्षिप्त होने पर भी सारवान प्रतीत होता है। इसके ऊपर प्राचीनता की छाप स्पष्टतः दीखती है। नारदीय पुराण का वर्णन बहुत ही विस्तृत, विकीर्ण तथा तदपेक्षया अवान्तर-कालीन प्रतीत होता है। दोनों का यहाँ एकत्र सकलन तुलना करने के लिए दिया जा रहा है]

(क)

मत्स्यपुराणम् (अध्याय ५३)

पुराण-संख्यावर्णनम्

मुनय ऊचुः

पुराणसंख्यामाचक्ष्व सूत विस्तरशः क्रमात् ।
दानधर्ममशेषन्तु यथावदनुपूर्वशः ॥ १ ॥

सूत उवाच

इदमेव पुराणेषु पुराणपुरुषस्तदा ।
यदुक्तवान् स विश्वात्मा मनवे तन्निबोधत ॥ २ ॥

मत्स्य उवाच

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥ ३ ॥

पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ४ ॥

निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण वै मया ।
अङ्गानि चतुरो वेदाः पुराणं न्यायविस्तरम् ॥ ५ ॥

मीमांसां धर्मशास्त्रञ्च परिगृह्य मया कृतं ।
मात्स्यरूपेण च पुनः कल्पादावुदकार्णवे ॥ ६ ॥

अशेषमेतत् कथितमुदकान्तर्गतेन च ।
श्रुत्वा जगाद स मुनीन् प्रति देवान् चतुर्मुखः ॥ ७ ॥

प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः ।
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥ ८ ॥

व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥ ९ ॥

तथाष्टदशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ १० ॥

तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेशितम् ।
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥ ११ ॥

नामतस्तानि वक्ष्यामि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ।
ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये ॥ १२ ॥

ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराणं परिकीर्त्यते ।
लिखित्वा तच्च यो दद्याज्जलधेनुसमन्वितम् ॥
वैशाखपूर्णिमायाञ्च ब्रह्मलोके महीयते ॥ १३ ॥

एतदेव यथा पद्ममभूद्धैरण्मयं जगत् ।
तद्वृत्तान्ताश्रयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः ॥
पाद्म तत् पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह कथ्यते ॥ १४ ॥

तत् पुराणञ्च यो दद्यात् सुवर्णकलशान्वितम् ।
ज्येष्ठे मासि तिलैर्युक्तमश्वमेधफलं लभेत् ॥ १५ ॥

वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः ।
यत्प्राह धर्मानखिलान् तद्युक्तं वैष्णवं विदुः ॥ १६ ॥

तदाषाढे च यो दद्यात् घृतधेनुसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां विपूतात्मा स पदं याति वारुणम् ॥
त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः ॥ १७ ॥

श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान् वायुरिहाब्रवीत् ।
यत्र तद्वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥
चतुर्विंशत् सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥ १८ ॥

श्रावण्यां श्रावणे मासि गुडधेनुसमन्वितम् ।
यो दद्याद् वृषसंयुक्तं ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ।
शिवलोके स पूतात्मा कल्पमेकं वसेन्नरः ॥ १९ ॥

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः ।
वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमुच्यते ॥ २० ॥

सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरोत्तमाः ।
तद् वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते ॥ २१ ॥

लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां प्रौष्ठपद्यां स याति परमां गतिम् ॥
अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रचक्षते ॥ २२ ॥

यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्कल्पाश्रयाणि च ।
पञ्चविंशत् सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते ॥ २३ ॥

तदिदं पञ्चदश्यान्तु दद्याद्धेनुसमन्वितम् ।
परमां सिद्धिमाप्नोति पुनरावृत्तिदुर्लभाम् ॥ २४ ॥

यत्राधिकृत्य शकुनीन् धर्माधर्मविचारणा ।
व्याख्याता वै मुनिप्रश्ने मुनिभिर्धर्मचारिभिः ॥ २५ ॥

मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु ।
पुराणं नवसाहस्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते ॥ २६ ॥

प्रतिलिख्य च यो दद्यात् सौवर्णकरिसंयुतम् ।
कार्त्तिक्यां पुण्डरीकस्य यज्ञस्य फलभाग्भवेत् ॥ २७ ॥

यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च ।
वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत् प्रचक्षते ॥ २८ ॥

लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमपद्मसमन्वितम् ।
मार्गशीर्ष्यां विधानेन तिलधेनुसमन्वितम् ।
तच्च षोडश साहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥ २९ ॥

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः ।
अघोरकल्पवृत्तान्त प्रसङ्गेन जगत्स्थितिम् ।
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥

चतुर्दश सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च ।
भविष्यचरितप्रायं भविष्यन्तदिहोच्यते ॥ ३१ ॥

तत्पौषे मासि यो दद्यात् पौर्णमास्यां विमत्सरः ।
गुडकुम्भसमायुक्तमग्निष्टोमफलं भवेत् ॥ ३२ ॥

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च ।
सावर्णिर्नारदाय श्री-कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

यत्र ब्रह्मवराहस्य चोदन्तं वर्णितं मुहुः ।
तदष्टादश साहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते ॥ ३४ ॥

पुराणं ब्रह्मवैवर्तं यो दद्यान्माघमासि च ।
पौर्णमास्यां शुभदिने ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३५ ॥

यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च ॥ ३६ ॥

कल्पान्ते लैङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम् ।
तदेकादश साहस्रं फाल्गुन्यां यः प्रयच्छति ।
तिलधेनुसमायुक्तं स याति शिवसाम्यताम् ॥ ३७ ॥

महावराहस्य पुनर्माहात्म्यमधिकृत्य च ।
विष्णुनाभिहितं क्षोण्यै तद्वाराहमिहोच्यते ॥ ३८ ॥

मानवस्य प्रसङ्गेन कल्पस्य मुनिसत्तमाः ।
चतुर्विंशत्सहस्राणि तत्पुराणमिहोच्यते ॥ ३९ ॥

काञ्चनं गरुडं कृत्वा तिलधेनुसमन्वितम् ।
पौर्णमास्यां मधौ दद्याद् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ॥
वराहस्य प्रसादेन पदमाप्नोति वैष्णवम् ॥ ४० ॥

यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत् पुरुष वृत्त चरितैरुपबृंहितम् ॥ ४१ ॥

स्कन्द नाम पुराणञ्च ह्यकाशीति निगद्यते ।
सहस्राणि शत चैकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥ ४२ ॥

परिलिख्य च यो दद्याद्धेमशूलसमन्वितम् ।
शैव पदमवाप्नोति मीने चोपगते रवौ ॥ ४३ ॥

त्रिविक्रमस्य वृत्तान्तमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम् ॥ ४४ ॥

पुराण दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुग शिवम् ।
य शरद्विषुवे दद्याद् वैष्णव यात्यसौ पदम् ॥ ४५ ॥

यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले ।
माहात्म्य कथयामास कूर्मरूपी जनार्दन ॥ ४६ ॥

इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्य शक्रसन्निधौ ।
अष्टादश सहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् ॥ ४७ ॥

यो दद्यादयने कूर्मं हेमकूर्मसमन्वितम् ।
गोसहस्रप्रदानस्य फल सम्प्राप्नुयान्नर ॥ ४८ ॥

श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जनार्दन ।
मात्स्यरूपेण मनवे नरसिंहोपवर्णनम् ॥ ४९ ॥

अधिकृत्याऽब्रवीत् सप्तकल्पवृत्त मुनीश्वरा ।
तन्मात्स्यमिति जानीध्व सहस्राणि चतुर्दश ॥

विषुवे हेममत्स्यन धेन्वा चैव समन्वितम् ।
यो दद्यात् पृथिवी तेन दत्ता भवति चाखिला

यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम्
अधिकृत्याऽब्रवात् कृष्णो गारुड तदिहोच्यत

तदष्टादशकञ्चैव सहस्राणीह पठ्यते ।
सौवर्ण हसयुक्त यो ददाति पुमानिह ॥
स सिद्धि लभते मुख्यां शिवलोक च

ब्रह्मा ब्राह्मणमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत
तच्च द्वादशसाहस्र ब्रह्माण्ड

भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र
तद्ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा समुदाहृतम्

यो दद्यात्तद्व्यतीपाते पीतोर्णायुगसयुतम् ।
राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानव ॥
हेमधेन्वा युत तच्च ब्रह्मलोकफलप्रदम् ।

चतुर्लक्षमिद प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
मत्पितुर्मम पित्रा च मया तुभ्य निवेदितम् ॥ ५७ ॥

इहलोकहितार्थाय सक्षिप्त परमर्षिणा ।
इदमद्यापि देवेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ५८ ॥

उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिता ।
पाद्मे पुराणे तत्रोक्त नरसिंहोपवर्णनम् ॥
तच्चाष्टादशमाहस्र नारसिंहमिहोच्यते ॥ ५९ ॥

नन्दाया यत्र माहात्म्य कार्तिकेयेन वर्ण्यते ।
नन्दीपुराण तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते ॥ ६० ॥

यत्र साम्ब पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम् ।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्बमतन्मुनिव्रता ॥ ६१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधा ।
धन्य यशस्यमायुष्य पुराणानामनुक्रमम् ।
एवमादित्यसज्ञा च तत्रैव परिगद्यते ॥ ६२ ॥

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराण यत् प्रदिश्यते ।
विजानीध्व द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम् ।
पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ॥ ६३ ॥
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च ।
वशानुचरितञ्चैव पुराण पञ्चलक्षणम् ॥ ६४ ॥
ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्य भुवनस्य च ।
ससहारप्रदानाञ्च पुराणे पञ्चवर्णके ॥ ६५ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धञ्च यत्फलम् ॥ ६६ ॥

सात्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिक हरे ।
राजसेषु च माहात्म्यमधिक ब्रह्मणो विदु ॥ ६७ ॥

तद्वदग्नेश्च माहात्म्य तामसेषु शिवस्य च ।
सकीर्णेषु सरस्वत्या पितृणाञ्च निगद्यते ॥ ६८ ॥
अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुत ।
भारताख्यानमखिलञ्चक्रे तदुपबृंहितम् ॥
लक्षणैकेन यत् प्रोक्त वेदार्थपरिबृंहितम् ॥ ६९ ॥

वाल्मीकिना तु यत् प्रोक्त रामोपाख्यानमुत्तमम् ।
ब्रह्मणाभिहित यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ७० ॥

यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत् पुरुष वृत्त चरितैरुपबृंहितम् ॥ ४१ ॥

स्कन्दं नाम पुराणञ्च ह्येकाशीति निगद्यते ।
सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥ ४२ ॥

परिलिख्य च यो दद्याद्धेमशूलसमन्वितम् ।
शैवं पदमवाप्नोति मीने चोपगते रवौ ॥ ४३ ॥

त्रिविक्रमस्य वृत्तान्तमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम् ॥ ४४ ॥

पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ।
यः शरद्विषुवे दद्याद् वैष्णवं यात्यसौ पदम् ॥ ४५ ॥

यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले ।
माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः ॥ ४६ ॥

इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्यः शक्रसन्निधौ ।
अष्टादश सहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् ॥ ४७ ॥

यो दद्यादयने कूर्मं हेमकूर्मसमन्वितम् ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं सम्प्राप्नुयान्नरः ॥ ४८ ॥

श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जनार्दनः ।
मात्स्यरूपेण मनवे नरसिंहोपवर्णनम् ॥ ४९ ॥

अधिकृत्याऽब्रवीत् सप्तकल्पवृत्तं मुनीश्वराः ।
तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश ॥ ५० ॥

विषुवे हेममत्स्येन धेन्वा चैव समन्वितम् ।
यो दद्यात् पृथिवी तेन दत्ता भवति चाखिला ॥ ५१ ॥

यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम् ।
अधिकृत्याऽब्रवीत् कृष्णो गारुडं तदिहोच्यते ॥ ५२ ॥

तदष्टादशकञ्चैव सहस्राणीह पठ्यते ।
सौवर्णं हंससंयुक्तं यो ददाति पुमानिह ॥
स सिद्धिं लभते मुख्यां शिवलोके च संस्थितिम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः ।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम् ॥ ५४ ॥

भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः ।
तद्ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ ५५ ॥

यो दद्यात्तद्व्यतीपाते पीतोर्णायुगसंयुतम् ।
राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥
हेमधेन्वा युतं तच्च ब्रह्मलोकफलप्रदम् ॥ ५६ ॥

परिशिष्ट १

चतुर्लक्षमिदं प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
मत्पितुर्मम पित्रा च मया तुभ्यं निवेदितम् ॥ ५७ ॥

इहलोकहितार्थाय संक्षिप्तं परमर्षिणा ।
इदमद्यापि देवेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ५८ ॥

उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिताः ।
पाद्मे पुराणे तत्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् ॥
तच्चाष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते ॥ ५९ ॥

नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते ।
नन्दीपुराणं तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते ॥ ६० ॥

यत्र साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम् ।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्बमेतन्मुनिव्रता ॥ ६१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुराणानामनुक्रमम् ।
एवमादित्यसंज्ञा च तत्रैव परिगद्यते ॥ ६२ ॥

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत् प्रदिश्यते ।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम् ।
पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ॥ ६३ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ ६४ ॥

ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।
ससंहारप्रदानाञ्च पुराणे पञ्चवर्णके ॥ ६५ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धञ्च यत्फलम् ॥ ६६ ॥

सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥ ६७ ॥

तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च ।
सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते ॥ ६८ ॥

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।
भारताख्यानमखिलञ्चक्रे तदुपबृंहितम् ॥
लक्षेणैकेन यत् प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम् ॥ ६९ ॥

वाल्मीकिना तु यत् प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम् ।
ब्रह्मणाभिहितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ७० ॥

यत्र माहेश्वरान् धर्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत् पुरुष वृत्त चरितैरुपबृंहितम् ॥ ४१ ॥

स्कन्दं नाम पुराणञ्च ह्येकाशीति निगद्यते ।
सहस्राणि शतं चैकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥ ४२ ॥

परिलिख्य च यो दद्याद्धेमशूलसमन्वितम् ।
शैवं पदमवाप्नोति मीने चोपगते रवौ ॥ ४३ ॥

त्रिविक्रमस्य वृत्तान्तमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
त्रिवर्गमभ्यधात्तच्च वामनं परिकीर्तितम् ॥ ४४ ॥

पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ।
यः शरद्विषुवे दद्याद् वैष्णवं यात्यसौ पदम् ॥ ४५ ॥

यत्र धर्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले ।
माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः ॥ ४६ ॥

इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्यः शक्रसन्निधौ ।
अष्टादश सहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम् ॥ ४७ ॥

यो दद्यादयने कूर्मं हेमकूर्मसमन्वितम् ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं सम्प्राप्नुयान्नरः ॥ ४८ ॥

श्रुतीनां यत्र कल्पादौ प्रवृत्त्यर्थं जनार्दनः ।
मत्स्यरूपेण मनवे नरसिंहोपवर्णनम् ॥ ४९ ॥

अधिकृत्याऽब्रवीत् सप्तकल्पवृत्तं मुनीश्वराः ।
तन्मात्स्यमिति जानीध्वं सहस्राणि चतुर्दश ॥ ५० ॥

विषुवे हेममत्स्येन धेन्वा चैव समन्वितम् ।
यो दद्यात् पृथिवी तेन दत्ता भवति चाखिला ॥ ५१ ॥

यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम् ।
अधिकृत्याऽब्रवीत् कृष्णो गारुडं तदिहोच्यते ॥ ५२ ॥

तदष्टादशकञ्चैव सहस्राणीह पठ्यते ।
सौवर्णं हंससंयुक्तं यो ददाति पुमानिह ॥
स सिद्धिं लभते मुख्यां शिवलोके च संस्थितिम् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत् पुनः ।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम् ॥ ५४ ॥

भविष्याणाञ्च कल्पानां श्रूयते यत्र विस्तरः ।
तद्ब्रह्माण्डपुराणञ्च ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥ ५५ ॥

यो दद्यात्तद्व्यतीपाते पीतोर्णायुगसंयुतम् ।
राजसूयसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥
हेमधेन्वा युतं तच्च ब्रह्मलोकफलप्रदम् ॥ ५६ ॥

चतुर्लक्षमिदं प्रोक्तं व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
मत्पितुर्मम पित्रा च मया तुभ्यं निवेदितम् ॥ ५७ ॥

इहलोकहितार्थाय संक्षिप्तं परमर्षिणा।
इदमद्यापि देवेषु शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ५८ ॥

उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिताः।
पाद्मे पुराणे तत्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् ॥
तच्चाष्टादशसाहस्रं नारसिंहमिहोच्यते ॥ ५९ ॥

नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते।
नन्दीपुराणं तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते ॥ ६० ॥

यत्र साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथानकम्।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्बमेतन्मुनिव्रताः ॥ ६१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुराणानामनुक्रमम्।
एवमादित्यसंज्ञा च तत्रैव परिगद्यते ॥ ६२ ॥

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत् प्रदिश्यते।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्।
पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम् ॥ ६३ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ ६४ ॥

ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।
ससंहारप्रदानाश्च पुराणे पञ्चवर्णके ॥ ६५ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धश्च यत्फलम् ॥ ६६ ॥

सात्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥ ६७ ॥

तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते ॥ ६८ ॥

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
भारताख्यानमखिलञ्चक्रे तदुपबृंहितम् ॥
लक्षेणैकेन यत् प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम् ॥ ६९ ॥

वाल्मीकिना तु यत् प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्।
ब्रह्मणाभिहितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् ॥ ७० ॥

आहूय नारदायैव तेन वाल्मीकये पुनः।
वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थसाधनम् ॥
एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्तिताः ॥ ७१ ॥

पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुराणानामनुक्रमम् ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि स याति परमाङ्गतिम् ॥ ७२ ॥

इदं पवित्रं यशसो निधान-मिदं पितृणामतिवल्लभञ्च।
इदञ्च देवेष्वमृतायितञ्च नित्यं त्विदं पापहरञ्च पुंसाम् ॥ ७३ ॥

इति श्रीमत्स्यपुराणे पुराणसंख्यावर्णनं नाम
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

अष्टादशपुराणानां विषयानुक्रमणिका

(१) ब्रह्मपुराणम्

वेदव्यासप्रणीते महापुराणादि सत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये ४ पा० ९२ अ० उक्ता यथा :—

ब्राह्मं पुराणं तत्रादौ सर्वलोकहिताय वै।
व्यासेन वेदविदुषा समाख्यातं महात्मना॥

तद्वै सर्वपुराणाग्र्यं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
नानाख्यानेतिहासाढ्यं दशसाहस्रमुच्यते॥

तत्पूर्वभागे :—

"देवानामसुराणाञ्च यत्रोत्पत्तिः प्रकीर्तिता।
प्रजापतीनाञ्च तथा दक्षादीनां मुनीश्वर!॥

ततो लोकेश्वरस्यात्र सूर्यस्य परमात्मनः।
वंशानुकीर्त्तनं पुण्यं महापातकनाशनम्॥
तत्रावतारः कथितः परमानन्दरूपिणः।
श्रीमतो रामचन्द्रस्य चतुर्व्यूहावतारिणः॥

ततश्च सोमवंशस्य कीर्त्तनं यत्र वर्णितम्।
कृष्णस्य जगदीशस्य चरितं कल्मषापहम्॥

द्वीपानाञ्चैव सिन्धूनां वर्षाणाञ्चाप्यशेषतः।
वर्णनं यत्र पातालस्वर्गाणाञ्च प्रदृश्यते॥

नरकाणां समाख्यानं सूर्यस्तुतिकथानकम्।
पार्वत्याश्च तथा जन्म विवाहश्च निगद्यते॥

दक्षाख्यानं ततः प्रोक्तमेकाम्रक्षेत्रवर्णनम्।
पूर्वभागोऽयमुदितः पुराणस्यास्य मानद!॥"

तदुत्तरभागे :—

अस्योत्तरे विभागे तु पुरुषोत्तमवर्णनम्।
विस्तरेण समाख्यातं तीर्थयात्राविधानतः॥

अत्रैव कृष्णचरितं विस्तरात् समुदीरितम्।
वर्णनं यम लोकस्य पितृश्राद्धविधिस्तथा॥

वर्णाश्रमाणां धर्माश्च कीर्त्तिता यत्र विस्तरात्।
विष्णुधर्मयुगाख्यानं प्रलयस्य च वर्णनम्॥

योगानां च समाख्यानं सांख्यानाञ्चापि वर्णनम्।
ब्रह्मवादसमुद्देशः पुराणस्य च शंसनम् ॥

एतद् ब्रह्मपुराणन्तु भागद्वयसमाचितम्।
वर्णितं सर्वपापघ्नं सर्वसौख्यप्रदायकम् ॥

तत्फलश्रुति :—

सूतशौनकसंवादं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ।
लिखित्वैतत्पुराणं यो वैशाख्यां हेमसंयुतम् ॥

जलधेनुयुतञ्चापि भक्त्या दद्याद् द्विजातये ।
पौराणिकाय सम्पूज्य वस्त्रभोज्यविभूषणैः ॥

स वसेद् ब्रह्मणो लोके यावच्चन्द्रार्कतारकम्।
यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि ब्रह्मानुक्रमणीं द्विज ॥

सोऽपि सर्वपुराणस्य श्रोतुर्वक्तुः फलं लभेत्।
शृणोति यः पुराणन्तु ब्राह्मं सर्वं जितेन्द्रियः ॥

हविष्याशी च नियमात् स लभेद् ब्रह्मणः पदम्।
किमत्र बहुनोक्तेन यद् यदिच्छति मानवः ॥
तत्सर्वं लभते वत्स पुराणस्यास्य कीर्त्तनात्।

(२) पद्मपुराणम्

तद्वस्तुविषयाणामप्रतिपादनं नारदीयपुराणे उक्तं यथा—

प्रथमे सृष्टिखण्डे :—

"पुलस्त्येन तु भीष्माय सृष्ट्यादि क्रमतो द्विज।
नानाख्यानेतिहासाद्यैर्यत्रोक्तो धर्मविस्तरः ॥

पुष्करस्य च माहात्म्यं विस्तरेण प्रकीर्तितम्।
ब्रह्मयज्ञविधानञ्च वेदपाठादिलक्षणम् ॥

दानानां कीर्त्तनं यत्र व्रतानाञ्च पृथक् पृथक्।
विवाहः शैलजायाश्च तारकाख्यानकं महत् ॥

माहात्म्यञ्च गवादीनां कीर्तितं सर्वपुण्यदम्।
कालकेयादिदैत्यानां वधो यत्र पृथक् पृथक् ॥

ग्रहाणामर्च्चनं दानं यत्र प्रोक्तं द्विजोत्तम।
तत्सृष्टिखण्डमुद्दिष्टं व्यासेन सुमहात्मना ॥

द्वितीये भूमिखण्डे :—

पितृमात्रादिपूज्यत्वे शिवशर्मकथा पुरः।
सुव्रतस्य कथा पश्चात् वृत्रस्य च वधस्तथा।

पृथोर्वेणस्य चाख्यानं धर्माख्यानं ततः परम् ।
पितृशुश्रूषणाख्यानं नहुषस्य कथा ततः ॥
ययातिचरितञ्चैव गुरुतीर्थनिरूपणम् ।
राज्ञा जैमिनिसंवादो बह्वाश्चर्यकथायुतः ॥
कथा ह्यशोकसुन्दर्या हुण्डदैत्यवधान्विता।
कामोदकाख्यानकं तत्र विहुण्डवधसंयुतम् ॥
कुम्भुगस्य च संवादश्च्यवनेन महात्मना ।
सिद्धाख्यानं ततः प्रोक्तं खण्डस्यास्य फलोहनम् ॥
सूतशौनकसंवादं भूमिखण्डमिदं स्मृतम् ।

तृतीये स्वर्गखण्डे :—

"ब्रह्माण्डोत्पत्तिरुदिता यत्रर्षिभ्यश्च सौतिना ।
सभूमिलोकसंस्थानं तीर्थाख्यानं ततः परम् ॥
नर्मदोत्पत्तिकथनं तत्तीर्थानां कथा पृथक्।
कुरुक्षेत्रादितीर्थानां कथाः पुण्याः प्रकीर्तिताः ॥
कालिन्दीपुण्यकथनं काशीमाहात्म्यवर्णनम् ।
गयायाश्चैव माहात्म्यं प्रयागस्य च पुण्यकम् ॥
वर्णाश्रमानुरोधेन कर्मयोगनिरूपणम् ।
व्यासजैमिनिसंवादः पुण्यकर्मकथाचितः ॥
समुद्रमथनाख्यानं व्रताख्यानं ततः परम् ।
ऊर्जपञ्चाहमाहात्म्यं स्तोत्रं सर्वापराधनुत् ॥
एतत्स्वर्गाभिधं विप्र ! सर्वपातकनाशनम् ।"

चतुर्थे पातालखण्डे :—

"रामाश्वमेधे प्रथमं रामराज्याभिषेचनम् ।
अगस्त्याद्यागमश्चैव पौलस्त्यान्वयकीर्तनम् ॥
अश्वमेधोपदेशश्च हयचर्या ततः परम् ।
नानाराजकथाः पुण्या जगन्नाथानुवर्णनम् ॥
वृन्दावनस्य माहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
नित्यलीलानुकथनं यत्र कृष्णावतारिणः ॥
माधवस्नानमाहात्म्ये स्नानदानार्चने फलम् ।
धरावराहसंवादो यमब्राह्मणयोः कथा ॥
संवादो राजदूतानां कृष्णस्तोत्रनिरूपणम् ।
शिवशम्भुसमायोगो दधीच्याख्यानकन्ततः ॥
भस्ममाहात्म्यमतुलं शिवमाहात्म्यमुत्तमम् ।

देवरातसुताख्यानं पुराणज्ञप्रशंसनम् ॥
गौतमाख्यानकं चैव शिवगीता ततः स्मृता ।
कल्पान्तरी रामकथा भारद्वाजाश्रमस्थितौ ॥
पातालखण्डमेतद्धि शृण्वतां ज्ञानिनां सदा ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥

पञ्चमे उत्तरखण्डे :—

पर्वताख्यानकं पूर्वं गौर्यै प्रोक्तं शिवेन वै ।
जालन्धरकथा पश्चात् श्रीशैलाद्यनुकीर्तनम् ॥
सगरस्य कथा पुण्या ततः परमुदीरिता ।
गङ्गाप्रयागकाशीनां गयायाश्चाधिपुण्यकम् ॥
आम्रादिदानमाहात्म्यं तन्महाद्वादशीव्रतम् ।
चतुर्विंशैकादशीनां माहात्म्यं पृथगीरितम् ॥
विष्णुधर्मसमाख्यानं विष्णुनामसहस्रकम् ।
कार्तिकव्रतमाहात्म्यं माघस्नानफलं ततः ॥
जम्बुद्वीपस्य तीर्थानां माहात्म्यं पापनाशनम् ।
साभ्रमत्याश्च माहात्म्यं नृसिंहोत्पत्तिवर्णनम् ॥
देवशर्मादिकाख्यानं गीतामाहात्म्यवर्णने ।
भक्ताख्यानञ्च माहात्म्यं श्रीमद्भागवतस्य ह ॥
इन्द्रप्रस्थस्य माहात्म्यं बहुतीर्थकथान्वितम् ।
मन्त्ररत्नाभिधानञ्च त्रिपाद्भूत्यनुवर्णनम् ।
अवतारकथा पुण्या मत्स्यादीनामतः परम् ॥
रामनामशतं दिव्यं तन्माहात्म्यञ्च वाडव ।
परीक्षणञ्च भृगुणा श्रीविष्णोर्वैभवस्य च ।
इत्येतदुत्तरखण्डं पञ्चमं सर्वपुण्यदम् ॥

तत्फलश्रुति :—

"पञ्चखण्डयुतं पाद्मं यः शृणोति नरोत्तमः ।
स लभेद्वैष्णवं धाम भुक्त्वा भोगानिहेप्सितान् ॥
एतद्वै पद्मपञ्चाशत् सहस्रं पद्मसंज्ञकम् ।
पुराणं लेखयित्वा वै ज्येष्ठ्यां स्वर्णाब्जसंयुतम् ॥
यः प्रदद्यात्सुमतये पुराणज्ञाय मानद ।
स याति वैष्णवं धाम सर्वदेवनमस्कृतः ॥
पद्मानुक्रमणीमेतां यः पठेच्छृणुयात्तथा ।
सोऽपि पद्मपुराणस्य लभेच्छ्रवणजं फलम् ॥"

(३) विष्णुपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये—९४ अध्याये उक्ता यथा—

> शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं वैष्णवं महत् ।
> त्रयोविंशतिसाहस्रं सर्वपातकनाशनम् ॥
>
> यत्रादिभागे निर्दिष्टाः षडंशाः शक्तृजेन ह ।
> मैत्रेयायादिमे तत्र पुराणस्यावतारिका ॥

तत्र प्रथमभागस्य प्रथमांशे :—

> "आदिकारणसर्गश्च देवादीनाञ्च सम्भवः ।
> समुद्रमथनाख्यानं दक्षादीनां कथाचयः ॥
>
> ध्रुवस्य चरितं चैव पृथोश्चरितमेव च ।
> प्राचेतसं तथाख्यानं प्रह्लादस्य कथानकम् ॥
>
> पृथुराज्याधिकाराख्यः प्रथमोऽश इतीरितः ।

प्रथमभागस्य द्वितीयांशे :—

> पातालनरकाख्यानं सप्तसर्गनिरूपणम् ।
> सूर्यादिचारकथनं पृथग्लक्षणसंगतम् ॥
>
> चरितं भरतस्याथ मुक्तिमार्गनिदर्शनम् ।
> निदाघऋतुसंवादो द्वितीयोंऽश उदाहृतः ॥

प्रथमभागस्य तृतीयांशे :—

> "मन्वन्तरसमाख्यानं वेदव्यासावतारकम् ।
> नरकोद्धारकं कर्म गदितञ्च ततः परम् ॥
>
> सगरस्यौर्वसंवादे सर्वधर्मनिरूपणम् ।
> श्राद्धकल्पं तथोद्दिष्टं वर्णाश्रमनिबन्धने ॥
>
> सदाचारश्च कथितो मायामोहकथा ततः ।
> तृतीयोंऽशोऽयमुदितः सर्वपापप्रणाशनः ॥"

प्रथमभागस्य चतुर्थांशे :—

> "सूर्यवंशकथा पुण्या सोमवंशानुकीर्तनम् ।
> चतुर्थेऽशे मुनिश्रेष्ठ नानाराजकथाचितम् ॥"

प्रथमभागस्य पञ्चमांशे:—

> "कृष्णावतारसम्प्रश्नो गोकुलीया कथा ततः ।
> पूतनादिवधो बाल्ये कौमारेऽघादिहिंसनम् ॥
>
> कैशोरे कंसहननं माथुरं चरितंतथा ।
> ततस्तु यौवने प्रोक्ता लीला द्वारवतीभवा ॥

सर्वदैत्यवधो यत्र विवाहाश्च पृथग्विधाः ।
यत्र स्थित्वा जगन्नाथः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ॥

भूभारहरणं चक्रे परस्वहननादिभिः ।
अष्टावक्रीयमाख्यानं पञ्चमोंऽश इतीरितः ॥"

प्रथमभागस्य षष्ठांशे :—

कलिजं चरितं प्रोक्तं चातुर्विध्यं लयस्य च ।
ब्रह्मज्ञानसमुद्देशः खाण्डिक्यस्य निरूपितः ॥
केशिध्वजेन चेत्येष षष्ठोंऽशः परिकीर्तितः ।

तस्य द्वितीयभागे :—

अतः परन्तु सूतेन शौनकादिभिरादरात् ।
पृष्टेन चोदिताः शश्वद् विष्णुधर्मोत्तराह्वयाः ॥

नाना धर्मकथाः पुण्या व्रतानि नियमा यमाः ।
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रं वेदान्तं ज्यौतिषन्तथा ॥

वंशाख्यानप्रकरणात् स्तोत्राणि मनवस्तथा ।
नाना विद्याश्रयाः प्रोक्ताः सर्वलोकोपकारकाः ।
एतद्विष्णुपुराणं वै सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥"

तत्फलश्रुति :—

"वाराहकल्पवृत्तान्तं व्यासेन कथितन्त्विह ।
यो नरः पठते भक्त्या यः शृणोति च सादरम् ॥

तावुभौ विष्णुलोकं हि व्रजेतां भुक्तभोगकौ ।
तल्लिखित्वा च यो दद्यादाषाढ्यां घृतधेनुना ॥

सहितं विष्णुभक्ताय पुराणार्थविदे द्विजः ।
स याति वैष्णवं धाम विमानेनार्कवर्चसा ॥

यश्च विष्णुपुराणस्य समनुक्रमणीं द्विज ।
कथयेच्छृणुयाद्वाऽपि स पुराणफलं लभेत् ॥

(४) वायुपुराणम्

"पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ॥

महिमानं शिवस्याह पूर्वे पाराशरः पुरा ।
अपरार्द्धे तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥

पुराणेषूत्तमं प्राहुः पुराणं वायुनोदितम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण शिवलोकमवाप्नुयात् ॥

यथा शिवस्तथा चैवं पुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयमभिख्यातम् ॥

चतुर्थं वायुना प्रोक्तं वायवीयमिति स्मृतम् ।
शिवभक्तिसमायोगाच्छैवं तच्चापराख्यया ॥

चतुर्विंशतिसंख्यातं सहस्राणि तु शौनक ।
चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं ॥"

रेवा-माहात्म्यम्—

"शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराणं वायवीयकम् ।
तस्मिन् श्रुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रं तत् पुराणं प्रकीर्तितम् ।
श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान्यत्राह मारुतः ।
तद्वायवीयमुदितं भागद्वयसमाचितम् ॥

पूर्वभागे—

स्वर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्र सविस्तरात् ।
मन्वन्तरेषु वंशाश्च राज्ञां ये यत्र कीर्तिताः ॥

गयासुरस्य हननं विस्तराद् यत्र कीर्तितम् ॥
मासानां चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।

दानधर्मा राजधर्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥
भूमिपातालककुब्व्योमचारिणां यत्र निर्णयः ।
व्रतादीनाञ्च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥

तदुत्तरभागे—

उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।
शिवस्य संहिताख्या वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥

यो देवः सर्वदेवानां दुर्विज्ञेयः सनातनः ।
स तु सर्वात्मना यस्यास्तीरे तिष्ठति सन्ततम् ॥

इदं ब्रह्मा हरिरिदं साक्षाच्चेदं परो हरः ।
इदं ब्रह्म निराकारं कैवल्यं नर्मदाजलम् ॥

ध्रुवं लोकहितार्थाय शिवेन स्वशरीरतः ।
शक्तिः कापि सरिद्रूपा रेवेयमवतारिता ॥

ये वसन्त्युत्तरे कूले रुद्रस्यानुचरा हि ते ।
वसन्ति याम्यतीरे ये लोकं ते यान्ति वैष्णवम् ॥

ओङ्कारेश्वरमारभ्य यावत् पश्चिमसागरम् ।
सङ्गमाः पञ्च च त्रिंशन्नदीनां पापनाशनाः ॥

दशैकमुत्तरे तीरे त्रयोविंशति दक्षिणे ।
पञ्चत्रिंशत्तमः प्रोक्तो रेवासागरसङ्गमः ॥

सङ्गमैः सहितान्येवं रेवातीरद्वयेऽपि च ।
चतुःशतानि तीर्थानि प्रसिद्धानि च सन्ति हि ॥

२ पु० वि० प०

षष्टितीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यो मुनीश्वर।
सन्ति चान्यानि रेवायास्तीरयुग्मे पदे पदे॥

संहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः।
नर्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्त्तितम्॥

—नारदपुराण

(५) शिवपुराणम्

तत्स्थविषयाणां प्रतिपादनम्

ज्ञानसंहितायाम् :—

ऋषिगणस्य प्रश्नः। ब्रह्मनारदसंवादः ज्योतिर्लिङ्गप्रादुर्भावश्च। ओंकारप्रादुर्भावः, शिवस्यानुग्रहः, विष्णुकृतशिवस्तुतिः। उभयोः कृते शिवस्य वरदानम्। ब्रह्मणो हंसरूपधारणस्य विष्णोः वराहरूपधारणस्य च कारणरूपनिर्देशः, ब्रह्मादीनामुत्पत्तिकथनम्। ऋष्यादीनां सृष्टिः। भगवत्याः देहत्यागस्य संक्षेपेण वृत्तान्तकथनम् शिवपूजाविधिश्च। पावमानमन्त्रैः शिवपूजाविधिः। तारकोपाख्यानं, ब्रह्मणः समीपे देवादीनां गमनञ्च। ब्रह्मदेवसंवादः शिवस्य तपोवर्णनञ्च मदनदहनम् पार्वत्याश्च प्रत्यावर्त्तनम्। पार्वत्यास्तपः। पार्वतीतपः समुद्दिश्य देवगणानामृषीणाञ्च शिवसन्निधाने गमनम्, जटिलब्राह्मणवेशे पार्वत्याः सकाशं शिवस्यागमनम्। हरपार्वतीसंवादः। शिवविवाहोद्योगः। शिवविवाहयात्रा। शिवरूपदर्शने मेनकायाः खेदस्तां प्रति भगवत्याः ज्ञानोपदेशः। हरपार्वत्योर्विवाहः। कार्तिकेयस्य जन्म देवसेनापतित्वं तारकवधश्च एवं ब्रह्मणो वरेण तारकपुत्राणां त्रिपुरेऽधिष्ठानम्। विष्णुसृष्टौ मुण्डिकर्तृकदैत्यगणानाम्मोहोत्पादनम्। मुण्डिन उपदेशेन दैत्यानां धर्मनाशः दरिद्रताञ्च दृष्ट्वा विष्णुप्रभृतिदेवगणानां शिवस्तवः। विष्णूपदेशेन देवगणानां कोटिशिवमन्त्रजापः शिवस्तवश्च। देवमयरथारोहणे शिवकर्तृकत्रिपुरनाशः। देवगणानां वरलाभश्च। हरिकर्तृक लिङ्गार्चनफलकथनम्। अधिकारानुसारेण देवेभ्यस्तैजसादिलिङ्गदानम्। शिवपूजाविधिकथनम्। आह्निककर्तव्यशिवपूजाविधिः। षोडशोपचारेण साम्बशिवपूजा। धान्यादिभिः शिवपूजायाः फलविशेषकथनम्। जानकीशापेन केतकीपुष्पेण शिवपूजाया निषेधः रामचरित्रकीर्तनञ्च। चम्पकपुष्पस्य शिवपूजार्थं राज्ञो मोहस्तदुत्पादनपूर्वकं कृतदुष्कर्मब्राह्मण चम्पकपुष्पयोश्च नारदस्य शापः। गणेशचरित्रम्। गणेशकर्तृकशिवगणानां पराजयः शिवकर्तृकगणेशशिरश्छेदनञ्च। शिरश्छेदनेन देव्याः क्रोधः महादेवस्य च गणपतेः प्राणदानं गाणपत्यप्रदानञ्च। कार्त्तिक-गणेशयोर्विवादः गणेशस्य जयलाभश्च। गणेशस्य विवाहस्तच्छ्रुत्वा कार्त्तिकस्य क्रोधः क्रौञ्चपर्वतगमनञ्च। दक्षाप-

धारणमाहात्म्यकथनम् । प्रधानज्योतिर्लिङ्गोपलिङ्गानां नामस्थानकथनम् । नन्दिकेशतीर्थमाहात्म्ये गोवत्ससंवादादिः । नन्दिकेशतीर्थमाहात्म्यकथनम् । अत्रीश्वरलिङ्गमाहात्म्यकथनम् । ज्योतिर्लिंगादीनां समस्तवस्तूनां ग्राह्यत्वकथनम् शिवलिंगमाहात्म्यकथनञ्च । अन्धकेश्वरवर्णनप्रसंगेऽन्धकमर्दनकथनम् । शिवरात्रिव्रतसंशयहेतुदधीचितनयाना दोषकथनम् । सोमेश्वरकथा ज्योतिर्लिंगोत्पत्तिकथनञ्च । महाकालोंकारेश्वरयोरुत्पत्तिः । केदारेश्वरप्रसङ्गः । भीमशङ्करप्रादुर्भावः । विश्वेश्वरस्य माहात्म्यम् गौरीं प्रति शिवस्य काशीमाहात्म्यकथनम् । गोपेश्वरमाहात्म्यकथनम् । काशीमरणान्मोक्षप्राप्तेः शङ्कानिवारणम् । गौतमस्य तपस्या तच्चेत्रकथनञ्च । गणेशपूजनं गौतमचरित्रञ्च । गौतमप्रशंसा, गंगास्थितिः कुशावर्तमाहात्म्यं त्र्यम्बकमाहात्म्यञ्च । रावणस्य तपस्यामाहात्म्यम्, वैद्यनाथस्योत्पत्तिः । रामेश्वरमाहात्म्ये नागेशमाहात्म्यञ्च । घुस्मेश्वरमाहात्म्यञ्च, वराहरूपेण हिरण्याक्षवध प्रह्लादचरित्रञ्च । प्रह्लादहिरण्यकशिपु प्रस्तावः । हिरण्यकशिपुवधः नृसिंहचरित्रञ्च । नलजन्मान्तरकथा । पाण्डवगणकर्तृकदुर्वासस प्रीत्युत्पादनम् । व्यासादेशेन इन्द्रकीलपर्वते अर्जुनस्य तपः इन्द्रसमागमश्च । भिल्लरूपस्य शिवस्यागमनञ्च । भिल्लवेषधारिशिवस्य अर्जुनेन सह युद्धम् । अर्जुनस्य वरदानम् । पार्थिवशिवपूजाविधिः । विश्वेश्वरमाहात्म्यम् । विष्णुकर्तृकसहस्रकमलशिवपूजा । शिवकृपया सुदर्शनचक्रलाभः । शिवसहस्रनामवर्णनम् । विष्णुप्रभृतीन् शिवस्य शिवरात्रिव्रतकथनम् । शिवरात्रिव्रतस्योद्यापनविधिः । व्याधास्येतिहासकथनम् । अज्ञानेन कृतस्य शिवरात्रिव्रतस्य प्रशंसा । शिवरात्रिव्रतकरणेन पापिनो वेदनिधेर्मुक्तिः । चतुर्विधमुक्तिवर्णनम् । शिवकर्तृकविष्णुप्रभृतीनामुत्पत्तिकथनम् । एकमात्रभक्तिसाधनेन शिवभक्तेर्लाभकथनम् ।

विद्येश्वरसंहितायाम्—

साध्यसाधननिरूपणम् । मननादिस्वरूपवर्णनम् । श्रवणाद्यशक्तस्यकीर्नां लिङ्गपूजनसाधनकथनम् । ब्रह्मविष्ण्वोः युद्धं दृष्ट्वा शिवसमीपे देवतानां गमनम् । ज्योतिर्मयलिङ्गप्रादुर्भावस्तद् दृष्ट्वा ब्रह्मविष्ण्वोर्विवादशान्तिः । भैरवकर्तृकब्रह्मणः शिरश्छेदनम् । ब्रह्माणं प्रति शिवस्यानुग्रहः । ब्रह्मविष्णुकृता शिवपूजा लिंगनिर्माणं लिंगप्रतिष्ठा । लिङ्गपूजायाः नियमकथनम् । शिवतीर्थसेवामाहात्म्यम् । विप्रादिसदाचारस्य नित्यकृत्यता । पञ्चमहायज्ञकथनम् । दिनविशेषे देवपूजायाः कर्तव्यताकथनम् । देशकालादिविशेषे पूजाफलकथनम् । पार्थिवप्रतिमापूजाविधिः । प्रणवमाहात्म्यम् । शिवभक्तपूजाकथनम् । षड्लिंगमाहात्म्यम् । बन्धनमुक्त्योः स्वरूपकथनम् । लिंगक्रमकथनम् ।

कैलाशसंहितायाम् :—

वाराणसीधाम्नि सूतकर्तृकमुनीनां निकटे प्रणवार्थकथनारम्भः। कैलासधाम्नि देवीकृता शिवं प्रति प्रणवार्थजिज्ञासा। प्रणवोक्तमन्त्रदीक्षादिकथनम्। प्रणवोद्धारः, विविधपूजा एवं न्यासान्तरादिविधिः।

कार्तिकेयं प्रति वामदेव ऋषेः प्रणवस्य कृते प्रश्नः। कुमारकर्तृकं वामदेवं प्रति प्रणवोपासनाकथनम्। षड्विधार्थपरिज्ञानं। विस्तृतप्रणवार्थःकलातन्त्रादि विवर्णकथनम्।

सनत्कुमारसंहितायाम् :—

नैमिषारण्ये सनत्कुमारस्यागमनम्। व्यासादिभिर्मिलनम्। शिवपूजाविषये ऋषीणां प्रश्नः। सनत्कुमारस्य पृथ्व्यादेः संस्थानक्रमप्रभृतीनां कथनम्। प्रकृतितः महदादिक्रमे जगतः सृष्टिः सप्तद्वीपवर्णनञ्च। नरकादिवर्णनम्। ऊर्ध्वलोकयोग-माहात्म्यकथनम्। सविस्तरं रुद्रमाहात्म्यं, पंचभूतिकथनम्। रुद्रकीर्तनफलम्। रुद्रस्तवः। सनत्कुमारस्य चरित्रम्; परमसिद्धिश्च। शिवसर्वज्ञादिकथनम्। रुद्रलोकब्रह्मलोकविष्णुलोकानां कथनम्। रुद्रस्थानस्य सर्वश्रेष्ठत्वकथनम्। विभीषण-महेश्वरसंवादः। लिङ्गपूजा शिवनामकीर्तनफलञ्च। स्थानमाहात्म्य-कथनम्। ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां मध्ये कस्य ज्येष्ठत्वम् इति व्यासप्रश्ने सनत्कुमारसमुत्तरदानं शिवलिङ्गमाहात्म्यादिकथनञ्च। लिङ्गस्थापनं शिवशक्त्योः पूजनविधिः शिवपूजायां पुष्पनिरूपणम्। अनशनविधिः। शिवप्रीतिकरः धर्मस्य संक्षिप्त उपदेशः। लक्ष्मणाष्टमीव्रतकथनञ्च। अन्नदानमाहात्म्यं भिन्न २ दानानां प्रशंसा च। विविधधर्मकार्याणामुपदेशः। सविस्तरं नियमफलकथनम्। पार्वत्याः शिवस्य शिरसि चन्द्रधारणे विषभक्षणविषये च प्रश्नः। भस्मप्रशंसा भस्मधारणस्य फलकथनम्। शिवस्य श्मशानवासहेतु। शिवपूजायाः फलकथनम्। शिवविभूति-कथनम्। शिवस्थाननिर्देशः। प्रणवस्योपासना। प्रणवदेवताकथनम्। ध्यानयोग-कथनम्। दुर्वाससः महादेवं प्रति पुनर्ध्यानवर्णनम् तदर्थं काशीवासनिर्देशश्च। वायुनाडिकादिनिरूपणम्। ध्यानविधेः प्रशंसा। प्रणवोपासना निरूपणम्। शरीरस्य सर्वदेवमयत्वकथनम्। नाडीविस्तारकथनम्। हरपार्वतीसंवादः काशीमाहात्म्य-कथनञ्च। मधूकस्योपाख्यानम्। सपुत्रस्य प्रतापमुकुटराज्ञ ओंकारेश्वरदर्शनम्। ओंकारस्तवः। नन्दीश्वरस्य तपस्या। नन्दिनं प्रति शिवस्य वरदानम्। महादेवस्य स्मरणम्। देवानामागमनम्। शिवस्यादेशेन देवानां नन्दिनः गाणपत्याभिषेक-करणम्। नन्दिनः स्तवः नन्दिविवाहश्च। नीलकण्ठमाहात्म्यं, स्तोत्रञ्च, त्रिपुर-वृत्तान्तम्। देवानां दुःखं दृष्ट्वा महादेवस्य सन्तोषः। त्रिपुरनाशस्योद्योगः।

त्रिपुरदाहः। पार्वत्याः प्रश्नः। शिवस्य ब्रह्मणश्च माहात्म्यकीर्तनम्। पाशुपतयोगः। देहरचनादीनां विवरणम्। विमलज्ञानेन ईश्वरपदप्राप्तिः। शिवस्थितिलोककथनम्।

वायवीयसंहितायाम् :—

महादेवकृपया श्रीकृष्णस्य पुत्रलाभकथनम्। वेदादिव्यवस्था। पुराणसंख्याकथनम्। ब्रह्मणो निकटे ऋषीणां शिवतत्त्वकथनम्। ब्रह्मण आदेशेन नैमिषारण्ये यज्ञार्थं गमनम्। नैमिषारण्ये ऋषीन् प्रति वायोः कुशलप्रश्नोक्तिः। शिवतत्त्वम् मायास्वरूपकथनञ्च। शिवस्य कालस्वरूपत्वप्रकटनम्। सविस्तरं कालमानकथनम्। प्रकृतिसृष्टिकथनम्। ब्रह्मकर्तृकवराहरूपे ब्रह्मणि जगद्व्यवस्थापनम्। शिवप्रसादाद् ब्रह्मणः सृष्टिकरणम्।

ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां परस्परं वशवर्तित्वम्। ब्रह्मणश्च महादेवादुत्पत्तिकथनम्। ब्रह्माणं प्रति सृष्टिकरणार्थं रुद्रस्यादेशः। प्रजावृद्ध्यर्थं ब्रह्मणः अर्धनारीश्वरप्रसादनम्। रुद्रकर्तृकस्त्रियाः सृष्टिः मैथुनसृष्टिश्च। दक्षयज्ञकथनम् देव्याश्च देहत्यागः। वीरभद्रनिरूपणम्। कालयाः सृष्टिः। दक्षयज्ञनाशः। वीरभद्रस्य शिवनिकटे देवानयनम्। दक्षस्य छागमुखता च। व्याघ्रं प्रति पार्वत्या अनुग्रहः। शिवसमीपे देव्यागमनम् व्याघ्रस्य सोमनन्दीनामकरणञ्च। देव्याः समीपे शिवकर्तृकम् अग्निषोमात्मकविश्वप्रपञ्चकथनम्। त्रिविधशब्दार्थकथनम्। जगतः शब्दरूपित्वकीर्तनम्। महर्षीणां शिवशक्त्योः कीर्तनम्। नास्तिकताविनाशाय तयोर्जन्म। वायुना सविस्तरं शिवतत्त्वकथनम् मुक्त्यर्थं ज्ञानस्य चोपदेशः। पाशुपतयोगे मुक्तिलाभकथनम्। पाशुपतव्रतकथनं भस्ममाहात्म्यकथनञ्च। दुग्धप्राप्त्यर्थमुपमन्योः महादेवस्य प्रसादेन दुग्धसमुद्रप्राप्तिः।

उत्तरभागे :—

श्वेतकल्पे प्रयागे मुनिगणैर्जिज्ञासितं प्रश्नं प्रति सूतस्य वायुकथित-शिवमाहात्म्यकथनरूपमुत्तरम्। श्रीकृष्णं प्रति उपमन्योः पाशुपतज्ञानकथनम्। सुरेन्द्रादिपरीक्षा। ब्रह्मविष्णुप्रभृतिभिः शिवस्वरूपकथनम्। श्रीपुरुषात्मक उमामहेश्वरयोरंशप्रपञ्चकरत्वकथनम्। परब्रह्मापरब्रह्मणोरेकत्वकथनम्। महादेवस्य अप्राकृतस्वरूप प्रभावादिकथनं प्रणवस्वरूपकथनञ्च। भवयादिद्वारा मानवानां शिवप्राप्तियोग्यता। ब्रह्मादिदेवान् देवीं प्रति च शिवस्य वेदमार्गज्ञानोपदेशः। शिवावतारस्य कलशयोगीश्वरस्य च कथनम् शिवपञ्चाक्षरमन्त्रस्वरूपम् माहात्म्यञ्च। शैवमन्त्रग्रहणस्य कथा। दीक्षाप्रयोगः। षडध्वशुद्धिसमृतिकथनम्। शिवनाम्नः शिवमन्त्रस्य च साधनविधिः। आचार्यत्वसिद्धेरभिषेकादीनां संस्काराणाञ्च कथनम्।

शैवादीनामाह्निककर्मकथनम्। अन्तर्याग बहिर्याग कथनक्रमश्च। नानाविधानेषु हरपार्वत्यो पूजाविधि। होमकुण्डाना परिमाणादीनां निर्णय। मासादिविशेषेषु नैमित्तिकशिवपूजाकथनम्। काम्यशिवपूजाकथनम्। शिवस्तोत्रम् प्रकारान्तरेण लिङ्गपूजा च। शिवपूजाफले ब्रह्मादीना स्वीयस्वीयपदप्राप्ति। ब्रह्मविष्ण्वो लिङ्ग दर्शनम्। शिवप्रतिष्ठा शिवप्रीणनविधिश्च। योगोपदेश। मुनीनां समीपे शिव चरितपूर्वकवायोरन्तर्धानम्। यज्ञसमाप्तौ ब्रह्मणो निकटे मुनीनामागमनम्। ब्रह्मण आदेशेन सुमेरुपर्वते सनत्कुमारसमीपे मुनीनामागमनम्। नन्दिसमागम। नन्दिकर्तृकशिवकथावर्णनम्।

धर्मसंहितायाम् —

शिवमाहात्म्यनिरूपणम्। उपमन्यो समीपे श्रीकृष्णस्य शिवमन्त्रे दीक्षाग्रह णम्। रुरुदैत्यवध। गोपीप्रभृतिरूपमहादेवेन सह अप्सरसा विहार। उषाऽनिरु द्धयो समागम। बाणराज्ञो युद्धादिकथनम्। कामयास्तपस्या, आडीदैत्यवृत्तान्त। वीरकस्य नन्दिरूपेण जन्मकारणम् शिवस्य कामाधारो लिङ्गोद्भवकथा च। शक्रा दीनां कामकिंकरत्वकथनम्। महात्मनां कामक्षोभ। विश्वामित्रप्रभृतीनां काम वश्यताकथनम्। श्रीरामस्य कामाधीनत्वकथनम्। नित्यनैमित्तिकशिवपूजा विधि। शङ्करक्रियायोगस्तत्फलञ्च। शिवभक्तपूजा तत्फलञ्च। विविधपापकथनम् पापफलानि च। धर्मप्रसङ्ग। अन्नदानविधि। जलदानमाहात्म्यम्। पुराण पाठस्य माहात्म्यम् धर्मश्रवणमाहात्म्यञ्च। महादानकथनम्। सुवर्णपृथिवी दानम्। कान्तारहस्तिदानम्। एकदिनस्याराधनेनैव शङ्करस्य कृपा। शिवसहस्र नामवर्णनम् धर्मोपदेशस्तुलापुरुषदानञ्च। परशुरामस्य तुलापुरुषदानम्। ब्रह्माण्ड प्रसङ्ग। नरकादिदर्शनम्। द्वीपादिकथनम्। भारतवर्षादिकथनम्। ग्रहादीनां कथा मृत्युञ्जयोद्धारश्च। मन्त्रराजप्रभावकीर्तनम्। पञ्चब्रह्मकथन पञ्चब्रह्मविधानञ्च। तत्पुरुषविधानम्। अघोरस्य वामदेवस्य सद्योजातस्यादिकथनम्। संसार कथा। स्त्रीस्वभावादिकथनञ्च। अरुन्धतीदेवानां संवाद। विवाहकथा। मृत्युचिह्न स्य आयुष प्रमाणम्। कालजय। छायापुरुषलक्षणम्। धार्मिकाणां गतिर्लिङ्गपू जाया कारणञ्च। विष्णुकृत शिवस्तव लिङ्गपूजाया फलञ्च। सृष्टिकथनम्। प्रजापतिकृतसृष्टिकथनम्। पृथुराज्ञः पूजायाः कथा। देवदानवादीनां सृष्टि विस्तारः। आधिपत्यनिर्णयः। पृथुचरितवर्णनम्। मन्वन्तरादिवर्णनम्। सञ्ज्ञा छायादीनां कथनम्। सूर्यवंशवर्णनम्। तत्प्रसङ्ग सगरराज्ञोश्च विवरणकथनम् पितृ कल्पस्य श्राद्धस्य च कथा, पितृसप्तकवर्णनम्। मुनीनां आत्यन्तप्राप्ति। सात्त्विकेन मुनितप्तकस्य सद्गतिलाभः। व्यासपूजा।

विधानसहितं सम्यक् पुराणं फलदं श्रुतम्।
तस्माद्विधानयुक्तन्तु पुराणं फलमुत्तमम् ॥

(६) देवीभागवतम्

तत्प्रतिपादितविषयाश्च

प्रथमस्कन्धे :—

देवीभागवतस्य महापुराणत्वादिसिद्धान्तनिर्णयः। ग्रन्थारम्भमंगलम्, ऋषीणां पुराणविषयप्रश्नः ग्रन्थसङ्ख्या विषयश्च। समंदयाङ्क-पुराणाख्या तत्तद्गीयस्या-सानुकथनञ्च। देवीसर्वोत्तमेनिकथनं प्रसङ्गतः शुकजन्म च। दृष्या महोत्कर्ष। मधुकैटभयोर्युद्धोद्योगः। ब्रह्मणा मधुकैटभभीतेन पराम्बिकायाः स्तुतिः। आराध्य-निर्णयः। देवीप्रमादान्मधुकैटभयोर्हरिणा वधः। शिवस्य वरदानम्। बुधोत्पत्तिः। पुरूरवस उत्पत्तिः। पुरूरवस उर्वश्याश्च रेनम्। शुकस्योत्पत्तिः। शुकवैराग्यम्। शुका यैतत्पुराणोपदेशः। जनकस्य परीक्षार्थं शुकस्य मिथिलागमनम्। शुकाय जनको-पदेशः। शुकस्य विवाहादिकम्। शुकनिर्गमनोत्तरं व्यासकृत्योपवर्णनम्।

द्वितीयस्कन्धे :—

व्यासजन्मवृत्तान्तवर्णनम्। पराशराद्दाशकन्योदरे व्यासस्य जन्म। शान्तनोः सत्यवत्या गङ्गया च सह विवाहः वसूनामुत्पत्तिश्च। शन्तनुना सत्यवत्या वरणम्। व्यासात् पुत्रत्रयोत्पत्तिः पाण्डवोत्पत्तिश्च। पाण्डवानां कयानकं मृतानां दर्शनञ्च। यदुकुलस्य नाशः उत्तरासूनोर्वृत्तञ्च। रुरुपुरावृत्तकथनपूर्वको गुप्तगृहे राज्ञो वासः। तक्षकद्विजयोः सम्भाषणं तक्षकेण राज्ञो दर्शनञ्च सर्पसत्राय यदपरिकरस्य जनमेज-यस्यास्तीकेन निवारणम्। आस्तीकस्योद्भवो भागवतमाहात्म्यञ्च।

तृतीयस्कन्धे :—

भुवनेश्वरीनिर्णयः। विमानेन ब्रह्मादीनां गतिः। विमानस्थहरादिभिर्देवी-दर्शनम्। विष्णुना कृतं देवीस्तोत्रं तदूर्ध्वं हरस्तुतिर्ब्रह्मस्तुतिश्च। ब्रह्मणे श्रीदेव्या उपदेशः। तत्त्वनिरूपणम्। गुणानां रूपसंस्थानादि। पुनरपि गुणानां लक्षणमधि-कृत्य नारदप्रश्नः। सत्यव्रतकथा। वाग्बीजोच्चारणात् सत्यव्रतस्य सिद्धिलाभः। आचायज्ञविधिः। अम्बिकामखस्य विष्णुनानुष्ठानम्। राजप्रश्नोत्तरं वैभववर्णनञ्च। युधाजिद्वीरसेनयोर्दौहित्रार्थं युद्धम्। युधाजितः सुदर्शनजिघांसया भरद्वाजाश्रमं प्रति गमनम्। विश्वामित्रकथोत्तरं राजपुत्रस्य कामबीजप्राप्तिः काशीराजस्य स्वसुताविवाहोद्योगः। सुदर्शनेन सह राज्ञां स्वयम्वरागमनम्। राजसंवाद-निवृत्तिपूर्वकं कन्याबोधः। राज्ञां कोलाहले कन्यासम्मतस्य राज्ञः स्थानम्। सुदर्शन-

विवाहः सुबाहोः कन्याया विवाहश्च। महारणे शत्रूणां देव्या व्यापादनम्। देवी-महिमा काश्यां दुर्गावासश्च। अंबिकातोषणं सत्पुरे देवीस्थापनञ्च। नवरात्रविधे-र्नृपाय व्यासेन कथनम्। कुमारिकाकथनम्। रामायणकथाप्रश्नः। रामशोकः। नारदेन व्रतकथनम्।

चतुर्थस्कन्धे :—

कृष्णावतारप्रश्नः। कर्मणो जन्मादिकारणत्वनिरूपणम्। अदितेः शापकथनम्। अधमजगतः स्थितिः। नारायणकथा। नरायजेनोर्वशीसृष्टिः। अहंकारावर्तनम्। प्रह्लादनारायणयोः समागमः प्रह्लादनारायणयोर्युद्धम्। हरये भृगुणा शापदानम्। शुक्रस्य मन्त्रलाभार्थं गमनं शुक्रमातुर्वधश्च। भृगुणा शुक्रमातुरुज्जीवनम्। जयन्त्याः शुक्रसेवार्थं प्रेषणम्। शुक्ररूपेण देवानां गुरुणा दैत्यवञ्चना। दैत्यानां शुक्रसम्प्राप्तिः। देवदानवयोर्युद्धशान्तिः। हरेर्नानावताराः। सुराङ्गनानां नारायणाश्रमे गमनम्। दुष्टराजभाराक्रान्ताया मेदिन्या ब्रह्माणं प्रति गमनम्। देवैः शक्तिस्तवनम्। वासुदे-वांशावतारकथा। देवक्याः सप्तानां पुत्राणां वधः। देवानामंशावतारणम्। कृष्णजन्म-कथनम्। कृष्णकथा। पराशक्तेः सर्वज्ञत्वकथनम्।

पञ्चमस्कन्धे :—

विष्णोरपेक्षया रुद्रस्य श्रेष्ठत्वम्। देवीमाहात्म्यवर्णनम् महिषोत्पत्तिः। देवेन्द्रेण सह समरोद्योगः। देवानां संसदि विमर्शः। देवसेनापराजयः। देवदानवयुद्धम्। परा-भूतानां देवानां कैलासगमनम्। जगदम्बायाः पलाशसमिधां ज्वालनयोत्पत्ति-कथनम्। देवैर्महायुधैर्देव्यर्चनम्। रक्तदूतसंवादकीर्तनम्। महिषासुरसंसदि विमृ-श्यानाम्नो दूतस्य प्रेषणम्। ताम्रस्यागमनोत्तरं बाष्कल-दुर्मुखयोः प्रेषणम्। बाष्कल-दुर्मुखयोर्वधः। ताम्रचिक्षुरयोर्देव्या वधः। महारणेऽसिलोमादीनां निधनम्। महिषा-सुरस्य देव्या सवादः। मंदोदर्या कथानकम्। महिषस्य वधः। देवैः कृता महादेवीस्तु-तिः अन्तर्धानोत्तरं वृत्तकथनम्। शुम्भासुरकथा। परादेव्याः सुरकार्यार्थं प्रादुर्भावः। कौशिकीतिप्रसिद्धाया देव्या गिरौ प्रादुर्भावः। दूतसवादकीर्तनम्। धूम्रलोचनवधः। चण्डमुण्डयोः श्रीदेव्या सह युद्धम्। रक्तबीजयुद्धम्। रक्तबीजवधः शुम्भस्य युद्धस्य-विस्तारः। शुम्भस्य युद्धोद्योगः। निशुम्भवध। शुम्भासुरवधाश्रितकथा। राजवैश्ययो-श्चरित्रत्रय सेवकयोर्वार्ता। भुवनसुन्दर्या राज्ञे कथनम्। राज्ञे तापसोपदेशः। राजवै-श्ययोर्देव्याः प्रत्यक्षदर्शनम्।

षष्ठस्कन्धे :—

वृत्रदैत्यवधकथारम्भः। त्रिशिरोवधवर्णनम्। विधाज्ञया वृत्रस्य तपोर्थं वनग-मनम्। वृत्रेण धरागर्वेण पराभूतानां देवानां शंकरसमीपे गमनम्। देवीस्तुत्या

देवैर्वरप्रापणम्। वृत्रदैत्यवधाश्रिता कथा। वासवस्य गुप्तवासो नहुषस्य चेन्द्रपदेऽभिषेकः। नहुषेण प्रार्थितायाः शच्याश्चिन्ता, देवीप्रसादतस्तस्या इन्द्रदर्शनम्। नहुषस्याधःपातः त्रिविधस्य कर्मणो रूपकथनम्। युगोद्भवानां धर्माणां कथनं सदसद्धर्मविनिर्णयश्च। आडीबकमहायुद्धस्य तीर्थयात्राप्रसङ्गत उपवर्णनम् शुनःशेपकथान्ते युद्धस्य स्मरणम्। वसिष्ठस्य मित्रावरुणापत्यत्वविस्तरः। निमेर्देहान्तरे गतिः हैहयानां कथा। हैहयेन भार्गवाणा वधः। देवीकृपया भृगुवंशस्तुतिः। हैहयस्यकथा। हरेरश्विन्यां जन्म। हयीजातस्य हरेः कथानकम्। एकवीराभिषेचनो दुर्वृत्तकथनम्। एकावल्याः कथानकम्। हैहयभूभृतः कालकेतुना महायुद्धम्। विक्षेपशक्तिकथनम्। व्यासेन स्वमोहोपपादनम्। नारदेनापि तथाकरणम्। नारदस्य विवाहः। पुनरपि तस्यैव विस्तारः। स्त्रीभावं गतस्य नारदस्य पुनः पुरुषत्वप्राप्तिः। हरिणा महामायाप्रभावकथनम्। भगवतीध्यानादिकम्।

सप्तमस्कन्धे :—

सूर्यसोमोद्भवानां कथारम्भः। तदन्वयस्य विस्तारः। सुकन्यकायाश्च्यवनाय प्रदानम्। सुकन्यादेवभिषजोः संवादः। रविपुत्रप्रसादजा च्यवनस्य युवावस्था। शर्यातेर्यज्ञकरणम्। अश्विनोः सोमपानम्। तद्वृत्तकथनम्। ककुत्स्थादीनामुत्पत्तिः। सत्यव्रतकथा। त्रिशङ्कोः कथानकम्। त्रिशङ्कोः स्वर्गवासः। हरिश्चन्द्रे नृपे सति त्रिशङ्कोर्विश्वामित्रेण समागमः। हरिश्चन्द्रकथा। राज्ञः पुत्रोत्सवः। शुनःशेपवधाश्रया कथा। विश्वामित्रेण शुनःशेपस्य मोचनम्। हरिश्चन्द्रेण विश्वामित्रवैरम्। हरिश्चन्द्रस्य राज्यविध्वंसः। नृपस्य दक्षिणादानयत्नः। तत्कृतः शोकः। हरिश्चन्द्रेणात्मविक्रयः। चाण्डालेन हरिश्चन्द्रक्रयः। हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालगृहेऽवस्थानम्। भूस्पृशः पुत्रभार्याकथा। पत्नीमभिज्ञाय हरिश्चन्द्रस्य शोकः। हरिश्चन्द्रस्य स्वर्गवासः। शताक्षी महिमा। राजवार्तायाः प्रश्नः। गौरीजन्म नानापीठोद्भवश्च। पार्वत्या हिमालयाज्जन्म। आत्मतत्त्वनिरूपणम्। विश्वरूपदर्शनम्। ज्ञानस्य मोक्षार्थत्वम्। मन्त्रसिद्धेः साधनम्। भक्तत्वम्। भक्तिमहिमा। देव्या महोत्सवव्रतानि स्थानानि च। भगवतीपूजनम्। महापूजाविधानम्।

अष्टमस्कन्धे :—

मनवे देव्या वरदानम्। वराहेण धरोद्धरणम्। मनुवंशवर्णनम्। प्रियव्रतकथानकम्। भूमण्डलस्य विस्तारः। देवीवर्णनं देवपुराश्रितम्। भूलाद्भूर्ध्वमहार्यवर्णनम्। इलावृतवर्णनम्। वर्षान्तर्गतमेरुसेवकवर्णनम्। तत्र मेरुमेखलास्थानवर्णनम्। वर्षान्तरे प्रसङ्गात्ता मेरुसेवकता। द्वीपान्तरसमाचारः। शिष्टद्वीपसमाचारः। लोकालोकगिरिव्यवस्था। रवेर्गमनमान्द्यादिप्रकारः। सोमादीनां गत्यनु-

सारेण विविध फलम्। ध्रुवमण्डलमस्थानम्। राहुमण्डल सूर्यचन्द्रोपरागश्च। तथा देवेर्णनम्। तलातलस्थिति। नरकस्वरूपम्। पातकोपपादनम्। शिष्टानां नरकाणां वर्णनम्। देव्याराधनम्।

नवमस्कन्धे —

संक्षेपेण शक्तिवर्णनम्। पचप्रकृतिसभव देवतादिसृष्टि। सरस्वतीस्तोत्रपूजादि। धर्मात्मजेन नारदाय सरस्वतीमहास्तोत्रकथनम्। लक्ष्मीगगाभारतीनां जन्म पृथ्वी लोके। तासां शापोद्धारप्रकार। गङ्गादीनां समुत्पत्ति कलौ वर्त्तनञ्च। धरत्युत्पत्ति प्रसङ्गतो भूमिशक्के [समुत्पत्ति। धरादेव्या अपराधे कृते सति नरकादिफलप्राप्ति कथनम्। गङ्गोत्पत्ति। राधाकृष्णाऽङ्गसभवाया गङ्गाया गोलोके समुत्पत्ति। जाह्नवी नारायणप्रिया जातेति कथनम्। गङ्गाविष्ण्वो परस्परसम्बन्धकरणम्। तुलस्युपा ख्यानप्रश्न। महालक्ष्म्या राजगृहे ज म। धर्मध्वजसुतायास्तुलस्या कथा। शङ्ख चूडेन तुलस्या सङ्गति सवादश्च। तयोर्विवाहानन्तर देवाना वैकुण्ठगमनम्। शङ्ख चूडस्य देवै सह सग्राम। शङ्खचूडमहेशयोर्युद्धम्। युद्धारम्भ जनार्दनेन शङ्खचूड स्य कवचहरणम्। तुलसीसगमवर्णन तन्माहात्म्यञ्च। महाम त्रसहित तुलसीपूजनम्। साविच्याख्यानम्। तस्या राजोदरे जन्म। अध्यात्मप्रश्न। दानधर्मफलम्। नाना दानफलम्। सावित्र्यै मूलशक्तिमहाम त्रदानम्। पातकाना फलानि। कुण्डेषु ये पतन्ति तेषा लक्षणम्। अवशिष्टानां कुण्डानां कथनम्। पुनरपि शिष्टानां कुण्डानां कथनम्। देवीभक्त्या यमपुरीभयनाशकथनम्। कुण्डाना लक्षणम्। देवीमहोत्कर्ष। महालक्ष्म्याख्यानम्। लक्ष्मीज मादेर्नारदाय कथनम्। शक्रस्य ब्रह्मलोक प्रति गम नम्। महालक्ष्म्यर्चनक्रमादि। स्वाहाशक्तरुपाख्यानम्। स्वधाया समुपाख्यानम्। दक्षिणाया उपाख्यानम्। षष्ठीदेव्या उपाख्यानम्। मगलचण्ड्या कथा। मनसाया कथास्तोत्रादि। सुरभ्याख्यानम्। राधाया दुर्गायाश्च चरित्रम्।

दशमस्कन्धे —

मनो स्वायम्भुवस्याख्यानम्। भगवत्या विन्ध्यादिगमनम्। वि ध्येन भानुमार्गनिरोध। पृथ्वजस्तुतिस्तस्मै घृत्ता तकथनञ्च। महाविष्णुस्तोत्रम्। अगस्त्येन देवीप्रार्थनातो विन्ध्याद्रेर्वृद्धिकुण्ठनम्। मुनिना विन्ध्यवृद्धिकुण्ठनम्। स्वारोचिषस्य मनो कथा। चाक्षुषस्य मनो कथा। सावर्णेर्मनो कथा। महा कालीचरितम्। महालक्ष्मीमहासरस्वत्योश्चरितम्। नवमादिमनूनां चरित्रवर्णनम्।

एकादशस्कन्धे —

प्रात कृत्यम्। शौचादिविधि। स्नानादिविधि रुद्राक्षधारणमहिमा च। रुद्राक्षाणां बहुविधत्वकथनम्। जपमालाविधानम्। रुद्राक्षमहिमा। एकवक्त्रादि

रुद्राक्षाणां वर्णनम्। भूतशुद्धिः। शिरोव्रतविधानम्। गौणभस्मादिवर्णनम्। तस्य त्रिविधत्वं माहात्म्यञ्च। भस्मधारणविस्तरः। भस्मनो महिमा। विभूतिधारणमाहात्म्यम्। त्रिपुंड्रोर्ध्वपुण्ड्रयोर्महिमा। सन्ध्योपासनम्। सन्ध्यादिकृत्यम्। पूर्णोपचारादिकथनम्। मध्याह्नसंध्याकरणम्। ब्रह्मयज्ञादिकम्। गायत्रीपुरश्चरणम्। वैश्वदेवादिकम्। भोजनान्ते करणीयं तप्तकृच्छ्रादिलक्षणञ्च। काम्यकर्मसंग्रहणं प्रायश्चित्तविधानञ्च।

द्वादशस्कन्धे :—

गायत्र्या ऋष्यादिकथनम्। वर्णानां दाशत्यादि। जगन्मातुः कवचम्। गायत्रीहृदयम्। गायत्रीस्तोत्रम्। गायत्रीनामसहस्रम्। दीक्षाविधिः। केनोपनिषत्कथा। गौतमशापेन ब्राह्मणानामन्यदेवतोपासनश्रद्धा। द्वीपवर्णनम्। पद्मरागादिनिर्मितप्राकारवर्णनम्। चिन्तामणिगृहवर्णनम्। जनमेजयेन देवीमखकरणम्। उपसंहारः पुराणफलदर्शनञ्च।

(७) भविष्यपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदीयपुराणे १ पा० १०० अ० उक्ता यथा :—

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणं सर्वसिद्धिदम्।
भविष्यं भवतः सर्वलोकाभीष्टप्रदायकम्॥
तत्राहं सर्वदेवानामादिकर्त्ता समुद्यतः।
सृष्ट्यर्थं यत्र सञ्जातो मनुः स्वायम्भुवः पुरा॥
स मां प्रणम्य पप्रच्छ धर्मं सर्वार्थसाधकम्।
अहं तस्मै तदा प्रीतः प्रावोचं धर्मसंहिताम्॥
पुराणानां यदा व्यासो व्यासञ्चक्रे महामतिः।
तदा तां संहितां सर्वां पञ्चधा व्यभजन्मुनिः॥
अघोरकल्पवृत्तान्तनानाश्चर्यकथाचिताम्।"

तत्र प्रथमपर्वणि :—

"तत्रादिमं स्मृतं पर्व ब्राह्मं यत्रास्त्युपक्रमः।
सूतशौनकसंवादे पुराणप्रश्नसंक्रमः॥
आदित्यचरितप्रायः सर्वाख्यानसमाचितः।
सृष्ट्यादिलक्षणोपेतः शास्त्रसर्वस्वरूपकः॥
पुस्तलेखकलेखानां लक्षणञ्च ततः परम्।
संस्काराणाञ्च सर्वेषां लक्षणञ्चात्र कीर्तितम्॥
पक्षत्यादितिथीनाञ्च कल्पाः सप्त च कीर्तिताः।
अष्टमाद्याः शेषकल्पा वैष्णवे पर्वणि स्मृताः॥

शैवे च कामतो भिन्ना सौरे चान्त्यकथाचयः ।
प्रतिसर्गाह्वयं पञ्चानानाख्यानसमाचितम् ॥

पुराणस्योपसंहारः सहितं पर्व पञ्चमम् ।
एषु पञ्चसु पूर्वस्मिन् ब्रह्मणो महिमाधिकः ॥

द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–पञ्चमपर्वसु :—

"धर्मे कामे च मोक्षे तु विष्णोश्चापि शिवस्य च ।
द्वितीये च तृतीये च सौरो वर्गचतुष्टये ॥

प्रतिसर्गाह्वयन्त्वन्यं प्रोक्तं सर्वं कथाचितम् ।
एतद्भविष्यं निर्दिष्टं पर्व व्यासेन धीमता ॥

चतुर्दशसहस्रं तु पुराणं परिकीर्तितम् ।
भविष्यं सर्वदेवानां साम्यं यत्र प्रकीर्तितम् ।
गुणानां तारतम्येन समं ब्रह्मेति हि श्रुतिः" ॥

तत्फलश्रुतिः :—

तल्लिखित्वा तु यो दद्यात्पौष्यां विद्वान्विमत्सरः ।
गुडधेनुयुतं हेम वस्त्रमाल्यविभूषणैः ॥

वाचकम्पुस्तकञ्चापि पूजयित्वा विधानतः ।
गन्धाद्यैर्भोज्यभक्ष्यैश्च कृत्वा नीराजनादिकम् ॥

यो वै जितेन्द्रियो भूत्वा सोपवासः समाहितः ।
अथवा यो नरो भक्त्या कीर्तयेच्छृणुयादपि ॥

स मुक्तः पातकैर्घोरैः प्रयाति ब्रह्मणः पदम् ।
योऽप्यनुक्रमणीमेतां भविष्यस्य निरूपिताम् ।
पठेद्वा शृणुयाच्चैतौ भुक्तिं मुक्तिञ्च विन्दतः ॥

(८) नारदीयपुराणम्

तद्विषयाश्च :—

"शृणु विप्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं नारदीयकम् ।
पञ्चविंशतिसाहस्रं बृहत्चित्रकथाश्रयम् ॥ १ ॥

तत्र पूर्वभागे प्रथमपादे :—

"सूत शौनकसंवादः सृष्टिसंक्षेपवर्णनम् ।
नानाधर्मकथाः पुण्याः प्रवृत्तेः समुदाहृताः ।
प्राग्भागे प्रथमे पादे सनकेन महात्मना ॥"

पूर्वभागे द्वितीयपादे :—

"द्वितीये मोक्षधर्माख्ये मोक्षोपायनिरूपणम् ।
वेदाङ्गानाञ्च कथनं शुकोत्पत्तिश्च विस्तरात् ।
सनन्दनेन गदिता नारदाय महात्मने ॥"

पूर्वभागे तृतीयपादे :—

महातन्त्रे समुद्दिष्टं पशुपाशविमोचणम् ।
मन्त्राणां शोधनं दीक्षा मन्त्रोद्धारश्च पूजनम् ॥
प्रयोगाः कवचं चैव सहस्रं स्तोत्रमेव च ।
गणेशसूर्यविष्णूनां शिवशक्त्योरनुक्रमात् ।
सनत्कुमारमुनिना नारदाय तृतीयके ।"

पूर्वभागे चतुर्थपादे :—

पुराणलक्षणञ्चैव प्रमाणं दानमेव च ।
पृथक् पृथक् समुद्दिष्टं दानकालपुरःसरम् ॥
चैत्रादिसर्वमासेषु तिथीनां च पृथक् पृथक् ।
प्रोक्तम्प्रतिपदादीनां व्रतं सर्वाघनाशनम् ॥
सनातनेन मुनिना नारदाय चतुर्थके ।
पूर्वभागोऽयमुदितो बृहदाख्यानसञ्ज्ञितः ॥"

तदुत्तरभागे :—

अस्योत्तरे विभागे तु प्रश्न एकादशीव्रते ।
वशिष्ठेनाथ संवादो मान्धातुः परिकीर्तितः ॥
रुक्माङ्गदकथा पुण्या मोहिन्युत्पत्तिकर्म च ।
वसुशापश्च मोहिन्यै पश्चादुद्धरणक्रिया ॥
गंगाकथा पुण्यतमा गयायात्रानुकीर्त्तनम् ।
काश्या माहात्म्यमतुलम्पुरुषोत्तमवर्णनम् ॥
यात्राविधानं क्षेत्रस्य बह्वाख्यानसमन्वितम् ।
प्रयागस्याथ माहात्म्यं कुरुक्षेत्रस्य तत्परम् ॥
हरिद्वारस्य चाख्यानं कामोदाख्यानकन्तथा ।
बदरीतीर्थमाहात्म्यं कामाख्यायास्तथैव च ॥
प्रभासस्य च माहात्म्यं पुराणाख्यानकन्तथा ।
गौतमाख्यानकम् पश्चाद् वेदपादस्तवस्ततः ॥
गोकर्णक्षेत्रमाहात्म्यं लक्ष्मणाख्यानकं तथा ।
सेतुमाहात्म्यकथनं नर्मदातीर्थवर्णनम् ॥
अवन्त्याश्चैव माहात्म्यं मथुरायास्ततः परम् ।
वृन्दावनस्य महिमा वसोर्ब्रह्मान्तिके गतिः ।
मोहिनीचरितम् पश्चादेवं वै नारदीयकम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

यः शृणोति नरो भक्त्या श्रावयेद्वा समाहितः ।
स याति ब्रह्मणो धाम नात्र कार्या विचारणा ॥

यस्त्वेतदिषपूर्णायां धेनूनां सतकाचितम्।
प्रदद्याद् द्विजवर्याय स लभेन्मोक्षमेव च॥
यश्चानुक्रमणीमेतां नारदीयस्य वर्णयेत्।
शृणुयाद्वैकचित्तेन सोऽपि स्वर्गगतिं लभेत्॥

(९) मार्कण्डेयपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदपुराणे पूर्वभागे ८७ अ० उक्ता यथा:—

"यत्राधिकृत्य शकुनीन् सर्वधर्मनिरूपणम्।
मार्कण्डेयेन मुनिना जैमिनेः प्राक् समीरितम्॥
पक्षिणां धर्मसंज्ञानां ततो जन्मनिरूपणम्।
पूर्वजन्मकथा चैषां विक्रिया च दिवस्पतेः॥
तीर्थयात्रा बलस्याथो द्रौपदेयकथानकम्।
हरिश्चन्द्रकथा पुण्या युद्धमाडीबकाभिधम्॥
पितापुत्रसमाख्यानं दत्तात्रेयकथा ततः।
हैहयस्याथ चरितं महाख्यानसमाचितम्॥
मदालसाकथा प्रोक्ता ह्यलर्कचरिताचिता।
सृष्टिसंकीर्तनं पुण्यं नवधा परिकीर्तितम्॥
कल्पान्तकालनिर्देशो यक्षसृष्टिनिरूपणम्।
रुद्रादिसृष्टिरप्युक्ता द्वीपचर्यानुकीर्तनम्॥
मनूनां च कथा नाना कीर्तिताः पापहारिकाः।
तासु दुर्गाकथात्यन्तं पुण्यदा चाष्टमेऽन्तरे॥
तत्पश्चात्प्रणवोत्पत्तिस्त्रयीतेज समुद्भवः।
मार्कण्डस्य च जन्माख्या तन्माहात्म्यसमन्विता॥
वैवस्वतान्वयश्चापि वत्सप्राश्चरितं ततः।
खनित्रस्य ततः प्रोक्ता कथा पुण्या महात्मनः॥
अविक्षिच्चरितं चैव किमिच्छव्रतकीर्तनम्।
नरिष्यन्तस्य चरितमिक्ष्वाकुचरितं ततः॥
तुलस्याश्चरितं पश्चाद्रामचन्द्रस्य सत्कथा।
कुशवंशसमाख्यानं सोमवंशानुकीर्तनम्॥
पुरूरवःकथा पुण्या नहुषस्य कथाद्भुता।
ययातिचरितं पुण्यं यदुवंशानुकीर्तनम्॥
श्रीकृष्णबालचरितं माथुरं चरितं ततः।
द्वारकाचरितञ्चाथ कथा सर्वावतारजा॥
ततः सांख्यसमुद्देशः प्रपञ्चासत्त्वकीर्तनम्।
मार्कण्डेयस्य चरितं पुराणश्रवणे फलम्।

यः शृणोति नरो भक्त्या पुराणमिदमादरात् ।
मार्कण्डेयाभिधं वत्स स लभेत्परमां गतिम् ॥

यस्तु व्याकुरुते चैतच्छैव स लभते पदम् ।
तत्प्रयच्छेल्लिखित्वा यः सौवर्णकरिसंयुतम् ॥

कार्तिक्यां द्विजवर्याय स लभेद् ब्रह्मणः पदम् ।
शृणोति श्रावयेद्वापि यश्चानुक्रमणीमिमाम् ॥
मार्कण्डेयपुराणस्य स लभेद्वाञ्छितम्फलम् ।

(१०) अग्निपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च :—

भगवतोऽवतारः, सृष्टिप्रकारः, विष्णुपूजा, अग्निपूजा, मुद्रादिलक्षणम् , दीक्षा, अभिषेकः, मण्डपलक्षणम् , कुशमार्जनविधिः, पवित्रारोपः, देवतायतनादिनिर्माणप्रकारः, शालग्रामलक्षणपूजे, देवप्रतिष्ठानियामकदीक्षा, देवप्रतिष्ठाविधिः, ब्रह्माण्डस्वरूपं गङ्गादितीर्थमाहात्म्यं, द्वीपवर्णनम् , ऊर्ध्वाधोलोकवर्णनम् , ज्योतिश्चक्रस्वरूपम् । युद्धजयोपायषट्कर्मविधानम्, यन्त्रमन्त्रौषधप्रकारः, कुब्जिकार्चनविधि , कोटिहोमविधानम् , ब्रह्मचर्यधर्मं , श्राद्धकल्पः, ग्रहयज्ञः, वैदिकस्मार्त्तकर्मणी, प्रायश्चित्तम् , तिथिभेदे व्रतभेदः, वारभनक्षत्रव्रते, मासव्रतम् , दीपदानविधि , नूतनव्यूहारम्भादि, नरकनिरूपणम् , दानव्रतम् , नाडीचक्रम् । सन्ध्याविधिः, गायत्र्यर्थः, लिङ्गस्तोत्रं, राज्याभिषेकः, राजधर्म्मः, राजाध्येयशास्त्रम् , शुभाशुभशकुनादि, मण्डलादि, रमणदीक्षाविधिः, श्रीरामनतिः, रत्नलक्षणम् , धनुर्विद्या, व्यवहारविधिः, देवासुरयोर्युद्धम् , आयुर्वेदः, गजादिचिकित्सा, पूजाप्रकारः । शान्तिविधिः, छन्दः शास्त्रम्, साहित्यम् , शिष्टानुशासनम् , सृष्ट्यादिप्रलयवर्णने, शारीरिकरूपम् , नरकवर्णनम् , योगः, ब्रह्मज्ञानम् , पुराणमाहात्म्यञ्च ।

(११) ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये ४ पा० १०१ अ० उक्ता यथा—

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं दशमं तव ।
ब्रह्मवैवर्त्तकं नाम वेदमार्गानुदर्शकम् ॥

सावर्णिर्यत्र भगवान् साक्षाद्देवर्षयेऽतिथिः ।
नारदाय पुराणार्थं प्राह सर्वमलौकिकम् ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां सारः प्रीतिर्हरौ हरे ।
तयोरभेदसिद्ध्यर्थं ब्रह्मवैवर्त्तमुत्तमम् ॥

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तं यन्मयोदितम् ।
शतकोटिपुराणं तत् संक्षिप्य प्राह वेदवित् ॥

व्यासश्चतुर्धा सव्यस्य ब्रह्मवैवर्तसंज्ञितम् ।
अष्टादशसहस्रन्तत्पुराण परिकीर्त्तितम् ।
ब्रह्म १ प्रकृति २ विघ्नेश ३ कृष्ण खण्ड ४ समाचितम् ।
तत्र सूतर्षिसवाद पुराणोपक्रमो मत ॥

तत्र प्रथमे ब्रह्मखण्डे —

सृष्टिप्रकरण त्वाद्य ततो नारदवेधसो ।
विवाद सुमहान् यत्र द्वयोरासीत्पराभव ॥
शिवलोकगति पश्चाज्ज्ञानलाभ शिवान्मुने ।
शिववाक्येन तत्पश्चात् मरीचेर्नारदस्य तु ॥
गमनञ्चैव सावर्णिज्ञानार्थं सिद्धसेविते ।
आश्रमे सुमहापुण्ये त्रैलोक्याश्चर्यकारिणि ॥
एतद्धि ब्रह्मखण्ड हि श्रुत पापविनाशनम् ।

द्वितीये प्रकृतिखण्डे —

'तत सावर्णिसंवादो नारदस्य समीरित ।
कृष्णमाहात्म्यसयुक्तो नानाख्यानकथोत्तर ॥
प्रकृतेरंशभूतानां कलानाञ्चापि वर्णितम् ।
माहात्म्य पूजनाद्यञ्च विस्तरेण यथास्थितम् ॥
एतत्प्रकृतिखण्ड हि श्रुत भूतिविधायकम्

तृतीये गणेशखण्डे —

गणेशजन्मसम्प्रश्न सपुण्यकमहाव्रतम् ।
पार्वत्या कार्त्तिकेयेन सह विघ्नेशसम्भव ॥
चरित कार्त्तवीर्यस्य जामदग्न्यस्य चाद्भुतम् ।
विवाद सुमहा पश्चाज्जामदग्न्यगणेशयो ॥
एतद्विघ्नेशखण्ड हि सर्वं विघ्नविनाशनम् ।'

चतुर्थे श्रीकृष्णजन्मखण्डे —

"श्रीकृष्णजन्मसम्प्रश्नो जन्माख्यान ततोऽद्भुतम् ।
गोकुले गमन पश्चात्पूतनादिवधोऽद्भुत ॥
बाल्यकौमारजा लीला विविधास्तत्र वर्णिता ।
रासक्रीडा च गोपीभि शारदा समुदाहृता ॥
रहस्य राधया क्रीडा वर्णिता बहुविस्तरा ।
सहाक्रूरेण तत्पश्चान्मथुरागमन हरे ॥
कंसादीनां वधे वृत्ते सदस्यद्विजसत्कृतिः ।
काश्यपसान्दीपनं पश्चाद् विद्योपादानमद्भुतम् ॥

यवनस्य वधः पश्चाद् द्वारकागमनं हरेः ।
नरकादिवधस्तत्र कृष्णेन विहितोऽद्भुतः ॥
कृष्णखण्डमिदं विप्र ! नृणां संसारखण्डनम् ।

तत्फलश्रुतिः :—

"पठितञ्च श्रुतं ध्यातं पूजितं चाभिवर्णितम् ।
इत्येतद् ब्रह्मवैवर्तं पुराणं चात्यलौकिकम् ॥
व्यासोक्तं चादिसम्भूतं पठन् शृण्वन् विमुच्यते ।
विज्ञानाज्ञानशमनाद् घोरात्संसारसागरात् ॥
लिखित्वेदं च यो दद्यान्माघ्यां धेनुसमाचितम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति स मुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ॥
यश्चानुक्रमणीं वाऽपि पठेद् वा शृणुयादपि ।
सोऽपि कृष्णप्रसादेन लभते वाञ्छितम्फलम् ॥

(१२) लिङ्गपुराणम्

व्यासप्रणीते महापुराणे प्रतिपाद्यविषयाः नारदपुराणे १०२ अ० उक्ता यथा—

ब्रह्मोवाच :—

शृणु पुत्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं लिंगसंज्ञितम् ।
पठतां शृण्वतां चैव भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥
यच्च लिङ्गाभिधे तिष्ठन् वह्निलिंगे हरोऽभ्यधात् ।
मह्यं धर्मादिसिद्ध्यर्थमग्निकल्पकथाश्रयम् ॥
तदेव व्यासदेवेन भागद्वयसमाचितम् ।
पुराणं लिंगमुदितं बह्वाख्यानविचित्रितम् ॥
तदेकादशसाहस्रं हरमाहात्म्यसूचकम् ।
परं सर्वपुराणानां सारभूतं जगत्त्रये ।
पुराणोपक्रमे प्रश्नः सृष्टिसंक्षेपतः पुरा ॥

तत्र पूर्वभागे—

योगाख्यानं ततः प्रोक्तं कल्पाख्यानं ततः परम् ।
लिंगोद्भवस्तदर्चा च कीर्तिता हि ततः परम् ॥
सनत्कुमारशैलादिसंवादश्चाथ पावनः ।
ततो दधीचिचरितं युगधर्मनिरूपणम् ॥
ततो भुवनकोशाख्या सूर्यसोमान्वयस्ततः ।
ततश्च विस्तरात्सर्गस्त्रिपुराख्यानकस्तथा ॥
लिंगप्रतिष्ठा च ततः पशुपाशविमोक्षणम् ।
शिवव्रतानि च तथा सदाचारनिरूपणम् ॥

प्रायश्चित्तान्यरिष्टानि काशीश्रीशैलवर्णनम् ।
अन्धकाख्यानकं पश्चाद् वाराहचरितं पुनः ॥
नृसिंहचरितं पश्चाज्जलन्धरवधस्ततः ।
शैवं सहस्रनामाथ दक्षयज्ञविनाशनम् ॥
कामस्य दहनं पश्चाद् गिरिजायाः करग्रहः ।
ततो विनायकाख्यानं नृत्याख्यानं शिवस्य च ॥
उपमन्युकथा चापि पूर्वभाग इतीरितः ।"

उत्तरभागे –

विष्णुमाहात्म्यकथनमम्बरीषस्था ततः ।
सनत्कुमारनन्दीशसंवादश्च पुनर्मुने ॥
शिवमाहात्म्यसंयुक्तस्नानयागादिकं ततः ।
सूर्यपूजाविधिश्चैव शिवपूजा च मुक्तिदा ॥
दानानि बहुधोक्तानि श्राद्धप्रकरणन्ततः ।
प्रतिष्ठा तत्र गदिता ततोऽघोरस्य कीर्त्तनम् ॥
व्रजेश्वरी-महाविद्या-गायत्रीमहिमा ततः ।
त्र्यम्बकस्य च माहात्म्यं पुराणश्रवणस्य च ॥
एतस्योपरिभागस्ते लैंगस्य कथितो मया ।
व्यासेन हि निबद्धस्य रुद्रमाहात्म्यसूचिनः ॥
लिखित्वैतत्पुराणन्तु तिलधेनुसमाचितम् ।
फाल्गुन्यां पूर्णिमायां यो दद्याद्भक्त्या द्विजातये ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि लैङ्गं पापापहं नरः ।
स भुक्तभोगो लोकेऽस्मिन्नन्ते शिवपुरम्व्रजेत् ॥
लिंगानुक्रमणीमेतां पठेद्यः शृणुयात्तथा ।
तावुभौ शिवभक्तौ तु लोकद्वितयभोगिनौ ॥
जायेतां गिरिजाभर्तुः प्रसादान्नात्र संशयः ।

(१३) वराहपुराणम्

तद्विषयाश्च नारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने चतुर्थभागे १०३ अध्याये उक्ता यथा—

श्रीब्रह्मोवाच :—

"शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि वाराहं वै पुराणकम् ।
भागद्वययुतं शश्वद्विष्णुमाहात्म्यसूचकम् ॥
मानवस्य तु कल्पस्य प्रसङ्गं मत्कृतं पुरा ।
निबबन्ध पुराणेऽस्मिन्चतुर्विंशसहस्रके ॥

व्यासो हि विदुषां श्रेष्ठः साक्षान्नारायणो भुवि।
तत्रादौ शुभसंवाद: स्मृतो भूमिवराहयोः।"

तत्र पूर्वभागे :—

"अथादिकृतवृत्तान्ते रम्यस्य चरितं ततः।
दुर्जयाय च तत्पश्चाच्छ्राद्धकल्प उदीरितः॥

महातपस आख्यानं गौर्युत्पत्तिस्ततः परम्।
विनायकस्य नागानां सेमान्यादित्ययोरपि॥

गणनाथ्य तथा देव्या धनदस्य वृषस्य च।
आख्यानं सत्यतपसो व्रताख्यानसमन्वितम्॥

अगस्त्यगीता तत्पश्चाद्रुद्रगीता प्रकीर्तिता।
महिषासुरविध्वंसे माहात्म्यञ्च त्रिशक्तिजम्॥

पर्व्वाध्यायस्ततः श्वेतोपाख्यानं गोप्रदानिकम्।
इत्यादिकृतवृत्तान्तं प्रथमोद्देशनामकम्॥

भगवद्धर्मके पश्चाद्व्रततीर्थकथानकम्।
द्वात्रिंशदपराधानां प्रायश्चित्तं शारीरकम्॥

तीर्थानाञ्चापि सर्व्वेषां माहात्म्यं पृथगीरितम्।
मथुराया विशेषेण श्राद्धादीनां विधिस्ततः॥

वर्णनं यमलोकस्य ऋषिपुत्रप्रसङ्गतः।
विपाकः कर्मणाञ्चैव विष्णुव्रतनिरूपणम्॥

गोकर्णस्य च माहात्म्यं कीर्त्तितं पापनाशनम्।
इत्येष पूर्वभागोऽस्य पुराणस्य निरूपितः॥

उत्तरभागे :—

उत्तरे प्रविभागे तु पुलस्त्यकुरुराजयोः।
संवादे सर्वतीर्थानां माहात्म्यं विस्तरात्पृथक्॥

अशेषधर्माश्चाख्याता पौष्करं पुण्यपर्व च।
इत्येवं तव वाराहं प्रोक्तं पापविनाशनम्॥

तत्फलश्रुतिः :—

पठतां शृण्वताञ्चैव भगवद्भक्तिवर्द्धनम्।
काञ्चनं गरुड कृत्वा तिलधेनुसमन्वितम्॥

लिखित्वैतच्च यो दद्याच्चैत्र्यां विप्राय भक्तितः।
स लभेद्वैष्णवं धाम देवर्षिगणवन्दितः॥

यो वानुक्रमणीमेतां शृणोत्यपि पठत्यपि।
सोऽपि भक्तिं लभेद्विष्णौ संसारोच्छेदकारिणीम्॥

(१४) वामनपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारदपुराणे उक्ता यथा —

ब्रह्मोवाच :—

"शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि पुराण वामनाभिधम् ।
त्रिविक्रमचरित्राढ्य दशसाहस्रसख्यकम् ॥
कूर्मकल्पसमाख्यान वर्गत्रयकथानकम् ।
भागद्वयसमायुक्त वक्तृ-श्रोतृशुभावहम् ॥"

तत्र पूर्वभागे —

"पुराणप्रश्न प्रथम ब्रह्मशीर्षच्छिदा तत ।
कपालमोचनाख्यान दक्षयज्ञविहिसनम् ॥
हरस्य कालरूपाख्या कामस्य दहनन्तत ।
प्रह्लादनारायणयोर्युद्ध देवासुराह्वयम् ॥
सुकेश्यर्कसमाख्यान ततो भुवनकोषकम् ।
तत काम्यव्रताख्यान श्रीदुर्गाचरित तत ॥
तपतीचरित पश्चात्कुरुक्षेत्रस्य वर्णनम् ।
सतीमाहात्म्यमतुल पार्वतीजन्मकीर्त्तनम् ॥
तपस्तस्या विवाहश्च गौर्युपाख्यानकन्तत ।
तत कौशिक्युपाख्यान कुमारचरित तत ॥
ततोऽन्धकवधाख्यान साध्योपाख्यानकन्तत ।
जाबालिचरित पश्चादरजाया कथाद्भुता ॥
अन्धकेश्वरयोर्युद्ध गणत्वं चान्धकस्य च ।
मरुतां जन्म कथन बलेश्च चरित तत ॥
ततस्तु लक्ष्म्याश्चरित त्रैविक्रममत परम् ।
प्रह्लादतीर्थयात्रायां प्रोच्यन्ते तत्कथा शुभा ॥
ततश्च धुन्धुचरित प्रेतोपाख्यानक तत ।
नक्षत्रपुरुपाख्यान श्रीदामचरित तत ॥
त्रिविक्रमचरित्रान्ते ब्रह्मप्रोक्त स्तवोत्तम ।
प्रह्लादबलिसवादे सुतले हरिशसनम् ॥
इत्येष पूर्वभागोऽस्य पुराणस्य तवोदित ॥"

तदुत्तरे भागे बृहद्वामनाख्ये .—

शृणु तस्योत्तर भाग बृहद्वामनसञ्ज्ञकम् ।
माहेश्वरी भागवती सौरी गाणेश्वरी तथा ॥
चतस्र संहिताश्चात्र पृथक् साहस्रसख्यया ।
माहेश्वर्यान्तु कृष्णस्य तद्भक्तानाञ्च कीर्त्तनम् ॥

भागवत्यां जगन्मातुरवतारकथाद्भुता।
सौर्यां सूर्यस्य महिमा गदितः पापनाशनः॥
गाणेश्वर्यां गणेशस्य चरितञ्च महेशितुः।
इत्येतद् वामनं नाम पुराणं सुविचित्रकम्॥
पुलस्त्येन समाख्यातं नारदाय महात्मने।
ततो नारदतः प्राप्तं व्यासेन सुमहात्मना॥
व्यासात्तु लब्धवान् वत्स तच्छिष्यो रोमहर्षणः।
स चाख्यास्यति विप्रेभ्यो नैमिषीयेभ्य एव च॥
एवं परम्पराप्राप्तं पुराणं वामनं शुभम्॥"

तत्फलश्रुतिः :—

"ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेऽपि यान्ति परां गतिम्।
लिखित्वैतत्पुराणन्तु यः शरद्विषुवेऽर्पयेत्॥
विप्राय वेदविदुषे घृतधेनुसमाचितम्।
स समुद्धृत्य नरकान्नयेत्स्वर्गं पितॄन् स्वकान्॥
देहान्ते भुक्तभोगोऽसौ याति विष्णोः परम्पदम्।

(१५) मत्स्यपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च तत्रैव २९० अध्याय उक्ता यथा—

पुराणकीर्त्तनं तद्वत् क्रियायोगस्तथैव च ।
व्रतं नक्षत्रसंख्याकं मार्कण्डशयनं तथा ॥
कृष्णाष्टमीव्रतं तद्वद्रोहिणीचन्द्रसंज्ञितम् ।
तडागविधिमाहात्म्यं पादपोत्सर्ग एव च ॥
सौभाग्यशयनं तद्वदगस्त्यव्रतमेव च ।
तथानन्ततृतीया तु रसकल्याणिनी तथा ॥

आर्द्रानन्दकरी तद्वद्व्रतं सारस्वतं पुनः ।
उपरागाभिषेकश्च सप्तमीस्नपनं पुनः ॥
भीमाख्या द्वादशी तद्वदनङ्गशयनं तथा ।
अशून्यशयनं तद्वत्तथैवाङ्गारकव्रतम् ॥

सप्तमीसप्तकं तद्वद्विशोकद्वादशी तथा ।
मेरुप्रदानं दशधा ग्रहशान्तिस्तथैव च ॥
ग्रहस्वरूपकथनं तथा शिवचतुर्दशी ।
तथा सर्वफलत्यागः सूर्यवारव्रतं तथा ॥
संक्रान्तिस्नपनं तद्वद्विभूतिद्वादशी व्रतम् ।
षष्टिव्रतानां माहात्म्यं तथा स्नानविधिक्रमः ॥

प्रयागस्य तु माहात्म्यं सर्वतीर्थानुकीर्तनम् ।
पैलाश्रमफलं तद्वद् द्वीपलोकानुकीर्तनम् ॥
तथान्तरिक्षचारश्च ध्रुवमाहात्म्यमेव च ।
भवनानि सुरेन्द्राणां त्रिपुरायोधनं तथा ॥
पितृपिण्डदमाहात्म्यं मन्वन्तरविनिर्णयः ।
वज्राङ्गस्य तु सम्भूतिः तारकोत्पत्तिरेव च ॥
तारकासुरमाहात्म्यं ब्रह्मदेवानुकीर्त्तनम् ।
पार्वतीसम्भवस्तद्वत् तथा शिवतपोवनम् ॥
अनङ्गदेहदाहस्तु रतिशोकस्तथैव च ।
गौरीतपोवनं तद्वद्विश्वनाथप्रसादनम् ॥
पार्वतीऋषिसंवादस्तथैवोद्वाहमङ्गलम् ।
कुमारसम्भवस्तद्वत् कुमारविजयस्तथा ॥
तारकस्य वधो घोरो नरसिंहोपवर्णनम् ।
पद्मोद्भवविसर्गस्तु तथैवान्धकघातनम् ॥
वाराणस्यास्तु माहात्म्यं नर्मदायास्तथैव च ।
प्रवरानुक्रमस्तद्वत् पितृगाथानुकीर्त्तनम् ॥
तथोभयमुखीदानं दानं कृष्णाजिनस्य च ।
तथा सावित्र्युपाख्यानं राजधर्मास्तथैव च ॥

यात्रानिमित्तकथनं स्वप्नमाङ्गल्यकीर्त्तनम् ।
वामनस्य तु माहात्म्यं तथैवादिवराहकम् ॥
क्षीरोदमथनं तद्वत्कालकूटानिशामनम् ।
प्रासादलक्षणन्तद्वन्मण्डपानान्तु लक्षणम् ॥
पुरुवंशे तु सम्प्रोक्तं भविष्यद्राजवर्णनम् ।
तुलादानादि बहुशो महादानानुकीर्त्तनम् ॥
कल्पानुकीर्त्तनं तद्वद्ग्रन्थानुक्रमणी तथा ।
एतत्पवित्रमायुष्यमेतत्कीर्तिविवर्धनम् ॥
एतत्पवित्रं कल्याणं महापापहरं शुभम् ।
अस्मात् पुराणादपि पादमेकं पठेत्तु यः सोऽपिविमुक्तपापः ।
नारायणाख्यं पदमेति नूनमनङ्गवद्दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥

(१६) कूर्मपुराणम्

व्यासप्रणीतेषु अष्टादशमहापुराणेषु पञ्चदशे पुराणे तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च बृहन्नारदीये दर्शिता यथाः—

श्रीब्रह्मोवाच :—

शृणु वत्स ! मरीचेऽथ पुराणं कूर्मसंज्ञितम् ।
लक्ष्मीकल्पानुचरितं यत्र कूर्मवपुर्हरिः ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां माहात्म्यञ्च पृथक् पृथक् ।
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन प्राहर्षिभ्यो दयाधिकम् ॥
तत्सप्तदशसाहस्रं सचतुःसहितं शुभम् ।
यत्र ब्राह्मया (संहितया)पुरा प्रोक्ता धर्मा नानाविधा मुने ॥
नानाकथाप्रसङ्गेन नृणां सद्गतिदायकाः ।"

तत्पूर्वभागे :—

"तत्र पूर्वविभागे तु पुराणोपक्रमः पुरा ।
लक्ष्मीप्रद्युम्नसंवादः कूर्मर्षिगणसङ्कथा ॥
वर्णाश्रमाचारकथा जगदुत्पत्तिकीर्त्तनम् ।
कालसंख्या समासेन लयान्ते स्तवनं विभोः ॥
ततः सङ्क्षेपतः सर्गः शाङ्करं चरितं तथा ।
सहस्रनाम पार्वत्या योगस्य च निरूपणम् ॥
भृगुवंशसमाख्यानं ततः स्वायम्भुवस्य च ।
देवादीनां समुत्पत्तिर्दक्षयज्ञाहतिस्ततः ॥
दक्षसृष्टिकथा पश्चात् कश्यपान्वयकीर्त्तनम् ।
आत्रेयवंशकथनं कृष्णस्य चरितं शुभम् ॥

मार्कण्डकृष्णसंवादो व्यासपाण्डवसंकथा ।
युगधर्मानुकथनं व्यासजैमिनिकी कथा ॥
वाराणस्याश्च माहात्म्यं प्रयागस्य ततः परम् ।
त्रैलोक्यवर्णनञ्चैव वेदशाखानिरूपणम् ॥"

तदुत्तरभागे :—

उत्तरेऽस्य विभागे तु पुरा गीतेश्वरी ततः ।
व्यासगीता ततः प्रोक्ता नाना धर्मप्रबोधिनी ॥
नानाविधानां तीर्थानां माहात्म्यञ्च पृथक् ततः ।
नानाधर्मप्रकथनं ब्राह्मीयं संहिता स्मृता ॥
अतः परं भगवती संहितार्थनिरूपणे ।
कथिता यत्र वर्णानां पृथग् वृत्तिरुदाहृता ॥

तदुत्तरभागे भगवत्याख्यद्वितीयसंहितायाः पञ्चसु पादेषु—

"पादेऽस्याः प्रथमे प्रोक्ता ब्राह्मणानां व्यवस्थितिः ।
सदाचारात्मिका वत्स ! भोगसौख्यविवर्द्धिनी ॥
द्वितीये क्षत्रियाणान्तु वृत्तिः सम्यक्प्रकीर्तिता ।
यया त्वाश्रितया पापं विधूयेह व्रजेद्दिवम् ॥
तृतीये वैश्यजातीनां वृत्तिरुक्ता चतुर्विधा ।
यया चरितया सम्यग् लभते गतिमुत्तमाम् ॥
चतुर्थेऽस्यास्तथा पादे शूद्रवृत्तिरुदाहृता ।
यया सन्तुष्यति श्रीशो नृणां श्रेयोविवर्द्धनः ॥
पञ्चमेऽस्यास्ततः पादे वृत्तिः सङ्करजन्मनाम् ।
यया चरितयाऽऽप्नोति भाविनीमुत्तमां जनिम् ॥
इत्येषा पञ्चपादुक्ता द्वितीया संहिता मुने ।
तृतीयात्रोदिता सौरी नृणां कामविधायिनी ॥
षोढा षट्कर्मसिद्धिं सा बोधयन्ती च कामिनाम् ।
चतुर्थी वैष्णवी नाम मोक्षदा परिकीर्तिता ॥
चतुष्पदी द्विजातीनां साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणी ।
ताः क्रमात् षट्चतुर्द्व्यष्टसहस्राः परिकीर्तिताः ॥

तत्फलश्रुतिः :—

"एतत्कूर्मपुराणन्तु चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
पठतां शृण्वतां नृणां सर्वोत्कृष्टगतिप्रदम् ॥
लिखित्वैतत्तु यो भक्त्या हेमकूर्मसमन्वितम् ।
ब्राह्मणायायने दद्यात् स याति परमां गतिम् ॥

(१७) स्कन्दपुराणम्

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च

श्रीनारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने चतुर्थपादे १०४ अध्याये उक्ता यथा—

ब्रह्मोवाच :—

शृणु वत्से मरीचे च पुराणं स्कन्दसंज्ञितम् ।
यस्मिन् प्रतिपदं साक्षान्महादेवो व्यवस्थितः ॥
पुराणे शतकोटौ तु यच्छैवं वर्णितं मया ।
व्यक्तिस्यार्थजातस्य सारो व्यासेन कीर्तितः ॥
स्कन्दाह्वयस्यात्र खण्डाः सप्तैव परिकल्पिताः ॥
एकाशीतिसहस्रन्तु स्कान्दं सर्वाघकृन्तनम् ॥
यः शृणोति पठेद्वापि स तु साक्षाच्छिवः स्थितः ।
यत्र माहेश्वरा धर्माः षण्मुखेन प्रकाशिताः ।
कल्पे तत्पुरुषे वृत्ताः सर्वसिद्धिविधायिकाः ॥

तत्र माहेश्वरखण्डे :—

"तस्य माहेश्वरश्चाद्यः खण्डः पापप्रणाशनः ॥
किञ्चिन्न्यूनार्कसाहस्रो बहुपुण्यो बृहत्कथः ।
सुचरित्रशतैर्युक्तः स्कन्दमाहात्म्यसूचकः ॥
यत्र केदारमाहात्म्ये पुराणोपक्रमः पुरा ।
दक्षयज्ञकथा पश्चाच्छिवलिङ्गार्चने फलम् ॥
समुद्रमथनाख्यानं देवेन्द्रचरितं ततः ।
पार्वत्याः समुपाख्यानं विवाहस्तदनन्तरम् ॥
कुमारोत्पत्तिकथनं ततस्तारकसङ्गरः ।
ततः पशुपताख्यानं चण्डाख्यानसमाचितम् ॥
द्यूतप्रवर्त्तनाख्यानं नारदेन समागम ।
ततः कुमारमाहात्म्ये पञ्चतीर्थकथानकम् ॥
धर्म्मवर्म्मनृपाख्यानं नदीसागरकीर्त्तनम् ।
इन्द्रद्युम्नकथा पश्चान्नाडीजङ्घकथान्विता ॥
प्रादुर्भावस्ततो मह्या कथा दमनकस्य च ।
महीसागरसयोग कुमारेशकथा तत- ॥
ततस्तारकयुद्धञ्च नानाख्यानसमाचितम् ।
वधश्च तारकस्याथ पञ्चलिङ्गनिवेशनम् ॥
द्वीपाख्यान ततः पुण्यमूर्ध्वलोकव्यवस्थितः ।
ब्रह्माण्डस्थितिमानञ्च वर्करेशकथानकम् ॥

महाकालसमुद्भूतिः कथा चास्य महाद्भुता।
वासुदेवस्य माहात्म्यं कोटितीर्थं ततः परम्‌॥
नानातीर्थसमाख्यानं गुप्तक्षेत्रे प्रकीर्त्तितम्‌।
पाण्डवानां कथा पुण्या महाविद्याप्रसाधनम्‌॥
तीर्थयात्रासमाप्तिश्च कौमारमिदमद्भुतम्‌।
अरुणाचलमाहात्म्ये सनकब्रह्मसंस्तथा॥
गौरीतपःसमाख्यानं तत्ततीर्थनिरूपणम्‌।
महिषासुरजाख्यानं वधश्चास्य महाद्भुतः॥
शोणाचले-शिवास्थानं नित्यदा परिकीर्त्तितम्‌।
इत्येष कथितः स्कान्दे खण्डो माहेश्वरोऽद्भुतः॥

द्वितीये वैष्णवखण्डे :—

द्वितीयो वैष्णव खण्डस्तस्याख्यानानि मे शृणु।
प्रथमं भूमिवाराहं समाख्यानं प्रकीर्तितम्‌॥
यत्र वोचककुध्रस्य माहात्म्यं पापनाशनम्‌।
कमलाया कथा पुण्या श्रीनिवासस्थितिस्ततः॥
कुलालाख्यानकश्चात्र सुवर्णमुखरीकथा।
नानाख्यानसमायुक्ता भारद्वाजकथाद्भुता॥
मतङ्गाञ्जनसंवादः कीर्त्तितः पापनाशनः।
पुरुषोत्तममाहात्म्यं कीर्त्तितं चोत्कले ततः॥
मार्कण्डेयसमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः।
इन्द्रद्युम्नस्य चाख्यानं विद्यापतिकथा शुभा॥
जैमिनेः समुपाख्यानं नारदस्यापि वाडव।
नीलकण्ठसमाख्यानं नारसिंहोपवर्णनम्‌॥
अश्वमेधकथा राज्ञो ब्रह्मलोकगतिस्तथा।
रथयात्राविधिः पश्चाज्जन्मस्नानविधिस्तथा॥
दक्षिणामूर्त्युपाख्यानं गुण्डिचाख्यानकं ततः।
रथरक्षाविधानञ्च शयनोत्सवकीर्त्तनम्‌॥
श्वेतोपाख्यानमत्रोक्तं वह्न्युत्सवनिरूपणम्‌।
दोलोत्सवो भगवतो व्रतं सांवत्सराभिधम्‌॥
पूजा च कामिभिर्विष्णोरुद्दालकनियोगकः।
मोक्षसाधनमत्रोक्तं नानायोगनिरूपणम्‌॥
दशावतारकथनं स्नानादिपरिकीर्तनम्‌।
ततो बदरिकायाश्च माहात्म्यं पापनाशनम्‌॥

अग्न्यादितीर्थमाहात्म्यं वैनतेयशिलाभवम् ।
कारणं भगवद्वासे तीर्थं कापालमोचनम् ॥
पञ्चधारामिधं तीर्थं मेरुसंस्थापनं तथा ।
ततः कार्तिकमाहात्म्ये माहात्म्यं मदनालसम् ॥
धूम्रकेशसमाख्यानं दिनकृत्यानि कार्तिके ।
पञ्चभीष्मव्रताख्यानं कीर्तितं भुक्तिमुक्तिदम् ॥
तद्व्रतस्य च माहात्म्ये विधानं स्नानजं तथा ।
पुण्ड्रादिकीर्त्तनञ्चात्र मालाधारणपुण्यकम् ॥
पञ्चामृतस्नानपुण्यं घण्टानादादिजं फलम् ।
नानापुष्पार्च्चनफलं तुलसीदलजम्फलम् ॥
नैवेद्यस्य च माहात्म्यं हरिवासन (र) कीर्तनम् ।
अखण्डैकादशीपुण्यं तथा जागरणस्य च ॥
मत्स्योत्सवविधानञ्च नाममाहात्म्यकीर्त्तनम् ।
ध्यानादिपुण्यकथनं माहात्म्यं मथुराभवम् ॥
मथुरातीर्थमाहात्म्यं पृथगुक्तं ततः परम् ।
वनानां द्वादशानाञ्च माहात्म्यं कीर्त्तितं ततः ॥
श्रीमद्भागवतस्यात्र माहात्म्यं कीर्त्तितं परम् ।
वज्रशाण्डिल्यसंवादमन्तर्लीलाप्रकाशकम् ॥
ततो माघस्य माहात्म्यं स्नानदानजपोद्भवम् ।
नानाख्यानसमायुक्तं दशाध्याये निरूपितम् ॥
ततो वैशाखमाहात्म्ये शय्यादानादिजम्फलम् ।
जलदानादिविषयः कामाख्यानमतः परम् ॥
श्रुतदेवस्य चरितं व्याधोपाख्यानमद्भुतम् ।
तथाक्षयतृतीयादेर्विशेषात्पुण्यकीर्त्तनम् ।
ततस्त्वयोध्यामाहात्म्ये चक्रब्रह्माह्वतीर्थके ॥
ऋणपापविमोक्षाख्ये तथाधारसहस्रकम् ।
स्वर्गद्वारं चन्द्रहरिधर्म्महर्य्युपवर्णनम् ॥
स्वर्णवृष्टेरपाख्यानं तिलोदा-सरयूयुतिः ।
सीताकुण्डं गुप्तहरि सरयूर्घर्घरायः ॥
गोप्रचारञ्च दुग्धोदं गुरुकुण्डादिपञ्चकम् ।
घोषार्कादीनि तीर्थानि त्रयोदश ततः परम् ॥
गयाकूपस्य माहात्म्यं सर्व्वाघविनिवर्त्तकम् ।
माण्डव्याश्रमपूर्वाणि तीर्थानि तदनन्तरम् ॥
अजितादिमानसादितीर्थानि गदितानि च ।
इत्येष वैष्णवः खण्डो द्वितीयः परिकीर्तितः ॥

तृतीये ब्रह्मखण्डे :—

"अतः परं ब्रह्मखण्डं मरीचे शृणु पुण्यदम् ।
यत्र वै सेतुमाहात्म्ये फलं स्नानेक्षणोद्भवम् ॥
गालवस्य तपश्चर्या राक्षसाख्यानकं ततः ।
चक्रतीर्थादिमाहात्म्यं देवीपत्तनसंयुतम् ॥
वेतालतीर्थमहिमा पापनाशादिकीर्त्तनम् ।
मङ्गलादिकमाहात्म्यं ब्रह्मकुण्डादिवर्णनम् ॥
हनूमत्कुण्डमहिमागस्त्यतीर्थभवफलम् ।
रामतीर्थादिकथनं लक्ष्मीतीर्थनिरूपणम् ॥
शङ्खादितीर्थमहिमा तथासाध्यामृतादिजः ।
धनुष्कोट्यादिमाहात्म्यं क्षीरकुण्डादिजं तथा ॥
गायत्र्यादिकतीर्थानां माहात्म्यं चात्र कीर्त्तितम् ।
रामनाथस्य महिमा तत्त्वज्ञानोपदेशनम् ॥
यात्राविधानकथनं सेतौ मुक्तिप्रदं नृणाम् ।
धर्म्मारण्यस्य माहात्म्यं ततः परमुदीरितम् ॥
स्थाणुः स्कन्दाय भगवान् यत्र तत्त्वमुपादिशत् ।
धर्म्मारण्यसुसंभूतिस्तत्पुण्यपरिकीर्त्तनम् ॥
कर्म्मसिद्धेः समाख्यानं ऋषिवंशनिरूपणम् ।
अप्सरातीर्थमुख्यानां माहात्म्यं यत्र कीर्त्तनम् ॥
वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मतत्त्वनिरूपणम् ।
देवस्थानविभागश्च वकुलार्ककथा शुभा ॥
छत्रा नन्दा तथा शान्ता श्रीमाता च मतङ्गिनी ।
पुण्यदाख्यः समाख्याता यत्र देव्यः समास्थिताः ॥
इन्द्रेश्वरादिमाहात्म्यं द्वारकादिनिरूपणम् ।
लोहासुरसमाख्यानं गङ्गाकूपनिरूपणम् ॥
श्रीरामचरितञ्चैव सत्यमन्दिरवर्णनम् ।
जीर्णोद्धारस्य कथनं शासनप्रतिपादनम् ॥
जातिभेदप्रकथनं स्मृतिधर्म्मनिरूपणम् ।
ततस्तु वैष्णवा धर्म्मा नानाख्यानैरुदीरिताः ॥
चातुर्मास्ये ततः पुण्ये सर्वधर्म्मनिरूपणम् ।
दानप्रशंसा तत्पश्चाद् व्रतस्य महिमा ततः ॥
तपसश्चैव पूजायाः सच्छिद्रकथनन्ततः ।
प्रकृतीनां भिदाख्यानं शालग्रामनिरूपणम् ॥
तारकस्य वधोपायो गर्वार्चामहिमा तथा ।
विष्णोः शापश्च वृक्षत्व पार्वत्यनुनयस्ततः ॥

हरस्य ताण्डवं नृत्यं रामनामनिरूपणम् ।
हरस्य लिङ्गपतनं कथा योजिवनस्य च ॥

पार्वतीजन्मचरितं तारकस्य वधोऽद्भुत: ।
प्रणवैश्वर्यकथनं तारकाचरितं पुन: ॥

दक्षयज्ञसमाप्तिश्च द्वादशाक्षरूपणम् ।
ज्ञानयोगसमाख्यानं महिमा द्वादशार्णजः ॥
श्रवणादिकपुण्यञ्च कीर्तितं शर्मदं नृणाम् ।

तृतीयब्रह्मखण्डस्योत्तरभागेः—

"ततो ब्रह्मोत्तरे भागे शिवस्य महिमाद्भुतः ।
पञ्चाक्षरस्य महिमा गोकर्णमहिमा तत: ॥

शिवरात्रेश्च महिमा प्रदोषव्रतकीर्त्तनम् ।
सोमवारव्रतञ्चापि सीमन्तिन्याः कथानकम् ॥

भद्रायूत्पत्तिकथनं सदाचारनिरूपणम् ।
शिवधर्मसमुद्देशो भद्रायूद्वाहवर्णनम् ॥

भद्रायुमहिमा चापि भस्ममाहात्म्यकीर्त्तनम् ।
शवराख्यानकञ्चैव उमामाहेश्वरव्रतम् ॥

रुद्राक्षस्य च माहात्म्यं रुद्राध्यायस्य पुण्यकम् ।
श्रवणादिकपुण्यञ्च ब्रह्मखण्डोऽयमीरितः ।"

चतुर्थे काशीखण्डे :—

"अतः परं चतुर्थन्तु काशीखण्डमनुत्तमम् ।
विन्ध्यनारदयोर्यत्र संवादः परिकीर्त्तितः ॥

सत्यलोकप्रभावश्चागस्त्याश्रमे सुरागमः ।
पतिव्रताचरित्रञ्च तीर्थचर्याप्रशंसनम् ॥

ततश्च सप्त पुर्याख्या संयमिन्या निरूपणम् ।
ब्रध्नस्य च तथेन्द्राग्न्योर्लोकाप्ति: शिवशर्मण ॥

अग्ने: समुद्भवश्चैव क्रव्यादवरुणसम्भव ।
गन्धवत्यलकापुर्योरीश्वर्याश्च समुद्भव: ॥
चन्द्रोडुबुधलोकानां कुजेज्यार्कभुवां क्रमात् ।
सप्तर्षीणां ध्रुवस्यापि तपोलोकस्य वर्णनम् ॥
ध्रुवलोककथा पुण्या सत्यलोकनिरीक्षणम् ।
स्कन्दागस्त्यसमालापो मणिकर्णीसमुद्भव ॥
प्रभावश्चापि गङ्गाया गङ्गानामसहस्रकम् ।
वाराणसीप्रशंसा च भैरवाविर्भवस्तत ॥

दण्डपाणीज्ञानवाप्योरुद्भवः समनन्तरम् ।
ततः कलावत्याख्यानं सदाचारनिरूपणम् ॥

ब्रह्मचारिसमाख्यान ततः स्त्रीलक्षणानि च ।
कृत्याकृत्यविनिर्देशो ह्यविमुक्तेशवर्णनम् ॥

गृहस्थयोगिनो धर्माः कालज्ञानं ततः परम् ।
दिवोदासकथा पुण्या काशीवर्णनमेव च ॥

योगिचर्या च लोलार्कोत्तरसाम्बार्कजा कथा ।
द्रुपदार्कस्य तार्क्ष्याख्यारुणार्कस्योदयस्ततः ॥

दशाश्वमेधतीर्थाख्या मन्दराच्च गणागमः ।
पिशाचमोचनाख्यान गणेशप्रेषणन्ततः ॥

मायागणपतेश्चाथ भुवि प्रादुर्भवस्ततः ।
विष्णुमायाप्रपञ्चोऽथ दिवोदासविमोक्षणम् ॥

ततः पञ्चनदोत्पत्तिर्बिन्दुमाधवसम्भवः ।
ततो वैष्णवतीर्थाख्या शूलिनः काशिकागमः ॥

जैगीषव्येण सवादो ज्येष्ठेशाख्या महेशितुः ।
क्षेत्राख्यान कन्दुकेशव्याघ्रेश्वरसमुद्भवः ॥

शैलेशरत्नेश्वरयोः कृत्तिवासस्य चोद्भवः ।
देवतानामधिष्ठानं दुर्गासुरपराक्रमः ॥

दुर्गाया विजयश्चाथ ओङ्कारेशस्य वर्णनम् ।
पुनरोङ्कारमाहात्म्यं त्रिलोचनसमुद्भवः ॥

केदाराख्या च धर्मेशकथा विश्वभुजोद्भवा ।
वीरेश्वरसमाख्यानं गङ्गामाहात्म्यकीर्तनम् ॥

विश्वकर्मेशमहिमा दक्षयज्ञोद्भवस्तथा ।
सतीशस्यामृतेशादेर्भुजस्तम्भः पराशरेः ॥

क्षेत्रतीर्थकदम्बश्च मुक्तिमण्डपसत्कथा ।
विश्वेशविभवश्चाथ ततो यात्रा परिक्रमः ॥

पञ्चमे अवन्तीखण्डे :—

"अतः परं त्ववन्त्याख्यं शृणु खण्डञ्च पञ्चमम् ।
महाकालवनाख्यानं ब्रह्मशीर्षच्छिदा ततः ॥

प्रायश्चित्तविधिश्चाग्नेरुत्पत्तिश्च समागमः ।
देवदीक्षा शिवस्तोत्रं नानापातकनाशनम् ॥

कपालमोचनाख्यानं महाकालवनस्थितिः ।
तीर्थं कलकलेशस्य सर्वपापप्रणाशनम् ॥

कुण्डमप्सरसञ्चैव सर्गो रुद्रस्य पुण्यदम् ।
कुटुम्बेशञ्च विधाप्रमर्कटेश्वरतीर्थकम् ॥

स्वर्गद्वारं चतुःसिन्धुतीर्थं शङ्करवापिका ।
सकरार्कं गन्धवती तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥

दशाश्वमेधैकानंशा तीर्थे च हरिसिद्धिदम् ।
पिशाचकादियात्रा च हनूमत्कयमेश्वरौ ॥

महाकालेशयात्रा च वल्मीकेश्वरतीर्थकम् ।
शुक्रेशमेशोपाख्यानं कुशस्थल्याः प्रदक्षिणम् ॥

अक्रूरमन्दाकिन्यङ्कपादचन्द्रार्कवैभवम् ।
करभेशकुक्कुटेशलड्डुकेशादि तीर्थकम् ॥

मार्कण्डेश यज्ञवापी सोमेशं नरकान्तकम् ।
केदारेश्वररामेशसौभाग्येशनरार्ककम् ॥

केशार्कं शक्तिभेदञ्च स्वर्णक्षरमुखानि च ।
ओङ्कारेशादितीर्थानि अन्धकस्तुतिकीर्त्तनम् ॥

कालारण्ये लिङ्गसंख्या स्वर्णशृङ्गाभिधानकम् ।
कुशस्थल्या अवन्त्याश्चोज्जयिन्या अभिधानकम् ॥

पद्मावती कुमुद्वत्यमरावतीतिनामकम् ।
विशाला प्रतिकल्पाभिधाने च ज्वरशान्तिकम् ॥

शिप्रास्नानादिकफलं नागोन्मीता शिवस्तुतिः ।
हिरण्याक्षवधाख्यानं तीर्थं सुन्दरकुण्डकम ॥

नीलगङ्गा पुष्कराख्यं विन्ध्यावासनतीर्थकम् ।
पुरुषोत्तमाधिमासं तत्तीर्थञ्चाघनाशनम् ॥

गोमती वामने कुण्डे विष्णोर्नामसहस्रकम् ।
वीरेश्वरसरःकालभैरवस्य च तीर्थके ॥

महिमा नागपञ्चम्यां नृसिंहस्य जयन्तिका ।
कुटुम्बेश्वरयात्रा च देवसाधककीर्त्तनम् ॥

कर्कराजाख्यतीर्थञ्च विघ्नेशादिसुरोहनम् ।
रुद्रकुण्डप्रभृतिषु बहुतीर्थनिरूपणम् ॥

यात्राष्टतीर्थजा पुण्या रेवामाहात्म्यमुच्यते ।
धर्मपुत्रस्य वैराग्ये मार्कण्डेयेन सङ्गमः ॥

प्रागलयानुभवाख्यानं अमृतापरिकीर्त्तनम् ।
कल्पे कल्पे पृथक् नाम नर्मदायाः प्रतीत्तिनम् ॥

स्तवमार्षं नार्मदञ्च कालरात्रिकथा ततः ।
महादेवस्तुतिः पश्चात् पृथक्कल्पकथाद्भुता ॥

विशल्याख्यानकं पश्चाज्जालेश्वरकथा तथा ।
गौरीव्रतसमाख्यानं त्रिपुरज्वालनन्ततः ॥

देहपातविधानञ्च कावेरीसङ्गमस्ततः ।
दारुतीर्थं ब्रह्मवर्त्तं यज्ञेश्वरकथानकम् ॥

अग्नितीर्थं रवितीर्थं मेघनाद दिदारुकम् ।
देवतीर्थं नर्म्मदेशं कपिलाख्य करञ्जकम् ।

कुण्डलेशं पिप्पलादं विमलेशञ्च शूलभित् ॥
शचीहरणमाख्यातमन्धकस्य वधस्ततः ।
शूलभेदोद्भवो यत्र दानधर्म्माः पृथग्विधाः ॥

आख्यानं दीर्घतपसऋष्यशृङ्गस्तथा ततः ।
चित्रसेनकथा पुण्या काशिराजस्य मोक्षणम् ॥

ततो देवशिलाख्यानं शबरी चरिताचितम् ।
व्याधाख्यानं ततः पुण्यं पुष्करिण्यर्कतीर्थकम् ॥

आदित्येश्वरतीर्थञ्च शक्रतीर्थं करोटिकम् ।
कुमारेशमगस्त्येशं च्यवनेशञ्च मातृजम् ॥

लोकेशं धनदेशञ्च मङ्गलेशञ्च कामजम् ।
नागेशञ्चापि गोपारं गौतमं शङ्खचूडजम् ॥

नारदेशं नन्दिकेशं वरुणेश्वरतीर्थकम् ।
दधिस्कन्दादितीर्थानि हनूमन्तेश्वरन्ततः ॥

रामेश्वरादितीर्थानि सोमेशं पिङ्गलेश्वरम् ।
ऋणमोक्षं कपिलेशं पूतिकेशं जलेशयम् ॥

चण्डार्कं यमतीर्थञ्च कल्होडीशञ्च नान्दिकम् ।
नारायणञ्च कोटीशं व्यासतीर्थं प्रभासिकम् ॥

कुण्डेशं श्वेतताराहं भार्गवेशं रवीश्वरम् ।
शुक्लादीनि च तीर्थानि हुँकारस्वामितीर्थकम् ॥

सङ्गमेशं नारकेश मोक्षं सार्पंच गोपकम् ।
नागं साम्बञ्च सिद्धेशं मार्कण्डाक्रूरतीर्थके ॥

कामोदशूलारोपाख्यो माण्डव्यं गोपकेश्वरम् ।
कपिलेशं पिंगलेशं भूतेशं गांगगौतमे ॥

अश्वमेधं भृगुकच्छं केदारेशञ्च पापनुत् ।
कनखलेशं जालेशं शालग्रामं वराहकम् ॥

चन्द्रप्रभासमादित्यं श्रीपत्याख्यञ्च हंसकम् ।
मूलस्थानञ्च शूलेशमाग्नेयाचित्रदैवकम् ॥

शिखीशं कोटितीर्थञ्च दशकन्यं सुवर्णकम् ।
ऋणमोक्षं भारभूतिरत्रास्ते पुंखसुण्डिमम् ॥

आमलेशं कपालेशं शृङ्गेरण्डीभवन्ततः ।
कोटितीर्थं लोटनेशं फलस्तुतिरतः परम् ॥

इमिजङ्गलमाहात्म्ये रोहिताश्वस्तथा सत. ।
धुन्धुमारसमाख्यानं वधोपायस्ततोऽस्य च ।

वधो धुन्धोस्ततः पश्चात् सतश्चित्रवहोद्भवः ।
महिमास्य ततश्चण्डीशप्रभावोरतीश्वर. ॥

केदारेशो लक्षतीर्थं ततो विष्णुपदीभवम् ।
मुखारं च्यवनान्धाख्यं ब्रह्मणश्च सरस्ततः ॥

चक्राख्यं ललिताख्यानं तीर्थञ्च बहुगोमथम् ।
रुद्रावर्त्तञ्च मार्कण्डं तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥

रावणेशं शुद्धपटं देवान्धु प्रेततीर्थकम् ।
जिह्वोदतीर्थसम्भूतिः शिवोद्भेदं फलस्तुतिः ॥
एष खण्डो ह्यवन्त्याख्यः शृण्वतां पापनाशनः ।

षष्ठे नागरखण्डे :—

"अतः परं नागराख्यः खण्डः षष्ठोऽभिधीयते ।
लिङ्गोत्पत्तिसमाख्यानं हरिश्चन्द्रकथा शुभा ॥
विश्वामित्रस्य माहात्म्यं त्रिशङ्कुस्वर्गतिस्तथा ।
हाटकेश्वरमाहात्म्ये वृत्रासुरवधस्तथा ॥

नागबिलं शङ्खतीर्थमचलेश्वरवर्णनम् ।
चमत्कारपुराख्यानं चमत्कारकरं परम् ॥
गयशीर्षं बालशाख्यं बालमण्डं मृगाह्वयम् ।
विष्णुपादञ्च गोकर्णं युगरूपं समाश्रय. ।
सिद्धेश्वरं नागसरः सप्तार्षेयं ह्यगस्तकम् ॥

विप्रवयाख्यानकं पश्चाच्चालेश्वरकथा तथा ।
गौरीव्रतसमाख्यानं त्रिपुरज्वालनन्ततः ॥

देहपातविधानञ्च कावेरीसङ्गमस्ततः ।
दारुतीर्थं ब्रह्मवर्जं यत्रेश्वरस्थानकम् ॥

अग्नितीर्थं रवितीर्थं मेघनादं दिदारकम् ।
देवतीर्थं नर्मदेशं कपिलाख्यं करञ्जकम् ।

कुण्डलेशं पिप्पलादं विमलेशञ्च शूलभित् ॥
शचीहरणमाख्यातमन्धकस्य वधस्ततः ।

शूलभेदोद्भवो यत्र दानधर्माः पृथग्विधाः ॥

आख्यानं दीर्घतपसऋष्यशृङ्गकथा ततः ।
चित्रसेनकथा पुण्या काशिराजस्य मोक्षणम् ॥

ततो देवशिलाख्यानं शबरी चरिताचितम् ।
व्याधाख्यानं ततः पुण्यं पुष्करिण्यर्कतीर्थकम् ॥

आदित्येश्वरतीर्थञ्च शक्रतीर्थं करोटिकम् ।
कुमारेशमगस्त्येशं च्यवनेशञ्च मातृजम् ॥

लोकेशं धनदेशञ्च मङ्गलेशञ्च कामजम् ।
नागेशञ्चापि गोपारं गौतमं शङ्खचूडजम् ॥

नारदेशं नन्दिकेशं वरुणेश्वरतीर्थकम् ।
दधिस्कन्दादितीर्थानि हनूमन्तेश्वरन्ततः ॥

रामेश्वरादितीर्थानि सोमेशं पिङ्गलेश्वरम् ।
ऋणमोक्षं कपिलेशं पूतिकेशं जलेशयम् ॥

चण्डार्कयमतीर्थञ्च कल्होडीशञ्च नान्दिकम् ।
नारायणञ्च कोटीशं व्यासतीर्थं प्रभासिकम् ॥

नागेशं सङ्कर्षणकं मन्मथेश्वरतीर्थकम् ।
एरण्डीसङ्गमं पुण्यं सुवर्णशिलतीर्थकम् ॥

करञ्जं कामदं तीर्थं भाण्डीरं रोहिणीभवम् ।
चक्रतीर्थं धौतपापं स्कान्दमाङ्गिरसाह्वयम् ॥

कोटितीर्थमयोन्याख्यमङ्गाराख्यं त्रिलोचनम् ।
इन्द्रेशं कम्बुकेशञ्च सोमेशं कोहनेशकम् ॥

नार्मदं चार्कमाग्नेयं भार्गवेश्वरसत्तमम् ।
ब्राह्मं दैवं च मागेशमादिवाराहर्णकवे ॥

रामेशमथ सिद्धेशमाहात्म्यं कङ्कटेश्वरम् ।
शाक्रं सौम्यञ्च नान्देशं तापेशं रुक्मिणीभवम् ॥
योजनेशं वराहेशं द्वादशी शिवतीर्थके ।
सिद्धेशं मङ्गलेशञ्च लिङ्गवाराहतीर्थकम् ॥

कुण्डेशं श्वेतवाराह भार्गवेशं रवीश्वरम् ।
शुक्रादीनि च तीर्थानि हुँकारस्वामितीर्थकम् ॥

सङ्गमेशं नारकेशं मोक्षं सार्पञ्च गोपकम् ।
नागं साम्बञ्च सिद्धेशं मार्कण्डाक्रूरतीर्थके ॥

कामोदशूलारोपाख्यो माण्डव्यं गोपकेश्वरम् ।
कपिलेशं पिंगलेशं भूतेशं गांगगौतमे ॥

आश्वमेधं भृगुकच्छं केदारेशञ्च पापनुत् ।
कनखलेशं जालेशं शालग्रामं वराहकम् ॥

चन्द्रप्रभासमादित्यं श्रीपत्याख्यञ्च हंसकम् ।
मूलस्थानञ्च शूलेशमाग्नेयाचित्रदैवकम् ॥

शिखीशं कोटितीर्थञ्च दशकन्यं सुवर्णकम् ।
ऋणमोक्षं भारभूतिरन्रास्ते पुंखमुण्डिमम् ॥

आमलेशं कपालेशं शृङ्गेरण्डीभवन्ततः ।
कोटितीर्थं लोटनेशं फलस्तुतिरतः परम् ॥

इमिजङ्गलमाहात्म्ये रोहिताश्वकथा ततः ।
धुन्धुमारसमाख्यानं वधोपायस्ततोऽस्य च ।

वधो धुन्धोस्ततः पश्चात् सतश्चित्रवहोद्भवः ।
महिमास्य ततश्चण्डीशप्रभावोरतीश्वर. ॥

केदारेशो लघतीर्थं ततो विष्णुपदीभवम् ।
मुखारं च्यवनान्धाख्यं ब्रह्मणश्च सरस्ततः ॥

चक्राख्यं ललिताख्यानं तीर्थञ्च बहुगोमयम् ।
रुद्रावर्त्तञ्च मार्कण्डं तीर्थं पापप्रणाशनम् ॥

रावणेशं शुद्धपटं देवान्धुः प्रेततीर्थकम् ।
जिह्वोदतीर्थसम्भूतिः शिवोद्भेदं फलस्तुतिः ॥
एष खण्डो ह्यवन्त्याख्यः श्रृण्वतां पापनाशनः ।

षष्ठे नागरखण्डे :—

"अतः परं नागराख्यः खण्डः षष्ठोऽभिधीयते ।
लिङ्गोत्पत्तिसमाख्यानं हरिश्चन्द्रकथा शुभा ॥
विश्वामित्रस्य माहात्म्यं त्रिशङ्कुस्वर्गतिस्तथा ।
हाटकेश्वरमाहात्म्ये वृत्रासुरवधस्तथा ॥
नागबिलं शङ्खतीर्थमचलेश्वरवर्णनम् ।
चमत्कारपुराख्यानं चमत्कारकरं परम् ॥
गयशीर्षं बालशाख्यं बालमण्डं मृगाह्वयम् ।
विष्णुपादञ्च गोकर्णं युगरूपं समाश्रयः ।
सिद्धेश्वरं नागसरः सप्तार्षेयं ह्यगस्तकम् ॥

विशल्याख्यानक पश्चाज्जालेश्वरकथा तथा ।
गौरीव्रतसमाख्यान त्रिपुरज्वालनन्ततः ॥

देहपातविधानञ्च कावेरीसङ्गमस्ततः ।
दारुतीर्थं ब्रह्मवर्ज्जं यन्त्रेश्वरकथानकम् ॥

अग्नितीर्थं रवितीर्थं मेघनाद दिदारुकम् ।
देवतीर्थं नर्म्मदेश कपिलाख्य करञ्जकम् ।

कुण्डलेशं पिप्पलादं विमलेशञ्च शूलभित् ॥
शचीहरणमाख्यातमन्धकस्य वधस्ततः ।
शूलभेदोद्भवो यत्र दानधर्म्मा॰ पृथग्विधाः ॥

आख्यानं दीर्घतपसऋष्यश्रृङ्गकथा ततः ।
चित्रसेनकथा पुण्या काशिराजस्य मोक्षणम् ॥

ततो देवशिलाख्यानं शवरी चरिताचितम् ।
व्याधाख्यानं तत पुण्यं पुष्करिण्यर्कतीर्थकम् ॥

आदित्येश्वरतीर्थञ्च शक्रतीर्थं करोटिकम् ।
कुमारेशमगस्त्येश च्यवनेशञ्च मातृजम् ॥

लोकेशं धनदेशञ्च मङ्गलेशञ्च कामजम् ।
नागेशञ्चापि गोपार गौतमं शङ्खचूडजम् ॥

नारदेश नन्दिकेशं वरुणेश्वरतीर्थकम् ।
दधिस्कन्दादितीर्थानि हनूमन्तेश्वरन्ततः ॥

रामेश्वरादितीर्थानि सोमेश पिङ्गलेश्वरम् ।
ऋणमोक्ष कपिलेशं पूतिकेश जलेशयम् ॥

चण्डार्कंयमतीर्थञ्च कल्होडीशञ्च नान्दिकम् ।
नारायणञ्च कोटीशं व्यासतीर्थं प्रभासिकम् ॥

नागेश सङ्कर्षणकं मन्मथेश्वरतीर्थकम् ।
एरण्डीसङ्गम पुण्यं सुवर्णशिलतीर्थकम् ॥

करञ्जं कामद तीर्थं भाण्डीरं रोहिणीभवम् ।
चक्रतीर्थं धौतपापं स्कान्दमाङ्गिरसाह्वयम् ॥

कोटितीर्थमयोन्याख्यमङ्गाराख्यं त्रिलोचनम् ।
इन्द्रेश कम्बुकेशञ्च सोमेशं कोहनेशकम् ॥

नार्म्मदं चार्कमाग्नेयं(भार्गवेश्वरमुत्तमम् ।
ब्राह्मं दैवं च मार्गेशमादिवाराहणंक्ये ॥

रामेशमथ सिद्धेशमाहाल्यं कङ्कटेश्वरम् ।
शाक्रं सौम्यञ्च नान्देश तापेशं रुक्मिणीभवम् ॥

योजनेशं वराहेशं द्वादशी शिवतीर्थके ।
सिद्धेश मङ्गलेशाख्य लिङ्गवाराहतीर्थकम् ॥

सार्द्धकोटित्रयफलमेकैकस्यैपु कीर्तितम् ।
कूपिका शङ्खतीर्थञ्चामरकं बालमण्डनम् ।
हाटकेशक्षेत्रफलप्रदं प्रोक्तं चतुष्टयम् ॥

शाम्बादित्यं श्राद्धकल्पं यौधिष्ठिरमथान्धकम् ।
जलशायि चतुर्मास्यमशून्यशयनव्रतम् ॥

मङ्कणेशं शिवरात्रिस्तुलापुरुषदानकम् ।
पृथ्वीदानं बाणकेशं कपालमोचनेश्वरम् ॥

पापपिण्डं साप्तलिङ्गं युगमानादिकीर्त्तनम् ।
निम्बेशशाकम्भर्याख्या रुद्रैकादशकीर्त्तनम् ॥

दानमाहात्म्यकथनं द्वादशादित्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष नागरः खण्डः प्रभासाख्योऽधुनोच्यते ॥

सप्तमे प्रभासखण्डे :—

"सोमेशो यत्र विश्वेशोऽर्कस्थलं पुण्यदं महत् ।
सिद्धेश्वरादिकाख्यान पृथगत्र प्रकीर्त्तितम् ॥

अग्नितीर्थं कपर्दीशं केदारेशं गतिप्रदम् ।
भीमभैरवचण्डीशभास्कराङ्गारकेश्वराः ॥

बुधेज्यभृगुसौरेन्द्रशिखीशा हरविग्रहाः ।
सिद्धेश्वराद्याः पञ्चान्ये रुद्रास्तत्र व्यवस्थिताः ॥

वरारोहा ह्यजापाला मंगला ललितेश्वरी ।
लक्ष्मीशोऽवाडवेशश्चाघीशः कामेश्वरस्तथा ॥

गौरीशवरुणेशाख्यमुशीपञ्च गणेश्वरम् ।
कुमारेशञ्च शाकल्यं शाकुलोत्तङ्कगौतमम् ॥

दैत्यघ्नेशं चक्रतीर्थं सन्निहत्याह्वयन्तथा ।
भूतेशादीनि लिङ्गानि आदिनारायणाह्वयम् ॥

ततश्चक्रधराख्यानं शाम्बादित्यकथानकम् ।
कथा कण्टकशोधिन्या महिषघ्न्यास्ततः परम् ॥
कपालीश्वरकोटीशबालब्रह्मास्वत् कथा ।
नरकेश सम्वर्त्तेश निधीश्वरकथा ततः ।
बलभद्रेश्वरस्याथ गंगाया गणपस्य च ॥

जाम्बवत्याख्यसरितः पाण्डुकूपस्य सत्कथा ।
शतमेधलक्षमेधकोटिमेधकथा तथा ॥

दुर्वासार्कयदुस्थान-हिरण्यासंगमोत्कथा ।
नगरार्कस्य कृष्णस्य सङ्कर्षणसमुद्रयोः ॥

कुमार्याः क्षेत्रपालस्य ब्रह्मेशस्य कथा पृथक् ।
पिंगला संगमेशस्य शंकरार्कघटेशयोः ॥

अणगर्त्तनलेशञ्च भीष्मं दुर्वारमर्दकम् ।
शार्मिष्ठं सोमनाथञ्च दौर्गमानर्त्तकेश्वरम् ॥

जमदग्निवधाख्यानं नैःक्षत्रियकथानकम् ।
रामह्रदं नागपुरं जडलिङ्गञ्च यज्ञभूः ॥

मुण्डीरादि त्रिकार्कञ्च सतीपरिणयस्तथा ।
बालखिल्यञ्च यागेशं बालखिल्यञ्च गारुडम् ॥

लक्ष्मीशापः साप्तविंशं सोमप्रासादमेव च ।
अम्बावृद्धं पादुकाख्यमाग्नेयं ब्रह्मकुण्डकम् ॥

गोमुखं लोहयष्ट्याख्यमजापालेश्वरी तथा ।
शानैश्चरं राजवापी रामेशो लक्ष्मणेश्वरः ॥

कुशेशाख्यं लवेशाख्यं लिङ्गं सर्वोत्तमोत्तमम् ।
अष्टषष्टिसमाख्यानं दमयन्त्यास्त्रिजातकम् ॥

ततोऽम्बारेवती चात्र भट्टिकातीर्थसम्भवम् ।
क्षेमङ्करी च केदारं शुक्लतीर्थं मुखारकम् ॥

सत्यसन्धेश्वराख्यानं तथा कर्णोत्पलाकथा ।
अटेश्वरं याज्ञवल्क्यं गौर्य्यं गाणेशमेव च ॥

ततो वास्तुपदाख्यानमजागृहकथानकम् ।
सौभाग्यान्धकशूलेशं धर्म्मराजकथानकम् ॥

मिष्टान्नेश्वराख्यानं गाणपत्यत्रयं ततः ।
जाबालिचरितञ्चैव मकरेशकथा ततः ॥

कालेश्वर्यन्धकाख्यानं कुण्डमाप्सरसन्तथा ।
पुष्यादित्यं रौहिताश्वं नागरोत्पत्तिकीर्त्तनम् ॥

भार्गवं चरितं चैव वैश्वामित्रं ततः परम् ।
सारस्वतं पैप्पलादं कंसारीशञ्च पैण्डिकम् ॥

ब्रह्मणो यज्ञचरितं सावित्र्याख्यानसंयुतम् ।
रैवतं भर्तृयज्ञाख्य-मुख्यतीर्थनिरीक्षणम् ।
कौरवं हाटकेशाख्यं प्रभासं क्षेत्रकत्रयम् ॥

पौष्करं नैमिषं धार्म्ममरण्यत्रितयं स्मृतम् ।
वाराणसीद्वारकाख्यावन्त्याख्येति पुरीत्रयम् ॥

वृन्दावनं खाण्डवाख्यं मद्वैकाख्यं वनत्रयम् ।
कल्पः शालस्तथा नन्दो ग्रामत्रयमनुत्तमम् ॥

असिशुक्लपितृसञ्ज्ञं तीर्थत्रयमुदाहृतम् ।
अर्बुदो रैवतश्चैव पर्व्वतत्रयमुत्तमम् ॥

नदीनां त्रितयं गङ्गा नर्मदा च सरस्वती ॥

सार्द्धकोटित्रयफलमेकैकस्चैपु कीर्तितम् ।
कूपिका दाद्धुतीर्थञ्चामरकं वालमण्डनम् ।
हाटकेशक्षेत्रफलप्रदं प्रोक्तं चतुष्टयम् ॥

शाम्बादित्यं श्राद्धकल्पं यौधिष्ठिरमथान्धकम् ।
जलशायि चतुर्मास्यमशून्यशयनव्रतम् ॥

मङ्कणेशं शिवरात्रिस्तुलापुरुषदानकम् ।
पृथ्वीदानं वाणकेशं कपालमोचनेश्वरम् ॥

पापपिण्डं साप्तलैङ्गं युगमानादिकीर्त्तनम् ।
निम्बेशशाकम्भर्याख्या रुद्रैकादशकीर्त्तनम् ॥

दानमाहात्म्यकथनं द्वादशादित्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष नागरः खण्डः प्रभासाख्योऽधुनोच्यते ॥

सप्तमे प्रभासखण्डे :—

"सोमेशो यत्र विश्वेशोऽर्कस्थलं पुण्यदं महत् ।
सिद्धेश्वरादिकाख्यान पृथगत्र प्रकीर्त्तितम् ॥

अग्नितीर्थं कपर्दीशं केदारेशं गतिप्रदम् ।
भीमभैरवचण्डीशभास्कराङ्गारकेश्वराः ॥

बुधेज्यभृगुसौरेन्द्रशिखीशा हरविग्रहाः ।
सिद्धेश्वराद्याः पञ्चान्ये रुद्रास्तत्र व्यवस्थिताः ॥

वरारोहा ह्यजापाला मंगला ललितेश्वरी ।
लक्ष्मीशोऽवाडवेशश्चाघीशः कामेश्वरस्तथा ॥

गौरीशवरुणेशाख्यमुशीपञ्च गणेश्वरम् ।
कुमारेशञ्च शाकल्यं शकुलोत्तङ्कगौतमम् ॥

दैत्यघ्नेशं चक्रतीर्थं सन्निहत्याद्वयन्तथा ।
भूतेशादीनि लिङ्गानि आदिनारायणाह्वयम् ॥

ततश्चक्रधराख्यानं शाम्बादित्यकथानकम् ।
कथा कण्टकशोधिन्या महिषघ्न्यास्ततः परम् ॥
कपालीश्वरकोटीशबालब्रह्माह्वसत् कथा ।
नरकेश-सम्वर्त्तेश निधीश्वरकथा ततः ।
वलभद्रेश्वरस्याथ गंगाया गणपस्य च ॥

जाम्बवत्याख्यसरितः पाण्डुकूपस्य सत्कथा ।
शतमेघलक्षमेघकोटिमेघकथा तथा ॥

दुर्वासार्कयदुस्थान-हिरण्यासंगमोत्कथा ।
नगरार्कस्य कृष्णस्य सङ्कर्षणसमुद्रयोः ॥

कुमार्य्याः क्षेत्रपालस्य ब्रह्मेशस्य कथा पृथक् ।
पिंगला संगमेशस्य शंकरार्कघटेशयोः ॥

ऋषितीर्थस्य नन्दार्कत्रितकूपस्य कीर्त्तनम् ।
शशोपानस्य पर्णार्कन्यङ्कुमत्योः कथाऽद्भुता ॥

वाराहस्वामिवृत्तान्तं छायालिंगाख्यगुल्फयोः ।
कथा कनकनन्दायाः कुन्तीगंगेशयोस्तथा ॥

चमसोद्भेदविदुरत्रिलोकेशकथा ततः ।
मङ्कणेश त्रैपुरेश-षण्डतीर्थ-कथा तथा ॥

सूर्यप्राचीत्रीक्षणयोरुमानाथकथा तथा ।
भूद्वारशूलस्थलयोश्च्यवनार्केशयोस्तथा ॥

अजापालेशबालार्ककुबेरस्थलजा कथा ।
ऋषितोया कथा पुण्या संगालेश्वरकीर्त्तनम् ॥

नारदादित्यकथनं नारायणनिरूपणम् ।
तप्तकुण्डस्य माहात्म्यं मूलचण्डीशवर्णनम् ॥

चतुर्वक्त्र गणाध्यक्ष कलम्बेश्वरयोः कथा ।
गोपालस्वामिबकुलस्वामिनाम्मरुतीकथा ॥

क्षेमार्कोन्नतविघ्नेशजलस्वामिकथा तथा ।
कालमेघस्य रुक्मिण्या उर्व्वशीश्वरभद्रयोः ॥

शङ्खावर्त्तमोक्षतीर्थ-गोष्पदाच्युतसद्मनाम् ।
जालेश्वरस्य हुङ्कारकूपचण्डीशयोः कथा ॥

आशापुरस्थविघ्नेशकलाकुण्डकथाऽद्भुता ।
कपिलेशस्य च कथा जरद्गवशिवस्य च ॥

नलकर्कोटकेश्वरयोर्हाटकेश्वरजा कथा ।
नारदेशमन्त्रभूषा दुर्गाकूटगणेशजा ॥

सुपर्णेलाख्यभैरव्योर्भल्लतीर्थभवा कथा ।
कीर्त्तनं कर्दमालस्य गुप्तसोमेश्वरस्य च ॥

बहुस्वर्णेशशृंगेश-कोटीश्वरकथा ततः ।
मार्कण्डेश्वरकोटीश-दामोदरगृहोत्कथा ॥

स्वर्णरेखा ब्रह्मकुण्डं कुन्तीभीमेश्वरौ तथा ।
मृगीकुण्डञ्च सर्वस्वं क्षेत्रे वस्त्रापथे स्मृतम् ॥

दुग्धाविश्वेशगंगेशरैवताना कथाऽद्भुता ।
ततोऽर्बुदेश्वरभवा अचलेश्वरकीर्त्तनम् ॥

नागतीर्थस्य च कथा वशिष्ठाश्रमवर्णनम् ।
भद्रं कर्णस्य माहात्म्यं त्रिनेत्रस्य ततः परम् ॥

केदारस्य च माहात्म्यं तीर्थागमनकीर्त्तनम् ।
कोटीश्वररूपतीर्थहृषीकेशकथा ततः ॥

मिद्धेशाशुक्रेश्वरयोर्म्मंगिकर्णीशकीर्त्तनम् ।
पञ्चतीर्थं यमतीर्थं वाराहतीर्थवर्णनम् ॥

चन्द्रप्रभासपिण्डोद श्रीमाता शुक्लतीर्थजम् ।
कात्यायन्याश्च माहात्म्यं ततः पिण्डारकस्य च ॥

ततः कनखलस्याथ चक्रमानुषतीर्थयोः ।
कपिलाग्नितीर्थकथा तथा रक्तानुबन्धजा ॥

गणेशपार्थेश्वरयोर्यात्राया मुद्गलस्य च ।
चण्डीस्थानं नागभवशिरः कुण्डमहेशजा ॥

कामेश्वरस्य मार्कण्डेयोत्पत्तेश्च कथा ततः ।
उद्दालकेश सिद्धेश गततीर्थकथा पृथक् ॥

श्रीदेवमातोत्पत्तिश्च व्यासगौतमतीर्थयोः ।
कुलसन्तारमाहात्म्यं रामकोव्याहृतीर्थयोः ॥

चन्द्रोद्भेदेशानशृङ्ग ब्रह्मस्थानोद्भवोद्भवम् ।
त्रिपुष्कर रुद्रह्रद गुहेश्वरकथा शुभाः ॥

अविमुक्तस्य माहात्म्यमुमामाहेश्वरस्य च ।
महौजसः प्रभावश्च जम्बुतीर्थस्य वर्णनम् ॥

गङ्गाधरमिश्रकयोः कथा चाथ फलश्रुतिः ।
द्वारकायाश्च माहात्म्ये चन्द्रशर्म्मकथानकम् ॥

जागराद्याख्यव्रतञ्च व्रतमेकादशीभवम् ।
महाद्वादशीकाख्यानं प्रह्लादर्षिसमागमः ॥

दुर्व्वासस उपाख्यानं यात्रोपक्रमकीर्त्तनम् ।
गोमत्युत्पत्तिकथनं तस्यां स्नानादिजफलम् ॥

चक्रतीर्थस्य माहात्म्यं गोमत्युदधिसङ्गमः ।
सनकादिहृदाख्यानं नृगतीर्थकथा ततः ॥

गोप्रचारकथा पुण्या गोपीनां द्वारकागमः ।
गोपीसरःसमाख्यानं ब्रह्मतीर्थादिकीर्त्तनम् ॥

पञ्चनद्यागमाख्यानं नानाख्यानसमन्वितम् ।
शिवलिङ्गमहातीर्थकृष्णपूजादिकीर्त्तनम् ॥

त्रिविक्रमस्य मूर्त्याख्या दुर्वास कृष्णसंकथा ।
कुशदैत्यवधोऽर्चाख्या विशेषार्च्चनजफलम् ॥

गोमत्यां द्वारकायाञ्च तीर्थागमनकीर्त्तनम् ।
कृष्णमन्दिरसम्प्रेक्षा द्वारवत्यभिषेचनम् ॥

तत्र तीर्थावासकथा द्वारका पुण्यकीर्त्तनम् ।
इत्येष सप्तमः प्रोक्तः खण्डः प्राभासिको द्विज ॥
स्कान्दे सर्वोत्तरकथा शिवमाहात्म्यवर्णने ।

रोगघ्नं कवचं विष्णोर्गारुडस्त्रैपुरो मनुः ।
प्रश्नचूडामणिश्चान्ते हयायुर्वेदकीर्तनम् ॥
ओषधीनामकथनं ततो व्याकरणोहनम् ।
छन्दः शास्त्रं सदाचारस्ततः स्नानविधिः स्मृतः ॥
तर्पणं वैश्वदेवञ्च सन्ध्यापार्वणकर्म च ।
नित्यश्राद्धं सपिण्डाख्यं धर्मसारोऽघनिष्कृतिः ॥
प्रतिसङ्क्रम उक्तोऽस्माद् युगधर्मा कृतेः फलम् ।
योगशास्त्रं विष्णुभक्तिर्नमस्कृतिफलं हरेः ॥
माहात्म्यं वैष्णवञ्चाथ नारसिंहस्तवोत्तमम् ।
ज्ञानामृतं गुह्याष्टकं स्तोत्रं विष्ण्वर्चनाह्वयम् ॥
वेदान्तसांख्यसिद्धान्तं ब्रह्मज्ञानात्मकं तथा ।
गीतासारः फलोत्कीर्त्तिः पूर्वखण्डोऽयमीरितः ॥

उत्तरखण्डे प्रेतकल्पे :—

अथास्यैवोत्तरे खण्डे प्रेतकल्पः पुरोदितः ।
यत्र तार्क्ष्येण संपृष्टो भगवानाह वाडव: ॥
धर्मप्रकटनं पूर्वं योनीनां गतिकारणम् ।
दानादिकस्फलञ्चापि प्रोक्तमत्रौर्ध्वदेहिकम् ॥
यमलोकस्य मार्गस्य वर्णनञ्च ततः परम् ।
षोडशश्राद्धफलकं वृत्तान्तश्चात्र वर्णितम् ॥
निष्कृतिर्यममार्गस्य धर्मराजस्य वैभवम् ।
प्रेतपीडा विनिर्देशः प्रेतचिह्ननिरूपणम् ॥
प्रेतानां चरिताख्यानं कारणं प्रेततां प्रति ।
प्रेतकृत्यविचारश्च सपिण्डीकरणोक्तयः ॥
प्रेतत्वमोक्षणाख्यानं दानानि च विमुक्तये ।
आवश्यकोत्तरं दानं प्रेतसौख्यकरं हितम् ॥
शारीरकविनिर्देशो यमलोकस्य वर्णनम् ।
प्रेतत्वोद्धारकथनं कर्मकर्तृविनिर्णयः ॥
मृत्योः पूर्वक्रियाख्यानं पश्चात्कर्मनिरूपणम् ।
मध्यं षोडशकं श्राद्धं स्वर्गप्राप्तिक्रियोहनम् ॥
सूतकस्याथ संख्यानं नारायणबलिक्रिया ।
...स्य माहात्म्यं निषिद्धपरिवर्जनम् ॥
...गोत्सिश्च विपाकः कर्मणां नृणाम् ।
...रश्च विष्णुध्यानं विमुक्तये ॥
...यानं स्वर्गसौख्यनिरूपणम् ।
...सप्तधा लोकवर्णनम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

लिखित्वैतत्तु यो दद्याद्धेमशूलसमाचितम् ॥
माघ्यां सत्कृत्य विप्राय स शैवे मोदते पदे।

(१८) गरुडपुराणम्

गरुडायोक्तं विष्णुना पुराणम् नारदीयपुराणे १०८ अध्याये तद्विषयाश्च—
ब्रह्मोवाच—

मरीचे ! शृणुवक्ष्यद्य पुराणं गारुडं शुभम्।
गरुडायाब्रवीत्पृष्टो भगवान्गरुडासनः ॥
एकोनविंशसाहस्रं तार्क्ष्यंकल्पकथाचितम् ॥

तत्र पूर्वखण्डे :—

पुराणोपक्रमो यत्र सर्गः सङ्क्षेपतस्ततः।
सूर्यादिपूजनविधिर्दीक्षाविधिरतः परम् ॥

श्र्यादिपूजा ततः पश्चात्तच्च्यूहार्च्चनं द्विज।
पूजाविधानञ्च वैष्णव तथा पञ्जरन्ततः ॥

योगाध्यायस्ततो विष्णोर्नामसाहस्रकीर्त्तनम्।
ध्यानं विष्णोस्ततः सूर्यपूजामृत्युञ्जयार्च्चनम् ॥

माला मंत्रा शिवार्चाथ गणपूजा ततः परम्।
गोपालपूजा त्रैलोक्यमोहनं श्रीधरार्च्चनम् ॥

विष्णवर्चा पञ्चतत्त्वार्चा चक्रार्च्चा देवपूजनम्।
न्यासादि सन्ध्योपास्तिश्च दुर्गार्चाथ सुरार्चनम् ॥

पूजा माहेश्वरी चातः पवित्रारोहणार्च्चनम्।
मूर्तिध्यानं वास्तुमानं प्रासादानाञ्च लक्षणम् ॥

प्रतिष्ठा सर्वदेवानां पृथक् पूजाविधानतः।
योगोऽष्टाङ्गो दानधर्मः प्रायश्चित्तविधिक्रिया ॥

द्वीपेशनरकाख्यानं सूर्यव्यूहश्च ज्यौतिषम्।
सामुद्रिकं स्वरज्ञानं नवरत्नपरीक्षणम् ॥

माहात्म्यमथ तीर्थानां गयामाहात्म्यमुत्तमम्।
ततो मन्वन्तराख्यानं पृथक्पृथग्विभागशः ॥

पित्राख्यानं वर्णधर्मा द्रव्यशुद्धिः समर्पणम्।
श्राद्धं विनायकस्यार्चा ग्रहयज्ञस्तथाऽऽश्रमा ॥

मलहाख्या प्रेताशौचं नीतिसारो व्रतोक्तय।
सूर्यवंशः सोमवंशोऽवतारकथन हरे. ॥

रामायणं हरिवंशो भारताख्यानकन्ततः।
आयुर्वेदे निदानग्प्राक् चिकित्साद्रव्यजा गुणा' ॥

रोगघ्नं कवचं विष्णोर्गारुडस्त्रैपुरो मनुः ।
प्रश्नचूडामणिश्चान्ते हयायुर्वेदकीर्त्तनम् ॥
ओषधीनामकथनं ततो व्याकरणोहनम् ।
छन्दः शास्त्रं सदाचारस्ततः स्नानविधिः स्मृतः ॥
तर्पणं वैश्वदेवञ्च सध्यापार्वणकर्म च ।
नित्यश्राद्धं सपिण्डाख्यं धर्मसारोऽघनिष्कृतिः ॥
प्रतिसङ्क्रम उक्तोऽस्माद् युगधर्माः कृतेः फलम् ।
योगशास्त्रं विष्णुभक्तिर्नमस्कृतिफलं हरेः ॥
माहात्म्यं वैष्णवञ्चाथ नारसिंहस्तवोत्तमम् ।
ज्ञानामृतं गुह्याष्टकं स्तोत्रं विष्ण्वर्चनाह्वयम् ॥
वेदान्तसांख्यसिद्धान्तं ब्रह्मज्ञानात्मकं तथा ।
गीतासारः फलोत्कीर्त्तिः पूर्वखण्डोऽयमीरितः ॥

उत्तरखण्डे प्रेतकल्पे :—

अथास्यैवोत्तरे खण्डे प्रेतकल्पः पुरोदितः ।
यत्र तार्क्ष्येण संपृष्टो भगवानाह बादरः ॥
धर्मप्रकटनं पूर्वं योनीनां गतिकारणम् ।
दानादिकस्फलञ्चापि प्रोक्तमत्रौर्ध्वदेहिकम् ॥
यमलोकस्य मार्गस्य वर्णनञ्च ततः परम् ।
षोडशश्राद्धफलकं वृत्तान्तश्चात्र वर्णितम् ॥
निष्कृतिर्यममार्गस्य धर्मराजस्य वैभवम् ।
प्रेतपीडा विनिर्देशः प्रेतचिह्ननिरूपणम् ॥
प्रेतानां चरिताख्यानं कारणम्प्रेततां प्रति ।
प्रेतकृत्यविचारश्च सपिण्डीकरणोक्तयः ॥
प्रेतत्वमोक्षणाख्यानं दानानि च विमुक्तये ।
आवश्यकोत्तरं दानं प्रेतसौख्यकरं हितम् ॥
शारीरकविनिर्देशो यमलोकस्य वर्णनम् ।
प्रेतत्वोद्धारकथनं कर्मकर्तृविनिर्णयः ॥
मृत्योः पूर्वक्रियाख्यानं पश्चात्कर्मनिरूपणम् ।
मध्यं षोडशकं श्राद्धं स्वर्गप्राप्तिक्रियोहनम् ॥
सूतकस्याथ संख्यानं नारायणबलिक्रिया ।
वृषोत्सर्गस्य माहात्म्यं निषिद्धपरिवर्जनम् ॥
अपमृत्युक्रियोक्तिश्च विपाकः कर्मणां नृणाम् ।
कृत्याकृत्यविचारश्च विष्णुध्यानं विमुक्तये ॥
स्वर्गतौ विहिताख्यानं स्वर्गसौख्यनिरूपणम् ।
भूर्लोकवर्णनञ्चैव सप्तधा लोकवर्णनम् ॥

पद्मोर्ध्वलोकरथान महाण्डरिपनिकीर्त्तनम् ।
ब्रह्माण्डानेकचरित मद्मभावनिरूपणम् ॥
आत्यन्तिकल्याणधान पञ्चरतुतिनिरूपणम् ।
इत्येतद् नारद नाम पुराण शुचितमुचितदम् ॥

तत्फलश्रुति —

कीर्तित पापशमन पठतां शृण्वतां नृणाम् ।
लिखित्वैतत्पुराण तु विबुधे य प्रयच्छति ॥
सौवर्ण हसयुग्माढ्य विमाय स दिव ब्रजेत् ।

(१९) ब्रह्माण्डपुराणम्

नारदीयपुराणे ४ पा० १०९ अध्याय उक्ता अस्य विषया —

शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि ब्रह्माण्डाख्य पुरातनम् ।
तच्च द्वादशसाहस्र भाविकल्पकथायुतम् ॥
प्रक्रियाख्योऽनुपङ्गाख्य उपोद्घातस्तृतीयक ।
चतुर्थ उपसहार पादाश्चत्वार एव हि ॥
पूर्वपादद्वय पूर्वो भागोऽत्र समुदाहृत ।
तृतीयो मध्यमो भागश्चतुर्थस्तूत्तरो मत ॥

तत्र पूर्वभागे प्रक्रियापादे —

"आदौ कृत्यसमुद्देशो नैमिषाख्यानक ततः ॥
हिरण्यगर्भोत्पत्तिश्च लोककल्पनमेव च ।
एष वै प्रथम पादो द्वितीय शृणु नारद ॥

पूर्वभागेऽनुषङ्गपादे —

कल्पमन्वन्तराख्यान लोकज्ञान तत परम् ।
मानससृष्टिकथन रुद्रप्रसववर्णनम् ॥
महादेवविभूतिश्च ऋषिसर्गस्तत परम् ।
अग्नीनां विचयश्चाथ कालसद्भाववर्णनम् ॥
प्रियव्रतान्वयोद्देश पृथिव्यायामविस्तर ।
वर्णन भारतस्यास्य ततोऽन्येषा निरूपणम् ॥
जम्ब्वादिसप्तद्वीपाख्या ततोऽधोलोकवर्णनम् ।
ऊर्ध्वलोकानुकथन ग्रहचारस्तत परम् ॥
आदित्यव्यूहकथन देवग्रहानुकीर्त्तनम् ।
नीलकण्ठाह्वयाख्यान महादेवस्य वैभवम् ॥
अमावास्यानुकथन युगतत्त्वनिरूपणम् ।
यज्ञप्रवर्तनञ्चाथ युगयोरन्ययो कृति ॥

युगप्रमाणलक्षणञ्च ऋषिप्रवरवर्णनम् ।
वेदानां व्यसनाख्यानं स्वायम्भुवनिरूपणम् ॥

शेषमन्वन्तराख्यानं पृथिवीदोहनन्ततः ।
चाक्षुषेऽद्यतने सर्गो द्वितीयोऽङ्घ्रिपूर्वदले ॥

मध्यभागे उपोद्घातपादे :—

"अथोपोद्घातपादे च सप्तर्षिपरिकीर्त्तनम् ।
राजापत्यचयस्तस्माद्देवादीनां समुद्भवः ॥

ततो जयाभिव्याहारौ मरुदुत्पत्तिकीर्त्तनम् ।
काश्यपेयानुकथनं ऋषिवंशनिरूपणम् ॥

पितृकल्पानुकथनं श्राद्धकल्पस्ततः परम् ।
वैवस्वतसमुत्पत्तिस्सृष्टिस्तस्य ततः परम् ॥

मनुपुत्रचयश्चातो गान्धर्वस्य निरूपणम् ।
इक्ष्वाकुवंशकथनं वंशोऽत्रेः सुमहात्मनः ॥

अमावसोराख्यश्च रजेश्चरितमद्भुतम् ।
ययातिचरितञ्चाथ यदुवंशनिरूपणम् ॥

कार्तवीर्यस्य चरितं जामदग्न्यं ततः परम् ।
वृष्णिवंशानुकथनं सगरस्याथ सम्भवः ॥

भार्गवस्यानुचरितं तथार्यकवधाश्रयम् ।
सगरस्याथ चरितं भार्गवस्य कथा पुनः ॥

देवासुराहवकथाः कृष्णाविर्भाववर्णनम् ।
इनस्य च स्तवः पुण्यः शुक्रेण परिकीर्तितः ॥

विष्णुमाहात्म्यकथनं बलिवंशनिरूपणम् ।
भविष्यराजचरितं सम्प्राप्तेऽस्य कलौ युगे ॥
एवमुद्घातपादोऽयं तृतीयो मध्यमे दले ।

उत्तरभागे उपसंहारपादे :—

चतुर्थमुपसंहारं वक्ष्ये खण्डे तथोत्तरे ॥
वैवस्वतान्तराख्यानं विस्तरेण यथातथम् ।

पूर्वमेव समुद्दिष्टं संक्षेपादिह कथ्यते ॥
भविष्याणां मनूनां च चरितं हि ततः परम् ।
कल्पप्रलयनिर्देशः कालमानं ततः परम् ॥

लोकाश्चतुर्दश ततः कथिता मानलक्षणैः ।
वर्णनं नरकाणाञ्च विकर्माचरणैस्ततः ॥

मनोमयपुराख्यानं लयः प्राकृतिकस्ततः ।
शैवस्याथ पुरस्यापि वर्णनञ्च ततः परम् ॥

त्रिविधाद् गुणसम्बन्धाज्जन्तूनां कीर्तिता गतिः ।
अनिर्देश्याप्रतर्क्यस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णनं हि ततः परम् ।
इत्येष उपसंहार' पादो वृत्त. सचोत्तरः ॥

चतुष्पाद् पुराणान्ते ब्रह्माण्ड समुदाहृतम् ।
अष्टादशमनौपम्यं सारात्सारतरं द्विज ! ॥

ब्रह्माण्डञ्च चतुर्लक्षं पुराणत्वेन पठ्यते ।
तदेव व्यस्य गदितमत्राष्टादशधा पृथक् ॥

पाराशर्येण मुनिना सर्वेषामपि मानद ।
वस्तुदृष्ट्वाथ तेनैव मुनीनां भावितात्मनाम् ॥

मत्त श्रुत्वा पुराणानि लोकेभ्य. प्रचकाशिरे ।
मुनयो धर्मशीलास्ते दीनानुग्रहकारिणः ॥

मया चेद पुराणन्तु वशिष्ठाय पुरोदितम् ।
तेन शक्तिसुतायोक्त जातूकर्णाय तेन च ॥

व्यासो लब्ध्वा ततश्चैतत् प्रभञ्जनमुखोद्गतम् ।
प्रमाणीकृत्य लोकेऽस्मिन् प्रावर्त्तयदनुत्तमम् ॥

तत्फलश्रुतिः :—

य इद कीर्तयेद्वत्स ! शृणोति च समाहितः ।
स विधूयेह पापानि याति लोकमनामयम् ॥

लिखित्वैतत् पुराणन्तु स्वर्णसिंहासनस्थितम् ।
पात्रेणाच्छादित यस्तु ब्राह्मणाय प्रयच्छति ॥

स याति ब्रह्मणो लोक नात्र कार्या विचारणा ।
मरीचे ! ऽष्टादशतानि मया प्रोक्तानि यानि ते ॥

पुराणानि तु सक्षेपाच्छ्रोतव्यानि च विस्तरात् ।
अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तम ॥

कथयेद्वा विधानेन नेह भूय स जायते ।
सूत्रमेतत्पुराणानां यन्मयोक्त तवाऽधुना ॥

तन्नित्यं शीलनीय हि पुराणं फलमिच्छता ।
न दाम्भिकाय पापाय देवगुर्वनुसूयवे ॥

देयं कदापि साधूनां द्वेषिणे न शठाय च ।
शान्ताय शमचित्ताय शुश्रूषाभिरताय च ॥
निर्मत्सराय शुचये देयं सद्वैष्णवाय च ।

(२०) विष्णुभागवतम् ।

तत्प्रतिपाद्यविषयाश्च नारद पु० ९६ अ० उक्ता यथा—

मरीचे ! श्रृणु वक्ष्यामि वेदव्यासेन यत्कृतम् ।
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम् ॥

तदष्टादशसाहस्रं कीर्त्तितं पापनाशनम् ।
सुरपादपरूपोऽयं स्कन्धैर्द्वादशभिर्युतः ॥

भगवानेव विप्रेन्द्र ! विश्वरूपी समीरितः ।

तस्य प्रथमस्कन्धे :—

तत्र तु प्रथमे स्कन्धे सूतर्षीणां समागमः ।
व्यासस्य चरितं पुण्यं पाण्डवानां तथैव च ॥

पारीक्षितमुपाख्यानमितीदं समुदाहृतम् ।"

द्वितीयस्कन्धे :—

"परीक्षिच्छुकसंवादे सृतिद्वयनिरूपणम् ।
ब्रह्मनारदसंवादेऽवतारचरितामृतम् ॥

पुराणलक्षणञ्चैव सृष्टिकारणसम्भवः ।
द्वितीयोऽयं समुदितः स्कन्धो व्यासेन धीमता ॥"

तृतीयस्कन्धे :—

"चरितं विदुरस्याथ मैत्रेयेणास्य सङ्गमः ।
सृष्टिप्रकरणं पश्चाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥

कापिलं सांख्यमप्यत्र तृतीयोऽयमुदाहृतः ।

चतुर्थस्कन्धे :—

"सत्याश्चरितमादौ तु ध्रुवस्य चरितं ततः ।
पृथोः पुण्यसमाख्यानं ततः प्राचीनबर्हिषः ॥

इत्येष तुर्यो गदितो विसर्गे स्कन्ध उत्तमः ।"

पञ्चमस्कन्धे :—

"प्रियव्रतस्य चरितं तद्वंश्यानाञ्च पुण्यदम् ।
ब्रह्माण्डान्तर्गतानाञ्च लोकानां वर्णनन्ततः ॥

नरकस्थितिरित्येव संस्थाने पञ्चमो मतः ।

षष्ठस्कन्धे :—

अजामिलस्य चरितं दक्षसृष्टिनिरूपणम् ।
वृत्राख्यानं ततः पश्चान्मरुतां जन्म पुण्यदम् ॥

षष्ठोऽयमुदितः स्कन्धो व्यासेन परिपोषणे ।

सप्तमस्कन्धे :—

"प्रह्लादचरितं पुण्यं वर्णाश्रमनिरूपणम्।
सप्तमो गदितो वत्स ! वासनाकर्मकीर्त्तने ॥

अष्टमस्कन्धे :—

"गजेन्द्रमोक्षणाख्यानं मन्वन्तरनिरूपणम्।
समुद्रमथनश्चैव बलिवैभवबन्धनम् ॥
मत्स्यावतारचरितमष्टमोऽथ प्रकीर्त्तितः।

नवमस्कन्धे :—

"सूर्यवंशसमाख्यानं सोमवंशनिरूपणम्।
वंश्यानुचरिते प्रोक्तो नवमोऽथ महामते ॥

दशमस्कन्धे :—

"कृष्णस्य बालचरितं कौमारञ्च व्रजस्थितिः।
कैशोरं मथुरास्थानं यौवने द्वारकास्थितिः ॥
भूभारहरणञ्चात्र निरोधे दशमः स्मृतः।

एकादशस्कन्धे :—

"नारदेन तु संवादो वसुदेवस्य कीर्तितः।
यदोश्च दत्तात्रेयेण श्रीकृष्णेनोद्धवस्य च ॥
यादवानां मिथोऽन्तश्च मुक्तावेकादशः स्मृतः।

द्वादशस्कन्धे :—

"भविष्यकलिनिर्देशो मोक्षो राज्ञः परीक्षितः।
वेदशाखाप्रणयनं मार्कण्डेयतपः स्मृतम् ॥
सौरी विभूतिरुदिता सात्वती च ततः परम्।
पुराणसंख्याकथनमाश्रये द्वादशो ह्ययम् ॥
इत्येवं कथितं वत्स ! श्रीमद्भागवतं तव।

तत्फलश्रुतिः :—

"वक्तुः श्रोतुश्चोपदेष्टुरनुमोदितुरेव च।
माहात्म्यकर्तुर्गदितं भक्तिभुक्तिविमुक्तिदम् ॥
प्रौष्ठपद्यां पूर्णिमायां हेमसिंहसमाचितम्।
देयं भागवतायेदं द्विजस्य प्रीतिपूर्वकम् ॥
सम्पूज्य वस्त्रहेमाद्यैर्भगवद्भक्तिमिच्छता।
सोऽप्यनुक्रमणीमेतां श्रावयेच्छृणुयात्तथा ॥
स पुराणश्रवणजं प्राप्नोति फलमुत्तमम्।

अष्टादशपुराणानामनुक्रमतोऽवतरणवर्णन

वायुपुराणे प्रतिपादितम् :—

सर्वपापहरं पुण्यं पवित्रं च यशस्वि च ।
ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने ॥ ५८ ॥

तस्माच्चोशनसा प्राप्तं तस्माच्चापि बृहस्पतिः ।
बृहस्पतिस्तु प्रोवाच सवित्रे तदनन्तरम् ॥ ५९ ॥

सविता मृत्यवे प्राह मृत्युश्चन्द्राय वै पुनः ।
इन्द्रश्चापि वसिष्ठाय सोऽपि सारस्वताय च ॥ ६० ॥

सारस्वतस्त्रिधाम्ने च त्रिधामा च शरद्वते ।
शरद्वतस्त्रिविष्टाय सोऽन्तरिक्षाय दत्तवान् ॥ ६१ ॥

वर्षिणे चान्तरिक्षो वै सोऽपि त्रय्यारुणाय च ।
त्रय्यारुणो धनञ्जये स च प्रादात्कृतञ्जये ॥ ६२ ॥

कृतञ्जयात्तृणंजयो भरद्वाजाय सोऽप्यथ ।
गौतमाय भरद्वाज सोऽपि निर्यन्तरे पुनः ॥ ६३ ॥

निर्यन्तरस्तु प्रोवाच तथा वाजश्रवाय च ।
स ददौ सोमशुष्माय स ददौ तृणबिन्दवे ॥ ६४ ॥

तृणबिन्दुस्तु दक्षाय दक्षः प्रोवाच शक्तये ।
शक्तेः पराशरश्चापि गर्भस्थः श्रुतवानिदम् ॥ ६५ ॥

पराशराज्जातुकर्णस्तस्माद्द्वैपायनः प्रभुः ।
द्वैपायनात्पुनश्चापि मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥ ६६ ॥

शांशपायन उवाच :—

मया वै तत्पुनः प्रोक्तं पुत्रायामितबुद्धये ।
इत्येव वाचा ब्रह्मादिगुरुणा समुदाहृता ॥

परिशिष्ट २

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. H. H. Wilson's Introduction to the English translation of the Visnupurana, Vol. I. (1864).

2. F. E. Pargiter's :—

1—'Purana texts of the Dynasties of the Kali age' (1913).

2—'Ancient Indian Genealogies' in Sir R. G. Bhandarkar Presentation Volume P.P. 107–113.

3—'Ancient Indian Historical tradition' (Oxford, 1922)

3. W. Kerfel's—

1—Das Purana Pancalaksana (Bonn. 1927).

2—Die Cosmography der inder (1920).

3—Bharatavarsa (Stuttgart, 1931).

4. Vries on 'Purana-studies' in Pavry commemoration Vol. PP. 482–487 (applies Kirfel's Method to the subject of Sraddha in the Brahmanda, Harivamsa, Matsya, Padma and Vayu).

5. Harprasad Shastri's descriptive cat. of Mss. at the Asiatic Society of Bengal, Vol. V. Preface PP. LXXIII–CCXXV and his paper on 'Mahapuranas' in J. B. O. R. S. Vol. XV. P. 323–340.

6. Prof. B. C. Majumdar's paper in Sir Asutosh Mookerji Silver Jubilee Vol. III, Orientalia, part 2. PP. 9–30.

7. A. Banerji Shastri's paper on—

'Ancient Indian Historical Tradition' in J. B. O. R. S. Vol. XIII. PP. 62–79 (Supplies a useful corrective to many sweeping assertions of such scholars as Macdonell, Pargiter and others).

8. Cambridge History of India, Vol. I. PP. 296–318.

9. Prof. H. C. Hazra—

1—'Studies in the Puranic record of Hindu rites and customs' (Dacca 1940).

Papers on 'Puranas in the history of Smṛti' in Indian Culture, Vol. I. PP 586-614, Mahapuranas, (In Dacca University studies' Vol. II. PP. 62-69.)

2—Smrti Chapters in Puranas. (I. H. Q. Vol. XI. PP. 108-130).

3—Prepuranic Hindu Society before 200 A. D., (I. H. Q. Vol. XV. PP. 403-431)

4—'Puranic rites and customs influenced by the economic and social views of the sacerdotal class' (in Dacca University studies, Vol. XII PP. 91-101).

5—'Influence of Tantra on Smrtinibandhas' (in A. B. O R. I. Vol. XV. PP. 220-235 and Vol. XVI PP 202-211).

6—'The Upapuranas' (in A. B. O. R. I. Vol. XXI. PP. 38-62).

7—'Purana literature as known to Ballalasena' (in J. O. R., Madras, Vol. XII. PP. 67-79).

8—'The Aswamedha, the common source of origin of the Purana Pancalaksana and Mahabharata' A. B. O R I. Vol. 36 (1955 PP. 15-38).

9—"Studies in the Upapurānas" 2 Vols. (Published by the Sanskrit College, Calcutta, 1960-1963).

10. Das Gupta's—Indian Philosophy, Vol. III PP. 496-511 on 'Philosophical Speculations of Some Puranas.

11. Dr. D. R. Patil's paper on—'Gupta inscriptions and Puranic tradition' (in Bulletin of D. C. R. I. Vol. II. PP. 2-58, comparing passages from Gupta's—inscriptions and Puranas)

12. Prof. V. R. Ramchandra Diksitar's—

1—'The Purana a Study' (in I. H. Q. Vol. VIII. PP. 747-67).

2—'Purana index' in three Volumes (*Madras*).

13. Dr. A. D. Pusalkar.s paper in—'Progress of Indic studies' (1917-1942) in Silver Jubilee Volume of B O. R. I. PP. 139-152).

2—'Studies in Epics and Puranas of India' (B. V. Bombay, 1953).

14. Prof. D. R. Mankad's papers on 'Yugas' (in P. O. Vol.

VI. Part 3-4. PP. 6-10), on 'Manvantaras' (I. H. Q. Vol. XVIII. PP. 208-230 and B. V. Vol. VI. PP. 6-10).

15. Dr. Ghurye's Presidential address in the second ethnology an Foklore in Pro. of 6th. A. I. O. C. (1937) PP. 911-954.

16. Dr. A. S. Altekar's paper 'Can we Reconstruct Pre-Bharata war history ?' In J. B. H. U. Vol. IV. PP. 183-223 (holding that the various Pre-Bharata war dynasties mentioned in the Puranas are as historical and real as the dynasties of Mauryas and Andhras and the Pauranic Geneologies really refer to kings who figure in the Vedic literature also.)

17. Dr. Jadunath Sinha—

"A History of Indian Philosophy", Vol. I. PP. 125-177 on the philosophy of the Puranas (1956).

18. Martin Smith—

Two papers on the ancient chronology of India in J. A. O. S. Vol. 77. No. 2. (April-June 1957) and No. 4. (Dec. 1957). (He follows Pargiter in his texts).

19. C. R. Krishnamacharlu : 'The Cradle of Indian History' . (Adyar Library series No. 56; Adyar Library; 1947)—

20. S. L. Katre : 'Avatāras of God' (Allahabad University studies, Vol. X., 1934).

21. Annie Besant : 'Avataras' (Adyar Library, Madras 1925).

22. Aurobindo : Vyāsa and Valmiki (Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1960).

23. P. V. Kane : History of Dharmashāstra (Vol. V. Part II. PP. 815-1002) Poona, 1962.

24. D. C. Sarkar : 'Studies in the Geography of Ancient and mediaeval India' (Motilal Banarasidas, Delhi, 1960).

25. B. C. Law : 'Historical Geography of Ancient India', Paris 1954.

26. V. S. Agrawal : Vaman Purana : A Study (Varanasi 1964)

27. V. S. Agrawal : 'Matsya Purana : A Study' (All India Kashiraj Trust, Ramanagar Fort, Varanasi, 1963).

28. R. G. Bhandarkar : 'A Peep into the Early I
India.' (new edition 1920) pp. 68 ff.

29. F. E. Pargiter : Encyclopædia of Religion an
Vol. X. 1918, pp. 448 ff.

30. J. N. Farquhar : An Outline of the Religious Lit
India, London, 1920, pp. 136 ff.

31. E. J. Rapson : Cambridge History of India, Vol I

32. A. Barth : Religions of India. second edition,
1889, pp. 153 ff.

33. Monier Williams : Brahmanism and Hinduism, Lon

34. E. W. Hopkins : Religions of India, Boston, 189

35 Sir Charles Eliot : Hinduism and Buddhism, Lond
Vol. II

36. Glaspenapp Der Hinduismus, Munich, 1922.

37. Jacobi : E. R. E. Vol. I. pp. 200 ff (on the Ag
world according to the Puranas)

38. Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and Min
(Poona, 1960).

39. Grierson : J. R. A. S. 1911, p 800 ff. (on the
Bhāgavat)

40. Purnendunath Sinha : The Bhāgavata Purana
edition, Adyar, Madras).

41. M. Winternitz A History of Indian Literature,
Calcutta University, 1927. pp. 517-586

42. R. K. Sharma : Elements of Poetry in the Mah
(University of California Press, 1964)

43. Purana (a research bulletin wholly devoted to t
of Puranas published by the All-India Kashirāja
Ramanagar Fort, Varanasi, 6 Vols. published 1959-19

44. Dr. Buddha Prakash—Studies in Puranic Geogra
Ethn y—Śākadvipa. (Purana Bulletin Vol. III. No.

४५. म० म० गोपीनाथ कविराज—
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि (१९६३)
भारतीय संस्कृति और साधना (दो भाग) (१९६४)
प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

४६. वासुदेवशरण अग्रवाल—मार्कण्डेय पुराण—(एक सांस्कृतिक अध्ययन) हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६१।

४७. राहुल सांकृत्यायन—मध्य एशिया का इतिहास प्रथम खण्ड (प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६)।

४८. भगवद्दत्त—भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग) दिल्ली, सं० २००८।
„ —भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय सं०) दिल्ली।

४९. रामदत्त पाण्डेय—पुराण विषयानुक्रमणी (प्रथम भाग) हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, १९५७ ई०।

५०. माधवाचार्य शास्त्री—पुराणदिग् दर्शन (तृतीय सं०) देहली, सं० २०१४।

५१. महाभारत की नामानुक्रमणिका—(प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम सं०, २०१६ सं०)।

५२. मधुसूदन ओझा—अत्रिख्यातिः (लखनऊ, १९२९ ई०)।

५३. स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती—श्रीमद्भागवत रहस्य (द्वितीय सं०, बम्बई, १९६३ ई०

५४. ज्वाला प्रसाद मिश्र—अष्टादश पुराणदर्पण (प्रकाशक गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, मुम्बई, सं० १९७९ अधुना अप्राप्य)।

५५. रामशङ्कर भट्टाचार्य—
„ अग्निपुराणस्य विषयानुक्रमणी (प्र० भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६३)।
„ गरुड पुराण (भूमिका विषयानुक्रमणी के साथ) [चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४]।
„ इतिहास पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, १९६३ ई०।
„ पुराणस्थ वैदिक सामग्री का अनुशीलन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५ ई०,)।

५६. महाभारत-कोश (प्रथम खण्ड) प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६४।

५७. मधुसूदन ओझा—पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पत्तिप्रसङ्ग (जयपुर, सं० २००९)।

५८. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी—पुराणतत्त्व मीमांसा (वाराणसी, १९६१),
„ —अष्टादशपुराण परिचय (वाराणसी, सं० २०१३)।

५९. मोती चन्द्र—काशी का इतिहास (बम्बई, १९६४)।

६०. डा० मोतीचन्द्र—काशी का इतिहास (बम्बई, १९६४)।

६१. स्वामी दयानन्द—धर्म विज्ञान (प्रथम खण्ड, प्रकाशक भारत धर्म महामण्डल, काशी, १९३० ई०)।
„ —धर्म कल्पद्रुम (प्र० वही, सात खण्ड)।

६२ दीनानाथ शास्त्री सारस्वत—सनातनधर्मालोक (८ भाग, दिल्ली, १९६०-६५)।

६३ प० नकछेदराम द्विवेदी—सनातन धर्मोद्धारः (सानुवाद चार खण्ड, प्र० हिन्दू विश्व विद्यालय, काशी)।

६४ बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरी प्रचारणी सभा, काशी)।

" —आर्य संस्कृत के आधार ग्रन्थ (प्र० नन्दकिशोर एण्ड सन्स, काशी, १९६३)।

" —भारतीय दर्शन (शारदा मन्दिर, काशी, षष्ठ सं० १९६२)।

" —भारतीय दर्शनसार (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली)।

" —भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा (प्र०, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३)।

६५ रायगोविन्दचन्द्र—

प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा (हिन्दी प्रचारक, काशी सन् १९६४)।

६६ अन्नदाचरण तर्क चूडामणि—पुराणरहस्यम् (काशी)।

६७ कालूराम शास्त्री—पुराणवर्म (कानपुर)।

६८ डा० सम्पूर्णानन्द—

हिन्दू देवपरिवार का विकास (प्रयाग, १९६३)।

६९ डा० कपिलदेव—

मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद (चौखम्बा, काशी, १९६१)।

७० डा० कामिल बुल्के—

राम कथा (हिन्दी परिषद्, प्रयाग, द्वि० सं० १९६४)।

... शुक्ल—

... पुराण एक अध्ययन (चौखम्बा

—०—